गायत्री महाविज्ञान

(संयुक्त संस्करण)

- वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

गायत्री महाविज्ञान

[संयुक्त संस्करण]

लेखक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१४ मूल्य : १६० रुपये

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
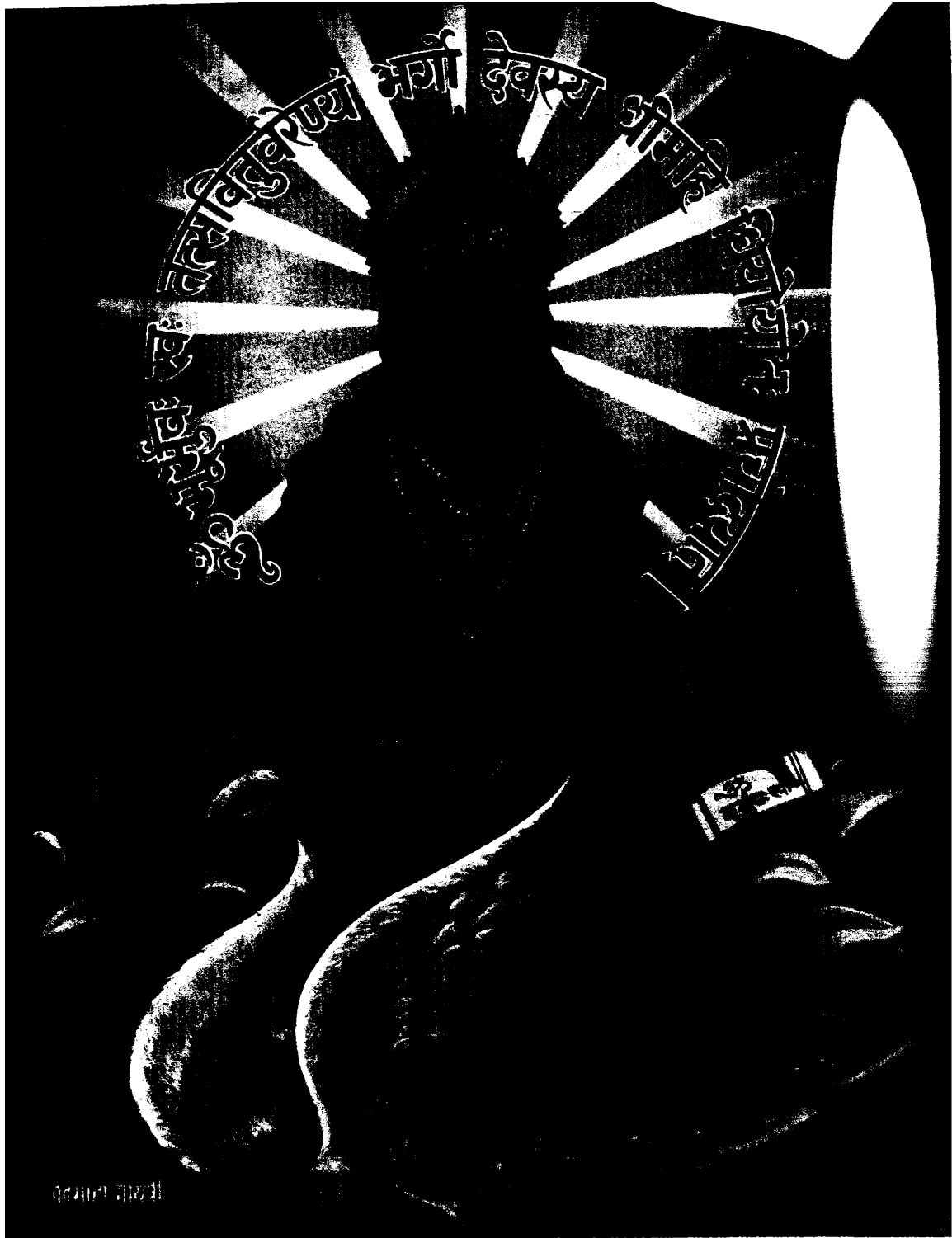
वन्दनीया माता भगवती देवी शर्मा
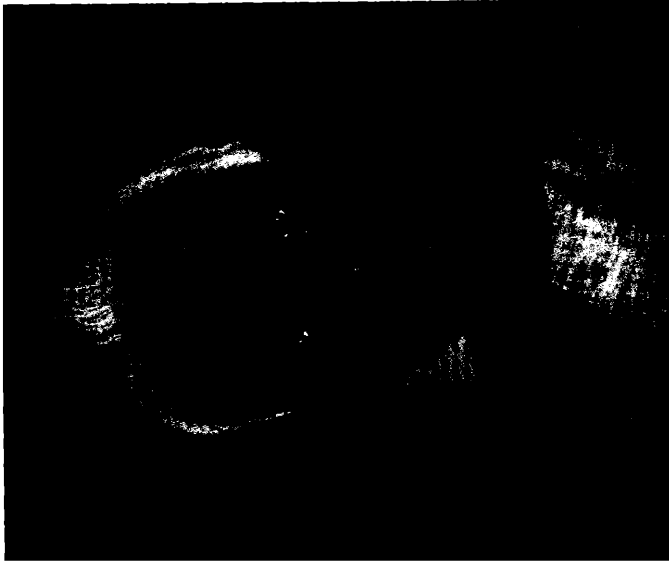
पू० गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

ॐ

भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात्।

– यजु० ३६.३

भावार्थ- उस प्राण स्वरूप, दुःख नाशक, सुख स्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पाप नाशक, देव स्वरूप परमात्मा को हम अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करें।

प्रकाशकीय

वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ, पं० श्री राम शर्मा आचार्य ने अपने जीवनकाल में ३००० से अधिक छोटी—बड़ी पुस्तकें लिखी हैं। गायत्री महाविज्ञान उनकी अनुपम कृतियों में से एक है। गायत्री महाविद्या को लेकर उन्होंने विलक्षण प्रयोग कर दिखाये। उनकी विशिष्ट गायत्री साधना के नाते उन्हें महर्षि वशिष्ठ और गायत्री विद्या के युगानुरूप क्रान्तिकारी प्रयोग के कारण इस युग के विश्वामित्र के रूप में स्वीकार किया गया।

आर्ष ग्रन्थों में गायत्री की महिमा का गान अनेक प्रकार से किया गया है। इसे वेदमाता, देवमाता, सर्व कामधुक् (सभी श्रेष्ठ कामनाओं को पूरा करने वाली) आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन, ब्रह्मवर्चस आदि विभूतियाँ प्रदान करते हुए ब्रह्मलोक तक गति देने वाली कहा गया है; लेकिन फिर भी उसे विशिष्ट साधकों को दी जाने वाली गुह्य विद्या ही माना जाता रहा है। आचार्य श्री ने इस युग में मनुष्य मात्र को दुर्बुद्धि के चंगुल में जकड़ते-पिसते देखा, तो सद्बुद्धि-सद्भाव प्रदायिनी गुह्य गायत्री महाविद्या को जन सुलभ बनाने के लिए भागीरथी तप-पुरुषार्थ किया। उनके इस पुण्य पुरुषार्थ के फलस्वरूप गायत्री महाविद्या के युगानुरूप सफल प्रयोग के लिए 'गायत्री महाविज्ञान' का सृजन और प्रकाशन हुआ।

पुस्तकाकार में उन्होंने गायत्री महाविज्ञान को तीन भागों में प्रकाशित किया था। इसके अब तक ३३ संस्करण निकल चुके हैं। जिज्ञासु जन उन्हें अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुरूप अलग-अलग या एक साथ खरीदते रहे हैं। गायत्री महाविद्या के बारे में लोगों के भ्रमों का निवारण और जिज्ञासाओं का समाधान नाना प्रकार से होता रहा है तथा इस विद्या में लोकरुचि बढ़ती गयी। लोकप्रियता के इसी उभार के साथ विचारशीलों की ओर से यह प्रस्ताव आने लगे कि तीनों भाग मिलाकर इसे एक संग्रहणीय ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया जाए। विज्ञजनों की इस माँग का सम्मान करते हुए ही इस संयुक्त संस्करण का प्रकाशन किया गया है।

इस संस्करण में तीनों भागों की विषय सूची प्रारम्भ में ही एक साथ दे दी गयी है, लेकिन प्रत्येक भाग के लिए पूज्य आचार्यवर द्वारा लिखी गयी भूमिकाओं को उन भागों के प्रारम्भ में यथावत् दे दिया गया है।

इस संस्करण में उद्धरणों एवं सन्दर्भों को विशेष रूप से शुद्ध करने एवं यथासम्भव सन्दर्भ ग्रन्थों का उल्लेख करने का प्रयास किया गया है। पाठ भेदों को प्रमाणित ग्रन्थों एवं महाविज्ञान के प्रथम संस्करण (१९५०) से मिलाकर ठीक किया गया है। एक संशोधन और भी किया गया है, जो गायत्री मन्त्र के २४ वर्ण के सम्बन्ध में है। गायत्री मन्त्र के चौबीस वर्णों के उल्लेख क्रम में महाविज्ञान प्रथम खण्ड के 'गायत्री साधना से शक्तिकोशों का उद्भव' नामक निबन्ध में तथा द्वितीय खण्ड के गायत्री रामायण, वर्णानाम् ध्यानम् तथा 'अक्षर शक्ति कवच' नामक निबन्ध में 'ण्यं' को 'णि यं'- इस प्रकार व्यूहन करके २४ वर्णों की स्थिति स्वीकार की गयी है। यही शास्त्र सम्मत (इयादि पूरणे-पिंगल सूत्रानुसार 'इय' की वृद्धि) भी है। गायत्री महाविज्ञान के कुछ अन्य प्रकरणों में सम्भवत: प्रेस की भूल या किसी अन्य असावधानी से मन्त्र के २४ वर्णों का वर्गीकरण कुछ भिन्न अंकित हो गया था। इस संस्करण में उस भूल को संशोधित कर दिया गया है। सभी स्थानों पर उक्त शास्त्रीय क्रम के अनुसार ही वर्णों का क्रम व्यवस्थित कर दिया गया है।

आशा की जाती है कि यह ग्रन्थाकार संयुक्त संस्करण लोक रुचि के अनुरूप सिद्ध होगा।

—ब्रह्मवर्चस

संकेत-विवरण

अथर्व०	=	अथर्ववेद
अ०	=	अध्याय
कूर्म पुराण उ० विभा०	=	कूर्म पुराण उत्तरविभाग
खं०	=	खण्ड
गरुड़ पुराण/उ० खं०/ब्रह्म० का०	=	गरुड़ पुराण उत्तर खण्ड ब्रह्म काण्ड
गो० ब्रा० पू०	=	गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्द्ध
चरक चि० खण्ड	=	चरक चिकित्सा खण्ड
छा०	=	छान्दोग्योपनिषद्
तारानाथ कृ० गा० व्या०	=	तारानाथ कृत गायत्री व्याख्या
तै० आ०	=	तैत्तिरीय आरण्यक
तैत्तिरीय ब्रा०	=	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्तिरीय सं०	=	तैत्तिरीय संहिता
दु० वृ०	=	दुर्गवृत्ति
दे० भा० स्क०	=	देवी भागवत पुराण स्कन्ध
नृसिंह पूर्वतापनीयोप०	=	नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्
प०	=	पद्धति
पद्म पु० सृ० खं०	=	पद्म पुराण सृष्टि खण्ड
पु०	=	पुराण
पृ०	=	पृष्ठ
बृ० पाराशर स्मृति	=	बृहत् पाराशर स्मृति
बृ० यो० याज्ञ०	=	बृहद् योगी याज्ञवल्क्य स्मृति
बृह०	=	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र० वै० पु० कृ० ज० अ०	=	ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण जन्म अध्याय
मनु०	=	मनुस्मृति
महा०	=	महाभारत
महाभारत आश्व०	=	महाभारत आश्वमेधिक पर्व
यजु०	=	यजुर्वेद
यो० या०	=	योगी याज्ञवल्क्य
वा० रा०	=	वाल्मीकि रामायण
शंख०	=	शंख स्मृति
शत० ब्रा०	=	शतपथ ब्राह्मण
स्मृ०	=	स्मृति

विषय-सूची

प्रथम भाग

द्वितीय भाग

तृतीय भाग

गायत्री महाविज्ञान

प्रथम भाग

भूमिका

गायत्री वह दैवी शक्ति है, जिससे सम्बन्ध स्थापित करके मनुष्य अपने जीवन-विकास के मार्ग में बड़ी सहायता प्राप्त कर सकता है । परमात्मा की अनेक शक्तियाँ हैं, जिनके कार्य और गुण पृथक्-पृथक् हैं । उन शक्तियों में गायत्री का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । यह मनुष्य को सद्बुद्धि की प्रेरणा देती है । गायत्री से आत्म-सम्बन्ध करने वाले मनुष्य में निरन्तर एक ऐसी सूक्ष्म एवं चैतन्य विद्युद्धारा सञ्चरण करने लगती है, जो प्रधानतः मन, बुद्धि, चित्त और अन्तःकरण पर अपना प्रभाव डालती है । बौद्धिक क्षेत्र के अनेकों कुविचारों, असत् संकल्पों, पतनोन्मुख दुर्गुणों का अन्धकार गायत्री रूपी दिव्य प्रकाश के उदय होने से हटने लगता है । यह प्रकाश जैसे-जैसे तीव्र होने लगता है, वैसे-वैसे अन्धकार का अन्त उसी क्रम से होता जाता है ।

मनोभूमि को सुव्यवस्थित, स्वस्थ, सतोगुणी एवं सन्तुलित बनाने में गायत्री का चमत्कारी लाभ असंदिग्ध है और यह भी स्पष्ट ही है कि जिसकी मनोभूमि जितने अंशों में सुविकसित है, वह उसी अनुपात में सुखी रहेगा; क्योंकि विचारों से कार्य होते हैं और कार्यों के परिणाम सुख-दुःख के रूप में सामने आते हैं । जिसके विचार उत्तम हैं, वह उत्तम कार्य करेगा, जिसके कार्य उत्तम होंगे; उसके चरणों तले सुख-शान्ति लोटती रहेगी ।

गायत्री उपासना द्वारा साधकों को बड़े-बड़े लाभ प्राप्त होते हैं । हमारे परामर्श एवं पथ-प्रदर्शन में अब तक अनेकों व्यक्तियों ने गायत्री उपासना की है । उन्हें सांसारिक और आत्मिक जो आश्चर्यजनक लाभ हुए हैं, हमने अपनी आँखों से देखे हैं । इसका कारण यही है कि उन्हें दैवी वरदान के रूप में सद्बुद्धि प्राप्त होती है और उसके प्रकाश में उन सब दुर्बलताओं, उलझनों, कठिनाइयों का हल निकल आता है, जो मनुष्य को दीन-हीन, दुःखी, दरिद्री, चिन्तातुर एवं कुमार्गगामी बनाती हैं । जैसे प्रकाश का न होना ही अन्धकार है, जैसे अन्धकार स्वतंत्र रूप से कोई वस्तु नहीं है । इसी प्रकार सद्ज्ञान का न होना ही दुःख है, अन्यथा परमात्मा की इस पुण्य सृष्टि में दुःख का एक कण भी नहीं हैं । परमात्मा सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है, उसकी रचना भी वैसी ही है । केवल मनुष्य अपनी आन्तरिक दुर्बलता के कारण, सद्ज्ञान के अभाव के कारण दुःखी रहता है, अन्यथा सुर-दुर्लभ मानव-शरीर "स्वर्गादपि गरीयसी" धरती माता पर दुःख का कोई कारण नहीं, यहाँ सर्वत्र, सर्वथा आनन्द ही आनन्द है ।

सद्ज्ञान की उपासना का नाम ही गायत्री- साधना है । जो इस साधना के साधक हैं, उन्हें आत्मिक-सांसारिक सुखों की कमी नहीं रहती, ऐसा हमारा सुनिश्चित विश्वास और दीर्घकालीन अनुभव है । इस पुस्तक में सम्भवतः सभी उपयोगी बातें लिख दी गई हैं, फिर भी कोई शंका- निवारण, परामर्श एवं सहयोग आवश्यक हो, तो जवाबी पत्र द्वारा शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार से पूछताछ की जा सकती है ।

गायत्री की शास्त्रीय चर्चा, ऋषियों का अनुभव तथा उनकी रचनायें गायत्री महाविज्ञान के दूसरे भाग में प्रकाशित की जा रही हैं, पाठक उसे भी अवश्य पढ़ें ।

– श्रीराम शर्मा आचार्य

गायत्री महाविज्ञान

वेदमाता गायत्री की उत्पत्ति

वेद कहते हैं-ज्ञान को । ज्ञान के चार भेद हैं-ऋक्, यजु:, साम और अथर्व । कल्याण, प्रभु-प्राप्ति, ईश्वरीय-दर्शन, दिव्यत्व, आत्म-शान्ति, ब्रह्म-निर्वाण, धर्म-भावना, कर्त्तव्य-पालन, प्रेम, तप, दया, उपकार, उदारता, सेवा आदि ऋक् के अन्तर्गत आते हैं । पराक्रम, पुरुषार्थ, साहस, वीरता, रक्षा, आक्रमण, नेतृत्व, यश, विजय, पद, प्रतिष्ठा यह सब 'यजु:' के अन्तर्गत हैं । क्रीड़ा, विनोद, मनोरंजन, संगीत-कला, साहित्य, स्पर्श इन्द्रियों के स्थूल भोग तथा उन भोगों का चिन्तन, प्रिय कल्पना, खेल, गतिशीलता, रुचि, तृप्ति आदि को 'साम' के अन्तर्गत लिया जाता है । धन, वैभव, वस्तुओं का संग्रह, शास्त्र, औषधि, अन्न, वस्त्, धातु, गृह, वाहन आदि सुख-साधनों की सामग्रियाँ 'अथर्व' की परिधि में आती हैं ।

किसी भी जीवित प्राणधारी को लीजिये, उसकी सूक्ष्म और स्थूल, बाहरी और भीतरी क्रियाओं और कल्पनाओं का गम्भीर एवं वैज्ञानिक विश्लेषण कीजिये, प्रतीत होगा कि इन्हीं चार क्षेत्रों के अन्तर्गत उसकी समस्त चेतना परिभ्रमण कर रही है । (१) ऋक्-कल्याण (२) यजु:-पौरुष (३) साम-क्रीड़ा (४) अथर्व-अर्थ । इन चार दिशाओं के अतिरिक्त प्राणियों की ज्ञान-धारा और किसी ओर प्रवाहित नहीं होती । ऋक् को धर्म, यजु: को मोक्ष, साम को काम, अथर्व को अर्थ भी कहा जाता है । यही चार ब्रह्माजी के मुख हैं । ब्रह्मा को चतुर्मुख इसलिये कहा गया है कि वे एक मुख होते हुए भी चार प्रकार की ज्ञान धारा का निष्क्रमण करते हैं । वेद शब्द का अर्थ है-'ज्ञान' इस प्रकार वह एक है, परन्तु एक होते हुए भी वह प्राणियों के अन्त:करण में चार प्रकार का दिखाई देता है । इसलिये एक वेद को सुविधा के लिए चार भागों में विभक्त कर दिया गया है । भगवान् विष्णु की चार भुजाएँ भी यही हैं । इन चार विभागों को स्वेच्छापूर्वक विभक्त करने के लिये चार आश्रम और चार वर्णों की व्यवस्था की गयी । बालक क्रीड़ावस्था में, तरुण अर्थावस्था में, वानप्रस्थ पौरुषावस्था में और संन्यासी कल्याणावस्था में रहता है । ब्राह्मण ऋक् है, क्षत्रिय यजु; है, वैश्य अथर्व है, साम शूद्र है । इस प्रकार यह चतुर्विध विभागीकरण हुआ ।

यह चारों प्रकार के ज्ञान उस चैतन्य शक्ति के ही स्फुरण हैं, जो सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्माजी ने उत्पन्न की थी और जिसे शास्त्रकारों ने गायत्री नाम से सम्बोधित किया है । इस प्रकार चारों वेदों की माता गायत्री हुई । इसी से उसे 'वेदमाता' भी कहा जाता है । इस प्रकार जल तत्त्व को बर्फ, भाप (बादल, ओस, कुहरा आदि), वायु (हाइड्रोजन-ऑक्सीजन) तथा पतले पानी के चार रूपों में देखा जाता है, जिस प्रकार अग्नि-तत्त्व को, ज्वलन, गर्मी, प्रकाश तथा गति के रूप में देखा जाता है, उसी प्रकार एक 'ज्ञान-गायत्री' के चार वेदों के चार रूपों में दर्शन होते हैं । गायत्री माता है, तो चार वेद इसके पुत्र हैं ।

यह तो हुआ सूक्ष्म गायत्री का, सूक्ष्म वेदमाता का स्वरूप । अब उसके स्थूल रूप पर विचार करेंगे । ब्रह्मा ने चार वेदों की रचना से पूर्व चौबीस अक्षर वाले गायत्री मन्त्र की रचना की । इस एक मन्त्र के एक-एक अक्षर में सूक्ष्म तत्त्व समाहित हैं, जिनके पल्लवित होने पर चार वेदों की शाखा-प्रशाखाएँ उद्‌भूत हो गयीं । एक वट बीज के गर्भ में महान् वट वृक्ष छिपा होता है । जब वह अंकुर रूप में उगता है, वृक्ष के रूप में बड़ा होता है, तो उसमें असंख्य शाखाएँ, टहनियाँ, पत्ते, फूल, फल लद जाते हैं । इन सबका इतना बड़ा विस्तार होता है- जो उस मूल वट बीज की अपेक्षा करोड़ों-अरबों गुना बड़ा होता है । गायत्री के चौबीस अक्षर भी ऐसे ही बीज हैं, जो प्रस्फुटित होकर वेदों के महा विस्तार के रूप में अवस्थित होते हैं ।

व्याकरण शास्त्र का उद्‌गम शंकर जी के वे चौदह सूत्र हैं, जो उनके डमरू से निकले थे । एक बार महादेवजी ने आनन्द-मग्न होकर अपना प्रिय वाद्य डमरू बजाया । उस डमरू में से चौदह ध्वनियाँ निकलीं । इन (अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्, हयवरट्, लण् आदि) चौदह सूत्रों को लेकर पाणिनि ने महाव्याकरण शास्त्र रच डाला । उस रचना के पश्चात् उसकी व्याख्याएँ होते-होते आज इतना बड़ा व्याकरण शास्त्र प्रस्तुत है, जिसका एक भारी

संग्रहालय बन सकता है। गायत्री मन्त्र के चौबीस अक्षरों से इसी प्रकार वैदिक साहित्य के अंग-प्रत्यंगों का प्रादुर्भाव हुआ है। गायत्री सूत्र है, तो वैदिक ऋचाएँ उनकी विस्तृत व्याख्या हैं।

ब्रह्म की स्फुरणा से गायत्री का प्रादुर्भाव

अनादि परमात्म तत्त्व ब्रह्म से यह सब कुछ उत्पन्न हुआ। सृष्टि उत्पन्न करने का विचार उठते ही ब्रह्म में एक स्फुरणा उत्पन्न हुई, जिसका नाम है-शक्ति। शक्ति के द्वारा दो प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई- एक जड़, दूसरी चैतन्य। जड़ सृष्टि का संचालन करने वाली शक्ति 'प्रकृति' और चैतन्य सृष्टि का संचालन करने वाली शक्ति का नाम 'सावित्री' है।

पुराणों में वर्णन मिलता है कि सृष्टि के आदिकाल में भगवान् की नाभि में से कमल उत्पन्न हुआ। कमल के पुष्प में से ब्रह्मा हुए, ब्रह्मा से सावित्री हुई, सावित्री और ब्रह्मा के संयोग से चारों वेद उत्पन्न हुए। वेद से समस्त प्रकार के ज्ञानों का उद्भव हुआ। तदनन्तर ब्रह्माजी ने पंचभौतिक सृष्टि की रचना की। इस आलंकारिक गाथा का रहस्य यह है-निर्लिप्त, निर्विकार, निर्विकल्प परमात्म तत्त्व की नाभि में से, केन्द्र भूमि में से-अन्तःकरण में से कमल उत्पन्न हुआ और वह पुष्प की तरह खिल गया। श्रुति ने कहा कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा की इच्छा हुई कि **'एकोऽहं बहुस्याम्'** मैं एक से बहुत हो जाऊँ। यह उसकी इच्छा, स्फुरणा नाभि देश में से निकल कर स्फुटित हुई अर्थात् कमल की लतिका उत्पन्न हुई और उसकी कली खिल गयी।

इस कमल पुष्प पर ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। ये ब्रह्मा सृष्टि-निर्माण की त्रिदेव शक्ति का प्रथम अंश है। आगे चलकर यह त्रिदेवी शक्ति उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कार्य करती हुई, ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में दृष्टिगोचर होती है। आरम्भ में कमल के पुष्प पर केवल ब्रह्माजी ही प्रकट होते हैं, क्योंकि सर्वप्रथम उत्पन्न करने वाली शक्ति की आवश्यकता हुई।

अब ब्रह्माजी का कार्य आरम्भ होता है। उन्होंने दो प्रकार की सृष्टि उत्पन्न की-एक चैतन्य, दूसरी जड़। चैतन्य शक्ति के अन्तर्गत सभी जीव आ जाते हैं, जिनमें इच्छा, अनुभूति, अहंभावना पाई जाती है। चैतन्य की एक स्वतंत्र सृष्टि है, जिसे विश्व का 'प्राणमय कोश' कहते हैं। निखिल विश्व में एक चैतन्य तत्त्व भरा हुआ है, जिसे 'प्राण' नाम से पुकारा जाता है। विचार, संकल्प, भाव, इस प्राण तत्त्व के तीन वर्ग हैं और सत्, रज, तम यह तीन इसके वर्ण हैं। इन्हीं तत्त्वों को लेकर आत्माओं के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर बनते हैं। सभी प्रकार के प्राणी इसी प्राण तत्त्व से चैतन्यता एवं जीवन सत्ता प्राप्त करते हैं।

जड़ सृष्टि निर्माण के लिए ब्रह्माजी ने पंचभूतों का निर्माण किया। पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश के द्वारा विश्व के सभी परमाणु मय पदार्थ बने। ठोस, द्रव, गैस इन्हीं तीन रूपों में प्रकृति के परमाणु अपनी गतिविधि जारी रखते हैं। नदी, पर्वत, धरती आदि का सभी पसारा इन पंच-भौतिक परमाणुओं का खेल है, प्राणियों के स्थूल शरीर भी इन्हीं प्रकृति जन्य पंच-तत्त्वों के बने होते हैं।

क्रिया जड़-चेतन, दोनों सृष्टि में है। प्राणमय चैतन्य सृष्टि में अहंभाव, संकल्प और प्रेरणा की गतिविधियाँ विविध रूपों में दिखलाई पड़ती हैं। भूतमय जड़ सृष्टि में, शक्ति, हलचल और सत्ता इन आधारों के द्वारा विविध प्रकार के रंग-रूप, आकार-प्रकार बनते-बिगड़ते रहते हैं। जड़ सृष्टि का आधार परमाणु और चैतन्य सृष्टि का आधार संकल्प है। दोनों ही आधार अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त बलशाली हैं, इनका नाश नहीं होता केवल रूपान्तर होता रहता है।

जड़-चेतन सृष्टि के निर्माण में ब्रह्माजी की दो शक्तियाँ काम कर रही हैं—(१) संकल्प शक्ति (२) परमाणु शक्ति। इन दोनों में प्रथम संकल्प शक्ति की आवश्यकता हुई, क्योंकि बिना उसके चैतन्य का आविर्भाव नहीं होता और बिना चैतन्य के परमाणु का उपयोग किस लिए होता। अचैतन्य सृष्टि तो अपने में अचैतन्य थी, क्योंकि न तो उसको किसी का ज्ञान होता और न उसका कोई उपयोग होता है। 'चैतन्य' के प्रकटीकरण की सुविधा के लिए उसकी साधन- सामग्री के रूप में 'जड़' का उपयोग होता है। अस्तु, आरम्भ में ब्रह्माजी ने चैतन्य बनाया, ज्ञान के संकल्प का आविष्कार किया, पौराणिक भाषा में यह कहिये कि सर्वप्रथम वेदों का प्राकट्य हुआ।

पुराणों में वर्णन मिलता है कि ब्रह्मा के शरीर से एक सर्वांग सुन्दरी तरुणी उत्पन्न हुई, यह उनके अंग से उत्पन्न होने के कारण उनकी पुत्री हुई। इसी तरुणी की सहायता से उन्होंने अपना सृष्टि निर्माण कार्य जारी रखा। इसके पश्चात् उस अकेली रूपवती युवती को देखकर उनका मन विचलित हो गया और उन्होंने उससे पत्नी के रूप में रमण किया। इस मैथुन से मैथुनी संयोजक परमाणुमय पंचभौतिक-सृष्टि उत्पन्न हुई। इस कथा के आलंकारिक रूप को-रहस्यमय पहेली को न समझकर कई व्यक्ति अपने मन में प्राचीन तत्त्वों को उथली और अश्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वे भूल जाते हैं कि ब्रह्मा कोई मनुष्य नहीं है और न ही उनसे उत्पन्न हुई शक्ति पुत्री या स्त्री है और न पुरुष-स्त्री की तरह उनके बीच में समागम होता है। इस सृष्टि निर्माण काल के एक तथ्य को गूढ़ पहेली के रूप में आलंकारिक ढंग से प्रस्तुत करके कवि ने अपनी कलाकारिता का परिचय दिया है।

ब्रह्मा, निर्विकार परमात्मा की शक्ति है, जो सृष्टि का निर्माण करती है। इस निर्माण कार्य को चालू करने के लिये उसकी दो भुजाएँ हैं, जिन्हें संकल्प और परमाणु शक्ति कहते हैं। संकल्प शक्ति चेतन सत्- सम्भव होने से ब्रह्मा की पुत्री है। परमाणु शक्ति स्थूल क्रियाशील एवं तम-सम्भव होने से ब्रह्मा की पत्नी है। इस प्रकार गायत्री और सावित्री ब्रह्मा की पुत्री तथा पत्नी नाम से प्रसिद्ध हुईं।

गायत्री सूक्ष्म शक्तियों का स्रोत है

पिछले पृष्ठों पर बतलाया जा चुका है कि एक अव्यय, निर्विकार, अजर-अमर परमात्मा की 'एक से अधिक हो जाने' की इच्छा हुई। ब्रह्म में स्फुरण हुआ कि 'एकोऽहं बहुस्याम्' मैं अकेला हूँ, बहुत हो जाऊँ। उसकी यह इच्छा ही शक्ति बन गयी। इस इच्छा, स्फुरणा या शक्ति को ही ब्रह्म पत्नी कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म एक से दो हो गया। अब उसे लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधे-श्याम, उमा-महेश, शक्ति-शिव, माया-ब्रह्म, प्रकृति- परमेश्वर आदि नामों से पुकारने लगे।

इस शक्ति के द्वारा अनेक पदार्थों तथा प्राणियों का निर्माण होना था, इसलिए उसे भी तीन भागों में अपने को विभाजित कर देना पड़ा; ताकि अनेक प्रकार के सम्मिश्रण तैयार हो सकें और विविध गुण, कर्म, स्वभाव वाले जड़, चेतन पदार्थ बन सकें। ब्रह्मशक्ति के ये तीन टुकड़े- (१) सत् (२) रज (३) तम-इन तीन नामों से पुकारे जाते हैं। सत् का अर्थ है- ईश्वर का दिव्य तत्त्व। तम का अर्थ है- निर्जीव पदार्थों में परमाणुओं का अस्तित्व। रज का अर्थ है- जड़ पदार्थों और ईश्वरीय दिव्य तत्त्व के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई आनन्ददायक चैतन्यता, ये तीन तत्त्व स्थूल सृष्टि के मूलकारण हैं। इनके उपरान्त स्थूल उपादान के रूप में मिट्टी, पानी, हवा, अग्नि, आकाश-ये पाँच स्थूल तत्त्व और उत्पन्न होते हैं। इन तत्त्वों के परमाणुओं तथा उनकी शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तन्मात्राओं द्वारा सृष्टि का सारा कार्य चलता है। प्रकृति के दो भाग हैं—सूक्ष्म प्रकृति जो शक्ति प्रवाह के रूप में, प्राण संचार के रूप में कार्य करती है, वह सत्, रज, तममयी है। स्थूल प्रकृति जिससे दृश्य पदार्थों का निर्माण एवं उपयोग होता है, परमाणुमयी है। यह मिट्टी, पानी, हवा आदि स्थूल पञ्चतत्त्वों के आधार पर अपनी गतिविधि जारी रखती है।

उपरोक्त पंक्तियों से पाठक समझ गये होंगे कि पहले एक ब्रह्म था, उसकी स्फुरणा से आदिशक्ति का आविर्भाव हुआ। इस आदिशक्ति का नाम ही गायत्री है। जैसे ब्रह्म ने अपने तीन भाग कर लिये- (१) सत्- जिसे 'ह्रीं' या सरस्वती कहते हैं (२) रज- जिसे 'श्रीं' या लक्ष्मी कहते हैं (३) तम- जिसे 'क्लीं' या काली कहते हैं। वस्तुतः सत् और तम दो ही विभाग हुए थे, इन दोनों के मिलने से जो धारा उत्पन्न हुई, वह रज कहलाती है। जैसे गंगा, यमुना जहाँ मिलती हैं, वहाँ उनकी मिश्रित धारा को सरस्वती कहते हैं। सरस्वती वैसे कोई पृथक् नदी नहीं है। जैसे इन दो नदियों के मिलने से सरस्वती हुई वैसे ही सत् और तम के योग से रज उत्पन्न हुआ और यह त्रिधा प्रकृति कहलाई।

अद्वैतवाद, द्वैतवाद, त्रैतवाद का बहुत झगड़ा सुना जाता है, वस्तुतः यह समझने का अन्तर मात्र हैं। ब्रह्म, जीव, प्रकृति यह तीनों ही अस्तित्व में हैं। पहले एक ब्रह्म था यह ठीक है, इसलिये अद्वैतवाद भी ठीक है। पीछे ब्रह्म और शक्ति (प्रकृति) दो हो गये, इसलिए द्वैतवाद भी ठीक है। प्रकृति और परमेश्वर के संस्पर्श से जो रसानुभूति

और चैतन्यता मिश्रित रज सत्ता उत्पन्न हुई, वंह जीव कहलायी । इस प्रकार त्रैतवाद भी ठीक है । मुक्ति होने पर जीव सत्ता नष्ट हो जाती है । इससे भी स्पष्ट है कि जीवधारी की जो वर्तमान सत्ता मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के ऊपर आधारित है, वह एक मिश्रण मात्र है ।

तत्त्व-दर्शन के गम्भीर विषय में प्रवेश करके आत्मा के सूक्ष्म विषयों पर प्रकाश डालने का यहाँ अवसर नहीं है । इन पंक्तियों में तो स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति का भेद बताया था, क्योंकि विज्ञान के दो भाग यहीं से होते हैं, मनुष्यों की द्विधा प्रकृति यहीं से बनती है । पञ्चतत्त्वों द्वारा काम करने वाली स्थूल प्रकृति का अन्वेषण करने वाले मनुष्य, भौतिक विज्ञानी कहलाते हैं । उन्होंने अपने बुद्धि बल से पञ्चतत्त्वों के भेद-उपभेदों को जानकर उनसे अनेक लाभदायक साधन प्राप्त किये । रसायन, कृषि, विद्युत्, वाष्प, शिल्प, संगीत, भाषा, साहित्य, वाहन, गृह-निर्माण, चिकित्सा, शासन, खगोल विद्या, अस्त्र-शस्त्र, दर्शन, भू- परिशोध आदि अनेक प्रकार के सुख-साधन खोज निकाले और रेल, मोटर, तार, डाक, रेडियो, टेलीविजन, फोटो आदि विविध वस्तुयें बनाने के बड़े-बड़े यंत्र निर्माण किये । धन, सुख, सुविधा और आराम के साधन सुलभ हुए । इस मार्ग से जो लाभ मिलता है, उसे शास्त्रीय भाषा में 'प्रेय' या 'भोग' कहते हैं । यह विज्ञान, भौतिक विज्ञान कहलाता है । यह स्थूल प्रकृति के उपयोग की विद्या है ।

सूक्ष्म प्रकृति वह है, जो आद्यशक्ति गायत्री से उत्पन्न होकर सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा में बँटती है । यह सर्वव्यापिनी शक्ति-निर्झरिणी पंचतत्त्वों से कहीं अधिक सूक्ष्म है । जैसे नदियों के प्रवाह में, जल की लहरों पर वायु के आघात होने के कारण 'कल-कल' से मिलती-जुलती ध्वनियाँ उठा करती हैं, वैसे ही सूक्ष्म प्रकृति की शक्ति- धाराओं से तीन प्रकार की शब्द-ध्वनियाँ उठती हैं । सत् प्रवाह में 'ह्रीं', रज प्रवाह में 'श्रीं' और तम प्रवाह में 'क्लीं' शब्द से मिलती-जुलती ध्वनि उत्पन्न होती है । उससे भी सूक्ष्म ब्रह्म का ॐकार ध्वनि प्रवाह है । नादयोग की साधना करने वाले ध्यान मग्न होकर इन ध्वनियों को पकड़ते हैं और उनका सहारा पकड़ते हुए सूक्ष्म प्रकृति को भी पार करते हुए ब्रह्म सायुज्य तक जा पहुँचते हैं । यह योग साधना-पथ गायत्री महाविज्ञान के तीसरे खण्ड में पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जायेगा ।

प्राचीन काल में हमारे पूजनीय पूर्वजों ने, ऋषियों ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से विज्ञान के इस सूक्ष्म तत्त्व को पकड़ा था, उसी की शोध और सफलता में अपनी शक्तियों को लगाया था । फलस्वरूप वे वर्तमान काल के यशस्वी भौतिक विज्ञान की अपेक्षा अनेक गुने लाभों से लाभान्वित होने में समर्थ हुए थे । वे आद्यशक्ति के सूक्ष्म शक्ति प्रवाहों पर अपना अधिकार स्थापित करते थे । यह प्रकट तथ्य है कि मनुष्य के शरीर में अनेक प्रकार की शक्तियों का आविर्भाव होता है । हमारे ऋषिगण योग-साधना के द्वारा शरीर के विभिन्न भागों में छिपे पड़े हुए शक्ति-केन्द्रों को, चक्रों को, ग्रन्थियों को, मातृकाओं को, ज्योतियों को, भ्रमरों को जगाते थे और उस जागरण से जो शक्ति प्रवाह उत्पन्न होता था, उसे आद्यशक्ति के त्रिविध प्रवाहों में से जिसके साथ आवश्यकता होती थी, उससे सम्बन्धित कर देते थे । जैसे रेडियो का स्टेशन के ट्रांसमीटर यन्त्र से सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है, तो दोनों की विद्युत् शक्तियाँ सम श्रेणी होने के कारण आपस में सम्बन्धित हो जाती हैं तथा उन स्टेशनों के बीच आपसी वार्त्तालाप का, सम्वादों का आदान-प्रदान का सिलसिला चल पड़ता है । इसी प्रकार साधना द्वारा शरीर के अन्तर्गत छिपे हुए और तन्द्रित पड़े हुए केन्द्रों का, जागरण करके सूक्ष्म प्रकृति के शक्ति प्रवाहों से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, तो मनुष्य और आद्यशक्ति आपस में सम्बन्धित हो जाते हैं । इस सम्बन्ध के कारण मनुष्य उस आद्यशक्ति के गर्भ में भरे हुए रहस्यों को समझने लगता है और अपनी इच्छानुसार उनका उपयोग करके लाभान्वित हो सकता है । चूँकि संसार में जो कुछ है वह सब आद्य-शक्ति के भीतर है, इसलिये वह सम्बन्धित व्यक्ति भी संसार के सब पदार्थों और साधनों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकता है ।

वर्तमान काल के वैज्ञानिक पंचतत्त्वों की सीमा तक सीमित, स्थूल प्रकृति के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बड़ी-बड़ी कीमती मशीनों को विद्युत्, वाष्प, गैस, पेट्रोल आदि का प्रयोग करके कुछ आविष्कार करते हैं और थोड़ा-सा लाभ उठाते हैं । यह तरीका बड़ा श्रम-साध्य, कष्ट-साध्य, धन-साध्य और समय-साध्य है । उसमें

खराबी टूट-फूट और परिवर्तन की खटपट भी आये दिन लगी रहती है। उन यन्त्रों की स्थापना, सुरक्षा और निर्माण के लिए हर समय काम जारी रखना पड़ता है तथा उनका स्थान परिवर्तन तो और भी कठिन होता है। यह सब झंझट भारतीय योग-विज्ञान के विज्ञानवेत्ताओं के सामने नहीं थे। वे बिना किसी यन्त्र की सहायता के, बिना संचालक, विद्युत्, पेट्रोल आदि के केवल अपने शरीर के शक्ति - केन्द्रों का सम्बन्ध सूक्ष्म प्रकृति से स्थापित करके ऐसे आश्चर्यजनक कार्य कर लेते थे, जिनकी सम्भावना तक को आज के भौतिक विज्ञानी समझने में समर्थ नहीं हो पा रहे हैं।

महाभारत और लंका युद्ध में जो अस्त्र-शस्त्र व्यवहृत हुए थे, उनमें से बहुत थोड़ों का धुँधला रूप अभी सामने आया है। रडार, गैस बम, अश्रु-बम, रोग कीटाणु बम, परमाणु बम, मृत्यु किरण आदि का धुँधला चित्र अभी तैयार हो पाया है। प्राचीनकाल में मोहक शस्त्र, ब्रह्मपाश, नागपाश, वरुणास्त्र, आग्नेय बाण, शत्रु को मारकर तरकस में लौट आने वाले बाण आदि व्यवहृत होते थे, शब्द वेध का प्रचलन था। ऐसे अस्त्र-शस्त्र किन्हीं कीमती मशीनों से नहीं, मन्त्र बल से चलाये जाते थे, जो शत्रु को जहाँ भी वह छिपा हो, ढूँढ़कर उसका संहार करते थे। लंका में बैठा हुआ रावण और अमेरिका में बैठा हुआ अहिरावण आपस में भली प्रकार वार्तालाप करते थे, उन्हें किसी रेडियो यन्त्र या ट्रांसमीटर की जरूरत नहीं थी। विमान बिना पेट्रोल के उड़ते थे।

अष्ट-सिद्धि और नव-निधि का योग शास्त्रों में जगह-जगह पर वर्णन है। अग्नि में प्रवेश करना, जल पर चलना, वायु के समान तेज दौड़ना, अदृश्य हो जाना, मनुष्य से पशु-पक्षी और पशु-पक्षी से मनुष्य का शरीर बदल लेना, शरीर को बहुत छोटा या बड़ा, बहुत हल्का या भारी बना लेना, शाप से अनिष्ट उत्पन्न कर देना, वरदानों से उत्तम लाभों की प्राप्ति, मृत्यु को रोक लेना, पुत्रेष्टि यज्ञ, भविष्य का ज्ञान, दूसरों के अन्तस् की पहचान, क्षण भर में यथेष्ट धन, ऋतु, नगर, जीव-जन्तु गण, दानव आदि उत्पन्न कर लेना, समस्त ब्रह्माण्ड की हलचलों से परिचित होना, किसी वस्तु का रूपान्तर कर देना, भूख, प्यास, नींद, सर्दी-गर्मी पर विजय, आकाश में उड़ना आदि अनेकों आश्चर्य भरे कार्य केवल मन्त्र बल से, योगशक्ति से, अध्यात्म विज्ञान से होते थे और उन वैज्ञानिक प्रयोजनों के लिये किसी प्रकार की मशीन, पेट्रोल, बिजली आदि की जरूरत न पड़ती थी। यह कार्य शारीरिक विद्युत् और प्रकृति के सूक्ष्म प्रवाह का सम्बन्ध स्थापित कर लेने पर बड़ी आसानी से हो जाते थे। यह भारतीय विज्ञान था, जिसका आधार था-साधना।

साधना द्वारा केवल तम तत्त्व से संबंध रखने वाले उपरोक्त प्रकार के भौतिक चमत्कार ही नहीं होते वरन् रज और सत् क्षेत्र के लाभ एवं आनन्द भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त किये जा सकते हैं। हानि, शोक, वियोग, आपत्ति, रोग, आक्रमण, विरोध, आघात आदि की विपन्न परिस्थितियों में पड़कर जहाँ साधारण मनोभूमि के लोग मृत्यु तुल्य मानसिक कष्ट पाते हैं, वहाँ आत्म-शक्तियों के उपयोग की विद्या जानने वाला व्यक्ति विवेक, ज्ञान, वैराग्य, साहस, आशा और ईश्वर-विश्वास के आधार पर इन कठिनाइयों को हँसते-हँसते आसानी से काट लेता है और बुरी अथवा साधारण परिस्थितियों में भी अपने आनन्द को बढ़ाने का मार्ग ढूँढ़ निकालता है। वह जीवन को इतनी मस्ती, प्रफुल्लता और मजेदारी के साथ बिताता है, जैसा कि बेचारे करोड़पतियों को भी नसीब नहीं हो सकता। जिसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य आत्मबल के कारण ठीक बना हुआ है, उसे बड़े अमीरों से भी अधिक आनन्दमय जीवन बिताने का सौभाग्य अनायास ही प्राप्त हो जाता है। रज शक्ति का उपभोग जानने का यह लाभ भौतिक विज्ञान द्वारा मिलने वाले लाभों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

'सत्' तत्त्व के लाभों का वर्णन करना तो लेखनी और वाणी दोनों की ही शक्ति के बाहर है। ईश्वरीय दिव्य तत्त्वों की जब आत्मा में वृद्धि होती है तो दया, करुणा, प्रेम, मैत्री, त्याग, संतोष, शान्ति, सेवा-भाव, आत्मीयता, सत्यनिष्ठा, ईमानदारी, संयम, नम्रता, पवित्रता, श्रमशीलता, धर्मपरायणता आदि सद्‌गुणों की मात्रा दिन-दिन बड़ी तेजी से बढ़ती जाती है। फलस्वरूप संसार में उसके लिए प्रशंसा, कृतज्ञता, प्रत्युपकार, श्रद्धा, सहायता, सम्मान के भाव बढ़ते हैं और उसे प्रत्युपकार से सन्तुष्ट करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त यह सद्‌गुण स्वयं इतने मधुर हैं कि जिस हृदय में इनका निवास होता है, वहीं आत्म-संतोष की शीतल निर्झरिणी सदा बहती रहती है। ऐसे लोग

चाहे जीवित अवस्था में हों, चाहे मृत अवस्था में, उन्हें जीवन-मुक्ति, स्वर्ग, परमानन्द, ब्रह्मानन्द, आत्म-दर्शन, प्रभु-प्राप्ति, ब्रह्म-निर्वाण, तुरीयावस्था, निर्विकल्प समाधि का सुख प्राप्त होता रहता है। यही तो जीवन का लक्ष्य है। इसे पाकर आत्मा परितृप्ति के आनन्द सागर में निमग्न हो जाती है।

आत्मिक, मानसिक और सांसारिक तीनों प्रकार के सुख-साधन आद्य-शक्ति गायत्री की सत्, रज, तममयी धाराओं तक पहुँचने वाला साधक सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। सरस्वती, लक्ष्मी और काली की सिद्धियाँ पृथक्-पृथक् प्राप्त की जाती हैं। पाश्चात्य देशों में भौतिक विज्ञानी 'क्लीं' तत्त्व की काली शक्ति का अन्वेषण आराधना करने में निमग्न हैं। बुद्धिवादी, धर्म-प्रचारक, सुधारवादी, गाँधीवादी, समाजसेवी, व्यापारी, श्रमिक, उद्योगी, समाजवादी, कम्युनिष्ट यह 'श्रीं' शक्ति की सुव्यवस्था में, लक्ष्मी के आयोजन में लगे हुए हैं। योगी, ब्रह्मवेत्ता, अध्यात्मवादी, तत्त्वदर्शी, भक्त, दार्शनिक, परमार्थी व्यक्ति 'ह्रीं' तत्त्व की, सरस्वती की आराधना कर रहे हैं। यह तीनों ही वर्ग गायत्री की आद्य-शक्ति के एक-एक चरण के उपासक हैं। गायत्री को 'त्रिपदा' कहा है। उसके तीन चरण हैं। यह त्रिवेणी उपर्युक्त तीनों ही प्रयोजनों को पूरा करने वाली है। माता बालक के सभी काम करती है। आवश्यकतानुसार वह उसके लिये मेहतर का, रसोइये का, कहार का, दाई का, घोड़े का, दाता का, दर्जी का, धोबी का, चौकीदार का काम बजा देती है। वैसे ही जो लोग आत्म-शक्ति को आद्य-शक्ति के साथ जोड़ने की विद्या को जानते हैं, वे अपने को सुसन्तति सिद्ध करते हैं। वे गायत्री रूपी सर्वशक्तिमयी माता से यथेष्ट लाभ प्राप्त कर लेते हैं।

संसार में दुःखों के तीन कारण हैं—(१) अज्ञान (२) अशक्ति (३) अभाव। इन तीन दुःखों को गायत्री की सूक्ष्म प्रकृति की तीनों धाराओं के सदुपयोग से मिटाया जा सकता है। ह्रीं अज्ञान को, श्रीं अभाव को, क्लीं अशक्ति को दूर करती है। भारतीय सूक्ष्म विद्या-विशेषज्ञों ने सूक्ष्म प्रकृति पर अधिकार करके अभीष्ट आनन्द प्राप्त करने के जिस विज्ञान का आविष्कार किया था, वह सभी दृष्टियों से असाधारण और महान् है। उस आविष्कार का नाम है—साधना। साधना से सिद्धि मिलती है। गायत्री साधना भी अनेक सिद्धियों की जननी है।

गायत्री साधना से शक्तिकोशों का उद्भव

पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि गायत्री कोई देवी-देवता, भूत-पलीत आदि नहीं, वरन् ब्रह्म की स्फुरणा से उत्पन्न हुई आद्यशक्ति है, जो संसार के प्रत्येक पदार्थ का मूल कारण है और उसी के द्वारा जड़-चेतन सृष्टि में गति, शक्ति, प्रगति-प्रेरणा एवं परिणति होती है। जैसे घर में रखे हुए रेडियो यन्त्र का सम्बन्ध विश्वव्यापी ईथर तरंगों से स्थापित करके देश-विदेशों में होने वाले प्रत्येक ब्राडकास्ट को सरलतापूर्वक सुन सकते हैं, उसी प्रकार आत्म-शक्ति का विश्वव्यापी गायत्री शक्ति से संबंध स्थापित करके सूक्ष्म प्रकृति की सभी हलचलों को जान सकते हैं और सूक्ष्म शक्ति को इच्छानुसार मोड़ने की कला विदित होने पर सांसारिक, मानसिक और आत्मिक क्षेत्र में प्राप्त हो सकने वाली सभी सम्पत्तियों को प्राप्त कर सकते हैं। जिस मार्ग से यह सब हो सकता है उसका नाम है—साधना।

कई व्यक्ति सोचते हैं—हमारा उद्देश्य ईश्वर प्राप्ति, आत्म- दर्शन और जीवन मुक्ति है। हमें गायत्री के, सूक्ष्म प्रकृति के चक्कर में पड़ने से क्या प्रयोजन है ? हमें तो केवल ईश्वर आराधना करनी चाहिये। सोचने वालों को जानना चाहिए कि ब्रह्म सर्वथा निर्विकार, निर्लेप, निरंजन, निराकार, गुणातीत है। वह न किसी से प्रेम करता है, न द्वेष। वह केवल द्रष्टा एवं कारण रूप है। उस तक सीधी पहुँच नहीं हो सकती, क्योंकि जीव और ब्रह्म के बीच सूक्ष्म प्रकृति (एनर्जी) का सघन आच्छादन है। इस आच्छादन को पार करने के लिए प्रकृति के साधनों से ही कार्य करना पड़ेगा। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, कल्पना, ध्यान, सूक्ष्म शरीर, षट्चक्र, इष्टदेव की ध्यान प्रतिमा, भक्ति, भावना, उपासना, व्रत, अनुष्ठान, साधना यह सभी तो माया निर्मित ही हैं। इन सबको छोड़कर ब्रह्म प्राप्ति किस प्रकार होनी सम्भव है ? जैसे ऊपर आकाश में पहुँचने के लिए वायुयान की आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही ब्रह्म-प्राप्ति के लिए भी प्रतिमामूलक आराधना का आश्रय लेना पड़ता है। गायत्री के आचरण में होकर पार जाने

पर ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। सच तो यह है कि साक्षात्कार का अनुभव गायत्री के गर्भ में ही होता है। इससे ऊपर पहुँचने पर सूक्ष्म इन्द्रियाँ और उनकी अनुभव शक्ति भी लुप्त हो जाती है। इसलिए मुक्ति और ईश्वर प्राप्ति चाहने वाले भी गायत्री मिश्रित ब्रह्म की, राधेश्याम, सीताराम, लक्ष्मीनारायण की ही उपासना करते हैं। निर्विकार ब्रह्म का सायुज्य तो तभी होगा, जब ब्रह्म 'बहुत से एक होने' की इच्छा करेगा और सब आत्माओं को समेटकर अपने में धारण कर लेगा। उससे पूर्व सब आत्माओं का सविकार ब्रह्म में ही सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य आदि हो सकता है। इस प्रकार गायत्री मिश्रित सविकार ब्रह्म ही हमारा उपास्य रह जाता है। उसकी प्राप्ति के साधन जो भी होंगे, वे सभी सूक्ष्म प्रकृति गायत्री द्वारा ही होंगे। इसलिए ऐसा सोचना उचित नहीं कि ब्रह्म प्राप्ति के लिए गायत्री अनावश्यक है। वह तो अनिवार्य है। नाम से कोई उपेक्षा या विरोध करे, यह उसकी इच्छा, पर गायत्री तत्त्व से बचकर अन्य मार्ग से जाना असंभव है।

कई व्यक्ति कहते हैं कि हम निष्काम साधना करते हैं। हमें किसी फल की कामना नहीं, फिर सूक्ष्म प्रकृति का आश्रय क्यों लें ? ऐसे लोगों को जानना चाहिए कि निष्काम साधना का अर्थ--भौतिक लाभ न चाह कर आत्मिक साधना का है, बिना परिणाम सोचे यदि चाहें तो किसी कार्य में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, यदि कुछ मिल भी जाय, तो उससे समय एवं शक्ति के अपव्यय के अतिरिक्त और कुछ परिणाम नहीं निकलता। निष्काम कर्म का तात्पर्य दैवी, सतोगुणी, आत्मिक कामनाओं से है। ऐसी कामनायें भी गायत्री के प्रथम पाद के 'ह्रीं' तत्त्व में सरस्वती भाग में आती हैं। इसलिए निष्काम भाव की उपासना भी गायत्री क्षेत्र से बाहर नहीं है।

मन्त्र विद्या को वैज्ञानिक जानते हैं कि जीभ से जो भी शब्द निकलते हैं, उनका उच्चारण कण्ठ, तालु, मूर्धा, ओष्ठ, दन्त, जिह्वामूल आदि मुख के विभिन्न अंगों द्वारा होता है । इस उच्चारण काल में मुख के जिन भागों से ध्वनि निकलती है, उन अंगों के नाड़ी तन्तु शरीर के विभिन्न भागों तक फैलते हैं । इस फैलाव क्षेत्र में कई ग्रन्थियाँ होती हैं, जिन पर उन उच्चारणों का दबाव पड़ता है । जिन लोगों की कुछ सूक्ष्म ग्रन्थियाँ रोगी या नष्ट हो जाती हैं, उनके मुख से कुछ खास शब्द अशुद्ध या रुक-रुककर निकलते हैं, इसी को हकलाना या तुतलाना कहते हैं । शरीर में अनेक छोटी-बड़ी, दृश्य-अदृश्य ग्रन्थियाँ होती हैं । योगी लोग जानते हैं कि उन कोशों में कोई विशेष शक्ति-भण्डार छिपा रहता है, सुषुम्ना से सम्बद्ध षट्चक्र प्रसिद्ध हैं, ऐसी अगणित ग्रन्थियाँ शरीर में हैं । विविध शब्दों का उच्चारण इन विविध ग्रन्थियों पर अपना प्रभाव डालता है और इसके प्रभाव से उन ग्रन्थियों का शक्ति भण्डार जाग्रत् होता है । मन्त्रों का गठन इसी आधार पर हुआ है । गायत्री मन्त्र में २४ अक्षर हैं । इसका सम्बन्ध शरीर में स्थित ऐसी २४ ग्रन्थियों से है, जो जाग्रत् होने पर सद्बुद्धि प्रकाशक शक्तियों को सतेज करती हैं । गायत्री मन्त्र के उच्चारण से सूक्ष्म शरीर का सितार २४ स्थानों से झंकार देता है और उससे एक ऐसी स्वर-लहरी उत्पन्न होती है, जिसका प्रभाव अदृश्य जगत् के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर पड़ता है । यह प्रभाव ही गायत्री साधना के फलों का प्रभाव हेतु है ।

शब्दों का ध्वनि प्रवाह तुच्छ चीज नहीं हैं । शब्द-विद्या के आचार्य जानते हैं कि शब्द में कितनी शक्ति है और उसकी अज्ञात गतिविधि के द्वारा क्या-क्या परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं ? शब्द को ब्रह्म कहा गया है । ब्रह्म की स्फुरणा कम्पन उत्पन्न करती है । वह कम्पन ब्रह्म से टकराकर ॐ ध्वनि के रूप में सात बार ध्वनित होता है । जैसे घड़ी का लटकन घण्टा पेंडुलम झूमता हुआ घड़ी के पुर्जों में चाल पैदा करता रहता है, इसी प्रकार वह "ॐ" कार ध्वनि-प्रवाह सृष्टि को चलाने वाली गति पैदा करता है । आगे चलकर उस प्रवाह में ह्रीं, श्रीं, क्लीं की तीन प्रधान सत्, रज, तममयी धारायें बहती हैं । तदुपरान्त उसकी और भी शाखा-प्रशाखायें हो जाती है, जो बीज मन्त्र के नाम से पुकारी जाती हैं । यह ध्वनियाँ अपने-अपने क्षेत्र में सृष्टि कार्यों का सञ्चालन करती हैं । इस प्रकार सृष्टि का संचालन कार्य शब्दतत्त्व द्वारा होता है । ऐसे तत्त्व को तुच्छ नहीं कहा जा सकता । गायत्री की शब्दावली ऐसे चुने हुए शृंखलाबद्ध शब्दों से बनाई गयी है, जो क्रम और गुम्फन की विशेषता के कारण अपने ढंग का एक अद्भुत ही शक्ति प्रवाह उत्पन्न करती है ।

दीपक-राग गाने से बुझे हुए दीपक जल उठते हैं, मेघ-मल्हार गाने से वर्षा होने लगती है, वेणुनाद सुनकर सर्प लहराने लगते हैं, मृग सुध-बुध भूल जाते हैं, गायें अधिक दूध देने लगती हैं । कोयल की बोली सुनकर काम भाव जाग्रत् हो जाता है । सैनिकों के कदम मिलाकर चलने की शब्द ध्वनि से लोहे के पुल तक गिर सकते हैं, इसलिए पुलों को पार करते समय सेना को कदम न मिलाकर चलने की हिदायत कर दी जाती है । अमेरिका के डॉक्टर हचिंसन ने विविध संगीत ध्वनियों से अनेक असाध्य और कष्ट साध्य रोगियों को अच्छा करने में सफलता और ख्याति प्राप्त की है । भारतवर्ष में तांत्रिक लोग थाली को घड़े पर रखकर एक विशेष गति से बजाते हैं और उस बाजे से सर्प, बिच्छू आदि जहरीले जानवरों के काटे हुए, कण्ठमाला, विषवेल, भूतोन्माद आदि के रोगी बहुत करके अच्छे हो जाते हैं । कारण यह है कि शब्दों के कम्पन सूक्ष्म प्रकृति से अपनी जाति के अन्य परमाणुओं को लेकर ईथर का परिभ्रमण करते हुए जब अपने उद्गम केन्द्र पर कुछ ही क्षणों में लौट आते हैं , तो उसमें अपने प्रकार की एक विशेष विद्युत् शक्ति भरी होती है और परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त क्षेत्र पर उस शक्ति का एक विशिष्ट प्रभाव पड़ता है । मन्त्रों द्वारा विलक्षण कार्य होने का भी यही कारण है । गायत्री मन्त्र द्वारा भी इसी प्रकार शक्ति का आविर्भाव होता है । मन्त्रोच्चारण में मुख के जो अंग क्रियाशील होते हैं, उन भागों में नाड़ी तन्तु कुछ विशेष ग्रन्थियों को गुद-गुदाते हैं । उनमें स्फुरण होने से एक वैदिक छन्द का क्रमबद्ध यौगिक संगीत प्रवाह ईथर तत्त्व में फैलता है और अपनी कुछ क्षणों में होने वाली विश्व परिक्रमा से वापस आते-आते एक स्वजातीय तत्त्वों की सेना साथ ले आता है, जो अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में बड़ी सहायक होती है । शब्द संगीत के शक्तिमान् कम्पनों का पञ्च भौतिक प्रवाह और आत्म-शक्ति की सूक्ष्म प्रकृति की भावना, साधना, आराधना के आधार पर उत्पन्न

किया गया सम्बन्ध, यह दोनों कारण गायत्री-शक्ति को ऐसा बलवान् बनाते हैं, जो साधकों के लिए दैवी वरदान सिद्ध होता है।

गायत्री मन्त्र को और भी अधिक सूक्ष्म बनाने वाला कारण है साधक का 'श्रद्धामय विश्वास'। विश्वास से सभी मनोविज्ञानवेत्ता परिचित हैं। हम अपनी पुस्तकों और लेखों में ऐसे असंख्य उदाहरण अनेकों बार दे चुके हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि केवल विश्वास के आधार पर लोग भय की वजह से अकारण काल के मुख में चले गये और विश्वास के कारण मृतप्राय लोगों ने नवजीवन प्राप्त किया। रामायण में तुलसीदासजी ने **'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ'** गाते हुए श्रद्धा और विश्वास को भवानी-शंकर की उपमा दी है। झाड़ी को भूत, रस्सी को सर्प, मूर्ति को देवता बना देने की क्षमता विश्वास में है। लोग अपने विश्वासों की रक्षा के लिए धन, आराम तथा प्राणों तक को हँसते-हँसते गँवा देते हैं। एकलव्य, कबीर आदि ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिससे प्रकट है कि गुरु द्वारा नहीं केवल अपनी श्रद्धा के आधार पर गुरु द्वारा प्राप्त होने वाली शिक्षा से भी अधिक विज्ञ बना जा सकता है। हिप्नोटिज्म का आधार रोगी को अपने वचन पर विश्वास कराके उससे मनमाने कार्य करा लेना ही तो है। तान्त्रिक लोग मन्त्र सिद्धि की कठोर साधना द्वारा अपने मन में कितनी अगाध श्रद्धा जमाते हैं। आमतौर पर जिसके मन में उस मन्त्र के प्रति जितनी गहरी श्रद्धा जमी होती है, उस तांत्रिक का मन्त्र भी उतना काम करता है। जिस मन्त्र से श्रद्धालु तान्त्रिक चमत्कारी काम कर दिखाता है, उस मन्त्र को अश्रद्धालु साधक चाहे सौ बार बके कुछ लाभ नहीं होता। गायत्री मन्त्र के सम्बन्ध में भी यह तथ्य बहुत हद तक काम करता है। जब साधक श्रद्धा और विश्वासपूर्वक आराधना करता है, तो शब्द विज्ञान और आत्म-सम्बन्ध दोनों की महत्ता से संयुक्त गायत्री का प्रभाव और भी अधिक बढ़ जाता है और वह एक अद्वितीय शक्ति सिद्ध होती है।

पिछले २२ पृष्ठ पर दिये हुए चित्र में दिखाया गया है कि गायत्री के प्रत्येक अक्षर का किस-किस स्थान से सम्बन्ध है ? उन स्थलों पर कौन यौगिक ग्रन्थिचक्र हैं, इसका परिचय इस प्रकार है—

अक्षर	ग्रन्थि का नाम	उसमें भरी हुई शक्ति
१. तत्	तापिनी	सफलता
२. स	सफला	पराक्रम
३. वि	विश्वा	पालन
४. तुर्	तुष्टि	कल्याण
५. व	वरदा	योग
६. रे	रेवती	प्रेम
७. णि	सूक्ष्मा	धन
८. यं	ज्ञाना	तेज
९. भर्	भर्गा	रक्षा
१०. गो	गोमती	बुद्धि
११. दे	देविका	दमन
१२. व	वराही	निष्ठा
१३. स्य	सिंहनी	धारणा
१४. धी	ध्याना	प्राण

१५. म	मर्यादा	संयम
१६. हि	स्फुटा	तप
१७. धि	मेधा	दूरदर्शिता
१८. यो	योगमाया	जागृति
१९. यो	योगिनी	उत्पादन
२०. नः	धारिणी	सरसता
२१. प्र	प्रभवा	आदर्श
२२. चो	ऊष्मा	साहस
२३. द	दृश्या	विवेक
२४. यात्	निरञ्जना	सेवा

गायत्री उपरोक्त २४ शक्तियों को साधक में जाग्रत् करती है। यह गुण इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि इनके जागरण के साथ-साथ अनेक प्रकार की सफलतायें, सिद्धियाँ और सम्पन्नता प्राप्त होना आरम्भ हो जाता है। कई लोग समझते हैं कि यह लाभ अनायास कोई देवी-देवता दे रहा है। कारण यह है कि अपने अन्दर हो रहे सूक्ष्म तत्त्वों की प्रगति और परिणति को देख और समझ नहीं पाते। यदि वे समझ पाएँ कि उनकी साधना से क्या-क्या सूक्ष्म प्रक्रियायें हो रही हैं, तो यह समझने में देर न लगेगी कि यह सब कुछ कहीं से अनायास दान नहीं मिल रहा है, वरन् आत्म-विद्या की सुव्यवस्थित वैज्ञानिक प्रक्रिया का ही यह परिणाम है। गायत्री साधना कोई अन्ध-विश्वास नहीं, एक ठोस वैज्ञानिक कृत्य है और उसके द्वारा लाभ भी सुनिश्चित ही होते हैं।

गायत्री ही कामधेनु है

पुराणों में उल्लेख है कि सुरलोक में देवताओं के पास कामधेनु गौ है, वह अमृतोपम दूध देती है। जिसे पीकर देवता लोग सदा सन्तुष्ट, प्रसन्न तथा सुसम्पन्न रहते हैं। इस गौ में यह विशेषता है कि उसके समीप कोई अपनी कुछ कामना लेकर आता है, तो उसकी इच्छा तुरन्त पूरी हो ही जाती है। कल्पवृक्ष के समान कामधेनु गौ भी अपने निकट पहुँचने वालों की मनोकामना पूरी करती है।

यह कामधेनु गौ गायत्री ही है। इस महाशक्ति की जो देवता, दिव्य स्वभाव वाला मनुष्य उपासना करता है, वह माता के स्तनों के समान आध्यात्मिक दुग्ध धारा का पान करता है, उसे किसी प्रकार कोई कष्ट नहीं रहता। आत्मा स्वतः आनन्द स्वरूप है। आनन्द मग्न रहना उसका प्रमुख गुण है। दुःखों के हटते और मिटते ही वह अपने मूल स्वरूप में पहुँच जाता है। देवता स्वर्ग में सदा आनन्दित रहते हैं। मनुष्य भी भूलोक में उसी प्रकार आनन्दित रह सकता है, यदि उसके कष्टों का निवारण हो जाए। गायत्री कामधेनु मनुष्य के सभी कष्टों का समाधान कर देती है।

त्रिविध दुःखों का निवारण

समस्त दुःखों के कारण तीन हैं- (१) अज्ञान (२) अशक्ति (३) अभाव। जो इन तीनों कारणों को जिस सीमा तक अपने से दूर करने में समर्थ होगा, वह उतना ही सुखी बन सकेगा।

अज्ञान के कारण मनुष्य का दृष्टिकोण दूषित हो जाता है, वह तत्त्वज्ञान से अपरिचित होने के कारण उल्टा-सीधा सोचता है और उल्टे काम करता है, तदनुरूप उलझनों में अधिक फँसता जाता है और दुःखी बनता है। स्वार्थ, भोग, लोभ, अहंकार, अनुदारता और क्रोध की भावनायें मनुष्य को कर्तव्यच्युत करती हैं और वह दूरदर्शिता को छोड़कर क्षणिक, क्षुद्र एवं हीन बातें सोचता है तथा वैसे ही काम करता है। फलस्वरूप उसके विचार और कार्य

पापमय होने लगते हैं। पापों का निश्चित परिणाम दु:ख है। दूसरी ओर अज्ञान के कारण वह अपने और दूसरे सांसारिक गतिविधियों के मूल हेतुओं को नहीं समझ पाता। फलस्वरूप असम्भव आशायें, तृष्णायें, कल्पनायें किया करता है। इस उल्टे दृष्टिकोण के कारण साधारण-सी बातें उसे बड़ी दु:खमय दिखायी देती हैं, जिसके कारण वह रोता-चिल्लाता रहता है। आत्मीयों की मृत्यु, साथियों की भिन्न रुचि, परिस्थितियों का उतार-चढ़ाव स्वाभाविक है, पर अज्ञानी सोचता है कि मैं जो चाहता हूँ, वही सदा होता रहे। प्रतिकूल बात सामने आये ही नहीं। इस असम्भव आशा के विपरीत घटनायें जब भी घटित होती हैं, तभी वह रोता, चिल्लाता है। तीसरे अज्ञान के कारण भूलें भी अनेक प्रकार की होती हैं, समीपस्थ सुविधाओं से वंचित रहना पड़ता है, यह भी दु:ख का हेतु है। इस प्रकार अनेक दु:ख मनुष्य को अज्ञान के कारण प्राप्त होते हैं।

अशक्ति का अर्थ है-निर्बलता। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, बौद्धिक, आत्मिक निर्बलता के कारण, मनुष्य अपने स्वाभाविक, जन्म सिद्ध अधिकारों का भार अपने कन्धों पर उठाने में समर्थ नहीं होता, फलस्वरूप उसे वंचित रहना पड़ता है। स्वास्थ्य खराब हो, बीमारी ने घेर रखा हो, तो स्वादिष्ट भोजन, रूपवती तरुणी, मधुर गीत-वाद्य, सुन्दर दृश्य निरर्थक हैं। धन-दौलत का कोई कहने लायक सुख उसे नहीं मिल सकता। बौद्धिक निर्बलता हो तो साहित्य, काव्य, दर्शन, मनन, चिन्तन का रस प्राप्त नहीं हो सकता। आत्मिक निर्बलता हो तो सत्संग, प्रेम, भक्ति आदि का आत्मानंद दुर्लभ है। इतना ही नहीं, निर्बलों को मिटा डालने के लिए प्रकृति का 'उत्तम की रक्षा' सिद्धांत काम करता है। कमजोर को सताने और मिटाने के लिए अनेकों तथ्य प्रकट हो जाते हैं। निर्दोष, भले और सीधे-साधे तत्त्व भी उसके प्रतिकूल पड़ते हैं। सर्दी जो बलवानों को बलवृद्धि प्रदान करती है, रसिकों को रस देती है, वह कमजोरों को निमोनिया, गठिया आदि का कारण बन जाती है। जो तत्त्व निर्बलों के लिये प्राणघातक हैं, वे ही बलवानों को सहायक सिद्ध होते हैं। बेचारी निर्बल बकरी को जंगली जानवरों से लेकर जगत्माता भवानी दुर्गा तक चट कर जाती है और सिंह को वन्य पशु ही नहीं बड़े-बड़े सम्राट् तक अपने राज्य-चिह्न में धारण करते हैं। अशक्त हमेशा दु:ख पाते हैं, उनके लिए भले तत्त्व भी आशाप्रद सिद्ध नहीं होते हैं।

अभावजन्य दु:ख है— पदार्थों का अभाव। अन्न, वस्त्र, जल, मकान, पशु, भूमि, सहायक, मित्र, धन, औषधि, पुस्तक, शस्त्र, शिक्षक आदि के अभाव में विविध प्रकार की पीड़ायें, कठिनाइयाँ भुगतनी पड़ती हैं, उचित आवश्यकताओं को कुचलकर, मन मारकर बैठना पड़ता है और जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षणों को मिट्टी के मोल नष्ट करना पड़ता है। योग्य और समर्थ व्यक्ति भी साधनों के अभाव में अपने को लुञ्ज-पुञ्ज अनुभव करते हैं और दु:ख उठाते हैं।

गायत्री कामधेनु है। जो उसकी पूजा, उपासना, आराधना और अभिभावना करता है, वह प्रतिक्षण माता का अमृतोपम दुग्ध पान करने का आनन्द लेता है और समस्त अज्ञानों, अशक्तियों और अभावों के कारण उत्पन्न होने वाले कष्टों से छुटकारा पाकर मनोवांछित फल प्राप्त करता है।

गायत्री और ब्रह्म की एकता

गायत्री कोई स्वतंत्र देवी-देवता नहीं है। यह तो परब्रह्म परमात्मा का क्रिया भाग है। ब्रह्म निर्विकार है, अचिन्त्य है, बुद्धि से परे है, साक्षी रूप है, परन्तु अपनी क्रियाशील चेतना शक्ति रूप होने के कारण उपासनीय है और उस उपासना का अभीष्ट परिणाम भी प्राप्त होता है। ईश्वर-भक्ति, ईश्वर-उपासना, ब्रह्म- साधना, आत्म-साक्षात्कार, ब्रह्म-दर्शन, प्रभु-परायणता आदि पुरुषवाची शब्दों का जो तात्पर्य और उद्देश्य है, वही 'गायत्री उपासना' आदि स्त्री-वाची शब्दों का मन्तव्य है।

गायत्री उपासना वस्तुत: ईश्वर उपासना का एक अत्युत्तम सरल और शीघ्र सफल होने वाला मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति एक सुरम्य उद्यान से होते हुए जीवन के चरम लक्ष्य 'ईश्वर- प्राप्ति' तक पहुँचते हैं। ब्रह्म और गायत्री में केवल शब्दों का अन्तर है, वैसे दोनों ही एक हैं। इस एकता के कुछ प्रमाण नीचे देखिये-

गायत्री छन्दसामहम् ॥ —श्रीमद् भगवद्गीता अ-१० ३५

छन्दों में मैं गायत्री छन्द हूँ।

भूर्भुवः स्वरिति चैव चतुर्विंशाक्षरा तथा।
गायत्री चतुरो वेदा ओंकारः सर्वमेव तु॥ —बृ० यो० याज्ञ० २/६६

भूर्भुवः स्वः यह तीन महाव्याहृतियाँ, चौबीस अक्षर वाली गायत्री तथा चारों वेद निस्संदेह ओंकार (ब्रह्म) स्वरूप हैं।

देवस्य सवितुर्यस्य धियो यो नः प्रचोदयात्।
भर्गो वरेण्यं तद्ब्रह्म धीमहीत्यथ उच्यते॥ —विश्वामित्र

उस दिव्य तेजस्वी, ब्रह्म का हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करता है।

अथो वदामि गायत्रीं तत्त्वरूपां त्रयीमयीम्।
यया प्रकाश्यते ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम्॥ —गायत्री तत्त्व० श्लोक १

त्रिवेदमयी (वेदत्रयी) तत्त्व स्वरूपिणी गायत्री को मैं कहता हूँ, जिससे सच्चिदानन्द लक्षण वाला ब्रह्म प्रकाशित होता है अर्थात् ज्ञात होता है।

गायत्री वा इदं सर्वम्। —नृसिंहपूर्वतापनीयोप० ४/३

यह समस्त जो कुछ है, गायत्री स्वरूप है।

गायत्री परमात्मा। —गायत्रीतत्व०

गायत्री (ही) परमात्मा है।

ब्रह्म गायत्रीति-ब्रह्म वै गायत्री।–शतपथ ब्राह्मण ८/५/३/७–ऐतरेय ब्रा० अ० १७खं०५

ब्रह्म गायत्री है, गायत्री ही ब्रह्म है।

सप्रभं सत्यमानन्दं हृदये मण्डलेऽपि च।
ध्यायञ्जपेत्तदित्येतन्निष्कामो मुच्यतेऽचिरात्॥—विश्वामित्र

प्रकाश सहित सत्यानन्द स्वरूप ब्रह्म को हृदय में और सूर्यमण्डल में ध्यान करता हुआ, कामना रहित हो गायत्री मन्त्र को यदि जपे, तो अविलम्ब संसार के आवागमन से छूट जाता है।

ओंकारस्तत्परं ब्रह्म सावित्री स्यात्तदक्षरम्।—कूर्म पुराण उ० विभा० अ० १४/५७

ओंकार परब्रह्म स्वरूप है और गायत्री भी अविनाशी ब्रह्म है।

गायत्री तु परं तत्त्वं गायत्री परमागतिः।—बृहत्पाराशर गायत्री मंत्र पुरश्चरण वर्णनम् ४/४

गायत्री परम तत्त्व है, गायत्री परम गति है।

सर्वात्मा हि सा देवी सर्वभूतेषु संस्थिता।
गायत्री मोक्षहेतुश्च मोक्षस्थानमसंशयम्॥ —ऋषि शृंग

यह गायत्री देवी समस्त प्राणियों में आत्मा रूप में विद्यमान है, गायत्री मोक्ष का मूल कारण तथा सन्देह रहित मुक्ति का स्थान है।

गायत्र्येव परो विष्णुर्गायत्र्येव परः शिवः।
गायत्र्येव परो ब्रह्मा गायत्र्येव त्रयी ततः॥- स्कन्द पुराण, काशीखण्ड ४/९/५८, बृहत्सन्ध्या भाष्य

गायत्री ही दूसरे विष्णु हैं और शंकरजी दूसरे गायत्री ही हैं। ब्रह्माजी भी गायत्री में परायण हैं, क्योंकि गायत्री तीनों देवों का स्वरूप है।

गायत्री परदेवतेति गदिता ब्रह्मैव चिद्रूपिणी॥३॥ —गायत्री पुरश्चरण प०

गायत्री परम श्रेष्ठ देवता और चित्त रूपी ब्रह्म है, ऐसा कहा गया है।

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच। —छान्दोग्योपनिषद् ३/१२/१

यह विश्व जो कुछ भी है, वह समस्त गायत्रीमय है।

नभिन्नां प्रतिपद्येत गायत्रीं ब्रह्मणा सह।
सोऽहमस्मीत्युपासीत विधिना येन केनचित्।। —व्यास

गायत्री और ब्रह्म में भी भिन्नता नहीं है। अत: चाहे जिस किसी भी प्रकार से ब्रह्म स्वरूपी गायत्री की उपासना करे।

गायत्री प्रत्यग्ब्रह्मैक्यबोधिका। —शांकर भाष्य

गायत्री प्रत्यक्ष अद्वैत ब्रह्म की बोधिका है।

परब्रह्मस्वरूपा च निर्वाणपददायिनी।
ब्रह्मतेजोमयी शक्तिस्तदधिष्ठातृ देवता।। —देवी भागवत स्कन्ध ९ अ.१/४२

गायत्री मोक्ष देने वाली, परमात्म स्वरूप और ब्रह्मतेज से युक्त शक्ति है और मन्त्रों की अधिष्ठात्री है।

गायत्र्याख्यं ब्रह्म गायत्र्यनुगतं गायत्री मुखेनोक्तम्।।—छान्दोग्य० शांकर भाष्य ३/१२/१५

गायत्री स्वरूप एवं गायत्री से प्रकाशित होने वाला ब्रह्म गायत्री नाम से वर्णित है।

प्रणवव्याहृतिभ्याञ्च गायत्र्या त्रितयेन च।
उपास्यं परमं ब्रह्म आत्मा यत्र प्रतिष्ठित:।। —तारानाथ कृ० गा० व्या० पृ० २५

प्रणव, व्याहृति और गायत्री इन तीनों से परम ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये, उस ब्रह्म में आत्मा स्थित है।

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषा: स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपा: स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गलोकम्। —छा० ३/१३/६

हृदय चैतन्य ज्योति गायत्री रूप ब्रह्म के प्राप्ति स्थान के प्राण, व्यान, अपान, समान, उदान ये पाँच द्वारपाल हैं। अत: इन्हीं को वश में करे, जिससे हृदयस्थित गायत्री स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति हो। उपासना करने वाला स्वर्गलोक को प्राप्त होता है और उसके कुल में वीर पुत्र या शिष्य उत्पन्न होता है।

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद। —बृह० ५/१४/१

भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ—ये तीनों गायत्री के प्रथम पाद के आठ अक्षरों के बराबर हैं। अत: जो गायत्री के प्रथम पद को भी जान लेता है, वह त्रिलोक विजयी होता है।

स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, सद्वितीयमैच्छत्। सहैतावानास। यथा स्त्रीपुमान्सौ संपरिष्वक्तौ स। इममेवात्मानं द्वेधा पातयत्तत: पतिश्च पत्नी चाभवताम्। —बृह० १/४/३

वह ब्रह्म रमण न कर सका, क्योंकि अकेला था। अकेला कोई भी रमण नहीं कर सकता। उसका स्वरूप संयुक्त स्त्री-पुरुष की भाँति था। उसने दूसरे की इच्छा की तथा अपने संयुक्त रूप को द्विधा विभक्त किया, तब दोनों रूप पत्नी और पति भाव को प्राप्त हुए।

निर्गुण: परमात्मा तु त्वदाश्रयतया स्थित:।
तस्य भट्टारिकासि त्वं भुवनेश्वरि ! भोगदा।। —शक्ति दर्शन

परमात्मा निर्गुण है और तेरे ही आश्रित ठहरा हुआ है। तू ही उसकी साम्राज्ञी और भोगदा है।

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव।। —शक्ति दर्शन

शक्ति, शक्तिमान् से कभी पृथक् नहीं रहती। इन दोनों का नित्य संबंध है। जैसे अग्नि और दाहक शक्ति का नित्य परस्पर सम्बन्ध है, उसी प्रकार शक्तिमान् का भी है।

सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च।
योऽसौ साहमहं योऽसौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्।। —देवी भागवत पु० ३/६/२

शक्ति का और उस शक्तिमान् पुरुष का सदा सम्बन्ध है, कभी भेद नहीं है। जो वह है, सो मैं हूँ और जो मैं हूँ, सो वह है। यदि भेद है, तो केवल बुद्धि का भ्रम है।

जगन्माता च प्रकृतिः पुरुषश्च जगत्पिता।
गरीयसी त्रिजगतां माता शतगुणैः पितुः ॥ —ब्र० वै० पु० कृ० ज० अ० ५२/३४

संसार की जन्मदात्री प्रकृति है और जगत् का पालनकर्त्ता या रक्षा करने वाला पुरुष है। जगत् में पिता से माता सौगुनी अधिक श्रेष्ठ है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म ही गायत्री है और उसकी उपासना ब्रह्म प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग है।

गायत्री द्वारा सतोगुण वृद्धि के दिव्य लाभ

गायत्री सद्बुद्धिदायक मन्त्र है। वह साधक के मन को, अन्तःकरण को, मस्तिष्क को, विचारों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है। सत्‌तत्त्व की वृद्धि करना उसका प्रधान कार्य है। साधक जब इस महामंत्र के अर्थ पर विचार करता है, तो वह समझ जाता है कि संसार की सर्वोपरि समृद्धि और जीवन की सबसे बड़ी सफलता सद्बुद्धि को प्राप्त करना है। यह मान्यता सुदृढ़ होने पर उसकी इच्छा शक्ति इसी तत्त्व को प्राप्त करने के लिए लालायित होती है। यह आकांक्षा मनःलोक में एक प्रकार का चुम्बकत्व उत्पन्न करती है, उस चुम्बक की आकर्षण शक्ति से निखिल आकाश के ईथर तत्त्व में भ्रमण करने वाली सतोगुणी विचारधारायें, भावनायें और प्रेरणायें खिंच-खिंचकर उस स्थान पर जमा होने लगती हैं। विचारों की चुम्बक शक्ति का विज्ञान सर्वविदित है। एक जाति के विचार अपने सजातीय विचारों को आकाश से खींचते हैं। फलस्वरूप संसार के मृत और जीवित, सत्पुरुषों के फैलाये हुए अविनाशी संकल्प जो शून्य में सदैव भ्रमण करते रहते हैं, गायत्री साधक के पास दैवी वरदान की तरह अनायास ही आकर जमा होते रहते हैं और सञ्चित पूँजी की भाँति उनका एक बड़ा भण्डार जमा हो जाता है।

शरीर और मन में सतोगुण की मात्रा बढ़ने का फल आश्चर्यजनक होता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर यह लाभ न तो समझ पड़ता है, न अनुभव होता है और न उसकी कोई महत्ता मालूम पड़ती है, पर जो सूक्ष्म शरीर के संबंध में अधिक जानकारी रखते हैं, वे जानते हैं कि तम और रज का घटना और उसके स्थान पर सत् तत्त्व का बढ़ना ऐसा ही है, जैसे शरीर में भरे हुए रोग, मल, विष, विजातीय पदार्थ घट जाना और उनके स्थान पर शुद्ध, सजीव, परिपुष्ट रक्त और वीर्य की मात्रा बड़े परिमाण में बढ़ जाना। ऐसा परिवर्तन चाहे किसी को खुली आँखों से दिखाई न दे, पर उसका स्वास्थ्य की उन्नति पर जो चमत्कारी प्रभाव पड़ेगा, उसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के लाभ को यदि ईश्वर प्रदत्त कहा जाये, तो किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। शरीर का कायाकल्प करना एक वैज्ञानिक कार्य है, उसके कारण सुनिश्चित लाभ होगा ही। यह लाभ दैवी है या मानवी, इस पर जो मतभेद हो सकता है, उसका कोई महत्त्व नहीं है। गायत्री द्वारा सतोगुण बढ़ता है और निम्नकोटि के तत्त्वों का निवारण हो जाता है। फलस्वरूप साधक का एक सूक्ष्म कायाकल्प हो जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा होने वाले लाभों को वैयक्तिक लाभ कहें या दैवी वरदान ? इस प्रश्न पर झगड़ने से कुछ लाभ नहीं, बात एक ही है। कोई कार्य किसी भी प्रकार हो, उससे ईश्वर सत्ता पृथक् नहीं है, इसलिये संसार के सभी कार्य ईश्वर-इच्छा से हुए कहे जा सकते हैं।गायत्री साधना द्वारा होने वाले लाभ वैज्ञानिक आधार पर हुए भी कहे जा सकते हैं और ईश्वरीय कृपा के आधार पर हुए कहने में भी कोई दोष नहीं।

शरीर में सत् तत्त्व की अभिवृद्धि होने से शरीरचर्या की गतिविधि में काफी हेर-फेर हो जाता है। इन्द्रियों के भोगों में भटकने की गति मन्द हो जाती है। चटोरपन, तरह-तरह के स्वादों के पदार्थ खाने के लिए मन ललचाते रहना, बार-बार खाने की इच्छा होना, अधिक मात्रा में खा जाना, भक्ष्याक्ष्य का विचार न रहना, सात्त्विक पदार्थों में अरुचि और चटपटे, मीठे, गरिष्ठ पदार्थों में रुचि, जैसी बुरी आदत धीरे-धीरे कम होने लगती है। हल्के सुपाच्य, सरस, सात्त्विक भोजन से उसे तृप्ति मिलती है और राजसी, तामसी खाद्यों से घृणा हो जाती है। इसी प्रकार कामेन्द्रिय की उत्तेजना सतोगुणी विचारों के कारण संयमित हो जाती है। मन कुमार्ग में, व्यभिचार, वासना में कम

दौड़ता है । ब्रह्मचर्य के प्रति श्रद्धा बढ़ती है । फलस्वरूप वीर्य-रक्षा का मार्ग प्रशस्त हो जाता है । कामेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय दो ही इन्द्रियाँ प्रधान हैं । इनका संयम होना स्वास्थ्य-रक्षा और शरीर-वृद्धि का प्रधान हेतु है । इसके साथ-साथ परिश्रम, स्नान, निद्रा, सोना, जागना, सफाई,सादगी और अन्य दिनचर्यायें भी सतोगुणी हो जाती हैं, जिनके कारण आरोग्य और दीर्घजीवन की जड़ें मजबूत होती हैं ।

मानसिक क्षेत्र में सद्‌गुणों की वृद्धि के कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, स्वार्थ, आलस्य, व्यसन, व्यभिचार, छल, झूठ, पाखण्ड, चिन्ता, भय, शोक, कदर्य सरीखे दोष कम होने लगते हैं । इनकी कमी से संयम, नियम, त्याग, समता, निरहंकारिता, सादगी, निष्कपटता, सत्यनिष्ठा, निर्भयता, निश्चिन्तता, निरालस्यता, शौर्य, विवेक, साहस, धैर्य, दया, प्रेम, सेवा, उदारता, कर्तव्य-परायणता, आस्तिकता सरीखे सद्‌गुण बढ़ने लगते हैं । इस मानसिक कायाकल्प का परिणाम यह होता है कि दैनिक जीवन में प्रायः नित्य ही आते रहने वाले अनेकों दु:खों का सहज ही समाधान हो जाता है । इन्द्रिय संयम और संयत दिनचर्या के कारण शारीरिक रोगों का बहुत बड़ा निराकरण हो जाता है । विवेक जाग्रत् होते ही अज्ञानजन्य चिन्ता, शोक, भय, आशंका, ममता, हानि आदि के दु:खों से छुटकारा मिल जाता है । ईश्वर-विश्वास के कारण मति स्थिर रहती है और भावी जीवन के बारे में निश्चिन्तता बनी रहती है । धर्म प्रवृत्ति के कारण पाप, अन्याय, अनाचार नहीं बन पड़ते । फलस्वरूप राज-दण्ड, समाज-दण्ड, आत्म-दण्ड और ईश्वर-दण्ड की चोटों से पीड़ित नहीं होना पड़ता । सेवा, नम्रता, उदारता, दान, ईमानदारी, लोकहित आदि गुणों के कारण दूसरों को लाभ पहुँचता है, हानि की आशंका नहीं रहती । इससे प्रायः सभी लोग उनके कृतज्ञ, प्रशंसक, सहायक, भक्त एवं रक्षक होते हैं । पारस्परिक सद्‌भावनाओं के परिवर्तन से आत्मा को तृप्त करने वाले प्रेम और संतोष नामक रस दिन-दिन अधिक मात्रा में उपलब्ध होकर जीवन को आनन्दमय बनाते चलते हैं । इस प्रकार शारीरिक और मानसिक क्षेत्रों में सत्-तत्त्व की वृद्धि होने से दोनों ओर आनंद का स्रोत उमड़ता है और गायत्री का साधक उसमें निमग्न रहकर आत्म-संतोष का, परमानंद का रसास्वादन करता रहता है ।

आत्मा ईश्वर का अंश होने से उन सब शक्तियों को बीज रूप में छिपाये रहती है, जो ईश्वर में होती हैं । वे शक्तियाँ सुप्तावस्था में रहती हैं और मानसिक तापों के, विषय- विकारों के, दोष-दुर्गुणों के ढेर में दबी हुई अज्ञान रूप से पड़ी रहती हैं । लोग समझते हैं कि हम दीन-हीन, तुच्छ और अशक्त हैं, पर जो साधक मनोविकारों का पर्दा हटाकर, निर्मल आत्म-ज्योति के दर्शन करने में समर्थ होते हैं, वे जानते हैं कि सर्वशक्तिमान् ईश्वरीय ज्योति उनकी आत्मा में मौजूद है और वे परमात्मा के सच्चे उत्तराधिकारी हैं । अग्नि के ऊपर से राख हटा दी जाए, तो फिर दहकता हुआ अंगार प्रकट हो जाता है । वह अंगार छोटा होते हुए भी भयंकर अग्निकाण्डों की सम्भावना से युक्त होता है । यह पर्दा हटते ही तुच्छ मनुष्य महान् आत्मा (महात्मा) बन जाता है । चूँकि आत्मा में अनेकों ज्ञान-विज्ञान, साधारण-असाधारण, अद्‌भुत, आश्चर्यजनक शक्ति के भण्डार छिपे पड़े हैं, वे खुल जाते हैं और वह सिद्ध योगी के रूप में दिखाई पड़ता है । सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिये बाहर से कुछ लाना नहीं पड़ता, किसी देव-दानव की कृपा की जरूरत नहीं पड़ती, केवल अन्तःकरण पर पड़े हुए आवरणों को हटाना पड़ता है । गायत्री की सतोगुणी साधना का सूर्य तामसिक अन्धकार के पर्दे को हटा देता है और आत्मा का सहज ईश्वरीय रूप प्रकट हो जाता है । आत्मा का यह निर्मल रूप सभी ऋद्धि-सिद्धियों से परिपूर्ण होता है ।

गायत्री द्वारा हुई सतोगुणों की वृद्धि अनेक प्रकार की आध्यात्मिक और सांसारिक समृद्धियों की जननी है । शरीर और मन की शुद्धि सांसारिक जीवन को अनेक दृष्टियों से सुख-शान्तिमय बनाती है । आत्मा में विवेक और आत्म-बल की मात्रा बढ़ जाने से अनेक ऐसी कठिनाइयाँ जो दूसरों को पर्वत के समान मालूम पड़ती हैं, उस आत्मवान् व्यक्ति के लिये तिनके के समान हल्की बन जाती हैं । उसका कोई काम रुका नहीं रहता । या तो उसकी इच्छा के अनुसार परिस्थिति बदल जाती है या वह परिस्थिति के अनुसार अपनी इच्छाओं को बदल लेता है । क्लेश का कारण इच्छा और परिस्थिति के बीच प्रतिकूलता का होना ही तो है । विवेकवान् इन दोनों में से किसी को अपनाकर उस संघर्ष को टाल देता है और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है । उसके लिये इस पृथ्वी पर भी स्वर्गीय आनन्द की सुरसरि बहने लगती है ।

वास्तव में सुख और आनन्द का आधार किसी बाहरी साधन सामग्री पर नहीं ; किन्तु मनुष्य की मनःस्थिति पर रहता है । मन की साधना से जो मनुष्य एक समय राजसी भोजनों और रेशमी गद्दे-तकियों से भी सन्तुष्ट नहीं होता, वह किसी संत के उपदेश से त्याग और संन्यास व्रत ग्रहण कर लेने पर जंगल की भूमि को ही सबसे उत्तम शय्या और वन के कन्दमूल फलों को सर्वोत्तम आहार समझने लगता है । यह सब अन्तर मनोभाव और विचारधारा के बदल जाने से ही पैदा हो जाता है । गायत्री बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी हैं और उनसे हम सद्‍बुद्धि की याचना किया करते हैं । अतएव यदि गायत्री की उपासना के परिणामस्वरूप हमारे विचारों का स्तर ऊँचा उठ जाए और मानव जीवन की वास्तविकता को समझकर अपनी वर्तमान स्थिति में ही आनन्द का अनुभव करने लगें, तो इसमें कुछ भी असंभव नहीं है ।

काफी लम्बे समय से हम गायत्री उपासना के प्रचार का प्रयत्न कर रहे हैं, इसलिये अनेकों साधकों से हमारा परिचय है । हजारों व्यक्तियों ने इस दिशा में हमसे पथ-प्रदर्शन और प्रोत्साहन पाया है । इनमें से जो लोग दृढ़तापूर्वक साधना मार्ग पर चलते रहे हैं, उनमें से अनेकों को आश्चर्यजनक लाभ हुए हैं । वे इस सूक्ष्म विवेचन में जाने की इच्छा नहीं करते कि किस प्रकार कुछ वैज्ञानिक नियमों के आधार पर साधना श्रम का सीधा-सादा फल उन्हें मिला । इस विवेचना से उन्हें प्रायः अरुचि होती है । उनका कहना है कि भगवती गायत्री की कृपा के प्रति कृतज्ञता ही हमारी भक्ति-भावना को बढ़ायेगी और उसी से हमें अधिक लाभ होगा, उनका यह मन्तव्य बहुत हद तक ठीक ही है । श्रद्धा और भक्ति बढ़ाने के लिये इष्टदेव के साधनास्वरूप के प्रति प्रगाढ़ प्रेम, कृतज्ञता, भक्ति और तन्मयता होनी आवश्यक है । गायत्री साधना द्वारा एक सूक्ष्म विज्ञान सम्मत प्रणाली से लाभ होते हैं, यह जानकर भी इस महातत्त्व से आत्म सम्बन्ध की दृढ़ता करने के लिये कृतज्ञता और भक्ति-भावना का पुट अधिकाधिक रखना आवश्यक है ।

गायत्री उपासना से अनेकों को जो अनेकों प्रकार से लाभ हुए हैं, उनके बहुत सारे संस्मरण हमारे स्मृतिपटल पर अब भी हैं; उनमें से थोड़े संस्मरण अगले पृष्ठों पर देने का इसलिये प्रयत्न किया जा रहा है कि इन पंक्तियों के पाठक भी उस पथ का अनुसरण करके लाभान्वित हो सकें ।

महापुरुषों द्वारा गायत्री महिमा का गान

हिन्दू धर्म में अनेक मान्यतायें प्रचलित हैं । विविध बातों के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी मतभेद भी हैं, पर गायत्री मन्त्र की महिमा, एक ऐसा तत्त्व है जिसे सभी ने, सभी सम्प्रदायों ने, सभी ऋषियों ने एक मत से स्वीकार किया है ।

अथर्व वेद १९-७१-१ में गायत्री की स्तुति की गयी है, जिसमें उसे आयु, प्राण, शक्ति, कीर्ति, धन और ब्रह्म तेज प्रदान करने वाली कहा गया है ।

विश्वामित्र का कथन है—'गायत्री के समान चारों वेदों में मन्त्र नहीं है । सम्पूर्ण वेद, यज्ञ, दान, तप गायत्री मन्त्र की एक कला के समान भी नहीं हैं ।'

भगवान् मनु का कथन है—'ब्रह्मा जी ने तीनों वेदों का सार तीन चरण वाला गायत्री मन्त्र निकाला है । गायत्री से बढ़कर पवित्र करने वाला और कोई मन्त्र नहीं है । जो मनुष्य नियमित रूप से तीन वर्ष तक गायत्री जाप करता है, वह ईश्वर को प्राप्त करता है । जो द्विज दोनों संध्याओं में गायत्री जपता है, वह वेद पढ़ने के फल को प्राप्त करता है । अन्य कोई साधन करे या न करे, केवल गायत्री जप से भी सिद्धि पा सकता है । नित्य एक हजार जप करने वाला पापों से वैसे ही छूट जाता है, जैसे केंचुली से साँप छूट जाता है । जो द्विज गायत्री की उपासना नहीं करता, वह निन्दा का पात्र है ।'

योगिराज याज्ञवल्क्य कहते हैं—'गायत्री और समस्त वेदों को तराजू में तौला गया । एक ओर षट् अंगों समेत वेद और दूसरी ओर गायत्री, तो गायत्री का पलड़ा भारी रहा । वेदों का सार उपनिषद् हैं, उपनिषद् का सार व्याहृतियों समेत गायत्री है । गायत्री वेदों की जननी है, पापों का नाश करने वाली है, इससे अधिक पवित्र करने

वाला अन्य कोई मन्त्र स्वर्ग और पृथ्वी पर नहीं है। गंगा के समान कोई तीर्थ नहीं, केशव से श्रेष्ठ कोई देव नहीं। गायत्री से श्रेष्ठ मन्त्र न हुआ, न आगे होगा। गायत्री जान लेने वाला समस्त विद्याओं का वेत्ता, श्रेष्ठि और श्रोत्रिय हो जाता है। जो द्विज गायत्री परायण नहीं, वह वेदों का पारंगत होते हुए भी शूद्र के समान है, अन्यत्र किया हुआ उसका श्रम व्यर्थ है। जो गायत्री नहीं जानता, ऐसा व्यक्ति ब्राह्मणत्व से च्युत और पापयुक्त हो जाता है।'

पाराशरजी कहते हैं—'समस्त जप सूक्तों तथा वेद मन्त्रों में गायत्री मन्त्र परम श्रेष्ठ है। वेद और गायत्री की तुलना में गायत्री का पलड़ा भारी है। भक्तिपूर्वक गायत्री का जप करने वाला मुक्त होकर पवित्र बन जाता है। वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास पढ़ लेने पर भी जो गायत्री से हीन है, उसे ब्राह्मण नहीं समझना चाहिये।'

शंख ऋषि का मत है—'नरक रूपी समुद्र में गिरते हुए को हाथ पकड़ कर बचाने वाली गायत्री ही है। उससे उत्तम वस्तु स्वर्ग और पृथ्वी पर कोई नहीं है। गायत्री का ज्ञाता निस्संदेह स्वर्ग को प्राप्त करता है।'

शौनक ऋषि का मत है—'अन्य उपासनायें करें चाहे न करें, केवल गायत्री जप से ही द्विज जीवन मुक्त हो जाता है। सांसारिक और पारलौकिक समस्त सुखों को पाता है। संकट के समय दस हजार जप करने से विपत्ति का निवारण होता है।'

अत्रि मुनि कहते हैं—'गायत्री आत्मा का परम शोधन करने वाली है। उसके प्रताप से कठिन दोष और दुर्गुणों का परिमार्जन हो जाता है। जो मनुष्य गायत्री तत्त्व को भली प्रकार समझ लेता है, उसके लिये इस संसार में कोई सुख शेष नहीं रह जाता।'

महर्षि व्यासजी कहते हैं— 'जिस प्रकार पुष्प का सार शहद, दूध का सार घृत है, उसी प्रकार समस्त वेदों का सार गायत्री है। सिद्ध की हुई गायत्री कामधेनु के समान है। गंगा शरीर के पापों को निर्मल करती है, गायत्री रूपी ब्रह्म गंगा से आत्मा पवित्र होती है। जो गायत्री छोड़कर अन्य उपासनायें करता है, वह पकवान छोड़कर भिक्षा माँगने वाले के समान मूर्ख है। काम्य सफलता तथा तप की वृद्धि के लिये गायत्री से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।'

भारद्वाज ऋषि कहते हैं- 'ब्रह्मा आदि देवता भी गायत्री का जप करते हैं, वह ब्रह्म साक्षात्कार कराने वाली है। अनुचित काम करने वालों के दुर्गुण गायत्री के कारण छूट जाते हैं। गायत्री से रहित व्यक्ति शूद्र से भी अपवित्र है।'

चरक ऋषि कहते हैं—'जो ब्रह्मचर्यपूर्वक गायत्री की उपासना करता है और आँवले के ताजे फलों का सेवन करता है, वह दीर्घजीवी होता है।'

नारदजी की उक्ति है—'गायत्री भक्ति का ही स्वरूप है। जहाँ भक्ति रूपी गायत्री है, वहाँ श्रीनारायण का निवास होने में कोई संदेह नहीं करना चाहिये।'

वशिष्ठजी का मत है—'मन्दमति, कुमार्गगामी और अस्थिरमति भी गायत्री के प्रभाव से उच्च पद को प्राप्त करते हैं, फिर सद्गति होना निश्चित है। जो पवित्रता और स्थिरतापूर्वक गायत्री की उपासना करते हैं, वे आत्म-लाभ प्राप्त करते हैं।'

उपर्युक्त अभिमतों से मिलते-जुलते अभिमत प्रायः सभी ऋषियों के हैं। इससे स्पष्ट है कि कोई ऋषि अन्य विषयों में चाहे अपना मतभेद रखते हों, पर गायत्री के बारे में उन सब में समान श्रद्धा थी और वे सभी अपनी उपासना में उसका प्रथम स्थान रखते थे। शास्त्रों में, धर्म ग्रन्थों में, स्मृतियों में, पुराणों में गायत्री की महिमा तथा साधना पर प्रकाश डालने वाले सहस्रों श्लोक भरे पड़े हैं। इन सबका संग्रह किया जाए, तो एक बड़ा भारी गायत्री-पुराण बन सकता है।

वर्तमान शताब्दी के आध्यात्मिक तथा दार्शनिक महापुरुषों ने भी गायत्री के महत्त्व को उसी प्रकार स्वीकार किया है जैसा कि प्राचीन काल के तत्त्वदर्शी ऋषियों ने किया था। आज का युग बुद्धि और तर्क का, प्रत्यक्षवाद का युग है। इस शताब्दी के प्रभावशाली गण्यमान्य व्यक्तियों की विचारधारा केवल धर्म ग्रन्थ या परम्पराओं पर आधारित नहीं रही है। उन्होंने बुद्धिवाद, तर्कवाद और प्रत्यक्षवाद को अपने सभी कार्यों में प्रधान स्थान दिया है।

ऐसे महापुरुषों को भी गायत्री तत्त्व सब दृष्टिकोणों से परखने पर खरा सोना प्रतीत हुआ है । नीचे उनमें से कुछ के विचार देखिये—

महात्मा गाँधी कहते हैं—'गायत्री मन्त्र का निरन्तर जप रोगियों को अच्छा करने और आत्मा की उन्नति के लिये उपयोगी है । गायत्री का स्थिर चित्त और शान्त हृदय से किया हुआ जप आपत्तिकाल में संकटों को दूर करने का प्रभाव रखता है ।'

लोकमान्य तिलक कहते हैं—'जिस बहुमुखी दासता के बन्धनों में भारतीय प्रजा जकड़ी हुई है, उसके लिये आत्मा के अन्दर प्रकाश उत्पन्न होना चाहिये, जिससे सत् और असत् का विवेक हो, कुमार्ग को छोड़कर श्रेष्ठ मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिले, गायत्री मन्त्र में यही भावना विद्यमान है ।'

महामना मदनमोहन मालवीयजी ने कहा था—'ऋषियों ने जो अमूल्य रत्न हमें दिये हैं, उनमें से एक अनुपम रत्न गायत्री है । गायत्री से बुद्धि पवित्र होती है । ईश्वर का प्रकाश आत्मा में आता है । इस प्रकाश से असंख्य आत्माओं को भव-बन्धन से त्राण मिला है । गायत्री में ईश्वर परायणता के भाव उत्पन्न करने की शक्ति है । साथ ही वह भौतिक अभावों को दूर करती है । गायत्री की उपासना ब्राह्मणों के लिये तो अत्यन्त आवश्यक है । जो ब्राह्मण गायत्री जप नहीं करता, वह अपने कर्तव्य धर्म को छोड़ने का अपराधी होता है ।'

कवीन्द्र-रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं—'भारतवर्ष को जगाने वाला जो मन्त्र है, वह इतना सरल है कि एक ही श्वास में उसका उच्चारण किया जा सकता है । वह है—गायत्री मन्त्र । इस पुनीत मन्त्र का अभ्यास करने में किसी प्रकार के तार्किक ऊहापोह, किसी प्रकार के मतभेद अथवा किसी प्रकार के बखेड़े की गुञ्जायश नहीं है ।'

योगी अरविन्द ने कई जगह गायत्री जप करने का निर्देश किया है । उन्होंने बताया कि गायत्री में ऐसी शक्ति सन्निहित है, जो महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है । उन्होंने कइयों को साधना के तौर पर गायत्री का जप बताया है ।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस का उपदेश है—'मैं लोगों से कहता हूँ कि लम्बी साधना करने की उतनी आवश्यकता नहीं है । इस छोटी-सी गायत्री की साधना करके देखो । गायत्री का जप करने से बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ मिल जाती हैं । यह मन्त्र छोटा है, पर इसकी शक्ति बड़ी भारी है ।'

स्वामी विवेकानन्द का कथन है—'राजा से वही वस्तु माँगी जानी चाहिये, जो उसके गौरव के अनुकूल हो । परमात्मा से माँगने योग्य वस्तु सद्बुद्धि है । जिस पर परमात्मा प्रसन्न होते हैं, उसे सद्बुद्धि प्रदान करते हैं । सद्बुद्धि से सत् मार्ग पर प्रगति होती है और सत् कर्म से सब प्रकार के सुख मिलते हैं । जो सत् की ओर बढ़ रहा है, उसे किसी प्रकार के सुख की कमी नहीं रहती । गायत्री सद्बुद्धि का मन्त्र है । इसलिये उसे मन्त्रों का मुकुटमणि कहा है ।'

जगद्गुरु शंकराचार्य का कथन है—'गायत्री की महिमा का वर्णन करना मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर है । बुद्धि का होना इतना बड़ा कार्य है, जिसकी समता संसार के और किसी काम से नहीं हो सकती । आत्म-प्राप्ति करने की दिव्य दृष्टि जिस बुद्धि से प्राप्त होती है, उसकी प्रेरणा गायत्री द्वारा होती है । गायत्री आदि मन्त्र है । उसका अवतार दुरितों को नष्ट करने और ऋत के अभिवर्धन के लिये हुआ है ।'

स्वामी रामतीर्थ ने कहा है—'राम को प्राप्त करना सबसे बड़ा काम है । गायत्री का अभिप्राय बुद्धि को काम-रुचि से हटाकर राम-रुचि में लगा देना है । जिसकी बुद्धि पवित्र होगी, वही राम को प्राप्त कर सकेगा । गायत्री पुकारती है कि बुद्धि में इतनी पवित्रता होनी चाहिये कि वह राम को काम से बढ़कर समझे ।'

महर्षि रमण का उपदेश है—'योग विद्या के अन्तर्गत मन्त्र विद्या बड़ी प्रबल है । मन्त्रों की शक्ति से अद्भुत सफलतायें मिलती हैं । गायत्री ऐसा मन्त्र है, जिससे आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के लाभ मिलते हैं ।'

स्वामी शिवानन्दजी कहते हैं—'ब्राह्ममुहूर्त में गायत्री का जप करने से चित्त शुद्ध होता है और हृदय में निर्मलता आती है । शरीर नीरोग रहता है, स्वभाव में नम्रता आती है, बुद्धि सूक्ष्म होने से दूरदर्शिता बढ़ती है और स्मरण शक्ति का विकास होता है । कठिन प्रसंगों में गायत्री द्वारा दैवी सहायता मिलती है । उसके द्वारा आत्म-दर्शन हो सकता है ।'

काली कमली वाले बाबा विशुद्धानन्दजी कहते थे—गायत्री ने बहुतों को सुमार्ग पर लगाया है। कुमार्गगामी मनुष्य की पहले तो गायत्री की ओर रुचि ही नहीं होती, यदि ईश्वर कृपा से हो जाये, तो फिर वह कुमार्गगामी नहीं रहता। गायत्री जिसके हृदय में निवास करती है उसका मन ईश्वर की ओर जाता है। विषय- विकारों की व्यर्थता उसे भली प्रकार अनुभव होने लगती है। कई महात्मा गायत्री जप करके परम सिद्ध हुए हैं। परमात्मा की शक्ति ही गायत्री है, जो गायत्री के निकट जाता है, वह शुद्ध होकर रहता है। आत्म-कल्याण के लिये मन की शुद्धि आवश्यक है। मन की शुद्धि के लिये गायत्री मन्त्र अद्भुत है। ईश्वर प्राप्ति के लिये गायत्री जप को प्रथम सीढ़ी समझना चाहिये।'

दक्षिण भारत के प्रसिद्ध आत्मज्ञानी टी॰ सुब्बाराव कहते हैं—'सविता नारायण की दैवी प्रकृति को गायत्री कहते हैं। आदिशक्ति होने के कारण इसको गायत्री कहते हैं। गीता में इसका वर्णन 'आदित्य वर्ण' कहकर किया गया है। गायत्री की उपासना करना योग का सबसे प्रथम अंग है।'

श्रीस्वामी करपात्रीजी का कथन है—'जो गायत्री के अधिकारी हैं, उन्हें नित्य-नियमित रूप से जप करना चाहिये। द्विजों के लिये गायत्री का जप अत्यन्त आवश्यक धर्मकृत्य है।'

गीता धर्म के व्याख्याता श्रीस्वामी विद्यानन्द कहते हैं—'गायत्री बुद्धि को पवित्र करती है। बुद्धि की पवित्रता से बढ़कर जीवन में दूसरा लाभ नहीं है। इसलिये गायत्री एक बहुत बड़े लाभ की जननी है।'

सर राधाकृष्णन् कहते हैं—'यदि हम इस सार्वभौमिक प्रार्थना गायत्री पर विचार करें, तो हमें मालूम होगा कि यह वास्तव में कितना ठोस लाभ देती है। गायत्री हम में फिर से जीवन का स्रोत उत्पन्न करने वाली आकुल प्रार्थना है।'

प्रसिद्ध आर्यसमाजी महात्मा सर्वदानन्दजी का कथन है—'गायत्री मन्त्र द्वारा प्रभु का पूजन सदा से आर्यों की रीति रही है।'

ऋषि दयानन्द ने भी उसी शैली का अनुसरण करके संध्या का विधान तथा वेदों के स्वाध्याय का प्रयत्न करना बताया है। ऐसा करने से अन्त:करण की शुद्धि तथा बुद्धि निर्मल होकर मनुष्य का जीवन अपने तथा दूसरों के लिये हितकर हो जाता है। जितना भी इस शुभ कर्म में श्रद्धा और विश्वास हो, उतना ही अविद्या आदि क्लेशों का ह्रास होता है। जो जिज्ञासु गायत्री मन्त्र का प्रेम और नियमपूर्वक उच्चारण करते हैं, उनके लिये यह संसार-सागर से तरने की नाव और आत्म-प्राप्ति की सड़क है।'

आर्य समाज के जन्मदाता स्वामी दयानन्द गायत्री के श्रद्धालु उपासक थे। ग्वालियर के राजासाहब से स्वामीजी ने कहा कि भागवत सप्ताह की अपेक्षा गायत्री पुरश्चरण अधिक श्रेष्ठ है। जयपुर में सच्चिदानन्द, हीरालाल रावल, घोड़लसिंह आदि को गायत्री जप की विधि सिखलाई थी। मुलतान में उपदेश के समय स्वामीजी ने गायत्री मन्त्र का उच्चारण किया और कहा कि यह मन्त्र सबसे श्रेष्ठ है। चारों वेदों का मूल यही गुरुमन्त्र है। आदिकाल से सभी ऋषि- मुनि इसी का जप किया करते थे। स्वामीजी ने कई स्थानों पर गायत्री अनुष्ठानों का आयोजन कराया था, जिसमें चालीस तक की संख्या में विद्वान् ब्राह्मण बुलाये गये थे। यह जप १५ दिन तक चला था।

थियोसोफिकल सोसाइटी के एक वरिष्ठ सदस्य प्रो॰ आर॰श्रीनिवास का कथन है—'हिन्दू धार्मिक विचारधारा में गायत्री को सबसे अधिक शक्तिशाली मन्त्र माना गया है। उसका अर्थ भी बड़ा दूरगामी और गूढ़ है। इस मन्त्र के अनेक अर्थ होते है और भिन्न-भिन्न प्रकार की चित्तवृत्ति वाले व्यक्तियों पर इसका प्रभाव भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसमें दृष्ट और अदृष्ट, उच्च और नीच, मानव और देव सबको किसी रहस्यमय तन्तु द्वारा एकत्रित कर लेने की शक्ति पाई जाती है। जब इस मन्त्र का अधिकारी व्यक्ति गायत्री के अर्थ और रहस्य, मन और हृदय को एकाग्र करके उसका शुद्ध उच्चारण करता है, तब उसका सम्बन्ध दृश्य सूर्य में अन्तर्निहित

महान् चैतन्य शक्ति से स्थापित हो जाता है। वह मनुष्य कहीं भी मन्त्रोच्चारण करता हो, पर उसके ऊपर तथा आस-पास के वातावरण में विराट् 'आध्यात्मिक प्रभाव' उत्पन्न हो जाता है। यही प्रभाव एक महान् आध्यात्मिक आशीर्वाद है। इन्हीं कारणों से हमारे पूर्वजों ने गायत्री मन्त्र की अनुपम शक्ति के लिये उसकी स्तुतियाँ की हैं।'

इस प्रकार वर्तमान शताब्दी के अनेकों गणमान्य बुद्धिवादी महापुरुषों के अभिमत हमारे पास संगृहीत हैं। उन पर विचार करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि गायत्री उपासना कोई अन्धविश्वास, अन्ध परम्परा नहीं हैं; वरन् उसके पीछे आत्मोन्नति करने वाले ठोस तत्त्वों का बल है। इस महान् शक्ति को अपनाने का जिसने भी प्रयत्न किया है, उसे लाभ मिला है। गायत्री साधना कभी निष्फल नहीं जाती।

गायत्री साधना से सतोगुणी सिद्धियाँ

प्राचीन इतिहास, पुराणों से पता चलता है कि पूर्व युगों में प्राय: ऋषि-महर्षि गायत्री के आधार पर योग-साधना तथा तपश्चर्या करते थे। वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विश्वामित्र, व्यास, शुकदेव, दधीचि, वाल्मीकि, च्यवन, शंख, लोमश, जाबालि, उद्दालक, वैशम्पायन, दुर्वासा, परशुराम, पुलस्त्य, दत्तात्रेय, अगस्त्य, सनतकुमार, कण्व, शौनक आदि ऋषियों के जीवन वृत्तान्तों से स्पष्ट है कि उनकी महान् सफलताओं का मूल हेतु गायत्री ही थी।

थोड़े ही समय पूर्व ऐसे अनेक महात्मा हुए हैं, जिन्होंने गायत्री का आश्रय लेकर अपने आत्मबल एवं ब्रह्मतेज को प्रकाशवान् किया था। उनके इष्टदेव, आदर्श, सिद्धान्त भिन्न भले ही रहे हों, वेदमाता के प्रति सभी की अनन्य श्रद्धा थी। उन्होंने प्रारम्भिक स्तन पान इसी महाशक्ति का किया था, जिससे वे इतने प्रतिभा सम्पन्न महापुरुष बन सके।

शंकराचार्य, समर्थ गुरु रामदास, नरसी मेहता, दादूदयाल, सन्त ज्ञानेश्वर, स्वामी रामानन्द, गोरखनाथ, मछीन्द्रनाथ, हरिदास, तुलसीदास, रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, योगी अरविन्द, महर्षि रमण, गौरांग महाप्रभु, स्वामी दयानन्द, महात्मा एकरसानन्द आदि अनेक महात्माओं का विकास गायत्री महाशक्ति के अञ्चल में ही हुआ था।

आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'माधव निदान' के प्रणेता श्रीमाधवाचार्य ने आरम्भ में १३ वर्षों तक वृन्दावन में रहकर गायत्री अनुष्ठान किये थे। जब उन्हें कुछ भी सफलता न मिली, तो वे निराश होकर काशी चले गये और एक अवधूत की सलाह से भैरव की तांत्रिक उपासना करने लगे। कुछ दिन में भैरव प्रसन्न हुए और पीठ पीछे से कहने लगे कि—"वर माँग।" माधवाचार्यजी ने उनसे कहा—'आप सामने आइये और दर्शन दीजिये।' भैरव ने उत्तर दिया—'मैं गायत्री उपासक के सामने नहीं आ सकता।' इस बात पर माधवाचार्य जी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उनने कहा—'यदि आप गायत्री उपासक के सम्मुख प्रकट नहीं हो सकते, तो मुझे वरदान क्या देंगे? कृपया अब आप केवल यह बता दीजिये कि मेरी अब तक की गायत्री साधना क्यों निष्फल हुई?' भैरव ने उत्तर दिया—'तुम्हारे पूर्व जन्मों के पाप नाश करने में अब तक की साधना लग गयी। अब तुम्हारी आत्मा निष्पाप हो गयी। आगे की साधना करोगे, सफल होगी।' यह सुनकर माधवाचार्य फिर वृन्दावन आये और पुन: गायत्री साधना आरम्भ कर दी। अन्त में उन्हें माता के दर्शन हुए और पूर्ण सिद्धि प्राप्त हुई।

श्री महात्मा देवगिरि जी के गुरु हिमालय की एक गुफा में गायत्री का जप करते थे। उनकी आयु ४०० वर्ष से अधिक थी। वे अपने आसन से उठकर भोजन, शयन, स्नान या मल-मूत्र त्यागने तक को कहीं नहीं जाते थे। इन कामों की उन्हें आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी।

नगराई के पास रामटेकरी के घने जंगल में एक हरीहर नाम के महात्मा ने गायत्री तप करके सिद्धि पाई थी। महात्माजी की कुटी के पास जाने में सात कोस का घना जंगल पड़ता था। उसमें सैकड़ों सिंह- व्याघ्र रहते थे। कोई व्यक्ति महात्माजी के दर्शनों को जाता, तो उसे दो चार व्याघ्रों से भेंट अवश्य होती। 'हरीहर बाबा के दर्शन को जा रहे हैं' इतना कह देने मात्र से हिंसक पशु रास्ता छोड़कर चले जाते थे।

लक्ष्मणगढ़ में विश्वनाथ गोस्वामी नामक एक प्रसिद्ध गायत्री उपासक हुए हैं। उनके जीवन का अधिकांश

भाग गायत्री उपासना में ही व्यतीत हुआ है । उनके आशीर्वाद से सीकर का एक वीदावत परिवार गरीबी से छुटकारा पाकर बड़ा ही समृद्धिशाली एवं सम्पन्न बना । इस परिवार के लोग अब तक उन पण्डितजी की समाधि पर अपने बच्चों का मुण्डन कराते हैं ।

जयपुर रियासत के जौन नामक गाँव में पं० हरराय नामक नैष्ठिक गायत्री उपासक रहते थे । उनको अपनी मृत्यु का पहले से ही पता चल गया था । उनने सब परिजनों को बुलाकर धार्मिक उपदेश दिये और बोलते, बातचीत करते तथा गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्राण त्याग दिये ।

जूनागढ़ के एक विद्वान् पं० मणिशंकर भट्ट पहले यजमानों के लिये गायत्री अनुष्ठान दक्षिणा लेकर करते थे । जब उन्होंने अनेकों को इससे भारी लाभ होते देखा, तो उन्होंने अपना सारा जीवन गायत्री उपासना में लगा दिया । दूसरों के अनुष्ठान छोड़ दिये, उनका शेष जीवन बहुत ही शान्ति से बीता ।

जयपुर के बूढ़ा देवल ग्राम में विष्णुदासजी का जन्म हुआ । वे आजीवन ब्रह्मचारी रहे, उन्होंने पुष्कर में एक कुटी बनाकर गायत्री की घोर तपस्या की थी, फलस्वरूप उन्हें अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो गयी थीं, बड़े-बड़े राजा उनकी कुटी की धूल मस्तक पर रखने लगे । जयपुर और जोधपुर के महाराजा अनेक बार उनकी कुटी पर उपस्थित हुए । महाराणा उदयपुर तो अत्यन्त आग्रह करके उन्हें अपनी राजधानी में ले आये और उनके पुरश्चरण की शाही तैयारी के साथ अपने यहाँ पूर्णाहुति कराई । ब्रह्मचारीजी के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारी कथायें प्रसिद्ध हैं ।

खातौली से ७ मील दूर धौकलेश्वर में मगनानन्द नामक एक गायत्री सिद्ध महापुरुष रहते थे । उनके आशीर्वाद से खातौली के ठिकानेदार को उनकी छिनी हुई जागीर पोलिटिकल एजेण्ट ने वापस की थी ।

रतनगढ़ के पं० भूदरमल नामक एक विद्वान् ब्राह्मण गायत्री के अनन्य उपासक हो गये हैं । वे सम्वत् १९६६ में काशी आ गये थे और अन्त तक वहीं रहे । अपनी मृत्यु की पूर्व जानकारी होने से उनने विशाल धार्मिक आयोजन किया था और साधना करते हुए आषाढ़ सुदी ५ को शरीर त्याग किया । उनका आशीर्वाद पाने वाले बहुत से सामान्य मनुष्य आज भी लखपति बने हुए हैं ।

अलवर राज्य के अन्तर्गत एक ग्राम के सामान्य परिवार में पैदा हुए एक सज्जन को किसी कारणवश वैराग्य हो गया । वे मथुरा आये और एक टीले पर रहकर साधना करने लगे । एक करोड़ गायत्री जप किया । एक करोड़ गायत्री जप करने के अनन्तर उन्हें गायत्री का साक्षात्कार हुआ और वे सिद्ध हो गये । वह स्थान गायत्री टीले के नाम से प्रसिद्ध है । वहाँ एक छोटा सा मन्दिर है, जिसमें गायत्री की सुन्दर मूर्ति स्थापित है । उनका नाम बूटी सिद्ध था । सदा मौन रहते थे । उनके आशीर्वाद से अनेकों का कल्याण हुआ । धौलपुर अलवर के राजा उनके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे ।

आर्य समाज के संस्थापक श्री स्वामी दयानन्दजी के गुरु प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द सरस्वती ने बड़ी तपश्चर्यापूर्वक गंगा तीर पर रहकर तीन वर्ष तक जप किया था । इस अन्धे संन्यासी ने अपने तपोबल से अगाध विद्या और अलौकिक ब्रह्म तेज प्राप्त किया था ।

मान्धाता ओंकारेश्वर मन्दिर के पीछे गुफा में एक महात्मा गायत्री जप करते थे । मृत्यु के समय उनके परिवार के व्यक्ति उपस्थित थे, परिवार के एक बालक ने प्रार्थना की कि मेरी बुद्धि मन्द है, मुझे विद्या नहीं आती, कुछ आशीर्वाद दे जाइये, जिससे मेरा दोष दूर हो जाय । महात्माजी ने बालक को समीप बुलाकर उसकी जीभ पर कमण्डल से थोड़ा-सा जल डाला और आशीर्वाद दिया कि तू पूर्ण विद्वान् हो जायेगा । आगे चलकर यह बालक असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् हुआ और इन्दौर में ओंकार जोशी के नाम से प्रसिद्धि पायी । इन्दौर नरेश उनसे इतने प्रभावित थे कि सबेरे घूमने जाते समय उनके घर से उन्हें साथ ले जाते थे ।

चन्देल क्षेत्र निवासी गुप्त योगेश्वर श्री उद्धड़जी जोशी एक सिद्ध पुरुष हो गये । गायत्री उपासना के फलस्वरूप

उनकी कुण्डलिनी जाग्रत् हुई और वे परम सिद्ध बन गये। उनकी कृपा से कई मनुष्यों के प्राण बचे थे, कई को धन प्राप्त हुआ था, कई आपत्तियों से छूटे थे। उनकी भविष्यवाणियाँ सदा सत्य होती थीं। एक व्यक्ति ने उनकी परीक्षा करने तथा उपहास करने का दुस्साहस किया था, तो वह कोढ़ी हो गया था।

बड़ौदा के मंजुसार निवासी श्रीमुकटरामजी महाराज गायत्री उपासना में परम सिद्धि प्राप्त कर गये हैं। प्राय: आठ घण्टे नित्य जप करते थे। उन्हें अनेकों सिद्धियाँ प्राप्त थीं। दूर देशों के समाचार वे ऐसे सच्चे बताते थे, मानो सब हाल आँखों से देख रहे हों। पीछे परीक्षा करने पर वे समाचार सोलह आने सच निकलते। उन्होंने गुजराती की एक-दो कक्षा तक पढ़ने की स्कूली शिक्षा पाई थी, तो भी वे संसार की सभी भाषाओं को भली प्रकार बोल और समझ लेते थे। विदेशी लोग उनके पास आकर अपनी भाषा में घण्टों तक वार्त्तालाप करते थे। योग, ज्योतिष, वैद्यक, तन्त्र तथा धर्म शास्त्र का उन्हें पूरा-पूरा ज्ञान था। बड़े-बड़े पण्डित उनसे अपनी गुत्थियाँ सुलझवाने आते थे। उन्होंने कितनी ही ऐसी करामातें दिखाई थीं, जिनके कारण लोगों की उन पर अटूट श्रद्धा हो गयी थी।

बरसोड़ा में एक ऋषिराज ने सात वर्ष तक निराहार रहकर गायत्री पुरश्चरण किये थे। उनकी वाणी सिद्ध थी। जो कह देते थे, वही होता था।

कल्याण के सन्त अंक में हरेराम नामक एक ब्रह्मचारी का जिक्र छपा है। यह ब्रह्मचारी गंगाजी के भीतर उठी हुई एक टेकरी पर रहते थे और गायत्री जी की आराधना करते थे। उनका ब्रह्मतेज अवर्णनीय था। सारा शरीर तेज से दमकता था। उन्होंने अपनी सिद्धियों से अनेकों के दु:ख दूर किये थे।

देव प्रयाग के विष्णुदत्त जी वानप्रस्थी ने चान्द्रायण व्रतों के साथ सवालक्ष जप के सात अनुष्ठान किये थे। इससे उनका आत्मबल बहुत बढ़ गया था। उन्हें कितनी ही सिद्धियाँ मिल गयी थीं। लोगों को जब पता चला, तो अपने कार्य सिद्ध कराने के लिये उनके पास दूर-दूर से भी आने लगे। वानप्रस्थीजी इस खेल में उलझ गये। रोज-रोज बहुत खर्च करने से उनका शक्ति भण्डार चुक गया। पीछे उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ और फिर मृत्युकाल तक एकान्त साधना करते रहे।

रुद्र प्रयाग के स्वामी निर्मलानन्द संन्यासी को गायत्री-साधना से भगवती के दिव्य-दर्शन और ईश्वर साक्षात्कार का लाभ प्राप्त हुआ था। इससे उन्हें असीम तृप्ति हुई।

बिठूर के पास खाँडेराव नामक एक वयोवृद्ध तपस्वी एक विशाल खिरनी के पेड़ के नीचे गायत्री साधना करते थे। एक बार उन्होंने विराट् गायत्री यज्ञ का ब्रह्मभोज किया। दिन भर हजारों आदमियों की पंगतें होती रहीं। रात नौ बजे भोजन समाप्त हो गया। भोजन अभी कई हजार आदमियों का होना शेष था। खाँडेरावजी को सूचना दी गयी, उन्होंने आज्ञा दी गंगाजी में से चार कनस्तर पानी भरकर लाओ और उसमें पूड़ियाँ सिकने दो। ऐसा ही किया गया। पूड़ियाँ घी के समान स्वादिष्ट थीं। दूसरे दिन चार कनस्तर घी मँगवाकर गंगाजी में डलवा दिया।

काशी में जिस समय बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त द्वारा 'भारतमाता' के मन्दिर का शिलारोपण समारोह किया गया था, उस समय २०० दिन तक का एक बड़ा महायज्ञ किया गया, जिसमें विद्वानों द्वारा २० लाख गायत्री जप किया गया। यज्ञ की पूर्णाहुति के दिन पास में लगे पेड़ों के सूखे पत्ते फिर से हरे हो गये थे और एक पेड़ में तो असमय ही फल भी आ गये थे। इस अवसर पर पं॰ मदनमोहन जी मालवीय, राजा मोतीचन्द्र, हाई कोर्ट के जज श्रीकन्हैयालाल और अन्य अनेक गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे, जिन्होंने यह घटना अपनी आँखों से देखी और गायत्री के प्रभाव को स्वयं अनुभव किया।

गढ़वाल के महात्मा गोविन्दानन्द अत्यन्त विषधर साँपों के काटे हुए रोगियों की प्राण रक्षा करने के लिये

प्रसिद्ध थे। उनका कहना था कि मैं गायत्री जप से ही सब रोगियों को ठीक करता हूँ। इसी प्रकार समस्तीपुर के एक सम्पन्न व्यक्ति शोभान साहू भी गायत्री मन्त्र से अत्यन्त जहरीले बिच्छुओं और पागल कुत्ते के काटे तक को चंगा कर देते थे। अनेक सात्त्विक साधक केवल गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित जल द्वारा बड़े-बड़े रोगों को दूर कर देते हैं।

स्वर्गीय पण्डित मोतीलालजी नेहरू का जीवन उस समय के वातावरण के कारण यद्यपि एक भिन्न कर्तव्य क्षेत्र में व्यतीत हुआ था, पर जीवन के अन्तिम समय में उनको गायत्री का ध्यान आया और उसे जपते हुए ही उन्होंने जीवनलीला समाप्त की। इससे विदित होता है कि गायत्री का संस्कार शीघ्र ही समाप्त नहीं हो जाता; वरन् आगामी पीढ़ियों तक भी प्रभाव डालता रहता है। पण्डितजी के पूर्वज धार्मिक प्रवृत्ति के गायत्री-उपासक थे और उसके प्रभाव से उनको भी मृत्यु- काल जैसे महत्त्व के अवसर पर उसका ध्यान आ गया।

अहमदाबाद के श्री डाह्याभाई रामचन्द्र मेहता गायत्री के श्रद्धालु उपासक और प्रचारक हैं। इनकी आयु ८० वर्ष है। शरीर और मन में सतोगुण की अधिकता होने से वे सभी गुण उनमें परिलक्षित होते हैं, जो महात्माओं में पाये जाते हैं।

दीनवा के स्वामी मनोहरदासजी ने गायत्री के कई पुरश्चरण किये हैं। उनका कहना है कि इस महासाधना से मुझे इतना अधिक लाभ हुआ है कि उसे प्रकट करने की उसी प्रकार इच्छा नहीं होती, जैसे कि लोभी को अपना धन प्रकट करने में संकोच होता है।

हटा के श्री रमेशचन्द्र दुबे को गायत्री साधना के कारण कई बार बड़े अनुभव हुए हैं, जिनके कारण उनकी निष्ठा में वृद्धि हुई है।

पाटन के श्री जटाशंकर नन्दी की आयु ७७ वर्ष से अधिक है। वे गत पचास वर्षों से गायत्री उपासना कर रहे हैं। कुविचारों और कुसंस्कारों से मुक्ति एवं दैवी तत्त्वों की अधिकता का लाभ उन्होंने प्राप्त किया है और इसे वे जीवन की प्रधान सफलता मानते हैं।

वृन्दावन के काठिया बाबा, उड़िया बाबा, प्रज्ञा चक्षु स्वामी गंगेश्वरानन्द जी गायत्री उपासना से आरम्भ करके अपनी साधना को आगे बढ़ाने में समर्थ हुए थे। वैष्णव सम्प्रदाय के प्रायः सभी आचार्य गायत्री की साधना पर विशेष जोर देते हैं।

नवाबगंज के पण्डित बलभद्र जी ब्रह्मचारी, सहारनपुर जिले के श्रीस्वामी देवदर्शनजी, बुलन्दशहर, उ०प्र० के परिव्राजक महात्मा योगानन्दजी, ब्रह्मनिष्ठ श्रीस्वामी ब्रह्मर्षिदासजी उदासीन, बिहार प्रान्त के महात्मा अनासक्तजी, यज्ञाचार्य पं. जगन्नाथ शास्त्री, राजगढ़ के महात्मा हरि ॐ तत् सत् आदि कितने ही सन्त- महात्मा गायत्री उपासना में पूर्ण मनोयोग के साथ संलग्न हैं। अनेक गृहस्थ भी तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए महान् साधना में प्रवृत्त हैं। इस मार्ग पर चलते हुए उन्हें महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक सफलताएँ प्राप्त हो रही हैं।

हमने स्वयं अपने जीवन के आरम्भ काल में ही गायत्री की उपासना की है और वह हमारा जीवन आधार ही बन गयी है। दोषों, विकारों, कषाय-कल्मषों, कुविचार और कुसंस्कारों को हटा देने में जो थोड़ी-सी सफलता मिली है, यह श्रेय इसी साधना को है। ब्राह्मणत्व की ब्राह्मी भावनाओं की, धर्मपरायणता की, सेवा, स्वाध्याय, संयम और तपश्चर्या की जो यत्किंचित् प्रवृत्तियाँ हैं, वे माता की कृपा के कारण हैं। अनेक बार विपत्तियों से उसने बचाया है और अन्धकार में मार्ग दिखाया है। आप बीती इन घटनाओं का वर्णन बहुत विस्तृत है, जिसके कारण हमारी श्रद्धा दिन-दिन माता के चरणों में बढ़ती चली आयी है। इन वर्णनों के लिये इन पंक्तियों में स्थान नहीं है। हमारे प्रयत्न और प्रोत्साहन से जिन सज्जनों ने वेदमाता की उपासना की है, उनमें आत्म-शुद्धि, पापों से घृणा,

सन्मार्ग में श्रद्धा, सतोगुण की वृत्ति, संयम, पवित्रता, आस्तिकता, जागरूकता एवं धर्मपरायणता की प्रवृत्तियों को बढ़ते हुए पाया है । उन्हें अन्य प्रारम्भिक लाभ चाहे हुए हों या न हुए हों ; पर आत्मिक लाभ हर एक को निश्चित रूप से हुए हैं । विवेकपूर्वक विचार किया जाय, तो यह लाभ इतने महान् हैं कि इनके ऊपर धन-सम्पत्ति की छोटी-मोटी सफलताओं को न्योछावर करके फेंका जा सकता है ।

इसलिये हम अपने पाठकों से आग्रहपूर्वक अनुरोध करेंगे कि वे गायत्री की उपासना करके उसके द्वारा होने वाले लाभों का चमत्कार देखें । जो वेदमाता की शरण ग्रहण करते हैं, अन्तःकरण में सतोगुण, विवेक, सद्विचार और सत्कर्मों की ओर उनकी असाधारण प्रवृत्ति जाग्रत् होती है । यह आत्म-जागरण लौकिक और पारलौकिक, सांसारिक और आत्मिक सभी प्रकार की सफलताओं का दाता है ।

गायत्री साधना से श्री, समृद्धि और सफलता

गायत्री त्रिगुणात्मक है । उसकी उपासना से जहाँ सतोगुण बढ़ता है, वहाँ कल्याणकारक एवं उपयोगी रजोगुण की भी अभिवृद्धि होती है ।

रजोगुणी आत्मबल बढ़ने से मनुष्य की गुप्त शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं, जो सांसारिक जीवन के संघर्ष में अनुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं । उत्साह, साहस, स्फूर्ति, निरालस्यता, आशा, दूरदर्शिता, तीव्र बुद्धि, अवसर की पहचान, वाणी में माधुर्य, व्यक्तित्व में आकर्षण, स्वाभाव में मिलनसारी जैसी अनेक छोटी-बड़ी विशेषतायें उन्नत तथा विकसित होती हैं, जिसके कारण 'श्रीं' तत्त्व का उपासक भीतर ही भीतर एक नये ढाँचे में ढलता रहता है, उसमें ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं, जिनके कारण साधारण व्यक्ति भी धनी- समृद्ध हो सकता है ।

गायत्री उपासकों में ऐसी त्रुटियाँ जो मनुष्य को दु:खी बनाती हैं, नष्ट होकर वे विशेषतायें उत्पन्न होती हैं, जिनके कारण मनुष्य क्रमश: समृद्धि, सम्पन्नता और उन्नति की ओर अग्रसर होता है । गायत्री अपने साधकों की झोली में सोने की अशर्फियाँ नहीं उड़ेलती यह ठीक है, पर यह भी ठीक है कि वह साधक में उन विशेषताओं को उत्पन्न करती है, जिनके कारण वह अभावग्रस्त और दीन-हीन नहीं रह सकता । इस प्रकार के अनेकों उदाहरण हमारी जानकारी में हैं । उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं ।

ग्राम हर्रई जिला छिन्दवाड़ा के पं॰ भूरेलाल ब्रह्मचारी लिखते हैं—'रोजी में उत्तरोत्तर वृद्धि होने के कारण मैं धन-धान्य से परिपूर्ण हूँ । जिस कार्य में हाथ डालता हूँ, उसी में सफलता मिलती है । अनेक तरह के संकटों का निवारण आप ही आप हो जाता है, इतना तो अनुभव मेरे खुद का गायत्री मन्त्र जपने का है ।'

झाँसी के पं॰ लक्ष्मीकान्त झा व्याकरण, साहित्याचार्य लिखते हैं—'बचपन से ही मुझे गायत्री पर श्रद्धा हो गयी थी और उसी समय से एक हजार मन्त्रों का नित्य जप करता हूँ । इसी के प्रताप से मैंने साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य, साहित्यरत्न तथा वेद-शास्त्री आदि परीक्षायें उत्तीर्ण की तथा संस्कृत कालेज झाँसी का प्रिन्सीपल बना । मैंने एक सेठ के १६ वर्षीय मरणासन्न पुत्र के प्राण गायत्री जप के प्रभाव से बचते हुए देखे हैं, जिससे मेरी श्रद्धा और भी दृढ़ हो गयी है ।'

वृन्दावन के पं॰ तुलसीदास शर्मा लिखते हैं—'लगभग दस वर्ष हुए होंगे, श्रीउड़िया बाबा की प्रेरणा से हाथरस निवासी लाला गणेशीलाल ने गंगा किनारे कर्णवास में २४ लक्ष गायत्री का अनुष्ठान कराया था । उसी समय से गणेशीलाल जी की आर्थिक दशा दिन-दिन ऊँची उठती गयी और अब उनकी प्रतिष्ठा- सम्पन्नता तब से चौगुनी है ।'

प्रतापगढ़ के पं॰ हरनारायण शर्मा लिखते हैं—'मेरे एक निकट सम्बन्धी ने काशी में एक महात्मा से धन प्राप्ति का उपाय पूछा । महात्मा ने उपदेश दिया कि प्रातःकाल चार बजे उठकर शौचादि से निवृत्त होकर स्नान-

सन्ध्या के बाद खड़े होकर नित्य एक हजार गायत्री मन्त्र का जप किया करो । उसने ऐसा ही किया, फलस्वरूप उसका आर्थिक कष्ट दूर हो गया ।'

प्रयाग जिले के छितौना ग्राम निवासी पं॰ देवनारायण जी देवभाषा के असाधारण विद्वान् और गायत्री के अनन्य उपासक हैं । तीस वर्ष की आयु तक अध्ययन करने के उपरान्त उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया । स्त्री बड़ी सुशील एवं पतिभक्त मिली । विवाह के बहुत काल बीत जाने पर भी जब कोई सन्तान नहीं हुई, तो वह अपने आप को बन्ध्यत्व से कलंकित समझकर दु:खी रहने लगी । पण्डितजी ने उसकी इच्छा जानकर सवा लक्ष जप का अनुष्ठान किया । कुछ ही दिन में उनके एक प्रतिभावान् मेधावी पुत्र उत्पन्न हुआ, जो आजकल देवभाषा की सर्वोच्च उपाधि प्राप्त करने की तैयारी कर रहा है ।

प्रयाग के पास जमुनीपुर ग्राम में रामनिधि शास्त्री नामक एक विद्वान् ब्राह्मण रहते थे । वे अत्यन्त निर्धन थे, पर गायत्री साधना में उनकी बड़ी तत्परता थी । एक बार नौ दिन उपवास करके उन्होंने नवाह्न पुरश्चरण किया । पुरश्चरण के अन्तिम दिन अर्धरात्रि को भगवती गायत्री ने बड़े दिव्य स्वरूप में उन्हें दर्शन दिया और कहा तुम्हारे इस घर में अमुक स्थान पर अशर्फियों से भरा घड़ा रखा है, उसे निकालकर अपनी दरिद्रता दूर करो । पण्डितजी ने घड़ा निकाला और वे निर्धन से धनपति हो गये ।

इन्दौर निवासी पण्डित रक्षपालजी ने बताया है कि एक व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ लड़ाई-झगड़ा करता रहता था । थोड़े दिन तक गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित जल पीने से उसका स्वभाव बदल गया और उन स्त्री पुरुष दोनों में उत्तरोत्तर स्नेह बढ़ता गया ।

बड़ौदा के वकील रामचन्द्र कालीशंकर पाठक आरम्भ में १०) रुपये मासिक की एक छोटी नौकरी करते थे । उस समय उन्होंने एक गायत्री पुरश्चरण किया, तब से उनकी रुचि विद्याध्ययन में लगी और धीरे-धीरे प्रसिद्ध कानूनदां हो गये । उनकी मासिक आमदनी करीब ५००) रुपये तक है ।

महुआ (काठियावाड़) के रणछोड़लाल भाई का कथन है कि एक मनुष्य का लड़का मैट्रिक में दो बार फेल हो चुका था, अन्त में उसने दु:खी होकर गायत्री का जप कराया, उस वर्ष उसका लड़का अच्छे नम्बरों से पास हुआ ।

गुजरात के मधुसूदन स्वामी का नाम संन्यास लेने से पहले मायाशंकर दयाशंकर पण्ड्या था, वे सिद्धपुर में रहते थे । आरम्भ में वे २५) मासिक के नौकर थे । उन्होंने हर रोज एक हजार गायत्री जप से आरम्भ करके चार हजार तक बढ़ाया । फलस्वरूप उनकी पदवृद्धि हुई । वे बड़ौदा राज्य रेलवे के असिस्टेण्ट ट्रैफिक सुपरिन्टेण्डेण्ट के ओहदे तक पहुँचे, उस समय उनका वेतन तीन सौ रुपया मासिक था । उत्तरावस्था में उन्होंने संन्यास ले लिया था ।

माण्डूक्य उपनिषद् पर कारिका लिखने वाले विद्वान् श्रीगौड़पाद का जन्म उनके पिता के उपवास पूर्वक सात दिन तक गायत्री जप करने के फलस्वरूप हुआ था ।

प्रसिद्ध साहित्यकार पं॰ द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी पहले इलाहाबाद में सिविल सर्जन के हैडक्लर्क थे । उन्होंने वारेन हैस्टिंग्ज का जीवन चरित्र लिखा, जो राजद्रोहात्मक समझा गया और नौकरी से हाथ धोना पड़ा । बड़ा कुटुम्ब और जीविका का साधन न रहना, इस तपस्या के फलस्वरूप उन्हें पुस्तक लेखन का स्वतन्त्र कार्य मिल गया । तब से उन्होंने पर्याप्त अनुष्ठान करने का अपना नियम बनाया और नित्य जप किया करते थे ।

स्वर्गीय पं॰ बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार थे । वे नित्य गायत्री के पाँच सौ मन्त्र जपते थे और कहा करते थे कि 'गायत्री जप करने वालों को कभी कोई कमी नहीं रहती, भट्टजी सदा विद्या, धन, जन से भरे पूरे रहे ।'

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का भानजा उनके यहाँ रहकर पढ़ता था। इण्टर परीक्षा के दौरान लौजिक के पर्चे के दिन वह बहुत दु:खी था, क्योंकि उस विषय में वह बालक कच्चा था। प्रोफेसर साहब ने उसे प्रोत्साहन देकर परीक्षा देने भेजा और स्वयं छुट्टी लेकर आसन जमाकर गायत्री जपने लगे, जब तक बालक लौटा तब तक बराबर जप करते रहे। बालक ने बताया, उसका वह पर्चा बहुत ही अच्छा हुआ और लिखते समय उसे लगता था मानो उसकी कलम पकड़ कर कोई लिखाता चलता है। वह बहुत अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण हुआ।

इलाहाबाद के पं॰ प्रतापनारायण चतुर्वेदी की नौकरी छूट गयी। बहुत तलाश करने पर भी जब कोई जगह न मिली तो उन्होंने अपने पिता के आदेशानुसार गायत्री का सवा लक्ष जप किया। समाप्त होने पर उसी पायेनियर प्रेस में पहली नौकरी की अपेक्षा ढाई गुने वेतन की जगह मिल गयी, जहाँ कि पहले उन्हें कितनी ही बार मना कर दिया गया था।

कलकत्ता के शा॰ मोड़कमल केजड़ीवाल आरम्भ में जोधपुर राज्य के एक गाँव में १२) रु० मासिक के अध्यापक थे। एक छोटी-सी पुस्तक से आकर्षित होकर उन्होंने गायत्री जपने का नित्य नियम बनाया। जप करते-करते अचानक उनके मन में स्फुरणा हुई कि मुझे कलकत्ता जाना चाहिये, वहाँ मेरी आर्थिक उन्नति होगी। निदान वे कलकत्ता पहुँचे। वहाँ व्यापारिक क्षेत्रों में वे नौकरी करते रहे और श्रद्धापूर्वक गायत्री साधना करते रहे। रुई के व्यापार से उन्हें भारी लाभ हुआ और थोड़े ही दिन में लखपति बन गये।

बुलढाना के श्री बद्रीप्रसाद वर्मा बहुत निर्बल आर्थिक स्थिति के आदमी थे। ५०) रुपये मासिक में उन्हें अपने ८ आदमियों के परिवार का गुजारा करना पड़ता था। कन्या विवाह योग्य हो गयी। अच्छे घर में विवाह करने के लिये हजारों रुपया दहेज की आवश्यकता थी। वे दु:खी रहते और गायत्री माता के चरणों में आँसू बहाते रहते। अचानक ऐसा संयोग हुआ कि एक डिप्टी कलक्टर के लड़के की बारात, कन्या पक्ष वालों से झगड़ कर बिना ब्याह वापस लौट रही थी। डिप्टी साहब, वर्माजी को जानते थे। रास्ते में उनका गाँव पड़ता था। उन्होंने वर्माजी के पास प्रस्ताव भेजा कि अपनी कन्या का विवाह आज ही हमारे लड़के से कर दें। वर्माजी राजी हो गये। एम०ए० पास लड़का जो नहर विभाग में ६००) रुपये मासिक का इञ्जीनियर था, उससे उनकी कन्या की शादी कुल १५०) रुपये में हो गयी।

देहरादून का बसन्तकुमार नामक छात्र एक वर्ष मैट्रिक में फेल हो चुका था, दूसरे वर्ष भी पास होने की आशा न थी। उसने गायत्री उपासना की और परीक्षा में अच्छे नम्बरों से पास हुआ।

सम्भलपुर के बाबू कौशलकिशोर माहेश्वरी असवर्ण माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण जाति से बहिष्कृत थे। विवाह न होने के कारण उनका चित्त बड़ा दु:खी रहता था। गायत्री माता से अपना दु:ख रोकर चित्त हल्का कर लेते थे। २६ वर्ष की आयु में उनकी शादी एक सुशिक्षित उच्च घराने की अत्यन्त रूपवती तथा सर्वगुण सम्पन्न कन्या के साथ हुई। माहेश्वरीजी के अन्य भाई-बहनों की शादी भी उच्च तथा सम्पन्न परिवारों में हुई। जाति बहिष्कार के अपमान से उनका परिवार पूर्णतया मुक्त हो गया।

हृदयनगर जिला मण्डला के पं॰ शम्भुप्रसाद मिश्र गायत्री के अनन्य भक्त हैं। अपने से कई गुने साधन सम्पन्न विरोधी को परास्त करके वे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन चुने गये।

बहालपुर के राधाबल्लभ तिवारी के विवाह से १६ वर्ष बीत जाने पर भी सन्तान न हुई। उन्होंने गायत्री उपासना का आश्रय लिया। फलस्वरूप उन्हें एक कन्या और एक पुत्र की प्राप्ति हुई।

प्राचीनकाल में दशरथजी को गायत्री द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ करने पर और राजा दिलीप को गुरु वशिष्ठ के आश्रम में गायत्री उपासना करते हुए गो-दुग्ध का कल्प करने पर सुसन्तति की प्राप्ति हुई थी। राजा अश्वपति ने गायत्री

यज्ञ करके सन्तान पायी थी। कुन्ती ने बिना पुरुष संभोग के गायत्री मन्त्र द्वारा सूर्य को आकर्षित करके कर्ण को उत्पन्न किया था।

दिल्ली में नई सड़क पर श्रीबुद्धूराम भट्ट नामक एक दुकानदार हैं। इनके ४५ वर्ष की आयु तक कोई सन्तान न हुई थी। उपासना से उस ढलती आयु में उन्हें पुत्र प्राप्त हुआ, जो बड़ा ही सुन्दर तथा होनहार दिखाई पड़ता है।

गुरुकुल वृन्दावन के एक कार्यकर्त्ता सुदामा मिश्र के यहाँ १४ वर्ष से कोई बालक जन्मा ही नहीं था। गायत्री पुरश्चरण करने से उनके यहाँ एक पुत्र उत्पन्न हुआ और वंश चलने तथा घर के किवाड़ खुले रहने की चिन्ता दूर हो गयी।

सरसई के जीवनलाल वर्मा का तीन वर्ष का होनहार बालक स्वर्गवासी हो गया। उनका घर भर बालक के बिछोह से उद्विग्न था। उनने गायत्री की विशेष उपासना की। दूसरे मास उनकी पत्नी ने स्वप्न में देखा कि उनका बच्चा गोदी में चढ़ आया है और जैसे ही छाती से लगाना चाहा कि बालक उसके पेट में घुस गया है। इस स्वप्न के नौ महीने बाद जो बालक जन्मा, वह हर बात में उसी मरे हुए बालक की प्रति-मूर्ति था। इस बच्चे को पाकर उनका शोक पूर्णतया शान्त हो गया।

बैजनाथ भाई रामजी भाई भुलारे ने कई बार विद्वानों के द्वारा गायत्री अनुष्ठान कराये। उन्हें हर अनुष्ठान में आश्चर्यजनक लाभ हुआ। छः कन्याओं के बाद उन्हें पुत्र प्राप्त हुआ। सत्रह साल पुराना बवासीर अच्छा हुआ और व्यापार में इतना लाभ हुआ, जितना कि इससे पहले उन्हें कभी नहीं हुआ था।

डोरी बाजार के पं॰ पूजा मिश्र का कथन है कि हमारे पिताजी पं॰ देवीप्रसादजी एक गायत्री उपासक महात्मा के शिष्य थे। पिताजी की आर्थिक स्थिति खराब थी। उनको दु:खी देखकर महात्माजी ने उन्हें गायत्री उपासना बताई। फलस्वरूप खेती में भारी लाभ होने लगा। छोटी-सी खेती की विशुद्ध आमदनी से अब उनकी हालत बहुत अच्छी हो गयी है और बचत का २० हजार रुपया बैंक में जमा हो गया है।

गुजरात के ईडर रियासत के निवासी पं॰ गौरीशंकर रेवाशंकर याज्ञिक ने १५ वर्ष की आयु से गायत्री-उपासना आरम्भ कर दी थी और छोटी आयु में ही गायत्री के २४-२४ लाख के तीन पुरश्चरण किये थे। इसके फल से विद्या, ज्ञान तथा अन्य शुभ-संस्कारों की इतनी वृद्धि हुई कि ये जहाँ गये, वहीं इनका आदर-सम्मान हुआ, सफलता प्राप्त हुई। इनके पूर्वज पूना में एक पाठशाला चलाते थे, जिसमें विद्यार्थियों को उच्चकोटि की धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। गौरीशंकरजी ने उस पाठशाला को अपने घर पर ही चलाना आरम्भ किया और विद्यार्थियों को गायत्री उपासना का उपदेश देने लगे। इन्होंने यह नियम बना दिया कि जो असहाय विद्यार्थी अपने भोजन की व्यवस्था स्वयं न कर सकें, उनको एक हजार गायत्री जप प्रतिदिन करने पर पाठशाला की तरफ से ही भोजन मिला करेगा। इसका परिणाम यह हुआ कि पूना के ब्राह्मणों में इनका घराना गुरु-गृह के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

जबलपुर के राधेश्याम शर्मा के घर में आये दिन बीमारियाँ सताती थीं। उनकी आमदनी का एक बड़ा भाग वैद्य, डॉक्टरों के घर में चला जाता था। जब से उनने गायत्री उपासना आरम्भ की, उनके घर से बीमारी पूर्णतया विदा हो गयी।

सीकर के श्रीशिव भगवान् जी सोमानी तपेदिक से सख्त बीमार पड़े थे। उनके साले, मालेगाँव के शिवरतनजी मारू ने उन्हें गायत्री का मानसिक जप करने की सलाह दी, क्योंकि वे अपने पारिवारिक कलह तथा स्त्री की अस्वस्थता से छुटकारा प्राप्त कर चुके थे। सोमानी जी की बीमारी इतनी घातक हो चुकी थी कि डॉक्टर विलमोरिया जैसे सर्जन को कहना पड़ा कि पसली की तीन हड्डियाँ निकलवा दी जायें, तो ठीक होने की सम्भावना

है, अन्यथा पन्द्रह दिन में हालत काबू से बाहर हो जायेगी। वैसी भयंकर स्थिति में सोमानी जी ने गायत्री माता का अंचल पकड़ा और पूर्ण स्वस्थ होकर अब वे रोहिनीपुर में अपना अच्छा कारोबार कर रहे हैं।

श्रीगोवर्धन पीठ के शंकराचार्य जी ने अपनी पुस्तक 'मन्त्र-शक्ति योग' के पृष्ठ १६७ पर लिखा है कि राव मामलतदार पहाड़पुर कोल्हापुर वाले गायत्री मन्त्र से साँप के जहर को उतार देते हैं।

रोहेड़ा निवासी श्रीनैनूराम को बीस वर्ष की पुरानी वात व्याधि थी और बड़ी-बड़ी दवायें करा लेने पर भी अच्छी न हुई थी, गायत्री-उपासना द्वारा उनका रोग पूर्णतया अच्छा हो गया।

इस प्रकार के अगणित उदाहरण उपलब्ध हो सकते हैं, जिनमें गायत्री-उपासना द्वारा राजसिक वैभव से साधक लाभान्वित हुए हैं।

गायत्री साधना से आपत्तियों का निवारण

विपरीत परिस्थितियों का प्रवाह बड़ा प्रबल होता है। उसके थपेड़े में जो फँस गया, वह विपत्ति की ओर बढ़ता ही जाता है। बीमारी, धन-हानि, मुकदमा, शत्रुता, बेकारी, गृह-कलह, विवाद, कर्ज आदि की शृंखला जब चल पड़ती है, तो मनुष्य हैरान हो जाता है। कहावत है कि विपत्ति अकेली नहीं आती, वह हमेशा अपने बाल-बच्चे साथ लाती है। एक मुसीबत आने पर उसकी साथिन सहित और भी कई कठिनाइयाँ उसी समय आती हैं। चारों ओर से घिरा हुआ मनुष्य अपने को चक्रव्यूह में फँसा-सा अनुभव करता है। ऐसे विकट समय में जो लोग निराशा, चिन्ता, भय, निरुत्साह, घबराहट, किंकर्तव्य विमूढ़ता में पड़कर हाथ-पाँव चलाना छोड़ देते हैं, रोने-कलपने में लगे रहते हैं, वे अधिक समय तक अधिक मात्रा में कष्ट भोगते हैं।

विपत्ति और विपरीत परिस्थितियों की धारा से त्राण पाने के लिये धैर्य, साहस, विवेक और प्रयत्न की आवश्यकता है। इन चार कोनों वाली नाव पर चढ़कर ही संकट की नदी को पार करना सुगम होता है। गायत्री की साधना आपत्ति के समय इन चार तत्त्वों को मनुष्य के अन्तःकरण में विशेष रूप से प्रोत्साहित करती हैं, जिससे वह ऐसा ठीक मार्ग ढूँढ़ने में सफल हो जाता है। जो उसे विपत्ति से पार लगा दे।

आपत्तियों में फँसे हुए अनेकों व्यक्ति गायत्री की कृपा से किस प्रकार पार उतरे, उनके कुछ उदाहरण हमारी जानकारी में इस प्रकार हैं—

घाटकोपर बम्बई के श्री आर॰बी॰ वेद गायत्री की कृपा से घोर साम्प्रदायिक दंगों के दिनों में मुस्लिम बस्तियों से निर्भय होकर निकलते रहते थे। उनकी पुत्री को एकबार भयंकर हैजा हुआ। यह भी उसी के अनुग्रह पर शान्त हुआ। एक महत्त्वपूर्ण मुकदमे में भी अनुकूल फैसला हुआ।

इन्दौर, काँगड़ा के चौ॰ अमरसिंह एक ऐसी जगह बीमार पड़े, जहाँ की जलवायु बड़ी खराब थी और जहाँ कोई चिकित्सक खोजे न मिलता था। उस भयंकर बीमारी में गायत्री प्रार्थना को उन्होंने औषधि बनाया और अच्छे हो गये।

बम्बई के पं॰ रामशरण शर्मा जब गायत्री अनुष्ठान कर रहे थे, उन्हीं दिनों उनके माता-पिता सख्त बीमार हुए। परन्तु अनुष्ठान के प्रभाव से उनका बाल भी बाँका न हुआ, दोनों ही नीरोग हो गये।

इटौआधुरा के डॉक्टर रामनारायण जी भटनागर को उनकी स्वर्गीया पत्नी ने स्वप्न में दर्शन देकर गायत्री जप करने की शिक्षा दी थी, तब से वे बराबर इस साधना को कर रहे हैं। चिकित्सा-क्षेत्र में उनके हाथ में ऐसा यश आया है कि बड़े-बड़े कष्टसाध्य रोगी उनकी चिकित्सा से अच्छे हुए हैं।

कनकुवा जि० हमीरपुर के लक्ष्मीनारायण श्रीवास्तव बी०ए०, एल०एल०बी० की धर्मपत्नी प्रसवकाल में अत्यन्त कष्ट पीड़ित हुआ करती थी, गायत्री उपासना से उनका कष्ट बहुत कम हो गया। एक बार उनका लड़का मोतीझरा से पीड़ित हुआ। बेहोशी और चीखने की दशा को देखकर सब लोग बड़े दु:खी थे। वकील साहब की गायत्री प्रार्थना के द्वारा बालक को गहरी नींद आ गयी और वह थोड़े ही दिनों में स्वस्थ हो गया।

जफरापुर के ठा० रामकरणसिंहजी वैद्य की धर्मपत्नी को दो वर्ष से संग्रहणी की बीमारी थी। अनेक प्रकार से चिकित्सा कराने पर भी जब लाभ न हुआ, तो सवालक्ष जप का अनुष्ठान किया गया। फलस्वरूप वह पूर्ण स्वस्थ हो गयीं और उनके एक पुत्र पैदा हुआ।

कसराबाद, निमाड़ कें श्रीशंकरलाल व्यास का बालक इतना बीमार था कि डॉक्टर, वैद्यों ने आशा छोड़ दी। दस हजार गायत्री जप के प्रभाव से वह अच्छा हुआ। एक बार व्यास जी रास्ता भूलकर रात के समय ऐसे पहाड़ी बीहड़ जंगल में फँस गये, जहाँ हिंसक जानवर चारों ओर शोर करते हुए घूम रहे थे। इस संकट के समय में उन्होंने गायत्री का ध्यान किया और उनके प्राण बच गये।

विहिया, शाहाबाद के श्री गुरुचरण आर्य एक अभियोग में जेल भेज दिये गये। छुटकारे के लिये वे जेल में जप करते रहते थे। वे अचानक जेल से छूट गये और मुकदमे में निर्दोष बरी हो गये।

मुन्द्रावजा के श्रीप्रकाशनारायण मिश्र कक्षा १० की पढ़ाई में पारिवारिक कठिनाइयों के कारण ध्यान न दे सके। परीक्षा के २५ दिन रह गये, तब उन्होंने पढ़ना और गायत्री का जप करना आरंभ किया। उत्तीर्ण होने की आशा न थी, फिर भी उन्हें सफलता मिली। मिश्रजी के बाबा शत्रुओं के ऐसे कुचक्र में फँस गये कि जेल जाना पड़ा। गायत्री अनुष्ठान के कारण वे उस आपत्ति से बच गये।

काशी के पं० धरनीदत्त शास्त्री का कथन है कि उनके दादा पं० कन्हैयालाल गायत्री के उपासक थे। बचपन में शास्त्रीजी अपने दादा के साथ रात के समय कुएँ पर पानी लेने गये। उन्होंने देखा कि वहाँ पर एक भयंकर प्रेत आत्मा है, जो कभी भैंसा बनकर, कभी शूकर बनकर उन पर आक्रमण करना चाहती है। वह कभी मुख से, कभी सिर से भयंकर अग्नि ज्वालायें फेंकता रहा और कभी मनुष्य, कभी हिंसक जन्तु बनकर एक-डेढ़ घण्टे तक भयोत्पादन करता रहा। दादा ने मुझे डरा हुआ देखकर समझा दिया कि, बेटा हम गायत्री उपासक हैं, यह प्रेत आत्मा हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अन्त में वे दोनों सकुशल घर को गये, प्रेत का क्रोध असफल रहा।

"सनाढ्य-जीवन" इटावा के सम्पादक पं० प्रभुदयाल शर्मा का कथन है कि उनकी पुत्रवधू तथा नातियों को कोई दुष्ट प्रेतात्मा लग गयी थी। हाथ, पैर और मस्तक में भारी पीड़ा होती थी और बेहोशी आ जाती थी। रोग-मुक्ति के जब सब प्रयत्न असफल हुए, तो गायत्री का आश्रय लेने से वह बाधा दूर हुई। इसी प्रकार शर्माजी का भतीजा भी मृत्यु के मुँह में अटका था। उसे गोदी में लेकर गायत्री का जप किया गया, बालक अच्छा हो गया।

शर्माजी के ताऊ जी दानापुर (पटना) गये हुए थे। वहाँ वे स्नान के बाद गायत्री का जप कर रहे थे कि अचानक उनके कान में जोर से शब्द हुआ कि—"जल्दी निकल - भाग, यह मकान अभी गिरता है।" वे खिड़की से कूद कर भागे। मुश्किल से चार-छ: कदम गये होंगे कि मकान गिर पड़ा और वे बाल-बाल बच गये।

शेखपुरा के अमोलकचन्द्र गुप्ता बचपन में ही पिता की और किशोरावस्था में माता की मृत्यु हो जाने से कुसंग में पड़कर अनेक बुरी आदतों में फँस गये थे। दोस्तों की चौकड़ी दिनभर जमी रहती और ताश, शतरंज, गाना-बजाना, वेश्या-नृत्य, सिगरेट, शराब, जुआ, व्यभिचार, नाच, तमाशा, सैर-सपाटा, भोजन पार्टी आदि के दौर चलते रहते। इसी कुचक्र में पाँच वर्ष के भीतर नकदी, जेवर, मकान और बीस हजार की जायदाद स्वाहा हो गयी। जब कुछ न रहा, तो जुए के अड्डे, व्यभिचार की दलाली, चोरी, जेबकटी, लूट, धोखाधड़ी आदि की नई-नई तरकीबें निकालकर एक छोटे गिरोह के साथ अपना गुजारा करने लगे। इसी स्थिति में उनका चित्त बड़ा अशान्त रहता।

एक दिन एक महात्मा ने उन्हें गायत्री का उपदेश दिया । उनकी श्रद्धा जम गयी । धीरे-धीरे उत्तम विचारों की वृद्धि हुई । पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त की भावना बढ़ने से उन्होंने चान्द्रायण व्रत, तीर्थ, अनुष्ठान और प्रायश्चित्त किये । अब वे एक दुकान करके अपना गुजारा करते हैं और पुरानी बुरी आदतों से मुक्त हैं ।

रानीपुरा के ठा० अंगजीत राठौर एक डकैती के केस में फँस गये थे । जेल में गायत्री का वे जप करते रहते थे । मुकदमे में निर्दोष हो छुटकारा पाया ।

अम्बाला के मोतीलाल माहेश्वरी का लड़का कुसंग में पड़कर ऐसी बुरी आदतों का शिकार हो गया था, जिससे उनके प्रतिष्ठित परिवार पर कलंक के छींटे पड़ते थे । माहेश्वरीजी ने दु:खी होकर गायत्री की शरण ली । उस तपश्चर्या के प्रभाव से लड़के की मति पलटी और अशान्त परिवार में शान्त वातावरण उत्पन्न हो गया ।

टोंक के श्री शिवनारायण श्रीवास्तव के पिताजी के मरने पर जमींदारी की दो हजार रुपये सालाना आमदनी पर गुजारा करने वाले १९ व्यक्ति रह गये । परिश्रम कोई न करता, पर खर्च सब बढ़ाते और जमींदारी से माँगते । निदान वह घर, घर की फूट और कलह का अखाड़ा बन गया । फौजदारी और मुकदमेबाजी के आसार खड़े हो गये । श्रीवास्तवजी को इससे बड़ा दु:ख होता, क्योंकि वे पिताजी के उत्तराधिकारी गृहपति थे । दु:खी होकर एक महात्मा के आदेशानुसार उन्होंने गायत्री जप आरंभ किया । परिस्थिति बदली । बुद्धियों में सुधार हुआ । कमाने लायक लोग नौकरी तथा व्यापार में लग गये । झगड़े शान्त हुए । डगमगाता हुआ घर बिगड़ने से बच गया ।

अमरावती के सोहनलाल मेहरोत्रा की स्त्री को भूत बाधा बनी रहती थी । बड़ा कष्ट था, हजारों रुपया खर्च हो चुके थे । स्त्री दिन-दिन घुलती जाती थी । एक दिन मेहरोत्रा जी से स्वप्न में उनके पिता जी ने कहा—'बेटा गायत्री का जप कर, सब विपत्ति दूर हो जायेगी ।' दूसरे दिन से उन्होंने वैसा ही किया । फलस्वरूप उपद्रव शान्त हो गये और स्त्री नीरोग हो गयी । उनकी बहिन की ननद भी इस गायत्री जप द्वारा भूत बाधा से मुक्त हुई ।

चाचौड़ा के डॉ० भगवान् स्वरूप की स्त्री भी प्रेत बाधा में मरणासन्न स्थिति को पहुँच गयी थी, उसकी प्राण रक्षा भी एक गायत्री उपासक के प्रयत्न से हुई ।

बिझौली के बाबा उमाशंकर खरे के परिवार से गाँव के जाट परिवार की पुश्तैनी दुश्मनी थी । इस रंजिश के कारण कई बार खरे जी के यहाँ डकैतियाँ हो चुकी थीं और बड़े-बड़े नुकसान हुए थे । सदा ही जान- जोखिम का अन्देशा रहता था । खरे जी ने गायत्री भक्ति का मार्ग अपनाया । उनके मधुर व्यवहार ने अपने परिवार को शान्त स्वभाव और गाँव को नरम बना लिया । अब पुराना बैर समाप्त होकर नई सद्‌भावना कायम हुई है । सब लोग बड़े प्रेम से रहते हैं ।

खड़गपुर के श्री गोकुलचन्द सक्सेना रेलवे के लोको दफ्तर में कर्मचारी थे । इनके दफ्तर में ऊँचे ओहदे के कर्मचारी उनसे द्वेष करते थे और षड्यन्त्र करके उनकी नौकरी छुड़ाना चाहते थे । उनके अनेकों हमले विफल हुए । सक्सेनाजी का विश्वास है कि गायत्री उनकी रक्षा करती हैं और उनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता ।

बम्बई के श्री मानिकचन्द्र पाटोदिया व्यापारिक घाटे के कारण काफी रुपये के कर्जदार हो गये थे । कर्ज चुकाने की कोई व्यवस्था हो नहीं पाती थी कि सट्टे में और भी नुकसान हो गया । दिवालिया होकर अपनी प्रतिष्ठा खोने और भविष्य में दु:खी जीवन बिताने के लक्षण स्पष्ट रूप से सामने थे । विपत्ति में सहायता के लिये उन्होंने गायत्री अनुष्ठान कराया । साधना के प्रभाव से दिन-दिन लाभ होने लगा । रुई और चाँदी के चान्स अच्छे आ गये, जिसमें सारा कर्ज चुक गया । गिरा हुआ व्यापार फिर चमकने लगा ।

दिल्ली के प्रसिद्ध पहलवान गोपाल विश्नोई कोई बड़ी कुश्ती लड़ने जाते थे, तो पहले गायत्री पुरश्चरण करते थे । प्राय: सदा ही विजयी होकर लौटते थे ।

बाँसबाड़ा के श्रीसीताराम मालवीय को क्षय रोग हो गया था । एक्सरा होने पर डॉक्टरों ने बताया कि उनके

फेफड़े खराब हो गये हैं । दशा निराशाजनक थी । सैकड़ों रुपये की दवा खाने पर भी जब कुछ आराम न हुआ, तो एक वयोवृद्ध विद्वान् के आदेशानुसार उन्होंने चारपाई पर पड़े-पड़े गायत्री का जप आरम्भ कर दिया और मन ही मन प्रतिज्ञा की कि यदि मैं बच गया, तो अपना जीवन देश-हित में लगा दूँगा । प्रभु की कृपा से वे बच गये । धीरे-धीरे स्वास्थ्य सुधरा और बिल्कुल भले चंगे हो गये । तब से अब तक वे आदिवासियों, भीलों तथा पिछड़ी हुई जातियों के लोगों की सेवा में लगे हुए हैं ।

थरपारकर के ला॰ करनदास का लड़का बहुत ही दुबला और कमजोर था, आये दिन बीमार पड़ा रहता था । आयु १९ वर्ष की हो चुकी थी, पर देखने में १३ वर्ष से अधिक न मालूम पड़ता था । लड़के को उनके कुलगुरु ने गायत्री की उपासना का आदेश दिया । उसका मन इस ओर लग गया । एक-एक करके उसकी सब बीमारियाँ छूट गयीं । कसरत करने लगा, खाना भी हजम होने लगा । दो-तीन वर्ष में उसका शरीर ड्योढ़ा हो गया और घर का सब काम-काज होशियारी के साथ सँभालने लगा ।

प्रयाग के श्रीमुन्नूलाल जी के दौहित्र की दशा बहुत खराब हो गयी थी । गला फूल गया था । डॉक्टर अपना प्रयत्न कर रहे थे, पर कोई दवा कारगर नहीं होती थी । तब उनके घर वालों ने गायत्री उपासना का सहारा लिया । रातभर गायत्री जप तथा चालीसा-पाठ चलता रहा । सबेरा होते-होते दशा बहुत कुछ सुधर गयी और दो-चार दिन में वह पुनः खेलने-कूदने लगा ।

आगरा निवासी श्रीरामकरणजी किसी के यहाँ निमन्त्रण पाकर भोजन करने गये , वहाँ से घर लौटते ही उनका मस्तिष्क विकृत हो गया । वे पागल होकर इधर-उधर फिरने लगे । एक दिन उन्होंने अपनी जाँघ में ईंट मारकर उसे खूब सुजा लिया । उनका जीवन निरर्थक जान पड़ने लग गया था । एक दिन कुछ लोग परामर्श करके उन्हें पकड़कर जबरदस्ती गायत्री उपासक के पास ले आये । उन्होंने उनकी कल्याण भावना से चावल को गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित करके उनके शरीर पर छींटे मारे, जिससे वह मूर्च्छित के समान गिर गये । कुछ देर बाद वे उठे और पीने को पानी माँगा । उन्हें गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित जल पिलाया गया, जिससे कुछ समय में वे बिल्कुल ठीक हो गये ।

श्री नारायणप्रसाद कश्यप राजनाँदगाँव वालों के बड़े भाई पर कुछ लोगों ने मिलकर एक फौजदारी का मुकदमा चलाया, वह मुकदमा चार वर्ष तक चला । इसी प्रकार उनके छोटे भाई पर कत्ल का अभियोग लगाया । इन लोगों ने गायत्री माता का आँचल पकड़ा और दोनों मुकदमों में से इन्हें छुटकारा मिला ।

स्वामी योगानन्दजी संन्यासी को कुछ म्लेच्छ अकारण बहुत सताते थे । उन्हें गायत्री का आग्नेयास्त्र सिद्ध था । उसका उन्होंने कुछ म्लेच्छों पर प्रयोग किया, तो उनके शरीर ऐसे जलने लगे मानो किसी ने अग्नि लगा दी हो । वे मरणतुल्य कष्ट से छटपटाने लगे । तब लोगों की प्रार्थना पर स्वामी जी ने उस अन्तर्दाह को शान्त किया, इसके बाद वे सदा के लिये सीधे हो गये ।

नन्दनपुरवा के सत्यनारायणजी एक अच्छे गायत्री उपासक हैं । इन्हें अकारण सताने वाले गुण्डों पर ऐसा वज्रपात हुआ कि एक भाई २४ घण्टे के अन्दर हैजे से मर गया और शेष भाइयों को पुलिस डकैती के अभियोग में पकड़कर ले गयी, उन्हें पाँच-पाँच वर्ष की जेल काटनी पड़ी ।

इस प्रकार के अनेकों प्रमाण मौजूद हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि गायत्री माता का आँचल श्रद्धापूर्वक पकड़ने से मनुष्य अनेक प्रकार की आपत्तियों से सहज में छुटकारा पा सकता है ।अनिवार्य कर्म भोगों एवं कठोर प्रारब्ध में कई बार आश्चर्यजनक सुधार होते देखे गये हैं ।

गायत्री उपासना का मूल लाभ आत्म-शान्ति है । इस महामन्त्र के प्रभाव से आत्मा में सतोगुण बढ़ता है और अनेक प्रकार की आत्मिक समृद्धियाँ बढ़ती हैं, साथ ही अनेक प्रकार के सांसारिक लाभ भी मिल जाते हैं ।

देवियों की गायत्री साधना

प्राचीनकाल में गार्गी, मैत्रेयी, मदालसा, अनसूया, अरुन्धती, देवयानी, अहल्या, कुन्ती, सतरूपा, वृन्दा, मन्दोदरी, तारा, द्रोपदी, दमयन्ती, गौतमी, अपाला, सुलभा, शाश्वती, उशिजा, सावित्री, लोपामुद्रा, प्रतिशेयी, वैशालिनी, बैंदुला, सुनीति, शकुन्तला, पिंगला, जरुत्कार, रोहिणी, भद्रा, विदुला, गान्धारी, अञ्जनि, सीता, देवहूति, पार्वती, अदिति, शची, सत्यवती, सुकन्या, शैव्या आदि महासतियाँ वेदज्ञ और गायत्री उपासक रही हैं। उन्होंने गायत्री शक्ति की उपासना द्वारा अपनी आत्मा को समुन्नत बनाया था और यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। उन्होंने सधवा और गृहस्थ रहकर सावित्री की आराधना में सफलता प्राप्त की थी। इन देवियों का विस्तृत वृत्तांत, उनकी साधनाओं और सिद्धियों का वर्णन करना इस छोटी पुस्तक में सम्भव नहीं है। जिन्होंने भारतीय पुराण- इतिहासों को पढ़ा है, वे जानते हैं कि उपर्युक्त देवियाँ विद्वत्ता, साहस, शौर्य, दूरदर्शिता, नीति, धर्म, साधना, आत्मोन्नति आदि पराक्रमों में अपने ढंग की अनोखी जाज्वल्यमान तारिकायें थीं। उन्होंने समय-समय पर ऐसे चमत्कार उपस्थित किये हैं, जिन्हें देखकर आश्चर्य में रह जाना पड़ता है।

प्राचीनकाल में सावित्री ने एक वर्ष तक गायत्री जप करके वह शक्ति प्राप्त की थी, जिससे वह अपने मृत-पति सत्यवान् के प्राणों को यमराज से लौटा सकी। दमयन्ती का तप ही था जिसके प्रभाव ने कुचेष्टा करने का प्रयत्न करने वाले व्याध को भस्म कर दिया था। गान्धारी आँखों से पट्टी बाँधकर ऐसा तप करती थी, जिससे उसके नेत्रों में वह शक्ति उत्पन्न हो गयी थी कि उसके दृष्टिपात मात्र से दुर्योधन का शरीर अभेद्य हो गया था। जिस जंघा पर उसने लज्जावश कपड़ा डाल लिया, वही कच्ची रह गयी थी और उसी पर प्रहार करके भीम ने दुर्योधन को मारा था। अनसूया ने तप से ब्रह्मा, विष्णु, महेश को नन्हें बालक बना दिया था। सती शाण्डिली के तपोबल ने सूर्य का रथ रोक दिया था। सुकन्या की तपस्या से जीर्ण-शीर्ण च्यवन ऋषि तरुण हो गये थे। स्त्रियों की तपस्या का इतिहास पुरुषों से कम शानदार नहीं है। यह स्पष्ट है कि स्त्री और पुरुष सभी के लिये तप का प्रमुख मार्ग गायत्री ही है।

वर्तमान समय में भी अनेक नारियों की गायत्री साधना का हमें भलीभाँति परिचय है और यह भी पता है कि इसके द्वारा उन्होंने कितनी बड़ी मात्रा में आत्मिक और सांसारिक सुख-शान्ति की प्राप्ति की है।

एक सुप्रसिद्ध इन्जीनियर की धर्मपत्नी श्रीमती प्रेमप्यारी देवी को अनेक प्रकार की पारिवारिक कठिनाइयों से होकर गुजरना पड़ा है। उनने अनेक संकटों के समय गायत्री का आश्रय लिया और विषम परिस्थितियों से छुटकारा पाया है।

दिल्ली के एक अत्यन्त उच्च परिवार की सुशिक्षित देवी श्रीमती चन्द्रकान्ता जेरथ बी०ए० गायत्री की अनन्य साधिका हैं। इन्होंने इस साधना द्वारा बीमारियों की पीड़ा दूर करने में विशेष सफलता प्राप्त की है। दर्द से बेचैन रोगी इनके अभिमन्त्रित हस्त स्पर्श से आरामं अनुभव करता है। इन्हें गायत्री में इतनी तन्मयता है कि सोते हुए भी जप अपने आप होता रहता है।

नगीना के एक प्रतिष्ठित शिक्षा शास्त्री की धर्मपत्नी श्रीमती मेधावती देवी को बचपन में गायत्री-साधना के लिये अपने पिताजी से प्रोत्साहन मिला था, तब से अब तक वे इस साधना को बड़े प्रेमपूर्वक चला रही हैं। कई चिन्ताजनक अवसरों पर गायत्री की कृपा से उनकी मनोकामना पूर्ण हुई है।

शिलोंग की एक सती-साध्वी महिला श्रीमती गुणवन्ती देवी के पतिदेव की मृत्यु २० वर्ष की आयु में हो गयी थी। गोदी में १ ॥ वर्ष का पुत्र था। उनको तथा उनके श्वसुर को इस मृत्यु का भारी आघात लगा और दोनों ही शोक से पीड़ित होकर अस्थि-पिंजर मात्र रह गये। एक दिन एक ज्ञानी ने उनके श्वसुर को गायत्री जप का उपदेश किया। शोक निवारणार्थ वे उस जप को करने लगे। कुछ दिन बाद गुणवन्ती देवी को स्वप्न में एक

तपस्विनी ने दर्शन दिये और कहा, किसी प्रकार की चिन्ता न करो, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी, मेरा नाम गायत्री है। कभी आवश्यकता हुआ करे, तो मेरा स्मरण किया करो। स्वप्न टूटने पर दूसरे ही दिन से उन्होंने गायत्री साधना आरम्भ कर दी। पिछले १३ वर्षों में अनेक आपत्तियाँ उन पर आयीं और वे सब टल गयीं। अब उनका बालक १९ साल का होकर बी॰ए॰ में पढ़ रहा है। ४०) रुपये मासिक की सरकारी छात्रवृत्ति मिलती है और ७५) रुपये के ट्यूशन कर लेता है। परिवार का काम ठीक प्रकार चल रहा है। गायत्री पर उन्हें अनन्य श्रद्धा है।

हैदराबाद (सिंध) की श्रीमती विमलादेवी की सास बड़ी कर्कश स्वभाव की थी और पतिदेव शराब, वेश्यागमन आदि बुरी लतों में डूबे रहते थे। विमला देवी को आये दिन सास तथा पति की गाली-गलौज तथा मारपीट का सामना करना पड़ता था। इससे वे बड़ी दुःखी रहतीं और कभी-कभी आत्महत्या करने की सोचतीं। विमला की बुआ ने उसे विपत्ति निवारिणी गायत्री माता की उपासना करने की शिक्षा दी। वह गायत्री माता जी की उपासना करने लगी। फल आशातीत हुआ। थोड़े ही दिनों में सास और पति को बड़ा भयंकर स्वप्न हुआ कि उसके कुकर्मों के लिये कोई देवदूत उसे मृत्यु तुल्य कष्ट दे रहे हैं। जब स्वप्न टूटा तो उस भय का आतंक कई महीनों तक उन पर रहा और उसी दिन से स्वभाव सीधा हो गया। अब वह परिवार पूर्ण प्रसन्न और सन्तुष्ट है। विमला का दृढ़ विश्वास है कि उसके घर को आनन्दमय बनाने वाली माता गायत्री ही हैं। वर्षों से उनका नियम है कि जप किये बिना भोजन नहीं करतीं।

वारीसाल (बंगाल) के उच्च अफसर की धर्मपत्नी श्रीमती हेमलता चटर्जी को तैंतीस वर्ष की आयु तक कोई सन्तान न हुई, उसके पतिदेव तथा घर के अन्य व्यक्ति इससे बड़े दुःखी रहते थे और कभी-कभी उनके पति का दूसरा विवाह होने की चर्चा होती रहती थी। हेमलता को इससे अधिक मानसिक कष्ट रहता था और उन्हें मूर्छा का रोग हो गया था। किसी साधक ने उन्हें गायत्री साधना की विधि बताई, वे श्रद्धापूर्वक उपासना करने लगीं। ईश्वर की कृपा से एक वर्ष बाद उनके कन्या उत्पन्न हुई, जिसका नाम गायत्री रखा गया। इसके बाद दो-दो वर्ष के अन्तर से दो पुत्र और हुए। तीनों बालक स्वस्थ हैं। इस परिवार में गायत्री की बड़ी मान्यता है।

जैसलमेर की श्रीमती गोगन बाई को १६ वर्ष की आयु से हिस्टीरिया (मिर्गी) के दौरे आते थे। आठ वर्षों से वे इस रोग से बहुत दुःखी थीं। उन्हें उपवासपूर्वक गायत्री जप करने की विधि बताई गयी। अन्न त्याग कर वे फल और दूध पर निर्वाह करने लगीं और भक्तिपूर्वक गायत्री की आराधना करने लगीं। चार मास के भीतर उनका आठ वर्ष पुराना मिर्गी रोग दूर हो गया।

गुजरानवाला की सुन्दरी बाई को पहले कण्ठमाला रोग था, वह थोड़ा अच्छा हुआ, तो प्रदर रोग भयंकर रूप से हो गया। हर घड़ी लाल पानी बहता रहता। कई साल इस प्रकार बीमार पड़े रहने के कारण उनका शरीर अस्थि मात्र रह गया था। चमड़ा और हड्डियों के बीच मांस का नाम भी दिखाई न पड़ता था, आँखें गड्ढे में धँस गई थीं, घर के लोग उनकी मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगे थे। ऐसी स्थिति में उन्हें, एक पड़ोसिन ब्राह्मणी ने बताया कि गायत्री माता तरण-तारिणी हैं, उनका ध्यान करो। सुन्दरी बाई के मन में बात जँच गयी। वे चारपाई पर पड़े-पड़े जप करने लगीं। ईश्वर की कृपा से वे धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगीं और बिल्कुल नीरोग हो गयीं। दो वर्ष बाद उनके पुत्र उत्पन्न हुआ, जो भला चंगा और स्वस्थ है।

गोदावरी जिले की बसन्ती देवी को भूतोन्माद था। भूत-प्रेत उनके सिर पर चढ़े रहते थे। १२ वर्ष की आयु में वे बिल्कुल बुढ़िया हो गयी थीं। उनके पिता इस व्याधि से अपनी पुत्री को छुटकारा दिलाने के लिये काफी खर्च, परेशानी उठा चुके थे, पर कोई लाभ नहीं होता था। अन्त में उन्होंने गायत्री पुरश्चरण कराया और उससे लड़की की व्याधि दूर हो गयी।

भार्थू के डॉक्टर राजाराम शर्मा की पुत्री सावित्री देवी गायत्री की श्रद्धालु उपासिका हैं। उसने देहात में रहकर

आयुर्वेद का उच्च अध्ययन किया और परीक्षा के दिनों में बीमार पड़ जाने पर भी आयुर्वेदाचार्य की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुई।

कानपुर के पं॰ अयोध्याप्रसाद दीक्षित की धर्मपत्नी शान्तिदेवी मिडिल पास थीं। ११ वर्ष तक पढ़ाई छोड़कर परिवार के झंझटों में लगी रहीं। एक वर्ष अचानक उनने मैट्रिक का फार्म भर दिया और गायत्री उपासना के बल से थोड़ी-सी तैयारी में उत्तीर्ण हो गयीं।

बालापुर की सावित्री देवी दुबे नामक एक महिला के पति की मृत्यु अठारह वर्ष की आयु में ही हो गयी थी। वे अत्यधिक रोगग्रस्त रहती थीं। सूखकर काँटा हो गयी थीं। एक दिन उनके पति ने स्वप्न में उनसे कहा कि तुम गायत्री उपासना किया करो, जिससे मेरी आत्मा को सद्गति मिलेगी और तुम्हारा वैधव्य परम शान्तिपूर्वक व्यतीत हो जायेगा। उसने पति की आज्ञानुसार वैसा ही किया, अत: परिवार में रहते हुए भी उच्चकोटि के महात्मा की स्थिति प्राप्त हुई। वह जो बात जबान से कह देती थीं, वह सत्य होकर रहती थी।

कटक जिले के रामपुर ग्राम में एक लुहार की कन्या सोनाबाई को स्वप्न में नित्य और जाग्रत् अवस्था में कभी-कभी गायत्री के दर्शन होते हैं। वह ऐसी भविष्यवाणियाँ करती हैं, जो प्राय: ठीक ही उतरती हैं।

मुरीदपुर की सन्तोषकुमारी बचपन में बड़ी मन्दबुद्धि थी। उनके पिता ने उनको पढ़ाने के लिये बहुत प्रयत्न किये, पर सफलता न मिली। भाग्यदोष समझकर सब लोग चुप हो गये। विवाह हुआ, विवाह के चार वर्ष बाद ही वह विधवा हो गयी। वैधव्य को काटने के लिये उसने गायत्री की आराधना आरम्भ कर दी। एक रात को स्वप्न में गायत्री ने दर्शन दिये और कहा—"मैंने तेरी बुद्धि तीक्ष्ण कर दी है, विद्या पढ़, तेरा जीवन सफल होगा।" दूसरे दिन उसे पढ़ने में उत्साह आया, बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण हो गयी थी। कुछ ही वर्षों में मैट्रिक पास कर लिया और वे स्त्री शिक्षा के प्रचार में बड़ी तत्परता से लगी हुई हैं।

रंगपुर बंगाल की श्रीमती सरला चौधरी के कई बच्चे मर चुके थे। एक भी बच्चा जीवित न रहने से वे बहुत दु:खी थीं। उन्हें गायत्री साधना बताई गयी, जिसको अपनाकर उन्होंने तीन पुत्रों की माता कहलाने का सुख पाया। टिहरी की एक अध्यापिका गुलाबदेवी को प्रसवकाल में मृत्यु तुल्य कष्ट होता था। एक बार उन्होंने गायत्री की प्रशंसा सुनी और उसे अपनाकर साधना करने लगीं, तब उन्हें चार प्रसव और हुए जो सभी सुखपूर्वक हो गये।

मुलतान की सुन्दरीबाई स्वयं बहुत कमजोर थीं, उनके बच्चे भी कमजोर थे और उनमें से कोई न कोई बीमार पड़ा रहता था। अपनी दुर्बलता और बच्चों की बीमारी से रोना-खीझना उन्हें कष्टकर होता था। इस विपत्ति से उन्हें गायत्री ने छुड़ाया। पीछे वे सपरिवार स्वस्थ रहने लगीं।

उदयपुर की मारवाड़ी महिला ज्ञानवती रूप- रंग की अधिक सुन्दर न होने के कारण पति को प्रिय न थीं। पति का व्यवहार उनसे सदा रूखा, कर्कश, उपेक्षापूर्ण रहता था और घर रहते हुए भी परदेश के समान दोनों में बिलगाव रहता था। ज्ञानवती की मौसी ने गायत्री का पूजन और रविवार का व्रत रखने का उपाय बताया। वह तपश्चर्या निरर्थक नहीं गयी। साधिका को आगे चलकर पति का प्रेम प्राप्त हुआ और उसका दाम्पत्य-जीवन सुखमय बीता।

भीलवाड़ा प्रान्त में एक सरमणी नामक स्त्री बड़ी क्रूर तांत्रिक थी। उसे वहाँ के लोग डायन समझते थे। एक वयोवृद्ध संन्यासी ने उसे गायत्री की दीक्षा दी। तब से उसने सब छोड़कर भगवान् की भक्ति में चित्त लगाया और साधु जीवन व्यतीत करने लगी।

बहरामपुर के पास एक कुंआरी कन्या गुफा बनाकर दस वर्ष की आयु से तपस्या कर रही थी। चालीस वर्ष की आयु में भी उसके चेहरे का तेज ऐसा था कि आँखें झपक जाती थीं। उसके दर्शनों के लिये दूर-दूर से लोग आते थे। इस देवी का इष्ट गायत्री था। वह सदा गायत्री का जप करती रहती थी।

मीराबाई, सहजोबाई, रन्तिवती, लीलावती, दयाबाई, अहिल्याबाई, सखूबाई, मुक्ताबाई प्रभृति अनेकों ईश्वर भक्त, वैरागिनी हुई हैं, जिनका जीवन विरक्त और परमार्थ पूर्ण रहा। इनमें से कइयों ने गायत्री की उपासना करके अपने भक्ति - भाव और वैराग्य को बढ़ाया था।

इस प्रकार अनेक देवियाँ इस श्रेष्ठ साधना से अपनी आध्यात्मिक उन्नति करती आई हैं और सांसारिक सुख समृद्धि की प्राप्ति एवं आपत्तियों से छुटकारा पाने की प्रसन्नता का अनुभव करती रही हैं। विधवा बहिनों के लिये तो गायत्री-साधना एक सर्वोपरि तपश्चर्या है। शोक-वियोग की जलन बुझती है, बुद्धि में सात्त्विकता आती है, चित्त ईश्वर की ओर लगता है। नम्रता, सेवा, शील, सदाचार, निरालस्यता, सादगी, धर्म रुचि, स्वाध्याय-प्रियता, आस्तिकता एवं परमार्थ परायणता के तत्त्व बढ़ते हैं। गायत्री-साधना की तपश्चर्या का आश्रय लेकर अनेक ऐसी बाल-विधवाओं ने अपना जीवन सती-साध्वी जैसा बिताया है, जिनकी कम आयु देखकर अनेक आशंकायें की जाती थीं। जब ऐसी बहिनों को गायत्री में तन्मयता होने लगती है, तो वे वैधव्य-दु:ख को भूल जाती हैं और अपने को तपस्विनी, साध्वी, ब्रह्मवादिनी, उज्ज्वल चरित्र, पवित्र आत्मा अनुभव करती हैं। ब्रह्मचर्य तो उनका जीवन सहचर बनकर रहता है।

स्त्री और पुरुष, नर और नारी दोनों ही वर्ग वेदमाता गायत्री के कन्या-पुत्र हैं। दोनों ही आँखों के तारे हैं। वे किसी से भेद-भाव नहीं करतीं। माता को पुत्र से कन्या अधिक प्यारी होती है। वेदमाता गायत्री की साधना पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के लिये अधिक सरल और अधिक शीघ्र फलदायिनी है।

जीवन का कायाकल्प

गायत्री मन्त्र से आत्मिक कायाकल्प हो जाता है। इस महामन्त्र की उपासना आरम्भ करते ही साधक को ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे आन्तरिक क्षेत्र में एक नयी हलचल एवं रद्दोबदल आरम्भ हो गयी है। सतोगुणी तत्त्वों की अभिवृद्धि होने तथा दुर्गुण, कुविचार, दु:स्वभाव एवं दुर्भाव घटने आरम्भ हो जाते हैं और संयम, नम्रता, पवित्रता, उत्साह, श्रमशीलता, मधुरता, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, उदारता, प्रेम, सन्तोष, शान्ति, सेवा-भाव, आत्मीयता आदि सद्गुणों की मात्रा दिन-दिन बड़ी तेजी से बढ़ती जाती है। फलस्वरूप लोग उसके स्वभाव एवं आचरण से सन्तुष्ट होकर बदले में प्रशंसा, कृतज्ञता, श्रद्धा एवं सम्मान के भाव रखते हैं। इसके अतिरिक्त ये सद्गुण स्वयं इतने मधुर होते हैं कि जिस हृदय में इनका निवास होगा, वहाँ आत्म-सन्तोष की परम शान्तिदायक निर्झरिणी सदा बहती रहेगी।

गायत्री साधना से साधक के मन:क्षेत्र में असाधारण परिवर्तन हो जाता है। विवेक, तत्त्व-ज्ञान और ऋतम्भरा बुद्धि की अभिवृद्धि हो जाने के कारण अनेक अज्ञानजन्य दु:खों का निवारण हो जाता है। प्रारब्धवश अनिवार्य कर्मफल के कारण कष्टसाध्य परिस्थितियाँ हर एक के जीवन में आती रहती हैं। हानि, शोक, वियोग, आपत्ति, रोग, आक्रमण, विरोध, आघात आदि की विभिन्न परिस्थितियों में जहाँ साधारण मनोभूमि के लोग मृत्युतुल्य कष्ट पाते हैं, वहाँ आत्मबल-सम्पन्न गायत्री साधक अपने विवेक, ज्ञान, वैराग्य, साहस, आशा, धैर्य, संतोष, संयम, ईश्वर-विश्वास के आधार पर इन कठिनाइयों को हँसते-हँसते आसानी से काट लेता है। बुरी अथवा साधारण परिस्थितियों में भी अपने आनन्द का मार्ग ढूँढ़ निकालता है और मस्ती एवं प्रसन्नता का जीवन बिताता है।

संसार का सबसे बड़ा लाभ "आत्म-बल" गायत्री साधक को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के सांसारिक लाभ भी होते देखे गये हैं। बीमारी, कमजोरी, बेकारी, घाटा, गृह-कलह, मनोमालिन्य, मुकदमा, शत्रुओं का आक्रमण, दाम्पत्य सुख का अभाव, मस्तिष्क की निर्बलता, चित्त की अस्थिरता, सन्तान-सुख, कन्या के विवाह की कठिनाई, बुरे भविष्य की आशंका, परीक्षा में उत्तीर्ण न होने का भय, बुरी आदतों के बन्धन जैसी कठिनाइयों से ग्रसित अगणित व्यक्तियों ने आराधना करके अपने दु:खों से छुटकारा पाया है।

कारण यह है कि हर एक कठिनाई के पीछे, जड़ में निश्चय ही कुछ न कुछ अपनी त्रुटियाँ, अयोग्यतायें एवं खराबियाँ रहती हैं। सद्गुणों की वृद्धि के साथ अपने आहार-विहार, दिनचर्या, दृष्टिकोण, स्वभाव एवं कार्यक्रम में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन ही आपत्तियों के निवारण का, सुख-शान्ति की स्थापना का राजमार्ग बन जाता है। कई बार हमारी इच्छायें, तृष्णायें, लालसायें, कामनायें ऐसी होती हैं, जो अपनी योग्यता एवं परिस्थितियों से मेल नहीं खातीं। मस्तिष्क शुद्ध होने पर बुद्धिमान् व्यक्ति उन मृगतृष्णाओं को त्यागकर अकारण दु:खी रहने से, भ्रम-जंजाल से छूट जाता है। अवश्यम्भावी, न टलने वाले प्रारब्ध का भोग जब सामने आता है, तो साधारण व्यक्ति बुरी तरह रोते-चिल्लाते हैं, किन्तु गायत्री-साधक में इतना आत्म-बल एवं साहस बढ़ जाता है कि वह उन्हें हँसते-हँसते झेल लेता है।

किसी विशेष आपत्ति का निवारण करने एवं किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये भी गायत्री साधना की जाती है। बहुधा इसका परिणाम बड़ा ही आश्चर्यजनक होता है। देखा गया है कि जहाँ चारों ओर निराशा, असफलता, आशंका और भय का अन्धकार ही छाया हुआ था, वहाँ वेदमाता की कृपा से एक दैवी प्रकाश उत्पन्न हुआ और निराशा आशा में परिणत हो गयी, बड़े कष्टसाध्य कार्य तिनके की तरह सुगम हो गये। ऐसे अनेकों अवसर अपनी आँखों के सामने देखने के कारण हमारा यह अटूट विश्वास हो गया कि कभी किसी की गायत्री साधना निष्फल नहीं जाती।

गायत्री-साधना आत्मबल बढ़ाने का अचूक आध्यात्मिक व्यायाम है। किसी को कुश्ती में पछाड़ने एवं दंगल में जीतकर इनाम पाने के लिये कितने ही लोग पहलवानी और व्यायाम का अभ्यास करते हैं। यदि कदाचित् कोई अभ्यासी किसी कुश्ती को हार जाय, तो भी ऐसा नहीं समझना चाहिये कि उसका प्रयत्न निष्फल गया। इसी बहाने उसका शरीर तो मजबूत हो गया, वह जीवन भर अनेक प्रकार से अनेक अवसरों पर बड़े-बड़े लाभ उपस्थित करता रहेगा। निरोगिता, सौन्दर्य, दीर्घजीवन, कठोर परिश्रम करने की क्षमता, दाम्पत्य-सुख, सुसन्तति, अधिक कमाना, शत्रुओं से निर्भयता आदि कितने ही लाभ ऐसे हैं, जो कुश्ती पछाड़ने से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। साधना से यदि कोई विशेष प्रयोजन प्रारब्धवश पूरा भी न हो, तो भी इतना तो निश्चित है कि किसी न किसी प्रकार साधना की अपेक्षा कई गुना लाभ अवश्य मिलकर रहेगा।

आत्मा स्वयं अनेक ऋद्धि-सिद्धियों का केन्द्र है। जो शक्तियाँ परमात्मा में हैं, वे ही उसके अमर युवराज आत्मा में हैं।समस्त ऋद्धि-सिद्धियों का केन्द्र आत्मा में है, किन्तु जिस प्रकार राख से ढका हुआ अंगार मन्द हो जाता है, वैसे ही आन्तरिक मलिनताओं के कारण आत्म-तेज कुण्ठित हो जाता है। गायत्री-साधना से मलिनता का पर्दा हटता है और राख हटा देने से जैसे अंगार अपने प्रज्वलित स्वरूप में दिखाई पड़ने लगता है, वैसे ही साधक की आत्मा भी अपने ऋद्धि-सिद्धि समन्वित ब्रह्मतेज के साथ प्रकट होती है। योगियों को जो लाभ दीर्घकाल तक कष्टसाध्य तपस्यायें करने से प्राप्त होता है, वही लाभ गायत्री साधकों को स्वल्प प्रयास में प्राप्त हो जाता है।

गायत्री-उपासना का यह प्रभाव इस समय भी समय-समय पर दिखाई पड़ता है। इन सौ-पचास वर्षों में ही सैकड़ों व्यक्ति इसके फलस्वरूप आश्चर्यजनक सफलतायें पा चुके हैं और अपने जीवन को इतना उच्च और सार्वजनिक दृष्टि से कल्याणकारी तथा परोपकारी बना चुके हैं कि उनसे अन्य सहस्रों लोगों को प्रेरणा प्राप्त हुई है। गायत्री साधना में आत्मोत्कर्ष का गुण इतना अधिक पाया जाता है कि उससे सिवाय कल्याण और जीवन सुधार के और कोई अनिष्ट हो ही नहीं सकता।

प्राचीनकाल में महर्षियों ने बड़ी-बड़ी तपस्यायें और योग-साधनायें करके अणिमा, महिमा आदि ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। उनकी चमत्कारी शक्तियों के वर्णन से इतिहास-पुराण भरे पड़े हैं। वह तपस्या और योग-साधना गायत्री के आधार पर ही की थी। अब भी अनेकों महात्मा मौजूद हैं, जिनके पास दैवी-शक्तियों और

सिद्धियों का भण्डार है । उनका कथन है कि गायत्री से बढ़कर योगमार्ग में सुगमतापूर्वक सफलता प्राप्त करने का दूसरा मार्ग नहीं है । सिद्ध पुरुषों के अतिरिक्त सूर्यवंशी और चंद्रवंशी सभी चक्रवर्ती राजा गायत्री उपासक रहे हैं । ब्राह्मण लोग गायत्री की ब्रह्म-शक्ति के बल पर जगद्‌गुरु थे, क्षत्रिय गायत्री के भर्ग रूपी तेज को धारण करके चक्रवर्ती शासक बने थे ।

यह सनातन सत्य आज भी वैसा ही है । गायत्री माता का आँचल श्रद्धापूर्वक पकड़ने वाला मनुष्य कभी भी निराश नहीं रहता ।

स्त्रियों को गायत्री का अधिकार

भारतवर्ष में सदा से स्त्रियों का समुचित सम्मान रहा है । उन्हें पुरुषों की अपेक्षा अधिक पवित्र माना जाता रहा है । स्त्रियों को बहुधा 'देवी' सम्बोधन से सम्बोधित किया जाता है । नाम के पीछे उनकी जन्मजात उपाधि 'देवी' प्राय: जुड़ी रहती है । शान्ति देवी, गंगा देवी, दया देवी आदि 'देवी' शब्द पर कन्याओं के नाम रखे जाते हैं । जैसे पुरुष बी०ए०, शास्त्री, साहित्यरत्न आदि उपाधियाँ उत्तीर्ण करने पर अपने नाम के पीछे उस पदवी को लिखते हैं, वैसे ही कन्यायें अपने जन्म-जात ईश्वर प्रदत्त दैवी गुणों, दैवी विचारों, दिव्य विशेषताओं के कारण अलंकृत होती हैं ।

देवताओं और महापुरुषों के साथ उनकी अर्धांगिनियों के नाम भी जुड़े हुए हैं—सीताराम, राधेश्याम, गौरीशंकर, लक्ष्मीनारायण, उमामहेश, माया-ब्रह्म, सावित्री-सत्यवान् आदि नामों से नारी को पहला और नर को दूसरा स्थान प्राप्त है । पतिव्रत, दया, करुणा, सेवा, सहानुभूति, स्नेह, वात्सल्य, उदारता, भक्ति-भावना आदि गुणों में नर की अपेक्षा नारी को सभी विचारवानों ने बढ़ा-चढ़ा माना है ।

इसलिये धार्मिक, आध्यात्मिक और ईश्वर प्राप्ति सम्बन्धी कार्यों में नारी का सर्वत्र स्वागत किया गया है और उसे उसकी महानता के अनुकूल प्रतिष्ठा दी गयी है । वेदों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि वेदों के मन्त्रद्रष्टा जिस प्रकार अनेक ऋषि हैं, वैसे ही अनेक ऋषिकायें भी हैं । ईश्वरीय ज्ञान वेद महान् आत्मा वाले व्यक्तियों पर प्रकट हुआ है और उनने उन मन्त्रों को प्रकट किया । इस प्रकार जिन पर वेद प्रकट हुए उन मन्त्र द्रष्टाओं को ऋषि कहते हैं ।ऋषि केवल पुरुष ही नहीं हुए हैं, वरन् अनेक नारियाँ भी हुई हैं । ईश्वर ने नारियों के अन्त:करण में भी उसी प्रकार वेद-ज्ञान प्रकाशित किया जैसे कि पुरुषों के अन्त:करण में, क्योंकि प्रभु के लिये दोनों ही सन्तान समान हैं ।महान् दयालु, न्यायकारी और निष्पक्ष प्रभु अपनी ही सन्तान में नर-नारी का भेद-भाव कैसे कर सकते हैं ?

ऋग्वेद १० ।८५ में सम्पूर्ण मन्त्रों की ऋषिका 'सूर्या- सावित्री' है । ऋषि का अर्थ निरुक्त में इस प्रकार किया है—**"ऋषिर्दर्शनात् । स्तोमान् ददर्शेति (२.११) । ऋषयो मन्त्र द्रष्टार:(२.११ दु०वृ०) ।"** अर्थात मन्त्रों का द्रष्टा उनके रहस्यों को समझकर प्रचार करने वाला ऋषि होता है ।

ऋग्वेद की ऋषिकाओं की सूची बृहद् देवता के दूसरे अध्याय में इस प्रकार है—

घोषा गोधा विश्ववारा, अपालोपनिषन्निषत् ।
ब्रह्मजाया जुहूर्नाम अगस्त्यस्य स्वसादिति: ।।८४
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी ।
लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शश्वती ।।८५
श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक्श्रद्धा मेधा च दक्षिणा ।
रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिता: ।।८६ ।।

अर्थात्—घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, उपनिषद्, निषद्, ब्रह्मजाया (जुहू) , अगस्त्य की भगिनी, अदिति,

इन्द्राणी और इन्द्र की माता, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा और नदियाँ, यमी, शश्वती, श्री, लाक्षा, सार्पराज्ञी, वाक्, श्रद्धा, मेधा, दक्षिणा, रात्री और सूर्या- सावित्री आदि सभी ब्रह्मवादिनी हैं।

ऋग्वेद के १०-१३४, १०-३९, ४०, १०-९१, १०-९५, १०-१०७, १०-१०९, १०-१५४, १०-१५९, १०-१८९, ५-२८, ८-९१ आदि सूक्तों की मन्त्रद्रष्टा ये ऋषिकायें हैं।

ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह यज्ञ करती और कराती थीं। वे यज्ञ-विद्या और ब्रह्म-विद्या में पारंगत थीं। कई नारियाँ तो इस सम्बन्ध में अपने पिता तथा पति का मार्ग दर्शन करती थीं।

"तैत्तिरीय ब्राह्मण" में सोम द्वारा 'सीता - सावित्री' ऋषिका को तीन वेद देने का वर्णन विस्तारपूर्वक आता है-

तं त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त । अथ ह सीता सावित्री ।
सोमँ् राजानं चकमे। तस्या उ ह त्रीन् वेदान् प्रददौ। —तैत्तिरीय ब्रा० २/३/१०/१,३

इस मन्त्र में बताया गया है कि किस प्रकार सोम ने सीता-सावित्री को तीन वेद दिये।

मनु की पुत्री 'इड़ा' का वर्णन करते हुए तैत्तिरीय ब्रा० १ ।१ ।४ ।४ में उसे 'यज्ञानूकाशिनी' बताया है। यज्ञानूकाशिनी का अर्थ सायणाचार्य ने 'यज्ञ तत्त्व प्रकाशन समर्था' किया है। इड़ा ने अपने पिता को यज्ञ सम्बन्धी सलाह देते हुए कहा—

साऽब्रवीदिडा मनुम्। तथा वा अहं तवाग्निमाधास्यामि। यथा प्र प्रजया पशुभिर्मिथुनैर्जनिष्यसे। प्रत्यस्मिँल्लोके स्थास्यसि। अभि सुवर्गं लोकं जेष्यसीति।

—तैत्तिरीय ब्रा०१/१/४/६

इड़ा ने मनु से कहा-तुम्हारी अग्नि का ऐसा आधान करूँगी, जिससे तुम्हें पशु, भोग, प्रतिष्ठा और स्वर्ग प्राप्त हो।

प्राचीन समय में स्त्रियाँ गृहस्थाश्रम चलाने वाली थीं और ब्रह्म-परायण भी। वे दोनों ही अपने-अपने कार्यक्षेत्रों में कार्य करती थीं। जो गृहस्थ का संचालन करती थीं, उन्हें 'सद्योवधू' कहते थे और जो वेदाध्ययन, ब्रह्म उपासना आदि के पारमार्थिक कार्यों में प्रवृत्त रहती थीं, उन्हें 'ब्रह्मवादिनी' कहते थे। ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू के कार्यक्रम तो अलग-अलग थे, पर उनके मौलिक धर्माधिकारों में कोई अन्तर न था। देखिये—

द्विविधाः स्त्रियः। ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनम्, अग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षाचर्येति। सद्योवधूनां तूपस्थिते विवाहे कथञ्चिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः। -हारीत धर्म सूत्र

ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू ये दो स्त्रियाँ होती हैं। इनमें से ब्रह्मवादिनी-यज्ञोपवीत, अग्निहोत्र, वेदाध्ययन तथा स्वगृह में भिक्षा करती हैं। सद्योवधुओं का भी यज्ञोपवीत आवश्यक है। वह विवाहकाल उपस्थित होने पर करा देते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ऋषि की धर्मपत्नी मैत्रेयी को ब्रह्मवादिनी कहा है—

तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव। —शत० ब्रा० १४ ।७ ।३ ।१

अर्थात्-मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी। ब्रह्मवादिनी का अर्थ बृहदारण्यक उपनिषद् का भाष्य करते हुए श्रीशंकराचार्य ने 'ब्रह्मवादनशील' किया है। ब्रह्म का अर्थ है-वेद। ब्रह्मवादनशील अर्थात् वेद का प्रवचन करने वाली।

यदि ब्रह्म का अर्थ ईश्वर लिया जाए, तो भी ब्रह्म प्राप्ति बिना वेद-ज्ञान के नहीं हो सकती। इसलिये ब्रह्म को वही जान सकता है, जो वेद पढ़ता है। देखिये—

ना वेदविन्मनुते तं बृहन्तम्। एतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन। —तैत्तिरीयोप०

जिस प्रकार पुरुष ब्रह्मचारी रहकर तप और योग द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करते थे, वैसे ही कितनी ही स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी रहकर आत्म-निर्माण एवं परमार्थ का सम्पादन करती थीं।

पूर्वकाल में अनेक सुप्रसिद्ध ब्रह्मचारिणी हुई हैं, जिनकी प्रतिभा और विद्वत्ता की चारों ओर कीर्ति फैली हुई थी। महाभारत में ऐसी अनेक ब्रह्मचारिणियों का वर्णन आता है।

भारद्वाजस्य दुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि।
श्रुतावती नाम विभो कुमारी ब्रह्मचारिणी॥ —महाभारत शल्य पर्व ४८।२

भारद्वाज की श्रुतावती नामक कन्या थी, जो ब्रह्मचारिणी थी। कुमारी के साथ-साथ ब्रह्मचारिणी शब्द लगाने का तात्पर्य यह है कि वह अविवाहित और वेदाध्ययन करने वाली थी।

अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमार-ब्रह्मचारिणी।
योगयुक्ता दिवं याता, तपः सिद्धा तपस्विनी॥ —महाभारत शल्य पर्व ५४।६

योग सिद्धि को प्राप्त कुमार अवस्था से ही वेदाध्ययन करने वाली तपस्विनी, सिद्धा नाम की ब्राह्मणी मुक्ति को प्राप्त हुई।

बभूव श्रीमती राजन् शांडिल्यस्य महात्मनः।
सुता धृतव्रता साध्वी नियता ब्रह्मचारिणी॥
सा तु तप्त्वा तपो घोरं दुश्चरं स्त्रीजनेन ह।
गता स्वर्गं महाभागा देवब्राह्मणपूजिता॥ —महाभारत शल्य पर्व ५४।७।८

महात्मा शांडिल्य की पुत्री 'श्रीमती' थी, जिसने व्रतों को धारण किया। वेदाध्ययन में निरन्तर प्रवृत्त थी। अत्यन्त कठिन तप करके वह देव ब्राह्मणों से पूजित हुई और स्वर्ग सिधारी।

तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्त विद्यां वाल्मीकि पार्श्वादिह संचरामि। —उत्तररामचरित अंक २

(आत्रेयी का कथन) उन (अगस्त्यादि ब्रह्मवेत्ताओं) से ब्रह्म विद्या सीखने के लिए वाल्मीकि के पास से आ रही हूँ।

महाभारत शान्ति पर्व अध्याय ३२० में 'सुलभा' नामक ब्रह्मवादिनी संन्यासिनी का वर्णन है, जिसने राजा जनक के साथ शास्त्रार्थ किया था। इसी अध्याय के श्लोकों में सुलभा ने अपना परिचय देते हुए कहा—

प्रधानो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः।
कुले तस्य समुत्पन्नां सुलभां नाम विद्धि माम्॥
साऽहं तस्मिन् कुलें जाता भर्तर्यसति मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येकामुनिव्रतम्॥ —महा० शान्ति पर्व ३२०।१८१।१८३

मैं सुप्रसिद्ध क्षत्रिय कुल में उत्पन्न सुलभा हूँ। अपने अनुरूप पति न मिलने से मैंने गुरुओं से शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करके संन्यास ग्रहण किया है।

पाण्डव-पत्नी द्रौपदी की विद्वत्ता का वर्णन करते हुए श्री आचार्य आनन्दतीर्थ (माधवाचार्य) जी ने 'महाभारत निर्णय' में लिखा है—

वेदाश्चाप्युत्तमस्त्रीभिः कृष्णाद्याभिरिवाखिलाः ।

अर्थात् उत्तम स्त्रियों को कृष्णा (द्रोपदी) की तरह वेद पढ़ने चाहिये ।

तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा ।
उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ, ज्ञान—विज्ञान—पारगे ।।—भागवत ४ ।१ ।६४

स्वधा की दो पुत्रियाँ हुईं, जिनके नाम वयुना और धारिणी थे । ये दोनों ही ज्ञान और विज्ञान में पूर्ण पारंगत तथा ब्रह्मवादिनी थीं ।

विष्णु पुराण १ ।१० और १८ ।१९ तथा मार्कण्डेय पुराण अ०५२ में इसी प्रकार (ब्रह्मवादिनी- वेद और ब्रह्म का उपदेश करने वाली) महिलाओं का वर्णन है ।

सततं मूर्तिमन्तश्च वेदाश्चत्वार एव च ।
सन्ति यस्याश्च जिह्वाग्रे सा च वेदवती स्मृता ।।—ब्रह्म वै० प्रकृति खण्ड २/१४/६४

उसे चारों वेद कण्ठाग्र थे, इसलिये उसे वेदवती कहा जाता था । इस प्रकार की नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी, ब्रह्मवादिनी नारियाँ अगणित थीं । इनके अतिरिक्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाली कन्यायें दीर्घकाल तक ब्रह्मचारिणी रहकर वेद-शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त विवाह करती थीं, तभी उनकी संतान संसार में उज्ज्वल नक्षत्रों की तरह यशस्वी, पुरुषार्थी और कीर्तिमान् होती थी । धर्म ग्रन्थ का स्पष्ट आदेश है कि कन्या ब्रह्मचारिणी रहने के उपरान्त विवाह करे ।

ब्रह्मचर्येण कन्या ३ युवानं विन्दते पतिम् । —अथर्व० ११ ।७ ।१८

अर्थात् कन्या ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करती हुई, उसके द्वारा उपयुक्त पति को प्राप्त करती हैं ।

ब्रह्मचर्य केवल अविवाहित रहने को ही नहीं कहते हैं । ब्रह्मचारी वह है, जो संयमपूर्वक वेद की प्राप्ति में निरत रहता है । देखिये—

स्वीकरोति यदा वेद, चरेद् वेदव्रतानि च ।
ब्रह्मचारी भवेत्तावद् ऊर्ध्वं स्नातो भवेत् गृही ।। —दक्षस्मृति १ ।७

अर्थात् जब वेद को अर्थ सहित पढ़ता है और उसके लिये व्रतों को ग्रहण करता है, तब ब्रह्मचारी कहलाता है, उसके पश्चात् विद्वान् बनकर गृहस्थ में प्रवेश करता है ।

अथर्ववेद में ११ ।७ ।१७ की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है—

'ब्रह्मचर्येण- ब्रह्म वेदः तदध्ययनार्थमाचर्यम् ।'

अर्थात् "ब्रह्म" का अर्थ है वेद । उस वेद के अध्ययन के लिये जो प्रयत्न किये जाते हैं, वह ब्रह्मचर्य है । इसी सूक्त के प्रथम मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य ने लिखा है—

'ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये वा चरितुं शीलमस्य स तथोक्तः ।'

अर्थात् ब्रह्मचारी वह है, जो वेद के अध्ययन में विशेष रूप से संलग्न है ।

महर्षि गार्ग्यायणाचार्य ने प्रणववाद में कहा—

'ब्रह्मचारिणां च ब्रह्मचारिणीभिः सह विवाहः प्रशस्यो भवति ।'

अर्थात् ब्रह्मचारियों का विवाह ब्रह्मचारिणियों से ही होना उचित है, क्योंकि ज्ञान और विद्या आदि की दृष्टि से दोनों के समान रहने पर ही सुखी और सन्तुष्ट रह सकते हैं । महाभारत में भी इस बात की पुष्टि की गयी है ।

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम् ।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्ट-विपुष्टयोः ।। —महाभारत आदिपर्व १ ।१३१ ।१०

"जिनका वित्त एवं ज्ञान समान है, उनसे मित्रता और विवाह उचित है, न्यूनाधिक में नहीं।"

ऋग्वेद १ ।१ ।५ का भाष्य करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—

याः कन्या यावच्चतुर्विंशतिवर्षमायुस्तावद् ब्रह्मचर्येण जितेन्द्रियाः तथा सांगोपांगवेदविद्या अधीयते ताः मनुष्य-जाति-भूषिका भवन्ति।

अर्थात् जो कन्याएँ २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक सांगोपांग वेद विद्याओं को पढ़ती हैं, वे मनुष्य जाति को शोभित करती हैं।

ऋग्वेद ५ ।६२ ।११ के भाष्य में महर्षि ने लिखा है—

ब्रह्मचारिणी प्रसिद्ध-कीर्तिं सत्पुरुषं सुशीलं शुभ-गुण-रूप-समन्वितं प्रीतिमन्तं पतिं ग्रहीतुमिच्छेत् तथैव ब्रह्मचार्यपि स्वसदृशीमेव ब्रह्मचारिणीं स्त्रियं गृह्णीयात्।

अर्थात् - ब्रह्मचारिणी स्त्री कीर्तिवान्, सुशील, सत्पुरुष, गुणवान्, रूपवान्, प्रेमी स्वभाव के पति की इच्छा करे, वैसे ही ब्रह्मचारी भी अपने समान ब्रह्मचारिणी (वेद और ईश्वर की ज्ञाता) स्त्री को ग्रहण करे।

जब विद्याध्ययन करने के लिये कन्याओं को पुरुषों की भाँति सुविधा थी, तभी इस देश की नारियाँ गार्गी और मैत्रेयी की तरह विदुषी होती थीं। याज्ञवल्क्य जैसे ऋषि को एक नारी ने शास्त्रार्थ में विचलित कर दिया था और उन्होंने हैरान होकर उसे धमकी देते हुए कहा था—'अधिक प्रश्न मत करो, अन्यथा तुम्हारा अकल्याण होगा।'

इसी प्रकार शंकराचार्यजी को भारतीदेवी के साथ शास्त्रार्थ करना पड़ा था। उस भारती देवी नामक महिला ने शंकराचार्यजी से ऐसा अद्भुत शास्त्रार्थ किया था कि बड़े-बड़े विद्वान् भी अचम्भित रह गये थे। उनके प्रश्नों का उत्तर देने के लिये शंकराचार्य को निरुत्तर होकर एक मास की मोहलत माँगनी पड़ी थी। शंकरदिग्विजय में भारती देवी के सम्बन्ध में लिखा है—

सर्वाणि शास्त्राणि षडंग वेदान्,
काव्यादिकान् वेत्ति, परञ्च सर्वम्।
तन्नास्ति नोवेत्ति यदत्र बाला,
तस्मादभूच्चित्र पदं जनानाम्॥ —शंकर-दिग्विजय ३ ।१६

"भारती देवी सर्वशास्त्र तथा अंगों सहित सब वेदों और काव्यों को जानती थी। उससे बढ़कर श्रेष्ठ और कोई विदुषी स्त्री न थी।"

आज जिस प्रकार स्त्रियों के शास्त्राध्ययन पर रोक लगाई जाती है। यदि उस समय ऐसे ही प्रतिबन्ध रहे होते, तो याज्ञवल्क्य और शंकराचार्य से टक्कर लेने वाली स्त्रियाँ किस प्रकार हो सकती थीं? प्राचीनकाल में अध्ययन की सभी नर-नारियों को समान सुविधा थी।

स्त्रियों के द्वारा यज्ञ का ब्रह्मा बनने तथा उपाध्याय एवं आचार्य होने के प्रमाण मौजूद हैं। ऋग्वेद में नारी सम्बोधन करके कहा गया है कि तू उत्तम आचरण द्वारा ब्रह्मा का पद प्राप्त कर सकती है।

अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥ —ऋग्वेद ८ ।३३ ।१९

अर्थात् हे नारी! तुम नीचे देखकर चलो। व्यर्थ में इधर-उधर की वस्तुओं को मत देखती रहो। अपने पैरों को सावधानी तथा सभ्यता से रक्खो। वस्त्र इस प्रकार पहनो कि लज्जा के अंग ढके रहें। इस प्रकार उचित आचरण करती हुई तुम निश्चय ही ब्रह्मा की पदवी पाने के योग्य बन सकती हो।

अब यह देखना है कि ब्रह्मा का पद कितना उच्च है और उसे किस योग्यता का मनुष्य प्राप्त कर सकता है ?

ब्रह्मा वाऽऋत्विजाम्भिषक्तमः । —शतपथ ब्रा १ ।७ ।४ ।१९

अर्थात् ब्रह्मा ऋत्विजों की त्रुटियों को दूर करने वाला होने से सब पुरोहितों से ऊँचा है ।

तस्माद्यो ब्रह्मिष्ठःस्यात् तं ब्रह्माणं कुर्वीत । —गोपथ ब्रा० उत्तरार्ध १ ।३

अर्थात् जो सबसे अधिक ब्रह्मनिष्ठ (परमेश्वर और वेदों का ज्ञाता) हो, उसे ब्रह्मा बनाना चाहिये ।

अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात् । —ऐतरेय ब्रा० ५ ।३३

ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों विद्याओं के प्रतिपादक वेदों के पूर्ण ज्ञान से ही मनुष्य ब्रह्मा बन सकता है ।

अथ केन ब्रह्मत्वं इत्यनया, त्रय्या विद्ययेति ह ब्रूयात् ॥ – शतपथ ब्रा० ११ ।५ ।८ ।७

वेदों के पूर्ण ज्ञान (त्रिविध विद्या) से ही मनुष्य ब्रह्मा पद के योग्य बनता है ।

व्याकरण शास्त्र के कतिपय स्थलों पर ऐसे उल्लेख हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वेद का अध्ययन-अध्यापन भी स्त्रियों का कार्यक्षेत्र रहा है । देखिये—

"इडश्च" ३ ।३ ।२१ के महाभाष्य में लिखा है—

"उपेत्याधीयतेऽस्या उपाध्यावी उपाध्याया"

अर्थात् जिनके पास आकर कन्यायें वेद के एक भाग तथा वेदांगों का अध्ययन करें, वह उपाध्यायी या उपाध्याया कहलाती है ।

मनु ने भी उपाध्याय के लक्षण यही बताये हैं -

एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थम् उपाध्यायः स उच्यते ॥ — मनु० २ ।१४१

जो वेद के एक देश या वेदांगों को पढ़ाता है, वह उपाध्याय कहा जाता है और भी—

आचार्यादणत्वं । —अष्टाध्यायी ४ ।१ ।४९

इस सूत्र पर सिद्धान्त कौमुदी में कहा गया है—

आचार्यस्य स्त्री आचार्यानी पुंयोग इत्येव आचार्या स्वयं व्याख्यात्री ।

अर्थात् जो स्त्री वेदों का प्रवचन करने वाली हो, उसे आचार्या कहते हैं ।

आचार्य के लक्षण मनुजी ने इस प्रकार बतलाये हैं—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ - मनु० २ ।१४०

"जो शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके कल्प सहित, रहस्य सहित वेद पढ़ाता है, उसे आचार्य कहते हैं ।"

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त शर्मा ने सिद्धान्त कौमुदी का सम्पादन करते हुए इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए लिखा है—

"इति वचनेनापि स्त्रीणां वेदाध्ययनाधिकारो ध्वनितः ।"

अर्थात्—इससे स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार सूचित होता है ।

उपर्युक्त प्रमाणों को देखते हुए पाठक यह विचार करें कि "स्त्रियों को गायत्री का अधिकार नहीं" कहना कहाँ तक उचित है ?

क्या स्त्रियों को वेद का अधिकार नहीं ?

गायत्री मन्त्र का स्त्रियों को अधिकार है या नहीं ? यह कोई स्वतन्त्र प्रश्न नहीं है । अलग से कहीं ऐसा विधि-निषेध नहीं कि स्त्रियाँ गायत्री जपें या न जपें । यह प्रश्न इसलिये उठता है—यह कहा जाता है कि स्त्रियों को वेद का अधिकार नहीं है । चूँकि गायत्री भी वेद मन्त्र है, इसलिये अन्य मन्त्रों की भाँति उसके उच्चारण का भी अधिकार नहीं होना चाहिये ।

स्त्रियों को वेदाधिकारी न होने का निषेध वेदों में नहीं है । वेदों में तो ऐसे कितने ही मन्त्र हैं, जो स्त्रियों द्वारा उच्चारण होते हैं । उन मन्त्रों में स्त्री-लिंग की क्रियायें हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों द्वारा ही प्रयोग होने के लिये हैं । देखिये—

"उदसौ सूर्यो अगाद् उदयं मामको भग: ।
अहं तद्विद् वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहि ।
अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी,
ममेदनु क्रतुं पति: सेहानाया उपाचरेत् ।।"
"मम पुत्रा: शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तम: ।।" —ऋग्वेद १० ।१५९ ।१-३

अर्थात्- सूर्योदय के साथ मेरा सौभाग्य बढ़े । मैं पतिदेव को प्राप्त करूँ । विरोधियों को पराजित करने वाली और सहनशील बनूँ । मैं वेद से तेजस्विनी प्रभावशाली वक्ता बनूँ । पतिदेव मेरी इच्छा, ज्ञान व कर्म के अनुकूल कार्य करें । मेरे पुत्र भीतरी व बाहरी शत्रुओं को नष्ट करें । मेरी पुत्री अपने सद्गुणों के कारण प्रकाशवती हो । मैं अपने कार्यों से पतिदेव के उज्ज्वल यश को बढ़ाऊँ ।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुत: ।। —यजुर्वेद ३ ।६०

अर्थात् हम कुमारियाँ उत्तम पतियों को प्राप्त कराने वाले परमात्मा का स्मरण करती हुई यज्ञ करती हैं, जो हमें इस पितृकुल से छुड़ा दे, किन्तु पति कुल से कभी वियोग न कराये ।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सन्नह्यस्वामृतायकम् ।। —अथर्व० १४ ।१ ।४२

वधू कहती है कि मैं यज्ञादि शुभ अनुष्ठानों के लिये शुभ वस्त्र पहनती हूँ । सौभाग्य, आनन्द, धन तथा सन्तान की कामना करती हुई मैं सदा प्रसन्न रहूँगी ।

वेदोऽसि वित्तिरसि वेदसे त्वा वेदो मे विन्द विदेय ।
घृतवन्तं कुलायिनं रायस्पोषं सहस्रिणम् ।
वेदो वाजं ददातु मे वेदो वीरं ददातु मे । —काठक संहिता ५/४/२३-२४

आप वेद हैं, सब श्रेष्ठ गुणों और ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने वाले ज्ञान-लाभ के लिये आपको भली प्रकार प्राप्त करूँ । वेद मुझे तेजस्वी, कुल को उत्तम बनाने वाला, ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला ज्ञान दें । वेद मुझे वीर-श्रेष्ठ सन्तान दें ।

विवाह के समय वर-वधू दोनों सम्मिलित रूप से मन्त्र उच्चारण करते हैं—

समञ्जन्तु विश्वे देवा: समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ ।। - ऋग्वेद १० ।८५ ।४७

अर्थात् सब विद्वान् लोग यह जान लें कि हम दोनों के हृदय जल की तरह परस्पर प्रेमपूर्वक मिले रहेंगे । विश्व नियन्ता परमात्मा तथा विदुषी देवियाँ हम दोनों के प्रेम को स्थिर बनाने में सहायता करें ।

स्त्री के मुख से वेद मन्त्रों के उच्चारण के लिये असंख्यों प्रमाण भरे पड़े हैं। शतपथ ब्राह्मण १४ ।१ ।४ ।१६ में यजुर्वेद के ३७ ।२० मन्त्र **"त्वष्टमन्तस्त्वा सपेम"** इस मन्त्र को पत्नी द्वारा उच्चारण करने का विधान है।

शतपथ के १ ।९ ।२ ।२३ में स्त्रियों द्वारा यजुर्वेद के २/२१ मन्त्रों के उच्चारण का आदेश है।

तैत्तिरीय संहिता के १ ।१ ।१० **'सुप्रजसस्त्वा वयं'** आदि मन्त्रों को स्त्री द्वारा बुलवाने का आदेश है।

आश्वलायन गृह्य सूत्र १ ।१ ।९ के **'पाणिग्रहणादि गृह्यं.......'** में भी इसी प्रकार यजमान की अनुपस्थिति में उसकी पत्नी, पुत्र अथवा कन्या को यज्ञ करने का आदेश है।

काठक गृह्य सूत्र ३ ।१ ।३० एवं २७ ।३ में स्त्रियों के लिये वेदाध्ययन, मन्त्रोच्चारण एवं वैदिक कर्मकाण्ड करने का प्रतिपादन है। लौगाक्षि गृह्य सूत्र की २५ वीं कण्डिका में भी ऐसे प्रमाण मौजूद हैं।

पारस्कर गृह्य सूत्र, १ ।५ ।१, २ के अनुसार विवाह के समय कन्या लाजाहोम के मन्त्रों को स्वयं पढ़ती हैं। सूर्य दर्शन के समय भी वह यजुर्वेद के ३६ ।२४ मन्त्र, **'तच्चक्षुर्देवहितं'** को स्वयं ही उच्चारण करती है। विवाह के समय 'समञ्जन' करते समय वर-वधू दोनों साथ-साथ **'अथैनौ समञ्जयत:............'** इस ऋग्वेद १० ।८५ ।४७ के मन्त्र को पढ़ते हैं।

तांड्य ब्राह्मण ५ ।६ ।८ में युद्ध में स्त्रियों को वीणा लेकर सामवेद के मन्त्रों का गान करने का आदेश है तथा ५ ।६ ।१५ में स्त्रियों के कलश उठाकर वेद-मन्त्रों का गान करते हुए परिक्रमा करने का विधान है।

ऐतरेय ५ ।५ ।२९ में कुमारी गन्धर्व गृहीता का उपाख्यान है, जिसमें कन्या के यज्ञ एवं वेदाधिकार का स्पष्टीकरण हुआ है।

कात्यायन श्रौतसूत्र १ ।१ ।७ ; ४ ।१ ।२२ तथा २० ।६ ।१२ आदि में ऐसे स्पष्ट आदेश हैं कि अमुक वेद मन्त्रों का उच्चारण स्त्री करे।

लाट्यायन श्रौत सूत्र में पत्नी द्वारा सस्वर सामवेद के मन्त्रों के गायन का विधान है। शांखायन श्रौत सूत्र के १ ।१२ ।१३ में तथा आश्वलायन श्रौत सूत्र १ ।११ ।१ में इसी प्रकार के वेद मन्त्रोच्चारण के आदेश हैं। मन्त्र ब्राह्मण के १ ।२ ।३ में कन्या द्वारा वेद मन्त्र के उच्चारण की आज्ञा है।

नीचे कुछ मन्त्रों में वधू को वेद परायण होने के लिये कितना अच्छा आदेश दिया है—

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वत: ।
अनाव्याधां देव पुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके विराज ॥ —अथर्व० १४ ।१ ।६४

हे वधू ! तुम्हारे आगे, पीछे, मध्य तथा अन्त में सर्वत्र वेद विषयक ज्ञान रहे। वेद ज्ञान को प्राप्त करके तदनुसार तुम अपना जीवन बनाओ। मंगलमयी, सुखदायिनी एवं स्वस्थ होकर पति के घर में विराजमान और अपने सद्गुणों से प्रकाशवान् हो।

कुलायिनी घृतवती पुरन्धि: स्योने सीद सदने पृथिव्या: ।
अभित्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ।
ब्रह्म पीपिहि सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिहत्वा । —यजुर्वेद १४ ।२

हे स्त्री ! तुम कुलवती घृत आदि पौष्टिक पदार्थों का उचित उपयोग करने वाली, तेजस्विनी, बुद्धिमती, सत्कर्म करने वाली होकर सुखपूर्वक रहो। तुम ऐसी गुणवती और विदुषी बनो कि रुद्र और वसु भी तेरी प्रशंसा करें। सौभाग्य की प्राप्ति के लिये इन वेद मन्त्रों के अमृत का बार-बार भली प्रकार पान करो। विद्वान् तुम्हें शिक्षा देकर इस प्रकार की उच्च स्थिति पर प्रतिष्ठित कराएँ।

यह सर्वविदित है कि यज्ञ बिना वेद मन्त्रों के नहीं होता और यज्ञ में पति-पत्नी दोनों का सम्मिलित रहन आवश्यक है। रामचन्द्र जी ने सीता जी की अनुपस्थिति में सोने की प्रतिमा रखकर यज्ञ किया था। ब्रह्माजी को भी सावित्री की अनुपस्थिति में द्वितीय पत्नी का वरण करना पड़ा था, क्योंकि यज्ञ की पूर्ति के लिये पत्नी की उपस्थिति आवश्यकीय है। जब स्त्री यज्ञ करती है, तो उसे वेदाधिकार न होने की बात किस प्रकार कही जा सकती है ? देखिये—

अ यज्ञो वा एष योऽपत्नीकः । —तैत्तिरीय सं० २ ।२ ।२ ।६

अर्थात्—बिना पत्नी के यज्ञ नहीं होता है ।

अथो अर्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नी । —तैत्तिरीय सं० ३ ।३ ।३ ।५

अर्थात्—पत्नी पति की अर्धांगिनी है, अतः उसके बिना यज्ञ अपूर्ण है—

या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः ।
देवासो नित्ययोऽऽशिरा । —ऋग्वेद ८ ।३१ ।५

हे विद्वानो ! जो पति-पत्नी एक मन होकर यज्ञ करते हैं और ईश्वर की उपासना करते हैं ।

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो..........
गव्यन्ता द्वाजना स्व१र्यन्ता समूहसि । ...., —ऋग्वेद १ ।१३१ ।३

हे परमात्मन् ! आपके निमित्त यजमान, पत्नी समेत यज्ञ करते हैं । आप उन लोगों को स्वर्ग की प्राप्ति कराते हैं । अतएव वे मिलकर यज्ञ करते हैं ।

अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सन्ध्योपासनमेव च ।
कार्यं पत्न्या प्रतिदिनं बलिकर्म च नैत्यिकम् ।। —स्मृति रत्न

पत्नी प्रतिदिन अग्निहोत्र, सन्ध्योपासना, बलि वैश्व आदि नित्य कर्म करे ।यदि पुरुष न हो, तो अकेली स्त्री को भी यज्ञ का अधिकार है । देखिये—

होमे कर्तारः स्वयंत्वस्यासम्भवे पत्न्यादयः । — गदाधराचार्य

होम करने में पहले स्वयं यजमान का स्थान है । वह न हो तो पत्नी, पुत्र आदि करें ।

पत्नी कुमारः पुत्री च शिष्यो वाऽपि यथाक्रमम् ।
पूर्वपूर्वस्य चाभावे विदध्यादुत्तरोत्तरः ।। —प्रयोग रत्न स्मृति
यजमानः प्रधानःस्यात् पत्नी पुत्रश्च कन्यका ।
ऋत्विक् शिष्यो गुरुर्भ्राता भागिनेयः सुतापतिः ।। —स्मृत्यर्थसार

उपर्युक्त दोनों श्लोकों का भावार्थ यह है कि यजमान हवन के समय किसी कारण से उपस्थित न हो सके, तो उसकी पत्नी, पुत्र, कन्या, शिष्य, गुरु, भाई आदि कर लें ।

आहुरप्युत्तमस्त्रीणाम् अधिकारं तु वैदिके ।
यथोर्वशी यमी चैव शच्याद्याश्च तथाऽपराः ।। —व्योम संहिता

श्रेष्ठ स्त्रियों को वेद का अध्ययन तथा वैदिक कर्मकाण्ड करने का वैसे ही अधिकार है, जैसे कि उर्वशी, यमी, शची आदि ऋषिकाओं को प्राप्त था ।

अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सन्ध्योपासनमेव च । — स्मृतिरत्न (कुल्लूक भट्ट)

इस श्लोक में यज्ञोपवीत एवं सन्ध्योपासना का प्रत्यक्ष विधान है ।

या स्त्री भर्त्रा वियुक्तापि स्वाचारैः संयुता शुभा ।
सा च मन्त्रान् प्रगृह्णातु सभर्त्री तदनुज्ञया ।। —भविष्य पुराण उत्तर पर्व ४ ।१३ ।६३

उत्तम आचरण वाली विधवा स्त्री वेद-मन्त्रों को ग्रहण करे और सधवा स्त्री अपने पति की अनुमति से मन्त्रों को ग्रहण करे ।

यथाधिकारः श्रौतेषु योषितां कर्मसु श्रुतः ।
एवमेवानुमन्यस्व ब्रह्मणि ब्रह्मवादिनाम् ।। — यमस्मृति

जिस प्रकार स्त्रियों को वेद के कर्मों में अधिकार है, वैसे ही ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का भी अधिकार है ।

कात्यायनी च मैत्रेयी गार्गी वाचक्नवी तथा।
एवमाद्या विदुर्ब्रह्म तस्मात् स्त्री ब्रह्मविद् भवेत्॥ —अस्य वामीय भाष्यम्

जैसे कात्यायनी, मैत्रेयी, वाचक्नवी, गार्गी आदि ब्रह्म (वेद और ईश्वर) को जानने वाली थीं, वैसे ही सब स्त्रियों को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

वाल्मीकि रामायण में कौशल्या, कैकेयी, सीता, तारा आदि नारियों द्वारा वेदमन्त्रों का उच्चारण, अग्निहोत्र, सन्ध्योपासन का वर्णन आता है।

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी॥ —वा० रा० ५।१४।४९

सायंकाल के समय सीता उत्तम जल वाली नदी के तट पर सन्ध्या करने अवश्य आयेगी।

वैदेही शोकसंतप्ता हुताशनमुपागमत्। —वाल्मीकि सुन्दर.५३।२६

अर्थात्—तब शोक सन्तप्त सीताजी ने हवन किया।

'तदा सुमन्त्रं मंत्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह।' —वा० रा० अयो० १४।६२

वेद मन्त्रों को जानने वाली कैकेयी ने सुमन्त्र से कहा।

सा क्षौमवसना हृष्टा, नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमंगला॥ —वा० रामायण २।२०।१५

वह रेशमी वस्त्र धारण करने वाली, व्रत परायण, प्रसन्नमुखी, मंगलकारिणी कौशल्या मन्त्रपूर्वक अग्निहोत्र कर रही थी।

ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी।
अन्तःपुरं सहस्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता॥ —वा० रामायण ४।१६।१२

तब मन्त्रों को जानने वाली तारा ने अपने पति बाली की विजय के लिये स्वस्तिवाचन के मंत्रों का पाठ करके अन्तःपुर में प्रवेश किया।

गायत्री मन्त्र के अधिकार के सम्बन्ध में तो ऋषियों ने और भी स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है। नीचे के दो स्मृति प्रमाण देखिये, जिनमें स्त्रियों को गायत्री की उपासना का विधान किया गया है।

पुरा कल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा॥ —यम

प्राचीन समय में स्त्रियों को मौञ्जी बन्धन, वेदों का पढ़ाना तथा गायत्री का उपदेश इष्ट था।

मनसा भर्तुरतिचारे त्रिरात्रं यावकं क्षीरौदनं वा भुञ्जानाऽधः शयीत, ऊर्ध्वं त्रिरात्रादप्सु निमग्नायाः सावित्र्यष्टशतेन शिरोभिर्जुहुयात् पूता भवतीति विज्ञायते। —वसिष्ठ स्मृति २१।७

यदि स्त्री के मन में पति के प्रति दुर्भाव आये, तो उस पाप का प्रायश्चित्त करने के साथ १०८ मन्त्र गायत्री जपने से वह पवित्र होती है।

इतने पर भी यदि कोई यह कहे कि स्त्रियों को गायत्री का अधिकार नहीं, तो दुराग्रह या कुसंस्कार ही कहना चाहिये।

नारी पर प्रतिबन्ध और लांछन क्यों?

गायत्री उपासना का अर्थ है ईश्वर को माता मानकर उसकी गोदी में चढ़ना। संसार में जितने सम्बन्ध हैं, रिश्ते हैं, उन सबमें माता का रिश्ता अधिक प्रेमपूर्ण, अधिक घनिष्ठ है। प्रभु को जिस दृष्टि से हम देखते हैं, हमारी भावना के अनुरूप वे वैसा ही प्रत्युत्तर देते हैं। जब ईश्वर की गोदी में जीव, मातृ भावना के साथ चढ़ता है, तो निश्चय ही उधर से वात्सल्यपूर्ण उत्तर मिलता है।

स्नेह, वात्सल्य, करुणा, दया, ममता, उदारता, कोमलता आदि तत्त्व नारी में नर की अपेक्षा स्वभावत: अधिक होते हैं। ब्रह्म का अर्ध वामांग, ब्राह्मी तत्त्व अधिक कोमल, आकर्षक एवं शीघ्र द्रवीभूत होने वाला है। इसीलिये अनादिकाल से ऋषि लोग ईश्वर की मातृ भावना के साथ उपासना करते रहे हैं और उन्होंने प्रत्येक भारतीय धर्मावलम्बी को इसी सुख साध्य, सरल एवं शीघ्र सफल होने वाली साधना प्रणाली को अपनाने का आदेश दिया है। गायत्री उपासना प्रत्येक भारतीय का धार्मिक नित्य कर्म है। सन्ध्यावन्दन किसी भी पद्धति से किया जाए, उसमें गायत्री का होना आवश्यक है। विशेष लौकिक या पारलौकिक प्रयोजन के लिये विशेष रूप से गायत्री की उपासना की जाती है, पर उतना न हो सके, तो नित्य कर्म की साधना तो दैनिक कर्त्तव्य है, उसे न करने से धार्मिक क़र्त्तव्यों की उपेक्षा करने का दोष लगता है।

कन्या और पुत्र दोनों ही माता की प्राणप्रिय संतान हैं। ईश्वर के नर और नारी दोनों दुलारे हैं। कोई भी निष्पक्ष और न्यायशील माता-पिता अपने बालकों में इसलिये भेदभाव नहीं करते कि वे कन्या हैं या पुत्र हैं। ईश्वर ने धार्मिक कर्त्तव्यों एवं आत्म-कल्याण के साधनों की नर और नारी दोनों को ही सुविधा दी है। यह समता, न्याय और निष्पक्षता की दृष्टि से उचित है, तर्क और प्रमाणों से सिद्ध है। इस सीधे-साधे तथ्य में कोई विघ्न डालना असंगत ही होगा।

मनुष्य की समझ बड़ी विचित्र है। उसमें कभी-कभी ऐसी बातें भी घुस जाती हैं, जो सर्वथा अनुचित एवं अनावश्यक होती हैं। प्राचीन काल में नारी जाति का समुचित सम्मान रहा, पर एक समय ऐसा भी आया जब स्त्री जाति को सामूहिक रूप से हेय, पतित, त्याज्य, पातकी, अनधिकारी व घृणित ठहराया। उस विचारधारा ने नारी के मनुष्योचित अधिकारों पर आक्रमण किया और पुरुष की श्रेष्ठता एवं सुविधा को पोषण करने के लिये उस पर अनेक प्रतिबन्ध लगाकर शक्तिहीन, साहसहीन, विद्याहीन बनाकर इतना लुञ्ज-पुञ्ज कर दिया है कि बेचारी को समाज के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकना तो दूर आत्म-रक्षा के लिये भी दूसरों का मोहताज होना पड़ा। आज भारतीय नारी, पालतू पशु-पक्षियों जैसी स्थिति में पहुँच गयी है। इसका कारण वह उल्टी समझ ही है, जो मध्यकाल के सामन्तशाही अहंकार के साथ उत्पन्न हुई थी। प्राचीन काल में भारतीय नारी सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समकक्ष थी। रथ के दोनों पहिये ठीक होने से समाज की गाड़ी उत्तमता से चल रही थी, पर अब एक पहिया क्षत-विक्षत हो जाने से दूसरा पहिया भी लड़खड़ा गया। अयोग्य नारी समाज का भार नर को ढोना पड़ रहा है। इस अव्यवस्था ने हमारे देश और जाति को कितनी क्षति पहुँचाई है, उसकी कल्पना करना भी कष्टसाध्य है।

मध्यकालीन अन्धकार युग की कितनी ही बुराइयों को सुधारने के लिये विवेकशील और दूरदर्शी महापुरुष प्रयत्नशील हैं यह प्रसन्नता की बात है। विज्ञ पुरुष अनुभव करने लगे हैं कि मध्यकालीन संकीर्णता की लौह-शृंखला से नारी को न खोला गया, तो हमारा राष्ट्र प्राचीन गौरव को प्राप्त नहीं कर सकता। पूर्वकाल में नारी जिस स्वस्थ स्थिति में थी, उस स्थिति में पुन: पहुँचने से हमारा आधा अंग विकसित हो सकेगा और तभी हमारा सर्वांगीण विकास हो सकेगा। इन शुभ प्रयत्नों में मध्यकालीन कुसंस्कारों की रूढ़ियों का अन्धानुकरण करने को ही धर्म समझ बैठने वाली विचारधारा अब भी रोड़े अटकाने से नहीं चूकती।

ईश्वर-भक्ति, गायत्री की उपासना तक के बारे में यह कहा जाता है कि स्त्रियों को अधिकार नहीं। इसके लिये कई पुस्तकों के श्लोक भी प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनमें यह कहा है कि स्त्रियाँ वेद-मन्त्रों को न पढ़ें, न सुनें, क्योंकि गायत्री भी वेद मन्त्र है, इसलिये स्त्रियाँ उसे न अपनाएँ। इन प्रमाणों से हमें कोई विरोध नहीं, क्योंकि एक काल भारतवर्ष में ऐसा बीता है, जब नारी को निकृष्ट कोटि के जीव की तरह समझा गया है। यूरोप में तो उस समय यह मान्यता थी कि घास-पात की तरह स्त्रियों में भी आत्मा नहीं होती। यहाँ भी उनसे मिलती-जुलती ही मान्यता ली गयी थी। कहा जाता था कि—

निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः। —मनु० ९।१८

अर्थात्—स्त्रियाँ निरिन्द्रिय (इन्द्रिय रहित), मन्त्ररहिता, असत्य स्वरूपिणी एवं घृणित हैं। स्त्री को ढोल, गँवार, शूद्र और पशु की तरह पिटने योग्य ठहराने वाले विचारकों का कथन था कि—

पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः ।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्त्तृष्वेता विकुर्वते ।। —मनु० ९/१५

अर्थात्—स्त्रियाँ स्वभावतया ही व्यभिचारिणी, चञ्चल चित्त, प्रेम-शून्य होती हैं । उनकी बड़ी होशियारी के साथ देखभाल रखनी चाहिये ।

विश्वासपात्रं न किमस्ति नारी ।
द्वारं किमेकं नरकस्य नारी ।।
विद्वान्महाविज्ञतमोऽस्ति को वा ।
नार्या पिशाच्या न च वंचितो यः ।। - शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी से

प्रश्न विश्वास करने योग्य कौन नहीं है ? उत्तर-नारी । प्रश्न-नरक का एक मात्र द्वार क्या है ? उत्तर-नारी । प्रश्न-बुद्धिमान् कौन है ? उत्तर-जो नारी रूपी पिशाचिनी से नहीं ठगा गया ।

जब स्त्रियों के सम्बन्ध में ऐसी मान्यता फैली हुई हो तो उन पर वेद-शास्त्रों से, धर्म- कर्त्तव्यों से, ज्ञान- उपार्जन से वंचित रहने का प्रतिबन्ध लगाया गया हो, तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं हैं । इस प्रकार के प्रतिबन्ध सूचक अनेक श्लोक उपलब्ध भी होते हैं ।

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा । —भागवत

अर्थात्—स्त्रियों, शूद्रों और नीच ब्राह्मणों को वेद सुनने का अधिकार नहीं ।

अमंत्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथा कालं यथाक्रमम् ।। —मनु० २ ।६६

अर्थात्—स्त्रियों के जातकर्मादि सब संस्कार बिना वेद मन्त्रों के करने चाहिये ।

नन्वेवं सति स्त्रीशूद्रसहिताः सर्वे वेदाधिकारिणः । —सायण

स्त्री और शूद्रों को वेद का अधिकार नहीं है ।

वेदेऽनधिकारात् । - शंकराचार्य

स्त्रियाँ वेद की अधिकारिणी नहीं हैं ।

अध्ययन रहितया स्त्रिया तदनुष्ठानमशक्य-
त्वात् तस्मात् पुंस एवोपस्थानादिकम् ।।

स्त्री अध्ययन रहित होने के कारण यज्ञ में मन्त्रोच्चार नहीं कर सकती, इसलिये केवल पुरुष मन्त्र पाठ करें ।

'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम् ।'

अर्थ-स्त्री और शूद्र वेद न पढ़ें ।

'न वै कन्या न युवतिः ।'

अर्थ- न कन्या पढ़े, न स्त्री पढ़े ।

इस प्रकार की स्त्रियों को धर्म, ज्ञान, ईश्वर उपासना और आत्म-कल्याण से रोकने वाले प्रतिबन्धों को कई भोले मनुष्य 'सनातन' मान लेते हैं और उनका समर्थन करने लगते हैं । ऐसे लोगों को जानना चाहिये कि प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के प्रतिबन्ध कहीं नहीं हैं, वरन् उसमें तो सर्वत्र नारी की महानता का वर्णन है और उसे भी पुरुष जैसे ही धार्मिक अधिकार प्राप्त हैं ।यह प्रतिबन्ध तो कुछ काल तक कुछ व्यक्तियों की एक सनक के प्रमाण मात्र हैं । ऐसे लोगों ने धर्मग्रन्थों में जहाँ-तहाँ अनर्गल श्लोक ठूँसकर अपनी सनक को ऋषि प्रणीत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है ।

भगवान् मनु ने नारी जाति की महानता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हुए लिखा है—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ —मनु० ९ ।२६
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥ —मनु० ९ ।२८
यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ —मनु० ३ ।५६

अर्थात्—स्त्रियाँ पूजा के योग्य हैं, महाभाग हैं, घर की दीप्ति हैं। कल्याणकारिणी हैं। धर्म कार्यों की सहायिका हैं। स्त्रियों के अधीन ही स्वर्ग है। जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं और जहाँ उनका तिरस्कार होता है, वहाँ सब क्रियायें निष्फल हो जाती हैं।

जिन मनु भगवान् की श्रद्धा नारी जाति के प्रति इतनी उच्चकोटि की थी, उन्हीं के ग्रन्थ में यत्र-तत्र स्त्रियों की भरपेट निन्दा और उनकी धार्मिक सुविधा का निषेध है। मनु जैसे महापुरुष ऐसी परस्पर विरोधी बात नहीं लिख सकते। निश्चय ही उनके ग्रन्थों में पीछे वाले लोगों ने मिलावट की है। इस मिलावट के प्रमाण भी मिलते हैं। देखिये—

मान्या कापि मनुस्मृतिस्तदुचिता व्याख्यापि मेधातिथेः ।
सा लुप्तैव विधेर्वशात्क्वचिदपि प्राप्यं न तत्पुस्तकम् ॥
क्षोणीन्द्रो मदनः सहारणसुतो देशान्तरादाहृतैः ।
जीर्णोद्धारमचीकरत् तत इतस्तत्पुस्तकैर्लिख्यते ॥

—मेधातिथिरचित मनुभाष्य सहित मनुस्मृतेरुपोद्घातः

अर्थात्—प्राचीन काल में कोई प्रामाणिक मनुस्मृति थी और उसकी मेधातिथि ने उचित व्याख्या की थी। दुर्भाग्यवश वह पुस्तक लुप्त हो गयी, तब राजा मदन ने इधर-उधर की पुस्तकों से उसका जीर्णोद्धार कराया।

केवल मनुस्मृति तक यह घोटाला सम्मिलित नहीं है, वरन् अन्य ग्रन्थों में भी ऐसी ही मिलावटें की गयी हैं और अपनी मनमानी को शास्त्र विरुद्ध होते हुए भी "शास्त्र-वचन" सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

दैत्याः सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा, कृते युगे भारते षट्सहस्त्र्याम्। निष्कास्य कांश्चिन्नवनिर्मितानां निवेशनं तत्र कुर्वन्ति नित्यम् ॥ —गरुड पुराण/उ० खं०/ब्रह्म० का० १ ।६९

"राक्षस लोग कलियुग में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर महाभारत के छः हजार श्लोकों में से अनेक श्लोकों को निकाल देंगे और उनके स्थान पर नये कृत्रिम श्लोक गढ़कर प्रक्षेप कर देंगे।" यही बात माधवाचार्य ने इस प्रकार कही है—

क्वचिद् ग्रन्थान् प्रक्षिपन्तिक्वचिदन्तरितानपि ।
कुर्युः क्वचिच्च व्यत्यासं प्रमादात् क्वचिदन्यथा ॥
अनुत्पन्नाः अपि ग्रन्था व्याकुला इति सर्वशः ।

"स्वार्थी लोग कहीं ग्रन्थों के वचनों को प्रक्षिप्त कर देते हैं, कहीं निकाल देते हैं, कहीं जान-बूझकर, कहीं प्रमाद से उन्हें बदल देते हैं, इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थ बड़े अस्त-व्यस्त हो गये हैं।"

जिन दिनों यह मिलावट की जा रही थी, उन दिनों भी विचारवान् विद्वानों ने इस गड़बड़ी का डटकर विरोध किया था, महर्षि हारीत ने इन स्त्री-द्वेषी ऊल-ज़लूल उक्तियों का घोर विरोध करते हुए कहा था—

न शूद्रसमाः स्त्रियः ।नहि शूद्र योनौ ब्राह्मणक्षत्रिय -
वैश्या जायन्ते तस्माच्छन्दसा स्त्रियः संस्कार्याः ॥ —हारीत

"स्त्रियाँ शूद्रों के समान नहीं हो सकतीं। शूद्र-योनि से भला ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है? इसलिए स्त्रियों को वेद द्वारा संस्कृत (संस्कार) करना चाहिये।"

नर और नारी एक ही रथ के दो पहिये हैं, एक ही शरीर की दो भुजायें हैं, एक ही मुख के दो नेत्र हैं। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। दोनों अर्धांगों के मिलन से एक पूर्ण अंग बनता है। मानव प्राणी के अविच्छिन्न दो भागों में इस प्रकार की असमानता, द्विधा, नीच-ऊँच की भावना पैदा करना भारतीय परम्परा के सर्वथा विपरीत है। भारतीय धर्म में सदा नर-नारी को एक और अविच्छिन्न अंग माना है—

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा। —मनु० ९।१३०

"आत्मा के समान ही सन्तान है। जैसा पुत्र वैसी ही कन्या, दोनों समान हैं।"

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्त्ता सा स्मृतांगना॥ —मनु० ९।४५

"पुरुष अकेला नहीं होता, किन्तु स्वयं पत्नी और सन्तान मिलकर पुरुष बनता है।"

अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नी।

अर्थात्—पत्नी पुरुष का आधा अंग है।

ऐसी दशा में यह उचित नहीं कि नारी को प्रभु की वाणी वेदज्ञान से वंचित रखा जाए। अन्य मन्त्रों की तरह गायत्री का भी उसे पूरा अधिकार है। ईश्वर की हम नारी के रूप में, गायत्री के रूप में उपासना करें और फिर नारी जाति को ही घृणित, पतित, अस्पृश्या, अनधिकारिणी ठहराएँ, यह कहाँ तक उचित है—इस पर हमें स्वयं ही विचार करना चाहिये।

स्त्रियों को वेदाधिकार से वंचित रखने तथा उन्हें उसकी अनधिकारिणी मानने से उसके सम्बन्ध में स्वभावतः एक प्रकार की हीनभावना पैदा हो जाती है, जिसका दूरवर्ती घातक परिणाम हमारे सामाजिक तथा राष्ट्रीय विकास पर पड़ता है। यों तो वर्तमान समय में अधिकांश पुरुष भी वेदों से अपरिचित हैं और उनके सम्बन्ध में ऊटपटांग बातें करते रहते हैं, पर किसी समुदाय को सिद्धान्त रूप से अनधिकारी घोषित कर देने पर परिणाम हानिकारक ही निकलता है। इसलिये वितण्डावादियों के कथनों का ख्याल न करके हमको स्त्रियों के प्रति किये गये अन्याय का अवश्य ही निराकरण करना चाहिये।

वेद-ज्ञान सबके लिये है—नर-नारी सभी के लिये है। ईश्वर अपनी सन्तान को जो संदेश देता है, उसे सुनने पर प्रतिबन्ध लगाना, ईश्वर के प्रति द्रोह करना है। वेद भगवान् स्वयं कहते हैं—

समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ —ऋग्वेद १०।१९१।३

अर्थात्—हे समस्त नारियो! तुम्हारे लिये ये मन्त्र समान रूप से दिये गये हैं तथा तुम्हारा परस्पर विचार भी समान रूप से हो। तुम्हारी सभायें सबके लिये समान रूप से खुली हुई हों, तुम्हारा मन और चित्त समान मिला हुआ हो, मैं तुम्हें समान रूप से मन्त्रों का उपदेश करता हूँ और समान रूप से ग्रहण करने योग्य पदार्थ देता हूँ।

मालवीयजी द्वारा निर्णय

स्त्रियों को वेद-मन्त्रों का अधिकार है या नहीं? इस प्रश्न को लेकर काशी के पण्डितों में पर्याप्त विवाद हो चुका है। हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में कुमारी कल्याणी नामक छात्रा वेद कक्षा में प्रविष्ट होना चाहती थी, पर प्रचलित मान्यता के आधार पर विश्वविद्यालय ने उसे दाखिल करने से इन्कार कर दिया। अधिकारियों का कथन था कि शास्त्रों में स्त्रियों को वेद-मन्त्रों का अधिकार नहीं दिया गया है।

इस विषय को लेकर पत्र-पत्रिकाओं में बहुत दिन विवाद चला। वेदाधिकार के समर्थन में "सार्वदेशिक" पत्र ने कई लेख छापे और विरोध में काशी के "सिद्धान्त" पत्र में कई लेख प्रकाशित हुए। आर्य समाज की ओर से एक डेपूटेशन हिन्दू विश्व-विद्यालय के अधिकारियों से मिला। देश भर में इस प्रश्न को लेकर काफी चर्चा हुई।

अन्त में विश्वविद्यालय ने महामना मदनमोहन मालवीय की अध्यक्षता में इस प्रश्न पर विचार करने के लिये

एक कमेटी नियुक्त की, जिसमें अनेक धार्मिक विद्वान् सम्मिलित किये गये । कमेटी ने इस सम्बन्ध में शास्त्रों का गम्भीर विवेचन करके यह निष्कर्ष निकाला कि स्त्रियों को भी पुरुषों की भाँति वेदाधिकार है । इस निर्णय की घोषणा २२ अगस्त सन् १९४६ को सनातन धर्म के प्राण समझे जाने वाले महामना मालवीय जी ने की । तदनुसार कुमारी कल्याणी देवी को हिन्दू विश्व-विद्यालय की वेद कक्षा में दाखिल कर लिया गया और शास्त्रीय आधार पर निर्णय किया कि—विद्यालय में स्त्रियों के वेदाध्ययन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहेगा । स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति वेद पढ़ सकेंगी ।

महामना मालवीय जी तथा उनके सहयोगी अन्य विद्वानों पर कोई सनातन धर्म विरोधी होने का सन्देह नहीं कर सकता । सनातन धर्म में उनकी आस्था प्रसिद्ध है । ऐसे लोगों द्वारा इस प्रश्न को सुलझा दिये जाने पर भी जो लोग गड़े मुर्दे उखाड़ते हैं और कहते हैं कि स्त्रियों को गायत्री का अधिकार नहीं है, उनकी बुद्धि के लिए क्या कहा जाय ? समझ में नहीं आता ।

पं॰ मदनमोहन मालवीय सनातन धर्म के प्राण थे । उनकी शास्त्रज्ञता, विद्वत्ता, दूरदर्शिता एवं धार्मिक दृढ़ता असन्दिग्ध थी । ऐसे महापण्डित ने अन्य अनेकों प्रामाणिक विद्वानों के परामर्श से स्वीकार किया है, उस निर्णय पर भी जो लोग संदेह करते हैं, उनकी हठधर्मी को दूर करना स्वयं ब्रह्माजी के लिये भी कठिन है ।

खेद है कि ऐसे लोग समय की गति को भी नहीं देखते, हिन्दू समाज की गिरती हुई संख्या और शक्ति पर भी ध्यान नहीं देते, केवल दस-बीस कल्पित या मिलावटी श्लोकों को लेकर देश तथा समाज का अहित करने पर उतारू हो जाते हैं । प्राचीन काल की अनेक विदुषी स्त्रियों के नाम अभी तक संसार में प्रसिद्ध हैं, वेदों में बीसियों स्त्री-ऋषिकाओं का उल्लेख मन्त्र रचयिता के रूप में लिखा मिलता है, पर ऐसे लोग उधर दृष्टिपात न करके मध्यकाल के ऋषियों के नाम पर स्वार्थी लोगों द्वारा लिखी पुस्तकों के आधार पर समाज सुधार के पुनीत कार्य में व्यर्थ ही टाँग अड़ाया करते हैं । ऐसे व्यक्तियों की उपेक्षा करके वर्तमान युग के ऋषि मालवीय जी की सम्मति का अनुसरण करना ही समाज-सेवकों का कर्तव्य है ।

स्त्रियाँ अनधिकारिणी नहीं हैं

पिछले पृष्ठों पर शास्त्रों के आधार पर जो प्रमाण उपस्थित किये गये हैं, पाठक उनमें से हर एक पर विचार करें । हर विचारवान् को यह सहज ही प्रतीत हो जायेगा कि वेद-शास्त्रों में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है जो धार्मिक कार्यों के लिये, सद्ज्ञान उपार्जन के लिये वेद-शास्त्रों का श्रवण-मनन करने के लिये रोकता हो । हिन्दू धर्म वैज्ञानिक धर्म है, विश्व धर्म है । इसमें ऐसी विचारधारा के लिये कोई स्थान नहीं है, जो स्त्रियों को धर्म, ईश्वर, वेद, विद्या आदि के उत्तम मार्ग से रोककर उन्हें अवनत अवस्था में पड़ी रहने के लिये विवश करे । प्राणीमात्र पर अनन्त दया एवं करुणा रखने वाले ऋषि-मुनि ऐसे निष्ठुर नहीं हो सकते, जो ईश्वरीय ज्ञान वेद से स्त्रियों को वंचित रखकर उन्हें आत्म-कल्याण के मार्ग पर चलने से रोकें । हिंन्दू धर्म अत्यधिक उदार है, विशेषत: स्त्रियों के लिये तो उसमें बहुत ही आदर, श्रद्धा एवं उच्च स्थान है । ऐसी दशा में यह कैसे हो सकता है कि गायत्री-उपासना जैसे उत्तम कार्य के लिये उन्हें अयोग्य घोषित किया जाए ?

जहाँ तक दस-पाँच ऐसे भी श्लोक मिलते हैं, जो स्त्रियों को वेद-शास्त्र पढ़ने से रोकते हैं । पण्डित समाज में उन पर विशेष ध्यान दिया गया है । प्रारम्भ में बहुत समय तक हमारी भी ऐसी ही मान्यता रही कि स्त्रियाँ वेद न पढ़ें । परन्तु जैसे-जैसे शास्त्रीय खोज में अधिक गहरा प्रवेश करने का अवसर मिला, वैसे-वैसे पता चला कि प्रतिबन्धित श्लोक 'मध्यकालीन' सामन्तवादी मान्यता के प्रतिनिधि हैं । उसी समय में इस प्रकार के श्लोक बनाकर ग्रन्थों में मिला दिये गये हैं । सत्य सनातन वेदोक्त भारतीय धर्म की वास्तविक विचारधारा स्त्रियों पर कोई बन्धन नहीं लगाती । उसमें पुरुषों की भाँति ही स्त्रियों को भी ईश्वर-उपासना एवं वेदशास्त्रों का आश्रय लेकर आत्म-लाभ करने की पूरी-पूरी सुविधा है ।

प्रतिष्ठित गणमान्य विद्वानों की भी ऐसी ही सम्मति है । साधना और योग की प्राचीन परम्पराओं को जानकर

महात्माओं का कथन भी यही है कि स्त्रियाँ सदा से ही गायत्री की अधिकारिणी रही हैं। स्वर्गीय मालवीय जी सनातन धर्म के प्राण थे, पहले उनके हिन्दू-विश्वविद्यालय में स्त्रियों को वेद पढ़ने की रोक थी, पर जब उन्होंने विशेष रूप से पण्डित मण्डली के सहयोग से इस सम्बन्ध में स्वयं खोज की, तो वे भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि शास्त्रों में स्त्रियों के लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उन्होंने रूढ़िवादी लोगों के विरोध की रत्तीभर भी परवाह न करते हुए हिन्दू विश्व-विद्यालय में स्त्रियों को वेद पढ़ने की खुली व्यवस्था कर दी।

अब भी कई महानुभाव यह कहते रहते हैं कि—"स्त्रियों को वेद या गायत्री का अधिकार नहीं है।" ऐसे लोगों की आँखें खोलने के लिये असंख्य प्रमाणों में से ऐसे कुछ थोड़े से प्रमाण इस पुस्तक में प्रस्तुत किये गये हैं। सम्भव है जानकारी के अभाव में किसी को विरोध रहा हो। दुराग्रह से कभी किसी विवाद का अन्त नहीं होता। अपनी ही बात को सिद्ध करने के लिये हठ ठानना अशोभनीय है। विवेकवान् व्यक्तियों का सदा यह सिद्धान्त रहता है कि 'जो सत्य सो हमारा।' अविवेकी मनुष्य 'जो हमारा सो सत्य' सिद्ध करने के लिये वितण्डा खड़ा करते हैं।

विचारवान् व्यक्तियों को अपने आप से एकान्त में बैठकर यह प्रश्न करना चाहिये—(१) यदि स्त्रियों को गायत्री या वेद-मन्त्रों का अधिकार नहीं, तो प्राचीनकाल में स्त्रियाँ वेदों की मन्त्र द्रष्ट्री—ऋषिकायें क्यों हुई ? (२) यदि वेद की वे अधिकारिणी नहीं, तो यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों तथा षोडश संस्कारों में उन्हें सम्मिलित क्यों किया जाता है ? (३) विवाह आदि अवसरों पर स्त्रियों के मुख से वेद-मन्त्रों का उच्चारण क्यों कराया जाता है ?(४) बिना वेद-मन्त्रों के नित्य सन्ध्या और हवन स्त्रियाँ कैसे कर सकती हैं ? (५) यदि स्त्रियाँ अनधिकारिणी थीं, तो अनसूया, अहल्या, अरुन्धती, मदालसा आदि अगणित स्त्रियाँ वेद शास्त्रों में पारंगत कैसे थीं ? (६) ज्ञान, धर्म और उपासना के स्वाभाविक अधिकारों से नागरिकों को वंचित करना क्या अन्याय एवं पक्षपात नहीं है ? (७) क्या नारी को आध्यात्मिक दृष्टि से अयोग्य ठहराकर उनसे उत्पन्न होने वाली संतान धार्मिक हो सकती है ? (८) जब स्त्री पुरुष की अर्धांगिनी है, तो आधा अंग अधिकारी और आधा अनधिकारी किस प्रकार रहा ?

इन प्रश्नों पर विचार करने से हर एक निष्पक्ष व्यक्ति की अन्तरात्मा यही उत्तर देगी कि स्त्रियों पर धार्मिक अयोग्यता का प्रतिबन्ध लगाना किसी प्रकार न्याय संगत नहीं हो सकता। उन्हें भी गायत्री आदि मन्त्रों का पुरुषों की भाँति ही अधिकार होना चाहिये। हम स्वयं भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। हमारा ऐसी पचासों स्त्रियों से परिचय है, जिनने श्रद्धापूर्वक वेदमाता गायत्री की उपासना की है और पुरुषों के ही समान संतोषजनक परिणाम प्राप्त किये हैं। कई बार तो उन्हें पुरुषों से भी अधिक एवं शीघ्र सफलतायें मिलीं। कन्यायें उत्तम घर-वर प्राप्त करने में, सधवायें पति का सुख-सौभाग्य एवं सुसंन्तति के सम्बन्ध में और विधवायें संयम तथा धन उपार्जन में आशाजनक सफल हुई हैं।

आत्मा न स्त्री है, न पुरुष। वह विशुद्ध ब्रह्म ज्योति की चिनगारी है। आत्मिक प्रकाश प्राप्त करने के लिये जैसे पुरुष को किसी गुरु या पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है, वैसे ही स्त्री को भी होती है। तात्पर्य यह है कि साधना क्षेत्र में पुरुष-स्त्री का भेद नहीं। साधक 'आत्मा' है, उन्हें अपने को पुरुष-स्त्री न समझ कर आत्मा समझना चाहिये। साधना क्षेत्र में सभी आत्मायें समान हैं। लिंग भेद के कारण कोई अयोग्यता उन पर नहीं थोपी जानी चाहिये।

पुरुष की अपेक्षा स्त्री में धार्मिक तत्त्वों की मात्रा अधिक होती है। पुरुषों पर बुरे वातावरण एवं व्यवहार की छाया अधिक पड़ती है, जिससे बुराइयाँ अधिक हो जाती हैं। आर्थिक संघर्ष में रहने के कारण चोरी, बेईमानी आदि के अवसर भी उसके सामने आते रहते हैं, पर स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र बड़ा सरल, सीधा और सात्त्विक है। घर में जो कार्य करना पड़ता है, उसमें सेवा की मात्रा अधिक रहती है। वे आत्म-निग्रह करती हैं, कष्ट सहती हैं, पर बच्चों के प्रति, पतिदेव के प्रति, सास-ससुर, देवर-जेठ आदि सभी के प्रति अपने व्यवहार को सौम्य, सहृदय, सेवापूर्ण, उदार, शिष्ट एवं सहिष्णु रखती हैं। उनकी दिनचर्या सतोगुणी होती है, जिसके कारण उनकी अन्तरात्मा पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक पवित्र रहती है। चोरी, हत्या, ठगी, धूर्तता, शोषण, निष्ठुरता, व्यसन, अहंकार,

असंयम, असत्य आदि दुर्गुण पुरुष में ही प्रधानतया पाये जाते हैं, स्त्रियों में इस प्रकार के पाप बहुत कम देखने को मिलते हैं । यों तो फैशनपरस्ती, अशिष्टता, कर्कशता, श्रम से जी चुराना आदि छोटी-छोटी बुराइयाँ अब स्त्रियों में बढ़ने लगी हैं, परन्तु पुरुषों की तुलना में स्त्रियाँ निस्संदेह अनेक गुनी अधिक सद्‌गुणी हैं, उनकी बुराइयाँ अपेक्षाकृत बहुत ही सीमित हैं ।

ऐसी स्थिति में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में धार्मिक प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक ही है, उनकी मनोभूमि में धर्म का बीजांकुर अधिक जल्दी जमता और फलता-फूलता है । अवकाश रहने के कारण वे घर में पूजा-आराधना की नियमित व्यवस्था भी कर सकती हैं । अपने बच्चों पर धार्मिक संस्कार अधिक अच्छी तरह से डाल सकती हैं । इन सब बातों को देखते हुए महिलाओं को धार्मिक साधना के लिये उत्साहित करने की आवश्यकता है । इसके विपरीत उन्हें नीच, अनधिकारिणी, शूद्रा आदि कहकर उनके मार्ग में रोड़े खड़े करना, निरुत्साहित करना किस प्रकार उचित है, यह समझ में नहीं आता ।

महिलाओं के वेद-शास्त्र अपनाने एवं गायत्री-साधना करने के असंख्य प्रमाण धर्म-ग्रन्थों में भरे पड़े हैं, उनकी ओर से आँखें बन्द करके किन्हीं दो-चार प्रक्षिप्त श्लोकों को लेकर बैठना और उन्हीं के आधार पर स्त्रियों को अनधिकारिणी ठहराना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है । धर्म की ओर एक तो वैसे ही किसी की प्रवृत्ति नहीं है, फिर किसी को उत्साह, सुविधा हो, तो उसे अनधिकारी घोषित करके ज्ञान और उपासना का रास्ता बन्द कर देना कोई विवेकशीलता नहीं है ।

हमने भली प्रकार खोज, विचार, मनन और अन्वेषण करके यह पूरी तरह विश्वास कर लिया है कि स्त्रियों को पुरुषों की भाँति ही गायत्री का अधिकार है । वे भी पुरुषों की भाँति ही माता की गोदी में चढ़ने की, उसका आँचल पकड़ने की, उसका पयःपान करने की पूर्ण अधिकारिणी हैं । उन्हें सब प्रकार का संकोच छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक गायत्री की उपासना करनी चाहिये । इससे उनके भव-बन्धन कटेंगे, जन्म-मरण की फाँसी से छूटेंगी, जीवनमुक्ति और स्वर्गीय शान्ति की अधिकारिणी बनेंगी । साथ ही अपने पुण्य- प्रताप से अपने परिजनों के स्वास्थ्य, सौभाग्य, वैभव एवं सुख- शान्ति की दिन-दिन वृद्धि करने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दे सकेंगी । गायत्री को अपनाने वाली देवियाँ सच्चे अर्थों में देवी बनती हैं, उनके दिव्य गुणों का प्रकाश होता है, तदनुसार वे सर्वत्र उसी आदर को प्राप्त करती हैं, जो उनका ईश्वर प्रदत्त जन्मजात अधिकार है ।

गायत्री का शाप विमोचन और उत्कीलन का रहस्य

गायत्री मन्त्र की महिमा गाते हुए शास्त्र और ऋषि-महर्षि थकते नहीं । इसकी प्रशंसा तथा महत्ता के संबंध में जितना कहा गया है उतना शायद ही और किसी की प्रशंसा में कहा गया हो । प्राचीनकाल में बड़े-बड़े तपस्वियों ने प्रधान रूप से गायत्री की ही तपश्चर्यायें करके अभीष्ट सिद्धियाँ प्राप्त की थीं । शाप और वरदान के लिये वे विविध विधियों से गायत्री का ही प्रयोग करते थे ।

प्राचीनकाल में गायत्री गुरु-मन्त्र था । आज भी गायत्री मन्त्र प्रसिद्ध है । अधिकांश मनुष्य उसे जानते हैं । अनेक मनुष्य किसी न किसी प्रकार उसको दुहराते या जपते रहते हैं अथवा किसी विशेष अवसर पर स्मरण कर लेते हैं । इतने पर भी देखा जाता है कि उससे कोई विशेष लाभ नहीं होता । गायत्री जानने वालों में कोई विशेष स्तर दिखाई नहीं देता । इस आधार पर यह आशंका होने लगती है—'कहीं गायत्री की प्रशंसा और महिमा में वर्णन करने वालों ने अत्युक्ति तो नहीं की ?' कई मनुष्य आरंभ में उत्साह दिखाकर थोड़े ही दिनों में उसे छोड़ बैठते हैं, वे देखते हैं कि इतने दिन हमने गायत्री की उपासना की, पर लाभ कुछ न हुआ । फिर क्यों इसके लिये समय बरबाद किया जाए ।

कारण यह है कि प्रत्येक कार्य एक नियत विधि-व्यवस्था द्वारा पूरा होता है । चाहे जैसे, चाहे जिस काम को, चाहे जिस प्रकार करना आरम्भ कर दिया जाए, तो अभीष्ट परिणाम नहीं मिल सकता ।मशीनों द्वारा बड़े-बड़े कार्य होते हैं, पर होते तभी हैं जब वे उचित रीति से चलायी जाएँ । यदि कोई अनाड़ी चलाने वाला मशीन को यों ही

अन्धा-धुन्ध चालू कर दे तो लाभ होना तो दूर, उल्टे कारखाने के लिये तथा चलाने वाले के लिये संकट उत्पन्न हो सकता है। मोटर तेज दौड़ने वाला वाहन है। उसके द्वारा एक-एक दिन में कई सौ मील की यात्रा सुखपूर्वक की जा सकती है, पर अगर कोई अनाड़ी आदमी ड्राइवर की जगह जा बैठे और चलाने की विधि तथा कल-पुर्जे के उपयोग की जानकारी न होते हुए भी उसे चलाना आरंभ कर दे तो यात्रा तो दूर, उल्टे ड्राईवर और मोटर यात्रा करने वालों के लिये अनिष्ट खड़ा हो जायेगा या यात्रा निष्फल होगी। ऐसी दशा में मोटर को कोसना, उसकी शक्ति पर अविश्वास कर बैठना उचित नहीं कहा जा सकता। अनाड़ी साधकों द्वारा की गयी उपासना भी यदि निष्फल हो, तो आश्चर्य की बात नहीं है।

जो वस्तु जितनी अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, उसकी प्राप्ति उतनी ही कठिन भी होती है। सीप-घोंघे आसानी से मिल सकते हैं, उन्हें चाहे कोई बीन सकता है, पर मोती जिन्हें प्राप्त करने हैं, उन्हें समुद्र तल तक पहुँचना पड़ेगा और इस खतरे के काम को किसी से सीखना पड़ेगा। कोई अजनबी आदमी गोताखोरी को बच्चों का खेल समझकर या यों ही समुद्र तल में उतरने के लिये डुबकी लगाये, तो उसे अपनी नासमझी के कारण असफलता पर आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

यों गायत्री में अन्य समस्त मंत्रों की अपेक्षा एक खास विशेषता यह है कि नियत विधि से साधना न करने पर भी साधक की कुछ हानि नहीं होती है। परिश्रम भी निष्फल नहीं जाता, कुछ न कुछ लाभ ही रहता है, पर उतना लाभ नहीं होता, जितना कि विधिपूर्वक साधना के द्वारा होना चाहिये। गायत्री की तांत्रिक उपासना में तो अविधि साधना से हानि भी होती है, पर साधारण साधना में वैसा कोई खतरा नहीं है, तो भी परिश्रम का पूरा प्रतिफल न मिलना भी तो एक प्रकार की हानि ही है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य उतावली, अहम्मन्यता, उपेक्षा के शिकार नहीं होते और साधना-मार्ग पर वैसी ही समझदारी से चलते हैं, जैसे हाथी नदी को पार करते समय थाह-थाह कर धीरे-धीरे आगे कदम बढ़ाता है।

कुछ औषधियाँ नियत मात्रा में लेकर नियत विधिपूर्वक तैयार करके रसायन बनायी जाएँ और नियत मात्रा में, नियत अनुपात के साथ रोगी को सेवन करायी जाएँ, तो आश्चर्यजनक लाभ होता है, परन्तु यदि उन्हीं औषधियों को चाहे जिस तरह, चाहे जितनी मात्रा में लेकर, चाहे जैसे बना डाला जाए और चाहे जिस रोगी को, चाहे जितनी मात्रा में, चाहे जिस अनुपात में सेवन करा दिया जाए, तो निश्चय ही परिणाम अच्छा न होगा। वे औषधियाँ, जो विधिपूर्वक प्रयुक्त होने पर अमृतोपम लाभ दिखाती थीं, अविधिपूर्वक प्रयुक्त होने पर निरर्थक सिद्ध होती हैं। ऐसी दशा में उन औषधियों को दोष देना न्याय संगत नहीं कहा जा सकता है। गायत्री साधना भी यदि अविधिपूर्वक की गयी है, तो वैसा लाभ नहीं दिखा सकती जैसा कि विधिपूर्वक साधना से होना चाहिये।

पात्र-कुपात्र कोई गायत्री शक्ति का मनमाना प्रयोग न कर सके, इसलिये कलियुग से पूर्व ही गायत्री को कीलित कर दिया गया है। जो उसका उत्कीलन जानता है, वही लाभ उठा सकता है। बन्दूक का लाइसेन्स सरकार उन्हीं को देती है, जो उसके पात्र हैं। परमाणु बम का रहस्य थोड़े-से लोगों तक सीमित रखा गया है, ताकि हर कोई उसका दुरुपयोग न कर डाले। कीमती खजाने की तिजोरियों में बढ़िया चोर ताले लगे होते हैं, ताकि अनधिकारी लोग उसे खोल न सकें। इसी आधार पर गायत्री को कीलित किया गया है कि हर कोई उससे अनुपयुक्त प्रयोजन सिद्ध न कर सके।

पुराणों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक बार गायत्री को वसिष्ठ और विश्वामित्र ऋषियों ने शाप दिया कि—"उसकी साधना निष्फल होगी।" इतनी बड़ी शक्ति के निष्फल होने से हाहाकार मच गया, तब देवताओं ने प्रार्थना की कि इन शापों का विमोचन होना चाहिये। अन्त में ऐसा मार्ग निकाला गया कि जो शाप-विमोचन की विधि पूरी करके गायत्री साधना करेगा, उसका प्रयत्न सफल होगा और शेष लोगों का श्रम निरर्थक जायेगा। इस पौराणिक उपाख्यान में एक भारी रहस्य छिपा हुआ है, जिसे न जानने वाले केवल **"शापमुक्ताभव"** मन्त्रों को दुहराकर यह मान लेते हैं कि हमारी साधना शापमुक्त हो गयी।

वसिष्ठ का अर्थ है—"विशेष रूप से श्रेष्ठ!" गायत्री साधना में जिन्होंने विशेष रूप से श्रम किया है, जिसने

सवा करोड़ जप किया होता है, उसे वसिष्ठ पदवी दी जाती है । रघुवंशियों के कुल-गुरु सदा ऐसे ही वसिष्ठ पदवीधारी होते थे । रघु, अज, दिलीप, दशरथ, राम, लव-कुश आदि इन छः पीढ़ियों के गुरु एक वसिष्ठ नहीं बल्कि अलग-अलग थे, पर उपासना के आधार पर इन सभी ने वसिष्ठ पदवी को पाया था । वसिष्ठ का शाप मोचन करने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के वसिष्ठ से गायत्री साधना की शिक्षा लेनी चाहिये, उसे अपना पथ-प्रदर्शक नियुक्त करना चाहिये । कारण है कि अनुभवी व्यक्ति ही यह जान सकता है कि मार्ग में कहाँ क्या-क्या कठिनाइयाँ आती हैं और उनका निवारण कैसे किया जा सकता है ? जब पानी में तैरने की शिक्षा किसी नये व्यक्ति को दी जाती है, तो कोई कुशल तैराक उसके साथ रहता है, ताकि कदाचित् नौसिखिया डूबने लगे तो वह हाथ पकड़कर उसे खींच ले और उसे पार लगा दे तथा तैरते समय जो भूल हो रही हो, उसे समझाता-सुधारता चला जाये । यदि कोई शिक्षक तैराक न हो और तैरना सीखने के लिये बालक मचल रहे हों, तो कोई वृद्ध विनोदी पुरुष उन बालकों को समझाने के लिये ऐसा कह सकता है कि—"बच्चो ! तालाब में न उतरना, इसमें तैराक गुरु का शाप है । बिना गुरु का शाप मुक्त हुए तैरना सीखोगे, तो वह निष्फल होगा ।" इन शब्दों में अहंकार तो है, शाब्दिक अत्युक्ति भी इसे कह सकते हैं, पर तथ्य बिल्कुल सच्चा है । बिना शिक्षक की निगरानी के तैरना सीखने की कोशिश करना एक दुस्साहस ही है ।

सवा करोड़ जप की साधना करने वाले गायत्री उपासक वसिष्ठ की संरक्षकता प्राप्त कर लेना ही वसिष्ठ शाप-मोचन है, इससे साधक निर्भय, निधड़क, अपने मार्ग पर तेजी से बढ़ता चलता है । रास्ते की कठिनाइयों को वह संरक्षक दूर करता चलता है, जिससे नये साधक के मार्ग की बहुत-सी बाधाएँ अपने आप दूर हो जाती हैं और अभीष्ट उद्देश्य तक जल्दी ही पहुँच जाता है ।

गायत्री को केवल वसिष्ठ का ही शाप नहीं, एक दूसरा शाप भी है, वह है विश्वामित्र का । इस रत्न-कोष पर दुहरे ताले जड़े हुए हैं , ताकि अधिकारी लोग ही खोल सकें और ले भागू, जल्दबाज, अश्रद्धालु, हरामखोरों की दाल न गलने पाये । विश्वामित्र का अर्थ है—संसार की भलाई करने वाला, परमार्थी, उदार, सत्पुरुष, कर्त्तव्यनिष्ठ । गायत्री का शिक्षक केवल वसिष्ठ गुण वाला होना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उसे विश्वामित्र भी होना चाहिये । कठोर साधना और तपश्चर्या द्वारा बुरे स्वभाव के लोग भी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं । रावण वेदपाठी था, उसने बड़ी-बड़ी तपश्चर्यायें करके आश्चर्यजनक सिद्धियाँ भी प्राप्त की थीं । इस प्रकार वह वसिष्ठ पदवीधारी तो कहा जा सकता है, पर विश्वामित्र नहीं, क्योंकि संसार की भलाई के, धर्माचार्य एवं परमार्थ के गुण उसमें नहीं थे । स्वार्थी, लालची तथा संकीर्ण मनोवृत्ति के लोग चाहे कितने ही बड़े सिद्ध क्यों न हों, शिक्षण किये जाने योग्य नहीं, यही दुहरा शाप विमोचन है । जिसने वसिष्ठ और विश्वामित्र गुण वाला पथ-प्रदर्शक, गायत्री - गुरु प्राप्त कर लिया, उसने दोनों शापों से गायत्री को छुड़ा लिया । उनकी साधना वैसा ही फल उपस्थित करेगी, जैसा कि शास्त्रों में वर्णित है ।

यह कार्य सरल नहीं है, क्योंकि एक तो ऐसे व्यक्ति ही मुश्किल से मिलते हैं, जो वसिष्ठ और विश्वामित्र गुणों से सम्पन्न हों । यदि मिलें भी तो हर किसी का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने को तैयार नहीं होते, क्योंकि उनकी शक्ति और सामर्थ्य सीमित होती है और उससे वे कुछ थोड़े ही लोगों की सेवा कर सकते हैं । यदि पहले से ही उतने लोगों का भार अपने ऊपर लिया हुआ है , तो अधिक की सेवा करना उनके लिये कठिन है । स्कूलों में एक अध्यापक प्रायः ३० की संख्या तक विद्यार्थी पढ़ा सकता है । यदि वह संख्या ६० हो जाय तो न तो अध्यापक पढ़ा सकेगा, न बालक पढ़ सकेंगे, इसलिये ऐसे सुयोग्य शिक्षक सदा ही नहीं मिल सकते । लोभी, स्वार्थी और ठग गुरुओं की कमी नहीं, जो दो रुपया गुरु-दक्षिणा लेने के लोभ से चाहे किसी के गले में कण्ठी बाँध देते हैं । ऐसे लोगों को पथ-प्रदर्शक नियुक्त करना एक प्रवञ्चना और विडम्बना मात्र है ।

गायत्री-दीक्षा गुरुमुख होकर ली जाती है, तभी फलदायक होती है । बारूद को जमीन पर चाहे जहाँ फैलाकर उसमें दियासलाई लगाई जाए, तो वह मामूली तरह से जल जायेगी, पर उसे ही बन्दूक में भरकर विधिपूर्वक प्रयुक्त किया जाए, तो उससे भयंकर शब्द के साथ एक प्राणघातक शक्ति पैदा होगी । छपे हुए कागजों में पढ़कर

या कहीं किसी से भी गायत्री सीख लेना ऐसा ही है, जैसा जमीन पर बिछाकर बारूद को जलाना और गुरुमुख होकर गायत्री-दीक्षा लेना ऐसा है, जैसा बन्दूक के माध्यम से बारूद का उपयोग होना।

गायत्री की विधिपूर्वक साधना करना ही अपने परिश्रम को सफल बनाने का सीधा मार्ग है। इस मार्ग का पहला आधार ऐसे पथ-प्रदर्शक को खोज निकालना है, जो वसिष्ठ एवं विश्वामित्र गुण वाला हो और जिसके संरक्षण में शाप-विमोचन गायत्री साधना हो सके, ऐसे सुयोग्य संरक्षक सबसे पहले यह देखते हैं कि साधक की मनोभूमि, शक्ति, सामर्थ्य, रुचि कैसी है, उसी के अनुसार वे उसके लिये साधना-विधि चुनकर देते हैं। अपने आप विद्यार्थी यह निश्चित नहीं कर सकता है कि मुझे किस क्रम से क्या-क्या पढ़ना चाहिये ? इसे तो अध्यापक ही जानता है कि वह विद्यार्थी किस कक्षा की योग्यता रखता है और इसे क्या पढ़ाया जाना चाहिये ? जैसे अलग-अलग प्रकृति के एक रोग के रोगियों को भी औषधि अलग-अलग अनुपान तथा मात्रा का ध्यान रखकर दी जाती है, वैसे ही साधकों की आंतरिक स्थिति के अनुसार उसके साधना नियमों में हेर-फेर हो जाता है। इसका निर्णय साधक स्वयं नहीं कर सकता। यह कार्य तो सुयोग्य, अनुभवी और सूक्ष्मदर्शी पथ-प्रदर्शक ही कर सकता है।

आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिये श्रद्धा और विश्वास यह दो प्रधान अवलम्बन हैं। इन दोनों का प्रारम्भिक अभ्यास गुरु को माध्यम बनाकर किया जाता है। जैसे ईश्वर उपासना का प्रारम्भिक माध्यम किसी मूर्ति, चित्र या छवि को बनाया जाता है, वैसे ही श्रद्धा और विश्वास की उन्नति गुरु नामक व्यक्ति के ऊपर उन्हें दृढ़तापूर्वक जमाने से होती है। प्रेम तो स्त्री, भाई, मित्र आदि पर भी हो सकता है, पर श्रद्धायुक्त प्रेम का पात्र गुरु ही होता है। माता-पिता भी यदि वसिष्ठ-विश्वामित्र गुण वाले हों, तो वे सबसे उत्तम गुरु हो सकते हैं। गुरु परम हितचिन्तक, शिष्य की मनोभूमि से परिचित और उसकी कमजोरियों को समझने वाला होता है, इसलिये उसके दोषों को जानकर उन्हें धीरे-धीरे दूर करने का उपाय करता रहता है, पर उन दोषों के कारण वह न तो शिष्य से घृणा करता है और न विरोध। न ही उसको अपमानित, तिरस्कृत एवं बदनाम होने देता है, वरन् उन दोषों को बाल-चापल्य समझकर धीरे-धीरे उसकी रुचि दूसरी ओर मोड़ने का प्रयत्न करता रहता है, ताकि वे अपने-आप छूट जाएँ। योग्य गुरु अपनी साधना द्वारा एकत्र की हुई आत्म-शक्ति को धीरे-धीरे शिष्य के अन्तःकरण में वैसे ही प्रवेश कराता है, जैसे माता अपने पचाये हुए भोजन को स्तनों में दूध बनाकर अपने बालक को पिलाती रहती है। माता का दूध पीकर बालक पुष्ट होता है। गुरु का आत्म-तेज पीकर शिष्य का आत्मबल बढ़ता है। इस आदान-प्रदान को आध्यात्मिक भाषा में "शक्तिपात" कहते हैं। ऐसे गुरु का प्राप्त होना पूर्व संचित शुभ-संस्कारों का फल अथवा प्रभु की महती कृपा का चिह्न ही समझना चाहिये।

कितने ही व्यक्ति सोचते हैं कि हम अमुक समय एक व्यक्ति को गुरु बना चुके, अब हमें दूसरे पथ-प्रदर्शक की नियुक्ति का अधिकार नहीं रहा। उनका यह सोचना वैसा ही है, जैसे कोई विद्यार्थी यह कहे कि "अक्षर आरम्भ करते समय जिस अध्यापक को मैंने अध्यापक माना था, अब जीवन भर उसके अतिरिक्त न किसी से शिक्षा ग्रहण करूँगा और न किसी को अध्यापक मानूँगा।" एक ही अध्यापक से संसार के सभी विषयों को जान लेने की आशा नहीं की जा सकती। फिर वह अध्यापक मर जाए, रोगी हो जाए, कहीं चला जाए, तो भी उसी से शिक्षा लेने का आग्रह करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ? फिर ऐसा भी हो सकता है कि कोई शिष्य प्राथमिक गुरु की अपेक्षा कहीं अधिक जानकार हो जाए और उसका जिज्ञासा - क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाए, ऐसी दशा में भी उसकी जिज्ञासाओं का समाधान उस प्राथमिक शिक्षक द्वारा ही करने का आग्रह किया जाए, तो यह किस प्रकार सम्भव है ?

प्राचीनकाल के इतिहास पर दृष्टिपात करने से उलझन का समाधान हो जाता है। महर्षि दत्तात्रेय ने चौबीस गुरु किये थे। राम और लक्ष्मण ने जहाँ वसिष्ठ से शिक्षा पायी थी, वहाँ विश्वामित्र से भी बहुत कुछ सीखा था। दोनों ही उनके गुरु थे। श्रीकृष्ण ने सन्दीपन ऋषि से भी विद्यायें पढ़ी थीं और महर्षि दुर्वासा भी उनके गुरु थे। अर्जुन के गुरु द्रोणाचार्य भी थे और कृष्ण भी। इन्द्र के बृहस्पति भी थे और नारद भी। इस प्रकार अनेकों उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिनसे प्रकट होता है कि आवश्यकतानुसार एक गुरु अनेक शिष्यों की सेवा कर सकता है और

एक शिष्य अनेक गुरुओं से ज्ञान प्राप्त कर सकता है । इसमें कोई ऐसा सीमा बन्धन नहीं , जिसके कारण एक के उपरान्त किसी दूसरे से प्रकाश प्राप्त करने में प्रतिबन्ध हो । वैसे भी एक व्यक्ति के कई पुरोहित होते हैं । ग्राम्य पुरोहित, तीर्थ पुरोहित और कुल पुरोहित, राष्ट्र पुरोहित, दीक्षा पुरोहित आदि । जिसे गायत्री साधना का पथ-प्रदर्शक नियुक्त किया जाता है, वह साधना पुरोहित या ब्रह्म पुरोहित है । ये सभी पुरोहित अपने-अपने क्षेत्र, अवसर और कार्य में पूछने योग्य तथा पूजने योग्य हैं । वह एक-दूसरे के विरोधी नहीं वरन् पूरक हैं ।

चौबीस अक्षरों का गायत्री मन्त्र सर्व प्रसिद्ध है, उसे आजकल शिक्षित वर्ग के सभी लोग जानते हैं । फिर भी उपासना करनी है, साधनाजन्य लाभों को लेना है, तो गुरुमुख होकर गायत्री दीक्षा लेनी चाहिये । वसिष्ठ और विश्वामित्र का शाप-विमोचन करके, कीलित गायत्री का उत्कीलन करके साधना करनी चाहिये । गुरुमुख कर गायत्री दीक्षा लेना एक संस्कार है । उसमें उस दिन गुरु-शिष्य दोनों को उपवास रखना पड़ता है । शिष्य-चन्दन, अक्षत, धूप-दीप, पुष्प, नैवेद्य, अन्न, वस्त्र, पात्र, दक्षिणा आदि से गुरु का पूजन करता है । गुरु शिष्य को मन्त्र देता है और पथ-प्रदर्शन का भार अपने ऊपर लेता है । इस ग्रन्थि-बन्धन के उपरान्त अपने उपयुक्त साधना निश्चित कराके जो शिष्य श्रद्धापूर्वक आगे बढ़ते हैं , वे भगवती की कृपा से अपने अभीष्ट उद्देश्य को प्राप्त कर लेते हैं ।

जब से गायत्री की दीक्षा ले ली जाए, तब से लेकर जब तक पूर्ण सिद्धि प्राप्त न हो जाए, तब तक साधना गुरु को अपनी साधना के समय समीप रखना चाहिये । गुरु का प्रत्यक्ष रूप से सदा साथ रहना तो संभव नहीं हो सकता, पर उनका चित्र शीशे में मढ़वा कर पूजा के स्थान पर रखा जा सकता है और गायत्री, संध्या, जप, अनुष्ठान या कोई और साधना आरम्भ करने से पूर्व उस चित्र का पूजन धूप, अक्षत, नैवेद्य, पुष्प, चन्दन आदि से कर लेना चाहिये । जहाँ चित्र उपलब्ध न हो, वहाँ एक नारियल को गुरु के प्रतीक रूप में स्थापित कर लेना चाहिये । एकलव्य भील की कथा प्रसिद्ध है कि उसने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति स्थापित करके उसी को गुरु माना था और उसी से पूछकर बाण-विद्या सीखता था । अन्त में वह इतना सफल धनुर्धारी हुआ कि पाण्डवों तक को उसकी विशेषता देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ा था । चित्र या नारियल के माध्यम से गुरु पूजा करके तब जो भी गायत्री साधना आरम्भ की जायेगी, वह शाप-मुक्त तथा उत्कीलित होगी ।

गायत्री की मूर्तिमान् प्रतिमा यज्ञोपवीत

यज्ञोपवीत को "ब्रह्मसूत्र" भी कहा जा सकता है । सूत्र डोरे को भी कहते हैं और उस संक्षिप्त शब्द-रचना को जिसका अर्थ बहुत विस्तृत होता है । व्याकरण, दर्शन, धर्म, कर्मकाण्ड आदि के अनेकों ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें ग्रन्थकर्त्ताओं ने अपने मन्तव्यों को बहुत ही संक्षिप्त संस्कृत वाक्यों में सन्निहित कर दिया है । उन सूत्रों पर लम्बी वृत्तियाँ, टिप्पणियाँ तथा टीकायें हुई हैं, जिनके द्वारा उन सूत्रों में छिपे हुए अर्थों का विस्तार होता है । ब्रह्मसूत्र में यद्यपि अक्षर नहीं हैं , तो भी संकेतों से बहुत कुछ बताया गया है । मूर्तियाँ, चिह्न, चित्र, अवशेष आदि के आधार पर बड़ी-बड़ी महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त होती हैं । यद्यपि इनमें अक्षर नहीं होते, तो भी बहुत कुछ प्रकट हो जाता है । भले ही उस इशारे में किसी शब्द-लिपि का प्रयोग नहीं किया जाता है । यज्ञोपवीत के ब्रह्मसूत्र यद्यपि वाणी और लिपि से रहित हैं, तो भी उनमें एक विशद व्याख्यान की अभिभावना भरी हुई है ।

गायत्री को गुरु मन्त्र कहा जाता है । यज्ञोपवीत धारण करते समय जो वेदारंभ कराया जाता है, वह गायत्री से कराया जाता है । प्रत्येक द्विज को गायत्री जानना उसी प्रकार अनिवार्य है, जैसे कि यज्ञोपवीत धारण करना । यह गायत्री-यज्ञोपवीत का जोड़ा ऐसा ही है, जैसा लक्ष्मी-नारायण, सीताराम, राधेश्याम, प्रकृति-ब्रह्म, गौरीशंकर, नर-मादा का जोड़ा है । दोनों की सम्मिलित व्यवस्था का नाम ही गृहस्थ है, वैसे ही गायत्री-उपवीत का सम्मिलन ही द्विजत्व है । उपवीत सूत्र है, तो गायत्री उसकी व्याख्या है । दोनों की आत्मा एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई है ।

यज्ञोपवीत में तीन तार हैं, गायत्री में तीन चरण हैं । 'तत्सवितुर्वरेण्यं' प्रथम चरण, 'भर्गोदेवस्य धीमहि' द्वितीय चरण, 'धियो यो नः प्रचोदयात्' तृतीय चरण है । तीनों तारों का क्या तात्पर्य है ? इसमें क्या सन्देश निहित है ? यह बात समझनी हो तो गायत्री के इन तीन चरणों को भली प्रकार जान लेना चाहिये ।

उपवीत में तीन प्रकार की ग्रन्थियाँ और एक ब्रह्म ग्रन्थि होती हैं। गायत्री में तीन व्याहृतियाँ (भूः भुवः स्वः) और एक प्रणव (ॐ) है। गायत्री के आरम्भ में ओंकार और भूः भुवः स्वः का जो तात्पर्य है, उसी ओर यज्ञोपवीत की तीन ग्रन्थियाँ संकेत करती हैं। उन्हें समझने वाला जान सकता है कि यह चार गाँठें मनुष्य जाति के लिये क्या-क्या संदेश देती हैं।
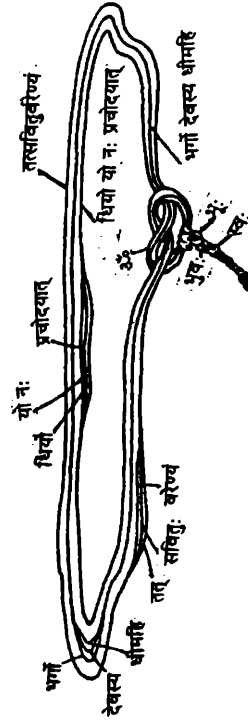
गायत्री महामन्त्र की प्रतिमा-यज्ञोपवीत
जिसमें ९ शब्द, तीन चरण, ॐ सहित तीन व्याहृतियाँ समाहित हैं।

इस महाविज्ञान को सरलतापूर्वक हृदयंगम करने के लिये इसे चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। १—प्रणव तथा तीनों व्याहृतियाँ अर्थात् यज्ञोपवीत की चारों ग्रन्थियाँ, २—गायत्री का प्रथम चरण अर्थात् यज्ञोपवीत की प्रथम लड़, ३—द्वितीय चरण अर्थात् द्वितीय लड़, ४—तृतीय चरण अर्थात् तृतीय लड़। आइये अब इन पर विचार करें।

१. प्रणव का संदेश यह है—"परमात्मा सर्वत्र समस्त प्राणियों में समाया हुआ है, इसलिये लोक सेवा के लिये निष्काम भाव से कर्म करना चाहिये और अपने मन को स्थिर तथा शान्त रखना चाहिए।"

२. भूः का तत्त्वज्ञान यह है—"शरीर अस्थायी औजार मात्र है, इसलिये उस पर अत्यधिक आसक्त न होकर आत्मबल बढ़ाने का, श्रेष्ठ मार्ग का, सत्कर्मों का आश्रय ग्रहण करना चाहिये।"

३. भुवः का तात्पर्य है—"पापों के विरुद्ध रहने वाला मनुष्य देवत्व को प्राप्त करता है। जो पवित्र आदर्शों और साधनों को अपनाता है, वही बुद्धिमान् है।"

४. स्वः की प्रतिध्वनि यह है—"विवेक द्वारा शुद्ध बुद्धि से सत्य जानने, संयम और त्याग की नीति का आचरण करने के लिये अपने को तथा दूसरों को प्रेरणा देनी चाहिये।"

यह चतुर्मुख नीति यज्ञोपवीतधारी की होती है। इन सबका सारांश यह है कि उचित मार्ग से अपनी शक्तियों को बढ़ाओ और अन्तःकरण को उदार रखते हुए अपनी शक्तियों का अधिकांश भाग जनहित के लिये लगाये रहो। इसी कल्याणकारी नीति पर चलने से मनुष्य व्यष्टि रूप से तथा समस्त संसार में समष्टि रूप से सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है। यज्ञोपवीत गायत्री की मूर्तिमान् प्रतिमा है, उसका जो संदेश मनुष्य जाति के लिये है, उसके

अतिरिक्त और कोई मार्ग ऐसा नहीं, जिसमें वैयक्तिक तथा सामाजिक सुख-शान्ति स्थिर रह सके ।

सुरलोक में एक ऐसा कल्पवृक्ष है, जिसके नीचे बैठकर जिस वस्तु की कामना की जाए, वही वस्तु तुरन्त सामने उपस्थित हो जाती है । जो भी इच्छा की जाए तुरन्त पूर्ण हो जाती है । वह कल्पवृक्ष जिनके पास होगा, वे कितने सुखी और सन्तुष्ट होंगे, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है ।

पृथ्वी पर भी एक ऐसा कल्पवृक्ष है, जिसमें सुरलोक के कल्पवृक्ष की सभी सम्भावनायें छिपी हुई हैं । इसका नाम है—गायत्री । गायत्री मन्त्र को स्थूल दृष्टि से देखा जाए, तो वह २४ अक्षरों और नौ पदों की शब्द- शृंखला मात्र है, परन्तु यदि गम्भीरतापूर्वक अवलोकन किया जाए, तो उसके प्रत्येक पद और अक्षर में ऐसे तत्त्वों का रहस्य छिपा हुआ मिलेगा, जिनके द्वारा कल्पवृक्ष के समान ही समस्त इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है ।

अगले पृष्ठ पर गायत्री कल्पवृक्ष का चित्र दिया हुआ है । इसमें बताया गया है- "ॐ" ईश्वर, आस्तिकता ही भारतीय धर्म का मूल है । इससे आगे बढ़कर उसके तीन विभाग होते हैं—भूः भुवः स्वः । भूः का अर्थ है—आत्मज्ञान । भुवः का अर्थ है—कर्मयोग । स्वः का तात्पर्य है—स्थिरता, समाधि । इन तीनों शाखाओं में से प्रत्येक में तीन-तीन टहनियाँ निकलती हैं, उनमें से प्रत्येक के भी अपने-अपने तात्पर्य हैं । तत्-जीवन विज्ञान । सवितुः—शक्ति सञ्चय । वरेण्यं—श्रेष्ठता । भर्गो—निर्मलता । देवस्य—दिव्य दृष्टि । धीमहि—सद्‌गुण । धियो—विवेक । यो नः—संयम । प्रचोदयात्—सेवा । गायत्री हमारी मनोभूमि में इन्हीं को बोती है । फलस्वरूप जो खेत उगता है, वह कल्पवृक्ष से किसी प्रकार कम नहीं होता ।

ऐसा उल्लेख मिलता है कि कल्पवृक्ष के सब पत्ते रत्नजटित हैं । वे रत्नों जैसे सुशोभित और बहुमूल्य होते हैं । गायत्री कल्पवृक्ष के उपर्युक्त नौ पत्ते, निस्संदेह नौ रत्नों के समान मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण हैं । 'प्रत्येक पत्ता, प्रत्येक गुण' एक रत्न से किसी प्रकार कम नहीं है । "नौलखा हार" की ज़ेवरों में बहुत प्रशंसा है । नौ लाख रुपये की लागत से बना हुआ 'नौलखा हार' पहनने वाले अपने आप को बड़ा भाग्यशाली समझते हैं । यदि गम्भीर तात्त्विक और दूरदृष्टि से देखा जाए, तो यज्ञोपवीत भी नवरत्न जड़ित नौलखा हार से किसी प्रकार कम महत्त्व का नहीं है ।

गायत्री गीता के अनुसार यज्ञोपवीत के नौ तार, जिन नौ गुणों को धारण करने का आदेश करते हैं, वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि नौ रत्नों की तुलना में इन गुणों की ही महिमा अधिक है ।

१. जीवन विज्ञान की जानकारी होने से मनुष्य जन्म-मरण के रहस्य को समझ जाता है । उसे सत्य का डर नहीं लगता, सदा निर्भय रहता है, उसे शरीर का तथा सांसारिक वस्तुओं का लोभ-मोह भी नहीं होता, फलस्वरूप जिन असाधारण हानि-लाभों के लिये लोग बेतरह दुःख के समुद्र में डूबते और हर्ष के मद में उछलते फिरते हैं, उन उन्मादों से बच जाता है ।

२. शक्ति संचय की नीति अपनाने वाला दिन-दिन अधिक स्वस्थ, विद्वान्, बुद्धिमान्, धनी, सहयोग सम्पन्न, प्रतिष्ठावान् बनता जाता है । निर्बलों पर प्रकृति के, बलवानों के तथा दुर्भाग्य के जो आक्रमण होते रहते हैं, उनसे वह बचा रहता है और शक्ति सम्पन्नता के कारण जीवन के नाना विध आनन्दों को स्वयं भोगता एवं अपनी शक्ति द्वारा दुर्बलों की सहायता करके पुण्य का भागी बनता है । अनीति वहीं पनपती है, जहाँ शक्ति का सन्तुलन नहीं होता । शक्ति-संचय का स्वाभाविक परिणाम है—अनीति का अन्त, जो कि सभी के लिये कल्याणकारी है ।

३. श्रेष्ठता का अस्तित्व परिस्थितियों में नहीं, विचारों में होता है । जो व्यक्ति साधन-सम्पन्नता में बढ़े-चढ़े हैं, परन्तु लक्ष्य, सिद्धान्त, आदर्श एवं अन्तःकरण की दृष्टि से गिरे हुए हैं, उन्हें निकृष्ट ही कहा जायेगा । ऐसे निकृष्ट अपनी आत्मा की दृष्टि में, परमात्मा की दृष्टि में और दूसरे गंभीर विवेकवान् व्यक्तियों की दृष्टि में नीच श्रेणी के ठहरते हैं, अपनी नीचता के दण्ड स्वरूप आत्म-ताड़ना, ईश्वरीय दण्ड और बुद्धि-भ्रम के कारण मानसिक अशान्ति में डूबते रहते हैं । इसके विपरीत कोई व्यक्ति भले ही गरीब, साधनहीन हो, पर उसका आदर्श, सिद्धान्त, उद्देश्य, अन्तःकरण उच्च तथा उदार है, तो वह श्रेष्ठ ही कहा जाएगा । यह श्रेष्ठता उसके लिये इतने आनन्द का उद्‌भव करती रहती है, जो बड़ी से बड़ी सांसारिक सम्पदा से भी सम्भव नहीं ।
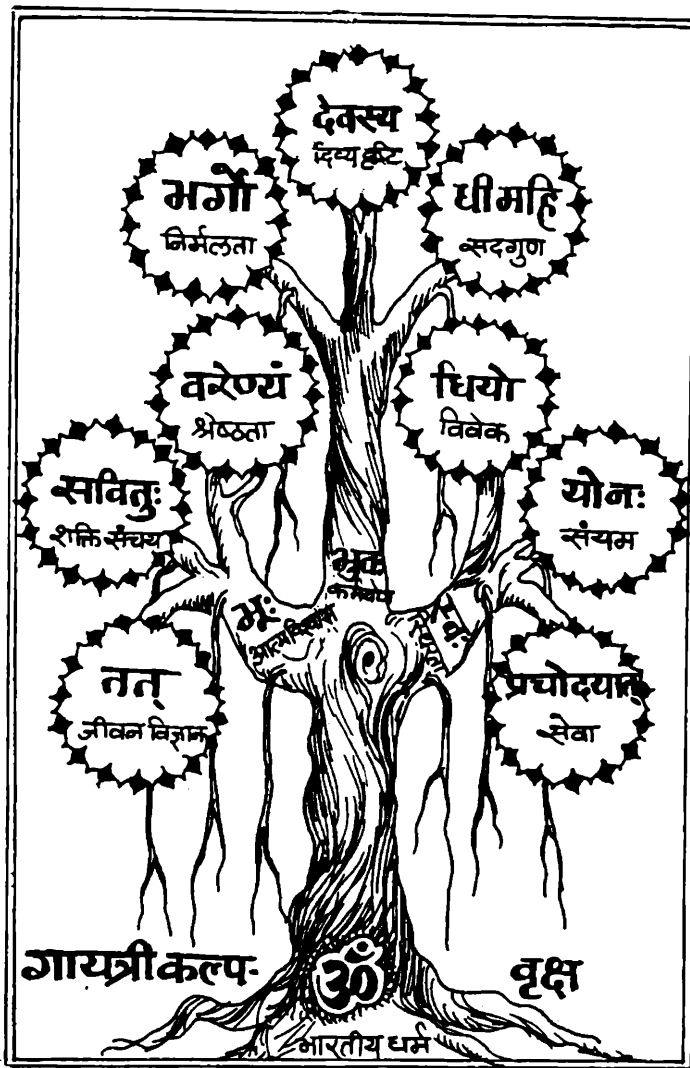
४. निर्मलता का अर्थ है—सौन्दर्य। सौन्दर्य वह वस्तु है, जिसे मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी और कीट-पतंग तक पसन्द करते हैं। यह निश्चित है कि कुरूपता का कारण गन्दगी है। मलिनता जहाँ कहीं भी होगी, वहाँ कुरूपता रहेगी और वहाँ से दूर रहने की सबकी इच्छा होगी। शरीर के भीतर मल भरे होंगे तो मनुष्य कमजोर और बीमार रहेगा। इसी तरह कपड़े, भोजन, त्वचा, बाल, प्रयोजनीय पदार्थ आदि में गन्दगी होगी, तो वह घृणास्पद, अस्वास्थ्यकर, निकृष्ट एवं निन्दनीय बन जाएँगे। मन में, बुद्धि में, अन्तःकरण में मलिनता हो, तब तो कहना ही क्या है ? इन्सान का स्वरूप हैवान और शैतान से भी बुरा हो जाता है। इन विकृतियों से बचने का एकमात्र उपाय 'सर्वतोमुखी निर्मलता' है। जो भीतर-बाहर सब ओर से निर्मल है, जिसकी कमाई, विचार-धारा, देह, वाणी, पोशाक, झोंपड़ी, प्रयोजनीय सामग्री निर्मल है, स्वच्छ है, शुद्ध है, वह सब प्रकार से सुन्दर, प्रसन्न, प्रफुल्ल, मृदुल एवं सन्तुष्ट दिखाई देगा।

५. दिव्य दृष्टि से देखने का अर्थ है—संसार के दिव्य तत्त्वों के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना। हर पदार्थ अपने सजातीय पदार्थों को अपनी ओर खींचता है और उन्हीं की ओर खुद खिंचता है। जिनका दृष्टिकोण संसार की अच्छाइयों को देखने, समझने और अपनाने का है, वह चारों ओर अच्छे व्यक्तियों को देखते हैं। लोगों के

उपकार, भलमनसाहत, सेवा-भाव, सहयोग और सत्कार्यों पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों में बुराइयों की अपेक्षा अच्छाइयाँ अधिक हैं और संसार हमारे साथ अपकार की अपेक्षा उपकार कहीं अधिक कर रहा है। आँखों पर जिस रंग का चश्मा लगा लिया जाए, उसी रंग की सब वस्तुयें दिखाई पड़ती हैं। जिनकी दृष्टि दूषित है, उनके लिये प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणी बुरा है, पर जो दिव्य दृष्टि वाले हैं, वे प्रभु की इस परम पुनीत फुलवाड़ी में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द बरसता देखते हैं।

६. सद्गुण—अपने में अच्छी आदतें, अच्छी योग्यतायें, अच्छी विशेषतायें धारण करना सद्गुण कहलाता है। विनय, नम्रता, शिष्टाचार, मधुर भाषण, उदार व्यवहार, सेवा-सहयोग, ईमानदारी, परिश्रमशीलता, समय की पाबन्दी, नियमितता, मितव्ययिता, मर्यादित रहना, कर्त्तव्य परायणता, जागरूकता, प्रसन्न मुख-मुद्रा, धैर्य, साहस, पराक्रम, पुरुषार्थ, आशा, उत्साह यह सब सद्गुण हैं। संगीत, साहित्य, कला, शिल्प, व्यापार, वक्तृता, व्यवसाय, उद्योग, शिक्षण आदि योग्यतायें होना सद्गुण है। इस प्रकार के सद्गुण जिसके पास हैं, वह आनन्दमय जीवन बितायेगा, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

७. विवेक—एक प्रकार का आत्मिक प्रकाश है, जिसके द्वारा सत्य-असत्य की, उचित-अनुचित की, आवश्यक-अनावश्यक की, हानि-लाभ की परीक्षा होती है। संसार में असंख्यों परस्पर विरोधी मान्यतायें, रिवाजें, विचारधारायें प्रचलित हैं और उनमें से हर एक के पीछे कुछ आधार, कुछ उदाहरण तथा कुछ पुस्तकों एवं महापुरुषों के नाम अवश्य सम्बन्धित होते हैं। ऐसी दशा में यह निर्णय करना कठिन होता है कि इन परस्पर विरोधी बातों में क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य ? इस सम्बन्ध में देश, काल, परिस्थिति, उपयोगिता, जनहित आदि बातों को ध्यान में रखते हुए सद्बुद्धि से जो निर्णय किया जाता है, वही प्रामाणिक एवं ग्राह्य होता है। जिसने उचित निर्णय कर लिया, तो समझिये कि उसने सरलतापूर्वक सुख-शान्ति के लक्ष्य तक पहुँचने की सीधी राह पा ली। संसार में अधिकांश कलह, क्लेश, पाप एवं दुःखों का कारण दुर्बुद्धि, भ्रम तथा अज्ञान होता है। विवेकवान् व्यक्ति इन सब उलझनों से अनायास ही बच जाता है।

८. संयम—जीवनी शक्ति का, विचार शक्ति का, भोगेच्छा का, श्रम का सन्तुलन ठीक रखना ही संयम है। न इसको घटने देना, न नष्ट- निष्क्रिय होने देना और न अनुचित मार्ग में व्यय होने देना संयम का तात्पर्य है। मानव शरीर आश्चर्यजनक शक्तियों का केन्द्र है। यदि उन शक्तियों का अपव्यय रोककर उपयोगी दिशा में लगाया जाए, तो अनेक आश्चर्यजनक सफलतायें मिल सकती हैं और जीवन की प्रत्येक दिशा में उन्नति हो सकती है।

९. सेवा—सहायता, सहयोग, प्रेरणा, उन्नति की ओर, सुविधा की ओर किसी को बढ़ाना, यह उसकी सबसे बड़ी सेवा है। इस दिशा में हमारा शरीर और मस्तिष्क सबसे अधिक हमारी सेवा का पात्र है, क्योंकि वह हमारे सबसे अधिक निकट है। आमतौर से दान देना, समय देना या बिना मूल्य अपनी शारीरिक, मानसिक शक्ति किसी को देना सेवा कहा जाता है और यह अपेक्षा नहीं की जाती कि हमारे इस त्याग से दूसरों में कोई क्रिया-शक्ति, आत्म-निर्भरता, स्फूर्ति, प्रेरणा, जाग्रत् हुई या नहीं। इस प्रकार की सेवा व्यक्ति को आलसी, परावलम्बी और भाग्यवादी बनाने वाली हानिकारक सेवा भी है। हम दूसरों की इस प्रकार प्रेरक सेवा करें, जो उत्साह, आत्म-निर्भरता और क्रियाशीलता को सतेज करने में सहायक हो। सेवा का फल है—उन्नति। सेवा द्वारा अपने को तथा दूसरों को समुन्नत बनाना, संसार को अधिक सुन्दर और आनन्दमय बनाना महान् पुण्य कार्य है। इस प्रकार के सेवाभावी पुण्यात्मा सांसारिक और आत्म-दृष्टि से सदा सुखी और सन्तुष्ट रहते हैं।

यह नवगुण निस्संदेह नवरत्न हैं। लाल, मोती, मूँगा, पन्ना, पुखराज, हीरा, नीलम, गोमेद, वैदूर्य—य नौ रत्न कहे जाते हैं। कहते हैं कि जिनके पास ये रत्न होते हैं, वे सर्वसुखी समझे जाते हैं, पर भारतीय धर्मशास्त्र कहता है कि जिनके पास यज्ञोपवीत और गायत्री मिश्रित आध्यात्मिक नवरत्न हैं, वे इस भूतल के कुबेर हैं। भले ही उनके पास धन-दौलत, जमीन-जायदाद न हो। यह नवरत्न मण्डित कल्पवृक्ष जिसके पास है, वह विवेकयुक्त यज्ञोपवीतधारी सदा सुरलोक की सम्पदा भोगता है। उसके लिये यह भू- लोक ही स्वर्ग है, वह कल्पवृक्ष हमें चारों फल देता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों सम्पदाओं से हमें परिपूर्ण कर देता है।

साधकों के लिये उपवीत आवश्यक है

कई व्यक्ति सोचते हैं कि यज्ञोपवीत हमसे सधेगा नहीं, हम उसके नियमों का पालन नहीं कर सकेंगे, इसलिये हमें उसे धारण नहीं करना चाहिये । यह तो ऐसी ही बात हुई जैसे कोई कहे कि मेरे मन में ईश्वर भक्ति नहीं, इसलिये मैं पूजा-पाठ न करूँगा । पूजा-पाठ करने से तात्पर्य ही भक्ति उत्पन्न करना है, यह भक्ति पहले ही होती, तो पूजा-पाठ करने की आवश्यकता ही न रह जाती । यही बात जनेऊ के सम्बन्ध में है, यदि धार्मिक नियमों की साधना अपने आप ही हो जाए, तो उसको धारण करने की आवश्यकता ही क्या ? चूँकि आम तौर से नियम नहीं सधते, इसलिये तो यज्ञोपवीत का प्रतिबन्ध लगाकर उन नियमों को साधने का प्रयत्न किया जाता है । जो लोग नियम नहीं साध पाते, उन्हीं के लिये सबसे अधिक आवश्यकता जनेऊ धारण करने की है । जो बीमार है, उसे ही तो दवा चाहिये, यदि बीमार न होता तो दवा की आवश्यकता ही उसके लिये क्या थी ?

नियम क्यों साधने चाहिये ? इसके बारे में लोगों की बड़ी विचित्र मान्यतायें हैं । कई आदमी समझते हैं कि भोजन सम्बन्धी नियमों का पालन करना ही जनेऊ का नियम है । बिना स्नान किये, रास्ते का चला हुआ, रात का बासी हुआ, अपनी जाति के अलावा किसी अन्य का बनाया हुआ भोजन न करना ही यज्ञोपवीत की साधना है । यह बड़ी अधूरी और भ्रमपूर्ण धारणा है । यज्ञोपवीत का मन्तव्य मानव-जीवन की सर्वांगपूर्ण उन्नति करना ह, उन उन्नतियों में स्वास्थ्य की उन्नति भी एक है और उसके लिये अन्य नियम पालन करने के साथ-साथ भोजन सम्बन्धी नियमों की सावधानी रखना उचित है । इस दृष्टि से जनेऊधारी के लिये भोजन सम्बन्धी नियमों का पालन करना ठीक है, परन्तु जिस प्रकार प्रत्येक द्विज जीवन की सर्वांगीण उन्नति के नियमों का पूर्णतया पालन नहीं कर पाता, फिर भी कन्धे पर जनेऊ धारण किये रहता है । फिर भोजन सम्बन्धी किसी नियम में यदि त्रुटि रह जाए, तो यह नहीं समझना चाहिये कि त्रुटि के कारण जनेऊ धारण करने का अधिकार ही छिन जाता है । यदि झूठ बोलने से, दुराचार की दृष्टि रखने से, बेईमानी करने से, आलस्य, प्रमाद या व्यसनों में ग्रस्त रहने से जनेऊ नहीं टूटता, तो केवल भोजन सम्बन्धी नियम में कभी-कभी थोड़ा-सा अपवाद आ जाने से नियम टूट जाएगा, यह सोचना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ।

मल- मूत्र के त्यागने में कान पर जनेऊ चढ़ाने में भूल होने का अक्सर भय रहता है । कई आदमी इस डर की वजह से यज्ञोपवीत नहीं पहनते या पहनना छोड़ देते हैं । यह ठीक है कि इस नियम का कठोरता से पालन होना चाहिये, पर यह भी ठीक है कि आरम्भ में इसकी आदत न पड़ जाने तक नौसिखियों को कुछ सुविधा भी मिलना चाहिये, जिससे कि उन्हें एक दिन में तीन-तीन जनेऊ बदलने के लिये विवश न होना पड़े । इसके लिये ऐसा किया जा सकता है कि जनेऊ का एक फेरा गर्दन में घुमा दिया जाय, ऐसा करने से वह कमर से ऊँचा आ जाता है । कान में चढ़ाने का मुख्य प्रयोजन यह है कि मल-मूत्र की अशुद्धता का यज्ञसूत्र से स्पर्श न हो, जब जनेऊ कण्ठ में लपेट दिये जाने से कमर से ऊँचा उठ जाता है, तो उससे अशुद्धता के स्पर्श होने की आशंका नहीं रहती और यदि कभी कान में चढ़ाने की भूल भी हो जाए, तो उसके बदलने की आवश्यकता नहीं होती । थोड़े दिनों में जब भली प्रकार आदत पड़ जाती है, तो फिर कण्ठ में लपेटने की आवश्यकता नहीं रहती ।

छोटी आयु वाले बालकों के लिये तथा अन्य भुलक्कड़ व्यक्तियों के लिये तृतीयांश यज्ञोपवीत की व्यवस्था की जा सकती है । पूरे यज्ञोपवीत की अपेक्षा दो-तिहाई छोटा अर्थात् एक-तिहाई लम्बाई का तीन लड़ वाला उपवीत केवल कण्ठ में धारण कराया जा सकता है । इस प्रकार उपवीत को आचार्यों ने 'कण्ठी' शब्द से सम्बोधित किया है । छोटे बालकों का जब उपनयन होता था, तो उन्हें दीक्षा के साथ कण्ठी पहना दी जाती थी । आज भी गुरु नामधारी पण्डित जी गले में कण्ठी पहनाकर और कान में मन्त्र सुनाकर 'गुरु-दीक्षा' देते हैं ।

इस प्रकार के अविकसित व्यक्ति उपवीत की नित्य की सफाई का भी पूरा ध्यान रखने में प्राय: भूल करते हैं, जिससे शरीर का पसीना उसमें रमता रहता है, फलस्वरूप बदबू, गन्दगी, मैल और रोग-कीटाणु उसमें पलने लगते हैं । ऐसी स्थिति में यह सोचना पड़ता है कि कोई उपाय निकल आये, जिससे कण्ठी में पड़ी हुई उपवीती- कण्ठी का शरीर से कम स्पर्श हो । इस निमित्त तुलसी, रुद्राक्ष या किसी और पवित्र वस्तु के दानों में कण्ठी के सूत्रों को

पिरो दिया जाता है, फलस्वरूप वे दाने ही शरीर का स्पर्श कर पाते हैं। सूत्र अलग रह जाता है और पसीने का जमाव होने एवं शुद्धि में प्रमाद होने के खतरे से बचत हो जाती है, इसलिये दाने वाली कण्ठियाँ पहनने का रिवाज चलाया गया।

पूर्णरूप से न सही आंशिक रूप से सही, गायत्री के साधकों को यज्ञोपवीत अवश्य धारण करना चाहिये, क्योंकि उपनयन गायत्री का मूर्तिमान् प्रतीक है, उसे धारण किये बिना भगवती की साधना का धार्मिक अधिकार नहीं मिलता। आजकल नये फैशन में ज़ेवरों का रिवाज कम होता जा रहा है, फिर भी गले में कण्ठीमाला किसी न किसी रूप में स्त्री-पुरुष धारण करते हैं। गरीब स्त्रियाँ काँच के मनकों की कण्ठियाँ धारण करती हैं। इन आभूषणों के नाम हार, नेकलेस, जंजीर, माला आदि रखे गये हैं, पर यह वास्तव में कण्ठियों के ही प्रकार हैं। चाहे स्त्रियों के पास कोई अन्य आभूषण हो चाहे न हो, परन्तु इतना निश्चित है कि कण्ठी को गरीब से गरीब स्त्रियाँ भी किसी न किसी रूप में अवश्य धारण करती हैं। इससे प्रकट है कि भारतीय नारियों ने अपने सहज धर्म-प्रेम को किसी न किसी रूप में जीवित रखा है और उपवीत को किसी न किसी प्रकार धारण किया है।

जो लोग उपवीत धारण करने के अधिकारी नहीं कहे जाते, जिन्हें कोई दीक्षा नहीं देता, वे भी गले में तीन तार का या नौ तार का डोरा चार गाँठ लगाकर धारण कर लेते हैं। इस प्रकार चिह्न पूजा हो जाती है। पूरे यज्ञोपवीत का एक-तिहाई लम्बा यज्ञोपवीत गले में डाले रहने का भी कहीं-कहीं रिवाज है।

गायत्री साधना का उद्देश्य

नये विचारों से पुराने विचार बदल जाते हैं। कोई व्यक्ति किसी बात को गलत रूप से समझ रहा है, तो उसे तर्क, प्रमाण और उदाहरणों के आधार पर नई बात समझाई जा सकती है। यदि वह अत्यन्त ही दुराचारी, मूढ़, उत्तेजित या मदान्ध नहीं है, तो प्रायः सही बात को समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती। सही बात समझ जाने पर प्रायः गलत मान्यता बदल जाती है। स्वार्थ या मानरक्षा के कारण कोई अपनी पूर्व मान्यता की वकालत करता रहे, पर मान्यता और विश्वास क्षेत्र में उसका विचार परिवर्तन अवश्य हो जाता है। ज्ञान द्वारा अज्ञान को हटा दिया जाना कुछ विशेष कठिन नहीं है।

परन्तु स्वभाव, रुचि, इच्छा, भावना और प्रकृति के बारे में यह बात नहीं है, इन्हें साधारण रीति से नहीं बदला जा सकता है। यह जिस स्थान पर जमी होती है, वहाँ से आसानी से नहीं हटती। चूँकि मनुष्य चौरासी लाख कीट-पतंगों, जीव-जन्तुओं की क्षुद्र योनियों में भ्रमण करता हुआ नर-देह में आता है, इसलिये स्वभावतः उसके पिछले जन्म-जन्मान्तरों के पाशविक नीच संस्कार बड़ी दृढ़ता से अपनी जड़ मनोभूमि में जमाये होते हैं, उनमें परिवर्तन होता रहता है, पर उसका विशेष प्रभाव एवं गम्भीरतापूर्वक स्वयं आत्म-चिंतन करने से मनुष्य भलाई और बुराई के, धर्म-अधर्म के अन्तर को भली प्रकार समझ जाता है। उसे अपनी भूलें, बुराइयाँ और कमजोरियाँ भली प्रकार प्रतीत हो जाती हैं। बौद्धिक स्तर पर वह सोचता है और चाहता है कि इन बुराइयों से उसे छुटकारा मिल जाए, कई बार तो वह अपनी काफी भर्त्सना भी करता है। इतने पर भी वह अपनी चिर संचित कुप्रवृत्तियों से, बुरी आदतों से अपने को अलग नहीं कर पाता।

नशेबाज, चोर, दुष्ट, दुराचारी यह भली- भाँति जानते हैं कि हम गलत मार्ग अपनाये हुए हैं। वे बहुधा यह सोचते रहते हैं कि काश, इन बुराइयों से हमें छुटकारा मिल जाता, पर इनकी इच्छा एक निर्बल-कामना मात्र रह जाती है, उनके मनोरथ निष्फल ही होते रहते हैं, बुराइयाँ छूटती नहीं। जब भी प्रलोभन का अवसर आता है, तब मनोभूमि में जड़ जमाये हुए, पड़ी हुई कुप्रवृत्तियाँ आँधी-तूफान की तरह उमड़ पड़ती हैं और वह व्यक्ति आदत से मजबूर होकर उन्हीं बुरे कार्यों को फिर से कर बैठता है। विचार और संस्कार इन दोनों की तुलना में संस्कार की शक्ति अत्यधिक प्रबल है। विचार एक नन्हा-सा शिशु है, तो संस्कार परिपुष्ट-प्रौढ़। दोनों के युद्ध में प्रायः ऐसा ही परिणाम देखा जाता है कि शिशु की हार होती है और प्रौढ़ की जीत। यद्यपि कई बार मनस्वी व्यक्ति श्रीकृष्ण द्वारा पूतना और राम द्वारा ताड़का-वध का उदाहरण उपस्थित करके अपने विचार-बल द्वारा कुसंस्कारों

पर विजय प्राप्त करते हैं, पर आमतौर से लोग कुसंस्कारों के चंगुल में, जाल में फँसे पक्षी की तरह उलझे हुए देखे जाते हैं। अनेकों धर्मोपदेशक, ज्ञानी, विद्वान्, नेता, सम्भ्रान्त महापुरुष समझे जाने वाले व्यक्तियों का निजी चरित्र जब कुकर्मयुक्त देखा जाता है, तो यही कहना पड़ता है कि इनकी इतनी बुद्धि-प्रौढ़ता भी अपने कुसंस्कारों पर विजय न दिला सकी। कई बार तो अच्छे-अच्छे ईमानदार और तपस्वी मनुष्य किसी विशेष प्रलोभन के अवसर पर उसमें फँस जाते हैं, जिसके लिये पीछे उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ता है। चिर संचित पाशविक वृत्तियों का भूकम्प जब आता है, तो सदाशयता के आधार पर चिर प्रयत्न से बनाये हुए सुचरित्र की दीवार हिल जाती है।

उपर्युक्त पंक्तियों का तात्पर्य यह नहीं है कि विचार-शक्ति निरर्थक वस्तु है और उसके द्वारा कुसंस्कारों को जीतने में सहायता नहीं मिलती। इन पंक्तियों में यह कहा जा रहा है कि साधारण मनोबल की सदिच्छायें मनोभूमि का परिमार्जन करने में बहुत अधिक समय में मन्द प्रगति से धीरे-धीरे आगे बढ़ती हैं, अनेकों बार उन्हें निराशा और असफलता का मुँह देखना पड़ता है। इस पर भी यदि सद्विचारों का क्रम जारी रहे, तो अवश्य ही कालान्तर में कुसंस्कारों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अध्यात्म विद्या के आचार्य इतने आवश्यक कार्य को इतने विलम्ब तक पड़ा रहने देना नहीं चाहते। इसलिये उन्होंने इस सम्बन्ध में अत्यधिक गम्भीरता, सूक्ष्म दृष्टि और मनोयोगपूर्वक विचार विश्लेषण किया है और वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि मनःक्षेत्र के जिस स्तर पर विचार के कम्पन क्रियाशील रहते हैं, उससे कहीं अधिक गहरे स्तर पर संस्कारों की जड़ें होती हैं।

जैसे कुआँ खोदने पर भी जमीन में विभिन्न जाति की मिट्टियों के पर्त निकलते हैं, वैसे ही मनोभूमि के भी कितने ही पर्त हैं, उनके कार्य, गुण और क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। ऊपर वाले दो पर्त (१) मन (२) बुद्धि हैं। मन में इच्छायें, वासनायें, कामनायें पैदा होती हैं, बुद्धि का काम विचार करना, मार्ग ढूँढ़ना और निर्णय करना है। यह दोनों पर्त मनुष्य के निकट सम्पर्क में हैं। इन्हें स्थूल मनःक्षेत्र कहते हैं। समझने से तथा परिस्थिति के परिवर्तन से इनमें आसानी से हेर-फेर हो जाता है।

इस स्थूल क्षेत्र से गहरे पर्त को सूक्ष्म मनःक्षेत्र कहते हैं। इसके प्रमुख भाग दो हैं—(१) चित्त (२) अहंकार। चित्त में संस्कार, आदत, रुचि, स्वभाव, गुण की जड़ें रहती हैं। अहंकार "अपने सम्बन्ध में मान्यता" को कहते हैं। अपने को जो व्यक्ति धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-शूद्र, पापी-पुण्यात्मा, अभागा-सौभाग्यशाली, स्त्री-पुरुष, मूर्ख-बुद्धिमान्, तुच्छ-महान्, जीव-ब्रह्म, बद्ध-मुक्त आदि जैसा भी कुछ मान लेता है, वह वैसे ही अहंकार वाला माना जाता है। आत्मा के अहम् के सम्बन्ध में मान्यता का नाम ही अहंकार है। इन मन, बुद्धि, अहंकार के अनेकों भेद-उपभेद हैं और उनके गुण, कर्म अलग-अलग हैं, उनका वर्णन इन पंक्तियों में नहीं किया जा सकता है। यहाँ तो संक्षिप्त परिचय देना इसलिये आवश्यक हुआ कि कुसंस्कारों के निवारण के बारे में कुछ बातें भली प्रकार जानने में पाठकों को सुविधा हो।

जैसे मन और बुद्धि का जोड़ा है, वैसे ही चित्त और अहंकार का जोड़ा है। मन में नाना प्रकार की इच्छायें, कामनायें रहती हैं, पर बुद्धि उनका निर्णय करती है कि कौन-सी इच्छा प्रकट करने योग्य है, कौन-सी दबा देने योग्य है? इसे बुद्धि जानती है और वह सभ्यता, लोकाचार, सामाजिक नियम, धर्म, कर्त्तव्य, असम्भव आदि का ध्यान रखते हुए अनुपयुक्त इच्छाओं को भीतर दबाती रहती है। जो इच्छा कार्य रूप में लाये जाने योग्य जँचती है, उन्हीं के लिये बुद्धि अपना प्रयत्न आरम्भ करती है। इस प्रकार यह दोनों मिलकर मस्तिष्क क्षेत्र में अपना ताना-बाना बुनते रहते हैं।

अन्तःकरण क्षेत्र में चित्त और अहंकार का जोड़ा अपना कार्य करता है। जीवात्मा अपने को जिस श्रेणी का, जिस स्तर का अनुभव करता है, चित्त में उस श्रेणी के, उसी स्तर के पूर्व संस्कार सक्रिय और परिपुष्ट रहते हैं। कोई व्यक्ति अपने को शराबी, पाप वाला, कसाई, अछूत, समाज के निम्न वर्ग का मानता है, तो उसका यह अहंकार उसके चित्त को उसी जाति के संस्कारों की जड़ जमाने और स्थिर रखने के लिये प्रस्तुत रखेगा। जो गुण, कर्म, स्वभाव इस श्रेणी के लोगों के होते हैं, वे सभी उसके चित्त में संस्कार रूप से जड़ जमाकर बैठ जायेंगे। यदि उसका अहंकार अपराधी या शराबी की मान्यता का परित्याग करके लोकसेवी, महात्मा, सच्चरित्र एवं उच्च होने

की अपनी मान्यता स्थिर कर ले, तो अति शीघ्र उसकी पुरानी आदतें, आकांक्षायें, अभिलाषायें बदल जायेंगी और वह वैसा ही बन जाएगा, जैसा कि अपने सम्बन्ध में उसका विश्वास है । शराब पीना बुरी बात है, इतना मात्र समझाने से उसकी लत छूटना मुश्किल है, क्योंकि हर कोई जानता है कि क्या बुराई है, क्या भलाई है ? ऐसे विचार तो उनके मन में पहले भी अनेकों बार आ चुके होते हैं । लत तभी छूट सकती है, जब वह अपने अहंकार को प्रतिष्ठित नागरिक की मान्यता में बदले और यह अनुभव करे कि ये आदतें मेरे गौरव के, स्तर के, व्यवहार के अनुपयुक्त हैं । अन्तःकरण की एक ही पुकार से, एक ही हुंकार से, एक ही चीत्कार से जमे हुए कुसंस्कार उखड़ कर एक ओर गिर पड़ते हैं और उनके स्थान पर नये, उपयुक्त, आवश्यक, अनुरूप संस्कार कुछ ही समय में जम जाते हैं । जो कार्य मन और बुद्धि द्वारा अत्यन्त कष्ट-साध्य मालूम पड़ता था, वह अहंकार परिवर्तन की एक चुटकी में ठीक हो जाता है ।

अहंकार तक सीधी पहुँच साधना के अतिरिक्त और किसी मार्ग से नहीं हो सकती । मन और बुद्धि को शान्त, मूर्च्छित, तन्द्रित अवस्था में छोड़कर सीधे अहंकार तक प्रवेश पाना ही साधना का उद्देश्य है । गायत्री साधना का विधान भी इसी प्रकार का है । उसका सीधा प्रभाव अहंकार पर पड़ता है । "मैं ब्राह्मी शक्ति का आधार हूँ, ईश्वरीय स्फुरणा गायत्री मेरे रोम-रोम में ओत-प्रोत हो रही है, मैं उसे अधिकाधिक मात्रा में अपने अन्दर धारण करके ब्राह्मी-भूत हो रहा हूँ ।" यह मान्यतायें मानवीय अहंकार को पाशविक स्तर से बहुत ऊँचा उठा ले जाती हैं और उसे देवभाव में अवस्थित करती हैं । मान्यता कोई साधारण वस्तु नहीं है । गीता कहती है—**'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** जो अपने सम्बन्ध में जैसी श्रद्धा-मान्यता रखता है, वस्तुतः वैसा ही होता है । गायत्री-साधना अपने साधक को दैवी आत्म-विश्वास, ईश्वरीय अहंकार प्रदान करती है और वह कुछ ही समय में वस्तुतः वैसा ही हो जाता है । जिस स्तर पर उसकी आत्म-मान्यता है, उसी स्तर पर चित्त-प्रवृत्तियाँ रहेंगी । वैसी आदतें, इच्छायें, रुचियाँ, प्रवृत्तियाँ, क्रियायें उसमें दीख पड़ेंगी । जो दिव्य मान्यता से ओत-प्रोत है—निश्चय ही उसकी इच्छायें, आदतें और क्रियायें वैसी ही होंगी । यह साधना प्रक्रिया मानव अन्तःकरण का कायाकल्प कर देती है । जिस आत्मसुधार के लिये उपदेश सुनना और पुस्तक पढ़ना विशेष सफल नहीं होता था, वह कार्य साधना द्वारा सुविधापूर्वक पूरा हो जाता है । यही साधना का रहस्य है ।

उच्च मनःक्षेत्र (सुपर मेण्टल) ही ईश्वरीय दिव्य शक्तियों के अवतरण का उपयुक्त स्थान है । हवाई जहाज वहीं उतरता है, जहाँ अड्डा होता है । ईश्वरीय दिव्य शक्ति मानव प्राणी के इसी उच्च मनःक्षेत्र में उतरती है । यदि वह साधना द्वारा निर्मल नहीं बना लिया गया है , तो अति सूक्ष्म दिव्य शक्तियों को अपने में नहीं उतारा जा सकता । साधना, साधक के उच्च मनःक्षेत्र को उपयुक्त हवाई अड्डा बनाती है जहाँ वह दैवी शक्ति उतर सके ।

आत्म-कल्याण और आत्मोत्थान के लिये अनेक प्रकार की साधनाओं का आश्रय लिया जाता है । देश, काल और पात्र भेद के कारण ही साधना-मार्ग का निर्णय करने में बहुत कुछ विचार और परिवर्तन करना पड़ता है । 'स्वाध्याय' में चित्त लगाने से सन्मार्ग की ओर रुचि होती है । 'सत्संग' से स्वभाव और संस्कार शुद्ध बनते हैं । 'कीर्तन' से एकाग्रता और तन्मयता की वृद्धि होती है । 'दान-पुण्य' से त्याग और अपरिग्रह की भावना पुष्ट होती है । 'पूजा-उपासना' से आस्तिक भावना और ईश्वर विश्वास की भावना उत्पन्न होती है । इस प्रकार भिन्न-भिन्न उद्देश्यों और परिस्थितियों को दृष्टिगोचर रखकर ऋषियों ने अनेक प्रकार की साधनाओं का उपदेश दिया है, पर इनमें सर्वोपरि 'तप' की साधना ही है । तप की अग्नि से आत्मा के मल-विक्षेप और पाप-ताप बहुत शीघ्र भस्म हो जाते हैं और आत्मा में एक अपूर्व शक्ति का आविर्भाव होता है । गायत्री-उपासना सर्वश्रेष्ठ तपश्चर्या है । इसके फलस्वरूप साधक को जो दैवी-शक्ति प्राप्त होती है , उससे सच्चा आत्मिक आनन्द प्राप्त करके उच्च से उच्च भौतिक और आध्यात्मिक लक्ष्य को वह प्राप्त कर सकता है ।

यह अपरा प्रकृति का परा प्रकृति में रूपांतरित करने का विज्ञान है । मनुष्य की पाशविक वृत्तियों के स्थान पर ईश्वरीय सत् शक्ति को प्रतिष्ठित करना ही अध्यात्म विज्ञान का कार्य है । तुच्छ को महान्, सीमित को असीम, अणु को विभु, बद्ध को मुक्त, पशु को देव बनाना साधना का उद्देश्य है । यह परिवर्तन होने के साथ-साथ वे

सामर्थ्य-शक्तियाँ भी मनुष्य में आ जाती हैं, जो उस सत्-शक्ति में सन्निहित हैं और जिन्हें ऋद्धि-सिद्धि आदि नामों से पुकारते हैं। साधना आध्यात्मिक कायाकल्प की एक वैज्ञानिक प्रणाली है और निश्चय ही अन्य साधना-विधियों में गायत्री-साधना सर्वश्रेष्ठ है।

निष्काम साधना का तत्त्व-ज्ञान

गायत्री की साधना चाहे निष्काम भाव से की जाए, चाहे सकाम भाव से, पर उसका फल अवश्य मिलता है। भोजन चाहे सकाम भाव से किया जाए चाहे निष्काम भाव से, उससे भूख शान्त होने और रक्त बनने का परिणाम अवश्य होगा। गीता आदि सत्-शास्त्रों में निष्काम कर्म करने पर इसलिये जोर दिया गया है कि उचित रीति से सत्कर्म करने पर भी यह निश्चित नहीं कि हम जो फल चाहते हैं, वह निश्चित रूप से मिल ही जायेगा। कई बार ऐसा देखा गया है कि पूरी सावधानी और तत्परता से करने पर भी वह काम पूरा नहीं होता, जिसकी इच्छा से यह सब किया गया था। ऐसी असफलता के अवसर पर साधक खिन्न, निराश, अश्रद्धालु न हो जाए और श्रेष्ठ साधना मार्ग से उदासीन न हो जाए, इसलिये शास्त्रकारों ने निष्काम कर्म को, निष्काम-साधना को अधिक श्रेष्ठ माना है और उसी पर अधिक जोर दिया है।

इसका अर्थ यह नहीं कि साधना का श्रम निरर्थक चला जाता है या साधना प्रणाली ही संदिग्ध है। उसकी प्रामाणिकता और विश्वस्तता में संदेह करने की तनिक भी गुञ्जायश नहीं है। इस दिशा में किये गये प्रयत्न का एक क्षण भी निरर्थक नहीं जाता। आज तक जिसने भी इस दिशा में कदम बढ़ाये हैं, उसे अपने श्रम का भरपूर प्रतिफल अवश्य मिला है। केवल एक अड़चन है कि सदा अभीष्ट-मनोवांछा पूर्ण हो जाए यह सुनिश्चित नहीं है।

कारण यह है कि प्रारब्ध कर्मों का परिपाक होकर जो प्रारब्ध बन चुकी है, उन कर्म रेखाओं को मेटना कठिन होता है। यह रेखायें कई बार तो साधारण होती हैं और प्रयत्न करने से उनमें हेर- फेर हो जाता है और कई बार वे भोग इतने प्रबल और सुनिश्चित होते हैं कि उनका टालना संभव नहीं होता, ऐसे कठिन प्रारब्धों के बन्धन में बड़े-ड़ों को बन्धन और उनकी यातनाओं को भुगतना पड़ा है।

राम का वन गमन, सीता का परित्याग, कृष्ण का व्याध के बाण से आहत होकर स्वर्ग सिधारना, हरिश्चन्द्र का स्त्री-पुत्रों तक को बेचना, नल द्वारा दमयन्ती का परित्याग, पाण्डवों का हिमालय में गलना, शब्दवेधी पृथ्वीराज का म्लेच्छों द्वारा बन्दी होकर मरना, जैसी असंख्यों घटनायें इतिहास में ऐसी आती हैं, जिनसे आश्चर्य होता है कि ऐसे लोगों पर ऐसी आपत्तियाँ किस कारण आ गयीं ? इसके विपरीत ऐसी घटनायें हैं कि तुच्छ, साधनहीन और विपन्न परिस्थितियों के लोगों ने बड़े-बड़े पद तथा ऐश्वर्य पाये, जिन्हें देख कर आश्चर्य होता है कि किसी दैवी-सहायता से वह तुच्छ मनुष्य इतना उत्कर्ष प्राप्त करके बिना श्रम के समर्थ हो गये। ऐसी घटनाओं का समाधान प्रारब्ध के भले-बुरे भोगों की अमिटता के आधार पर ही होता है। जो होनहार है सो होकर रहता है, प्रयत्न करने पर भी उसका टालना सम्भव नहीं होता।

यहाँ यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि जब प्रारब्ध ही प्रबल है, तो प्रयत्न करने से क्या लाभ ? ऐसा सन्देह करने वालों को समझना चाहिये कि जीवन के सभी कार्य प्रारब्ध पर निर्भर नहीं होते। कोई विशेष भवितव्यतायें ही ऐसी होती हैं, जो टल न सकें। जीवन का अधिकांश भाग ऐसा होता है जिसमें तात्कालिक कर्मों का फल प्राप्त होता रहता है, क्रिया का परिणाम अधिकतर हाथों-हाथ मिल जाता है। पर कभी-कभी उनमें ऐसे अपवाद आते रहते हैं कि भला करते बुरा होता है और बुरा करते भलाई हो जाती है। कठोर परिश्रमी और चतुर व्यक्ति घाटे में रहते हैं और मूर्ख तथा आलसी अनायास लाभ से लाभान्वित हो जाते हैं, ऐसे अपवाद सदा नहीं होते, कभी-कभी ही देखे जाते हैं। यदि ऐसी औंधी-सीधी घटनायें रोज घटित हों, तब तो संसार की सारी व्यवस्था ही बिगड़ जाए, कर्त्तव्य मार्ग ही नष्ट हो जाए। कर्म और फल का बन्धन यदि न दीख पड़ेगा, तो लोग कर्तव्य के कष्ट-साध्य मार्ग को छोड़कर जब जैसे भी बन पड़े, वैसे प्रयोजन सिद्ध करने या भाग्य के भरोसे बैठे रहने की नीति अपना लेंगे और संसार में घोर अव्यवस्था फैल जाएगी। ऐसी उलटबाँसी सदा ही नहीं हो सकती। केवल कभी-कभी ही

ऐसे अपवाद देखने में आते हैं। गायत्री की सकाम साधना जहाँ अधिकतर अभीष्ट प्रयोजन में सफलता प्रदान करती है, वहाँ कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वैसा न हो, प्रयत्न निष्फल दीख पड़े या विपरीत परिणाम हों। ऐसे अवसरों पर अकाट्य प्रारब्ध की प्रबलता ही समझनी चाहिये।

अभीष्ट फल भी न मिले तो भी गायत्री साधना का श्रम खाली नहीं जाता, उससे दूसरे प्रकार के लाभ तो प्राप्त हो ही जाते हैं। जैसे कोई नवयुवक किसी नवयुवक को कुश्ती में पछाड़ने के लिये व्यायाम और पौष्टिक भोजन द्वारा अपने शरीर को सुदृढ़ बनाने की उत्साहपूर्वक तैयारी करता है। पूरी तैयारी के बाद भी कदाचित् वह कुश्ती पछाड़ने में असफल रहता है, तो ऐसा नहीं समझना चाहिये कि उसकी तैयारी निरर्थक चली गयी। वह तो अपना लाभ दिखायेगी ही। शरीर की सुदृढ़ता, चेहरे की कान्ति, अंगों की सुडौलता, फेंफड़ों की मजबूती, बल-वीर्य की अधिकता, नीरोगिता, दीर्घ जीवन, कार्यक्षमता, बलवान् सन्तान आदि अनेकों लाभ उस बढ़ी हुई तन्दुरुस्ती से प्राप्त होकर रहेंगे।

कुश्ती की सफलता से वंचित रहना पड़ा, ठीक है पर शरीर की बल वृद्धि द्वारा प्राप्त होने वाले अन्य लाभों से उसे कोई वंचित नहीं कर सकता। गायत्री साधक अपने काम्य प्रयोजन में सफल न हो सके, तो भी उसे अन्य-अन्य अनेकों मार्गों से ऐसे लाभ मिलेंगे, जिनकी आशा बिना साधना के नहीं की जा सकती थी।

मनुष्य ऐसी कामना भी करता है, जो उसे अपने लिये लाभान्वित एवं आवश्यक प्रतीत होती है, पर ईश्वरीय दृष्टि में वह कामना उसके लिये अनावश्यक एवं हानिकारक होती है, ऐसी कामनाओं को प्रभु पूरा नहीं करते। बालक अनेकों चीजें माँगता रहता है, पर माता जानती है कि उसे क्या दिया जाना चाहिये, क्या नहीं? बालक के रोने चिल्लाने पर भी माता ध्यान नहीं देती और उस वस्तु से उसे वंचित ही रखती है, जो उसके लिये उपयोगी नहीं। रोगियों के आग्रह भी ऐसे ही होते हैं। कुपथ्य करने के लिये अक्सर माँग किया करते हैं, पर चतुर परिचारक उसकी माँग को पूरा नहीं करते, क्योंकि वे देखते हैं कि इसमें रोगी के प्राणों का खतरा है। बालक या रोगी अपनी माँग के उचित होने में कोई सन्देह नहीं करते, वे समझते हैं कि उसकी माँग उचित, आवश्यक एवं निर्दोष है। इतना होने पर भी वस्तुतः उनका दृष्टिकोण गलत होता है। गायत्री साधकों में बहुत से लोग बालक और रोगी बुद्धि के हो सकते हैं। अपनी दृष्टि से उनकी कामना उचित है पर ईश्वर ही जानता है कि किसी प्राणी के लिये क्या वस्तु उपयोगी है? वह अपने पुत्रों को उनकी योग्यता, स्थिति, आवश्यकता के अनुकूल ही देता है। असफल गायत्री साधकों में से सम्भव है किन्हीं को बाल-बुद्धि की याचना के कारण ही असफल होना पड़ा हो।

माता अपने किसी बच्चे को खिलौने और मिठाई देकर दुलार करती और किसी को अस्पताल में आपरेशन की कठोर पीड़ा दिलाने ले जाती एवं कड़वी दवा पिलाती है। बालक इस व्यवहार को माता का पक्षपात, अन्याय, निर्दयता या जो चाहे कह सकता है पर माता के हृदय को खोलकर देखा जाए, तो उसके अन्तःकरण में दोनों बालकों के लिये समान प्यार होता है। बालक जिस कार्य को अपने साथ अन्याय या शत्रुता समझता है, माता की दृष्टि में वही दुलार का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। हमारी असफलतायें, हानियाँ तथा यातनायें भी कई बार हमारे लाभ के लिये होती हैं। माता हमारी भारी आपत्तियों को उस छोटे कष्ट द्वारा निकाल देना चाहती है। उसकी दृष्टि विशाल है, उसका हृदय बुद्धिमत्तापूर्ण है, क्योंकि उसी में हमारा हित समाया हुआ होता है। दुःख, दारिद्र्य, रोग, हानि, क्लेश, अपमान, शोक, वियोग आदि देकर भी वह हमारे ऊपर अपनी महती कृपा का प्रदर्शन करती है। इन कड़वी दवाओं को पिलाकर वह हमारे अन्दर छिपी हुई भयंकर व्याधियों का शमन करके भविष्य के लिये पूर्ण नीरोग बनाने में लगी रहती है। यदि ऐसा अवसर आए, तो गायत्री साधकों को अपना धैर्य न छोडना चाहिये और न निराश होना चाहिये, क्योंकि जो माता की गोदी में अपने को डालकर निश्चिंत हो चुका है, वह घाटे में नहीं रहता। निष्काम भावना से साधना करने वाला भी सकाम साधना वालों से कम लाभ में नहीं रहता। माता से यह छिपा नहीं है कि उसके किस पुत्र को वस्तुतः किस वस्तु की आवश्यकता है। जो आवश्यकता उसकी दृष्टि में उचित है, उससे वह अपने किसी बालक को वंचित नहीं रहने देती।

अच्छा हो कि हम निष्काम साधना करें और चुपचाप देखते रहें कि हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण में वह आद्य

शक्ति किस प्रकार सहायता कर रही है। श्रद्धा और विश्वास के साथ जिसने माता का आश्रय लिया है, वह अपने सिर पर एक दैवी छत्रछाया का अस्तित्व प्रतिक्षण अनुभव करेगा और अपनी उचित आवश्यकताओं से कभी वंचित नहीं रहेगा। यह मान्य तथ्य है कि कभी किसी की गायत्री साधना निष्फल नहीं जाती।

इन साधनाओं में अनिष्ट का कोई भय नहीं

मन्त्रों की साधना की एक विशेष विधि-व्यवस्था होती है। नित्य साधना-पद्धति से निर्धारित कर्मकाण्ड के अनुसार मन्त्रों का अनुष्ठान साधन, पुरश्चरण करना होता है। आमतौर से अविधि-पूर्वक किया गया अनुष्ठान साधक के लिये हानिकारक सिद्ध होता है और लाभ के स्थान पर उससे अनिष्ट की सम्भावना रहती है।

ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं कि किसी व्यक्ति ने किसी मंत्र की या किसी देवता की साधना अथवा कोई योगाभ्यास या तांत्रिक अनुष्ठान किया। साधना की नीति-रीति में कोई भूल हो गयी या किसी प्रकार अनुष्ठान खण्डित हो गया तो उसके कारण साधक को भारी विपत्ति में पड़ना पड़ता है। ऐसे प्रमाण इतिहास पुराणों में भी हैं। वृत्र और इन्द्र की कथा इसी प्रकार की है, वेद मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण करने पर उन्हें घातक संकट सहना पड़ा था।

अन्य वेद-मन्त्रों की भाँति गायत्री का भी शुद्ध सस्वर उच्चारण होना और विधिपूर्वक साधना करना उचित है। विधिपूर्वक किये हुए अनुष्ठान सदा शीघ्र सिद्ध होते हैं और उत्तम परिणाम उपस्थित करते हैं। इतना होते हुए भी वेदमाता गायत्री में एक विशेषता है कि कोई भूल होने पर उनका हानिकारक फल नहीं होता। जिस प्रकार दयालु, उदार और बुद्धिमती माता अपने बालकों की सदा हितचिंतना करती है, उसी प्रकार गायत्री शक्ति द्वारा भी साधक का हित ही सम्पादन होता है। माता के प्रति बालक गलतियाँ भी करते रहते हैं, उनके सम्मान में बालक से त्रुटि भी रह जाती है और कई बार तो वे उल्टा आचरण कर बैठते हैं। इतने पर भी माता न तो उनके प्रति दुर्भाव मन में लाती है और न उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुँचाती है। जब साधारण मातायें इतनी दयालुता और क्षमा प्रदर्शित करती हैं तो जगज्जननी वेदमाता, सद्गुणों की दिव्य सुरसरि गायत्री से और भी अधिक आशा की जा सकती है। वह अपने बालकों की अपने प्रति श्रद्धा-भावना को देखकर प्रभावित हो जाती है, बालक की भक्ति भावना को देखकर माता का हृदय उमड़ पड़ता है। उसके वात्सल्य की अमृत निर्झरिणी फूट पड़ती है, जिसके दिव्य प्रवाह में साधना की छोटी-मोटी भूलें, कर्मकाण्ड में अज्ञानवश हुई त्रुटियाँ तिनके के समान बह जाती हैं।

सतोगुणी साधना का विपरीत फल न होने का विश्वास भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में दिखाया है—

नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ – श्रीमद्भगवद्गीता २/४०

अर्थात्—सत्कार्य के आरम्भ का नाश नहीं होता, वह गिरता-पड़ता आगे बढ़ता चलता है। उससे उलटा फल कभी नहीं निकलता। ऐसा कभी नहीं होता कि सत् इच्छा से किया हुआ कार्य असत् हो जाए और उसका शुभ परिणाम न निकले। थोड़ा भी धर्म कार्य बड़े भयों से रक्षा करता है।

गायत्री साधना ऐसा ही सात्त्विक सत्कर्म है, जिसे एक बार आरम्भ कर दिया जाए तो मन की प्रवृत्तियाँ उस ओर अवश्य ही आकर्षित होती हैं और बीच में किसी प्रकार छूट जाए तो फिर भी समय-समय पर बार-बार उस साधक को पुन: आरम्भ करने की इच्छा उठती रहती है। किसी स्वादिष्ट पदार्थ का एक बार स्वाद मिल जाता है, तो बार-बार उसे प्राप्त करने की इच्छा हुआ करती है। गायत्री ऐसा ही अमृतोपम स्वादिष्ट आध्यात्मिक आहार है, जिसे प्राप्त करने के लिए आत्मा बार-बार मचलती है, बार-बार चीख-पुकार करती है। उसकी साधना में कोई भूल रह जाए तो भी उलटा परिणाम नहीं निकलता। किसी विपत्ति, संकट या अनिष्ट का सामना नहीं करना पड़ता। त्रुटियों का परिणाम यह हो सकता है कि आशा से कम फल मिले या अधिक से अधिक यह कि वह निष्फल चला जाए। इस साधना को किसी थोड़े से भी रूप में प्रारम्भ कर देने से उसका फल हर दृष्टि से उत्तम होता है। उस फल के कारण उन भयों से मुक्ति मिल जाती है, जो अन्य उपायों से बड़ी कठिनाइयों से हटाये या मिटाये जा सकते हैं।

इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये भागवत के बारहवें स्कन्ध में नारदजी ने भगवान् नारायण से यही प्रश्न किया था कि आप कोई ऐसा उपाय बतायें, जिसे अल्प शक्ति के मनुष्य भी सहज में कर सकें और जिससे माता प्रसन्न होकर उनका कल्याण करे। क्योंकि सभी देवताओं की साधना में प्राय: आचार-विचार, विधि-विधान, त्याग-तपस्या के कठिन नियम बतलाये गये हैं, जिनको सामान्य श्रेणी और थोड़ी विद्या-बुद्धि वाले व्यक्ति पूरा नहीं कर सकते। इस पर भगवान् ने कहा—'हे नारद ! मनुष्य अन्य कोई अनुष्ठान करे या न करे, पर एकमात्र गायत्री में ही जो दृढ़ निष्ठा रखते हैं, वे अपने जीवन को धन्य बना लेते हैं। हे महामुनि ! जो सन्ध्या में अर्घ्य देते हैं और प्रतिदिन गायत्री का तीन-हजार जप करते हैं, वे देवताओं द्वारा भी पूजने योग्य बन जाते हैं। जप करने से पहले उसका न्यास किया जाता है क्योंकि शास्त्रकारों का कथन है कि 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'। अर्थात्—'देव जैसा बनकर देवों का यजन करना।' परन्तु किसी कठिनाई या प्रमाद से न्यास न कर सके और सच्चिदानन्द गायत्री का निष्कपट भाव से ध्यान करके केवल उसका ही जप करता रहे, तो भी पर्याप्त है। गायत्री का एक अक्षर सिद्ध हो जाने से भी उत्तम ब्राह्मण विष्णु, शंकर, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्र, अग्नि के साथ स्पर्धा करता है। जो साधक नियमानुसार गायत्री की उपासना करता है, वह उसी के द्वारा सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।' इस कथानक से विदित होता है कि इस युग में गायत्री की सात्त्विक और निष्काम साधना ही सर्वश्रेष्ठ है। उससे निश्चित रूप से आत्म-कल्याण होता है।

इन सब बातों पर विचार करते हुए साधकों को निर्भय मन से समस्त आशंकाओं एवं भय को छोड़कर गायत्री की उपासना करनी चाहिये। यह साधारण अस्त्र नहीं है, जिसके लिये नियत भूमिका बाँधे बिना काम न चले। मनुष्य यदि किन्हीं छुट्टल, वन-चर जीवों को पकड़ना चाहे, तो उसके लिये चतुरतापूर्ण उपायों की आवश्यकता पड़ती है ; परन्तु बछड़ा अपनी माँ को पकड़ना चाहे तो उसे मातृ-भावना से 'माँ' पुकार देना मात्र काफी होता है। गौ माता खड़ी हो जाती है, वात्सल्य के साथ बछड़े को चाटने लगती है और उसे अपने पयोधरों से दुग्धपान कराने लगती है। आइये, हम भी वेदमाता को सच्चे अन्त:करण से भक्तिभावना के साथ पुकारें और उसके अन्तराल से निकला हुआ अमृत रस-पान करें।

हमें शास्त्रीय साधना-पद्धति से उसकी साधना करने का शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिये। अकारण भूल करने से क्या प्रयोजन ? अपनी माता अनुचित व्यवहार को भी क्षमा कर देती है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति में कुछ ढील या उपेक्षा की जाए। जहाँ तक बन पड़े पूर्ण सावधानी के साथ साधना करनी चाहिये, पर साथ ही इस आशंका को मन से निकाल देना चाहिये कि "किंचित् मात्र भूल हो गयी, तो बुरा होगा।" इस भय के कारण गायत्री-साधना से वंचित रहने की आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट है कि वेदमाता अपने भक्तों की भक्ति-भावना का प्रधान रूप से ध्यान रखती हैं और अज्ञानवश हुई छोटी-मोटी भूलों को क्षमा करती हैं।

साधकों के लिये कुछ आवश्यक नियम

गायत्री-साधना करने वालों के लिये कुछ आवश्यक जानकारियाँ नीचे दी जाती हैं—

१—शरीर को शुद्ध करके साधना पर बैठना चाहिये। साधारणत: स्नान के द्वारा ही शुद्धि होती है, पर किसी विवशता, ऋतु-प्रतिकूलता या अस्वस्थता की दशा में हाथ-मुँह धोकर या गीले कपड़े से शरीर पोंछकर भी काम चलाया जा सकता है।

२—साधना के समय शरीर पर कम से कम वस्त्र रहने चाहिये। शीत की अधिकता हो तो कसे हुए कपड़े पहनने की अपेक्षा कम्बल आदि ओढ़कर शीत-निवारण कर लेना उत्तम है।

३—साधना के लिये एकान्त खुली हवा की एक ऐसी जगह ढूँढ़नी चाहिये, जहाँ का वातावरण शान्तिमय हो। खेत, बगीचा, जलाशय का किनारा, देव-मन्दिर इस कार्य के लिये उपयुक्त होते हैं, पर जहाँ ऐसा स्थान मिलने की असुविधा हो, वहाँ घर का कोई स्वच्छ और शान्त भाग भी चुना जा सकता है।

४—धुला हुआ वस्त्र पहनकर साधना करना उचित है।

५—पालथी मारकर सीधे-सादे ढंग से बैठना चाहिये। कष्टसाध्य आसन लगाकर बैठने से शरीर को कष्ट

होता है और मन बार-बार उचटता है, इसलिये इस तरह बैठना चाहिये कि देर तक बैठे रहने में असुविधा न हो।

६—रीढ़ की हड्डी को सदा सीधा रखना चाहिये। कमर झुका कर बैठने से मेरुदण्ड टेढ़ा हो जाता है और सुषुम्ना नाड़ी में प्राण का आवागमन होने में बाधा पड़ती है।

७—बिना बिछाये जमीन पर साधना करने के लिए न बैठना चाहिये। इससे साधना-काल में उत्पन्न होने वाली शारीरिक विद्युत् जमीन पर उतर जाती है। घास या पत्तों से बने हुए आसन सर्वश्रेष्ठ हैं। कुश का आसन, चटाई, रस्सियों का बना फर्श सबसे अच्छे हैं। इनके बाद सूती आसनों का नम्बर है। ऊन तथा चर्म के आसन तान्त्रिक कर्मों में प्रयुक्त होते हैं।

८—माला, तुलसी या चन्दन की लेनी चाहिये। रुद्राक्ष, लाल चन्दन, शंख आदि की माला गायत्री के तांत्रिक प्रयोगों में प्रयुक्त होती हैं।

९—प्रात:काल २ घण्टे तड़के से जप आरम्भ किया जा सकता है। सूर्य अस्त होने के एक घण्टे बाद तक जप समाप्त कर लेना चाहिये। एक घण्टा शाम का, २ घण्टे प्रात:काल के, कुल ३ घण्टों को छोड़कर रात्रि के अन्य भागों में गायत्री की दक्षिणमार्गी साधना नहीं करनी चाहिये।तांत्रिक साधनाएँ अर्ध रात्रि के आस-पास की जाती हैं।

१०—साधना के लिए चार बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये—(अ) चित्त एकाग्र रहे, मन इधर-उधर न उछलता फिरे। यदि चित्त बहुत दौड़े, तो उसे माता की सुन्दर छवि के ध्यान में लगाना चाहिये। (ब) माता के प्रति अगाध श्रद्धा और विश्वास हो, अविश्वासी और शंका-शंकित मति वाले पूरा लाभ नहीं पा सकते। (स) दृढ़ता के साथ साधना पर अड़े रहना चाहिये। अनुत्साह, मन उचटना, नीरसता प्रतीत होना, जल्दी लाभ न मिलना, अस्वस्थता तथा अन्य सांसारिक कठिनाइयों का मार्ग में आना साधना के विघ्न हैं। इन विघ्नों से लड़ते हुए अपने मार्ग पर दृढ़तापूर्वक बढ़ते चलना चाहिये। (द) निरन्तरता साधना का आवश्यक नियम है। अत्यन्त कार्य होने या विषम स्थिति आ जाने पर भी किसी न किसी रूप से चलते-फिरते ही सही, पर माता की उपासना अवश्य कर लेनी चाहिये। किसी भी दिन नागा या भूल नहीं करनी चाहिये। समय को रोज-रोज नहीं बदलना चाहिये। कभी सबेरे, कभी दोपहर, कभी तीन बजे तो कभी दस बजे ऐसी अनियमितता ठीक नहीं। इन चार नियमों के साथ की गयी साधना बड़ी प्रभावशाली होती है।

११—कम से कम एक माला अर्थात् १०८ मन्त्र नित्य जपने चाहिये, इससे अधिक जितने बन पड़ें उतने उत्तम हैं।

१२—किसी अनुभवी तथा सदाचारी को साधना गुरु नियत करके तब साधना करनी चाहिये। अपने लिये कौन-सी साधना उपयुक्त है, उसका निर्णय उसी से कराना चाहिये। रोगी अपने रोग को स्वयं समझने और अपने आप दवा तथा परहेज का निर्णय करने में समर्थ नहीं होता, उसे किसी वैद्य की सहायता लेनी पड़ती है। इसी प्रकार अपनी मनोभूमि के अनुकूल साधना बताने वाला, भूलों तथा कठिनाइयों का समाधान करने वाला साधना-गुरु होना अति आवश्यक है।

१३—प्रात:काल की साधना के लिये पूर्व को मुँह करके बैठना चाहिये और शाम को पश्चिम को मुँह करके। प्रकाश की ओर, सूर्य की ओर मुँह करना उचित है।

१४—पूजा के लिये फूल न मिलने पर चावल या नारियल की गिरी को कद्दूकस पर कस कर उसके बारीक पत्रों को काम में लाना चाहिये। यदि किसी विधान में रंगीन पुष्पों की आवश्यकता हो, तो चावल या गिरी के पत्तों को केशर, हल्दी, गेरू, मेंहदी के देशी रंगों से रंगा जा सकता है। विदेशी अशुद्ध चीजों से बने रंग काम में नहीं लेने चाहिये।

१५—देर तक एक पालथी से, एक आसन में बैठे रहना कठिन होता है, इसलिए जब एक तरफ से बैठे-बैठे पैर थक जाएँ, तब उन्हें बदला जा सकता है। आसन बदलने में दोष नहीं।

१६—मल-मूत्र त्याग या किसी अनिवार्य कार्य के लिये साधना के बीच में उठना पड़े, तो शुद्ध जल से

हाथ-मुँह धोकर तब दुबारा बैठना चाहिए और विक्षेप के लिये एक माला का अतिरिक्त जप प्रायश्चित्त स्वरूप करना चाहिये।

१७—यदि किसी दिन अनिवार्य कारण से साधना स्थगित करनी पड़े, तो दूसरे दिन एक माला अतिरिक्त जप दण्डस्वरूप करना चाहिये।

१८—जन्म या मृत्यु का सूतक हो जाने पर शुद्धि होने तक माला आदि की सहायता से किया जाने वाला विधिवत् जप स्थगित रखना चाहिये। केवल मानसिक जप मन ही मन चालू रख सकते हैं। यदि इस प्रकार का अवसर सवालक्ष जप के अनुष्ठान काल में आ जाए, तो उतने दिनों अनुष्ठान स्थगित रखना चाहिये, सूतक निवृत्त होने पर उसी संख्या पर से जप आरम्भ किया जा सकता है, जहाँ से छोड़ा था। उस विक्षेप काल की शुद्धि के लिये एक हजार जप विशेष रूप से करने चाहिये।

१९—लम्बे सफर में होने, स्वयं रोगी हो जाने या तीव्र रोगी की सेवा में संलग्न रहने की दशा में स्नान आदि पवित्रताओं की सुविधा नहीं रहती। ऐसी दशा में मानसिक जप बिस्तर पर पड़े-पड़े, रास्ता चलते या किसी भी अपवित्र दशा में किया जा सकता है।

२०—साधक का आहार-विहार सात्त्विक होना चाहिये। आहार में सतोगुणी, सादा, सुपाच्य, ताजे तथा पवित्र हाथों से बनाये हुए पदार्थ होने चाहिए। अधिक मिर्च-मसाले, तले हुए पक्वान्न, मिष्टान्न, बासी, बुसे, दुर्गन्धित, मांस, नशीले, अभक्ष्य, उष्ण, दाहक, अनीति उपार्जित, गन्दे मनुष्यों द्वारा बनाये हुए, तिरस्कार पूर्वक दिये हुए भोजन से जितना बचा जा सके, उतना ही अच्छा है।

२१—व्यवहार जितना भी प्राकृतिक, धर्म-संगत, सरल एवं सात्त्विक रह सके, उतना ही उत्तम है। फैशनपरस्ती, रात्रि में अधिक जगना, दिन में सोना, सिनेमा, नाच-रंग अधिक देखना, पर निन्दा, छिद्रान्वेषण, कलह, दुराचार, ईर्ष्या, निष्ठुरता, आलस्य, प्रमाद, मद, मत्सर से जितना बचा जा सके, बचने का प्रयत्न करना चाहिये।

२२—यों ब्रह्मचर्य तो सदा ही उत्तम है, पर गायत्री-अनुष्ठान के ४० दिन में उसकी विशेष आवश्यकता है।

२३—अनुष्ठान के दिनों में कुछ विशेष नियमों का पालन करना पड़ता है, जो इस प्रकार हैं—(१) ठोड़ी के सिवाय सिर के बाल न कटाएँ, ठोड़ी के बाल अपने हाथ से ही बनायें। (२) चारपाई पर न सोयें, तख्त या जमीन पर सोना चाहिये। उन दिनों अधिक दूर नंगे पैरों न फिरें। चाम के जूते के स्थान पर खड़ाऊ आदि का उपयोग करना चाहिये। (४) इन दिनों एक समय आहार, एक समय फलाहार लेना चाहिये। (५) अपने शरीर और वस्त्रों से दूसरों का स्पर्श कम से कम होने दें।

२४—एकान्त में जप करते समय माला खुले रूप से जपनी चाहिये। जहाँ बहुत आदमियों की दृष्टि पड़ती हो, वहाँ कपड़े से ढक लेना चाहिये या गोमुखी में हाथ डाल लेना चाहिये।

२५—साधना के उपरान्त पूजा के बचे हुए अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, फूल, जल, दीपक की बत्ती, हवन की भस्म आदि को यों ही जहाँ-तहाँ ऐसी जगह नहीं फेंक देना चाहिये जहाँ वह पैरों तले कुचलती फिरे। उन्हें किसी तीर्थ, नदी, जलाशय, देव-मन्दिर, कपास, जौ, चावल का खेत आदि पवित्र स्थानों पर विसर्जित करना चाहिये। चावल चिड़ियों के लिये डाल देना चाहिये। नैवेद्य आदि बालकों को बाँट देना चाहिये। जल को सूर्य के सम्मुख अर्घ्य देना चाहिये।

२६—वेदोक्त रीति की यौगिक दक्षिण-मार्गी क्रियाओं में और तन्त्रोक्त वाममार्गी क्रियाओं में अन्तर है। योगमार्गी सरल विधियाँ इस पुस्तक में लिखी हुई हैं, उनमें कोई विशेष कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं है। शाप मोचन, कवच, कीलक, अर्गला, मुद्रा, अंग न्यास आदि कर्मकाण्ड, तान्त्रिक साधनाओं के लिये हैं। इस पुस्तक के आधार पर साधना करने वालों को उसकी आवश्यकता नहीं है।

२७—गायत्री का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन द्विजातियों को है। वर्ण जन्म से भी होते हैं और गुण, कर्म, स्वभाव से भी। आजकल जन्म से जातियों में बड़ी गड़बड़ी हो गयी है। कई उच्च वर्ण समय के फेर

से नीच वर्णों में गिने जाने लगे हैं और कई नीच वंश उच्च कहलाते हैं । जहाँ अधिकार के सम्बन्ध में कुछ गड़बड़ी की आशंका हो, वहाँ अपनी स्थिति के बारे में, "शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार" से निर्णय कराया जा सकता है ।

२८—वेद मन्त्रों का सस्वर उच्चारण करना उचित होता है, पर सब लोग यथाविधि सस्वर गायत्री का उच्चारण नहीं कर सकते । इसलिये जप इस प्रकार करना चाहिये कि कण्ठ से ध्वनि होती रहे, होंठ हिलते रहें, पर पास बैठा हुआ व्यक्ति भी स्पष्ट रूप से मन्त्र को न सुन सके । इस प्रकार किया जप स्वर-बन्धनों से मुक्त होता है ।

२९—साधना की अनेकों विधियाँ हैं । अनेक लोग अनेक प्रकार से करते हैं । अपनी साधना विधि दूसरों को बताई जाए, तो कुछ न कुछ मीन- मेख निकाल कर सन्देह और भ्रम उत्पन्न कर देंगे । इसलिये अपनी साधना विधि हर किसी को नहीं बतानी चाहिये । यदि दूसरे मतभेद प्रकट करें, तो अपने साधना गुरु को ही सर्वोपरि मानना चाहिये । यदि कोई दोष की बात होगी, तो उसका पाप या उत्तरदायित्व उस साधना गुरु पर पड़ेगा । साधक तो निर्दोष और श्रद्धा युक्त होने से सच्ची साधना का ही फल पाएगा । वाल्मीकि जी उलटा राम नाम जप कर भी सिद्ध हो गये थे ।

३०—गायत्री साधना माता की चरण-वन्दना के समान है, यह कभी निष्फल नहीं होती । उलटा परिणाम भी नहीं होता, भूल हो जाने पर अनिष्ट की कोई आशंका नहीं । इसलिये निर्भय और प्रसन्न चित्त से उपासना करनी चाहिये । अन्य मन्त्र अविधिपूर्वक जपे जाने पर अनिष्ट करते हैं, पर गायत्री में यह बात नहीं है । वह सर्वसुलभ, अत्यन्त सुगम और सब प्रकार सुसाध्य है । हाँ, तांत्रिक विधि से की गयी उपासना पूर्ण विधि-विधान के साथ होनी चाहिये, उसमें अन्तर पड़ना हानिकारक है ।

३१—जैसे मिठाई को अकेले-अकेले ही चुपचाप खा लेना और समीपवर्ती लोगों को उसे न चखाना बुरा है, वैसे ही गायत्री साधना को स्वयं तो करते रहना, पर अन्य प्रियजनों, मित्रों, कुटुम्बियों को उसके लिये प्रोत्साहित न करना, एक बहुत बड़ी बुराई तथा भूल है । इस बुराई से बचने के लिये हर साधक को चाहिये कि अधिक से अधिक लोगों को इस दिशा में प्रोत्साहित करें ।

३२—कोई बात समझ में न आती हो या सन्देह हो तो जवाबी पत्र भेजकर *"शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार"* से उसका समाधान कराया जा सकता है ।

३३—माला जपते समय सुमेरु (माला के आरम्भ का सबसे बड़ा दाना) का उल्लंघन नहीं करना चाहिये । एक माला पूरी करके उसे मस्तक तथा नेत्रों से लगाकर पीछे की तरफ उलटा ही वापस कर लेना चाहिये । इस प्रकार माला पूरी होने पर हर बार उलट कर ही नया आरम्भ करना चाहिये ।

अपनी पूजा-सामग्री ऐसी जगह रखनी चाहिये, जिसे अन्य लोग अधिक स्पर्श न करें ।

साधना-एकाग्रता और स्थिर चित्त से होनी चाहिये

साधना के लिये स्वस्थ और शांत चित्त की आवश्यकता है । चित्त को एकाग्र करके मन को सब ओर से हटाकर, तन्मयता, श्रद्धा और भक्ति-भावना से की गयीं साधना सफल होती है । यदि यह सब बातें साधक के पास न हों , तो उसका प्रयत्न फलदायक नहीं होता । उद्विग्न, अशान्त, चिन्तित, उत्तेजित, भय एवं आशंका से ग्रस्त मन एक जगह नहीं ठहरता । वह क्षण-क्षण में इधर-उधर भागता है । कभी भय के चित्र सामने आते हैं, कभी दुर्दशा को पार करने के उपाय सोचने में मस्तिष्क दौड़ता है । ऐसी स्थिति में साधना कैसे हो सकती है ? एकाग्रता न होने से न गायत्री के जप में मन लगता है न ध्यान में । हाथ माला को फेरते हैं, मुख मन्त्रोच्चार करता है, चित्त कहीं का कहीं भागता फिरता है । यह स्थिति साधना के लिये उपयुक्त नहीं । जब तक मन सब ओर से हट कर, सब बातें भुलाकर एकाग्रता और तन्मयता के साथ भक्ति-भावना पूर्वक माता के चरणों में नहीं लग जाता, तब तक अपने में वह चुम्बक कैसे पैदा होगा जो गायत्री को अपनी ओर आकर्षित करे और अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में उसकी सहायता प्राप्त कर सके ।

दूसरी कठिनाई है—श्रद्धा की कमी । कितने ही मनुष्यों की मनोभूमि बड़ी शुष्क एवं अश्रद्धालु होती है, उन्हें आध्यात्मिक साधनों पर सच्चे मन से विश्वास नहीं होता । किसी से बहुत प्रशंसा सुनी, तो परीक्षा करने का कौतूहल

मन में उठता है कि देखें यह बात कहाँ तक सच है ? इस सचाई को जानने के लिये किसी कष्टसाध्य कार्य की पूर्ति को कसौटी बनाते हैं और उस कार्य की तुलना में वैसा परिश्रम नहीं करना चाहते । वे चाहते हैं कि १०-२० माला मन्त्र जपते ही उनका कष्टसाध्य मनोरथ आनन-फानन में पूरा हो जाए । कोई-कोई सज्जन तो ऐसी मनौती मानते देखे गये हैं कि हमारा अमुक कार्य पहले पूरा हो जाए तो अमुक साधना इतनी मात्रा में पीछे करेंगे । उनका प्रयास ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि पहले जमीन से निकल कर पानी हमारे खेत को सींच दे, तब हम जल—'देवता को प्रसन्न करने के लिये कुआँ खोदवा देंगे । वे सोचते हैं कि शायद अदृश्य शक्तियाँ हमारी उपासना के बिना भूखी बैठी होंगी, हमारे बिना सारा काम रुका पड़ा रहेगा, इसलिये उनसे वायदा कर दिया जाए कि पहले अमुक मजदूरी कर दो, तब तुम्हें खाना खिला देंगे या तुम्हारे रुके हुए काम पूरा करने में सहायता देंगे । यह वृत्ति उपहासास्पद है, उनके अविश्वास तथा ओछेपन को प्रकट करती है ।'

अविश्वासी, अश्रद्धालु, अस्थिर चित्त के मनुष्य भी यदि गायत्री साधना को नियमपूर्वक करते चलें, तो कुछ समय में उनके यह तीनों दोष दूर हो जाते हैं और श्रद्धा, विश्वास एवं एकाग्रता उत्पन्न होने से सफलता की ओर तेजी से कदम बढ़ने लगते हैं । इसलिये चाहे किसी की मनोभूमि असंयमी तथा अस्थिर ही क्यों न हो ; पर साधना में लग ही जाना चाहिये । एक न एक दिन त्रुटियाँ दूर हो जायेंगी और भाता की कृपा प्राप्त होकर ही रहेगी ।

श्रद्धा और विश्वास की शक्ति बड़ी प्रबल है । इनके द्वारा मनुष्य असम्भव कार्य को भी सम्पन्न कर डालता है । भगीरथ ने श्रद्धा के बल से ही हिमालय पर्वत में मार्ग बनाकर गंगा का पृथ्वी पर अवतरण कराया । श्रद्धा और विश्वास के प्रभाव से ही ध्रुव और नामदेव जैसे छोटे बालकों ने भगवान् का साक्षात्कार कर लिया । इसी आधार पर तुलसीदास और सूरदास जैसे वासनाग्रस्त व्यक्ति सन्त शिरोमणि बन गये । इसलिये यदि हम इस महान् शक्ति का आश्रय लें, तो हमारे चित्त की चंचलता और अस्थिरता क्रमशः स्वयमेव दूर हो जायेगी । आवश्यकता इतनी ही है कि हम नियमपालन का ध्यान रखें और जो संकल्प किया है , उस पर दृढ़ बने रहें । इसके फल से हमारी मानसिक दुर्बलता अथवा शारीरिक अशक्ति का निराकरण स्वयं होता जायेगा और हमारी साधना अन्त में अवश्य सफल होगी ।

शास्त्र कथन है—**'संदिग्धो हि हतो मन्त्री व्यग्रचित्तो हतो जपः'** सन्देह करने से मन्त्र हत हो जाता है और व्यग्रचित्त से किया हुआ जप निष्फल रहता है । संदिग्ध, व्यग्र, अश्रद्धालु और अस्थिर होने पर कोई विशेष प्रयोजन सफल नहीं हो सकता । इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए अध्यात्म विद्या के आचार्यों ने एक उपाय दूसरों द्वारा साधना कराना बताया है । किसी अधिकारी व्यक्ति को साधना कार्य में लगा देना और उसकी स्थान पूर्ति स्वयं कर देना एक सीधा-सादा निर्दोष परिवर्तन है । किसान अन्न तैयार करता है और जुलाहा कपड़ा । आवश्यकता होने पर अन्न और कपड़े की अदल-बदल हो जाती है । जिस प्रकार वकील, डॉक्टर, अध्यापक, क्लर्क आदि का समय, मूल्य देकर खरीदा जा सकता है और उस खरीदे हुए समय का मनचाहा उपयोग अपने प्रयोजन के लिये किया जा सकता है, उसी प्रकार किसी ब्रह्म परायण सत्पुरुष को गायत्री-उपासना के लिये नियुक्त किया जा सकता है । इसमें सन्देह और अस्थिर चित्त होने के कारण जो कठिनाइयाँ मार्ग में आती हैं, उनका हल आसानी से हो जाता है ।

कार्य-व्यस्त और श्रीसम्पन्न धार्मिक-मनोवृत्ति के लोग बहुधा अपनी शान्ति, सुरक्षा और उन्नति के लिये गोपाल सहस्रनाम, विष्णु सहस्रनाम, महामृत्युञ्जय, दुर्गासप्तशती, शिव-महिमा, गंगा लहरी आदि का पाठ नियमित रूप से कराते हैं । वे किसी ब्राह्मण से मासिक दक्षिणा पर नियत समय के लिये अनुबन्ध कर लेते हैं, जितने समय वह पाठ करता है, उनका परिवर्तित मूल्य दक्षिणा के रूप में उसे दिया जाता है । इस प्रकार वर्षों यह क्रम नियमित चलता रहता है । किसी विशेष अवसर पर विशेष रूप से विशेष प्रयोजन के लिये विशेष अनुष्ठानों के आयोजन भी होते हैं । नव-दुर्गाओं के अवसर पर बहुधा लोग दुर्गा पाठ कराते हैं ।शिवरात्रि को शिव महिमा, गंगा दशहरा को गंगा लहरी, दीवाली को श्रीसूक्त का पाठ अनेकों पण्डितों को बैठाकर अपनी सामर्थ्यानुसार लोग अधिकाधिक कराते हैं । मन्दिर में भगवान् की पूजा के लिये पुजारी नियुक्त कर दिये जाते हैं । मन्दिरों के संचालक की ओर से वे पूजा करते हैं और संचालक उनके परिश्रम का मूल्य चुका देते हैं । इस प्रकार का परिवर्तन गायत्री साधना में

भी हो सकता है । अपने शरीर, मन, परिवार और व्यवसाय की सुरक्षा तथा उन्नति के लिये गायत्री का जप एक-दो हजार की संख्या में नित्य ही कराने की व्यवस्था श्रीसम्पन्न लोग आसानी से कर सकते हैं । इस प्रकार कोई लाभ होने पर उसकी प्रसन्नता, शुभ आशा के लिये अथवा विपत्ति निवारणार्थ सवा लक्ष जाप का गायत्री अनुष्ठान किसी सत्पात्र ब्राह्मण द्वारा कराया जा सकता है । ऐसे अवसरों पर साधना करने वाले ब्राह्मण को अन्न, वस्त्र, बर्तन तथा दक्षिणा रूप में उचित पारिश्रमिक उदारतापूर्वक देना चाहिये । सन्तुष्ट साधक का सच्चा आशीर्वाद उस प्रयोजन के फल को और भी बढ़ा देता है । ऐसी साधना करने वालों को भी ऐसा सन्तोषी होना चाहिये कि अति न्यून मिलने पर भी सन्तुष्ट रहें और आशीर्वादात्मक भावनायें मन में रखें । असन्तुष्ट होकर दुर्भावनायें प्रेरित करने पर तो दोनों का ही समय तथा श्रम निष्फल होता है ।

अच्छा तो यह है कि हर साधक अपनी साधना स्वयं करे । कहावत है—"आप काज सो महाकाज ।" परन्तु यदि मजबूरी के कारण वैसा न हो सके, कार्य-व्यस्तता, अस्वस्थता, अस्थिर चित्त, चिन्ताजनक स्थिति आदि के कारण यदि अपने से साधन न बन पड़े, तो आदान-प्रदान के निर्दोष एवं सीधे-साधे नियम के आधार पर अन्य अधिकारी पात्रों से वह कार्य कराया जा सकता है । यह तरीका भी काफी प्रभावपूर्ण और लाभदायक सिद्ध होता है । ऐसे सत्पात्र एवं अधिकारी अनुष्ठानकर्त्ता तलाश करने में शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार संस्थान से सहायता ली जा सकती है ।

गायत्री द्वारा सन्ध्यावन्दन

कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिनका नित्य करना मनुष्य का अनिवार्य कर्त्तव्य है, ऐसे कर्मों को नित्यकर्म कहते हैं । नित्यकर्मों के उद्देश्य हैं, १—आवश्यक तत्त्वों का संचय । २—अनावश्यक तत्त्वों का त्याग । शरीर को प्राय: नित्य ही कुछ न कुछ नई आवश्यकता होती है । प्रत्येक गतिशील वस्तु अपनी गति को स्थिर रखने के लिये कहीं न कहीं से नई शक्ति प्राप्त करती है, यदि वह न मिले तो उसका अन्त हो जाता है । रेल के लिये कोयला-पानी, मोटर के लिये पेट्रोल, तार के लिये बैटरी, इन्जन के लिये तेल, सिनेमा के लिये बिजली की आवश्यकता होती है । पौधों का जीवन खाद-पानी पर निर्भर रहता है । पशु-पक्षी, कीट-पतंग, प्रकृति के अनुसार अन्न, जल, वायु लेकर वे जीवन धारण करते हैं । यदि आहार न मिले तो शरीर-यात्रा असम्भव है । कोई भी गतिशील वस्तु चाहे वह सजीव हो या निर्जीव, अपनी गतिशीलता को स्थिर रखने के लिये आहार अवश्य चाहेगी ।

इसी प्रकार प्रत्येक गतिशील पदार्थ में प्रतिक्षण कुछ न कुछ मल बनता रहता है, जिसे जल्दी साफ करने की आवश्यकता पड़ती है । रेल में कोयले की राख, मशीनों में तेल का कीचड़ जमता है । शरीर में प्रतिक्षण मल बनता है और वह गुदा, शिश्न, नाक, मुख, कान, आँख, त्वचा आदि के छिद्रों द्वारा निकलता रहता है । यदि मल की सफाई न हो, तो देह में इतना विष एकत्रित हो जाएगा कि दो-चार दिन में ही जीवन संकट उपस्थित हुए बिना न रहेगा । मकान में बुहारी न लगायी जाए, कपड़ों को न धोया जाए, बर्तन को न मला जाए, शरीर को स्नान न कराया जाए तो एक-दो दिन में ही मैल चढ़ जाएगा और गन्दगी, कुरूपता, बदबू, मलिनता तथा विकृति उत्पन्न हो जाएगी ।

आत्मा सबसे अधिक गतिशील और चैतन्य है, उसे भी आहार की और मल-विसर्जन की आवश्यकता पड़ती है । स्वाध्याय, सत्संग, आत्म-चिन्तन, उपासना, साधना आदि साधनों द्वारा आत्मा को आहार प्राप्त होता है और वह बलवान्, चैतन्य तथा क्रियाशील रहती है । जो लोग इन आहारों से अपने अन्त:करण को वंचित रखते हैं और सांसारिक झंझटों में ही हर घड़ी लगे रहते हैं ; उनका शरीर चाहे कितना ही मोटा हो, धन-दौलत कितना ही जमा क्यों न हो जाए, पर आत्मा भूखी ही रहती है । इस भूख के कारण वह निस्तेज, निर्बल, निष्क्रिय और अर्धमूर्च्छित अवस्था में पड़ी रहती है । इसलिये शास्त्रकारों ने आत्म-साधना को नित्यकर्म में शामिल करके मनुष्य के लिये उसे एक आवश्यक कर्तव्य बना दिया है ।

आत्मिक साधना में आहार-प्राप्ति और मल - विसर्जन दोनों महत्त्वपूर्ण कार्य समान रूप से होते हैं । आत्मिक भावना, विचारधारा और अवस्थिति को बलवान्, चैतन्य एवं क्रियाशील बनाने वाली पद्धति को साधना कहते हैं । यह साधना उन विकारों, मलों एवं विषों की भी सफाई करती है, जो सांसारिक विषयों और उलझनों के कारण

चित्त पर बुरे रूप से सदा ही जमते रहते हैं । शरीर को दो बार स्नान कराना, दो बार शौच जाना आवश्यक समझा जाता है । आत्मा के लिये भी यह क्रियायें होनी आवश्यक हैं, इसी को सन्ध्या कहते हैं । शरीर से आत्मा का महत्त्व अधिक होने के कारण त्रिकाल सन्ध्या की साधना का शास्त्रों में वर्णन है । तीन बार न बन पड़े, तो प्रातः—सायं दो बार से काम चलाया जा सकता है । जिसकी रुचि इधर बहुत ही कम है, वे एक बार तो कम से कम यह समझ कर करें कि सन्ध्या हमारा आवश्यक नित्य कर्म है, धार्मिक कर्त्तव्य है । उसे न करने से पाप विकारों का जमाव होता रहता है, भूखी आत्मा निर्बल होती चलती है, यह दोनों ही बातें पाप कर्मों में शुमार हैं । अतएव पातक भार से बचने के लिये भी सन्ध्या को हमारे आवश्यक नित्य कर्मों में स्थान मिलना उचित है ।

सन्ध्या वन्दन की अनेक विधियाँ हिन्दू धर्म में प्रचलित हैं । उनमें सबसे सरल, सुगम, सीधी एवं अत्यधिक प्रभावशाली उपासना गायत्री मन्त्र द्वारा होने वाली 'ब्रह्मसन्ध्या' है । इसमें केवल एक ही गायत्री-मन्त्र याद करना होता है । अन्य सन्ध्या विधियों की भाँति अनेक मन्त्र याद करने और अनेक प्रकार के विधि-विधान याद रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

सूर्योदय या सूर्यास्त समय को सन्ध्याकाल कहते हैं । यही समय सन्ध्यावन्दन का है । सुविधानुसार इसमें थोड़ा आगे-पीछे भी कर सकते हैं । त्रिकाल सन्ध्या करने वालों के लिये तीसरा समय मध्याह्नकाल का है । नित्यकर्म से निवृत्त होकर शरीर को स्वच्छ करके सन्ध्या के लिए बैठना चाहिये, उस समय देह पर कम से कम वस्त्र होने चाहिये । खुली हवा का एकान्त स्थान मिल सके, तो सबसे अच्छा; अन्यथा घर का ऐसा भाग तो चुनना चाहिये, जहाँ कम खटपट और शुद्धता रहती हो । कुश का आसन, चटाई, टाट या चौकी बिछाकर, पालथी मारकर मेरुदण्ड सीधा रखते हुए सन्ध्या के लिये बैठना चाहिये । प्रातःकाल पूर्व की ओर, सायंकाल को पश्चिम की ओर मुँह करके बैठना चाहिये । पास में जल से भरा पात्र रख लेना चाहिये, सन्ध्या के पाँच कर्म हैं उनका वर्णन नीचे लिखा जाता है ।

(१) आचमन

जल से भरे हुए पात्र में से दाहिने हाथ की हथेली पर जल लेकर उसका तीन बार आचमन करना चाहिये । बाँये हाथ से पात्र को उठाकर हथेली में थोड़ा-सा गड्ढा करके उसमें जल भरें और गायत्री मन्त्र पढ़ें, मन्त्र पूरा होने पर उस जल को पी लें । तीसरी बार इसी प्रकार करें । तीन बार आचमन करने के उपरान्त दाहिने हाथ को पानी से धो डालें । कन्धे पर रखे हुए अँगोछे से हाथ-मुँह पोंछ लें, जिससे हथेली, ओंठ और मुँह आदि पर आचमन किये जाने का अंश लगा न रह जाए ।

आचमन त्रिगुणमयी माता की विविध शक्तियों को अपने अन्दर धारण करने के लिये है । प्रथम आचमन के साथ सतोगुणी विश्वव्यापी सूक्ष्म शक्ति 'ह्रीं' का ध्यान करते हैं और भावना करते हैं कि विद्युत् सरीखी सूक्ष्म नील-किरणें मेरे मन्त्रोच्चारण के साथ-साथ सब ओर से इस जल में प्रवेश कर रही हैं और यह उस शक्ति से ओत-प्रोत हो रहा है । आचमन करने के साथ में सम्मिलित सब शक्तियाँ अपने अन्दर प्रवेश करने की भावना रखनी चाहिये कि मेरे अन्दर सद्‌गुणों का पर्याप्त मात्रा में प्रवेश हुआ है, इसी प्रकार दूसरे आचमन के साथ रजोगुणी 'श्रीं' शक्ति की पीतवर्ण किरणों को जल में आकर्षित होने और तीसरे आचमन में तमोगुणी 'क्लीं' भावना की रक्त वर्ण शक्तियों को अपने में धारण होने का भाव जाग्रत् होना चाहिये ।

जैसे बालक माता का दूध पीकर उसके गुणों और शक्तियों को अपने में धारण करता है और परिपुष्ट होता है, उसी प्रकार साधक मन्त्र बल से आचमन के जल को गायत्री-माता के दूध के समान बना लेता है और उसका पान करके अपने आत्मबल को बढ़ाता है । इस आचमन से उसे त्रिविध ह्रीं, श्रीं, क्लीं की शक्ति से युक्त आत्म-बल मिलता है, तदनुसार उसको आत्मिक पवित्रता, सांसारिक समृद्धि को सुदृढ़ बनाने वाली शक्ति प्राप्त होती है ।

(२) शिखा-बन्धन (वन्दन)

आचमन के पश्चात् शिखा को जल से गीला करके उसमें ऐसी गाँठ लगानी चाहिये, जो सिरा नीचे से खुल जाए । इसे आधी गाँठ कहते हैं । गाँठ लगाते समय गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते जाना चाहिये ।

शिखा, मस्तिष्क के केन्द्र बिन्दु पर स्थापित है । जैसे रेडियो के ध्वनि विस्तारक केन्द्रों में ऊँचे खम्भे लगे होते हैं और वहाँ से ब्राडकास्ट की तरंगें चारों ओर फेंकी जाती हैं, उसी प्रकार हमारे मस्तिष्क का विद्युत् भण्डार शिखा स्थान पर है, उस केन्द्र में से हमारे विचार, संकल्प और शक्ति परमाणु हर घड़ी बाहर निकल-निकलकर आकाश में दौड़ते रहते हैं । इस प्रवाह से शक्ति का अनावश्यक व्यय होता है और अपना कोष घटता है । इसका प्रतिरोध करने के लिये शिखा में गाँठ लगा देते हैं ।सदा गाँठ लगाये रहने से अपनी मानसिक शक्तियों का बहुत-सा अपव्यय बच जाता है ।

सन्ध्या करते समय विशेष रूप से गाँठ लगाने का प्रयोजन यह है कि रात्रि को सोते समय यह गाँठ प्राय: शिथिल हो जाती है या खुल जाती है । फिर स्नान करते समय केश-शुद्धि के लिये शिखा को खोलना पड़ता है । सन्ध्या करते समय अनेक सूक्ष्म तत्त्व आकर्षित होकर अपने अन्दर स्थिर होते हैं, वे सब मस्तिष्क केन्द्र से निकलकर बाहर न उड़ जाएँ और कहीं अपने को साधना के लाभ से वंचित न रहना पड़े, इसलिये शिखा में गाँठ लगा दी जाती है । फुटबाल के भीतर की रबड़ में हवा भरने की एक नली होती है । इसमें गाँठ लगा देने से भीतर भरी हुई वायु बाहर नहीं निकल पाती । साइकिल के पहियों में भरी हुई हवा को रोकने के लिये भी एक छोटी-सी बालट्यूब नामक रबड़ की नली लगी होती है, जिसमें होकर हवा भीतर तो जा सकती है, बाहर नहीं आ सकती । गाँठ लगी हुई शिखा से भी यही प्रयोजन पूरा होता है । वह बाहर के विचार और शक्ति समूह को ग्रहण करती है । भीतर के तत्त्वों का अनावश्यक व्यय नहीं होने देती ।

आचमन से पूर्व शिखा बन्धन इसलिये नहीं होता, क्योंकि उस समय त्रिविध शक्ति का आकर्षण जहाँ जल द्वारा होता है, वह मस्तिष्क के मध्य केन्द्र द्वारा भी होता है । इस प्रकार शिखा खुली रहने से दुहरा लाभ होता है । तत्पश्चात् उसे बाँध दिया जाता है ।

(३) प्राणायाम

सन्ध्या का तीसरा कोष है प्राणायाम अथवा प्राणाकर्षण । गायत्री की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए पूर्व पृष्ठों में यह बताया जा चुका है कि सृष्टि दो प्रकार की है—(१) जड़ अर्थात् परमाणुमयी । (४) चैतन्य अर्थात् प्राणमयी । निखिल विश्व में जिस प्रकार परमाणुओं के संयोग—वियोग से विविध प्रकार के दृश्य उपस्थित होते रहते हैं, उसी प्रकार चैतन्य प्राण-सत्ता की हलचलों से चैतंन्य जगत् की विविध घटनायें घटित होती हैं । जैसे वायु अपने क्षेत्र में सर्वत्र भरी हुई है, उसी प्रकार वायु से भी असंख्य गुना सूक्ष्म चैतन्य प्राण तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है । इस तत्त्व की न्यूनाधिकता से हमारा मानस-क्षेत्र निर्बल तथा बलवान् होता है । इस प्राणतत्त्व को जो जितनी मात्रा में आकर्षित कर लेता है, धारण कर लेता है, उसकी आन्तरिक स्थिति उतनी ही बलवान् हो जाती है । आत्म-तेज, शूरता, दृढ़ता, पुरुषार्थ, विशालता, महानता, सहनशीलता, धैर्य, स्थिरता सरीखे गुण प्राण शक्ति के परिचायक हैं । जिनमें प्राण कम होता है, वे शरीर से स्थूल भले ही हों, पर डरपोक, दब्बू, झेंपने वाले, कायर, अस्थिर मति, संकीर्ण, अनुदार, स्वार्थी, अपराधी-मनोवृत्ति के, घबराने वाले, अधीर, तुच्छ, नीच विचारों में ग्रस्त एवं चञ्चल मनोवृत्ति के होते हैं । इन दुर्गुणों के होते हुए कोई व्यक्ति महान् नहीं बन सकता । इसलिये साधक को प्राण शक्ति अधिक मात्रा में अपने अन्दर धारण करने की आवश्यकता होती है । जिस प्रक्रिया द्वारा विश्वमयी, प्राणतत्त्व में से खींचकर अधिक मात्रा में प्राणशक्ति को हम अपने अन्दर धारण करते हैं , उसे प्राणायाम कहा जाता है ।

प्राणायाम के समय मेरुदण्ड को विशेष रूप से सावधान होकर सीधा कर लीजिये, क्योंकि मेरुदण्ड में स्थित इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना नाड़ियों द्वारा प्राणशक्ति का आवागमन होता है और यदि रीढ़ टेढ़ी झुकी रहे, तो मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी तक प्राण की धारा निर्बाध गति से न पहुँच सकेगी । अत: प्राणायाम का वास्तविक लाभ न मिल सकेगा ।

प्राणायाम के चार भाग हैं—(१) पूरक (२) अन्त: कुम्भक (३) रेचक (४) बाह्य कुम्भक । वायु को भीतर खींचने का नाम पूरक, वायु को भीतर ही रोके रहने के नाम को अन्त: कुम्भक, वायु को बाहर निकालने का नाम रेचक और बिना साँस के रहने को-वायु को बाहर रोके रहने को बाह्य कुम्भक कहते हैं । इन चारों के लिये गायत्री

मन्त्र के चार भागों की नियुक्ति की गयी है। पूरक के साथ 'ॐ भूर्भुवः स्वः', अन्तः कुम्भक के साथ 'तत्सवितुर्वरेण्यं', रेचक के साथ 'भर्गो देवस्य धीमहि', बाह्य कुम्भक के साथ 'धियो यो नः प्रचोदयात्' मन्त्र का जप होना चाहिये।

(अ) स्वस्थ चित्त से बैठिये, मुख को बन्द कर लीजिये, नेत्रों को बन्द या अधखुले रखिये। अब साँस को धीरे-धीरे नासिका द्वारा भीतर खींचना आरम्भ कीजिये और 'ॐ भूर्भुवः स्वः' इस मन्त्र भाग का मन ही मन उच्चारण करते चलिये और भावना कीजिये कि 'विश्वव्यापी दुःखनाशक, सुख स्वरूप ब्रह्म की चैतन्य प्राण शक्ति को मैं नासिका द्वारा आकर्षित कर रहा हूँ।' इस भावना और इस मन्त्र के साथ धीरे-धीरे साँस खींचिये और जितनी अधिक वायु भीतर भर सकें, भर लीजिये।

(ब) अब वायु को भीतर रोकिये और 'तत्सवितुर्वरेण्यं' इस भाग का जप कीजिये, साथ ही भावना कीजिये, कि 'नासिका द्वारा खींचा हुआ वह प्राण श्रेष्ठ है। सूर्य के समान तेजस्वी है। उसका तेज मेरे अंग-प्रत्यंग में, रोम-रोम में भरा जा रहा है।' इस भावना के साथ पूरक की अपेक्षा आधे समय तक वायु को भीतर रोके रखें।

(स) अब नासिका द्वारा वायु धीरे-धीरे बाहर निकालना आरम्भ कीजिये और 'भर्गोदेवस्य धीमहि' इस मन्त्र भाग को जपिये तथा भावना कीजिये कि 'यह दिव्य प्राण मेरे पापों का नाश करता हुआ विदा हो रहा है।' वायु को निकालने में प्रायः उतना ही समय लगाना चाहिये, जितना कि वायु खींचने में लगाया था।

(द) जब भीतर की सब वायु बाहर निकल जाए, तो जितनी देर वायु को भीतर रोके रखा था, उतनी ही देर बाहर रोके रखें अर्थात् बिना साँस लिये रहें और 'धियो यो नः प्रचोदयात्' इस मन्त्र भाग को जपते रहें। साथ ही भावना करें कि भगवती वेदमाता आद्य-शक्ति गायत्री सद्बुद्धि को जाग्रत् कर रही हैं।

यह एक प्राणायाम हुआ। अब इसी प्रकार पुनः इन क्रियाओं की पुनरुक्ति करते हुए दूसरा प्राणायाम करें। सन्ध्या में यह पाँच प्राणायाम करने चाहिये, जिससे शरीर में स्थित प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान नामक पाँचों प्राणों का व्यायाम, स्फुरण और परिमार्जन हो जाता है।

(४) अघमर्षण

अघमर्षण कहते हैं—पाप के नाश करने को। गायत्री की पुण्य भावना के प्रवेश करने से पाप का नाश होता है। प्रकाश के आगमन के साथ-साथ अन्धकार नष्ट हो जाता है, पुण्य संकल्पों के उदय के साथ-साथ पापों का भी संहार होता है। बल-बुद्धि के साथ-साथ निर्बलता का अन्त हो चलता है। ब्रह्म सन्ध्या की ब्राह्मी भावनाएँ हमारे अघ का मर्षण करती रहती हैं।

अघमर्षण के लिये दाहिने हाथ की हथेली पर जल लेकर उसे दाहिने नथुने के समीप ले जाना चाहिये। समीप का अर्थ है—छः अंगुल दूर। बाँये हाथ के अँगूठे से बायाँ नथुना बन्द कर लें और दाहिने नथुने से धीरे-धीरे साँस खींचना आरम्भ करें। साँस खींचते समय ऐसी भावना करें कि गायत्री माता का पुण्य प्रतीक यह जल अपनी दिव्य शक्तियों सहित पापों का संहार करने के लिये साँस के साथ मेरे अन्दर प्रवेश कर रहा है और भीतर से पापों का, मलों का, विकारों का संहार कर रहा है।

जब पूरी साँस खींच चुकें, तो बायाँ नथुना खोल दें और दाहिना नथुना अँगूठे से बन्द रखें और साँस बाहर निकालना आरम्भ करें। दाहिनी हथेली पर रखे हुए जल को अब बाँयें नथुने के सामने करें और भावना करें कि 'नष्ट हुए पापों की लाशों का समूह साँस के साथ बाहर निकल कर इस जल में गिर रहा है।' जब साँस पूरी तरह बाहर निकल जाए, तो उस जल को बिना देखे घृणापूर्वक बाँयीं ओर पटक देना चाहिये।

अघमर्षण क्रिया से जल को हथेली में भरते समय 'ॐ भूर्भुवः स्वः' दाहिने नथुने से साँस खींचते समय 'तत्सवितुर्वरेण्यं' इतना मन्त्र भाग जपना चाहिये और बाँयें नथुने से साँस छोड़ते समय 'भर्गो देवस्य धीमहि' और जल पटकते समय 'धियो यो नः प्रचोदयात्' इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये।

यह क्रिया तीन बार करनी चाहिये जिससे काया के, प्राण के, मन के त्रिविध पापों का संहार हो सके।

(५) न्यास

न्यास कहते हैं धारण करने को। अंग-प्रत्यंगों से गायत्री की सतोगुणी शक्ति को धारण करने, स्थापित करने, भरने, ओत-प्रोत करने के लिये न्यास किया जाता है। गायत्री के प्रत्येक शब्द का, महत्त्वपूर्ण मर्मस्थलों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे सितार के अमुक भाग में, अमुक आघात के साथ उँगली का आघात लगने से अमुक ध्वनि के स्वर निकलते हैं, उसी प्रकार शरीर-वीणा को सन्ध्या से अंगुलियों के सहारे दिव्य भाव से झंकृत किया जाता है।

ऐसा माना जाता है कि स्वभावत: अपवित्र रहने वाले शरीर से दैवी सान्निध्य ठीक प्रकार से नहीं हो सकता, इसलिये उसके प्रमुख स्थानों में दैवी पवित्रता स्थापित करके उसमें इतनी मात्रा दैवी तत्त्वों की स्थापित कर ली जाती है कि वह दैवी साधना का अधिकारी बन जाए।

न्यास के लिये भिन्न-भिन्न उपासना विधियों में अलग-अलग विधान हैं कि किन उँगलियों को काम में लाया जाए। गायत्री की ब्रह्म सन्ध्या में अँगूठा और अनामिका उँगली का प्रयोग प्रयोजनीय ठहराया गया है। अँगूठा और अनामिका उँगली को मिलाकर विभिन्न अंगों का स्पर्श इस भावना से करना चाहिये कि मेरे यह अंग गायत्री शक्ति से पवित्र तथा बलवान् हो रहे हैं। अंग स्पर्श के समय निम्न प्रकार मन्त्रोच्चार करना चाहिये।

ॐ भूर्भुव: स्व:—मूर्धायै
तत्सवितु:—नेत्राभ्यां
वरेण्यं—कर्णाभ्यां
भर्गो—मुखाय
देवस्य—कण्ठाय
धीमहि—हृदयाय
धियो यो न:—नाभ्यै
प्रचोदयात्—हस्तपादाभ्यां

यह सात अंग शरीर ब्रह्माण्ड के सात लोक हैं अथवा यों कहिये कि आत्मारूपी सविता के सात वाहन अश्व हैं। शरीर सप्ताह के सात दिन हैं। यों साधारणत: दस इन्द्रियाँ मानी जाती हैं, पर गायत्री योग के अन्तर्गत सात इन्द्रियाँ मानी गयी हैं—

१. मूर्धा, (मस्तिष्क, मन) २. नेत्र, ३. कर्ण, ४. वाणी और रसना, ५. हृदय, अन्त:करण, ६. नाभि, जननेन्द्रिय, ७. कर्मेन्द्रिय (हाथ-पैर) इन सातों में अपवित्रता न रहे, इनके द्वारा कुमार्ग को न अपनाया जाए, अविवेकपूर्ण आचरण न हो, इस प्रतिरोध के लिये न्यास किया जाता है। इन सात अंगों में भगवती की सात शक्तियाँ निवास करती हैं। उन्हें उपर्युक्त न्यास द्वारा जाग्रत् किया जाता है। जाग्रत् हुई मातृकायें अपने-अपने स्थान की रक्षा करती हैं, अवांछनीय तत्त्वों का संहार करती हैं। इस प्रकार साधक का अन्त:प्रदेश ब्राह्मी शक्ति का सुदृढ़ दुर्ग बन जाता है।

इन पंचकोषों का विनियोग करने के पश्चात् आचमन, शिखा-बन्धन, प्राणायाम, अघमर्षण, न्यास से निवृत्त होने के पश्चात् गायत्री का जप ध्यान करना चाहिये। सन्ध्या तथा जप में मन्त्रोच्चार इस प्रकार करना चाहिये कि होंठ हिलते रहें, शब्दोच्चारण होता रहे, पर निकट बैठा व्यक्ति उसे सुन न सके।

जप करते हुए वेदमाता गायत्री का इस प्रकार ध्यान करना चाहिये मानो वह हमारे हृदय सिंहासन पर बैठी अपनी शक्तिपूर्ण किरणों को चारों ओर बिखेर रही है और उससे हमारा अन्त:प्रदेश आलोकित हो रहा है। उस समय नेत्र अर्धोन्मीलित या बन्द रहें। अपने हृदयाकाश में ब्राह्म आकाश के समान ही एक विस्तृत शून्य लोक की भावना करके उसमें सूर्य के समान ज्ञान की तेजस्वी ज्योति की क़ल्पना भी करते रहना चाहिये। यह ज्योति और प्रकाश गायत्री माता की ज्ञान शक्ति का ही होता है, जिसका अनुभव साधक को कुछ समय की साधना के पश्चात् स्पष्ट रीति से होने लगता है। इसे प्रकार की साधना के फलस्वरूप श्वेत रंग की ज्योति में विभिन्न रंगों के दर्शन होते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे वह आत्मोन्नति करता हुआ निश्चित रूप से अध्यात्म के उच्च सोपान पर पहुँच जाता है।

गायत्री का सर्वश्रेष्ठ एवं सर्व सुलभ ध्यान

मानव-मस्तिष्क बड़ा ही आश्चर्यजनक, शक्तिशाली एवं चुम्बक गुण वाला यन्त्र है । उसका एक-एक परमाणु इतना विलक्षण है कि उसकी गतिविधि, सामर्थ्य और क्रियाशीलता को देखकर बड़े-बड़े वैज्ञानिक हैरत में रह जाते हैं । इन अणुओं को जब किसी विशेष दिशा में नियोजित कर दिया जाता है, तो उसी दिशा में एक लपलपाती हुई अग्नि जिह्वा अग्रगामी होती है । जिस दिशा से मनुष्य इच्छा, आकांक्षा और लालसा करता है, उसी दिशा में, उसी रंग में, उसी लालसा में शरीर की शक्तियाँ नियोजित हो जाती हैं ।

पहले भावनाएँ मन में आती हैं । फिर जब उन भावनाओं पर चित्त एकाग्र होता है, तब यह एकाग्रता, एक चुम्बक शक्ति आकर्षणतत्त्व के रूप में प्रकट होती है और अपने अभीष्ट तत्त्वों को अखिल आकाश में से खींच लाती है । ध्यान का यही विज्ञान है । इस विज्ञान के आधार पर, प्रकृति के अन्तराल में निवास करने वाली सूक्ष्म आद्यशक्ति ब्रह्मस्फुरणा गायत्री को अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है । उसके शक्ति भण्डार को प्रचुर मात्रा में अपने अन्दर धारण किया जा सकता है ।

जप के समय अथवा किसी अन्य सुविधा के समय में नित्य गायत्री का ध्यान किया जाना चाहिये । एकान्त, कोलाहल रहित, शांत वातावरण के स्थान में स्थिर चित्त होकर ध्यान के लिये बैठना चाहिये । शरीर शिथिल रहे । यदि जप काल में ध्यान किया जा रहा है, तब तो पालथी मारकर, मेरुदण्ड सीधा रखकर ध्यान करना उचित है । यदि अलग समय में करना हो, तो आरामकुर्सी पर लेटकर या मसनद, दीवार, वृक्ष आदि का सहारा लेकर साधना करनी चाहिये । शरीर बिल्कुल शिथिल कर दिया जाय, इतना शिथिल मानो देह निर्जीव हो गयी हो । इस स्थिति में नेत्र बन्द करके दोनों हाथों को गोदी में रखकर ऐसा ध्यान करना चाहिये कि "इस संसार में सर्वत्र केवल नीला आकाश है, उसमें कहीं कोई वस्तु नहीं है ।" प्रलयकाल में जैसी स्थिति होती है, आकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता, वैसी स्थिति का कल्पना चित्र मन में भलीभाँति अंकित करना चाहिये । जब यह कल्पना चित्र भावना-लोक में भली-भाँति अंकित हो जाए, तो सुदूर आकाश में एक छोटे ज्योति-पिण्ड को सूक्ष्म नेत्रों से देखना चाहिये । सूर्य के समान प्रकाशवान् एक छोटे नक्षत्र के रूप में गायत्री का ध्यान करना चाहिये । यह ज्योति-पिण्ड अधिक समय तक ध्यान रखने पर समीप आता है, बड़ा होता जाता है और तेज अधिक प्रखर हो जाता है ।

चन्द्रमा या सूर्य के मध्य भाग में ध्यानपूर्वक देखा जाए, तो उसमें काले-काले धब्बे दिखाई पड़ते हैं, इसी प्रकार उस गायत्री तेज-पिण्ड में ध्यानपूर्वक देखने से आरम्भ में भगवती गायत्री की धुँधली-सी प्रतिमा दृष्टिगोचर होती है । धीरे-धीरे ध्यान करने वाले को यह मूर्ति अधिक स्पष्ट, अधिक स्वच्छ, अधिक चैतन्य, हँसती, बोलती, चेष्टा करती, संकेत करती तथा भाव प्रकट करती हुई दिखाई पड़ती है । हमारी इस गायत्री महाविज्ञान पुस्तक के आरम्भ में भगवती गायत्री का एक चित्र दिया हुआ है । उस चित्र का ध्यान आरम्भ करने से पूर्व कई बार बड़े प्रेम से, गौर से भली-भाँति अंग-प्रत्यंगों का निरीक्षण करके उस मूर्ति को मनःक्षेत्र में इसी प्रकार बिठाना चाहिये कि ज्योति-पिण्ड में ठीक वैसी ही प्रतिमा की झाँकी होने लगे । थोड़े दिनों में यह तेजोमण्डल से आवेष्ठित भगवती गायत्री की छवि अत्यन्त सुन्दर, अत्यन्त हृदयग्राही रूप में ध्यानावस्था में दृष्टिगोचर होने लगती है ।

जैसे सूर्य की किरणें धूप में बैठे हुए मनुष्य के ऊपर पड़ती हैं और वह किरणों की उष्णता को प्रत्यक्ष अनुभव करता है, वैसे ही यह ज्योति पिण्ड जब समीप आने लगता है, तो ऐसा अनुभव होता है मानो कोई दिव्य प्रकाश अपने मस्तक में, अन्तःकरण और शरीर के रोम-रोम में प्रवेश करके अपना अधिकार जमा रहा है, जैसे अग्नि में पड़ने से लोहा भी धीरे-धीरे गरम और लाल रंग का अग्निवर्ण हो जाता है, वैसे ही जब गायत्री माता के तेज को ध्यानावस्था में साधक अपने अन्दर धारण करता है, तो वही सच्चिदानन्द स्वरूप, ऋषिकल्प होकर ब्रह्मतेज से झिलमिलाने लगता है । उसे अपना सम्पूर्ण शरीर तप्त स्वर्ण की भाँति रक्तवर्ण अनुभव होता है और अन्तःकरण में एक अलौकिक दिव्य रूप का प्रकाश सूर्य के समान प्रकाशित हुआ दीखता है । इस तेज संस्थान में आत्मा के ऊपर चढ़े हुए अपने कलुष-कषाय जल-जल कर भस्म हो जाते हैं और साधक अपने को ब्रह्मस्वरूप, निर्मल, निर्भय, निष्पाप, निरासक्त अनुभव करता है ।

इस तेज धारण, ध्यान में कई बार रंग-बिरंगे प्रकाश दिखाई पड़ते हैं, कई बार प्रकाश में छोटे-मोटे रंग-बिरंगे तारा प्रकट होते, जगमगाते और छिपते दिखाई पड़ते हैं। ये एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर चलते हैं तथा उलटे वापस लौट पड़ते हैं। कई बार चक्राकार एवं बाण की तरह तेजी से इस दिशा में चलते हुए छोटे-मोटे प्रकाश खण्ड दिखाई पड़ते हैं। यह सब प्रसन्नता देने वाले चिह्न हैं। अन्तरात्मा में गायत्री-शक्ति की वृद्धि होने से छोटी-छोटी अनेकों शक्तियाँ एवं गुणावलियाँ विकसित होती हैं, वे ही ऐसे छोटे-छोटे रंग-बिरंगे प्रकाश पिण्डों के रूप में परिलक्षित होती हैं।

जब साधना अधिक प्रगाढ़, पुष्ट और परिपक्व हो जाती है, तो मस्तिष्क के मध्य भाग या हृदय स्थान पर वही गायत्री तेज स्थिर हो जाता है। यही सिद्धावस्था है। जब वह तेज बाह्य आकाश से खिंचकर अपने अन्दर स्थिर हो जाता है, तो ऐसी स्थिति हो जाती है, जैसे अपना शरीर और गायत्री का प्राण एक ही स्थान पर सम्मिलित हो गये हों। भूत-प्रेत का आवेश शरीर में बढ़ जाने पर मनुष्य उस प्रेतात्मा की इच्छानुसार काम करता है, वैसे ही गायत्री शक्ति का आधान अपने अन्दर हो जाने से साधक विचार, कार्य, आचरण, मनोभाव, रुचि, इच्छा, आकांक्षा एवं ध्येय में परमार्थ प्रधान रहता है। इससे मनुष्यत्व में से पशुता घटती जाती है और देवत्व की मात्रा बढ़ती जाती है।

उपर्युक्त ध्यान गायत्री का सर्वोत्तम ध्यान है। जब गायत्री तेज-पिण्ड की किरणें अपने ऊपर पड़ने की ध्यान-भावना की जा रही हो, तब यह भी अनुभव करना चाहिये कि ये किरणें सद्बुद्धि, सात्त्विकता एवं सशक्तता को उसी प्रकार हमारे ऊपर डाल रही हैं, जिस प्रकार कि सूर्य की किरणें गर्मी तथा गतिशीलता प्रदान करती हैं। इस ध्यान से उठते ही साधक अनुभव करता है कि उसके मस्तिष्क में सद्‌बुद्धि, अन्तःकरण में सात्त्विकता तथा शरीर में सक्रियता की मात्रा बढ़ गयी है। यह वृद्धि यदि थोड़ी-थोड़ी करके भी नित्य होती रहे, तो धीरे-धीरे कुछ ही समय में वह बड़ी मात्रा में एकत्रित हो जाती है, जिससे साधक, ब्रह्मतेज का एक बड़ा भण्डार बन जाता है। ब्रह्म-तेज तो दर्शनी हुण्डी है, जिसे श्रेय व प्रेय दोनों में से किसी भी बैंक में भुनाया जा सकता है, उसके बदले में दैवी या सांसारिक सुख कोई भी वस्तु प्राप्त की जा सकती है।

पापनाशक और शक्तिवर्द्धक तपश्चर्याएँ

अग्नि की उष्णता से संसार के सभी पदार्थ जल, बदल या गल जाते हैं। कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसमें अग्नि का संसर्ग होने पर भी परिवर्तन न होता हो। तपस्या की अग्नि भी ऐसी ही है। वह पापों के समूह को निश्चित रूप से गलाकर नरम कर देती है, बदलकर मन-भावन बना देती है अथवा जलाकर भस्म कर देती है।

जो प्रारब्ध-कर्म समय के परिपाक से प्रारब्ध और भवितव्यता बन चुके हैं, जिनका भोगा जाना अमिट रेखा की भाँति सुनिश्चित हो चुका है, वे कष्ट-साध्य भोग, तपस्या की अग्नि के कारण गलकर नरम हो जाते हैं। उन्हें भोगना आसान हो जाता है। जो पाप परिणाम दो महीने तक भयंकर उदरशूल होकर प्रकट होने वाला था, वह साधारण कब्ज बनकर दो महीने तक मामूली गड़बड़ी करके आसानी से चला जाता है। जिस पाप के कारण हाथ या पैर कट जाते, भारी रक्तस्राव होने की संभावना थी, वह मामूली ठोकर लगने से या चाकू आदि चुभने से दस-बीस बूँद खून बहकर निवृत्त हो जाता है। जन्म-जन्मान्तरों के संचित वे पाप जो कई-कई जन्मों तक भारी कष्ट देते रहने वाले थे, वे थोड़ी-थोड़ी चिह्न पूजा के रूप में प्रकट होकर इसी जन्म में निवृत्त हो जाते हैं और मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग, मुक्ति का अत्यन्त वैभवशाली जन्म मिलने का मार्ग साफ हो जाता है। देखा गया है कि तपस्वियों को इस जन्म में प्रायः कुछ असुविधाएँ रहती हैं। इसका कारण यह है कि जन्म-जन्मान्तरों के समस्त पाप समूह का भुगतान इसी जन्म में होकर आगे का मार्ग साफ हो जाए। इसलिये ईश्वरीय वरदान की तरह हलके-फुलके कष्ट तपस्वियों को मिलते रहते हैं। यह पापों का गलना हुआ।

बदलना इस प्रकार होता है कि पाप का फल जो सहना पड़ता है, उसका स्वाद बड़ा स्वादिष्ट हो जाता है। धर्म के लिए, कर्तव्य के लिए, यश, कीर्ति और परोपकार के लिए जो कष्ट सहने पड़ते हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे प्रसव

पीड़ा। प्रसूता को प्रसवकाल में पीड़ा तो होती है, पर उसके साथ-साथ एक उल्लास भी रहता है। चन्द्र से मुख का सुन्दर बालक देखकर तो वह पीड़ा बिल्कुल भुला दी जाती है। राजा हरिश्चन्द्र, दधीचि, प्रह्लाद, मोरध्वज आदि को जो कष्ट सहने पड़े, उनके लिये उस काल में भी वे उल्लासमय थे, अन्तत: अमर कीर्ति और सद्गति की दृष्टि से तो वे कष्ट उनके लिये सब प्रकार मंगलमय ही रहे। दान देने में जहाँ ऋण मुक्ति होती है, वहाँ यश तथा शुभ गति की भी प्राप्ति होती है। तप द्वारा इस प्रकार 'उधार पट जाना और मेहमान जीम जाना' दो कार्य एक साथ हो जाते हैं।

जल जाना इस प्रकार का होता है कि जो पाप अभी प्रारब्ध नहीं बने हैं, भूल, अज्ञान या मजबूरी में बने हैं, वे छोटे-मोटे अशुभ कर्म तप की अग्नि में जलकर अपने आप भस्म हो जाते हैं। सूखे हुए घात-पात के ढेर को अग्नि की छोटी-सी चिनगारी जला डालती है, वैसे ही इस श्रेणी के पाप कर्म तपश्चर्या, प्रायश्चित्त और भविष्य में वैसा न करने के दृढ़ निश्चय से अपने आप नष्ट हो जाते हैं। प्रकाश के सम्मुख जिस प्रकार अन्धकार विलीन हो जाता है, वैसे ही तपस्वी के अन्त:करण की प्रखर किरणों से पिछले कुसंस्कार नष्ट हो जाते हैं और साथ ही उन कुसंस्कारों की छाया, दुर्गन्ध, कष्टकारक परिणामों की घटा का भी अन्त हो जाता है।

तपश्चर्या से पूर्वकृत पापों का गलना, बदलना एवं जलना होता हो सो बात ही नहीं है, वरन् तपस्वी में एक नयी परम सात्त्विक अग्नि पैदा होती है। इस अग्नि को दैवी विद्युत् शक्ति, आत्म-तेज, तपोबल आदि नामों से भी पुकारते हैं। इस बल से अन्त:करण में छिपी हुई सुप्त शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं, दिव्य सद्गुणों का विकास होता है। स्फूर्ति, उत्साह, साहस, धैर्य, दूरदर्शिता, संयम, सन्मार्ग में प्रवृत्ति आदि अनेकों गुणों की विशेषता प्रत्यक्ष परिलक्षित होने लगती है। कुसंस्कार, कुविचार, कुटेव, कुकर्म से छुटकारा पाने के लिये तपश्चर्या एक रामबाण अस्त्र है। प्राचीन काल में अनेक देव-दानवों ने तपस्याएँ करके मनोरथ पूरा करने वाले वरदान पाये हैं।

घिसने की रगड़ से गर्मी पैदा होती है। अपने को तपस्या के पत्थर पर घिसने से आत्म-शक्ति का उद्भव होता है। समुद्र को मथने से चौदह रत्न मिले। दूध के मथने से घी निकलता है। काम मन्थन से प्राणधारी बालक की उत्पत्ति होती है। भूमि मन्थन से अन्न उपजता है। तपस्या द्वारा आत्म-मन्थन से उच्च आध्यात्मिक तत्त्वों की वृद्धि का लाभ प्राप्त होता है। पत्थर पर घिसने से चाकू तेज होता है। अग्नि में तपाने से सोना निर्मल बनता है। तप से तपा हुआ मनुष्य भी पापमुक्त, तेजस्वी और विवेकवान् बन जाता है।

अपनी तपस्याओं में गायत्री तपस्या का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। नीचे कुछ पाप-नाशिनी और ब्रह्मतेज-वर्द्धिनी तपश्चर्याएँ बताई जाती हैं—

(१) अस्वाद तप

तप उन कष्टों को कहते हैं, जो अभ्यस्त वस्तुओं के अभाव में सहने पड़ते हैं। भोजन में नमक और मीठा ये दो स्वाद की प्रधान वस्तुएँ हैं। इनमें से एक भी वस्तु न डाली जाए, तो वह भोजन स्वाद रहित होता है। प्राय: लोगों को स्वादिष्ट भोजन करने का अभ्यास होता है। इन दोनों स्वाद तत्त्वों को या इनमें से एक को छोड़ देने से जो भोजन बनता है, उसे सात्त्विक प्रकृति वाला ही कर सकता है। राजसिक प्रकृति वाले का मन उससे नहीं भरेगा। जैसे-जैसे स्वाद रहित भोजन में सन्तोष पैदा होता है, वैसे ही वैसे सात्त्विकता बढ़ती जाती है। सबसे प्रारम्भ में एक सप्ताह, एक मास या एक ऋतु के लिये इसका प्रयोग करना चाहिये। आरम्भ में बहुत लम्बे समय के लिये नहीं करना चाहिये। यह अस्वाद-तप हुआ।

(२) तितिक्षा तप

सर्दी या गर्मी के कारण शरीर को जो कष्ट होता है, उसे थोड़ा-थोड़ा सहन करना चाहिये। जाड़े की ऋतु में धोती और दुपट्टा या कुर्ता दो वस्त्रों में गुजारा करना, रात को रुई का कपड़ा ओढ़कर या कम्बल से काम चलाना, गरम पानी का प्रयोग न करके ताजे जल से स्नान करना, अग्नि न तापना, यह शीत सहन के तप हैं। पंखा, छाता और बर्फ का त्याग यह गर्मी की तपश्चर्या है।

(३) कर्षण तप

प्रातःकाल एक-दो घण्टे रात रहे उठकर नित्यकर्म में लग जाना, अपने हाथ से बनाया भोजन करना, अपने लिये स्वयं जल भरकर लाना, अपने हाथ से वस्त्र धोना, अपने बर्तन स्वयं मलना आदि अपनी सेवा के काम दूसरों से कम से कम कराना। जूता न पहनकर खड़ाऊँ या चट्टी से काम चलाना। पलंग पर शयन न करके तख्त या भूमि पर शयन करना। धातु के बर्तन प्रयोग न करके पत्तल या हाथ में भोजन करना, पशुओं की सवारी न करना, खादी पहनना, पैदल यात्रा करना आदि कर्षण तप हैं। इसमें प्रतिदिन शारीरिक सुविधाओं का त्याग और असुविधाओं को सहन करना पड़ता है।

(४) उपवास

गीता में उपवास को विषय विकार से निवृत्त करने वाला बताया गया है। एक समय अन्नाहार और एक समय फलाहार आरम्भिक उपवास है। धीरे-धीरे इसकी कठोरता बढ़ानी चाहिये। दो समय फल, दूध, दही आदि का आहार इससे कठिन है। केवल दूध या छाछ पर रहना हो तो उसे कई बार सेवन किया जा सकता है। जल हर एक उपवास में कई बार अधिक मात्रा में बिना प्यास के भी पीना चाहिये। जो लोग उपवास में जल नहीं पीते या कम पीते हैं, वे भारी भूल करते हैं। इससे पेट की अग्नि आँतों में पड़े मल को सुखाकर गाँठें बना देती है। इसलिये उपवास में कई बार पानी पीना चाहिये। उसमें नींबू, सोडा, शक्कर मिला लिया जाए, तो स्वास्थ्य और आत्म-शुद्धि के लिए और भी अच्छा है।

(५) गव्य कल्प तप

शरीर और मन के अनेक विकारों को दूर करने के लिये गव्यकल्प अभूतपूर्व है। राजा दिलीप जब निस्सन्तान रहे, तो उन्होंने कुल गुरु के आश्रम में गौ चराने की तपस्या पत्नी सहित की थी। नन्दिनी गौ को वे चराते थे और गोरस का सेवन करके ही रहते थे। गाय का दूध, गाय का दही, गाय की छाछ, गाय का घी सेवन करना, गाय के गोबर के कण्डों से दूध गरम करना चाहिये। गोमूत्र की शरीर पर मालिश करके सिर में डालकर स्नान करना, चर्म-रोगों तथा रक्त-विकारों के लिये बड़ा लाभदायक है। गाय के शरीर से निकलने वाला तेज बड़ा सात्त्विक एवं बलदायक होता है, इसलिये गौ चराने का भी बड़ा सूक्ष्म लाभ है। गौ के दूध, दही, घी, छाछ पर मनुष्य तीन मास निर्वाह करे, तो उसके शरीर का एक प्रकार से कल्प हो जाता है।

(६) प्रदातव्य तप

अपने पास जो शक्ति हो, उसमें से कम मात्रा में अपने लिये रखकर दूसरों को अधिक मात्रा में दान देना है। धनी आदमी धन का दान करते हैं। जो धनी नहीं हैं, वे अपने समय, बुद्धि, ज्ञान, चातुर्य, सहयोग आदि को उधार या दान देकर दूसरों को लाभ पहुँचा सकते हैं। शरीर का, मन का दान भी धन-दान की ही भाँति महत्त्वपूर्ण है। अनीति उपार्जित धन का सबसे अच्छा प्रायश्चित्त यही है कि उसको सत्कार्य के लिये दान कर दिया जाए। समय का कुछ न कुछ भाग लोकसेवा के लिये लगाना आवश्यक है। दान देते समय पात्र और कार्य का ध्यान करना आवश्यक है। कुपात्र को दिया हुआ, अनुपयुक्त कर्म के लिये दिया गया दान व्यर्थ है। मनुष्येतर प्राणी भी दान के अधिकारी हैं। गौ, चींटी, चिड़ियाँ, कुत्ते आदि उपकारी जीव-जन्तुओं को भी अन्न-जल का दान देने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये।

स्वयं कष्ट सहकर, अभावग्रस्त रहकर भी दूसरों की उचित सहायता करना, उन्हें उन्नतिशील, सात्त्विक, सद्गुणी बनाने में सहायता करना, सुविधा देना दान का वास्तविक उद्देश्य है। दान प्रशंसा में धर्म-शास्त्रों का पन्ना-पन्ना भरा हुआ है। उसके पुण्य के सम्बन्ध में अधिक क्या कहा जाए। वेद ने कहा है—"सौ हाथों से कमाये और हजार हाथों से दान करे।"

(७) निष्कासन तप

अपनी बुराइयों और पापों को गुप्त रखने से मन भारी रहता है । पेट में मल भरा रहे, तो उससे नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अपने पापों को छुपाकर रखा जाए, तो यह गुप्तता रुके हुए मल की तरह गन्दगी और सड़न पैदा करने वाले समस्त मानसिक क्षेत्र को दूषित कर देती है । इसलिये कुछ ऐसे मित्र चुनने चाहिये जो काफी गम्भीर और विश्वस्त हों । उनसे अपनी पाप कथायें कह देनी चाहिये । अपनी कठिनाइयाँ, दु:ख गाथाएँ, इच्छाएँ, अनुभूतियाँ भी इसी प्रकार किन्हीं ऐसे लोगों से कहते रहना चाहिये, जो उतने उदार हों कि उन्हें सुनकर घृणा न करें और कभी विरोधी हो जाने पर उन्हें दूसरों से प्रकट करके हानि न पहुँचाएँ । यह गुप्त बातों का प्रकटीकरण एक प्रकार का आध्यात्मिक जुलाब है, जिससे मनोभूमि निर्मल होती है ।

प्रायश्चित्तों में "दोष प्रकाशन" का महत्त्वपूर्ण स्थान है । गोहत्या हो जाने का प्रायश्चित्त शास्त्रों ने यह बताया है कि मरी गौ की पूँछ हाथ में लेकर एक-सौ गाँवों में वह व्यक्ति उच्च स्वर से चिल्ला-चिल्लाकर यह कहे कि मुझसे गौ-हत्या हो गयी । इस दोष प्रकाशन से गौ-हत्या का दोष छूट जाता है । जिसके साथ बुराई की हो उससे क्षमा माँगनी चाहिये, क्षतिपूर्ति करनी चाहिये और जिस प्रकार वह संतुष्ट हो सके वह करना चाहिये । यदि वह भी न हो तो कम से कम दोष प्रकाशन द्वारा अपनी अन्तरात्मा का एक भारी बोझ तो हल्का करना ही चाहिये । इस प्रकार के दोष प्रकाशन के लिये 'शान्तिकुञ्ज हरिद्वार' को एक विश्वसनीय मित्र समझकर पत्र द्वारा अपने दोषों को लिखकर उनके प्रायश्चित्त तथा सुधार की सलाह प्रसन्नतापूर्वक ली जा सकती है ।

(८) साधना तप

गायत्री का चौबीस हजार जप नौ दिन में पूरा करना, सवालक्ष जप चालीस दिन में पूरा करना, गायत्री यज्ञ, गायत्री की योग साधनाएँ, पुरश्चरण, पूजन, स्तोत्र पाठ आदि साधनाओं से पाप घटता है और पुण्य बढ़ता है । कम पढ़े लोग "गायत्री चालीसा" का पाठ नित्य करके अपनी गायत्री भक्ति को बढ़ा सकते हैं और इस महामन्त्र से बढ़ी हुई शक्ति के द्वारा तपोबल के अधिकारी बन सकते हैं ।

(९) ब्रह्मचर्य तप

वीर्य-रक्षा, मैथुन से बचना, काम-विकार पर काबू रखना ब्रह्मचर्य व्रत है । मानसिक काम-सेवन शारीरिक काम-सेवन की ही भाँति हानिकारक है । मन को कामक्रीड़ा की ओर न जाने देने का सबसे अच्छा उपाय उसे उच्च आध्यात्मिक एवं नैतिक विचारों में लगाये रहना है । बिना इसके ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं हो सकती । मन को ब्रह्म में, सत् तत्त्व में लगाये रहने से आत्मोन्नति भी होती है, धर्म साधना भी और वीर्य रक्षा भी । इस प्रकार एक ही उपाय से तीन लाभ करने वाला यह तप गायत्री साधना वालों के लिये सब प्रकार उत्तम है ।

(१०) चान्द्रायण तप

यह व्रत पूर्णमासी से आरम्भ किया जाता है । पूर्णमासी को अपनी जितनी पूर्ण खुराक हो, उसका सोलहवाँ भाग प्रतिदिन कम करते जाना चाहिये । जैसे अपना पूर्ण आहार एक सेर है, तो प्रतिदिन एक छटाँक आहार कम करते जाना चाहिये, कृष्ण पक्ष का चन्द्रमा जैसे १-१ कला नित्य घटता है, वैसे ही १-१ षोडशांश नित्य कम करते चलना चाहिये । अमावस्या और प्रतिपदा को चन्द्रमा बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ता । उन दो दिनों बिल्कुल भी आहार न लेना चाहिये । फिर शुक्ल पक्ष की दौज को चन्द्रमा एक कला से निकलता है और धीरे-धीरे बढ़ता है वैसे ही १-१ षोडशांश बढ़ाते हुए पूर्णमासी तक पूर्ण आहार पर पहुँच जाना चाहिये । एक मास में आहार-विहार का संयम, स्वाध्याय, सत्संग में प्रवृत्ति, सात्त्विक जीवनचर्या तथा गायत्री साधना में उत्साहपूर्वक संलग्न रहना चाहिये ।

अर्ध चान्द्रायण व्रत पन्द्रह दिन का होता है । उसमें भोजन का आठवाँ भाग आठ दिन कम करना और आठ दिन बढ़ाना होता है । आरम्भ में अर्ध चान्द्रायण ही करना चाहिये । जब एक बार सफलता मिल जाए, तो पूर्ण चान्द्रायण के लिये कदम बढ़ाना चाहिये ।

उपवास, स्वास्थ्यरक्षा का बड़ा प्रभावशाली साधन है। मनुष्य से खान-पान में जो त्रुटियाँ स्वभाव या परिस्थितिवश होती रहती हैं, उनसे शरीर में दूषित या विजातीय तत्त्व की वृद्धि हो जाती है। उपवास काल में जब पेट खाली रहता है, तो जठराग्नि उन दोषों को ही पचाने लगती हैं। इसमें शरीर शुद्ध होता है और रक्त स्वच्छ हो जाता है। जिसकी देह में विजातीय तत्त्व नहीं होंगे और नाड़ियों में स्वच्छ रक्त परिभ्रमण करता होगा, उसको एकाएक किसी रोग या बीमारी की शिकायत हो ही नहीं सकती। इसलिये स्वास्थ्यकामी पुरुष के लिये उपवास बहुत बड़े सहायक बन्धु के समान है। अन्य उपवासों से चान्द्रायण व्रत में यह विशेषता है कि इसमें भोजन का घटाना और बढ़ाना एक नियम और क्रम से होता है, जिससे उसका विपरीत प्रभाव तनिक भी नहीं पड़ता। अन्य लम्बे उपवासों में जिनमें भोजन को लगातार दस-पन्द्रह दिन के लिये छोड़ दिया जाता है, उपवास को खत्म करते समय बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है और अधिकांश व्यक्ति उस समय अधिक मात्रा में अनुपयुक्त आहार कर लेने से कठिन रोगों के शिकार हो जाते हैं। यह चान्द्रायण व्रत में बिल्कुल नहीं होता।

(११) मौन तप

मौन से शक्तियों का क्षरण रुकता है, आत्म-बल एवं संयम बढ़ता है, दैवी तत्त्वों की वृद्धि होती है, चित्त की एकाग्रता बढ़ती है, शान्ति का प्रादुर्भाव होता है, बहिर्मुखी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होने से आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। प्रतिदिन या सप्ताह में अथवा मास में कोई नियत समय मौन रहने के लिये निश्चित करना चाहिये। कई दिन या लगातार भी ऐसा व्रत रखा जा सकता है। अपनी स्थिति, रुचि और सुविधा के अनुसार मौन की अवधि निर्धारित करनी चाहिये। मौन काल का अधिकांश भाग एकांत में स्वाध्याय अथवा ब्रह्म चिन्तन में व्यतीत करना चाहिये।

(१२) अर्जन तप

विद्याध्ययन, शिल्प-शिक्षा, देशाटन, मल्ल विद्या, संगीत आदि किसी भी प्रकार की उत्पादक उपयोगी शिक्षा प्राप्त करके अपनी शक्ति, योग्यता, क्षमता, क्रियाशीलता, उपयोगिता बढ़ाना अर्जन तप है। विद्यार्थी को कष्ट उठाना पड़ता है, जिस प्रकार मन मारना पड़ता है और सुविधाएँ छोड़कर कठिनाई से भरा कार्यक्रम अपनाना पड़ता है, वह तप का लक्षण है। केवल बचपन में ही नहीं वृद्धावस्था और मृत्यु पर्यन्त किसी न किसी रूप में सदैव अर्जन तप करते रहने का प्रयत्न करना चाहिये। साल में थोड़ा-सा समय तो इस तपस्या में लगाना ही चाहिये, जिससे अपनी तपस्याएँ बढ़ती चलें और उनके द्वारा अधिक लोक-सेवा करना सम्भव हो सके।

सूर्य की बारह राशियाँ होती हैं, गायत्री के वह बारह तप हैं। इनमें से जो तप, जब, जिस प्रकार सम्भव हो, उसे अपनी स्थिति, रुचि और सुविधा के अनुसार अपनाते रहना चाहिये। ऐसा भी हो सकता है कि वर्ष के बारह महीनों में एक-एक महीने एक-एक तप करके एक वर्ष पूरा तप वर्ष बिताया जाए।

सातवें निष्कासन तप में एक-दो बार विश्वस्त मित्रों के सामने दोष प्रकटीकरण हो सकता है। नित्य तो अपनी डायरी में एक मास तक अपनी बुराइयाँ लिखते रहना चाहिये और उन्हें अपने पथ-प्रदर्शक को दिखाना चाहिये। यह क्रम अधिक दिन तक चालू रखा जाए, तो और भी उत्तम है। महात्मा गाँधी साबरमती आश्रम में अपने आश्रमवासियों की डायरी बड़े गौर से जाँचा करते थे।

अन्य तपों में प्रत्येक को प्रयोग करने के लिये अनेकों रीतियाँ हो सकती हैं। उन्हें थोड़ी-थोड़ी अवधि के लिये निर्धारित करके अपना अभ्यास और साहस बढ़ाना चाहिये। आरम्भ में थोड़ा और सरल तप अपनाने से पीछे दीर्घकाल तक और कठिन स्वाध्याय साधन करना भी सुलभ हो जाता है।

गायत्री साधना से पापमुक्ति

गायत्री की अनन्त कृपा से पतितों को उच्चता मिलती है और पापियों के पाप नाश होते हैं। इस तत्त्व पर विचार करते हुए हमें यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि आत्मा, सर्वथा स्वच्छ, निर्मल, पवित्र, शुद्ध, बुद्ध और निर्लिप्त है। श्वेत काँच या पारदर्शी पात्र में किसी रंग का पानी भर दिया जाए, तो उसी रंग का दीखने लगेगा,

साधारणत: उसे उसी रंग का पात्र कहा जाएगा । इतने पर भी पात्र का मूल सर्वथा रंग रहित ही रहता है । एक रंग का पानी भर दिया जाए, तो फिर इस परिवर्तन के साथ ही पात्र दूसरे रंग का दिखाई देने लगेगा । मनुष्य की यही स्थिति है । आत्मा स्वभावत: निर्विकार है, पर उसमें जिस प्रकार के गुण, कर्म, स्वभाव भर जाते हैं, वह उसी प्रकार का दिखाई देने लगता है ।

गीता में कहा है कि—"विद्या-विनय सम्पन्न-ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल आदि को जो समत्व बुद्धि से देखता है, वही पण्डित है ।" इस समन्वय का रहस्य यह है कि आत्मा सर्वथा निर्विकार है, उसकी मूल स्थिति में परिवर्तन नहीं होता, केवल मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार अन्त:करण चतुष्टय, रंगीन-विकारग्रस्त हो जाता है, जिसके कारण मनुष्य अस्वाभाविक, विपन्न, विकृत दशा में पड़ा हुआ प्रतीत होता है । इस स्थिति में यदि परिवर्तन हो जाए, तो आज के दुष्ट का कल ही सन्त बन जाना कुछ भी कठिन नहीं है । इतिहास बताता है, कि एक चाण्डाल कुलोत्पन्न तस्कर बदलकर महर्षि वाल्मीकि हो गया । जीवन भर वेश्यावृत्ति करने वाली गणिका आन्तरिक परिवर्तन के कारण परम साध्वी देवियों को प्राप्त होने वाली परमगति की अधिकारिणी हुई । कसाई का पेशा करते हुए जिन्दगी गुजार देने वाले अजामिल और सदन परम भागवत भक्त कहलाये । इस प्रकार अनेकों नीच काम करने वाले उच्चता को प्राप्त हुए हैं और हीन कुलोत्पन्नों को उच्च वर्ण की प्रतिष्ठा मिली है । रैदास चमार, कबीर जुलाहे, रामानुज शूद्र, षट्कोपाचार्य खटीक, तिरवल्लुवर अंत्यज वर्ण में उत्पन्न हुए थे, पर उनकी स्थिति अनेकों ब्राह्मणों से ऊँची थी । विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण बने थे ।

जहाँ पतित स्थान से ऊपर चढ़ने के उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है, वहाँ उच्च स्थिति के लोगों के पतित होने के भी उदाहरण कम नहीं हैं, पुलस्त्य के उत्तम ब्रह्मकुल में उत्पन्न हुआ चारों वेदों का महापण्डित रावण, मनुष्यता से भी पतित होकर राक्षस कहलाया । खोटा अन्न खाने से द्रोण और भीष्म जैसे ज्ञानी पुरुष, अन्यायी कौरवों के समर्थक हो गये । विश्वामित्र ने क्रोध में आकर वसिष्ठ के निर्दोष बालकों की हत्या कर डाली । पाराशर ने धीवर की कुमारी कन्या से व्यभिचार करके सन्तान उत्पन्न की, विश्वामित्र ने वेश्या पर आसक्त होकर उसे लम्बे समय तक अपने पास रखा, चन्द्रमा जैसा देवता गुरु माता के साथ कुमार्गगामी बना, देवताओं के राजा इन्द्र को व्यभिचार के कारण शाप का भाजन होना पड़ा, ब्रह्मा अपनी पुत्री पर ही मोहित हो गये, ब्रह्मचारी नारद मोहग्रस्त होकर विवाह करने स्वयंवर में पहुँचे, सड़ी-गली काया वाले वयोवृद्ध च्यवन ऋषि को सुकुमारी सुकन्या से विवाह करने की सूझी, बलि राजा के दान में भाँजी मारते हुए शुक्राचार्य ने अपनी आँख गँवा दी, धर्मराज युधिष्ठिर तक ने अश्वत्थामा के मरने की पुष्टि करके अपने मुख पर कालिख पोती और धीरे से 'नरो वा कुञ्जरो वा' गुनगुनाकर अपने को झूठ से बचाने की प्रवंचना की । कहाँ तक कहें, किस-किस की कहें, इस दृष्टि से इतिहास देखते हैं, तो बड़ों-बड़ों को स्थान च्युत हुआ पाते हैं । इससे प्रकट होता है कि आन्तरिक स्थिति में हेर-फेर हो जाने से भले मनुष्य बुरे और बुरे मनुष्य भले बन सकते हैं ।

शास्त्र कहता है कि जन्म से सभी मनुष्य शूद्र पैदा होते हैं । पीछे संस्कार के प्रभाव से द्विज बनते हैं । असल में यह संस्कार ही है, जो शूद्र को द्विज और द्विज को शूद्र बना देते हैं । गायत्री के तत्त्वज्ञान को हृदय में धारण करने से ऐसे संस्कारों की उत्पत्ति होती हैं, जो मनुष्य को एक विशेष प्रकार का बना देते हैं । उस पात्र में भरा हुआ पहला लाल रंग निवृत्त हो जाता है और उसके स्थान पर नील वर्ण परिलक्षित होने लगता है ।

पापों का नाश आत्मतेज की प्रचण्डता से होता है । यह तेजी जितनी अधिक होती है, उतना ही संस्कार का कार्य शीघ्र और अधिक परिमाण में होता है । बिना धार की लोहे की छड़ से वह कार्य नहीं हो सकता, जो तीक्ष्ण तलवार से होता है । यह तेजी किस प्रकार आए ? इसका उपाय तपाना और रगड़ना है । लोहे को आग में तपाकर उसमें धार बनाई जाती है और पत्थर पर रगड़कर उसे तेज किया जाता है । तब वह तलवार दुश्मन की सेना का सफाया करने योग्य होती है । हमें भी अपनी आत्म-शक्ति तेज करने के लिये इसी तपाने, घिसने वाली प्रणाली को अपनाना पड़ता है—इसे आध्यात्मिक भाषा में 'तप' या 'प्रायश्चित्त' नाम से पुकारते हैं ।

अपराधों की निवृत्ति के लिये हर जगह दण्ड का विधान काम में लाया जाता है । बच्चे ने गड़बड़ी की, कि

माता की डाँट-डपट पड़ी, शिष्य ने प्रमाद किया, कि गुरु ने छड़ी सँभाली । सामाजिक नियमों को भंग किया, कि पंचायत ने दण्ड दिया । कानून का उल्लंघन हुआ कि जुर्माना, जेल, काला पानी या फाँसी तैयार है । ईश्वर दैविक, दैहिक, भौतिक दु:ख देकर पापों का दण्ड देता है । दण्ड-विधान प्रतिशोध या प्रतिहिंसा मात्र नहीं है । 'खून का बदला खून' की जंगली प्रथा के कारण नहीं, दण्ड विधान का निर्माण उच्च आध्यात्मिक विज्ञान के आधार पर किया गया है । कारण यह है कि दण्ड स्वरूप जो कष्ट दिये जाते हैं, उनसे मनुष्य के भीतर एक खलबली मचती है, प्रतिक्रिया होती है, तेजी आती है, जिससे उसका गुप्त मानस चौंक पड़ता है और भूल को छोड़कर उचित मार्ग पर आ जाता है । 'तप में ऐसी शक्ति है । तप की गर्मी से अनात्म तत्त्वों का संहार होता है ।'

दूसरों द्वारा दण्ड रूप में बलात् तप कराके हमारी शुद्धि की जाती है । उस प्रणाली को हम स्वयं ही अपनाएँ, अपने गुप्त प्रकट पापों का दण्ड स्वयं ही अपने को देकर स्वेच्छापूर्वक तप करें, तो वह दूसरों द्वारा बलात् कराये हुए तप की अपेक्षा असंख्य गुना उत्तम है । उसमें न अपमान होता है, न प्रतिहिंसा एवं न आत्म-ग्लानि से चित्त क्षोभित होता है; वरन् स्वेच्छा तप से एक आध्यात्मिक आनन्द आता है, शौर्य और साहस प्रकट होता है तथा दूसरों की दृष्टि में अपनी श्रेष्ठता, प्रतिष्ठा बढ़ती है । पापों की निवृत्ति के लिये आत्मतेज की अग्नि चाहिये, इस अग्नि की उत्पत्ति से दुहरा लाभ होता है, एक तो हानिकारक तत्त्वों का, कषाय-कल्मषों का नाश होता है, दूसरे उनकी ऊष्मा और प्रकाश से दैवी-तत्त्वों का विकास, पोषण एवं अभिवर्द्धन होता है, जिसके कारण साधक, तपस्वी, मनस्वी एवं तेजस्वी बन जाता है । हमारे धर्म-शास्त्रों में पग-पग पर व्रत, उपवास, दान, स्नान, आचरण-विचार आदि के विधि-विधान इसी दृष्टि से किये गये हैं कि उन्हें अपनाकर मनुष्य इन दुहरे लाभों को उठा सके ।

'अपने से कोई भूल, पाप या बुराइयाँ बन पड़ी हों, तो उनके अशुभ फलों के निवारण के लिये सच्चा प्रायश्चित्त तो यही है कि उन्हें फिर न करने का दृढ़ निश्चय किया जाए, पर यदि इस निश्चय के साथ-साथ थोड़ी तपश्चर्या भी की जाए, तो उसे प्रतिज्ञा का बल मिलता है और उसके पालन में दृढ़ता आती है । साथ ही यह तपश्चर्या सात्त्विकता की तीव्रगति से वृद्धि करती है, चैतन्यता उत्पन्न करती है और ऐसे उत्तमोत्तम गुण, कर्म, स्वभावों को उत्पन्न करती है; जिनसे पवित्रतामय, साधनामय, मंगलमय जीवन बिताना सुगम हो जाता है । गायत्री शक्ति के आधार पर की गयी तपश्चर्या बड़े-बड़े पापियों को भी निष्पाप बनाने, उनके पाप-पुञ्जों को नष्ट करने तथा भविष्य के लिये उन्हें निष्पाप रहने योग्य बना सकती है ।'

जो कार्य, पाप दिखाई पड़ते हैं; वे सर्वदा वैसे पाप नहीं होते, जैसे कि समझते हैं । कहा गया है कि कोई भी कार्य न तो पाप है न पुण्य, कर्त्ता की भावना के अनुसार पाप-पुण्य होते हैं । जो कार्य एक मनुष्य के लिये पाप है, वही दूसरे के लिये पाप-रहित है और किसी के लिये वह पुण्य भी है । हत्या करना एक कर्म है, वह तीन व्यक्तियों के लिये तीन विभिन्न परिस्थितियों के कारण भिन्न परिणाम वाला बन जाता है । कोई व्यक्ति दूसरों का धन अपहरण करने के लिये किसी की हत्या करता है, यह हत्या घोर पाप हुई । कोई न्यायाधीश या जल्लाद समाज के शत्रु अपराधी को न्याय रक्षा के लिये प्राण-दण्ड देता है, वह उसके लिये कर्तव्य-पालन है । कोई व्यक्ति आततायी डाकुओं के आक्रमण से निर्दोष के प्राण बचाने के लिये अपने को जोखिम में डालकर उन अत्याचारियों का वध कर देता है, तो वह पुण्य है । हत्या तीनों ने ही की, पर तीनों की हत्यायें अलग-अलग परिणाम वाली हैं । तीनों हत्यारे डाकू, न्यायाधीश एवं आततायी से लड़कर उसका वध करने वाले—समान रूप से पापी नहीं गिने जा सकते ।

चोरी एक बुरा कार्य है, परन्तु परिस्थितियों वश वह भी सदा बुरा नहीं रहता । स्वयं सम्पन्न होते हुए भी जो अन्यायपूर्वक दूसरों का धन हरण करता है, वह पक्का चोर है । दूसरा उदाहरण लीजिये—भूख से प्राण जाने की मजबूरी में किसी भी सम्पन्न व्यक्ति का कुछ चुराकर आत्म-रक्षा करना कोई बहुत बड़ा पाप नहीं है । तीसरी स्थिति में किसी दुष्ट की साधन-सामग्री चुराकर उसे शक्ति हीन बना देना और उस चुराई हुई सामग्री को सत्कर्म में लगा देना पुण्य का काम है । तीनों चोर समान श्रेणी के पापी नहीं ठहराये जा सकते ।

परिस्थिति, मजबूरी, धर्म रक्षा तथा बौद्धिक स्वल्प विकास के कारण वश कई बार ऐसे कार्य होते हैं, जो

स्थूल दृष्टि से देखने में निन्दनीय मालूम पड़ते हैं, पर वस्तुत: उनके पीछे पाप भावना छिपी हुई नहीं होती, ऐसे कार्य पाप नहीं कहे जा सकते । बालक का फोड़ा चिरवाने के लिये माता को उसे अस्पताल ले जाना पड़ता है और बालक को कष्ट में डालना पड़ता है । रोगी की प्राण रक्षा के लिये डाक्टर को कसाई के समान चीड़-फाड़ करने का कार्य करना पड़ता है । रोगी की कुपथ्यकारक इच्छाओं को टालने के लिये उपचारक को झूठे बहाने बनाकर किसी प्रकार समझाना पड़ता है । बालकों की जिद का भी प्राय: ऐसा ही समाधान किया जाता है । हिंसक जन्तुओं, शस्त्रधारी दस्युओं पर सामने से नहीं; बल्कि पीछे से आक्रमण करना पड़ता है ।

प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि अनेक महापुरुषों को भी धर्म की स्थूल मर्यादाओं का उल्लंघन करना पड़ता है । लोकहित, धर्म वृद्धि और अधर्म नाश की सद्‌भावना के कारण उन्हें वैसा पापी नहीं बनना पड़ता जैसे कि वही काम करने वाले आदमी को साधारणत: बनना पड़ता है ।

भगवान् विष्णु ने भस्मासुर से शंकर जी के प्राण बचाने के लिये मोहिनी रूप बनाकर उसे छला और नष्ट किया । समुद्र-मन्थन के समय अमृत-घट के बँटवारे पर जब देवताओं और असुरों में झगड़ा हो रहा था, तब भी विष्णु ने माया- मोहिनी रूप बनाकर असुरों को धोखे में रखा और अमृत देवताओं को पिला दिया । सती वृन्दा का सतीत्व डिगाने के लिये भगवान् ने जालन्धर का रूप बनाया था । राजा बलि को छलने के लिये वामन का रूप धारण किया था । पेड़ की आड़ में छिपकर राम ने अनुचित रूप से बाली को मारा था ।

महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर ने अश्वत्थामा की मृत्यु का छलपूर्वक समर्थन किया । अर्जुन ने शिखण्डी की ओट में खड़े होकर भीष्म को मारा, कर्ण का रथ कीचड़ में धँस जाने पर भी उसका वध किया । घोर दुर्भिक्ष में क्षुधा पीड़ित होने पर विश्वामित्र ऋषि ने चाण्डाल के घर से कुत्ते का मांस चुराकर खाया, प्रह्लाद का पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना, बलि का गुरु शुक्राचार्य की आज्ञा न मानना, विभीषण का भाई को त्यागना, भरत का माता की भर्त्सना करना, गोपियों का पर-पुरुष श्रीकृष्ण से प्रेम करना, मीरा का अपने पति को त्याग देना, परशुराम जी का अपनी माता का सिर काट देना आदि कार्य साधारणत: अधर्म प्रतीत होते हैं, पर उन्हें कर्त्ताओं ने सदुद्देश्य से प्रेरित होकर किया था, इसलिये धर्म की सूक्ष्म दृष्टि से यह कार्य पातक नहीं गिने गये ।

शिवाजी ने अफजल खाँ का वध कूटनीतिक चातुर्य से किया था । भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में क्रान्तिकारियों ने ब्रिटिश सरकार के साथ जिस नीति को अपनाया था, उसमें चोरी, डकैती, जासूसी, हत्या, कत्ल, झूठ बोलना, छल, विश्वासघात आदि ऐसे सभी कार्यों का समावेश हुआ था, जो मोटे तौर से अधर्म कहे जाते हैं; परन्तु उनकी आत्मा पवित्र थी, असंख्य दीन-दु:खी प्रजा की करुणाजनक स्थिति से द्रवित होकर अन्यायी शासन को उलटने के लिये ही उन्होंने ऐसा किया था । कानून उनको भले ही अपराधी बताए, पर वस्तुत: वे पापी कदापि नहीं कहे जा सकते ।

अधर्म का नाश और धर्म की रक्षा के लिये भगवान् को युग-युग में अवतार लेकर अगणित हत्यायें करनी पड़ती हैं और रक्त की धार बहानी पड़ती है । इसमें पाप नहीं होता । सदुद्देश्य के लिये किया हुआ अनुचित कार्य भी उचित के समान ही उत्तम माना गया है । इस प्रकार मजबूर किये गये, सताये गये, बुभुक्षित, संत्रस्त-दु:खी, उत्तेजित, आपत्तिग्रस्तों, अज्ञानी बालक, रोगी अथवा पागल कोई अनुचित कार्य कर बैठते हैं, तो वह क्षम्य माने जाते हैं, कारण यह है कि उस मनोभूमि का मनुष्य धर्म और कर्तव्य के दृष्टिकोण से किसी बात पर ठीक विचार करने में समर्थ नहीं होता ।

पापियों की सूची में जितने लोग हैं, उनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं, जिन्हें उपर्युक्त किन्हीं कारणों से अनुचित कार्य करने पड़े, पीछे वे उनके स्वभाव में आ गये । परिस्थितियों ने, मजबूरियों ने, आदतों ने उन्हें लाचार कर दिया और वे बुराई की ढालू सड़क पर फिसलते चले गये । यदि दूसरे प्रकार की परिस्थितियाँ, सुविधायें उन्हें मिलतीं, ऊँचा उठाने वाले और सन्तोष देने वाले साधन मिल जाते, तो निश्चय ही वे अच्छे बने होते ।

कानून और लोकमत चाहे किसी को कितना ही दोषी ठहरा सकता है, स्थूल दृष्टि से कोई आदमी अत्यन्त बुरा हो सकता है, पर वास्तविक पापियों की संख्या इस संसार में बहुत कम है । जो परिस्थितियों के वश बुरे बन

गये हैं, उन्हें भी सुधारा जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक की आत्मा ईश्वर का अंश होने के कारण तत्त्वत: पवित्र है। बुराई उसके ऊपर छाया मैल है। मैल को साफ करना न तो असंभव है और न कष्टसाध्य, वरन् यह कार्य आसानी से हो सकता है।

कई व्यक्ति सोचते हैं कि हमने अब तक इतने पाप किये हैं, इतनी बुराइयाँ की हैं, हमारे प्रकट और अप्रकट पापों की सूची बहुत बड़ी है। अब हम सुधर नहीं सकते। हमें न जाने कब तक नरक में सड़ना पड़ेगा? हमारा उद्धार और कल्याण अब कैसे हो सकता है? ऐसा सोचने वालों को जानना चाहिये कि सन्मार्ग पर चलने का प्रण करते ही उनकी पुरानी मैली-कुचैली पोशाक उतर जाती है और उसमें भरे हुए जुएँ भी उसी में रह जाते हैं। पाप-वासनाओं का परित्याग करने और उनका सच्चे हृदय से प्रायश्चित्त करने से पिछले पापों के बुरे फलों से छुटकारा मिल सकता है। केवल वे परिपक्व प्रारब्ध कर्म जो इस जन्म के लिये भाग्य बन चुके हैं, उन्हें तो किसी न किसी रूप से भोगना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जो प्राचीन या आजकल के ऐसे कर्म हैं, जो अभी प्रारब्ध नहीं बने हैं, उनका संचित समूह नष्ट हो जाता है, जो इस जन्म के लिये दु:खदायी भोग हैं, वह भी अपेक्षाकृत बहुत हल्के हो जाते हैं और वे चिह्न पूजा मात्र थोड़ा कष्ट दिखाकर सहज ही शान्त हो जाते हैं।

कोई मनुष्य अपने पिछले जीवन का अधिकांश भाग कुमार्ग में व्यतीत कर चुका है या बहुत-सा समय निरर्थक बिता चुका है, तो इसके लिये केवल दु:ख मानने, पछताने या निराश होने से कुछ प्रयोजन सिद्ध न होगा। जीवन का जो भाग शेष रहा है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं। राजा परीक्षित को मृत्यु से पूर्व एक सप्ताह आत्म-कल्याण के लिये मिला था, उसने इस थोड़े से समय का सदुपयोग किया और अभीष्ट लाभ प्राप्त कर लिया। सूरदास को जन्म भर की व्यभिचारिणी आदतों से छुटकारा न मिलते देखकर अन्त में आँखें फोड़ लेनी पड़ी थीं। तुलसीदास का कामातुर होकर रातों-रात ससुराल पहुँचना और परनाले में लटका हुआ साँप पकड़कर स्त्री के पास जा पहुँचना प्रसिद्ध है। इस प्रकार के असंख्यों व्यक्ति अपने जीवन का अधिकांश भाग दूसरे कार्यों में व्यतीत करने के उपरान्त सत्पथगामी हुए और थोड़े से ही समय में योगियों और महात्माओं को प्राप्त होने वाली सद्गति के अधिकारी हुए हैं।

यह एक रहस्यमय तथ्य है कि मन्दबुद्धि, मूर्ख, डरपोक, कमजोर तबियत के सीधे कहलाने वालों की अपेक्षा वे लोग अधिक जल्दी आत्मोन्नति कर सकते हैं, जो अब तक सक्रिय, जागरूक, चैतन्य, पराक्रमी, पुरुषार्थी एवं बदमाश रहे हैं। कारण यह है कि मन्द चेतना वालों में शक्ति का स्रोत बहुत ही न्यून होता है, वे पूरे सदाचारी और भक्त रहें, तो भी मन्द शक्ति के कारण उनकी प्रगति, अत्यन्त मन्द गति से होती है, पर जो लोग शक्तिशाली हैं, जिनके अन्दर चैतन्यता और पराक्रम का निर्झर तूफानी गति से प्रवाहित होता है, वे जब भी जिस दिशा में भी लगेंगे, उधर ही ढेर लगा देंगे। अब तक जिन्होंने बदमाशी में झण्डा बुलन्द रखा है, वे निश्चय ही शक्ति सम्पन्न तो हैं, पर उनकी शक्ति कुमार्गगामी रही है। यदि वह शक्ति सत्पथ पर लग जाए तो उस दिशा में भी आश्चर्यजनक सफलता उपस्थित कर सकते हैं। गधा एक वर्ष में जितना बोझ ढोता है, हाथी उतना एक दिन में ही ढो सकता है। आत्मोन्नति भी एक पुरुषार्थ है, इस मंजिल पर वे ही लोग शीघ्र पहुँच सकते हैं, जो पुरुषार्थी हैं, जिनके स्नायुओं में बल और मन में अदम्य साहस तथा उत्साह है।

जो लोग पिछले जीवन में कुमार्गगामी रहे हैं, बड़ी ऊट-पटाँग, गड़बड़ करते रहे हैं, वे भूले हुए पथभ्रष्ट तो अवश्य हैं, पर इस गलत प्रक्रिया द्वारा भी उन्होंने अपनी चैतन्यता, बुद्धिमत्ता, जागरूकता और क्रियाशीलता को बढ़ाया है। यह बढ़ोत्तरी एक अच्छी पूँजी है। पथ-भ्रष्टता के कारण जो पाप उनसे बन पड़े, वे पश्चात्ताप और दु:ख के हेतु अवश्य हैं और सन्तोष की बात इतनी है कि उस कँटीले-पथरीले, लहू-लुहान करने वाले, ऊबड़-खाबड़, दु:खदायी मार्ग में भटकते हुए भी मंजिल की दिशा में ही यात्रा की है। यदि अब सँभल जाया जाए और सीधे राजमार्ग से सतोगुणी आधार से आगे बढ़ा जाए तो पिछला ऊल-जलूल कार्यक्रम भी सहायक सिद्ध होगा।

पाप और दोषों का प्रधान कारण प्राय: दूषित मानसिक भावनायें ही हुआ करती हैं। इन गर्हित भावनाओं के कारण मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और इससे वह अकरणीय कार्य करता रहता है। इस कारण पापों से

छुटकारा पाने का कारण यही है कि मनुष्य सद्विचारों द्वारा बुरे-विचारों का शमन और निराकरण करे। जब मनोभूमि शुद्ध हो जाए, तो उसमें हानिकारक विचारों की उत्पत्ति ही नहीं होगी और मनुष्य पाप मार्ग से हटकर सुमार्गगामी बन जायेगा। इसके लिये स्वाध्याय, सत्संग आदि को प्रभावशाली साधन बतलाया है। गायत्री मन्त्र सद्बुद्धि का प्रेरणादायक होने से स्वाध्याय का एक बड़ा अंग माना जा सकता है। जब उससे मन श्रेष्ठ विचारों की तरफ जाता है, तो असद्बुद्धि का स्वयं ही अन्त होने लग जाता है। किसी भावना के लगातार चिन्तन में बड़ी शक्ति होती है। जब हम लगातार सद्बुद्धि और शुभ विचारों का चिन्तन करते रहेंगे, तो पापयुक्त भावनाओं का क्षीण होते जाना स्वाभाविक ही है।

पिछले पाप नष्ट हो सकते हैं, कुमार्ग पर चलने से जो घाव हो गये हैं, वे थोड़ा दुःख देकर, शीघ्र अच्छे हो सकते हैं। उसके लिये चिन्ता एवं निराशा की कोई बात नहीं। केवल अपनी रुचि और क्रिया को बदल देना है। यह परिवर्तन होते ही बड़ी तेजी से सीधे मार्ग पर प्रगति करते हैं और स्वल्पकाल में ही सच्चे महात्मा बन जाते हैं। जिन विशेषताओं के कारण वे सख्त बदमाश थे, वे ही विशेषतायें उन्हें सफल सन्त बना देती हैं। गायत्री का आश्रय लेने से बुरे, बदमाश और दुराचारी स्त्री-पुरुष भी स्वल्पकाल में सन्मार्गगामी और पापरहित हो सकते हैं।

आत्म-शक्ति का अकूत भण्डार

यों गायत्री नित्य उपासना करने योग्य है। त्रिकाल सन्ध्या में प्रातः, मध्याह्न, सायं तीन बार उसी की उपासना करने का नित्य कर्म शास्त्रों में आवश्यक बतलाया गया है। जब भी जितनी अधिक मात्रा में गायत्री का जप, पूजन, चिन्तन, मनन किया जा सके, उतना ही अच्छा है; क्योंकि—**'अधिकस्य अधिकं फलम्।'**

परन्तु किसी विशेष प्रयोजन के लिये जब विशेष शक्ति का संचय करना पड़ता है, तो उसके लिये विशेष क्रिया की जाती है। इस क्रिया को अनुष्ठान के नाम से पुकारते हैं। जब कभी परदेश के लिये यात्रा की जाती है, तो रास्ते के लिये कुछ भोजन सामग्री तथा खर्च के लिये रुपये साथ रख लेना आवश्यक होता है। यदि यह मार्गव्यय साथ न हो, तो यात्रा बड़ी कष्टसाध्य हो जाती है। अनुष्ठान एक प्रकार का मार्गव्यय है। इस साधना को करने से जो पूँजी जमा हो जाती है, उसे साथ लेकर किसी भी भौतिक या आध्यात्मिक कार्य में जुटा जाए, तो यात्रा बड़ी सरल हो जाती है।

सिंह जब हिरन पर झपटता है, बिल्ली जब चूहे पर छापा मारती है, बगुला जब मछली पर आक्रमण करता है, तो उसे एक क्षण स्तब्ध होकर, साँस रोककर, जरा पीछे हटकर अपने अन्दर की छिपी हुई शक्तियों को जाग्रत् और सतेज करना पड़ता है, तब वह अचानक अपने शिकार पर पूरी शक्ति के साथ टूट पड़ते हैं और मनोवाञ्छित लाभ प्राप्त करते हैं, ऊँची या लम्बी छलाँग भरने से पहले खिलाड़ी लोग कुछ क्षण रुकते, ठहरते और पीछे हटते हैं, तदुपरान्त छलांग भरते हैं। कुश्ती लड़ने वाले पहलवान ऐसे ही पैतरे बदलते हैं। बन्दूक चलाने वाले को भी घोड़ा दबाने से पहले यही करना पड़ता है। अनुष्ठान द्वारा यही कार्य आध्यात्मिक आधार पर होता है। किसी विपत्ति को छलाँग कर पार करना है या कोई सफलता प्राप्त करनी है, तो उस लक्ष्य पर पड़ने के लिए जो शक्ति सञ्चय आवश्यक है वह अनुष्ठान द्वारा प्राप्त होती है।

बच्चा दिन भर माँ-माँ पुकारता रहता है, माता भी दिन भर बेटा, लल्ला कहकर उसको उत्तर देती रहती है, यह लाड़-दुलार यों ही दिन भर चलता रहता है, पर जब कोई विशेष आवश्यकता पड़ती है, कष्ट होता है, कठिनाई आती है, आशंका होती है या साहस की जरूरत पड़ती है, तो बालक विशेष बलपूर्वक, विशेष स्वर से माता को पुकारता है। इस विशेष पुकार को सुनकर माता अपने अन्य कामों को छोड़कर बालक के पास दौड़ जाती है और उसकी सहायता करती है। अनुष्ठान, साधक की ऐसी ही पुकार है, जिसमें विशेष बल एवं विशेष आकर्षण होता है, उस आकर्षण से गायत्री-शक्ति विशेष रूप से साधक के समीप एकत्रित हो जाती है।

जब सांसारिक प्रयत्न असफल हो रहे हों, आपत्ति का निवारण होने का मार्ग न सूझ पड़ता हो, चारों ओर अन्धकार छाया हुआ हो, भविष्य निराशाजनक दिखाई दे रहा हो, परिस्थितियाँ दिन-दिन बिगड़ती जाती हों, सीधा करते उलटा परिणाम निकलता हो, तो स्वभावतः मनुष्य के हाथ-पैर फूल जाते हैं। चिन्ताग्रस्त और उद्विग्न मनुष्य

की बुद्धि ठीक काम नहीं करती। जाल में फँसे कबूतर की तरह वह जितना फड़फड़ाता है, उतना ही जाल में और फँसता जाता है। ऐसे अवसरों पर 'हारे को हरिनाम' बल होता है। गज, द्रौपदी, नरसी, प्रह्लाद आदि को उसी बल का आश्रय लेना पड़ा था। देखा गया है कि कई बार जब वह सांसारिक प्रयत्न विशेष कारगर नहीं होते, तो दैवी सहायता मिलने पर सारी स्थिति ही बदल जाती है और विपदाओं की रात्रि के घोर अन्धकार को चीरकर अचानक ऐसी बिजली कौंध जाती है, जिसके प्रकाश में पार होने का रास्ता मिल जाता है। अनुष्ठान ऐसी ही प्रक्रिया है। वह हारे हुए का चीत्कार है, जिससे देवताओं का सिंहासन हिलता है। अनुष्ठान का विस्फोट हृदयाकाश में एक ऐसे प्रकाश के रूप में होता है, जिसके द्वारा विपत्तिग्रस्त को पार होने का रास्ता दिखाई दे जाता है।

सांसारिक कठिनाइयों में, मानसिक उलझनों में, आन्तरिक उद्वेगों में गायत्री-अनुष्ठान से असाधारण सहायता मिलती है। यह ठीक है कि "किसी को सोने का घड़ा भर कर अशर्फियाँ गायत्री नहीं दे जाती" पर यह भी ठीक है कि उसके प्रभाव से मनोभूमि में ऐसे मौलिक परिवर्तन होते हैं, जिनके कारण कठिनाई का उचित हल निकल आता है। उपासक में ऐसी बुद्धि, ऐसी प्रतिभा, ऐसी सूझ, ऐसी दूरदर्शिता पैदा हो जाती है, जिसके कारण वह ऐसा रास्ता प्राप्त कर लेता है, जो कठिनाई के निवारण में रामबाण की तरह फलप्रद सिद्ध होता है। भ्रांत मस्तिष्क में कुछ असंगत, असम्भव और अनावश्यक विचारधारायें, कामनायें, मान्यतायें घुस पड़ती हैं, जिनके कारण वह व्यक्ति अकारण दुःखी बना रहता है। गायत्री साधना से मस्तिष्क का ऐसा परिमार्जन हो जाता है, जिसमें कुछ समय पहले जो बातें अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण लगती थीं, वे ही पीछे अनावश्यक और अनुपयुक्त लगने लगती हैं। वह उधर से मुँह मोड़ लेता है। इस प्रकार यह मानसिक परिवर्तन इतना आनन्दमय सिद्ध होता है, जितना कि पूर्व कल्पित कामनाओं से पूर्ण होने पर भी सुख न मिलता। अनुष्ठान द्वारा ऐसे ही ज्ञात और अज्ञात परिवर्तन होते हैं, जिनके कारण दुःखों और चिन्ताओं से ग्रस्त मनुष्य थोड़े ही समय में सुख-शान्ति का स्वर्गीय जीवन बिताने की स्थिति में पहुँच जाता है।

सवालाख मन्त्रों के जप को अनुष्ठान कहते हैं। हर वस्तु के पकने की कुछ मर्यादा होती है। दाल, साग, ईंट, काँच आदि के पकने के लिये एक नियत श्रेणी का तापमान आवश्यक होता है। वृक्षों पर फल एक नियत अवधि में पकते हैं। अण्डे अपने पकने का समय पूरा कर लेते हैं, तब फूटते हैं। गर्भ में बालक जब अपना पूरा समय ले लेता है, तब जन्मता है। यदि उपर्युक्त क्रियाओं में नियत अवधि से पहले ही विक्षेप उत्पन्न हो जाय, तो उनकी सफलता की आशा नहीं रहती। अनुष्ठान की अवधि, मर्यादा, जप-मात्रा सवालक्ष जप है, इतनी मात्रा में जब वह पक जाता है, तब स्वस्थ परिणाम उत्पन्न होता है। पकी हुई साधना ही मधुर फल देती है।

अनुष्ठान की विधि

अनुष्ठान किसी भी मास में किया जा सकता है। तिथियों में पंचमी, एकादशी, पूर्णमासी शुभ मानी गयी हैं। पंचमी को दुर्गा, एकादशी को सरस्वती, पूर्णमासी को लक्ष्मी तत्त्व की प्रधानता रहती है। शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष दोनों में से किसी का निषेध नहीं है; किन्तु कृष्ण पक्ष की अपेक्षा शुक्लपक्ष अधिक शुभ है।

अनुष्ठान आरम्भ करते हुए नित्य गायत्री का आवाहन करें और अन्त करते हुए विसर्जन करना चाहिये। इस प्रतिष्ठा में भावना और निवेदन प्रधान है। श्रद्धापूर्वक "भगवती, जगज्जननी, भक्तवत्सला माँ गायत्री यहाँ प्रतिष्ठित होने का अनुग्रह कीजिये"—ऐसी प्रार्थना संस्कृत या मातृभाषा में करनी चाहिये। विश्वास करना चाहिये कि प्रार्थना को स्वीकार करके वे कृपापूर्वक पधार गयी हैं। विसर्जन करते समय प्रार्थना करनी चाहिये कि "आदि शक्ति, भयहारिणी, शक्तिदायिनी, तरणतारिणी मातृके ! अब आप विसर्जित हों"। इस भावना को संस्कृत में या अपनी मातृभाषा में कह सकते हैं, इस प्रार्थना के साथ-साथ यह विश्वास करना चाहिये कि प्रार्थना स्वीकार करके वे विसर्जित हो गयी हैं।

कई ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जप से दसवाँ भाग हवन, हवन से दसवाँ भाग तर्पण, तर्पण से दसवाँ भाग ब्राह्मण भोजन कराना चाहिये। यह नियम तन्त्रोक्त रीति से किये गये पुरश्चरण के लिये है। इन पंक्तियों

में वेदोक्त योग विधि की दक्षिण मार्गी साधना बताई जा रही है। इसके अनुसार तर्पण की आवश्यकता नहीं है। अनुष्ठान के अन्त में १०८ आहुति का हवन तो कम से कम होना आवश्यक है, अधिक सामर्थ्य और सुविधा के अनुसार है। इसी प्रकार त्रिपदा गायत्री के लिये कम से कम तीन ब्राह्मणों का भोजन भी होना ही चाहिये। दान के लिये इस प्रकार की कोई मर्यादा नहीं बाँधी जा सकती। यह साधक की श्रद्धा का विषय है, पर अन्त में दान करना अवश्य चाहिये।

किसी छोटी चौकी, चबूतरी या आसन पर फूलों का एक छोटा सुन्दर-सा आसन बनाना चाहिये और उस पर गायत्री की प्रतिष्ठा होने की भावना करनी चाहिये। साकार उपासना के समर्थक भगवती का कोई सुन्दर-सा चित्र अथवा प्रतिमा को उन फूलों पर स्थापित कर सकते हैं। निराकार के उपासक निराकार भगवती की शक्ति पूजा का एक स्फुलिंग वहाँ प्रतिष्ठित होने की भावना कर सकते हैं। कोई-कोई साधक धूपबत्ती, दीपक की अग्नि-शिखा में भगवती की चैतन्य ज्वाला का दर्शन करते हैं और उसी दीपक या धूपबत्ती को फूलों पर प्रतिष्ठित करके अपनी आराध्य शक्ति की उपस्थिति अनुभव करते हैं। विसर्जन के समय प्रतिमा को हटाकर शयन करा देना चाहिये, पुष्पों को जलाशय या पवित्र स्थान में विसर्जित कर देना चाहिये। अधजली धूपबत्ती या रुई बत्ती को बुझाकर उसे भी पुष्पों के साथ विसर्जित कर देना चाहिये। दूसरे दिन जली हुई बत्ती का प्रयोग फिर न होना चाहिये।

गायत्री पूजन के लिये पाँच वस्तुयें प्रधान रूप से मांगलिक मानी गयी हैं। इन पूजा पदार्थों में वह प्राण है, जो गायत्री के अनुकूल पड़ता है। इसलिये पुष्प आसन पर प्रतिष्ठित गायत्री के सम्मुख धूप जलाना, दीपक स्थापित करना, नैवेद्य चढ़ाना, चन्दन लगाना तथा अक्षतों की वृष्टि करनी चाहिये। अगर दीपक और धूप को गायत्री की स्थापना में रखा गया है, तो उसके स्थान पर जल का अर्घ्य देकर पाँचवें पूजा पदार्थ की पूर्ति करनी चाहिये।

पूर्व वर्णित विधि से प्रातःकाल पूर्वाभिमुख होकर शुद्ध भूमि पर शुद्ध होकर कुश के आसन पर बैठें। जल का पात्र समीप रख लें। धूप और दीपक जप के समय जलते रहने चाहिये। बुझ जाय तो उस बत्ती को हटाकर नई बत्ती डालकर पुनः जलाना चाहिये। दीपक या उसमें पड़े हुए घृत को हटाने की आवश्यकता नहीं है।

पुष्प आसन पर गायत्री की प्रतिष्ठा और पूजा के अनन्तर जप प्रारम्भ कर देना चाहिये। नित्य यही क्रम रहे। प्रतिष्ठा और पूजा अनुष्ठान काल में नित्य होती रहनी चाहिये। मन चारों ओर न दौड़े, इसलिये पूर्व वर्णित ध्यान भावना के अनुसार गायत्री का ध्यान करते हुए जप करना चाहिये। साधना के इस आवश्यक अंग के ध्यान में मन लगा देने से वह एक कार्य में उलझा रहता है और जगह-जगह नहीं भागता। भागे तो उसे रोक-रोककर बार-बार ध्यान भावना पर लगाना चाहिये। इस विधि से एकाग्रता की दिन-दिन वृद्धि होती चलती है।

सवा लाख जप को चालीस दिन में पूरा करने का क्रम पूर्वकाल से चला आता है। पर निर्बल अथवा कम समय तक साधना कर सकने वाले साधक उसे दो मास में भी समाप्त कर सकते हैं। प्रतिदिन जप की संख्या बराबर होनी चाहिये, किसी दिन ज्यादा, किसी दिन कम ऐसा क्रम ठीक नहीं। यदि चालीस दिन में अनुष्ठान पूरा करना हो तो १२५०००/४० = ३१२५ मन्त्र नित्य जपने चाहिये। माला में १०८ दाने होते हैं, इतने मन्त्रों की ३१२५/१०८ = २९, इस प्रकार उन्तीस मालायें नित्य जपनी चाहिये। यदि दो मास में जप करना हो तो १२५०००/६० = २०८० मन्त्र प्रतिदिन जपने चाहिये। इन मंत्रों की मालायें २०८०/१०८ = २० मालायें प्रतिदिन जपी जानी चाहिये। माला की गिनती याद रखने के लिये खड़िया मिट्टी को गंगाजल में सान कर छोटी-छोटी गोली बना लेनी चाहिये और एक माला जपने पर एक गोली एक स्थान से दूसरे स्थान पर रख लेनी चाहिये। इस प्रकार जब सब गोलियाँ इधर से उधर हो जाएँ, तो जप समाप्त कर देना चाहिये। इस क्रम से जप-संख्या में भूल नहीं पड़ती।

गायत्री आवाहन का मन्त्र—

आयातु वरदे देवि! त्र्यक्षरे ब्रह्मवादिनि।
गायत्रिच्छन्दसां मातः ब्रह्मयोने नमोऽस्तुते॥

गायत्री विसर्जन का मन्त्र—

उत्तमे शिखरे देवि ! भूम्यां पर्वतमूर्धनि ।
ब्राह्मणेभ्यो ह्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम् ॥

अनुष्ठान के अन्त में हवन करना चाहिये, तदनन्तर शक्ति के अनुसार दान और ब्रह्मभोज करना चाहिये । ब्रह्मभोज उन्हीं ब्राह्मणों को कराना चाहिये जो वास्तव में ब्राह्मण हैं, वास्तव में ब्रह्म-परायण हैं । कुपात्रों को दिया हुआ दान और कराया हुआ भोजन निष्फल जाता है, इसलिये निकटस्थ या दूरस्थ सच्चे ब्राह्मणों को ही भोजन कराना चाहिये । हवन की विधि नीचे लिखते हैं—

सदैव शुभ गायत्री यज्ञ

गायत्री अनुष्ठान के अन्त में या किसी भी शुभ अवसर पर 'गायत्री-यज्ञ' करना चाहिये । जिस प्रकार वेदमाता की सरलता, सौम्यता, वत्सलता, सुशीलता प्रसिद्ध है , उसी प्रकार गायत्री हवन भी अत्यन्त सुगम है । इसके लिये बड़ी भारी मीन-मेख निकालने की या कर्मकाण्डी पण्डितों का ही आश्रय लेने की अनिवार्यता नहीं है । साधारण बुद्धि के साधक इसको भली प्रकार कर सकते हैं ।

कुण्ड खोदकर या वेदी बनाकर दोनों ही प्रकार से हवन किया जा सकता है । निष्काम बुद्धि से आत्म-कल्याण के लिये किये जाने वाले हवन, कुण्ड खोदकर करना ठीक है और किसी कामना से मनोरथ की पूर्ति के लिये किये जाने वाले यज्ञ वेदी पर किये जाने चाहिये । कुण्ड या वेदी की लम्बाई-चौड़ाई साधक की अँगुली से चौबीस-चौबीस अंगुल होनी चाहिये । कुण्ड खोदा जाए तो उसे चौबीस अंगुल ही गहरा भी खोदना चाहिये और इस प्रकार तिरछा खोदना चाहिये कि नीचे पहुँचते-पहुँचते छः अंगुल चौड़ा और छः अंगुल लम्बा रह जाए । वेदी बनानी हो तो पीली मिट्टी की चार अंगुल ऊँची वेदी चौबीस-चौबीस अंगुल लम्बी-चौड़ी बनानी चाहिये । वेदी या कुण्ड को हवन करने से दो घण्टे पूर्व पानी से इस प्रकार लीप देना चाहिये कि वह समतल हो जाए, ऊँचाई-नीचाई अधिक न रहे । कुण्ड या वेदी से चार अंगुल हटकर एक छोटी-सी नाली दो अंगुल गहरी खोद कर उसमें पानी भर देना चाहिये । वेदी या कुण्ड के आस-पास गेहूँ का आटा, हल्दी, रोली आदि मांगलिक द्रव्यों से चौक पूरकर अपनी कलाप्रियता का परिचय देना चाहिये । यज्ञ-स्थल को अपनी सुविधानुसार मण्डप, पुष्प, पल्लव आदि से जितना सुन्दर एवं आकर्षक बनाया जा सके उतना अच्छा है ।

वेदी या कुण्ड के ईशानकोण में कलश स्थापित करना चाहिये । मिट्टी या उत्तम धातु के बने हुए कलश में पवित्र जल भरकर उसके मुख में आम्रपल्लव रखें और ऊपर ढक्कन में चावल, गेहूँ का आटा, मिष्टान्न अथवा कोई अन्य मांगलिक द्रव्य रख देना चाहिये । कलश के चारों ओर हल्दी से स्वस्तिक (सतिया) अंकित कर देना चाहिये । कलश के समीप एक छोटी चौकी या वेदी पर पुष्प और गायत्री की प्रतिमा, पूजन सामग्री रखनी चाहिये ।

वेदी या कुण्ड के तीन ओर आसन बिछाकर इष्ट-मित्रों, बन्धु- बान्धवों सहित बैठना चाहिये । पूर्व दिशा में जिधर कलश और गायत्री स्थापित है, उधर किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण अथवा अपने वयोवृद्ध को आचार्य वरण करके बिठाना चाहिये, वह इस यज्ञ का ब्रह्मा है । यजमान पहले ब्रह्मा के दाहिने हाथ में सूत्र (कलावा) बाँधे, रोली या चन्दन से उनका तिलक करे, चरण स्पर्श करे । तदुपरान्त ब्रह्मा उपस्थित सब लोगों को क्रमशः अपने आप बुलाकर उनके दाहिने हाथ में कलावा बाँधे, मस्तक पर रोली का तिलक करे और उनके ऊपर अक्षत छिड़क कर आशीर्वाद के मंगल वचन बोले ।

यजमान को पश्चिम में बैठना चाहिये । उसका मुख पूर्व को रहे । हवन सामग्री और घृत अधिक हो, तो उसे कई पात्रों में विभाजित करके कई व्यक्ति हवन करने बैठ सकते हैं, सामग्री थोड़ी हो तो यजमान हवन सामग्री अपने पास रखे और उनकी पत्नी घृत पात्र सामने रखकर चम्मच (स्रुवा) सँभाले, पत्नी न हो तो भाई या मित्र घृत पात्र लेकर बैठ सकता है । समिधायें सात प्रकार की होती हैं । ये सब प्रकार की न मिल सकें, तो जितने प्रकार की मिल सकें, उतने प्रकार की ले लेनी चाहिये । हवन सामग्री त्रिगुणात्मक साधना में आगे दी हुई हैं—वे तीनों गुण वाली लेनी चाहिये, पर आध्यात्मिक हवन हो तो सतोगुणी सामग्री आधी और चौथाई-चौथाई रजोगुणी और तमोगुणी

लेनी चाहिये । यदि किसी भौतिक कामना के लिये हवन किया गया हो, तो रजोगुणी आधी और सतोगुणी और तमोगुणी चौथाई-चौथाई लेनी चाहिये । सामग्री भली प्रकार साफ कर धूप में सुखाकर जौकुट कर लेना चाहिये । सामग्रियों में किसी वस्तु के न मिलने पर या कम मिलने पर उसका भाग उसी गुण वाली दूसरी औषधि को मिलाकर पूरा किया जा सकता है ।

उपस्थित लोगों में जो हवन की विधि में सम्मिलित हों, वे स्नान किये हुए हों । जो लोग दर्शक हों, वे थोड़ा हटकर बैठें । दोनों के बीच थोड़ा फासला रहना चाहिये ।

हवन आरम्भ करते हुए यजमान ब्रह्म-संध्या के आरम्भ में प्रयोग होने वाले पञ्चकर्मों, आचमन, शिखाबन्धन (शिखावन्दन), प्राणायाम, अघमर्षण तथा न्यास की क्रियाएँ करें । तत्पश्चात् वेदी या कुण्ड पर समिधाएँ चिनकर कपूर की सहायता से गायत्री-मन्त्र के उच्चारण सहित अग्नि प्रज्वलित करें । सब लोग साथ-साथ मंत्र बोलें और अन्त में स्वाहा के साथ घृत तथा सामग्री से हवन करें । आहुति के अन्त में चम्मच में से बचे हुए घृत की एक-एक बूँद पास में रखे हुए जलपात्र में टपकाते जाना चाहिये और **"इदं गायत्र्यै इदं न मम"** का उच्चारण करना चाहिये । हवन में साथ-साथ बोलते हुए मधुर स्वर से मन्त्रोच्चार करना उत्तम है । उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के अनुसार होने न होने को इस सामूहिक सम्मेलन में शास्त्रकारों ने छूट दी हुई है ।

आहुतियाँ कम से कम १०८ होनी चाहिये । अधिक इससे दो-तीन या चाहे जितने गुने किये जा सकते हैं । हवन सामग्री कम से कम २५० ग्राम और घृत १०० ग्राम प्रति व्यक्ति होना चाहिये । सामर्थ्यानुसार इससे अधिक चाहे जितना बढ़ाया जा सकता है । ब्रह्मा माला लेकर बैठे और आहुतियाँ गिनता रहे । जब पूरा हो जाय तो आहुतियाँ समाप्त करा दें । उस दिन बने हुए पकवान-मिष्टान्न आदि में से अलौने और मधुर पदार्थ लेने चाहिये । नमक मिर्च मिले हुए शाक, अचार, रायते आदि को अग्नि में होमने का निषेध है । इस भोजन में से थोड़ा-थोड़ा भाग लेकर वे सभी लोग चढ़ायें, जिन्होंने स्नान किया है और हवन में भाग लिया है । अन्त में एक नारियल की भीतरी गिरी को लेकर उसमें छेद करके सामग्री भरना चाहिये और खड़े होकर पूर्णाहुति के रूप में उसे अग्नि में समर्पित कर देना चाहिये । यदि कुछ सामग्री बची हो, तो वह भी सब इसी समय चढ़ा देनी चाहिये ।

इसके पश्चात् सब लोग खड़े होकर यज्ञ की चार परिक्रमा करें और 'इदं न मम' का पानी पर तैरता हुआ घृत उँगली से लेकर पलकों पर लगाएँ । हवन की बुझी हुई भस्म लेकर सब लोग मस्तक पर लगाएँ । कीर्तन या भजन गायन करें और प्रसाद वितरण करके सब लोग प्रसन्नता और अभिवादनपूर्वक विदा हों । यज्ञ की सामग्री को दूसरे दिन किसी पवित्र स्थान में विसर्जित करना चाहिये । यह गायत्री यज्ञ अनुष्ठान के अन्त में ही नहीं, अन्य समस्त शुभ-कर्मों में किया जा सकता है ।

प्रयोजन के अनुरूप ही साधन भी जुटाने पड़ते हैं । लड़ाई के लिये युद्ध सामग्री जमा करनी पड़ती है और जिस प्रकार का व्यापार हो उसके लिये उसी तरह का सामान इकट्ठा करना होता है । भोजन बनाने वाला, रसोई सम्बन्धी वस्तुयें लाकर अपने पास रखता हैं और कलाकार को अपनी आवश्यक चीज जमा करनी होती है । व्यायाम करने और दफ्तर जाने की पोशाक में अन्तर रहता है । जिस प्रकार की साधना करनी होती है, उसी के अनुरूप, उन्हीं तत्त्वों वाली, उन्हीं प्राणों वाली, उन्हीं गुणों वाली सामग्री उपयोग में लानी होती है । सबसे प्रथम यह देखना चाहिये कि हमारी साधना किस उद्देश्य के लिये है ? सत्, रज, तम में से किस तत्त्व की वृद्धि के लिये है ? जिस प्रकार की साधना हो उसी प्रकार की साधना-सामग्री व्यवहृत करनी चाहिये । नीचे इस सम्बन्ध में एक विवरण दिया जाता है—

सतोगुण—

माला-तुलसी । आसन-कुश । पुष्प-श्वेत । पात्र-ताँबा । वस्त्र-सूती (खादी) ।मुख पूर्व को । दीपक में घृत-गौ-घृत । तिलक चन्दन । हवन में समिधा-पीपल, बड़, गूलर । हवन सामग्री-श्वेत चन्दन, अगर, छोटी इलायची, लौंग, शंखपुष्पी, ब्राह्मी, शतावरी, खस, शीतलचीनी, आँवला, इन्द्रजौ, वंशलोचन, जावित्री, गिलोय, वच, नेत्रवाला, मुलहठी, कमल, केशर, बड़ की जटायें, नारियल, बादाम, दाख, जौ, मिश्री ।

रजोगुण—

माला-चन्दन । आसन-सूत । पुष्प-पीले । पात्र- काँसा । वस्त्र- रेशम, मुख-उत्तर को । दीपक में घृत-भैंस का घृत । तिलक-रोली । समिधा-आम, ढाक, शीशम । हवन सामग्री-देवदारु, बड़ी इलायची, केसर, छार-छबीला, पुनर्नवा, जीवन्ती, कचूर, तालीस पत्र, रास्ना, नागर-मोथा, उन्नाव, तालमखाना, मोचरस, सौंफ, चित्रक, दालचीनी, पद्माख, छुआरा, किशमिश, चावल, खाँड़ ।

तमोगुण—

माला-रुद्राक्ष । आसन-ऊन । पुष्प-हरे या गहरे लाल ।पात्र लोहा । वस्त्र-ऊन । मुख-पश्चिम को । दीपक में घृत-बकरी का । तिलक-भस्म का । समिधा-बेल, छौंकर, करील । सामग्री-रक्त चन्दन, तगर, असगन्ध, जायफल, कमलगट्टा, नागकेशर, पीपल बड़ी, कुटकी, चिरायता, अपामार्ग, काकड़ासिंगी, पोहकरमूल, कुलञ्जन, मूसली स्याह, मेथी के बीज, काकजंघा, भारंगी, अकरकरा, पिस्ता, अखरोट, चिरौंजी, तिल, उड़द, गुड़ ।

गुणों के अनुसार साधन-सामग्री उपयोग करने से साधक में उन्हीं गुणों की अभिवृद्धि होती है, तदनुसार सफलता का मार्ग अधिक सुगम हो जाता है ।

नवदुर्गाओं में गायत्री साधना

यों तो वर्षा, शरद, शिशिर, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म ये छ: ऋतुएँ होती हैं और मोटे तौर से सर्दी, गर्मी, वर्षा यह तीन ऋतु मानी जाती हैं, पर वस्तुत: दो ही ऋतु हैं—(१) सर्दी (२) गर्मी । वर्षा तो दोनों ऋतुओं में होती है । गर्मियों में मेघ सावन-भादों में बरसते हैं, सर्दियों में पौष-माघ में वर्षा होती है । गर्मियों की वर्षा में अधिक पानी पड़ता है, सर्दियों में कम । इतना अन्तर होते हुए भी दोनों ही बार पानी पड़ने की आशा की जाती है । इन दो प्रधान ऋतुओं के मिलने की संधि वेला को नवदुर्गा कहते हैं ।

दिन और रात्रि के मिलन काल को सन्ध्याकाल कहते हैं और उस महत्त्वपूर्ण सन्ध्याकाल को बड़ी सावधानी से बिताते हैं । सूर्योदय और सूर्यास्त के समय भोजन करना, सोते रहना, मैथुन करना, यात्रा आरम्भ करना आदि कितने ही कार्य वर्जित हैं । उस समय को ईश्वराराधन, सन्ध्यावन्दन, आत्म-साधना आदि कार्यों में लगाते हैं, क्योंकि वह समय जिन कार्यों के लिये सूक्ष्म दृष्टि से अधिक उपयोगी है, वही कार्य करने में थोड़े ही श्रम से अधिक और आश्चर्यजनक सहायता मिलती है । इसी प्रकार जो कार्य वर्जित हैं, वे उस समय में अन्य समयों की अपेक्षा हानिकारक होते हैं । सर्दी और गर्मी की ऋतुओं का मिलन दिन और रात्रि के मिलन के समान सन्ध्याकाल है, पुण्य पर्व है । पुराणों में कहा है कि ऋतुयें नौ दिन के लिये ऋतुमयी, रजस्वला होती हैं । जैसे रजस्वला को विशेष आहार-विहार और आचार-विचार आदि का ध्यान रखना आवश्यक होता है, वैसे ही उस सन्ध्याकाल का सन्धि वेला में-रजस्वला अवधि में-विशेष स्थिति में रहने की आवश्यकता होती है ।

आरोग्य शास्त्र के पण्डित जानते हैं कि आश्विन और चैत्र में जो सूक्ष्म ऋतु परिवर्तन होता है, उसका प्रभाव शरीर पर कितनी अधिक मात्रा में होता है । उस प्रभाव से स्वास्थ्य की दीवारें हिल जाती हैं और अनेक व्यक्ति ज्वर, जूड़ी, हैजा, दस्त, चेचक, अवसाद आदि अनेक रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं । वैद्य-डॉक्टरों के दवाखानों में उन दिनों बीमारों का मेला लगा रहता है । वैद्य लोग जानते हैं कि वमन, विरेचन, नस्य, स्वेदन, वस्ति, रक्तमोक्षण आदि शरीर-शोधन-कार्यों के लिये आश्विन और चैत्र का महीना ही सबसे उपयुक्त है । इस समय में दशहरा और राम नवमी जैसे दो प्रमुख त्योहार नवदुर्गाओं के अन्त में होते हैं । ऐसे महत्त्वपूर्ण त्योहारों के लिये यही समय सबसे उपयुक्त है । नवदुर्गाओं के अन्त में भगवती दुर्गा प्रकट हुई । चैत्र की नवदुर्गाओं के अन्त में भगवान् राम का अवतार हुआ । यह अमावस्या पूर्णमासी की सन्ध्या उषा जैसी ही है, जिनके अन्त में सूर्य या चन्द्रमा का उदय होता है ।

ऋतु परिवर्तन का अवसर वैसे सामान्य दृष्टि से तो कष्टकारक, हानि-प्रद जान पड़ता है, उस समय अधिकांश लोगों को कुछ न कुछ शारीरिक कष्ट, कोई छोटा-बड़ा रोग हो जाता है, पर वास्तव में बात उलटी होती है । उस समय शारीरिक जीवन शक्ति में ज्वर की सी अवस्था उत्पन्न होती है और उसके प्रभाव से पिछले छ: मास में

आहार-विहार में जो अनियमिततायें हुई हैं, हमने कुअभ्यास या स्वादवश जो अनुचित और अतिरिक्त सामग्री ग्रहण करके दूषित तत्त्वों को बढ़ाया, वह शक्ति उनके निराकरण का उद्योग करने में लगती है। यही दोष निष्कासन की प्रतिक्रिया सामान्य जूड़ी-बुखार, जुकाम-खाँसी आदि के रूप में प्रकट होती है। यदि उपवास या स्वल्प आहार द्वारा शरीर को अपनी सफाई आप कर लेने का मौका दें और जप उपासना द्वारा मानसिक क्षेत्र के मल-विक्षेपों को दूर करने का प्रयत्न करें, तो आगामी कई महीनों के लिये रोगों से बचकर स्वस्थ जीवन बिताने के योग्य बन सकते हैं। गायत्री का यह लघु अनुष्ठान इस दृष्टि से परमोपयोगी है।

क्वार और चैत्र मास शुक्लपक्ष में प्रतिपदा (पड़वा) से लेकर नवमी तक नौ दुर्गायें रहती हैं। यह समय गायत्री-साधना के लिये सबसे अधिक उपयुक्त है। इन दिनों में उपवास रखकर चौबीस हजार मन्त्रों के जप का छोटा- सा अनुष्ठान कर लेना चाहिये। यह छोटी साधना भी बड़ी के समान उपयोगी सिद्ध होती है।

एक समय अन्नाहार, एक समय फलाहार, दो समय दूध और फल, एक समय आहार, एक समय फल-दूध का आहार, केवल दूध का आहार इनमें से जो भी उपवास अपनी सामर्थ्यानुकूल हो उसी के अनुसार साधना आरम्भ कर देनी चाहिये। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर शौच, स्नान से निवृत्त होकर पूर्व वर्णित नियमों को ध्यान में रखते हुए बैठना चाहिये। नौ दिन में २४ हजार जप करना है। प्रतिदिन २६६७ मन्त्र जपने हैं। एक माला में १०८ दाने होते हैं। प्रतिदिन २७ मालायें जपने से यह संख्या पूरी हो जाती है। तीन-चार घण्टे में अपनी गति के अनुसार इतनी मालायें आसानी से जपी जा सकती हैं। यदि एक बार में इतने समय लगातार जप करना कठिन हो, तो अधिकांश भाग प्रातःकाल पूरा करके न्यून-अंश सायंकाल को पूरा कर लेना चाहिये। अन्तिम दिन हवन के लिये है। उस दिन पूर्व वर्णित हवन के अनुसार कम से कम १०८ आहुतियों का हवन कर लेना चाहिये। ब्राह्मण भोजन और यज्ञ पूर्ति की दान-दक्षिणा की भी यथाविधि व्यवस्था करनी चाहिये।

यदि छोटा नौ दिन का अनुष्ठान नवदुर्गाओं के समय में प्रति वर्ष करते रहा जाए, तो सबसे उत्तम है। स्वयं न कर सकें, तो किसी अधिकारी सुपात्र ब्राह्मण से वह करा लेना चाहिये। ये नौ दिन साधना के लिये बड़े ही उपयुक्त हैं। कष्ट निवारण, कामनापूर्ति और आत्मबल बढ़ाने में इन दिनों की उपासना बहुत ही लाभदायक सिद्ध होती है। आगामी नवदुर्गायें निकट हैं। पाठक उस समय एक छोटा अनुष्ठान करके उसका लाभ देखें।

नवदुर्गाओं के अतिरिक्त भी छोटा अनुष्ठान उसी प्रकार कभी भी किया जा सकता है। सवालक्ष का जप चालीस दिन में होने वाला पूर्ण अनुष्ठान है। नौ दिन का एक पाद (पञ्चमांश) अनुष्ठान कहलाता है। सुविधा और आवश्यकतानुसार उसे भी करते रहना चाहिये। यह तपोधन जितनी अधिक मात्रा में एकत्रित किया जा सके, उतना ही उत्तम है।

छोटा गायत्री मन्त्र—

जैसे सवालक्ष जप का पूर्ण अनुष्ठान न कर सकने वालों के लिये नौ दिन का चौबीस हजार जप का लघु अनुष्ठान हो सकता है, उसी प्रकार अल्पशिक्षित-अशिक्षित बालक या स्त्रियों के लिये लघु गायत्री मन्त्र भी है। जो २४ अक्षरों का पूर्ण मन्त्र याद नहीं कर पाते, वे प्रणव और व्याहृतियाँ (ॐ भूर्भुवः स्वः) इतना पञ्चाक्षरी मन्त्र का जप करके काम चला सकते हैं। जैसे चारों वेदों का बीज चौबीस अक्षर वाली गायत्री है, वैसे ही गायत्री का मूल पंचाक्षरी मन्त्र प्रणव और व्याहृतियाँ हैं। ॐ भूर्भुवः स्वः यह मन्त्र स्वल्प ज्ञान वालों की सुविधा के लिये बड़ा उपयोगी है।

महिलाओं के लिये विशेष साधनाएँ

पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी वेदमाता गायत्री की साधना का अधिकार है। गतिहीन व्यवस्था को गतिशीलता में परिणत करने के लिये दो भिन्न जाति के पारस्परिक आकर्षण करने वाले तत्त्वों की आवश्यकता होती है। ऋण (निगेटिव) और धन (पोजेटिव) शक्तियों के पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण द्वारा ही विद्युत् गति का संचार होता है। परमाणु के इलेक्ट्रोन और प्रोटोन भाग पारस्परिक आदान-प्रदान के कारण गतिशील होते हैं। शाश्वत चैतन्य को क्रियाशील बनाने के लिये सजीव सृष्टि को नर और मादा के दो रूपों में बाँटा गया है; क्योंकि

ऐसा विभाजन हुए बिना विश्व निश्चेष्ट अवस्था में ही पड़ा रहता । "रयि" और "प्राण" शक्ति का सम्मिलन ही तो चैतन्य है । नर-तत्त्व और नारी तत्त्व का पारस्परिक सम्मिलन न हो, तो चैतन्य, आनन्द, स्फुरणा, चेतना, गति, क्रिया, वृद्धि आदि का लोप होकर एक जड़ स्थिति रह जाएगी ।

नर-तत्त्व और नारी तत्त्व एक-दूसरे के पूरक हैं । एक के बिना दूसरा अपूर्ण है । दोनों का महत्त्व, उपयोग, अधिकार और स्थान समान है । वेदमाता गायत्री की साधना का अधिकार भी स्त्रियों को पुरुषों के समान ही है । जो यह कहते हैं कि गायत्री वेद मन्त्र होने से उसका अधिकार स्त्रियों को नहीं है, वे भारी भूल करते हैं । प्राचीन काल में स्त्रियाँ मन्त्रद्रष्ट्री रही हैं । वेदमन्त्रों का उनके द्वारा अवतरण हुआ है । गायत्री स्वयं स्त्रीलिंग है फिर उसके अधिकार न होने का कोई कारण नहीं । हाँ ; जो अशिक्षित, हीनमति, अपवित्र, स्त्री शूद्र हैं, वे स्वयमेव प्रवृत्ति नहीं रखतीं, न महत्त्व समझती हैं, इसलिये वे अपनी निज की मानसिक अवस्था से ही अधिकार-वंचित होती हैं ।

स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति गायत्री-साधनायें कर सकती हैं । जो साधनाएँ इस पुस्तक में दी गयी हैं, वे सभी उनके अधिकार क्षेत्र में हैं । परन्तु देखा गया है कि सधवा स्त्रियाँ जिन्हें घर के काम में विशेष रूप से व्यस्त रहना पड़ता है अथवा जिनके छोटे-छोटे बच्चे हैं और वे उनके मल-मूत्र के अधिक सम्पर्क में रहने के कारण उतनी स्वच्छता नहीं रख सकतीं, उनके लिये देर में पूरी हो सकने वाली साधनाएँ कठिन हैं । वे संक्षिप्त पंचाक्षरी गायत्री मंत्र (ॐ भूर्भुवः स्वः) से काम चला सकती हैं । रजस्वला होने के दिनों में उन्हें विधिपूर्वक साधना बन्द रखनी चाहिये । कोई अनुष्ठान चल रहा हो, तो इन दिनों में रोककर रज-स्नान के पश्चात् उसे फिर चालू किया जा सकता है ।

निस्संतान महिलाएँ गायत्री-साधना को पुरुषों की भाँति ही सुविधापूर्वक कर सकती हैं । अविवाहित या विधवा देवियों के लिये तो वैसी ही सुविधाएँ हैं जैसी कि पुरुषों को, जिनके बच्चे बड़े हो गये हैं, गोदी में कोई छोटा बालक नहीं है या जो वयोवृद्ध हैं, उन्हें भी कुछ असुविधा नहीं हो सकती । साधारण दैनिक साधना में कोई विशेष नियमोपनियम पालन करने की आवश्यकता नहीं है । दाम्पत्य जीवन के साधारण धर्म-पालन करने में उसमें कोई बाधा नहीं । यदि कोई विशेष साधना या अनुष्ठान करना हो, तो उतनी अवधि के लिये ब्रह्मचर्य पालन करना आवश्यक होता है ।

विविध प्रयोजनों के लिये कुछ साधनायें नीचे दी जाती हैं—

मनोनिग्रह और ब्रह्म-प्राप्ति के लिये—

विधवा बहिनें आत्म-संयम, सदाचार, विवेक, ब्रह्मचर्य पालन, इन्द्रिय निग्रह एवं मन को वश में करने के लिये गायत्री साधना का ब्रह्मास्त्र के रूप में प्रयोग कर सकती हैं । जिस दिन से यह साधना आरम्भ की जाती है, उसी दिन से मन में शान्ति, स्थिरता, सद्बुद्धि और आत्म-संयम की भावना पैदा होती है । मन पर अपना अधिकार होता है, चित्त की चंचलता नष्ट होती है, विचारों में सतोगुण बढ़ जाता है । इच्छायें, रुचियाँ, क्रियायें, भावनायें, सभी सतोगुणी, शुद्ध और पवित्र रहने लगती हैं । ईश्वर-प्राप्ति, धर्म-रक्षा, तपश्चर्या, आत्म-कल्याण और ईश्वर आराधना में मन विशेष रूप से लगता है । धीरे-धीरे उसकी साध्वी, तपस्विनी, ईश्वर-परायण एवं ब्रह्मवादिनी जैसी स्थिति हो जाती है । गायत्री के वेश में उसे भगवान् का साक्षात्कार होने लगता है और ऐसी आत्म-शान्ति मिलती है, जिसकी तुलना में सधवा रहने का सुख उसे नितान्त तुच्छ दिखाई पड़ता है ।

प्रातःकाल ऐसे जल से स्नान करे जो शरीर को सह्य हो, अति शीतल या अति उष्ण जल स्नान के लिये अनुपयुक्त है । वैसे तो सभी के लिये, पर स्त्रियों के लिये विशेष रूप से, असह्य तापमान का जल स्नान के लिये हानिकारक है । स्नान के उपरान्त गायत्री-साधना के लिये बैठना चाहिये । पास में जल भरा हुआ पात्र रहे । जप के लिये तुलसी की माला और बिछाने के लिये कुशासन ठीक है । वृषभारूढ़, श्वेत वस्त्रधारी, चतुर्भुजी, प्रत्येक हाथ में - माला, कमण्डल, पुस्तक और कमल पुष्प लिये हुए प्रसन्न मुख प्रौढ़ावस्था गायत्री का ध्यान करना चाहिये । ध्यान सद्गुणों की वृद्धि के लिये, मनोनिग्रह के लिये बड़ा लाभदायक है । मन को बार-बार इस ध्यान में लगाना चाहिये और मुख से जप इस प्रकार करते जाना चाहिये कि कण्ठ से कुछ ध्वनि हो, होंठ हिलते रहें, परन्तु मन्त्र को

निकट बैठा हुआ मनुष्य भी भली प्रकार सुन न सके । प्रात: और सायं दोनों समय इस प्रकार का जप किया जा सकता है । एक माला तो कम से कम जप होना ही चाहिये । सुविधानुसार अधिक संख्या में भी जप करना चाहिये । तपश्चर्या प्रकरण में लिखी हुई तपश्चर्यायें साथ में की जायें, तो और भी उत्तम है । किस प्रकार के स्वास्थ्य और वातावरण में कौन-सी तपश्चर्या ठीक रहेगी, इस सम्बन्ध में शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार से जवाबी पत्र द्वारा सलाह ली जा सकती है ।

कुमारियों के लिये आशाप्रद भविष्य की साधना

कुमारी कन्यायें अपने विवाहित जीवन में सब प्रकार के सुख शान्ति की प्राप्ति के लिये भगवती की उपासना कर सकती हैं । पार्वती जी ने मनचाहा वर पाने के लिये नारद जी के आदेशानुसार तप किया था और वे अन्त में सफल मनोरथ हुई थीं । सीता जी ने मनोवाञ्छित पति पाने के लिये गौरी (पार्वती) की उपासना की थी । नवदुर्गाओं में आस्तिक घरानों की कन्यायें भगवती की आराधना करती हैं, गायत्री की उपासना उनके लिये सब प्रकार मंगलमय है ।

गायत्री के चित्र अथवा मूर्ति को किसी छोटे आसन या चौकी पर स्थापित करके उनकी पूजा वैसे ही करनी चाहिये, जैसे अन्य देव-प्रतिमाओं की होती है । प्रतिमा के आगे एक छोटी तस्वीर रख लेनी चाहिये और उसी पर चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प, जल, भोग आदि पूजा सामग्री चढ़ानी चाहिये, मूर्ति के मस्तक पर चन्दन लगाया जा सकता है, पर यदि चित्र है तो उसके चन्दन आदि नहीं लगाना चाहिये, जिससे उसमें मैलापन न आए । नेत्र बन्द करके ध्यान करना चाहिये और मन ही मन कम से कम २४ मन्त्र गायत्री के जपने चाहिये । गायत्री का चित्र या मूर्ति अपने यहाँ प्राप्त न हो सके, तो इसके लिये गायत्री तपोभूमि मथुरा को लिखना चाहिये । इस प्रकार की गायत्री साधना कन्याओं को उनके लिये अनुकूल वर, अच्छा घर तथा सौभाग्य प्रदान करने में सहायक होती है ।

सधवाओं के लिये मंगलमयी साधना

अपने पतियों को सुखी, समृद्ध, स्वस्थ, सम्पन्न, प्रसन्न, दीर्घजीवी बनाने के लिये सधवा स्त्रियों को गायत्री की शरण लेनी चाहिये । इससे पतियों के बिगड़े हुए स्वभाव, विचार और आचरण शुद्ध होकर इनमें ऐसी सात्त्विक बुद्धि आती है कि वे अपने गृहस्थ जीवन के कर्तव्य-धर्मों को तत्परता एवं प्रसन्नतापूर्वक पालन कर सकें । इस साधना से स्त्रियों के स्वास्थ्य तथा स्वभाव में एक ऐसा आकर्षण पैदा होता है, जिससे वे सभी को परमप्रिय लगती हैं और उनका समुचित सत्कार होता है । अपना बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य, घर के अन्य लोगों का बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य, आर्थिक तंगी, दरिद्रता, बढ़ा हुआ खर्च, आमदनी की कमी, पारिवारिक क्लेश, मनमुटाव, आपसी राग-द्वेष एवं बुरे दिनों के उपद्रव को शान्त करने के लिये महिलाओं को गायत्री-उपासना करनी चाहिये । पिता के कुल एवं पति के कुल दोनों ही कुलों के लिये यह साधना उपयोगी है, पर सधवाओं की उपासना विशेष रूप से पतिकुल के लिये ही लाभदायक होती है ।

प्रात:काल से लेकर मध्याह्नकाल तक उपासना कर लेनी चाहिये । जब तक साधना न की जाए, भोजन नहीं करना चाहिये । हाँ, जल पिया जा सकता है । शुद्ध शरीर, मन और शुद्ध वस्त्र से पूर्व की ओर मुँह करके बैठना चाहिये । केशर डालकर चन्दन अपने हाथ से घिसें और मस्तक, हृदय तथा कण्ठ पर तिलक छापे के रूप में लगायें । तिलक छोटे-से-छोटा भी लगाया जा सकता है, गायत्री की मूर्ति अथवा चित्र की स्थापना करके उनकी विधिवत् पूजा करें । पीले रंग का पूजा के सब कार्यों में प्रयोग करें । प्रतिमा का आवरण पीले वस्त्रों का रखें । पीले पुष्प, पीले चावल, बेसनी लड्डू आदि पीले पदार्थ का भोग, केशर मिले चन्दन का तिलक, आरती के लिए पीला गोघृत, गोघृत न मिले तो उसमें केशर मिलाकर पीला कर लेना, चन्दन का चूरा, धूप । इस प्रकार पूजा में पीले रंग का अधिक से अधिक प्रयोग करना चाहिये । नेत्र बन्द करके पीतवर्ण आकाश में पीले सिंह पर सवार, पीतवस्त्र पहने गायत्री का ध्यान करना चाहिये । पूजा के समय सब वस्त्र पीले न हो सकें, तो कम से कम एक वस्त्र पीला अवश्य होना चाहिये । इस प्रकार पीतवर्ण गायत्री का ध्यान करते हुए कम-से-कम २४ मन्त्र गायत्री के जपने चाहिये । जब अवसर मिले, तभी मन ही मन भगवती का ध्यान करती रहें । महीने की हर एक पूर्णमासी को व्रत

रखना चाहिये । अपने नित्य आहार में एक चीज पीले रंग की अवश्य लें । शरीर पर कभी-कभी हल्दी का उबटन कर लेना अच्छा है । यह पीतवर्ण साधना दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाने के लिये परम उत्तम है ।

सन्तान सुख देने वाली उपासना

जिनकी सन्तान बीमार रहती है, अल्प आयु में ही मर जाती हैं, केवल पुत्र या कन्यायें ही होती हैं, गर्भपात हो जाते हैं, गर्भ स्थापित ही नहीं होता, बन्ध्या दोष लगा हुआ है अथवा सन्तान दीर्घसूत्री, आलसी, मन्द-बुद्धि, दुर्गुणी, आज्ञा उल्लंघनकारी, कटुभाषी या कुमार्गगामी है, वे वेदमाता गायत्री की शरण में जाकर इन कष्टों से छुटकारा पा सकती हैं । हमारे सामने ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं, जिन स्त्रियों ने वेदमाता गायत्री के चरणों में अपना अञ्चल फैलाकर सन्तान-सुख माँगा है उन्हें भगवती ने प्रसन्नतापूर्वक दिया है । माता के भण्डार में किसी वस्तु की कमी नहीं है, उनकी कृपा को पाकर मनुष्य दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु प्राप्त कर सकता है । कोई वस्तु ऐसी नहीं, जो माता की कृपा से प्राप्त न हो सकती हो, फिर सन्तान-सुख जैसी साधारण बात की उपलब्धि में कोई बड़ी अड़चन नहीं हो सकती ।

जो महिलायें गर्भवती हैं, वे प्रातः सूर्योदय से पूर्व या रात्रि को सूर्य अस्त के पश्चात् अपने गर्भ में गायत्री के सूर्य सदृश प्रचण्ड तेज का ध्यान किया करें और मन ही मन गायत्री जपें, तो उनका बालक तेजस्वी, बुद्धिमान् , चतुर, दीर्घजीवी तथा तपस्वी होता है ।

प्रातःकाल कटि प्रदेश में भीगे वस्त्र रखकर शांत चित्त से ध्यानावस्थित होना चाहिये और अपने योनि मार्ग में होकर गर्भाशय तक पहुँचता हुआ गायत्री का प्रकाश सूर्य किरणों जैसा ध्यान करना चाहिये । नेत्र बन्द रहें । यह साधना, शीघ्र गर्भ स्थापित करने वाली है । कुन्ती ने इस साधना के बल से गायत्री के दक्षिण भाग (सूर्य भगवान्) को आकर्षित करके कुमारी अवस्था में ही कर्ण को जन्म दिया था । यह साधना कुमारी कन्याओं को नहीं करनी चाहिये ।

साधना से उठकर सूर्य को जल चढ़ाना चाहिये और अर्घ्य से बचा हुआ एक चुल्लू जल स्वयं पीना चाहिये । इस प्रयोग से बन्ध्यायें गर्भ धारण करती हैं, जिनके बच्चे मर जाते हैं या गर्भपात हो जाता है, उनका यह कष्ट मिटकर सन्तोषदायी सन्तान् उत्पन्न होती है ।

रोगी, कुबुद्धि, आलसी, चिड़चिड़े बालकों को गोद में लेकर मातायें हंसवाहिनी, गुलाबी कमल पुष्पों से लदी हुई, शंख-चक्र हाथ में लिये गायत्री का ध्यान करें और मन ही मन जप करें । माता के जप का प्रभाव गोदी में लिये बालक पर होता है और उसके शरीर तथा मस्तिष्क में आश्चर्यजनक प्रभाव होता है । छोटा बच्चा हो तो इस साधना के समय माता दूध पिलाती रहे । बड़ा बच्चा हो तो उसके शरीर पर हाथ फिराती रहे । बच्चों की शुभकामना के लिये गुरुवार का व्रत उपयोगी है । साधना से उठ कर जल का अर्घ्य सूर्य को चढ़ाएँ और पीछे बचा हुआ थोड़ा-सा जल बच्चों पर मार्जन की तरह छिड़क दें ।

किसी विशेष आवश्यकता के लिये

अपने परिवार पर, परिजनों पर, प्रियजनों पर आयी हुई किसी आपत्ति के निवारण के लिये अथवा किसी आवश्यक कार्य में आई हुई किसी बड़ी रुकावट एवं कठिनाई को हटाने के लिये गायत्री-साधना के समान दैवी सहायता के माध्यम कठिनाई से मिलेंगे । कोई विशेष कामना मन में हो और उसके पूर्ण होने में भारी बाधायें दिखाई पड़ रही हों, तो सच्चे हृदय से वेदमाता गायत्री को पुकारना चाहिये । माता जैसे अपने प्रिय बालक की पुकार सुनकर दौड़ी आती है, वैसे ही गायत्री की उपासिकायें भी माता की अमित करुणा का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करती हैं ।

नौ दिन का लघु अनुष्ठान, चालीस दिन का पूर्ण अनुष्ठान इसी पुस्तक में अन्यत्र वर्णित है । तत्कालीन आवश्यकता के लिये उनका उपयोग करना चाहिये । तपश्चर्या प्रकरण में लिखी हुई तपश्चर्यायें भगवती को प्रसन्न करने के लिये प्रायः सफल होती हैं । एक वर्ष का गायत्री उद्यापन सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला है, उसका उल्लेख आगे किया जायेगा । जैसे पुरुष के लिये गायत्री अनुष्ठान एक सर्वप्रधान साधन है, उसी प्रकार महिलाओं

के लिये गायत्री उद्यापन की विशेष महिमा है । उसे आरम्भ कर देने में विशेष कठिनाई भी नहीं है और विशेष प्रतिबन्ध भी नहीं है । सरलता की दृष्टि से यह स्त्रियों के लिये विशेष उपयोगी है । माता को प्रसन्न करने के लिये उद्यापन की पुष्पमाला उसका एक परमप्रिय उपहार है ।

नित्य की साधना में गायत्री चालीसा का पाठ महिलाओं के लिये बड़ा हितकारी है, जनेऊ की जगह पर कण्ठी गले में धारण करके महिलायें द्विजत्व प्राप्त कर लेती हैं और गायत्री अधिकारिणी बन जाती हैं । साधना आरम्भ करने से पूर्व उत्कीलन कर लेना चाहिये । इसी पुस्तक के पिछले पृष्ठों में गायत्री उत्कीलन के सम्बन्ध में सविस्तार बताया गया है ।

एक वर्ष की उद्यापन साधना

कई व्यक्तियों का जीवन-क्रम बड़ा अस्त-व्यस्त होता है, वे सदा कार्य में व्यस्त रहते हैं । व्यावहारिक जीवन की कठिनाइयाँ उन्हें चैन नहीं लेने देतीं । जीविका कमाने में, सामाजिक व्यवहारों को निभाने में, पारिवारिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने में, उलझी हुई परिस्थितियों को सुलझाने में, कठिनाइयों के निवारण की चिन्ता में उनके समय और शक्ति का इतना व्यय हो जाता है कि जब फुरसत मिलने की घड़ी आती है, तब वे अपने को थका-माँदा, शक्तिहीन, शिथिल और परिश्रम के भार से चकनाचूर पाते हैं । उस समय उनकी एक ही इच्छा होती है कि उन्हें चुपचाप पड़े रहने दिया जाए, कोई उन्हें छेड़े नहीं ; ताकि वे सुस्ताकर अपनी थकान उतार सकें । कई व्यक्तियों का शरीर एवं मस्तिष्क अल्प शक्ति वाला होता है, मामूली दैनिक कार्यों के श्रम में ही वे अपनी शक्ति खर्च कर देते हैं , फिर उनके हाथ-पैर शिथिल हो जाते हैं ।

साधारणत: सभी आध्यात्मिक साधनाओं के लिये और विशेष कर गायत्री-साधना के लिये उत्साहित मन एवं शक्ति-सम्पन्न शरीर की आवश्यकता होती है; ताकि स्थिरता, दृढ़ता, एकाग्रता और शान्ति के साथ मन साधना में लग सके । इस स्थिति में की गयी साधनायें सफल होती हैं । परन्तु कितने लोग हैं, जो ऐसी स्थिति को उपलब्ध कर पाते हैं । अस्थिर, अव्यवस्थित चित्त किसी प्रकार साधना में जुट जाए तो उससे वैसा परिणाम नहीं निकल पाता, जैसा कि निकलना चाहिये । अधूरे मन से की गयी उपासना भी अधूरी होती है और उसका फल भी वैसा ही अधूरा मिलता है ।

ऐसे स्त्री, पुरुषों के लिये एक अति सरल एवं बहुत महत्त्वपूर्ण साधना "गायत्री-उद्यापन" है । इसे बहुधन्धी, काम-काजी और कार्य व्यस्त व्यक्ति भी कर सकते हैं । कहते हैं कि बूँद-बूँद जोड़ने से धीरे-धीरे घड़ा भरा जाता है । थोड़ी-थोड़ी आराधना करने से कुछ समय में एक बड़े परिमाण में साधना-शक्ति जमा हो जाती है ।

प्रतिमास अमावस्या और पूर्णमासी दो दिन उद्यापन की साधना करनी पड़ती है । किसी मास की पूर्णिमा से उसे आरम्भ किया जा सकता है । ठीक एक वर्ष बाद इसी पूर्णमासी को उसकी समाप्ति करनी चाहिये । प्रति अमावस्या और पूर्णमासी को निम्न कार्यक्रम होना चाहिये और इन नियमों का पालन करना चाहिये ।

(१) गायत्री उद्यापन के लिये कोई सुयोग्य, सदाचारी, गायत्री-विद्या का ज्ञाता ब्राह्मण वरण करके उसे ब्रह्मा नियुक्त करना चाहिये ।

(२) ब्रह्मा को उद्यापन आरम्भ करते समय अन्न, वस्त्र, पात्र और यथासम्भव दक्षिणा देकर इस यज्ञ के लिये वरण करना चाहिये ।

(३) प्रत्येक अमावस्या व पूर्णमासी को साधक की तरह ब्रह्मा भी अपने निवास स्थान पर रहकर यजमान की सहायता के लिये उसी प्रकार की साधना करे । यजमान और ब्रह्मा को एक समान नियमों का पालन करना चाहिये, जिससे उभयपक्षीय साधनायें मिलकर एक सर्वांगपूर्ण साधना प्रस्तुत हो ।

(४) उस दिन ब्रह्मचर्य से रहना आवश्यक है ।

(५) उस दिन उपवास रखें । अपनी स्थिति और स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए एक बार एक अन्न का आहार, फलाहार, दुग्धाहार या इनके मिश्रण के आधार पर उपवास किया जा सकता है । तपश्चर्या एवं प्रायश्चित्त प्रकरण में इस सम्बन्ध में विस्तृत बातें लिखी जा चुकी हैं ।

(६) तपश्चर्या प्रकरण में बताई हुई तपश्चर्याओं में से जो अन्य नियम, व्रत पालन किये जा सकें, उनका यथा सम्भव पालन करना चाहिये । उस दिन पुरुषों को हजामत बनाना, स्त्रियों को सुसज्जित चोटी गूँथना वर्जित है ।

(७) उस दिन प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर स्वच्छतापूर्वक साधना के लिये बैठना चाहिये । गायत्री सन्ध्या करने के उपरान्त गायत्री की प्रतिमा (चित्र या मूर्ति) का पूजन धूप, दीप, अक्षत, पुष्प, चन्दन, रोली, जल, मिष्टान्न से करें । तदुपरान्त यजमान इस उद्यापन के ब्रह्मा का ध्यान करके मन ही मन उसे प्रणाम करे और ब्रह्मा यजमान का ध्यान करते हुए उसे आशीर्वाद दे । इसके पश्चात् गायत्री मन्त्र का जप आरम्भ करे । जप के समय इस पुस्तक के आरम्भ में दिये हुए गायत्री-चित्र का ध्यान करता रहे । इस मन्त्र का जप करने के लिये दस मालायें फेरनी चाहिये । मिट्टी के एक पात्र में अग्नि रखकर उसमें घी में मिली हुई धूप डालता रहे, जिससे यज्ञ जैसी सुगन्ध उड़ती रहे । साथ ही घी का दीपक जलता रहे ।

(८) जप पूरा होने पर कपूर या घृत की बत्ती जलाकर आरती करे । आरती के उपरान्त भगवती को मिष्टान्न का भोग लगाएँ और उसे प्रसाद की तरह समीपवर्ती लोगों में बाँट दें ।

(९) पात्र के जल को सूर्य के सम्मुख अर्घ्यरूप से चढ़ा दें ।

(१०) यह सब कृत्य लगभग दो घण्टे में पूरा हो जाता है, पन्द्रह दिन बाद इतना समय निकाल लेना कुछ कठिन बात नहीं है । जो अधिक कार्य व्यस्त व्यक्ति हैं, वे दो घण्टे तड़के उठकर सूर्योदय तक अपना कार्य समाप्त कर सकते हैं । सन्ध्या को यदि समय मिल सके, तो थोड़ा-बहुत उस समय भी साधारण रीति से कर लेना चाहिये । सन्ध्या पूजन आदि की आवश्यकता नहीं । प्रातः और सायं का एक समय पूर्व निश्चित होना चाहिये, जिस पर यजमान और ब्रह्मा साथ-साथ साधना कर सकें ।

(११) यदि किसी बार बीमारी, सूतक, आकस्मिक कार्य आदि के कारण साधना न हो सके, तो दूसरी बार दूना करके क्षति-पूर्ति कर लेनी चाहिये या यजमान का कार्य ब्रह्मा एवं ब्रह्मा का कार्य यजमान पूरा कर दे ।

(१२) अमावस्या, पूर्णमासी के अतिरिक्त भी गायत्री का जप चालू रखना चाहिये । अधिक न बन पड़े, तो स्नान के उपरान्त या स्नान करते समय कम से कम ४ मन्त्र मन ही मन अवश्य जप लेना चाहिये ।

(१३) उद्यापन पूरा होने पर उसी पूर्णमासी को गायत्री-पूजन, हवन, जप तथा ब्राह्मण भोजन कराना चाहिये । ब्राह्मणों को गायत्री सम्बन्धी छोटी या बड़ी पुस्तकें तथा और जो बन पड़े दक्षिणा में देना चाहिये । गायत्री-पूजन के लिये अपनी सामर्थ्यानुसार सोना, चाँदी या ताँबे की गायत्री-प्रतिमा बनवानी चाहिये । प्रतिमा, वस्त्र, पात्र तथा दक्षिणा देकर ब्रह्मा की विदाई करनी चाहिये ।

यह गायत्री उद्यापन स्वास्थ्य, धन, सन्तान तथा सुख-शान्ति की रक्षा करने वाला है । आपत्तियों का निवारण करता है, शत्रुता तथा द्वेष को मिटाता है, सद्बुद्धि तथा विवेकशीलता उत्पन्न करता है एवं मानसिक शक्तियों को बढ़ाता है । किसी अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये, गायत्री की कृपा प्राप्त करने के लिये यह एक उत्तम तप है, जिससे भगवती प्रसन्न होकर साधक का मनोरथ पूरा करती हैं । यदि कोई सफलता मिले, अभीष्ट कामना की पूर्ति हो, प्रसन्नता का अवसर आए, तो उसकी खुशी में भगवती के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के रूप में उद्यापन करते रहना चाहिये । गीता में भगवान् ने कहा है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।। —अ० ३ ।११

"इस यज्ञ द्वारा तुम देवताओं की आराधना करो, वे देवता तुम्हारी रक्षा करेंगे । इस प्रकार आपस में आदान-प्रदान करने से परम कल्याण की प्राप्ति होगी ।"

गायत्री साधना से अनेकों प्रयोजनों की सिद्धि

गायत्री-मन्त्र सर्वोपरि मन्त्र है । इससे बड़ा और कोई मन्त्र नहीं । जो काम संसार के किसी अन्य मन्त्र से नहीं हो सकता, वह निश्चित रूप से गायत्री द्वारा हो सकता है । दक्षिण-मार्गी योग-साधक वेदोक्त पद्धति से जिन कार्यों

के लिये अन्य किसी मन्त्र से सफलता प्राप्त करते हैं, वे सब प्रयोजन गायत्री से पूरे हो सकते हैं। इसी प्रकार वाममार्गी तान्त्रिक जो कार्य तन्त्र प्रणाली से किसी मन्त्र के आधार पर करते हैं, वह भी गायत्री द्वारा किये जा सकते हैं। यह एक प्रचण्ड शक्ति है, जिसे जिधर भी लगा दिया जायेगा, उधर ही चमत्कारी सफलता मिलेगी।

काम्य कर्मों के लिये, सकाम प्रयोजनों के लिये अनुष्ठान करना आवश्यक होता है। सवालक्ष का पूर्ण अनुष्ठान, चौबीस हजार का आंशिक अनुष्ठान अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार फल देते हैं। "जितना गुड़ डालो उतना मीठा" वाली कहावत इस क्षेत्र में भी चरितार्थ होती है। साधना और तपश्चर्या द्वारा जो आत्म-बल संग्रह किया गया है, उसे जिस काम में भी खर्च किया जायेगा, उसका प्रतिफल अवश्य मिलेगा। बन्दूक उतनी ही उपयोगी सिद्ध होगी, जितनी बढ़िया और जितने अधिक कारतूस होंगे। गायत्री की प्रयोग विधि एक प्रकार की आध्यात्मिक बन्दूक है। तपश्चर्या या साधना द्वारा संग्रह की हुई आत्मिक शक्ति कारतूसों की पेटी है। दोनों के मिलने से ही निशाने को मार गिराया जा सकता है। कोई व्यक्ति प्रयोग विधि जानता हो, पर उसके पास साधन-बल न हो, तो ऐसा ही परिणाम होगा, जैसा खाली बन्दूक का घोड़ा बार-बार चटकाकर कोई यह आशा करे कि अचूक निशाना लगेगा। इसी प्रकार जिनके पास तपोबल है, पर उसका काम्य प्रयोजन के लिये विधिवत् प्रयोग करना नहीं जानते, वैसे हैं जैसे कोई कारतूस की पोटली बाँधे फिरे और उन्हें हाथ से फेंक-फेंक कर शत्रुओं की सेना का संहार करना चाहे। यह उपहासास्पद तरीके हैं।

आत्म-बल संचय करने के लिये जितनी अधिक साधनायें की जाएँ उतना ही अच्छा है। पाँच प्रकार के साधक गायत्री सिद्ध समझे जाते हैं—(१) लगातार बारह वर्ष तक प्रतिदिन कम से कम एक माला नित्य जप किया हो। (२) गायत्री की ब्रह्म-सन्ध्या को नौ वर्ष किया हो, (३) ब्रह्मचर्यपूर्वक पाँच वर्ष तक प्रतिदिन एक हजार मन्त्र जपे हों, (४) चौबीस लक्ष गायत्री का अनुष्ठान किया हो, (५) पाँच वर्ष तक विशेष गायत्री जप किया हो। जो व्यक्ति इन साधनाओं में कम से कम एक या एक से अधिक का तप पूरा कर चुके हों, वे गायत्री मन्त्र का काम्य कर्म में प्रयोग करके सफलता प्राप्त कर सकते हैं। चौबीस हजार वाले अनुष्ठानों की पूँजी जिनके पास है, वे भी अपनी-अपनी पूँजी के अनुसार एक सीमा तक सफल हो सकते हैं।

नीचे कुछ खास-खास प्रयोजनों के लिये गायत्री प्रयोग की विधियाँ दी जाती हैं—

रोग निवारण—

स्वयं रोगी होने पर जिस स्थिति में भी रहना पड़े, उसी में मन ही मन गायत्री का जप करना चाहिये। एक मन्त्र समाप्त होने और दूसरा आरम्भ होने के बीच में एक "बीज मन्त्र" का सम्पुट भी लगाते चलना चाहिये। सर्दी प्रधान (कफ) रोग में 'एं' बीज मन्त्र, गर्मी प्रधान पित्त रोगों में 'ऐं', अपच एवं विष तथा वात रोगों में 'हूं' बीज मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये। नीरोग होने के लिये वृषभ-वाहिनी हरित वस्त्रा गायत्री का ध्यान करना चाहिये।

दूसरों को नीरोग करने के लिये भी इन्हीं बीज मन्त्रों का और इसी ध्यान का प्रयोग करना चाहिये। रोगी के पीड़ित अंगों पर उपर्युक्त ध्यान और जप करते हुए हाथ फेरना, जल अभिमन्त्रित करके रोगी पर मार्जन देना एवं छिड़कना चाहिये। इन्हीं परिस्थितियों में तुलसी पत्र और कालीमिर्च गंगाजल में पीसकर दवा के रूप में देना, यह सब उपचार ऐसे हैं, जो किसी भी रोग के रोगी को दिये जाएँ, उसे लाभ पहुँचाये बिना न रहेंगे।

विष- निवारण—

सर्प, बिच्छू, बर्र, ततैया, मधुमक्खी और जहरीले जीवों के काट लेने पर बड़ी पीड़ा होती है। साथ ही शरीर में विष फैलने से मृत्यु हो जाने की सम्भावना रहती है, इस प्रकार की घटनायें घटित होने पर गायत्री शक्ति द्वारा उपचार किया जा सकता है।

पीपल वृक्ष की समिधाओं से विधिवत् हवन करके उसकी भस्म को सुरक्षित रख लेना चाहिये। अपनी नासिका का जो स्वर चल रहा है उसी हाथ पर थोड़ी-सी भस्म रखकर दूसरे हाथ से उसे अभिमन्त्रित करता चले और बीच में 'हूं' बीजमन्त्र का सम्पुट लगावे तथा रक्तवर्ण अश्वारूढ़ा गायत्री का ध्यान करता हुआ उस भस्म को विषैले कीड़े के काटे हुए स्थान पर दो-चार मिनट मसले। पीड़ा में जादू के समान आराम होता है।

सर्प के काटे हुए स्थान पर रक्त चन्दन से किये हुए हवन की भस्म मलनी चाहिये और अभिमन्त्रित करके घृत पिलाना चाहिये । पीली सरसों अभिमन्त्रित करके उसे पीसकर दशों इन्द्रियों के द्वार पर थोड़ा-थोड़ा लगा देना चाहिये । ऐसा करने से सर्प-विष दूर हो जाता है ।

बुद्धि-वृद्धि—

गायत्री प्रधानत: बुद्धि को शुद्ध, प्रखर और समुन्नत करने वाला मन्त्र है । मन्द बुद्धि, स्मरण शक्ति की कमी वाले लोग इससे विशेष रूप से लाभ उठा सकते हैं । जो बालक अनुत्तीर्ण हो जाते हैं, पाठ ठीक प्रकार याद नहीं कर पाते, उनके लिये निम्न उपासना बहुत उपयोगी है ।

सूर्योदय के समय की प्रथम किरणें पानी से भीगे हुए मस्तक पर लगने दें । पूर्व की ओर मुख करके अधखुले नेत्रों से सूर्य का दर्शन करते हुए आरम्भ में तीन बार ॐ का उच्चारण करते हुए गायत्री का जप करें । कम से कम एक माला (१०८ मन्त्र) अवश्य जपना चाहिये । पीछे हाथों की हथेली का भाग सूर्य की ओर इस प्रकार करें, मानों आग पर ताप रहे हैं । इस स्थिति में बारह मन्त्र जपकर हथेलियों को आपस में रगड़ना चाहिये और उन उष्ण हाथों को मुख, नेत्र, नासिका, ग्रीवा, कर्ण, मस्तक आदि समस्त शिरोभागों पर फिराना चाहिये ।

राजकीय सफलता—

किसी सरकारी कार्य, मुकदमा, राज्य स्वीकृति, नियुक्ति आदि में सफलता प्राप्त करने के लिये गायत्री का उपयोग किया जा सकता है । जिस समय अधिकारी के सम्मुख उपस्थित होना हो अथवा कोई आवेदन पत्र लिखना हो, उस समय यह देखना चाहिये कि कौन-सा स्वर चल रहा है । यदि दाहिना स्वर चल रहा हो तो पीतवर्ण ज्योति का मस्तिष्क में ध्यान करना चाहिये और यदि बायाँ स्वर चल रहा हो तो हरे रंग के प्रकाश का ध्यान करना चाहिये । मन्त्र में सप्त व्याहृतियाँ (ॐ भू: भुव: स्व: मह: जन: तप: सत्यम्) लगाते हुए बारह मन्त्रों का मन ही मन जप करना चाहिये । दृष्टि उस हाथ के अँगूठे के नाखून पर रखनी चाहिये, जिसका स्वर चल रहा हो । भगवती की मानसिक आराधना, प्रार्थना करते हुए राजद्वार में प्रवेश करने से सफलता मिलती है ।

दरिद्रता का नाश—

दरिद्रता, हानि, ऋण, बेकारी, साधनहीनता, वस्तुओं का अभाव, कम आमदनी, बढ़ा हुआ खर्च, कोई रुका हुआ आवश्यक कार्य आदिं की व्यर्थ चिन्ता से मुक्ति दिलाने में गायत्री साधना बड़ी सहायक सिद्ध होती है । उससे ऐसी मनोभूमि तैयार हो जाती है, जो वर्तमान अर्थ-चक्र से निकालकर साधक को सन्तोषजनक स्थिति पर पहुँचा दे ।

दरिद्रता-नाश के लिये गायत्री की 'श्रीं' शक्ति की उपासना करनी चाहिये । मन्त्र के अन्त में तीन बार 'श्रीं' बीज का सम्पुट लगाना चाहिये । साधना काल के लिये पीत वस्त्र, पीले पुष्प, पीला यज्ञोपवीत, पीला तिलक, पीला आसन प्रयोग करना चाहिये और रविवार को उपवास करना चाहिये । शरीर पर शुक्रवार को हल्दी मिले हुए तेल की मालिश करनी चाहिये और रविवार को उपवास करना चाहिये । पीताम्बर धारी, हाथी पर चढ़ी हुई गायत्री का ध्यान करना चाहिये । पीतवर्ण लक्ष्मी का प्रतीक है, भोजन में भी पीली चीजें प्रधान रूप से लेनी चाहिये । इस प्रकार की साधना से धन की वृद्धि और दरिद्रता का नाश होता है ।

सुसंतति की प्राप्ति—

जिसके सन्तान नहीं होती हैं, होकर मर जाती हैं, रोगी रहती हैं, गर्भपात हो जाते हैं, केवल कन्यायें होती हैं, तो इन कारणों से माता-पिता को दु:खी रहना स्वाभाविक है । इस प्रकार के दु:खों से भगवती की कृपा द्वारा छुटकारा मिल सकता है ।

इस प्रकार की साधना में स्त्री-पुरुष दोनों ही सम्मिलित हो सकें, तो बहुत ही अच्छा, एक पक्ष के द्वारा ही पूरा भार कन्धे पर लिये जाने से आंशिक सफलता ही मिलती है । प्रात:काल नित्यकर्म से निवृत्त होकर पूर्वाभिमुख होकर साधना पर बैठें । नेत्र बन्द करके श्वेत वस्त्राभूषण अलंकृत, किशोर आयु वाली, कमल पुष्प हाथ में धारण किये हुए गायत्री का ध्यान करें । 'यैं' बीज के तीन सम्पुट लगाकर गायत्री का जप चन्दन की माला पर करें ।

नासिका से साँस खींचते हुए पेडू तक ले जानी चाहिये। पेडू को जितना वायु से भरा जा सके भरना चाहिये। फिर साँस रोककर 'यैं' बीज सम्पुटित गायत्री का कम से कम एक, अधिक से अधिक तीन बार जप करना चाहिये। इस प्रकार पेडू में गायत्री-शक्ति का आकर्षण और धारण कराने वाला यह प्राणायाम दस बार करना चाहिये। तदनन्तर अपने वीर्यकोष या गर्भाशय में शुभ्र वर्ण ज्योति का ध्यान करना चाहिये। यह साधना स्वस्थ, सुन्दर, तेजस्वी, गुणवान्, बुद्धिमान् सन्तान उत्पन्न करने के लिये है।

इस साधना के दिनों में प्रत्येक रविवार को चावल, दूध, दही आदि केवल श्वेत वस्तुओं का ही भोजन करना चाहिये।

शत्रुता का संहार—

द्वेष, कलह, मुकदमाबाजी, मनमुटाव को दूर करना और अत्याचारी, अन्यायी, अकारण, आक्रमण करने वाली मनोवृत्ति का संहार करना, आत्मा तथा समाज में शान्ति रखने के लिये चार 'क्लीं' बीजमन्त्रों के सम्पुट समेत रक्त चन्दन की माला से पश्चिमाभिमुख होकर गायत्री का जप करना चाहिये। जप काल में सिर पर यज्ञ भस्म का तिलक लगाना तथा ऊन का आसन बिछाना चाहिये। लाल वस्त्र पहनकर सिंहारूढ़, खड्ग हस्ता, विकराल बदना, दुर्गा वेशधारी गायत्री का ध्यान करना चाहिये।

जिन व्यक्तियों का द्वेष-दुर्भाव निवारण करना हो उनका नाम पीपल के पत्ते पर रक्त चन्दन की स्याही और अनार की कलम से लिखना चाहिये। इस पत्ते को उल्टा रखकर प्रत्येक मन्त्र के बाद जल पात्र में से एक छोटी चम्मच भर के जल लेकर उस पत्ते पर डालना चाहिये। इस प्रकार १०८ मन्त्र जपने चाहिये। इससे शत्रु के स्वभाव का परिवर्तन होता है और उसकी द्वेष करने वाली सामर्थ्य घट जाती है।

भूत-बाधा की शान्ति—

कुछ मनोवैज्ञानिक कारणों, सांसारिक विकृतियों तथा प्रेतात्माओं के कोप से कई बार भूत बाधा के उपद्रव होने लगते हैं। कोई व्यक्ति उन्मादियों जैसी चेष्टा करने लगता है, उसके मस्तिष्क पर किसी दूसरी आत्मा का आधिपत्य दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त कोई मनुष्य या पशु ऐसी विचित्र दशा का रोगी होता है, जैसा कि साधारण रोगों से नहीं होता। भयानक आकृतियाँ दिखाई पड़ना, अदृश्य मनुष्य द्वारा की जाने जैसी क्रियाओं का देखा जाना भूत बाधा के लक्षण हैं।

इसके लिये गायत्री हवन सर्वश्रेष्ठ है। सतोगुणी हवन सामग्री से विधिपूर्वक यज्ञ करना चाहिये और रोगी को उसके निकट बिठा लेना चाहिये, हवन की अग्नि में तपाया हुआ जल रोगी को पिलाना चाहिये, बुझी हुई यज्ञ भस्म सुरक्षित रख लेनी चाहिये, किसी को अचानक भूत बाधा हो तो उस यज्ञ-भस्म को उसके हृदय, ग्रीवा, मस्तक, नेत्र, कर्ण, मुख, नासिका आदि पर लगाना चाहिये।

दूसरों को प्रभावित करना—

जो व्यक्ति अपने प्रतिकूल हैं उन्हें अनुकूल बनाने के लिये, उपेक्षा करने वालों में प्रेम उत्पन्न करने के लिये गायत्री द्वारा आकर्षण क्रिया की जा सकती है। वशीकरण तो घोर तांत्रिक क्रिया द्वारा ही होता है, पर चुम्बकीय आकर्षण, जिससे किसी व्यक्ति का मन अपनी ओर सद्भावनापूर्वक आकर्षित हो, गायत्री की दक्षिण मार्गी इस योग-साधना से हो सकता है।

गायत्री मन्त्र का जप तीन प्रणव लगाकर करना चाहिये और ऐसा ध्यान करना चाहिये कि अपनी त्रिकुटी (मस्तिष्क के मध्य भाग) में से एक नील वर्ण विद्युत्-तेज की रस्सी जैसी शक्ति निकलकर उस व्यक्ति तक पहुँचती है, जिसे आपको आकर्षित करना है और उसके चारों ओर अनेक लपेट मारकर लिपट जाती है। इस प्रकार लिपटा हुआ वह व्यक्ति अर्द्धतंद्रित अवस्था में धीरे-धीरे खिंचता चला आता है और अनुकूलता की प्रसन्न मुद्रा उसके चेहरे पर छाई हुई होती है। आकर्षण के लिये यह ध्यान बड़ा प्रभावशाली है।

किसी के मन में, मस्तिष्क में से उसके अनुचित विचार हटाकर उचित विचार भरने हों, तो ऐसा करना चाहिये कि शान्तचित्त होकर उस व्यक्ति को अखिल नील आकाश में अकेला सोता हुआ ध्यान करें और भावना करें कि

उसके कुविचारों को हटाकर आप उसके मन में सद्‌विचार भर रहे हैं। इस ध्यान-साधना के समय अपना शरीर भी बिल्कुल शिथिल और नील वस्त्र से ढका होना चाहिये।

रक्षा-कवच—

किसी शुभ दिन उपवास रखकर केशर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, गोरोचन इन पाँच चीजों के मिश्रण की स्याही बनाकर अनार की कलम से पाँच प्रणव संयुक्त गायत्री मंत्र बिना पालिश किये हुए कागज या भोज-पत्र पर लिखना चाहिये। कवच चाँदी के ताबीज में बन्द करके जिस किसी को धारण कराया जाए, उसकी सब प्रकार की रक्षा करता है। रोग, अकाल मृत्यु, शत्रु, चोर, हानि, बुरे दिन, कलह, भय, राज्य दण्ड, भूत-प्रेत, अभिचार आदि से यह कवच रक्षा करता है। इसके प्रताप और प्रभाव से शारीरिक, आर्थिक और मानसिक सुख साधनों में वृद्धि होती है।

काँसे की थाली में उपर्युक्त प्रकार से गायत्री मन्त्र लिखकर उसे प्रसव-कष्ट से पीड़ित प्रसूता को दिखाया जाय और फिर पानी में घोलकर उसे पिला दिया जाय तो कष्ट दूर होकर सुख-पूर्वक शीघ्र प्रसव हो जाता है।

बुरे मुहूर्त और शकुनों का परिहार—

कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं कि कोई कार्य करना या कहीं जाना है, उस समय कोई शकुन या मुहूर्त ऐसे उपस्थित हो रहे हैं, जिनके कारण आगे कदम बढ़ाते हुए झिझक होती है, ऐसे अवसरों पर गायत्री की एक माला जपने के पश्चात् कार्य आरम्भ किया जा सकता है। इससे सारे अनिष्टों और आशंकाओं का समाधान हो जाता है और किसी अनिष्ट की संभावना नहीं रहती। विवाह न बनता हो या विधि वर्ग न मिलते हों, विवाह मुहूर्त में सूर्य, बृहस्पति, चन्द्रमा आदि की बाधा हो, तो चौबीस हजार जप का नौ दिन वाला लघु अनुष्ठान करके विवाह कर देना चाहिये। ऐसे विवाह से किसी प्रकार के अनिष्ट होने की कोई सम्भावना नहीं है। वह सब प्रकार शुद्ध और ज्योतिष सम्मत विवाह के समान ही ठीक माना जाना चाहिये।

बुरे स्वप्नों के फल का नाश—

रात्रि या दिन में सोने में कभी-कभी कई बार ऐसे भयंकर स्वप्न दिखाई पड़ते हैं, जिससे स्वप्न काल में भयंकर त्रास और दुःख मिलता है एवं जागने पर भी उसका स्मरण करके दिल धड़कता है। ऐसे स्वप्न कभी अनिष्ट की आशंका का संकेत करते हैं। जब ऐसे स्वप्न हों, तो एक सप्ताह तक प्रतिदिन दस-दस मालायें गायत्री जप करना चाहिये और गायत्री का पूजन करना या कराना चाहिये। गायत्री सहस्रनाम या गायत्री चालीसा का पाठ भी दुःस्वप्नों के प्रभाव को नष्ट करने वाला है।

उपर्युक्त पंक्तियों में कुछ थोड़े से प्रयोग और उपचारों का अभ्यास कराया गया है। अनेक विषयों में अनेक विधियों से गायत्री का जो उपयोग हो सकता है, उसका विवरण बहुत विस्तृत है। ऐसे छोटे-छोटे लेखों में नहीं आ सकता, उसे तो स्वयं अनुभव करके अथवा इस मार्ग के किसी अनुभवी सफल प्रयोक्ता को एक प्रदर्शक नियुक्त करके ही जाना जा सकता है। गायत्री की महिमा अपार है, वह कामधेनु है। उसकी साधना-उपासना करने वाला कभी निराश नहीं लौटता।

गायत्री का अर्थ चिन्तन

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

ॐ—ब्रह्म	भूः—प्राणस्वरूप
भुवः—दुःखनाशक	स्वः—सुख स्वरूप
तत्—उस	सवितुः—तेजस्वी, प्रकाशवान्
वरेण्यं—श्रेष्ठ	भर्गो—पापनाशक
देवस्य—दिव्य को, देने वाले को	धीमहि—धारण करें
धियो—बुद्धि को	यो—जो
नः—हमारी	प्रचोदयात्—प्रेरित करे।

गायत्री-मन्त्र के इस अर्थ पर मनन एवं चिन्तन करने से अन्तःकरण में उन तत्त्वों की वृद्धि होती है, जो मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाते हैं। यह भाव बड़े ही शक्तिदायक, उत्साहप्रद, सतोगुणी, उन्नायक एवं आत्मबल बढ़ाने वाले हैं। इन भावों का नित्यप्रति कुछ समय मनन करना चाहिये।

१—"भूः लोक, भुवः लोक, स्वः लोक- इन तीन लोकों में ॐ परमात्मा समाया हुआ है। यह जितना भी विश्व ब्रह्माण्ड है, परमात्मा की साकार प्रतिमा है। कण-कण में भगवान् समाये हुए हैं। सर्वव्यापक परमात्मा को सर्वत्र देखते हुए, मुझे कुविचारों और कुकर्मों से सदा दूर रहना चाहिये एवं संसार की सुख-शान्ति तथा शोभा बढ़ाने में सहयोग देकर प्रभु की सच्ची पूजा करना चाहिये।"

२ "तत्- वह परमात्मा, सवितुः-तेजस्वी, वरेण्यं- श्रेष्ठ, भर्गो- पाप रहित और देवस्य- दिव्य है, उसको अन्तःकरण में धारण करता हूँ। इन गुणों वाले भगवान् मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर मुझे भी तेजस्वी, श्रेष्ठ, पाप रहित एवं दिव्य बनाते हैं। मैं प्रतिक्षण इन गुणों से युक्त होता जाता हूँ। इन दोनों की मात्रा मेरे मस्तिष्क तथा शरीर के कण-कण में बढ़ती है। इन गुणों से ओत-प्रोत होता जाता हूँ ।"

३-'वह परमात्मा, नः-हमारी, धियो-बुद्धि को, प्रचोदयात्-सन्मार्ग में प्रेरित करे। हम सब की, हमारे स्वजन-परिजनों की बुद्धि सन्मार्गगामी हो। संसार की सबसे बड़ी विभूति, सुखों की आदि माता सद्बुद्धि को पाकर हम इस जीवन में ही स्वर्गीय आनन्द का उपयोग करें। मानव जन्म को सफल बनायें।"

उपर्युक्त तीन चिन्तन-संकल्प धीरे-धीरे मनन करने चाहिये। एक-एक शब्द पर कुछ क्षण रुकना चाहिये और उस शब्द का कल्पना चित्र मन में बनाना चाहिये।

जब यह शब्द पढ़े जा रहे हों कि परमात्मा भूः भुवः स्वः तीनों लोकों में व्याप्त है, तब ऐसी कल्पना करनी चाहिये, जैसे हम पाताल, पृथ्वी, स्वर्ग को भली प्रकार देख रहे हैं और उसमें गर्मी, प्रकाश, बिजली, शक्ति या प्राण की तरह परमात्मा सर्वत्र समाया हुआ है। यह विराट् ब्रह्माण्ड ईश्वर की एक जीवित-जाग्रत् साकार प्रतिमा है। गीता में अर्जुन को जिस प्रकार भगवान् ने अपना विराट् रूप दिखाया है, वैसे ही विराट् पुरुष के दर्शन अपने कल्पना-लोक में मानस चक्षुओं से करने चाहिये। जी भरकर इस विराट् ब्रह्म के, विश्व पुरुष के दर्शन करने चाहिये कि मैं इस विश्व पुरुष के पेट में बैठा हूँ। मेरे चारों ओर परमात्मा ही परमात्मा है। ऐसी महाशक्ति की उपस्थिति में कुविचारों और कुकर्मों को मैं किस प्रकार अंगीकार कर सकता हूँ। इस विश्वपुरुष का कण-कण मेरे लिये पूजनीय है। उसकी सेवा, सुरक्षा एवं शोभा बढ़ाने में प्रवृत्त रहना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है।

संकल्प के दूसरे भाग का चिन्तन करते हुए अपने हृदय को भगवान् का सिंहासन अनुभव करना चाहिये और उस तेजस्वी, सर्वश्रेष्ठ, निर्विकार, दिव्य गुणों वाले परमात्मा को विराजमान देखना चाहिये। भगवान् की झाँकी तीन रूप में की जा सकती है। (१) विराट् पुरुष के रूप में (२) राम, कृष्ण, विष्णु, गायत्री, सरस्वती आदि के रूप में (३) दीपक की ज्योति के रूप में। यह अपनी भावना, इच्छा और रुचि के ऊपर है। परमात्मा का पुरुष रूप में, गायत्री का मातृ रूप में अपनी रुचि के अनुसार ध्यान किया जा सकता है। परमात्मा स्त्री भी है और पुरुष भी। गायत्री साधकों को माता गायत्री के रूप में ब्रह्म का ध्यान करना अधिक रुचता है। सुन्दर छवि का ध्यान करते हुए उसमें सूर्य के समान तेजस्विता, सर्वोपरि श्रेष्ठता, परम पवित्र निर्मलता और दिव्य सतोगुण की झाँकी करनी चाहिये। इस प्रकार गुण और रूप वाली ब्रह्म-शक्ति को अपने हृदय में स्थायी रूप से बस जाने की, अपने रोम-रोम में रम जाने की भावना करनी चाहिये।

संकल्प के तीसरे भाग का चिन्तन करते हुए ऐसा अनुभव करना चाहिये कि वह गायत्री ब्रह्म-शक्ति, हमारे हृदय में निवास करने वाली भावना तथा मस्तिष्क में रहने वाली बुद्धि को पकड़कर सात्त्विकता के, धर्म कर्त्तव्य के, सेवा के सत्पथ पर घसीटे लिये जा रही हैं। बुद्धि और भावना को इसी दिशा में चलाने का अभ्यास तथा प्रेम उत्पन्न कर रही है और वे तीनों बड़े आनन्द, उत्साह तथा सन्तोष का अनुभव करते हुए, माता गायत्री के साथ-साथ चल रही हैं।

गायत्री में दी हुई यह तीन भावनायें क्रमशः ज्ञान-योग, भक्ति-योग और कर्मयोग की प्रतीक हैं। इन्हीं तीन

भावनाओं का विस्तार होकर योग के ज्ञान, भक्ति और कर्म यह तीन आधार बने हैं। गायत्री का अर्थ चिन्तन, बीज रूप से अपनी अन्तरात्मा को तीनों योगों की त्रिवेणी में स्नान कराने के समान है।

इस प्रकार चिन्तन करने से गायत्री मन्त्र का अर्थ भली प्रकार हृदयंगम हो जाता है और उसकी प्रत्येक भावना मन पर अपनी छाप जमा लेती है। जिससे यह परिणाम कुछ ही दिनों में दिखाई पड़ने लगता है कि मन कुविचारों और कुकर्मों की ओर से हट गया है और मनुष्योचित सद्विचारों एवं सत्कर्मों में उत्साहपूर्वक रस लेने लगा है। यह प्रवृत्ति, आरम्भ में चाहे कितनी ही मन्द क्यों न हो, यह निश्चित है कि यदि वह बनी रहे, बुझने न पाए, तो निश्चय ही आत्मा दिन-दिन समुन्नत होती जाती है और जीवन का परम लक्ष्य समीप खिसकता चला आता है।

माता से वार्त्तालाप करने की साधना

साधना की दिव्य ज्योति जैसे-जैसे अधिक प्रकाशित होती चलती है, वैसे ही वैसे अन्तरात्मा की ग्राह्यशक्ति बढ़ती चलती है। रेडियो यंत्र के भीतर बल्ब लगे होते हैं, बिजली का संचार होने से वे जलने लगते हैं। प्रकाश होते ही यन्त्र की ध्वनि पकड़ने वाला भाग जाग्रत् हो जाता है और ईथर तत्त्व में भ्रमण करती हुई सूक्ष्म शब्द-तरंगों को पकड़ने लगता है, इसी क्रिया को रेडियो बजाना कहते हैं। साधना एक बिजली है, जिससे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के बल्ब दिव्य ज्योति से जगमगाने लगते हैं। इस प्रकार का सीधा प्रभाव अन्तरात्मा पर पड़ता है, जिससे उसकी सूक्ष्म चेतना जाग्रत् हो जाती है और दिव्य सन्देशों को, ईश्वरीय आदेशों को, प्रकृति के गुप्त रहस्यों को समझने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार साधक का अन्तःकरण रेडियो का उदाहरण बन जाता है और उसके द्वारा सूक्ष्म जगत् की बड़ी-बड़ी रहस्यमय बातों का प्रकटीकरण होने लगता है।

दर्पण जितना ही स्वच्छ, निर्मल होगा; उतनी ही उसमें प्रतिच्छाया स्पष्ट दिखाई देगी। मैला दर्पण धुँधला होता है, उसमें चेहरा साफ दिखाई नहीं पड़ता। साधना से अन्तरात्मा निर्मल हो जाती है और उसमें दैवी तत्त्वों का, ईश्वरीय संकेतों का अनुभव स्पष्ट रूप से होता है। अँधेरे में क्या हो रहा है, यह जानना कठिन है, पर दीपक जला देने पर क्षण भर में अन्धकार में छिपी हुई सारी बातें प्रकट हो जाती हैं और पहले का रहस्य तब भली प्रकार प्रत्यक्ष हो जाता है।

गायत्री-साधकों की मनोभूमि साफ हो जाती है, उनमें अनेक गुप्त बातों के रहस्य अपने आप स्पष्ट होने लगते हैं, इसी तथ्य को गायत्री दर्शन का वार्त्तालाप भी कह सकते हैं। साधना की परिपक्वावस्था में, स्वप्न में या जाग्रत् अवस्था में भगवती के दर्शन करने का दिव्य कानों को सौभाग्य प्राप्त होता है। किसी को प्रकाशमयी ज्योति के रूप में, किसी को अलौकिक देवी रूप में, किसी को सम्बन्धित किसी स्नेहमयी नारी के रूप में दर्शन होते हैं। कोई उसके सन्देश प्रत्यक्ष वार्त्तालाप जैसे प्राप्त करते हैं। किसी को किसी बहाने घुमा-फिराकर बात सुनाई या समझाई गई प्रतीत होती है। किन्हीं को आकाशवाणी की तरह स्पष्ट शब्दों में आदेश होता है। यह साधकों की वि शेष मनोभूमि पर निर्भर है। हर एक को इस प्रकार के अनुभव नहीं हो सकते।

परन्तु एक प्रकार से हर एक साधक माता के समीप पहुँच जाता है और उनसे अपनी आत्मिक स्थिति के अनुरूप स्पष्ट या अस्पष्ट उत्तर प्राप्त कर सकता है। एक तरीका यह है कि एकान्त स्थान में शान्त चित्त होकर आराम से शरीर को ढीला करके बैठें, चित्त को चिन्ता से रहित रखें, शरीर और वस्त्र शुद्ध हों, नेत्र बन्द करके प्रकाश, ज्योति या हंसवाहिनी के रूप में हृदय स्थान पर गायत्री शक्ति का ध्यान करें और मन-ही-मन अपने को भगवती के सन्मुख बार-बार दुहराएँ। यह ध्यान दस मिनट करने के उपरान्त तीन लम्बे श्वास इस प्रकार खींचें मानो अखिल वायु मण्डल में व्याप्त महाशक्ति श्वास द्वारा प्रवेश करके अन्तःकरण के कण-कण में व्याप्त हो गयी है। अब ध्यान बन्द कर दीजिये। मन को सब प्रकार के विचारों से बिल्कुल शून्य कर दीजिये। अपनी ओर से कोई भी विचार न उठाएँ। मन और हृदय सर्वथा विचारशून्य हो जाना चाहिये।

इस शून्यावस्था में स्तब्धता को भंग करती हुई अन्तःकरण में स्फुरणा होती है, जिसमें अनायास ही कोई अचिन्त्य भाव उपज पड़ता है। यकायक कोई विचार अन्तरात्मा में इस प्रकार उद्भूत होता है मानो किसी अज्ञात शक्ति ने उत्तर सुझाया हो। पवित्र हृदय जब उपर्युक्त साधना द्वारा और भी अधिक दिव्य पवित्रता से परिपूर्ण हो

जाता है तो सूक्ष्म दैवी शक्ति जो व्यष्टि अन्तरात्मा और समष्टि परमात्मा में समान रूप से व्याप्त है, उस पवित्र हृदय-पटल पर अपना कार्य करना आरम्भ कर देती है और कई ऐसे प्रश्नों, संदेहों और शंकाओं का उत्तर मिल जाता है, जो पहले बहुत विवादास्पद, सन्देहयुक्त एवं रहस्यमय बने हुए थे। इस प्रक्रिया से भगवती वेदमाता गायत्री साधक से वार्त्तालाप करती हैं और उसकी जिज्ञासाओं का समाधान करती हैं। यह क्रम यदि व्यवस्थापूर्वक आगे बढ़ता रहे, तो आगे चलकर उस शरीर रहित दिव्य माता से उसी प्रकार वार्त्तालाप करना संभव हो सकता है, जैसा कि जन्म देने वाली तनधारी माता से बातें करना सम्भव और सुगम होता है।

माता से वार्त्तालाप का विषय अपनी निम्नकोटि की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में नहीं होना चाहिये, विशेषत: आर्थिक प्रश्नों का लोभी न बनना चाहिये, क्योंकि ऐसे प्रश्नों के साथ-साथ मन में स्वार्थ, सांसारिकता आदि के अन्य अनेक मलिन भाव उठ जाते हैं और अन्त:करण की उस पवित्रता को नष्ट कर देते हैं, जो कि माता से बात करने के सम्बन्ध में आवश्यक हैं। चोरी में गयी वस्तु, जमीन में गढ़ा धन, तेजी-मन्दी, सट्टा, लाटरी, हार-जीत, आयु, सन्तान, स्त्री, मुकदमा, नौकरी, लाभ-हानि जैसे प्रश्नों को माध्यम बनाकर जो लोग उस दैवी शक्ति से वार्त्तालाप करना चाहते हैं, वे माता की दृष्टि में इस योग्य, ऐसे अधिकारी नहीं समझे जाते, जिनके साथ उसे वार्त्तालाप करना चाहिये। ऐसे अनधिकारी लोगों के प्रयत्न प्राय: असफल रहते हैं। उनकी मनोभूमि में प्राय: कोई दैवी सन्देश आते ही नहीं, यदि आते हैं तो वे माता के शब्द न होकर अन्य स्रोतों से उद्भूत हुए होते हैं। फलस्वरूप उनकी सहायता और विश्वस्तता सन्दिग्ध होती है।

वर्तमान समय में यह दोष लोगों में बहुत अधिक फैल गया है। इस अर्थ-युग में धन को इतना अधिक महत्त्व दे दिया गया है कि उसके सामने मनुष्य की आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राय: कुण्ठित हो गयी हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि में देवी-देवताओं की पूजा और ईश्वर की उपासना का मूल्य भी यही है, कि इनके द्वारा सांसारिक वैभव, सम्पत्ति की प्राप्ति हो। रुपये की मोहिनी-माया ने मनुष्यों की बुद्धि को इतना अधिक आच्छादित कर दिया है कि वे धन के लिये धर्म को बड़ी जल्दी त्यागने, बेचने को तैयार हो जाते हैं। ऐसे लोगों का यह आशा करना कि थोड़े बहुत-पूजा-पाठ, जप-कीर्तन या अन्य प्रकार के धार्मिक कर्मकाण्ड से उनको अलौकिक शक्ति का आभास मिलने लगेगा या वे आवश्यकता पड़ने पर दैवी सहायता पा सकेंगे, निरर्थक है। इस प्रकार की विशेष सुविधाओं और अनुग्रह के अधिकारी वे ही व्यक्ति हो सकते हैं, जो अपना दृष्टिकोण पर्याप्त ऊँचा रखें और केवल स्वार्थ पर ही नहीं परमार्थ की ओर भी सदैव ध्यान देते रहें।

माता से वार्त्तालाप आध्यात्मिक, धार्मिक, आत्म-कल्याणकारी, जनहितकारी, पारमार्थिक, लोकहित के प्रश्नों को लेकर करना चाहिये। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की गुत्थियों को, विवादास्पद विचारों, विश्वासों और मान्यताओं को लेकर यह वार्त्तालाप आरम्भ होना चाहिये।

इस प्रकार के वार्त्तालाप में अपने तथा दूसरे मनुष्यों के पूर्व- जन्मों, पूर्व सम्बन्धों के बारे में कई महत्त्वपूर्ण बातें प्रकाश में आती हैं। जीवन-निर्माण के सुझाव मिलते हैं तथा ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनके अनुसार कार्य करने पर इसी जीवन में आशाजनक सफलतायें प्राप्त होती हैं। सद्गुणों का, सात्त्विकता का, मनोबल का, दूरदर्शिता का, बुद्धिमत्ता का तथा आन्तरिक शान्ति का उद्भव तो अवश्य ही होता है। इस प्रकार माता का वार्त्तालाप साधक के लिये सब प्रकार से कल्याणकारक ही सिद्ध होता है।

साधकों के स्वप्न निरर्थक नहीं होते

साधना से एक विशेष दिशा में मनोभूमि का निर्माण होता है। श्रद्धा, विश्वास तथा साधना विधि की कार्य-प्रणाली के अनुसार आंतरिक क्रियायें उसी दिशा में प्रवाहित होती हैं, जिससे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार-चतुष्टय वैसा ही रूप धारण करने लगता है। भावनाओं के संस्कार अन्तर्मन में गहराई तक प्रवेश कर जाते हैं। गायत्री साधक की मानसिक गतिविधियों में आध्यात्मिकता एवं सात्त्विकता का प्रमुख स्थान बन जाता है। इसलिये जाग्रत् अवस्था की भाँति स्वप्नावस्था में भी उसकी क्रियाशीलता सारगर्भित ही होती है, उसे प्राय: सार्थक स्वप्न ही आते हैं।

गायत्री-साधकों को साधारण व्यक्तियों की तरह निरर्थक स्वप्न प्राय: बहुत कम आते हैं। उनकी मनोभूमि ऐसी अव्यवस्थित नहीं होती, जिसमें चाहे जिस प्रकार के उल्टे-सीधे स्वप्नों का उद्भव होता हो। जहाँ व्यवस्था स्थापित हो चुकी है, वहाँ की क्रियायें भी व्यवस्थित होती हैं। गायत्री-साधकों के स्वप्नों को हम बहुत समय से ध्यानपूर्वक सुनते रहे हैं और उनके मूल कारणों पर विचार करते रहे हैं। तदनुसार हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा है कि लोगों के स्वप्न निरर्थक बहुत कम होते हैं, उनमें सार्थकता की मात्रा अधिक रहती है।

निरर्थक स्वप्न अत्यन्त अपूर्ण होते हैं। उनमें केवल किसी बात की छोटी-सी झाँकी होती है, फिर तुरन्त उनका तारतम्य बिगड़ जाता है। दैनिक व्यवहार की साधारण क्रियाओं की सामान्य स्मृति मस्तिष्क में पुन:-पुन: जाग्रत् होती रहती है और भोजन, स्नान, वायु-सेवन जैसी साधारण बातों की दैनिक स्मृति के अस्त-व्यस्त स्वप्न दिखाई देते हैं। ऐसे स्वप्नों को निरर्थक कहा जाता है। सार्थक स्वप्न कुछ विशेषता लिये हुए होते हैं। उनमें कोई विचित्रता, नवीनता, घटनाक्रम एवं प्रभावोत्पादक क्षमता होती है। उन्हें देखकर मन में भय, शोक, चिन्ता, क्रोध, हर्ष, विषाद, लोभ- मोह आदि के भाव उत्पन्न होते हैं। निद्रा त्याग देने पर भी उसकी छाप मन पर बनी रहती है और चित्त में बार-बार यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस स्वप्न का अर्थ क्या है?

साधकों के सार्थक स्वप्नों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) पूर्व संचित कुसंस्कारों का निष्कासन, (२) श्रेष्ठ तत्त्वों की स्थापना का प्रकटीकरण, (३) भविष्य-सम्भावना का पूर्वाभास, (४) दिव्य-दर्शन। इन चार श्रेणियों के अन्तर्गत विविध प्रकार के सभी सार्थक स्वप्न आ जाते हैं।

(१) कुसंस्कारों का निष्कासन—

कुसंस्कारों को नष्ट करने वाले स्वप्न पूर्व संचित कुसंस्कारों के निष्कासन में इसलिये होते हैं कि गायत्री-साधना द्वारा आध्यात्मिक नये तत्त्वों की वृद्धि साधक के अन्त:करण में हो जाती है। जहाँ तक वस्तु रखी जाती है, वहाँ से दूसरी को हटाना पड़ता है। गिलास में पानी भरा जाए, तो उसमें से पहले से भरी हुई वायु को हटाना पड़ेगा। रेल के डिब्बे में नये मुसाफिरों को स्थान मिलने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें से बैठे हुए पुराने मुसाफिर उतरें। दिन का प्रकाश आने पर अन्धकार को भागना ही पड़ता है। इसी प्रकार गायत्री साधक के अन्तर्जगत् में जिन दिव्य तत्त्वों की वृद्धि होती है, उन सुसंस्कारों के लिये स्थान नियुक्त होने से पूर्व कुसंस्कारों का निष्कासन स्वाभाविक है। यह निष्कासन जाग्रत् अवस्था में भी होता रहता है और स्वप्न अवस्था में भी। विज्ञान के सिद्धान्तानुसार विस्फोट द्वारा उष्णवीर्य के पदार्थ जब स्थान- च्युत होते हैं, तो वे एक झटका मारते हैं। बन्दूक जब चलाई जाती है, तो पीछे की ओर एक जोरदार झटका मारती है। बारूद जब जलती है, तो एक धड़ाके की आवाज करती है। दीपक के बुझते समय एक बार जोर से लौ उठती है। इसी प्रकार कुसंस्कार भी मानस लोक से प्रयाण करते समय मस्तिष्कीय तन्तुओं पर आघात करते हैं और उन आघातों की प्रतिक्रिया स्वरूप जो विक्षोभ उत्पन्न होता है, उसे स्वप्नावस्था में भयंकर, अस्वाभाविक, अनिष्ट एवं उपद्रव के रूप में देखा जाता है।

भयानक-हिंसक पशु, सर्प, सिंह, व्याघ्र, पिशाच, चोर, डाकू आदि का आक्रमण होना, सुनसान, एकान्त, डरावना जंगल दिखाई देना, किसी प्रियजन की मृत्यु, अग्निकाण्ड, बाढ़, भूकम्प, युद्ध आदि के भयानक दृश्य दीखना, अपहरण, अन्याय, शोषण, विश्वासघात द्वारा अपना शिकार होना, कोई विपत्ति आना, अनिष्ट की आशंका से चित्त घबराना आदि भयंकर दिल धड़काने वाले ऐसे स्वप्न, जिनके कारण मन में चिन्ता, बेचैनी, पीड़ा, भय, क्रोध, द्वेष, शोक, कायरता, ग्लानि, घृणा आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, वे पूर्व संचित इन्हीं कुसंस्कारों की अन्तिम झाँकी का प्रमाण होते हैं। यह स्वप्न बताते हैं कि जन्म-जन्मान्तरों की संचित यह कुप्रवृत्तियाँ अब अपना अन्तिम दर्शन और अभिवादन करती हुई जा रही हैं और मन ने स्वप्न में इस परिवर्तन को ध्यानपूर्वक देखने के साथ-साथ एक आलंकारिक कथा के रूप में किसी शृंखलाबद्ध घटना का चित्र गढ़ डाला है और उसे स्वप्न रूप में देखकर जी बहलाया है।

कामवासना अन्य सब मनोवृत्तियों से अधिक प्रबल है। काम भोग की अनियन्त्रित इच्छायें मन में उठती हैं, उन सबका सफल होना असभव है। इसलिये वे परिस्थितियों द्वारा कुचली जाती रहती हैं और मन मसोस कर

वे अतृप्त, असंतुष्ट प्रेमिका की भाँति अन्तर्मन के कोपभवन में खटपाटी लेकर पड़ी रहती हैं । यह अतृप्ति चुपचाप पड़ी नहीं रहती, वरन् जब अवसर पाती है निद्रावस्था में अपने मनसूबों को चरितार्थ करने के लिये, मन के लड्डू खाने के लिये मनचीते स्वप्न का अभिनय रचती है । दिन में घर के लोगों के जाग्रत् रहने के कारण चूहे डरते और बिलों में छिपे रहते हैं, पर रात्रि को जब घर के आदमी सो जाते हैं, तो चूहे अपने बिलों में से निकलकर निर्भयतापूर्वक उछल-कूद मचाते हैं । कुचली हुई काम-वासना भी यही करती है और "खयाली पुलाव" खाकर किसी प्रकार अपनी क्षुधा को बुझाती है । स्वप्नावस्था में सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं का देखना, उनसे खेलना, प्यार करना, जमा करना, रूपवती स्त्रियों को देखना, उनकी निकटता में आना, मनोहर नदी, तड़ाग, वन, उपवन, पुष्प, फल, नृत्य, गीत, वाद्य, उत्सव, समारोह जैसे दृश्यों को देखकर कुचली हुई वासनायें किसी प्रकार अपने को तृप्त करती हैं । धन की, पद की, महत्त्व प्राप्ति की अतृप्त आकाँक्षायें भी अपनी तृप्ति के झूठे अभिनय रचा करती हैं । कभी-कभी ऐसा होता है कि अपनी अतृप्ति के दर्द को, घाव को, पीड़ा को स्पष्ट रूप में अनुभव करने के लिये ऐसे स्वप्न दिखाई देते हैं , मानों अतृप्ति भी बढ़ गयी । जो थोड़ा-बहुत सुख था, वह भी हाथ से चला गया अथवा मनोवांछा पूरी होते-होते किसी आकस्मिक बाधा के कारण रुक गयी ।

अतृप्तियों को किसी अंश में या किसी अन्य प्रकार से तृप्त करने के एवं अतृप्ति को और भी उग्र रूप से अनुभव करने के लिये उपर्युक्त प्रकार के स्वप्न आया करते हैं । यह दबी हुई वृत्तियाँ गायत्री की साधना के कारण उखड़कर अपना स्थान खाली करती हैं । इसलिये परिवर्तन काल में वे अपने गुप्त रूप को प्रकट करती हुई विदा होती हैं । तदनुसार साधना काल में प्रायः इस प्रकार के स्वप्न आते रहते हैं । किसी मृत प्रेमी का दर्शन, सुन्दर दृश्यों का अवलोकन, स्त्रियों से मिलना-जुलना, मनोवांछाओं का पूरा होना आदि घटनाओं के स्वप्न भी विशेष रूप से दिखाई देते हैं । इनका अर्थ है कि अनेकों दबी हुई अतृप्त तृष्णायें , कामनाएँ, वासनाएँ धीरे-धीरे करके अपनी विदाई की तैयारी कर रही हैं । आत्मिक तत्त्वों की वृद्धि के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है ।

(२) दिव्य तत्त्वों के वृद्धि सूचक स्वप्न—

दूसरी श्रेणी के स्वप्न वे होते हैं, जिनसे इस बात का पता चलता है कि अपने अन्दर सात्त्विकता की मात्रा में लगातार अभिवृद्धि हो रही है । सतोगुणी कार्यों को स्वयं करने या किसी अन्य के द्वारा होते हुए, स्वप्न ऐसा ही परिचय देते हैं । पीड़ितों की सेवा, अभावग्रस्तों की सहायता, दान, जप, यज्ञ, उपासना, तीर्थ, मन्दिर, पूजा, धार्मिक कर्मकाण्ड, कथा, कीर्तन, प्रवचन, उपदेश, माता, पिता, साधु, महात्मा, नेता, विद्वान्, सज्जनों की समीपता, स्वाध्याय, अध्ययन, आकाशवाणी, देवी-देवताओं के दर्शन, दिव्य प्रकाश आदि आध्यात्मिक सतोगुणी, शुभ स्वप्नों से अपने आप अन्दर आये हुए शुभ तत्त्वों को देखता है और उन दृश्यों से शान्ति लाभ प्राप्त करता है ।

(३) भविष्य का आभास एवं दैवी सन्देश का स्वप्न—

तीसरे प्रकार के स्वप्न भविष्य में होने वाली किन्हीं घटनाओं की ओर संकेत करते हैं । प्रातःकाल सूर्योदय से एक-दो घण्टे पूर्व देखे हुए स्वप्न में सच्चाई का बहुत अंश होता है । ब्राह्म मुहूर्त में एक तो साधक का मस्तिष्क निर्मल होता है, दूसरे प्रकृति के अन्तराल का कोलाहल भी रात्रि की स्तब्धता के कारण बहुत अंशों में शान्त हो जाता है । उस समय सत् तत्त्व की प्रधानता के कारण वातावरण स्वच्छ रहता है और सूक्ष्म जगत् में विचरण करते हुए भविष्य का, भावी विधानों का, बहुत कुछ आभास मिलने लगता है ।

कभी-कभी अस्पष्ट और उलझे हुए ऐसे दृश्य दिखाई देते हैं, जिनसे मालूम होता है कि भविष्य में होने वाले किसी लाभ या हानि के संकेत हैं, पर स्पष्ट रूप से यह विदित नहीं हो पाता कि इनका वास्तविक तात्पर्य क्या है ? ऐसे उलझन भरे स्वप्नों के कारण होते हैं (१) भविष्य का विधान प्रारब्ध कर्मों से बनता है, पर वर्तमान कर्मों से उस विधान में हेर-फेर हो सकता है । कोई पूर्व निर्धारित विधि का विधान साधक के वर्तमान कर्मों के कारण कुछ परिवर्तित हो जाता है, तो उसका निश्चित और स्पष्ट रूप दिखाकर अनिश्चित और अस्पष्ट हो जाता है, तदनुसार स्वप्न में उलझी हुई बात दिखाई पड़ती है (२) कुछ भावी विधान ऐसे हैं , जो नये कर्मों के नई परिस्थिति के अनुसार बनते और परिवर्तित होते रहते हैं । तेजी, मन्दी, सट्टा, लाटरी आदि के बारे में जब तक भविष्य का भ्रूण ही तैयार

हो पाता है, पूर्ण रूप से उसकी स्पष्टता नहीं हो पाती, तब तक उसका पूर्वाभास साधक को स्वप्न में मिले, तो वह एकांगी एवं अपूर्ण होता है, (३) अपनेपन की सीमा जितने क्षेत्र में होती है, वह व्यक्ति के 'अहम्' के सीमा क्षेत्र तक अपने को दिखाई पड़ सकते हैं , इसलिये ऐसा भी हो जाता है कि जो सन्देश स्वप्न में मिला है, वह अपनेपन की मर्यादा में आने वाले किसी कुटुम्बी, पड़ोसी, रिश्तेदार या मित्र के लिये हो, (४) साधक की मनोभूमि पूर्णरूप से निर्मल न हो गयी हो, तो आकाश के सूक्ष्म अन्तराल में बहते हुए तथ्य अधूरे या रूपान्तरित होकर दिखाई पड़ते हैं, जैसे कोई व्यक्ति अपने घर से हमसे मिलने के लिये रवाना हो चुका हो, तो उस व्यक्ति के स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति के आने का आभास मिले । होता यह है कि साधक की दिव्य दृष्टि धुँधली होती है । जैसे दृष्टिदोष होने पर दूर चलने वाले मनुष्य पुतले से दिखाई पड़ते हैं, पर उनकी शक्ल नहीं पहचानी जाती है । जब धुँधले, स्पष्ट आभास के ऊपर हमारी स्वप्न माया एक कल्पित आवरण चढ़ा कर कोई झूठ-मूठ की आकृति जोड़ देती है और रस्सी को सर्प बना देती है । ऐसे स्वप्न आधे असत्य होते हैं, परन्तु जैसे-जैसे साधक की मनोभूमि अधिक निर्मल होती जाती है, वैसे ही वैसे, उसकी दिव्य दृष्टि स्वच्छ होती जाती है और उसके स्वप्न अधिक सार्थकता युक्त होने लगते हैं ।

(४) जाग्रत् स्वप्न या दिव्य दर्शन—

स्वप्न केवल रात्रि में या निद्राग्रस्त होने पर ही नहीं आते । वे जाग्रत् अवस्था में भी आते हैं । ध्यान को एक प्रकार का जाग्रत् स्वप्न ही समझना चाहिये । कल्पना के घोड़े पर चढ़कर हम सुदूर स्थानों के विविध-विधि सम्भव और असम्भव दृश्य देखा करते हैं, यह एक प्रकार के स्वप्न ही हैं । निद्राग्रस्त स्वप्नों में क्रियायें प्रधान होती हैं, जाग्रत् स्वप्नों में बहिर्मन की क्रियायें प्रमुख रूप से काम करती हैं । इतना अन्तर तो अवश्य है पर इसके अतिरिक्त निद्रा स्वप्न और जाग्रत् स्वप्नों की एक-सी प्रणाली है । जाग्रत् अवस्था में साधक के मनोलोक में नाना प्रकार की विचारधारायें और कल्पनायें घुड़दौड़ मचाती हैं । यह भी तीन प्रकार की होती हैं- पूर्व कुसंस्कारों के निष्कासन, श्रेष्ठ तत्त्वों के प्रकटीकरण तथा भविष्य के पूर्वाभास की सूचना देने के लिये मस्तिष्क में विविध प्रकार के विचार, भाव एवं कल्पना चित्र आते हैं ।

कभी-कभी जाग्रत् अवस्था में भी कोई चमत्कारी, दैवी, अलौकिक दृश्य किसी-किसी को दिखाई दे जाते हैं । इष्टदेव का किसी-किसी को चर्म-चक्षुओं से दर्शन होता है, कोई-कोई भूत-प्रेतों को प्रत्यक्ष देखते हैं, किन्हीं-किन्हीं को दूसरों के चेहरे पर तेजोवलय और मनोगत भावों का आकार दिखाई देता है, जिसके आधार पर वह दूसरों की आन्तरिक स्थिति को पहचान लेते हैं । रोगी का अच्छा होना न होना, संघर्ष में जीतना, चोरी में गयी वस्तु, आगामी लाभ-हानि, विपत्ति-सम्पत्ति आदि के बारे में कई मनुष्यों के अन्त:करण में एक प्रकार की आकाशवाणी-सी होती है और वह कई बार इतनी सच्ची निकलती है कि आश्चर्य से दंग रह जाना पड़ता है ।

सफलता के लक्षण

गायत्री साधना से साधक में एक सूक्ष्म दैवी चेतना का आविर्भाव होता है । प्रत्यक्ष रूप से उसके शरीर या आकृति में कोई विशेष अन्तर नहीं आता, पर भीतर ही भीतर भारी हेर-फेर हो जाता है । आध्यात्मिक तत्त्वों की वृद्धि से प्राणमय कोष, विज्ञानमय कोष और मनोमय कोष में जो परिवर्तन होता है, उसकी छाया अन्नमय कोष में बिल्कुल ही दृष्टिगोचर न हो ऐसा नहीं हो सकता । यह सच है कि शरीर का ढाँचा आसानी से नहीं बदलता, पर यह भी सच है कि आंतरिक हेर-फेर के चिह्न शरीर में प्रकट हुए बिना नहीं रह सकते ।

सर्प के मांस कोष में जब एक नई त्वचा तैयार होती है, तो उसका लक्षण सर्प के शरीर में परिलक्षित होता है । उसकी देह भारी हो जाती है, तेजी से वह नहीं दौड़ता, स्फूर्ति और उत्साह से वह वंचित हो जाता है, एक स्थान पर पड़ा रहता है । जब वह चमड़ी पक जाती है, तो सर्प बाहरी त्वचा को बदल देता है, इसे केंचुली बदलना कहते हैं । केंचुली छोड़ने के बाद सर्प में एक नया उत्साह आता है, उसकी चेष्टायें बदल जाती हैं, उसकी नई चमड़ी पर चिकनाई, चमक और कोमलता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है । ऐसा ही हेर-फेर साधक में होता है । जब उसकी साधना गर्भ में पकती है, तो उसे कुछ उदासी, भारीपन, अनुत्साह एवं शिथिलता के लक्षण प्रतीत होते हैं,

पर जब साधना पूर्ण हो जाती है, तो दूसरे ही लक्षण प्रकट होने लगते हैं । माता के उदर में जब तक गर्भ पकता है, तब तक माता का शरीर भारी, गिरा-गिरा-सा रहता है, उसमें अनुत्साह रहता है, पर जब प्रसूति से निवृत्ति हो जाती है, तो वह अपने में एक हल्कापन, उत्साह एवं चैतन्यता अनुभव करती है ।

साधक जब साधना करने बैठता है, तो अपने अन्दर एक प्रकार का आध्यात्मिक गर्भ धारण करता है । तन्त्र शास्त्रों में साधना को मैथुन कहा है । जैसे मैथुन को गुप्त रखा जाता है, वैसे ही साधना को गुप्त रखने का आदेश किया गया है । आत्मा जब परमात्मा से लिपटती है, आलिंगन करती है , तो उसे एक अनिर्वचनीय आनन्द आता है, इसे भक्ति की तन्मयता कहते हैं । जब दोनों का प्रगाढ़ मिलन होता है, एक-दूसरे में आत्मसात् होते हैं, तो उस स्खलन को 'समाधि' कहा जाता है । आध्यात्मिक मैथुन का समाधि-सुख अन्तिम स्खलन है । गायत्री उपनिषद् और सावित्री उपनिषद् में अनेक मैथुनों का वर्णन किया गया है । यहाँ बताया गया है कि सविता और सावित्री का मिथुन है । सावित्री-गायत्री की आराधना करने से साधक अपनी आत्मा को एक योनि बना लेता है, जिसमें सविता का तेजपुंज, परमात्मा का तेज वीर्य गिरता है । इसे शक्तिपात भी कहा गया है । इस शक्तिपात विज्ञान के अनुसार अमैथुनी सृष्टि उत्पन्न हो सकती है । कुन्ती से कर्ण का, मरियम के पेट से ईसा का उत्पन्न होना असंभव नहीं है । देव शक्तियों की उत्पत्ति इसी प्रकार के सूक्ष्म मैथुनों से होती है, समुद्र मन्थन एक मैथुन था, जिसके फलस्वरूप चौदह रत्नों का प्रसव हुआ । ऋण और धन (निगेटिव और पोजेटिव) परमाणुओं के आलिंगन से विद्युत् प्रवाह का रस उत्पन्न होता है । तन्त्र शास्त्रों में स्थान-स्थान पर मैथुन को प्रशंसित किया गया है, वह यही साधना मैथुन है ।

साधना का अर्थ है- अपने भीतर की श्रद्धा तथा विश्वास की शक्तियों का सम्मिलन कराके एक नई शक्ति का आविर्भाव करना, जिसे सिद्धि, दैवी वरदान या चमत्कार भी कहा जा सकता है । इस प्रकार के उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अपने पास कुछ साधन पहले भी होने आवश्यक हैं । जैसे किसी गन्तव्य स्थान को कोई व्यक्ति किसी भी मार्ग से जाए, रास्ते में खर्च के लिये रुपया, पैसा, खाने-पीने, वस्त्रादि की आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही किसी दैवी शक्ति की साधना करने के लिये सद्गुणों, सद्विचारों और सत्कर्मों की आवश्यकता होती है । जिसका जीवन आरम्भ से ही कलुषित-पापपूर्ण और दूषित रहा है, उसकी साधना का सम्पन्न होना असम्भव-सा ही है । इसलिये ज़ो व्यक्ति सच्चे मन से साधना के इच्छुक हैं और उससे कोई उच्च लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं , तो उनको पहले अपने मन, वचन, काया की शुद्धि का भी प्रयत्न करना चाहिये । ऐसा करने पर ही किसी प्रकार की सिद्धि की आशा कर सकते हैं ।

आत्मा और परमात्मा का, सविता और सावित्री का मैथुन जब प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध होता है, तो उसके फलस्वरूप एक आध्यात्मिक गर्भ धारण होता है । इसी गर्भ को आध्यात्मिक भाषा में भर्ग कहते हैं । भर्ग को जो साधक जितने अंशों में धारण करता है, उसे उतना ही स्थान अपने अन्दर इस नये तत्त्व के लिये देना होता है । नये तत्त्वों की स्थापना के लिये पुराने तत्त्वों को पदच्युत होना पड़ता है, इस संक्रान्ति के कारण स्वाभाविक क्रिया-विधि में अन्तर आ जाता है और उस अन्तर के लक्षण साधक में उसी प्रकार प्रकट होने लगते हैं , जैसे गर्भवती स्त्री को अरुचि, उबकाई, कोष्ठबद्धता, आलस्य आदि लक्षण होते हैं, वैसे ही लक्षण साधक को भी उस समय तक जब तक कि उसकी अन्तःयोनि में गर्भ पकता रहता है, परिलक्षित होते हैं । केंचुली में भरे हुए सर्प की तरह वह भी अपने को भारी-भारी, बिंधा हुआ, जकड़ा हुआ, अवसादग्रस्त अनुभव करता है । आत्म-विद्या के आचार्य जानते हैं कि साधनावस्था में साधक को कैसी विषम स्थिति में रहना पड़ता है । इसलिये वे अनुयायियों को साधनाकाल में बड़े आचार-विचार के साथ रहने का आदेश करते हैं । रजस्वला या गर्भवती स्त्रियों से मिलता-जुलता आहार-विहार साधकों को अपनाना होता है, तभी वे साधना संक्रान्ति को ठीक प्रकार से पार कर पाते हैं ।

मनुष्य कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य करना चाहे, उसमें किसी न किसी प्रकार की विघ्न-बाधायें, भय-प्रलोभन आते ही हैं, किन्तु जो लोग उनका सफलतापूर्वक सामना कर सकते हैं, वे ही सफलता के द्वार पर पहुँचते हैं ।

आहार दोष, आलस्य, अधैर्य, असंयम, घृणा, द्वेष, विलासिता, कुसंग, अभिमान आदि के कारण भी साधक अपने मार्ग से भटक जाता है। भ्रष्टाचार, चोरी की कमाई, दूसरे के अधिकार का अपहरण, घोर स्वार्थपरता आदि जैसे दोषों का आजकल बाहुल्य है। वे भी मनुष्य को किसी प्रकार की दैवी सफलता के अयोग्य बना देते हैं। इसलिये जो व्यक्ति वास्तव में साधना को पूर्ण करके सफलता और सिद्धि की आकांक्षा रखते हैं, उनको उसके लिये सब प्रकार के त्याग, बलिदान, कष्ट-सहन आदि के लिये सहर्ष प्रस्तुत रहना चाहिये, जिससे साधना परिपक्व होकर इच्छित फल प्रदान करेगी।

अण्डे से बच्चा निकलता है, गर्भ से सन्तान पैदा होती है, साधक को भी साधना के फलस्वरूप एक सन्तान मिलती है, जिसे शक्ति या सिद्धि कहते हैं। मुक्ति, समाधि, ब्राह्मी स्थिति, तुरीयावस्था आदि नाम भी इसी के हैं। यह सन्तान आरम्भ में बड़ी निर्बल तथा लघु आकार की होती है। जैसे अण्डे से निकलने पर बच्चे बड़े ही लुञ्ज-पुञ्ज होते हैं, जैसे माता के गर्भ से उत्पन्न हुए बालक बड़े ही कोमल होते हैं, वैसे ही साधना पूर्ण होने पर प्रसव हुई नवजात सिद्धि भी बड़ी कोमल होती है। बुद्धिमान् साधक उसे उसी प्रकार पाल-पोस कर बड़ा करते हैं, जैसे कुशल मातायें अपनी सन्तान को अनिष्टों से बचाती हुई पौष्टिक पोषण देकर पालती हैं।

साधना जब तक साधक के गर्भ में पकती रहती है, कच्ची रहती है, तब तक उसके शरीर में आलस्य और अवसाद के चिह्न रहते हैं, स्वास्थ्य गिरा हुआ और चेहरा उतरा हुआ दिखाई देता है, पर जब साधना पक जाती है और सिद्धि की सुकोमल सन्तति का प्रसव होता है, तो साधक में तेज, ओज, हल्कापन, चैतन्य, उत्साह आ जाता है, वैसा ही जैसा कि केंचुली बदलने के बाद सर्प में आता है। सिद्धि का प्रसव हुआ या नहीं, इसकी परीक्षा इन लक्षणों से हो सकती है। यह दस लक्षण नीचे दिये जाते हैं—

१—शरीर में हल्कापन और मन में उत्साह होता है।

२—शरीर में से एक विशेष प्रकार की सुगन्ध आने लगती है।

३—त्वचा पर चिकनाई और कोमलता का अंश बढ़ जाता है।

४—तामसिक आहार-विहार से घृणा बढ़ जाती है और सात्त्विक दिशा में मन लगने लगता है।

५—स्वार्थ का कम और परमार्थ का अधिक ध्यान रहता है।

६—नेत्रों में तेज झलकने लगता है।

७—किसी व्यक्ति या कार्य के विषय में वह जरा भी विचार करता है, तो उसके सम्बन्ध में बहुत-सी ऐसी बातें स्वयमेव प्रतिभासित होती हैं, जो परीक्षा करने पर ठीक निकलती हैं।

८—दूसरों के मन के भाव जान लेने में देर नहीं लगती।

९—भविष्य में घटित होने वाली बातों का पूर्वाभास मिलने लगता है।

१०—शाप या आशीर्वाद सफल होने लगते हैं। अपनी गुप्त शक्तियों से वह दूसरों का बहुत कुछ लाभ या बुरा कर सकता है।

यह दस लक्षण इस बात के प्रमाण हैं कि साधक का गर्भ पक गया और सिद्धि का प्रसव हो चुका है। इस शक्ति - सन्तति को जो साधक सावधानी के साथ पालते - पोषते हैं, उसे पुष्ट करते हैं, वे भविष्य में आज्ञाकारी सन्तान वाले बुजुर्ग की तरह आनन्दमय परिणामों का उपभोग करते हैं। किन्तु जो फूहड़ जन्मते ही सिद्धि का दुरुपयोग करते हैं, अपनी स्वल्प शक्ति का विचार न करते हुए उस पर अधिक भार डालते हैं, उनकी गोदी खाली हो जाती है और मृतवत्सा माता की तरह उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ता है।

सिद्धियों का दुरुपयोग न होना चाहिये

गायत्री-साधना करने वालों को अनेक प्रकार की अलौकिक शक्तियों के आभास होते हैं। कारण यह है कि यह एक श्रेष्ठ साधना है। जो लाभ अन्य साधनाओं से होते हैं, जो सिद्धियाँ किसी अन्य योग से मिल सकती हैं, वे सभी गायत्री साधना से मिल सकती हैं। जब थोड़े दिनों श्रद्धा, विश्वास और विनयपूर्वक उपासना चलती है, तो आत्म-ॅ ाक्ति की मात्रा दिन-दिन बढ़ती रहती है। आत्म-तेज प्रकाशित होने लगता है। अन्तःकरण पर चढ़े हुए

मैल छूटने लगते हैं । आन्तरिक निर्मलता की अभिवृद्धि होती है । फलस्वरूप आत्मा की मन्दज्योति अपने असली रूप में प्रकट होने लगती है ।

अंगार के ऊपर जब राख का मोटा परत जम जाता है, तो वह दाहक शक्ति से रहित हो जाता है । उसे छूने से कोई विशेष अनुभव नहीं होता, पर जब उस अंगार पर से राख का पर्दा हटा दिया जाता है, तो धधकती हुई अग्नि प्रज्वलित हो जाती है । यही बात आत्मा के सम्बन्ध में है । आमतौर से मनुष्य मायाग्रस्त होते हैं, भौतिक जीवन की बहिर्मुखी वृत्तियों में उलझे रहते हैं । यह एक प्रकार से भस्म का पर्दा है, जिसके कारण आत्मतेज की उष्णता एवं रोशनी की झाँकी नहीं हो पाती, जब मनुष्य अपने को अन्तर्मुखी बनाता है, आत्मा की झाँकी करता है, साधना द्वारा अपने कषाय-कल्मषों को हटाकर निर्मलता प्राप्त करता है, तो आत्म दर्शन की स्थिति प्राप्त होती है ।

आत्मा, परमात्मा का अंश है । उसमें वे सब तत्त्व, गुण एवं बल मौजूद हैं, जो परमात्मा में होते हैं । अग्नि के सब गुण चिन्गारी में उपस्थित हैं, यदि चिन्गारी को अवसर मिले, तो वह दावानल का कार्य कर सकती है । आत्मा के ऊपर चढ़े हुए मलों का यदि निवारण हो जाए, तो वही परमात्मा का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब दिखाई देगा और उसमें वे सब शक्तियाँ परिलक्षित होंगी, जो परमात्मा के अंश में होनी चाहिये ।

अष्ट सिद्धियाँ, नौ निधियाँ प्रसिद्ध हैं । उनके अतिरिक्त भी अगणित छोटी-बड़ी ऋद्धि-सिद्धियाँ होती हैं । वे साधना का परिपाक होने के साथ-साथ उठती, प्रकट होतीं और बढ़ती हैं । किसी विशेष सिद्धि की प्राप्ति के लिये चाहे भले ही प्रयत्न न किया जाए, पर युवावस्था आने पर जैसे यौवन के चिह्न अपने आप प्रस्फुटित हो जाते हैं, उसी प्रकार साधना के परिपाक के साथ-साथ सिद्धियाँ अपने आप आती-जाती हैं । गायत्री का साधक धीरे-धीरे सिद्धावस्था की ओर अग्रसर होता जाता है । उसमें अनेक अलौकिक शक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं । देखा गया है कि जो लोग श्रद्धा और निष्ठापूर्वक गायत्री साधना में दीर्घकाल तक तल्लीन रहे हैं, उनमें ये विशेषतायें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं—

(१) उनका व्यक्तित्व आकर्षक, नेत्रों में चमक, वाणी में बल, चेहरे पर प्रतिभा, गम्भीरता तथा स्थिरता होती है, जिससे दूसरों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है । जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में आ जाते हैं, वे उनसे काफी प्रभावित हो जाते हैं तथा उनकी इच्छानुसार आचरण करते हैं ।

(२) साधक को अपने अन्दर एक दैवी तेज की उपस्थिति प्रतीत होती है । वह अनुभव करता है कि उसके अन्तःकरण में कोई नई शक्ति काम कर रही है ।

(३) बुरे कामों से उसकी रुचि हटती जाती है और भले कामों में मन लगता है । कोई बुराई बन पड़ती है, तो उसके लिये बड़ा खेद और पश्चात्ताप होता है । सुख के समय वैभव में अधिक आनन्द न होना और दुःख, कठिनाई तथा आपत्ति में धैर्य खोकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ न होना उनकी विशेषता होती है ।

(४) भविष्य में जो घटनायें घटित होने वाली हैं, उनका उनके मन में पहले से ही आभास आने लगता है । आरम्भ में तो कुछ हल्का-सा ही अन्दाज होता है, पर धीरे-धीरे उसे भविष्य का ज्ञान बिल्कुल सही होने लगता है ।

(५) उसके शाप और आशीर्वाद सफल होते हैं । यदि वह अन्तरात्मा से दुःखी होकर किसी को शाप देता है, तो उस व्यक्ति पर भारी विपत्तियाँ आती हैं और प्रसन्न होकर जिसे वह सच्चे अन्तःकरण से आशीर्वाद देता है, उसका मंगल होता है । उसके आशीर्वाद विफल नहीं होते ।

(६) वह दूसरों के मनोभावों को देखते ही पहचान लेता है, कोई व्यक्ति कितना ही छिपावे, उसके सामने यह भाव छिपते नहीं । वह किसी के भी गुण, दोषों, विचारों तथा आचरणों को पारदर्शी की तरह सूक्ष्म दृष्टि से देख सकता है ।

(७) वह अपने विचारों को दूसरे के हृदय में प्रवेश करा सकता है । दूर रहने वाले मनुष्यों तक बिना तार या पत्र की सहायता के अपने सन्देश पहुँचा सकता है ।

(८) जहाँ वह रहता है, उसके आस-पास का वातावरण बड़ा शान्त एवं सात्त्विक रहता है । उसके पास बैठने

वालों को जब तक वे समीप रहते हैं, अपने अन्दर अद्‌भुत शान्ति, सात्विकता तथा पवित्रता अनुभव होती है।

(९) वह अपनी तपस्या, आयु या शक्ति का एक भाग किसी को दे सकता है और उसके द्वारा दूसरा व्यक्ति बिना प्रयास या स्वल्प प्रयास में ही अधिक लाभान्वित हो सकता है। ऐसे व्यक्ति दूसरों पर 'शक्तिपात' कर सकते हैं।

(१०) उसे स्वप्न में, जाग्रत् अवस्था में, ध्यानावस्था में रंग-बिरंगे प्रकाश पुञ्ज, दिव्य ध्वनियाँ, दिव्य प्रकाश एवं दिव्य वाणियाँ सुनाई पड़ती हैं। कोई अलौकिक शक्ति उसके साथ बार-बार छेड़खानी, खिलवाड़ करती हुई-सी दिखाई पड़ती है। उसे अनेकों प्रकार के ऐसे दिव्य अनुभव होते हैं, जो बिना अलौकिक शक्ति के प्रभाव के साधारणत: नहीं होते।

यह चिह्न तो प्रत्यक्ष प्रकट होते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से अणिमा, लघिमा, महिमा आदि योग शास्त्रों में वर्णित अन्य सिद्धियों का भी आभास मिलता है। वह कभी-कभी ऐसे कार्य कर सकने में सफल होता है, जो बड़े ही अद्‌भुत, अलौकिक और आश्चर्यजनक होते हैं।

जिस समय सिद्धियों का उत्पादन एवं विकास हो रहा हो, वह समय बड़ा ही नाजुक एवं बड़ी ही सावधानी का है। जब किशोर अवस्था का अन्त एवं नवयौवन का प्रारम्भ होता है, उस समय वीर्य का शरीर में नवीन उद्‌भव होता है। इस उद्‌भवकाल में मन बड़ा उत्साहित, काम-क्रीड़ा का इच्छुक एवं चंचल रहता है। यदि इस मनोदशा पर नियन्त्रण न किया जाए, तो कच्चे वीर्य का अपव्यय होने लगता है, नवयुवक थोड़े ही समय में शक्तिहीन, वीर्यहीन, यौवनहीन होकर सदा के लिये निकम्मा बन जाता है, साधना में भी सिद्धि का प्रारम्भ ऐसी ही अवस्था है, जबकि साधक अपने अन्दर एक नवीन आत्मिक चेतना अनुभव करता है और उत्साहित होकर प्रदर्शन द्वारा दूसरों पर अपनी महत्ता की छाप बिठाना चाहता है। यह क्रम यदि चल पड़े तो वह कच्चा वीर्य प्रारम्भिक सिद्धि तत्त्व स्वल्प काल में ही अपव्यय होकर समाप्त हो जाता है और साधक को सदा के लिये छूँछ एवं निकम्मा हो जाना पड़ता है।

संसार में जो कार्यक्रम चल रहा है, वह कर्मफल के आधार पर चल रहा है। ईश्वरीय सुनिश्चित नियमों के आधार पर कर्म-बन्धन में बँधे हुए प्राणी अपना-अपना जीवन चलाते हैं। प्राणियों की सेवा का सच्चा मार्ग यह है कि उन्हें सत्कर्म में प्रवृत्त किया जाए, आपत्तियों को सहने का साहस दिया जाए, यह आत्मिक सहायता हुई। तात्कालिक कठिनाई का हल करने वाली भौतिक सहायता देनी चाहिये। आत्म-शक्ति खर्च करके कर्त्तव्यहीन व्यक्तियों को सम्पन्न बनाया जाए, तो वह उनको और अधिक निकम्मा बनाना होगा, इसलिये दूसरों को सेवा के लिये सद्‌गुण और विवेक दान देना ही श्रेष्ठ है। दान देना हो तो धन आदि जो हो, उसका दान करना चाहिये। दूसरों का वैभव बढ़ाने में आत्म-शक्ति का सीधा प्रत्यावर्तन करना, अपनी शक्तियों को समाप्त करना है। दूसरों को आश्चर्य में डालने या उन पर अपनी अलौकिक सिद्धि प्रकट करने जैसी तुच्छ बातों में कष्टसाध्य आत्मबल को व्यय करना ऐसा ही है, जैसे कोई मूर्ख होली खेलने का कौतुक करने के लिये अपना रक्त निकालकर उसे उलीचे, यह मूर्खता की हद है। जो अध्यात्मवादी दूरदर्शी होते हैं, वे सांसारिक मान-बड़ाई की रत्ती भर परवाह नहीं करते।

पर आजकल समाज में इसके विपरीत धारा ही बहती दिखाई पड़ती है। लोगों ने ईश्वर-उपासना, पूजा-पाठ, जप-तप को भी सांसारिक प्रलोभनों का साधन बना लिया है। वे जुआ, लाटरी आदि में सफलता प्राप्त करने के लिये भजन, जप करते हैं और देवताओं की मनौती करते हैं, उन्हें प्रसाद चढ़ाते हैं। उनका उद्देश्य किसी प्रकार धन प्राप्त करना होता है, चाहे वह चोरी-ठगी से और चाहे जप-तप भजन से। ऐसे लोगों को प्रथम तो उपासना जनित शक्ति ही प्राप्त नहीं होती और यदि किसी कारणवश थोड़ी-बहुत सफलता प्राप्त हो गयी, तो वह उससे ही ऐसे फूल जाते हैं और तरह-तरह के अनुचित कार्यों में उसका इस प्रकार अपव्यय करने लगते हैं कि जो कुछ कमाई होती है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है और आगे के लिये रास्ता बन्द हो जाता है। दैवी शक्तियाँ कभी किसी अयोग्य व्यक्ति को ऐसी सामर्थ्य प्रदान नहीं कर सकतीं, जिससे वह दूसरों का अनिष्ट करने लग जाए।

तान्त्रिक पद्धति से किसी का मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण करना, किसी के गुप्त आचरणों या मनोभावों

को जानकर उनको प्रकट कर देना और उसकी प्रतिष्ठा को घटाना आदि कार्य आध्यात्मिक साधकों के लिये सर्वथा निषिद्ध हैं। कोई ऐसा अद्‌भुत कार्य करके दिखाना जिससे लोग यह समझ लें कि यह सिद्ध पुरुष है, गायत्री-उपासकों के लिये कड़ाई के साथ वर्जित है। यदि वे इस चक्कर में पड़े, तो निश्चित रूप से कुछ ही दिनों में उनकी शक्ति का स्रोत सूख जाएगा और छूँछ बनकर अपनी कष्टसाध्य आध्यात्मिक कमाई से हाथ धो बैठेंगे। उसके लिये संसार का सद्ज्ञान दान कार्य ही इतना बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण है कि उसी के द्वारा वे जनसाधारण के आन्तरिक, बाह्य और सामाजिक कष्टों को भली प्रकार दूर कर सकते हैं और स्वल्प साधनों से ही स्वर्गीय सुखों का आस्वादन कराते हुए लोगों के जीवन सफल बना सकते हैं। इस दिशा में कार्य करने से उनकी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ती है। इसके प्रतिकूल यदि वे चमत्कारों के 'प्रदर्शन' के चक्कर में पड़ेंगे, तो लोगों का क्षणिक कौतूहल, अपने प्रति उनका आकर्षण थोड़े समय के लिये भले ही बढ़ा लें, पर वस्तुतः अपनी और दूसरों की इस प्रकार भारी कुसेवा होनी सम्भव है।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम इस पुस्तक के पाठकों और अनुयायियों को सावधान करते हैं, कड़े शब्दों में आदेश करते हैं कि वे अपनी सिद्धियों को गुप्त रखें, किसी के सामने प्रकट न करें। जो दैवी चमत्कार अपने को दृष्टिगोचर हों, उन्हें विश्वस्त अभिन्न हृदय मित्रों के अतिरिक्त और किसी से न कहें। आवश्यकता होने पर ऐसी घटनाओं के सम्बन्ध में शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार से भी परामर्श किया जा सकता है। गायत्री साधकों की यह जिम्मेदारी है कि वे प्राप्त शक्ति का रत्तीभर भी दुरुपयोग न करें। हम सावधान करते हैं कि कोई साधक इस मर्यादा का उल्लंघन न करे।

गायत्री द्वारा वाममार्गी तान्त्रिक साधनायें

इस पुस्तक के प्रारम्भिक पृष्ठों में गायत्री की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए यह बताया जा चुका है कि ब्रह्मा से शक्ति की उत्पत्ति हुई और वह शक्ति दो विभागों में बँटी। एक संकल्पमयी गायत्री, दूसरी परमाणुमयी सावित्री। संकल्पमयी गायत्री का उपयोग आत्मिक शक्तियों को बढ़ाने एवं दैवी सान्निध्य प्राप्त करने में होता है। आत्मिक गुणों और विशेषताओं के बढ़ने के कारण साधक को सांसारिक कठिनाइयाँ पार करना, स्वल्प साधन में भी सुखी रहना एवं सुखकर स्थिति को उपलब्ध करना सहज होता है। अब तक इसी विधि-विधान की चर्चा इस पुस्तक में की गयी है। यह योग विज्ञान है, इसे दक्षिण मार्ग भी कहते हैं। यह सत् प्रधान होने से हानि रहित एवं व्यक्ति तथा समाज के लिये सब प्रकार हितकर है।

शक्ति की दूसरी श्रेणी परमाणुमयी सावित्री है। इसे स्थूल प्रकृति, पंचभूत, भौतिक सृष्टि आदि नामों से भी पुकारते हैं। इसमें प्रकृति के परमाणुओं के आकर्षण-विकर्षण से संसार में नाना प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति, वृद्धि और समाप्ति होती रहती है। इन परमाणुओं की स्वाभाविक साधारण क्रिया में हेर-फेर करके अपने लिये अधिक उपयोगी बना लेने की क्रिया का नाम विज्ञान है। यह विज्ञान दो भागों में विभक्त है—एक वह जो यन्त्रों द्वारा प्रकृति के परमाणुओं को अपने लिये उपयोगी बनाता है। रेल, तार, टेलीफोन, रेडियो, हवाई जहाज, टेलीविजन, विद्युत् शक्ति आदि अनेकों वैज्ञानिक यन्त्र आविष्कृत हुए हैं और होने वाले हैं। यह यन्त्र विज्ञान है। दूसरा है तन्त्र विज्ञान - जिसमें यन्त्रों के स्थान पर मानव अन्तराल में रहने वाली विद्युत् शक्ति को कुछ ऐसी विशेषता से सम्पन्न बनाया जाता है, जिससे प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु उसी स्थिति में परिणत हो जाते हैं, जिसमें कि मनुष्य चाहता है। पदार्थों की रचना, परिवर्तन और विनाश का बड़ा भारी काम बिना किन्हीं यन्त्रों की सहायता के तन्त्र विद्या द्वारा हो सकता है। विज्ञान के इस तन्त्र भाग को सावित्री-विद्या, तन्त्र साधना, वाममार्ग आदि नामों से पुकारते हैं।

तन्त्र-विद्या एक स्वतंत्र विद्या है। इस पुस्तक में उसके आधार और कार्य की चर्चा नहीं की जा सकती। इन पंक्तियों में तो हमें तंत्र के विज्ञान का पाठकों को थोड़ा-सा परिचय कराना है। प्राचीनकाल में भारत के विज्ञानाचार्य अनेक प्रयोजनों के लिये इसी मार्ग का अवलम्बन करते थे। प्राचीन इतिहास में ऐसी अनेक साक्षियाँ मिलती हैं, जिनसे प्रकट होता है कि उस समय बिना यन्त्रों के भी ऐसे अद्‌भुत कार्य होते थे, जैसे आज यन्त्रों से भी संभव नहीं हो पाते हैं। युद्धों में आज अनेक प्रकार के बहुमूल्य वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र प्रयुक्त होते हैं, पर प्राचीनकाल में

जैसे—वरुणास्त्र-जो जल की भारी वर्षा कर दे, आग्नेयास्त्र—जो भयंकर अग्नि ज्वाला का दावानल प्रकट कर दे, सम्मोहनास्त्र—जो लोगों को संज्ञाशून्य बना दे, नागपाश—जो लकवे की तरह जकड़ दे, आज कहाँ हैं ? इसी प्रकार इंजन, भाप, पेट्रोल के बिना आकाश में, भूमि पर और जल में चलने वाले रथ आज कहाँ हैं ? मारीच की तरह मनुष्य से पशु बन जाना, सुरसा की तरह बहुत बड़ा शरीर बना लेना, हनुमान् की तरह मच्छर के समान अति लघु रूप धारण करना, समुद्र लाँघना, पर्वत उठाना, नल की भाँति पानी पर तैरने वाले पत्थरों का पुल बनाना, रावण-अहिरावण की भाँति बिना रेडियो के अमरीका और लंका के बीच वार्त्तालाप होना, अदृश्य हो जाना आदि अनेकों ऐसे अद्भुत कार्य थे, जो आज यन्त्रों से भी नहीं हो पाते, पर एक समय, बिना किसी यन्त्र की सहायता के, केवल आत्मशक्ति व तान्त्रिक उपयोग से सुगमता पूर्वक हो जाते थे । इस क्षेत्र में भारत भारी उन्नति कर चुका था और संसार पर चक्रवर्ती शासन करने एवं जगद्गुरु कहलाने का यह भी एक कारण था ।

नागार्जुन, गोरखनाथ, मछीन्द्रनाथ आदि सिद्ध पुरुषों के पश्चात् भारत से इस विद्या का लोप होता गया और आज तो इस क्षेत्र में अधिकार रखने वाले व्यक्ति कठिनाई से ढूँढ़े मिलेंगे । इस तन्त्र महाविज्ञान की कुछ लँगड़ी-लूली, टूटी-फूटी, शाखा-प्रशाखायें जहाँ-तहाँ मिलती हैं, उनके चमत्कार दिखाने वाले जहाँ-तहाँ मिल पाते हैं । उनमें से एक शाखा है "दूसरों के शरीर मन पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालना", जो इसे कर सकते हैं, वे यदि अभिचार करें , तो स्वस्थ आदमी को रोगी बना सकते हैं, किसी भयंकर प्राणघातक पीड़ा, वेदना या बीमारी में अटका सकते हैं, उस पर प्राणघातक सूक्ष्म प्रहार कर सकते हैं, किसी की बुद्धि को फेर सकते हैं, उसे पागल, उन्मत्त, विक्षिप्त, मन्दबुद्धि या उल्टा सोचने वाला कर सकते हैं । भ्रम, भय, सन्देह, आशंका और बेचैनी के गहरे दलदल में फँसाकर उसके मानसिक धरातल को अस्त-व्यस्त कर सकते हैं । इसी प्रकार अप्रत्यक्ष चेतना शक्ति द्वारा किसी व्यक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ा हो, तो उसे दूर कर सकते हैं । नजर लगना, उन्माद, भूतोन्माद, ग्रह अनिष्ट, बुरे दिन, किसी के द्वारा प्रेरित अभिचार या मानसिक उद्वेग आदि को शान्त किया जा सकता है । शारीरिक रोगों का निवारण, सर्प, बिच्छू आदि का दंशन एवं विषैले फोड़ों का समाधान भी मन्त्र द्वारा होता है । छोटे बालकों पर इस विद्या का बड़ी आसानी से भला या बुरा प्रभाव डाला जा सकता है ।

तन्त्र साधना द्वारा सूक्ष्म जगत् में विचरण करने वाली अनेक चेतना ग्रन्थियों में से किसी विशेष प्रकार की ग्रन्थि को अपने लिये जाग्रत्, चैतन्य, क्रियाशील एवं अनुचरी बनाया जा सकता है । देखा गया है कि कई तांत्रिकों को श्मशान, पिशाच, भैरव, छाया पुरुष, ब्रह्म-राक्षस, वेताल, कर्ण-पिशाचिनी, त्रिपुर-सुन्दरी, कालरात्रि, दुर्गा आदि की सिद्धि होती है । जैसे कोई सेवक प्रत्यक्ष शरीर से किसी के यहाँ नौकर रहता है और मालिक की आज्ञानुसार काम करता है, वैसे ही यह शक्तियाँ अप्रत्यक्ष रूप से उस तन्त्रसिद्ध पुरुष के वश में होकर सदा उसके समीप उपस्थित रहती हैं और जो आज्ञा दी जाती है, उसको वे अपनी सामर्थ्यानुसार पूरा करती हैं । इस रीति से कई बार ऐसे-ऐसे अद्भुत काम किये जाते हैं कि उनके कारण आश्चर्य से दंग हो जाना पड़ता है ।

होता यह है कि अदृश्य लोक की "चेतना ग्रन्थियाँ" सदा विचरण करती रहती हैं । तांत्रिक साधना-विधानों द्वारा अपने योग्य ग्रन्थियों को पकड़कर उनमें प्राण डाला जाता है । जब वे प्राणवान् हो जाती हैं, तब उनका सीधा आक्रमण साधक पर होता है, यदि साधक अपनी आत्मिक बलिष्ठता द्वारा उस आक्रमण को सह गया, उससे परास्त न हुआ, तो प्रतिहत होकर वह ग्रन्थि उसके वशवर्ती हो जाती है और चौबीसों घण्टे के साथी, आज्ञाकारी सेवक की तरह काम करती हैं । ऐसी साधनायें बड़े खतरे से भरी हुई होती हैं । निर्जन, श्मशान आदि भयंकर प्रदेशों में ऐसी रोमांचकारी विधि-व्यवस्था का प्रयोग करना पड़ता है, जिससे साधारण मनुष्य का कलेजा दहल जाता है । उस समय ऐसे-ऐसे घोर अनुभव होते हैं , जिनसे डर जाने, बीमार पड़ जाने, पागल हो जाने या मृत्यु के मुख में चले जाने की आशंका रहती है । ऐसी साधनायें हर कोई नहीं कर सकता । कर ले, तो सिद्धि मिलने पर उन अदृश्य शक्तियों को साथ रखने की कष्टसाध्य शर्तें होती हैं, उन्हें पालन नहीं कर सकता । यही कारण है कि इस मार्ग पर चलने का कोई बिरले ही साहस करते हैं, उनमें से कोई बिरले ही सफल होते हैं और जो सफल होते हैं, उनमें से कोई बिरले ही अन्त काल तक उनसे समुचित लाभ उठा पाते हैं ।

यहाँ तन्त्र साधना की किन्हीं विधियों को बताने का हमारा कोई इरादा नहीं है ; क्योंकि उन गुप्त रहस्यों को जनसाधारण के लिये प्रकाशित कर देने का अर्थ-बालकों के क्रीड़ा-स्थल में बारूद बिखेर देना है । जिनमें वे बेचारे क्रीड़ा-कौतुक करने के उपलक्ष्य में सर्वनाश का उपहार प्राप्त करें । यह परम्परा तो अधिकार और अधिकारी के आधार पर एक-दूसरे को सिखाने की रही है । हमें स्वयं इस मार्ग पर प्राण घातक खतरे में होकर गुजरने का कटु अनुभव है, फिर भोले-भाले पाठकों को कोई खतरा उपस्थित कर देने के लिये उस शिक्षण विधि को लिख मारने की भूल हम कैसे कर सकते हैं ? इन पंक्तियों में तो हमारा इरादा केवल यह बताने का है कि प्रकृति की परमाणुमयी शक्ति पर भी आत्मिक विद्युत् द्वारा भूतकाल में अधिकार प्राप्त किया जा चुका है और आगे भी प्राप्त किया जा सकता है ।

यह ठीक है कि आज ऐसे व्यक्ति दिखाई नहीं पड़ते, जो प्रत्यक्ष रूप से यह प्रमाण दे सकें कि किस प्रकार अमुक यन्त्र का काम, अन्दर की बिजली से अमुक प्रकार हो सकता है । यह विद्या विगत दो हजार वर्षों से धीरे-धीरे विलुप्त होती चली गयी है और अब तो इस विद्या के ज्ञाता ढूँढ़े नहीं मिलते । वैसे तो वैज्ञानिक यन्त्रों के अनेक आविष्कारों के कारण उतनी आवश्यकता आज नहीं रही, फिर भी उस महाविद्या का प्रकाश तो जारी रहना ही चाहिये । यह आज के तांत्रिकों का कर्त्तव्य है कि इस लुप्त प्राय सावित्री विद्या को अथक परिश्रम द्वारा पुनर्जीवित करके भारतीय विज्ञान की महत्ता संसार के सामने प्रतिष्ठित करें । आज के तांत्रिक जितना कर लेते हैं यद्यपि यह भी कम महत्त्वपूर्ण और कम आश्चर्यजनक नहीं है, फिर भी इस मार्ग के पथिकों को तब तक चैन नहीं लेना चाहिये, जब तक कि परमाणु प्रकृति पर आत्मशक्ति द्वारा अधिकार करने के विज्ञान में पूर्वकाल जैसी सफलता प्राप्त न हो जाए ।

वर्तमान काल में तन्त्र का जितना अंश प्रचलित, ज्ञात एवं क्रियान्वित है, उसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है । मनुष्यों पर अदृश्य प्रकार से भला या बुरा प्रभाव डालना आज के तन्त्र विज्ञान की मर्यादा है । वस्तुओं का रूपान्तर, परिवर्तन, प्रकटीकरण, लोप एवं विशेष जाति के परमाणुओं का एकीकरण करके उनके शक्तिशाली प्रयोग का भाग आज प्राय: लुप्त है । चैतन्य ग्रन्थियों का जागरण और उनको वशवर्ती बनाकर आज्ञापालन कराने में विक्रमादित्य के समान साधक आज नहीं हैं, पर किन्हीं अंशों में इस विद्या का अस्तित्व मौजूद अवश्य है ।

साथ ही इस सम्बन्ध में हम एक बात यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इस समय तन्त्र के नाम पर सर्व साधारण को बहकाने वाले या ठगने वाले लोगों की बहुतायत हो गयी है । ऐसे लोग धन के लालच से या पारस्परिक राग-द्वेष के कारण अन्य व्यक्तियों को हानि पहुँचाने की चेष्टा किया करते हैं । उनके प्रयत्न कहाँ तक सफल होते हैं अथवा उनके कथन में कहाँ तक सच्चाई होती है, यह तो दूसरी बात है, पर इतना अवश्य है कि ऐसे लोगों के कार्यों के परिणामस्वरूप इस विद्या की बदनामी होती है और इसे लोग श्रेष्ठजनों के अनुपयुक्त समझने लगते हैं । यह अवस्था सर्वथा अवांछनीय है और जो लोग ऐसा कुकृत्य करते हैं , वे निस्संदेह दण्ड के भागी हैं ।

तन्त्र-शास्त्र में अनेक मन्त्र हैं , पर उन सब मन्त्रों का कार्य गायत्री से भी हो सकता है । गायत्री की संकल्प शक्ति की साधना इस पुस्तक में सविस्तार लिखी जा चुकी है, क्योंकि वह सर्व हितकारी, सुलभ और सर्वमंगलमय है । परमाणुमयी तन्त्र प्रधान, वाममार्गी सावित्री-विद्या का विषय गोपनीय है । इसका परिचय मात्र इन पंक्तियों में कर दिया गया है । इस सम्बन्ध में गुप्त बातों पर प्रकाश डालना और तत्सम्बन्धी साधनायें प्रकाशित करना जनसाधारण के हित में अनुपयुक्त है, इसलिये इस लेख को अधिक न बढ़ाकर यहीं समाप्त किया जाता है ।

गायत्री द्वारा कुण्डलिनी जागरण

शरीर में अनेक साधारण और अनेक असाधारण अंग हैं । असाधारण अंग जिन्हें 'मर्म स्थान' कहते हैं, केवल इसलिये मर्म स्थान नहीं कहे जाते कि वे बहुत सुकोमल एवं उपयोगी होते हैं, वरन् इसलिये भी कहे जाते हैं कि इनके भीतर गुप्त आध्यात्मिक शक्तियों के महत्त्वपूर्ण केन्द्र होते हैं । इन केन्द्रों में वे बीज सुरक्षित रखे रहते हैं , जिनका उत्कर्ष, जागरण हो जाये, तो मनुष्य कुछ से कुछ बन सकता है । उसमें आत्मिक शक्तियों के स्रोत उमड़

सकते हैं और उस उभार के फलस्वरूप वह ऐसी अलौकिक शक्तियों का भण्डार बन सकता है, जो साधारण लोगों के लिये "अलौकिक आश्चर्य" से कम प्रतीत नहीं होती।

ऐसे मर्मस्थलों में मेरुदण्ड या रीढ़ का प्रमुख स्थान है। यह शरीर की आर्धार शिला है। यह मेरुदण्ड छोटे-छोटे तैंतीस अस्थि खण्डों से मिलकर बना है। इस प्रत्येक खण्ड में तत्त्वदर्शियों को ऐसी विशेष शक्तियाँ परिलक्षित होती हैं, जिनका सम्बन्ध दैवी शक्तियों से है। देवताओं में जिन शक्तियों का केन्द्र होता है, वे शक्तियाँ भिन्न-भिन्न रूप में मेरुदण्ड के इन अस्थि-खण्डों में पायी जाती हैं, इसलिये यह निष्कर्ष निकाला गया है कि मेरुदण्ड तैंतीस देवताओं का प्रतिनिधित्व करता है। आठ वसु, बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, इन्द्र और प्रजापति इन तैंतीसों की शक्तियाँ उसमें बीज रूप से उपस्थित रहती हैं।

इस पोले मेरुदण्ड में शरीर विज्ञान के अनुसार नाड़ियाँ हैं और वे विविध कार्यों में नियोजित रहती हैं। अध्यात्म विज्ञान के अनुसार उनमें प्रमुख नाड़ियाँ हैं—(१) इड़ा, (२) पिंगला, (३) सुषुम्ना। यह तीन नाड़ियाँ मेरुदण्ड को चीरने पर प्रत्यक्ष रूप से आँखों द्वारा नहीं देखी जा सकतीं, इनका सम्बन्ध सूक्ष्म जगत् से है। यह एक प्रकार का विद्युत् प्रवाह है। जैसे बिजली से चलने वाले यन्त्रों में नेगेटिव और पोजेटिव, ऋण और धन धारायें दौड़ती हैं और उन दोनों का जहाँ मिलन होता है, वहीं शक्ति पैदा हो जाती है। इसी प्रकार इड़ा को नेगेटिव, पिंगला को पोजेटिव कह सकते हैं। इड़ा को चन्द्र नाड़ी और पिंगला को सूर्य नाड़ी भी कहते हैं। मोटे शब्दों में इन्हें ठण्डी-गरम धारायें कहा जा सकता है। दोनों के मिलने से जो तीसरी शक्ति उत्पन्न होती है, उसे सुषुम्ना कहते हैं। प्रयाग में गंगा और यमुना मिलती हैं। इस मिलन से एक तीसरी सूक्ष्म सरिता और विनिर्मित होती है, जिसे सरस्वती कहते हैं। इस प्रकार तीन नदियों से त्रिवेणी बन जाती है। मेरुदण्ड के अन्तर्गत भी ऐसी आध्यात्मिक त्रिवेणी है। इड़ा, पिंगला की दो धारायें मिलकर सुषुम्ना की सृष्टि करती हैं और एक पूर्ण त्रिवर्ग बन जाता है।

यह त्रिवेणी ऊपर मस्तिष्क के मध्य केन्द्र से, ब्रह्मरन्ध्र से, सहस्रार कमल से सम्बन्धित और नीचे मेरुदण्ड का जहाँ नुकीला अन्त है, वहाँ लिंग मूल और गुदा के बीच 'सीवन' स्थान की सीध में पहुँच कर रुक जाती है, यही इस त्रिवेणी का आदि- अन्त है।

सुषुम्ना नाड़ी के भीतर एक और त्रिवर्ग है। उसके अन्तर्गत भी तीन अत्यन्त सूक्ष्म धारायें प्रवाहित होती हैं, जिन्हें वज्रा, चित्रणी और ब्रह्म नाड़ी कहते हैं। जैसे केले के तने को काटने पर उसमें एक के भीतर एक परत दिखाई पड़ती है, वैसे ही सुषुम्ना के भीतर वज्रा है। वज्रा के चित्रणी और चित्रणी के भीतर ब्रह्मनाड़ी है। यह ब्रह्म नाड़ी सब नाड़ियों का मर्मस्थल, केन्द्र एवं शक्तिसार है। इस मर्म की सुरक्षा के लिये ही उस पर इतने परत चढ़े हैं।

यह ब्रह्मनाड़ी मस्तिष्क के केन्द्र में — ब्रह्मरन्ध्र में-पहुँचकर हजारों भागों में चारों ओर फैल जाती है, इसी से उस स्थान को सहस्रदल कमल कहते हैं, विष्णुजी की शय्या शेषजी के सहस्र फनों पर होने का अलंकार भी इस सहस्रदल कमल से ही लिया गया है। भगवान् बुद्ध आदि अवतारी पुरुषों के मस्तक पर एक विशेष प्रकार के गुञ्जलकदार बालों का अस्तित्व हम उनकी मूर्तियों अथवा चित्रों में देखते हैं। यह इस प्रकार के बाल नहीं हैं, वरन् सहस्रदल कमल का कलात्मक चित्र है। यह सहस्रदल सूक्ष्म लोकों में, विश्व-व्यापी शक्तियों से सम्बन्धित है। रेडियो - ट्रांसमीटर से ध्वनि विस्तारक तन्तु फैलाये जाते हैं, जिन्हें 'एरियल' कहते हैं। तन्तुओं के द्वारा सूक्ष्म आकाश में ध्वनि को फेंका जाता है और बढ़ती हुई तरंगों को पकड़ा जाता है। मस्तिष्क का 'एरियल' सहस्रार कमल है। उसके द्वारा परमात्म-सत्ता की अनन्त शक्तियों को सूक्ष्म लोक में से पकड़ा जाता है। जैसे भूखा अजगर जब जाग्रत् होकर लम्बी साँसें खींचता है, तो आकाश में उड़ते पक्षियों को अपनी तीव्र शक्ति से जकड़ लेता है और वे मन्त्रमुग्ध की तरह खिंचते हुए अजगर के मुँह में चले जाते हैं। उसी प्रकार जाग्रत् हुआ सहस्रमुखी शेषनाग-सहस्रार कमल अनन्त प्रकार की सिद्धियों को लोक-लोकान्तरों से खींच लेता है। जैसे कोई अजगर जब क्रुद्ध होकर विषैली फुँफकार मारता है, तो एक सीमा तक वायु मण्डल को विषैला कर देता है, उसी प्रकार जाग्रत् हुए सहस्रार कमल द्वारा शक्तिशाली भावना तरंगें प्रवाहित करके साधारण जीव-जन्तुओं एवं मनुष्यों को ही नहीं वरन् सूक्ष्म लोकों की आत्माओं को भी प्रभावित और आकर्षित किया जा सकता है। शक्तिशाली ट्रांसमीटर द्वारा

किया हुआ अमेरिका का ब्राडकास्ट भारत में सुना जाता है। शक्तिशाली सहस्रार द्वारा निक्षेपित भावना प्रवाह भी लोक-लोकान्तरों के सूक्ष्म तत्त्वों को हिला देता है।

अब मेरुदण्ड के नीचे के भाग को, मूल को लीजिये। सुषुम्ना के भीतर रहने वाली तीन् नाड़ियों में सबसे सूक्ष्म ब्रह्म नाड़ी मेरुदण्ड के अन्तिम भाग के समीप एक काले वर्ण के षट्कोण वाले परमाणु से लिपटकर बँध जाती है। छप्पर को मजबूत बाँधने के लिये दीवार में खूँटे गाड़ते हैं और उन खूँटों में छप्पर से सम्बन्धित रस्सी को बाँध देते हैं। इसी प्रकार उस षट्कोण कृष्ण वर्ण परमाणु से ब्रह्म नाड़ी को बाँधकर इस शरीर से प्राणों के छप्पर को जकड़ देने की व्यवस्था की गयी है।

कूर्म से ब्रह्मनाड़ी के गुन्थन स्थल को आध्यात्मिक भाषा में 'कुण्डलिनी' कहते हैं। जैसे काले रंग का होने से आदमी का नाम कलुआ भी पड़ जाता है, वैसे ही कुण्डलाकार बनी हुई, इस आकृति को 'कुण्डलिनी' कहा जाता है। यह साढ़े तीन लपेटे उस कूर्म में लगाये हुए है और मुँह नीचे को है। विवाह संस्कारों में इसी की नकल करके "भाँवर या फेरे" होते हैं। साढ़े तीन (सुविधा की दृष्टि से चार) परिक्रमा किये जाने और मुँह नीचा किये जाने का विधान इस कुण्डलिनी के आधार पर ही रखा गया है, क्योंकि भावी जीवन-निर्माण की व्यवस्थित आधार शिला, पति-पत्नी का कूर्म और ब्रह्मनाड़ी मिलन वैसा ही महत्त्वपूर्ण है जैसा कि शरीर और प्राण को जोड़ने में कुण्डलिनी का महत्त्व है।

इस कुण्डलिनी की महिमा, शक्ति और उपयोगिता इतनी अधिक है कि उसको भली प्रकार समझने में मनुष्य की बुद्धि लड़खड़ा जाती है। भौतिक विज्ञान के अन्वेषकों के लिये आज 'परमाणु' एक पहेली बना हुआ है। उसके तोड़ने की एक क्रिया मालूम हो जाने का चमत्कार दुनिया ने प्रलयंकर परमाणु बम के रूप में देख लिया। अभी उसके अनेकों विध्वंसक और रचनात्मक पहलू बाकी हैं। सर आर्थर का कथन है कि—"यदि परमाणु शक्ति का पूरा ज्ञान और उपयोग मनुष्य को मालूम हो गया, तो उसके लिये कुछ भी असंभव नहीं रहेगा। यह सूर्य के टुकड़े-टुकड़े करके उसे गर्द में मिला सकेगा और जो चाहेगा, वह वस्तु या प्राणी मनमाने ढंग से पैदा कर लिया करेगा। ऐसे-ऐसे यन्त्र उसके पास होंगे, जिनसे सारी पृथ्वी एक मुहल्ले में रहने वाली आबादी की तरह हो जायेगी। कोई व्यक्ति चाहे कहीं क्षण भर में आ जा सकेगा और चाहे जिससे चाहे जो वस्तु ले दे सकेगा तथा देश-देशान्तरों में स्थित लोगों से ऐसे ही घुल - मिलकर वार्त्तालाप कर सकेगा, जैसे दो मित्र आपस में बैठे-बैठे गप्पें लड़ाते रहते हैं।" जड़ जगत् के एक परमाणु की शक्ति इतनी कूती जा रही है कि उसकी महत्ता को देखकर आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। फिर चैतन्य जगत् का एक स्फुल्लिंग जो जड़ परमाणु की अपेक्षा अनन्त गुना शक्तिशाली है, कितना अद्‌भुत होगा, इसकी तो कल्पना कर सकना भी कठिन है।

योगियों में अनेक प्रकार की अद्‌भुत शक्तियाँ होने के वर्णन और प्रमाण हमें मिलते हैं। योग की ऋद्धि—सिद्धियों की अनेक गाथायें सुनी जाती हैं। उनसे आश्चर्य होता है और विश्वास नहीं होता कि यह कहाँ तक ठीक है, पर जो लोग विज्ञान से परिचित हैं और जड़ परमाणु तथा चैतन्य स्फुल्लिंग को जानते हैं, उनके लिये इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। जिस प्रकार आज परमाणु की शोध में प्रत्येक देश के वैज्ञानिक व्यस्त हैं, उसी प्रकार पूर्वकाल में आध्यात्मिक विज्ञानवेत्ताओं ने, तत्त्वदर्शी ऋषियों ने मानव-शरीर के अन्तर्गत एक बीज परमाणु की अत्यधिक शोध की थी। दो परमाणुओं को तोड़ने, मिलाने या स्थानांतरित करने का सर्वोच्च स्थान कुण्डलिनी केन्द्र में होता है, क्योंकि अन्य सब जगह के चैतन्य परमाणु गोल और चिकने होते हैं, पर कुण्डलिनी में यह मिथुन लिपटा हुआ है। जैसे यूरेनियम और प्लेटोनियम धातु में परमाणुओं का गुन्थन कुछ ऐसे टेढ़े-तिरछे ढंग से होता है कि उनका तोड़ा जाना अन्य पदार्थों के परमाणुओं की अपेक्षा अधिक सरल है, उसी प्रकार कुण्डलिनी स्थित स्फुल्लिंग परमाणुओं की गतिविधि को इच्छानुकूल संचालित करना अधिक सुगम है। इसलिये प्राचीनकाल में कुण्डलिनी जागरण की उतनी ही तत्परता से शोध हुई थी, जितनी कि आजकल परमाणु विज्ञान के बारे में हो रही है। इन शोधों के परीक्षणों और प्रयोगों के फलस्वरूप उन्हें ऐसे कितने ही रहस्य भी करतलगत हुए थे, जिन्हें आज 'योग के चमत्कार' के नाम से पुकारते हैं।

मैडम ब्लेवेटस्की ने कुण्डलिनी शक्ति के बारे में काफी खोजबीन की है। वे लिखती हैं—"कुण्डलिनी विश्वव्यापी सूक्ष्म विद्युत् शक्ति है, जो स्थूल बिजली की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशालिनी है, इसकी चाल सर्प की चाल की तरह टेढ़ी है, इससे इसे सर्पाकार कहते हैं। प्रकाश एक लाख पचासी हजार मील प्रति सेकण्ड चलता है, पर कुण्डलिनी की गति एक सेकण्ड में ३४५००० मील है।" पाश्चात्य वैज्ञानिक इसे "स्प्रिट-फायर" "सरपेन्टलपावर" कहते हैं। इस सम्बन्ध में सर जान बुडरफ ने भी बहुत विस्तृत विवेचन किया है।

कुण्डलिनी को गुप्त शक्तियों की तिजोरी कहा जा सकता है। बहुमूल्य रत्नों को रखने के लिये किसी अज्ञात स्थान में गुप्त परिस्थितियों में तिजोरी रखी जाती है और उसमें कई ताले लगा दिये जाते हैं; ताकि घर या बाहर के अनधिकारी लोग उस खजाने में रखी हुई सम्पत्ति को न ले सकें। परमात्मा ने हमें शक्तियों का अक्षय भण्डार देकर उसमें छः ताले लगा दिये। ताले इसलिये लगा दिये हैं कि वे जब पात्रता आ जाये, धन के उत्तरदायित्व को ठीक प्रकार समझने लगें, तभी वह सब प्राप्त हो सके। उन छहों तालों की ताली मनुष्य को ही सौंप दी गयी है, ताकि वह आवश्यकता के समय तालों को खोलकर उचित लाभ उठा सके।

षट्—चक्र
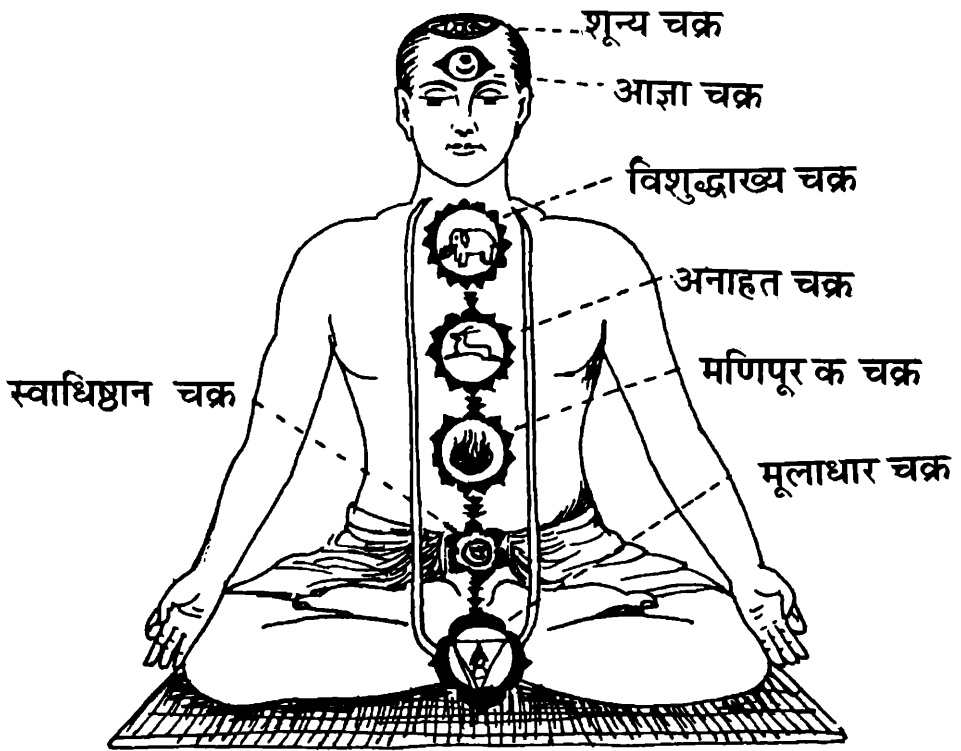
यह छ: ताले जो कुण्डलिनी पर लगे हुए हैं, छ: चक्र कहलाते हैं । इन चक्रों को वेधन करके जीव कुण्डलिनी के समीप पहुँच सकता है और उसका यथोचित उपयोग करके जीवन-लाभ प्राप्त कर सकता है । सब लोगों की कुण्डलिनी साधारणत: अस्त-व्यस्त अवस्था में पड़ी रहती है, पर जब उसे जगाया जाता है, तो वह अपने स्थान पर से हट जाती है और उस लोक में प्रवेश कर जाने देती है, जिसमें परमात्म-शक्तियों की प्राप्ति हो जाती है । बड़े-बड़े गुप्त खजाने जो प्राचीनकाल से भूमि में छिपे पड़े होते हैं, उन पर सर्प की चौकीदारी पाई जाती है । खजाने के मुख पर कुण्डलीदार सर्प बैठा रहता है और चौकीदारी किया करता है । देवलोक भी ऐसा ही खजाना है, जिसके मुँह पर षट्कोण कूर्म की शिला रक्खी हुई है और शिला से लिपटी हुई भयंकर सर्पिणी कुण्डलिनी बैठी है । वह सर्पिणी अधिकारी पात्र की प्रतीक्षा में बैठी होती है । जैसे ही कोई अधिकारी उसके समीप पहुँचता है, वह उसे रोकने या हानि पहुँचाने की अपेक्षा अपने स्थान से हटकर उसको रास्ता दे देती है और उसका कार्य समाप्त हो जाता है ।

कुण्डलिनी—जागरण के लाभों पर प्रकाश डालते हुए एक अनुभवी साधक ने लिखा है—"भगवती कुण्डलिनी की कृपा से साधक सर्वगुण सम्पन्न होता है । सब कलायें, सब सिद्धियाँ उसे अनायास प्राप्त हो जाती हैं । ऐसे साधक का शरीर १०० वर्ष तक बिल्कुल स्वस्थ और सुदृढ़ रहता है । वह अपना जीवन परमात्मा की सेवा में लगा देता है और उसके आदेशानुसार लोकोपकार करते हुए अन्त में स्वेच्छा से अपना कलेवर छोड़ जाता है । कुण्डलिनी शक्ति सम्पन्न व्यक्ति पूर्ण निर्भय और आनन्दमय रहता है । भगवती की उस पर पूर्ण कृपा रहती है और वह स्वयं सदैव अपने ऊपर उसकी छत्रछाया होने का अनुभव करता है । उसके कानों में माता के ये शब्द गूँजते रहते हैं कि —भय नहीं, मैं तुम्हारे पीछे खड़ी हूँ ।" इसमें सन्देह नहीं कि कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव से मनुष्य का दृष्टिकोण दैवी हो जाता है और इस कारण उसका व्यक्तित्व सब प्रकार से शक्ति सम्पन्न और सुखी बन जाता है ।

मस्तिष्क के ब्रह्मरन्ध्र में बिखरे हुए सहस्रदल भी साधारणत: उसी प्रकार प्रसुप्त अवस्था में पड़े रहते हैं, जैसे कि कुण्डलिनी सोया करती है । उतने बहुमूल्य यन्त्रों और कोषों के होते हुए भी मनुष्य साधारणत: बड़ा दीन, दुर्बल, तुच्छ, क्षुद्र, विषय-विकारों का गुलाम बनकर कीट-पतंगों की तरह जीवन व्यतीत करता है और दु:ख-दारिद्र्य की दासता में बँधा हुआ फड़फड़ाया करता है, पर जब इन यन्त्रों और रत्नागारों से परिचित होकर उनके उपयोग को जान लेता है, उन पर अधिकार कर लेता है, तो वह परमात्मा के सच्चे उत्तराधिकारी की समस्त योग्यताओं और शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है । कुण्डलिनी जागरण से होने वाले लाभों के सम्बन्ध में योग-शास्त्रों में बड़ा विस्तृत और आकर्षक वर्णन है । उन सबकी चर्चा न करके यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से इस विश्व में जो कुछ है , वह सब कुछ मिल सकता है । उसके लिये कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रहती ।

षट्चक्रों का वेधन

कुण्डलिनी की शक्ति के मूल तक पहुँचने के मार्ग में छ: फाटक हैं अथवा यों कहना चाहिये कि छ: ताले लगे हुए हैं । यह फाटक या ताले खोलकर ही कोई जीव उन शक्ति-केन्द्रों तक पहुँच सकता है । इन छ: अवरोधों को आध्यात्मिक भाषा में 'षट्चक्र' कहते हैं ।

सुषुम्ना के अन्तर्गत रहने वाली तीन नाड़ियों में सबसे भीतर स्थित ब्रह्मनाड़ी से वह छ: चक्र सम्बन्धित हैं । माला के सूत्र में पिरोये हुए कमल पुष्पों से इनकी उपमा दी जाती है । पिछले पृष्ठ पर दिये गये चित्र में पाठक यह देख सकेंगे कि कौन-सा चक्र किस स्थान पर है । मूलाधार चक्र योनि की सीध में, स्वाधिष्ठान चक्र पेडू की सीध में, मणिपूर चक्र नाभि की सीध में, अनाहत चक्र हृदय की सीध में, विशुद्धाख्य चक्र कण्ठ की सीध में और आज्ञा चक्र भृकुटि के मध्य में अवस्थित है । उनसे ऊपर सहस्रार है ।

सुषुम्ना तथा उसके अन्तर्गत रहने वाली चित्रणी आदि नाड़ियाँ इतनी सूक्ष्म हैं कि उन्हें साधारण नेत्रों से देख सकना कठिन है । फिर उनसे सम्बन्धित यह चक्र तो और भी सूक्ष्म हैं । किसी शरीर को चीर-फाड़ करते समय इन चक्रों को नस-नाड़ियों की तरह स्पष्ट रूप से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि हमारे चर्म-चक्षुओं की वीक्षण शक्ति

बहुत ही सीमित है। शब्द की तरंगें, वायु के परमाणु तथा रोगों के कीटाणु हमें आँखों से दिखाई नहीं पड़ते, तो भी उनके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। इन चक्रों को योगियों ने अपनी योग दृष्टि से देखा है और उनका वैज्ञानिक परीक्षण करके महत्त्वपूर्ण लाभ उठाया है और उनके व्यवस्थित विज्ञान का निर्माण करके योग-मार्ग के पथिकों के लिये उसे उपस्थित किया है।

'षट्चक्र' एक प्रकार की सूक्ष्म ग्रन्थियाँ हैं, जो ब्रह्मनाड़ी के मार्ग में बनी हुई हैं। इन चक्र ग्रन्थियों में जब साधक अपने ध्यान को केन्द्रित करता है, तो उसे वहाँ की सूक्ष्म स्थिति का बड़ा विचित्र अनुभव होता है। वे ग्रन्थियाँ गोल नहीं होतीं; वरन् उनमें इस प्रकार के कोण निकले होते हैं, जैसे पुष्प में पंखुड़ियाँ होती हैं। इन कोष या पंखुड़ियों को 'पद्मदल' कहते हैं। यह एक प्रकार के तन्तु-गुच्छक हैं।

इन चक्रों के रंग भी विचित्र प्रकार के होते हैं, क्योंकि किसी ग्रन्थि में कोई और किसी में कोई तत्त्व प्रधान होता है। इस तत्त्व प्रधानता का उस स्थान के रक्त पर प्रभाव पड़ता है और उसका रंग बदल जाता है। पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता का मिश्रण होने से गुलाबी, अग्नि से नीला, वायु से शुद्ध लाल और आकाश से धुमैला हो जाता है। यही मिश्रण चक्रों का रंग बदल देता है।

घुन नामक कीड़ा लकड़ी को काटता चलता है, तो उस काटे हुए स्थान की कुछ आकृतियाँ बन जाती हैं। उन चक्रों में होता हुआ प्राण वायु आता-जाता है, उसका मार्ग उस ग्रन्थि की स्थिति के अनुसार कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होता है, इस गति की आकृति कई देवनागरी अक्षरों की आकृति से मिलती है, इसलिये वायुमार्ग चक्रों के अक्षर कहलाते हैं।

द्रुतगति से बहती हुई नदी में कुछ विशेष स्थानों में भँवर पड़ जाते हैं। यह पानी के भँवर कहीं उथले, कहीं गहरे, कहीं तिरछे, कहीं गोल-चौकोर हो जाते हैं। प्राण-वायु का सुषुम्ना प्रवाह इन चक्रों में होकर द्रुतगति से गुजरता है, तो वहाँ एक प्रकार से सूक्ष्म भँवर पड़ते हैं, जिनकी आकृति चतुष्कोण, अर्धचन्द्राकार, त्रिकोण, षट्कोण, गोलाकार, लिंगाकार तथा पूर्ण चन्द्राकार बनती है। अग्नि जब भी जलती है, उसकी लौ ऊपर की ओर उठती है, जो नीचे मोटी और ऊपर पतली होती है। इस प्रकार अव्यवस्थित त्रिकोण-सा बन जाता है। इस प्रकार की विविध आकृतियाँ वायु-प्रवाह से बनती हैं। इन आकृतियों को चक्रों के यन्त्र कहते हैं।

शरीर पंचतत्त्वों का बना हुआ है। इन तत्त्वों के न्यूनाधिक सम्मिश्रण से विविध अंग-प्रत्यंगों का निर्माण कार्य, उनका संचालन होता है। जिस स्थान में जिस तत्त्व की जितनी आवश्यकता है, उससे न्यूनाधिक हो जाने पर शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। तत्त्वों का यथास्थान, यथा मात्रा में होना ही नीरोगिता का चिह्न समझा जाता है। चक्रों में भी एक-एक तत्त्व की प्रधानता रहती है, जिस चक्र में जो तत्त्व प्रधान होता है, वही उसका तत्त्व कहा जाता है।

ब्रह्म नाड़ी की पोली नली में होकर वायु का अभिगमन होता है, तो चक्रों के सूक्ष्म छिद्रों के आघात से उनमें एक वैसी ध्वनि होती है, जैसी कि वंशी में वायु का प्रवेश होने पर छिद्रों के आधार से ध्वनि उत्पन्न होती है। हर चक्र के एक सूक्ष्म छिद्र में वंशी के स्वर छिद्र की-सी प्रतिक्रिया होने के कारण स, र, ग, म, जैसे स्वरों की एक विशेष ध्वनि प्रवाहित होती है, जो यँ, लँ, रँ, हँ, ॐ जैसे स्वरों में सुनाई पड़ती है, इसे चक्रों का बीज कहते हैं।

चक्रों में वायु की चाल में अन्तर होता है। जैसे वात, पित्त, कफ की नाड़ी कपोत, मंडूक, सर्प, कुक्कुट आदि की चाल से चलती है, उस चाल को पहचान कर वैद्य लोग अपना कार्य करते हैं। तत्त्वों के मिश्रण, टेढ़-मेढ़ा मार्ग, भँवर, बीज आदि के समन्वय से प्रत्येक चक्र में रक्ताभिसरण, वायु अभिगमन के संयोग से एक विशेष चाल वहाँ परिलक्षित होती है। यह चाल किसी चक्र में हाथी के समान मन्दगामी, किसी में मगर की तरह डुबकी मारने वाली, किसी में हिरण की-सी छलाँग मारने वाली, किसी में मेढक की तरह फुदकने वाली होती है, उस चाल को चक्रों का वाहन कहते हैं।

इन चक्रों में विविध दैवी शक्तियाँ सन्निहित हैं, उत्पादन, पोषण, संहार, ज्ञान, समृद्धि, बल आदि शक्तियों को देवता विशेषों की शक्ति माना गया है अथवा यों कहिये कि यह शक्तियाँ ही देवता हैं। प्रत्येक चक्र में एक पुरुष

वर्ग की उष्णवीर्य और एक स्त्री वर्ग की शीतवीर्य शक्ति रहती है, क्योंकि धन और ऋण, अग्नि और सोम दोनों तत्त्वों के मिले बिना गति और जीव का प्रवाह उत्पन्न नहीं होता, यह शक्तियाँ ही चक्रों के देवी-देवता हैं।

पंच तत्त्वों के अपने-अपने गुण होते हैं। पृथ्वी का गंध, जल का रस, अग्नि का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का गुण शब्द होता है। चक्रों में तत्त्वों की प्रधानता के अनुरूप उनके गुण भी प्रधानता में होते हैं। यही चक्रों के गुण हैं।

यह चक्र अपनी सूक्ष्म शक्ति को वैसे तो समस्त शरीर में प्रवाहित करते हैं; पर एक ज्ञानेन्द्रिय और एक कर्मेन्द्रिय से उनका सम्बन्ध विशेष रूप से होता है। सम्बन्धित इन्द्रियों को वे अधिक प्रभावित करते हैं। चक्रों के जागरण के चिह्न उन इन्द्रियों पर तुरन्त परिलक्षित होते हैं। इसी सम्बन्ध विशेष के कारण वे इन्द्रियाँ चक्रों की इन्द्रियाँ कहलाती हैं।

देव शक्तियों में डाकिनी, राकिनी, शाकिनी, हाकिनी आदि के विचित्र नामों को सुनकर उनके भूतनी, चुड़ैल, मशानी जैसी कोई चीज होने का भ्रम होता है, वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। मुख से लेकर नाभि तक चक्राकार 'अ' से लेकर 'ह' तक के समस्त अक्षरों की एक ग्रन्थि माला है, उस माला के दानों को 'मातृकायें' कहते हैं। इन मातृकाओं के योग-दर्शन द्वारा ही ऋषियों ने देवनागरी वर्णमाला के अक्षरों की रचना की है। चक्रों के देव जिन मातृकाओं से झंकृत होते हैं, सम्बद्ध होते हैं, उन्हें उन देवों की देव शक्ति कहते हैं। ड, र, ल, क, श, के आगे आदि मातृकाओं का बोधक 'किनी' शब्द जोड़कर राकिनी, डाकिनी बना दिये गये हैं। यही देव शक्तियाँ हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं को समझ लेने के उपरान्त प्रत्येक चक्र की निम्न जानकारी को ठीक प्रकार समझ लेना पाठकों के लिये सुगम होगा। अब छहों चक्रों का परिचय नीचे दिया जाता है—

मूलाधार चक्र—

स्थान—योनि (गुदा के समीप)। वर्ण—लाल। लोक—भूःलोक। दलों के अक्षर—वँ, शँ, षँ, सँ। तत्त्व-पृथ्वी तत्त्व। बीज—लँ। वाहन—ऐरावत हाथी। गुण—गन्ध। देव शक्ति—डाकिनी। यन्त्र चतुष्कोण। ज्ञानेन्द्रिय—नासिका। कर्मेन्द्रिय—गुदा। ध्यान का फल—वक्ता, मनुष्यों के श्रेष्ठ, सर्व विद्याविनोदी, आरोग्य, आनन्द-चित्त, काव्य और लेखन की सामर्थ्य।

स्वाधिष्ठान चक्र—

स्थान—पेड़ू (शिश्न के सामने)। दल—छः। वर्ण—सिन्दूर। लोक—भुवः। दलों के अक्षर—बँ, भँ, मँ, यँ, रँ, लँ। तत्त्व-जल तत्त्व। बीज—बँ। बीज का वाहन—मगर। गुण—रस। देव—विष्णु। देव शक्ति—डाकिनी। यन्त्र—चन्द्राकार। ज्ञानेन्द्रिय—रसना। कर्मेन्द्रिय—लिंग। ध्यान का फल—अहंकारादि विकारों का नाश, श्रेष्ठ योग, मोह - निवृत्ति, रचना शक्ति।

मणिपूर चक्र—

स्थान - नाभि। दल—दस। वर्ण—नील। लोक—स्वः। दलों के अक्षर—डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं। तत्त्व-अग्नितत्त्व। बीज—रं। बीज का वाहन—मेंढ़ा। गुण—रूप। देव—वृद्ध रुद्र। देव शक्ति—शाकिनी। यन्त्र—त्रिकोण। ज्ञानेन्द्रिय—चक्षु। कर्मेन्द्रिय—चरण। ध्यान का फल—संहार और पालन की सामर्थ्य, वचन-सिद्धि।

अनाहत चक्र—

स्थान—हृदय। दल—बारह। वर्ण—अरुण। लोक—महः। दलों के अक्षर कं, खं, गं, घं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं। तत्त्व—वायु। देव शक्ति—काकिनी। यन्त्र—षट्कोण। ज्ञानेन्द्रिय—त्वचा। कर्मेन्द्रिय—हाथ। फल—स्वामित्व, योग सिद्धि, ज्ञान जागृति, इन्द्रिय जय, परकाया प्रवेश।

विशुद्धाख्य चक्र—

स्थान—कण्ठ। दल—सोलह। वर्ण—धूम्र। लोक—जनः। दलों के अक्षर—'अ' से लेकर 'अः' तक सोलह अक्षर। तत्त्व—आकाश। तत्त्व बीज—हं। वाहन—हाथी। गुण—शब्द। देव—पंचमुखी सदाशिव।

देवशक्ति—शाकिनी। यन्त्र—शून्य (गोलाकार)। ज्ञानेन्द्रिय—कर्ण। कर्मेन्द्रिय—पाद। ध्यान फल—चित्त शान्ति, त्रिकाल दर्शित्व, दीर्घ जीवन, तेजस्विता, सर्वहित परायणता।

आज्ञा चक्र—

स्थान—भ्रू मध्य। दल—दो। वर्ण—श्वेत। दलों के अक्षर हं, क्षं। तत्त्व—मह: तत्त्व। बीज—ॐ। बीज का वाहन—नाद। देव—ज्योतिर्लिंग। देवशक्ति—हाकिनी। यन्त्र—लिंगाकार। लोक—तप:। ध्यान फल—सर्वार्थ साधन।

षट् चक्रों में उपर्युक्त छ: चक्र ही आते हैं। परन्तु सहस्रार या सहस्र दल कमल को कोई-कोई लोग सातवाँ-शून्य चक्र मानते हैं। उसका भी वर्णन नीचे किया जाता है।

शून्य चक्र—

स्थान—मस्तक। दल—सहस्र।दलों के अक्षर—अं से क्षं तक की पुनरावृत्तियाँ। लोक—सत्य। तत्त्वों से अतीत। बीज तत्त्व—(:) विसर्ग। बीज का वाहन—बिन्दु। देव—परब्रह्म। देव शक्ति—महाशक्ति। यन्त्र—पूर्ण चन्द्रवत्। प्रकाश—निराकार। ध्यानफल—भक्ति, अमरता, समाधि, समस्त ऋद्धि - सिद्धियों का करतलगत होना।

पाठक जानते हैं कि कुण्डलिनी शक्ति का स्रोत है। वह हमारे शरीर का सबसे अधिक समीप चैतन्य स्फुल्लिंग है, उसमें बीज रूप से इतनी रहस्यमय शक्तियाँ गर्भित हैं, जिनकी कल्पना तक नहीं हो सकती। कुण्डलिनी शक्ति के इन छ: केन्द्रों में, षट् चक्रों में भी उसका काफी प्रकाश है। जैसे सौर मण्डल में नौ ग्रह हैं, सूर्य उनका केन्द्र है और चन्द्रमा, मंगल आदि उसमें सम्बद्ध होने के कारण सूर्य की परिक्रमा करते हैं। वे सूर्य की ऊष्मा, आकर्षणी, विलयिनी आदि शक्तियों से प्रभावित और ओत - प्रोत रहते हैं। वैसे ही कुण्डलिनी की शक्तियाँ चक्रों में भी प्रसारित होती रहती हैं। एक बड़ी तिजोरी में जैसे कई छोटे-छोटे अनेक दराज होते हैं, जैसे मधुमक्खी के एक बड़े छत्ते में छोटे-छोटे अनेक छिद्र होते हैं और उनमें भी कुछ मधु भरा रहता है, वैसे ही कुण्डलिनी की कुछ शक्ति का प्रकाश चक्रों में भी होता है। चक्रों के जागरण के साथ-साथ उनमें सन्निहित कितनी ही रहस्यमय शक्तियाँ भी जाग पड़ती हैं। उनका संक्षिप्त-सा संकेत ऊपर चक्रों के ध्यान फल में बताया गया है। इनको विस्तार करके कहा जाए, तो यह शक्तियाँ भी आश्चर्यों से किसी प्रकार कम प्रतीत नहीं होंगी।

चक्रों का वेधन—

षट् चक्रों का वेधन करते हुए कुण्डलिनी तक पहुँचना और उसे जाग्रत् करके आत्मोन्नति के मार्ग में लगा देना यह एक महाविज्ञान है। ऐसा ही महाविज्ञान, जैसा कि परमाणु बम का निर्माण एवं उसका विस्फोट करना एक अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है। इसे यों ही अपने आप केवल पुस्तक पढ़कर आरम्भ नहीं कर देना चाहिये, वरन् किसी अनुभवी पथ- प्रदर्शक की संरक्षकता में यह सब किया जाना चाहिये।

चक्रों का वेधन ध्यान - शक्ति के द्वारा किया जाता है। यह सभी जानते हैं कि हमारा मस्तिष्क एक प्रकार का बिजलीघर है और उस बिजली घर की प्रमुख धारा का नाम—'मन' है। मन की गति चंचल और बहुमुखी होती है। यह हर घड़ी चंचलता मग्न और सदा उछल—कूद में व्यस्त रहता है। इस उथल—पुथल के कारण उस विद्युत् पुञ्ज का एक स्थान पर केन्द्रीकरण नहीं होता, जिससे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादन हो। इस के अभाव में जीवन के क्षण यों ही अस्त—व्यस्त, नष्ट होते रहते हैं। यदि उस शक्ति का एकीकरण हो जाता है, उसे एक स्थान पर संचित कर लिया जाता है तो आतिशी शीशे द्वारा, एकत्रित हुई सूर्य किरणों द्वारा आग की लपटें उठने लगना जैसे दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। ध्यान का एक ऐसा सूक्ष्म विज्ञान है जिसके द्वारा मन की बिखरी हुई बहुमुखी शक्तियाँ एक स्थान पर एकत्रित होकर एक कार्य में लगती हैं। फलस्वरूप वहाँ असाधारण शक्ति का स्रोत प्रवाहित हो जाता है। ध्यान द्वारा मन:क्षेत्र की केन्द्रीय भूत इस बिजली से साधक षट्चक्रों का वेधन कर सकता है।

षट् चक्रों के वेधन की साधना करने के लिये अनेक ग्रन्थों में अनेक मार्ग बताये गये हैं। इसी प्रकार गुरु परम्परा से चली आने वाली साधनायें भी विविध प्रकार की हैं। इन सभी मार्गों से उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है,

सफलता मिल सकती है, पर शर्त यह है कि उसे पूर्ण विश्वास, श्रद्धा, निष्ठा उचित पथ—प्रदर्शन में किया जाए।

अन्य साधनाओं की चर्चा और तुलना करके उनकी आलोचना, प्रत्यालोचना करना यहाँ हमें अभीष्ट नहीं है। इन पंक्तियों में तो हम एक ऐसी सुगम साधना पाठकों के सामने उपस्थित करना चाहते हैं, जिसके द्वारा गायत्री शक्ति से चक्रों का जागरण बड़ी सुविधापूर्वक हो सकता है और अन्य साधनाओं में आने वाली असाधारण कठिनाइयों एवं खतरों से स्वतंत्र रहा जा सकता है।

प्रातःकाल शुद्ध शरीर और स्वस्थ चित्त से सावधान होकर पद्मासन से बैठिये। पूर्व वर्णित ब्रह्म संध्या के आरम्भिक पंचकोषों की क्रिया कीजिये। आचमन, शिखाबन्धन (शिखावन्दन), प्राणायाम, अघमर्षण और न्यास करने के बाद गायत्री के एक सौ आठ मन्त्रों की माला जपिये।

ब्रह्म संध्या कर चुकने के पश्चात् मस्तिष्क के मध्य भाग त्रिकुटी में (एक रेखा एक कान से दूसरे कान तक खींची जाए और दूसरी रेखा दोनों भौंहों के मध्य में से मस्तिष्क के मध्य तक खींची जाए, तो दोनों का मिलन जहाँ होता है, उस स्थान को त्रिकुटी कहते हैं) वेदमाता गायत्री का ज्योतिस्वरूप ध्यान करना चाहिये। मन को उसके मध्य से ज्योतिर्लिंग के मध्य में इस प्रकार अवस्थित करना चाहिये, जैसे लुहार अपने लोहे को गरम करने के लिये भट्ठी में डाल देता है और जब वह लाल हो जाता है, तो उसे बाहर निकाल कर ठोकता-पीटता और अभीष्ट वस्तु बनाता है। त्रिकुटी स्थित गायत्री ज्योति में मन को अवस्थित रखने से मन स्वयं भी तेज स्वरूप हो जाता है। तब उसे आज्ञाचक्र के स्थान में लाना चाहिये। ब्रह्मनाड़ी मेरुदण्ड से आगे बढ़कर त्रिकुटी में होती हुई सहस्रार को गयी है। इस ब्रह्मनाड़ी की पोली नली में दीप्तिमान् मन में प्रवेश करके आज्ञाचक्र में ले जाया जाता है। वहाँ स्थिरता करने पर वे सब अनुभव होते हैं, जो चक्र के लक्षणों में वर्णित हैं। मन को चक्र के दलों का, अक्षरों का, तत्त्व का, बीज का, देवशक्ति का, यन्त्र का, वाहन का, गुण—रंग का अनुभव होता है। आरम्भ में अनुभव बहुत अधूरे होते हैं। धीरे-धीरे वे अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। कभी-कभी किन्हीं व्यक्तियों के चक्रों में कुछ लक्षण भेद भी होता है। उसे अपने अन्दर के चक्र की आकृति का अनुभव होगा।

स्वस्थ चित्त से, सावधान होकर, एक मास तक एक चक्र की साधना करने से वह प्रस्फुटित हो जाता है। ध्यान में उसके लक्षण अधिक स्पष्ट होने लगते हैं और चक्र के स्थान पर उससे सम्बन्धित मातृकाओं, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में अचानक कम्पन, रोमांच, प्रस्फुरण, उत्तेजना, दाद, खाज, खुजली जैसे अनुभव होते हैं। यह इस बात के चिह्न हैं कि चक्रों का जागरण हो रहा है। एक मास या न्यूनाधिक काल में इस प्रकार के चिह्न प्रकट होने लगें, ध्यान में चक्र का रूप स्पष्ट होने लगे, तो उससे आगे बढ़कर इससे नीचे की ओर दूसरे चक्र में प्रवेश करना चाहिये। विधि यही है—मार्ग वही। गायत्री ज्योति में मन को तपाकर ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश करना और उसमें होकर पहले चक्र में जाना, फिर उसे पार करके दूसरे में जाना। इस प्रकार एक चक्र में लगभग एक मास लगता है। जब साधना पक जाती है, तो एक चक्र से दूसरे चक्र में जाने का मार्ग खुल जाता है। जब तक साधना कच्ची रहती है, तब तक द्वार रुका रहता है। साधक का मन आगे बढ़ना चाहे, तो भी द्वार नहीं मिलता और यह उसी चक्र के तन्तु जाल की भूल-भुलैयों में उलझा रह जाता है।

जब साधना देर तक नहीं पकती और साधक को आगे का मार्ग नहीं मिलता, तो उसे अनुभवी गुरु की सहायता की आवश्यकता होती है, वह जैसा उपाय बताएँ वैसा उसे करना होता है। इसी प्रकार धीरे-धीरे क्रमशः छहों चक्रों को पार करता हुआ साधक मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी तक पहुँचता है और वहाँ उस ज्वालामुखी कराल कालस्वरूप महाशक्ति सर्पिणी के विकराल रूप का दर्शन करता है। महाकाली का प्रचण्ड स्वरूप यहीं दिखाई पड़ता है। कई साधक इस सोते सिंह को जगाने का साहस करते हुए काँप जाते हैं।

कुण्डलिनी को जगाने में उसे पीड़ित करना पड़ता है, छेदना पड़ता है, जैसे परमाणु का विस्फोट करने के लिये उसे बीच में से छेदना पड़ता है, उसी प्रकार सुप्त कुण्डलिनी को गतिशील बनाने के लिये उसी पर आघात करना होता है। इसे आध्यात्मिक भाषा में कुण्डलिनी पीड़न कहते हैं। इससे पीड़ित होकर क्षुब्ध कुण्डलिनी फुसकारती हुई जाग पड़ती है और उसका सबसे प्रथम आक्रमण, मन में लगे हुए जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों पर

होता है । वह संस्कारों को चबा जाती है, मन की छाती पर अपने अस्त्रों सहित चढ़ बैठती है और उसकी स्थूलता, माया-परायणता को नष्ट कर ब्रह्मभाव में परिणत कर देती है ।

इस कुण्डलिनी को जगाने और उसके जागने पर आक्रमण होने की क्रिया का पुराणों ने बड़े ही आलंकारिक और हृदयग्राही रूप से वर्णन किया है ।

महिषासुर और दुर्गा का युद्ध इसी आध्यात्मिक रहस्य का प्रतीक है । अपनी मुक्ति की कामना करते हुए, देवी के हाथों मरने की कामना से उत्साहित होकर महिषासुर (महि: पृथ्वी आदि पंचभूतों से बना हुआ मन) चण्डी (कुण्डलिनी) से लड़ने लगता है । उस चुपचाप बैठी हुई पर आक्रमण करता है । देवी क्रुद्ध होकर उससे युद्ध करती हैं । उस पर प्रत्याघात करती हैं । उसके वाहन महिष को, संस्कारों के समूह को चबा डालती हैं । मन के भौतिक आचरण को महिषासुर के शरीर को, दसों भुजाओं को, दसों दिशाओं से, सब ओर से विदीर्ण कर डालती हैं और अन्त में महिषासुर, (साधारण बीज) चण्डी की ज्योति में मिल जाता है । महाशक्ति का अंश होकर जीवन लाभ को प्राप्त कर लेता है । भक्तिमयी साधना का वह रौद्ररूप बड़ा विचित्र है । इसे 'साधना—समर' कहते हैं ।

जहाँ कितने ही भक्त, प्रेम और भक्ति द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, वहाँ ऐसे भी कितने ही भक्त हैं, जो साधन-समर में ब्रह्म से लड़कर उसे प्राप्त करते हैं । भगवान् तो निष्ठा के भूखे हैं, वे सच्चे प्रेमी को भी मिल सकते हैं, सच्चे शत्रु को भी । भक्त योगी भी उन्हें पा सकते हैं और साधन—समर में अपने दो-दो हाथ दिखाने वाले हठयोगी, तन्त्र-मार्गी भी उन्हें प्राप्त कर सकते हैं । कुण्डलिनी जागरण ऐसा ही हठ-तंत्र है, जिसके आधार पर आत्मा तुच्छ से महान् और अणु से विभु बनकर ईश्वरीय सर्व शक्तियों से सम्पन्न हो जाती है ।

षट् चक्रों की साधना करते समय प्रतिदिन ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश करके चक्रों का ध्यान करते हैं । यह ध्यान पाँच मिनट से आरम्भ करके तीस मिनट तक पहुँचाया जा सकता है । एक बार में इससे अधिक ध्यान करना हानिकारक है, क्योंकि अधिक ध्यान से बढ़ी ऊष्मा को सहन करना कठिन हो जाता है । ध्यान समाप्त करते समय उसी मार्ग पर वापस लौटकर मन को त्रिकुटी में लगाया जाता है और फिर ध्यान को समाप्त कर दिया जाता है ।

यह कहने की आवश्यकता ही नहीं कि साधनाकाल में ब्रह्मचर्य से रहना, एक बार भोजन करना, सात्त्विक खाद्य पदार्थ ग्रहण करना, एकान्त सेवन करना, स्वस्थ वातावरण में रहना, दिनचर्या को ठीक रखना अनिवार्य है, क्योंकि यह साधनाओं की प्रारम्भिक शर्तें मानी गई हैं ।

षट्चक्रों के वेधन और कुण्डलिनी के जागरण से ब्रह्मरन्ध्र में ईश्वरीय दिव्य शक्ति के दर्शन होते हैं और गुप्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

यह दिव्य प्रसाद औरों को भी बाँटिये

पुण्य कर्मों के साथ प्रसाद बाँटना एक आवश्यक धर्मकृत्य माना गया है । सत्यनारायण की कथा के अन्त में पञ्चामृत, पँजीरी बाँटी जाती है, यज्ञ के अन्त में उपस्थित व्यक्तियों को हलुआ या अन्य मिष्टान्न बाँटते हैं । गीत-मंगल, पूजा-कीर्तन आदि के पश्चात् प्रसाद बाँटा जाता है, देवता, पीर-मुरीद आदि की प्रसन्नता के लिये बतासे, रेवड़ी या अन्य प्रसाद बाँटा जाता है । मन्दिरों में जहाँ अधिक भीड़ होती है और अधिक धन खर्चने को नहीं होता, वहाँ जल में तुलसी पत्र डालकर चरणामृत को ही प्रसाद रूप में बाँटते हैं । तात्पर्य यह है कि शुभ कार्यों के पश्चात् कोई न कोई प्रसाद बाँटना आवश्यक होता है । इसका कारण यह है कि शुभ कार्य के साथ जो शुभ वातावरण पैदा होता है, उसे खाद्य पदार्थों के साथ सम्बन्धित करके उपस्थित व्यक्तियों को देते हैं, ताकि वे भी उन शुभ तत्त्वों को ग्रहण करके आत्मसात् कर सकें । दूसरी बात यह है कि उस प्रसाद के साथ दिव्य तत्त्वों के प्रति श्रद्धा की धारणा होती है और मधुर पदार्थों को ग्रहण करते समय प्रसन्नता का आविर्भाव होता है । इन तत्त्वों की अभिवृद्धि से प्रसाद ग्रहण करने वाला अध्यात्म की ओर आकर्षित होता है और यह आकर्षण अन्तत: उसके लिये सर्वतोमुखी कल्याण को प्राप्त कराने वाला सिद्ध होता है । यह परम्परा एक से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में चलती रहे और धर्मवृद्धि का यह क्रम बराबर बढ़ता रहे, इस लाभ को ध्यान में रखते हुए अध्यात्म-विद्या के आचार्यों ने यह आदेश किया कि प्रत्येक शुभ कार्य के अन्त में प्रसाद बाँटना आवश्यक है । शास्त्रों में ऐसे आदेश मिलते हैं, जिनमें कहा

गया है कि अन्त में प्रसाद वितरण न करने से यह कार्य निष्फल हो जाता है । इसका तात्पर्य प्रसाद के महत्त्व की ओर लोगों को सावधान करने का है ।

गायत्री साधना भी एक यज्ञ है । यह असाधारण यज्ञ है । अग्नि में सामग्री की आहुति देना स्थूल कर्मकाण्ड है, पर आत्मा में परमात्मा की स्थापना सूक्ष्म यज्ञ है, जिसकी महत्ता स्थूल अग्निहोत्र की अपेक्षा अनेक गुनी अधिक होती है । इतने महान् धर्मकृत्य के साथ-साथ प्रसाद का वितरण भी ऐसा होना चाहिये , जो उसकी महत्ता के अनुरूप हो । रेवड़ी, बतासे, लड्डू या हलुआ-पूरी बाँट देने मात्र से यह कार्य पूरा नहीं हो सकता । गायत्री का प्रसाद तो ऐसा होना चाहिये, जिसे ग्रहण करने वाले को स्वर्गीय स्वाद मिले, जिसे खाकर उसकी आत्मा तृप्त हो जाए । गायत्री ब्राह्मी शक्ति है, उसका प्रसाद भी 'ब्राह्मी प्रसाद' होना चाहिये, तभी वह उपयुक्त गौरव का कार्य होगा । इस प्रकार का प्रसाद हो सकता है—ब्रह्मदान, ब्राह्मी स्थिति की ओर चलाने का आकर्षण, प्रोत्साहन । जिस व्यक्ति को ब्रह्म-प्रसाद लेना है, उसे आत्म-कल्याण की दिशा में आकर्षित करना और उस ओर चलने के लिये उसे प्रोत्साहित करना ही प्रसाद है ।

यह प्रकट है कि भौतिक और आत्मिक आनन्द के समस्त स्रोत मानव प्राणी के अन्तःकरण में छिपे हुए हैं । सम्पत्तियाँ संसार में बाहर नहीं हैं, बाहर तो पत्थर, धातुओं के टुकड़े और निर्जीव पदार्थ भरे पड़े हैं, सम्पत्तियों के समस्त कोष आत्मा में सन्निहित हैं, जिनके दर्शन मात्र से मनुष्य को तृप्ति मिल जाती है और उनके उपयोग करने पर आनन्द का पारावार नहीं रहता । उन आनन्द भण्डारों को खोलने की कुञ्जी आध्यात्मिक साधनाओं में है और उन समस्त साधनाओं में गायत्री-साधना सर्वश्रेष्ठ है । यह श्रेष्ठता अतुलनीय है, असाधारण है । उनकी सिद्धियाँ-चमत्कारों का कोई पारावार नहीं । ऐसे श्रेष्ठ साधना के मार्ग पर यदि किसी को आकर्षित किया जाए, प्रोत्साहित किया जाए और जुटा दिया जाए, तो इससे बढ़कर उस व्यक्ति का और कोई उपकार नहीं हो सकता । जैसे-जैसे उसके अन्दर सात्त्विक तत्त्वों की वृद्धि होगी, वैसे-वैसे उसके विचार और कार्य पुण्यमय होते जायेंगे और उसका प्रभाव दूसरों पर पड़ने से वे भी सन्मार्ग का अवलम्बन प्राप्त करेंगे । यह शृंखला जैसे-जैसे बढ़ेगी, वैसे ही वैसे संसार में सुख-शान्ति की, पुण्य की मात्रा बढ़ेगी और इस कर्म के पुण्य फल में उस व्यक्ति का भी भाग होगा, जिसने किसी को आत्म-मार्ग में प्रोत्साहित किया था ।

जो व्यक्ति गायत्री की साधना करे, उसे प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि मैं भगवती को प्रसन्न करने के लिये उसका महाप्रसाद, ब्रह्म-प्रसाद अवश्य वितरण करूँगा । यह वितरण इस प्रकार का होना चाहिये, जिनमें पहले के कुछ शुभ संस्कारों के बीज मौजूद हों, उन्हें धीरे-धीरे गायत्री का माहात्म्य, रहस्य, लाभ समझाते रहा जाए । जो लोग आध्यात्मिक उन्नति के महत्त्व को नहीं समझते, उन्हें गायत्री से होने वाले भौतिक लाभों का सविस्तार वर्णन किया जाए, 'अखण्ड ज्योति' द्वारा प्रकाशित गायत्री साहित्य पढ़ाया जाए । इस प्रकार उनकी रुचि को इस दिशा में मोड़ा जाए, जिससे वे आरम्भ में भले ही सकाम भावना से ही सही, वेदमाता का आश्रय ग्रहण करें, पीछे तो स्वयं ही इस महा-लाभ पर मुग्ध होकर छोड़ने का नाम न लेंगे । एक बार रास्ते पर डाल देने से गाड़ी अपने आप ठीक मार्ग पर चलती जाती है ।

यह ब्रह्म प्रसाद अन्य साधारण स्थूल पदार्थों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है । आइये, इसे धन से ही नहीं, प्रयत्न से ही वितरण हो सकने वाले ब्रह्म प्रसाद को वितरण करके वेदमाता की कृपा प्राप्त कीजिये और अक्षय पुण्य के भागीदार बनिये ।

गायत्री से यज्ञ का सम्बन्ध

यज्ञ भारतीय संस्कृति का आदि प्रतीक है ! हमारे धर्म में जितनी महानता यज्ञ को दी गयी है, उतनी और किसी को नहीं दी गयी है । हमारा कोई भी शुभ-अशुभ, धर्म-कृत्य यज्ञ के बिना पूर्ण नहीं होता । जन्म से लेकर अन्त्येष्टि तक १६ संस्कार होते हैं, इनमें अग्निहोत्र आवश्यक है । जब बालक का जन्म होता है, तो उसकी रक्षार्थ सूतक-निवृत्ति तक घर में अखण्ड अग्नि स्थापित रखी जाती है । नामकरण, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कारों में भी हवन अवश्य होता है । अन्त में जब शरीर छूटता है तो उसे अग्नि को ही सौंपते हैं । अब लोग मृत्यु के समय

चिता जला कर यों ही लाश को भस्म कर देते हैं, पर शास्त्रों में देखा जाए, तो वह भी एक संस्कार है । इसमें वेदमन्त्रों से विधिपूर्वक आहुतियाँ चढ़ाई जाती हैं और शरीर यज्ञ भगवान् को अर्पण किया जाता है ।

प्रत्येक कथा, कीर्तन, व्रत, उपवास, पर्व, त्योहार, उत्सव, उद्यापन में हवन को आवश्यक माना जाता है । अब लोग उसका महत्त्व एवं विधान भूल गये हैं और केवल चिह्न पूजा करके काम चला लेते हैं । घरों में स्त्रियाँ किसी रूप में यज्ञ की चिह्न पूजा करती हैं । वे त्योहारों या पर्वों पर 'अग्नि को जिमाने' या 'अगियारी' करने का कृत्य किसी न किसी रूप में करती रहती हैं । थोड़ी-सी अग्नि लेकर उस पर घी डालकर प्रज्वलित करना और उस पर पकवान के छोटे-छोटे ग्रास-चढ़ाना और फिर जल से अग्नि की परिक्रमा कर देना-यह विधान हम घर-घर में प्रत्येक पर्व एवं त्योहारों पर होते देख सकते हैं । पितरों का श्राद्ध जिस दिन होगा, उस दिन ब्राह्मण भोजन से पूर्व इस प्रकार अग्नि को भोजन अवश्य कराया जाएगा, क्योंकि यह स्थिर मान्यता है कि अग्नि के मुख में दी हुई आहुति देवताओं और पितरों को अवश्य पहुँचती है ।

विशेष अवसर पर तो हवन करना ही पड़ता है । नित्य की चूल्हा, चक्की, बुहारी आदि से होने वाली जीव हिंसा एवं पातकों के निवारणार्थ नित्य पंच यज्ञ करने का विधान है । उन पाँचों में बलिवैश्व भी है । बलिवैश्व अग्नि में आहुति देने से होता है । इस प्रकार शास्त्रों की आज्ञानुसार तो नित्य हवन करना भी हमारे लिये आवश्यक है । होली तो यज्ञ का त्योहार है । आजकल लोग लकड़ी, उपले जलाकर होली मनाते हैं । शास्त्रों में देखा जाए, तो यह यज्ञ है । लोग यज्ञ की आवश्यकता और विधि को भूल गये, पर केवल ईंधन जलाकर उस प्राचीन परम्परा की किसी प्रकार पूर्ति कर देते हैं । इसी प्रकार श्रावणी, दशहरा, दीपावली के त्योहारों पर किसी न किसी रूप में हवन अवश्य होता है । नवरात्र में स्त्रियाँ देवी की पूजा करती हैं , तो अग्नि के मुख में देवी के निमित्त घी, लौंग, जायफल आदि अवश्य चढ़ाती हैं । सत्यनारायण व्रत कथा, रामायण-पारायण, गीता-पाठ, भागवत-सप्ताह आदि कोई भी शुभ-कर्म क्यों न हो, हवन इसमें अवश्य रहेगा ।

साधनाओं में भी हवन अनिवार्य है । जितने भी पाठ, पुरश्चरण, जप, साधन किये जाते हैं, वे चाहे वेदोक्त हों, चाहे तांत्रिक, हवन उसमें किसी न किसी रूप में अवश्य करना पड़ेगा । गायत्री उपासना में भी हवन आवश्यक है । अनुष्ठान या पुरश्चरण में जप से दसवाँ भाग हवन करने का विधान है । परिस्थितिवश दसवाँ भाग आहुति न दी जा सके, तो शतांश (सौवाँ भाग) आवश्यक ही है । गायत्री को माता और यज्ञ को पिता माना गया है । इन्हीं दोनों के संयोग से मनुष्य का जन्म होता है, जिसे 'द्विजत्व' कहते हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को द्विज कहते हैं । द्विज का अर्थ है—दूसरा जन्म । जैसे अपने शरीर को जन्म देने वाले माता-पिता की सेवा-पूजा करना मनुष्य का नित्य-कर्म है, उसी प्रकार गायत्री माता और यज्ञ पिता की पूजा भी प्रत्येक द्विज का आवश्यक धर्म-कर्त्तव्य है ।

धर्म ग्रन्थों में पग-पग पर यज्ञ की महिमा का गान है । वेद में यज्ञ का विषय प्रधान है, क्योंकि यज्ञ एक ऐसा विज्ञानमय विधान है जिससे मनुष्य का भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से कल्याणकारक उत्कर्ष होता है । भगवान् यज्ञ से प्रसन्न होते हैं । कहा गया है—

यो यज्ञैः यज्ञपरमैरिज्यते यज्ञसंज्ञितः ।
तं यज्ञपुरुषं विष्णुं नमामि प्रभुमीश्वरम् ॥

"जो यज्ञ द्वारा पूजे जाते हैं, यज्ञमय हैं, यज्ञ रूप हैं, उन यज्ञ पुरुष विष्णु भगवान् को नमस्कार है ।"

यज्ञ मनुष्य की अनेक कामनाओं को पूर्ण करने वाला तथा स्वर्ग एवं मुक्ति प्रदान करने वाला है । यज्ञ को छोड़ने वालों की शास्त्रों में बहुत निन्दा की गयी है—

कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति
तस्मै त्वा विमुञ्चति। पोषाय रक्षसां भागोसि ॥ - यजु.२.२३

"सुख-शान्ति चाहने वाला कोई व्यक्ति यज्ञ का परित्याग नहीं करता । जो यज्ञ को छोड़ता है, उसे यज्ञ रूप परमात्मा भी छोड़ देते हैं । सबकी उन्नति के लिये आहुतियाँ यज्ञ में छोड़ी जाती हैं, जो नहीं छोड़ता वह राक्षस हो जाता है ।"

यज्ञेन पापैः बहुभिर्विमुक्तः प्राप्नोति लोकान् परमस्य विष्णोः । —हारीत

"यज्ञ से अनेक पापों से छुटकारा मिलता है तथा परमात्मा के लोक की भी प्राप्ति होती है ।"

पुत्रार्थी लभते पुत्रान् धनार्थी लभते धनम् ।
भार्यार्थी शोभनां भार्यां कुमारी च शुभं पतिम् ।।
भ्रष्टराज्यस्तथा राज्यं श्रीकामः श्रियमाप्नुयात् ।
यं यं प्रार्थयते कामं स वै भवति पुष्कलः ।।
निष्कामः कुरुते यस्तु स परं ब्रह्म गच्छति । —मत्स्यपुराण ९३ ।११७-११८

यज्ञ से पुत्रार्थी को पुत्र लाभ, धनार्थी को धन लाभ, विवाहार्थी को सुन्दर भार्या, कुमारी को सुन्दर पति, श्री-कामना वाले को ऐश्वर्य प्राप्त होता है और निष्काम भाव से यज्ञानुष्ठान करने से परमात्मा की प्राप्ति होती है ।

न तस्य ग्रहपीडा स्यान्नच बन्धु-धनक्षयः ।
ग्रह यज्ञ व्रतं गेहे लिखितं यत्र तिष्ठति ।।
न तत्र पीडा पापानां न रोगो न च बन्धनम् ।
अशेष - यज्ञ - फलदमशेषाघौघनाशनम् ।। —कोटि होम पद्धति

यज्ञ करने वाले को ग्रह पीड़ा, बन्धु नाश, धन क्षय, पाप, रोग, बन्धन आदि की पीड़ा नहीं सहनी पड़ती । यज्ञ का फल अनन्त है ।

देवाः सन्तोषिता यज्ञैर्लोकान् सम्बंधयन्त्युत ।
उभयोर्लोकयो र्देव भूतिर्यज्ञः प्रदृश्यते ।।
तस्माद्यद् याति देवत्वं पूर्वजैः सह मोदते ।
नास्ति यज्ञ-समं दानं नास्ति यज्ञ-समो विधिः ।।
सर्व धर्म समुद्देश्यो देव यज्ञे समाहितः ।।

"यज्ञों से सन्तुष्ट होकर देवता संसार का कल्याण करते हैं । यज्ञ द्वारा लोक-परलोक का सुख प्राप्त हो सकता है । यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है । यज्ञ के समान कोई दान नहीं, यज्ञ के समान कोई विधि-विधान नहीं, यज्ञ में ही सब धर्मों का उद्देश्य समाया हुआ है ।"

असुराश्च सुराश्चैव पुण्यहेतोर्मख-क्रियाम् ।
प्रयतन्ते महात्मानस्तस्माद्यज्ञाः परायणाः ।
यज्ञैरेव महात्मानो बभूवुरधिकाः सुराः ।। —महाभारत आश्व० ३६,७

"असुर और सुर सभी पुण्य के मूल हेतु यज्ञ के लिये प्रयत्न करते हैं । सत्पुरुषों को सदा यज्ञ-परायण होना चाहिये । यज्ञों से ही बहुत से सत्पुरुष देवता बने हैं ।"

यदिक्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमाहरामि निर्ऋते रुपस्थादस्पार्शमेनं शत-शारदाय ।। -अथर्व० ३ । ११ । २

"यदि रोगी अपनी जीवनी-शक्ति को खो भी चुका हो, निराशाजनक स्थिति को पहुँच गया हो, यदि मरणकाल भी समीप आ पहुँचा हो, तो भी यज्ञ उसे मृत्यु के चंगुल से बचा लेता है और सौ वर्ष जीवित रहने के लिये पुनः बलवान् बना देता है ।"

यज्ञैराप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण वै प्रजाः ।
आप्यायन्ते तु धर्मज्ञ ! यज्ञाः कल्याण-हेतवः ।। —विष्णु पुराण

"यज्ञ से देवताओं को बल मिलता है । यज्ञ द्वारा वर्षा होती है । वर्षा से अन्न और प्रजापालन होता है । हे धर्मज्ञ ! यज्ञ ही कल्याण का हेतु है ।"

प्रयुक्तया यया चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुरा जितः ।
तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत् ॥ —चरक चि० खंण्ड ८ ।११२

"तपेदिक सरीखे रोगों को प्राचीनकाल में यज्ञ के प्रयोगों से नष्ट किया जाता था । रोग-मुक्ति की इच्छा रखने वालों को चाहिये कि उस वेद विहित यज्ञ का आश्रय लें ।"

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ —गीता ९ ।१६

"मैं ही क्रतु हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही स्वधा हूँ, मैं ही औषधि हूँ और मन्त्र, घृत, अग्नि और हवन भी मैं ही हूँ ।"

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम । —गीता ४ ।३१

"हे अर्जुन ! यज्ञ रहित मनुष्य को इस लोक में भी सुख नहीं मिल सकता, फिर परलोक का सुख तो होगा ही कैसे ?"

नास्ति अयज्ञस्य लोको वै नायज्ञो विन्दते शुभम् ।
अयज्ञो न च पूतात्मा नश्यतिच्छिन्नपर्णवत् ॥ -शंख स्मृति

"यज्ञ न करने वाला मनुष्य लौकिक और पारलौकिक सुखों से वञ्चित हो जाता है । यज्ञ न करने वाले की आत्मा पवित्र नहीं होती और वह पेड़ से टूटे हुए पत्ते की तरह नष्ट होता है ।"

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः । —गीता ३ ।१० ।११

'ब्रह्माजी ने मनुष्य के साथ ही यज्ञ को भी पैदा किया और उनसे कहा कि इस यज्ञ से तुम्हारी उन्नति होगी, यह यज्ञ तुम्हारी इच्छित कामनाओं, आवश्यकताओं को पूर्ण करेगा । तुम लोग यज्ञ द्वारा देवताओं की पुष्टि करो, वे देवता तुम्हारी उन्नति करेंगे । इस प्रकार दोनों अपने कर्तव्य का पालन करते हुए कल्याण को प्राप्त होंगे । यज्ञ द्वारा पुष्ट किये हुए देवता अनायास ही तुम्हारी सुख-शान्ति की वस्तुयें प्रदान करेंगे ।'

असंख्यों शास्त्र वचनों में से कुछ प्रमाण ऊपर दिये गये हैं । इनसे यज्ञ की महत्ता का अनुमान सहज ही हो जाता है । पूर्वकाल में आध्यात्मिक एवं भौतिक उद्देश्यों के निमित्त बड़े-बड़े यज्ञ हुआ करते थे । देवता भी यज्ञ करते थे, असुर भी यज्ञ करते थे, ऋषियों द्वारा यज्ञ किये जाते थे, राजा लोग अश्वमेध आदि विशाल यज्ञों का आयोजन करते थे, साधारण गृहस्थ अपनी-अपनी सामर्थ्यों के अनुसार समय-समय पर यज्ञ किया करते थे । असुर लोग सदैव यज्ञों को विध्वंस करने का प्रयत्न इसलिये किया करते थे कि उनके शत्रुओं का लाभ एवं उत्कर्ष न होने पाये । इसी प्रकार असुरों के यज्ञों का विध्वंस भी कराया गया है । रामायण में राक्षसों के ऐसे यज्ञ का वर्णन है, जिसे हनुमान् जी ने नष्ट किया था । यदि वह सफल हो जाता, तो राक्षस अजेय हो जाते ।

राजा दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ करके चार पुत्र पाये थे । राजा नृग यज्ञों के द्वारा स्वर्ग जाकर इन्द्रासन के अधिकारी हुए थे । राजा अश्वपति ने यज्ञ द्वारा सन्तान प्राप्त करने का सुयोग प्राप्त किया था । इन्द्र ने स्वयं भी यज्ञों द्वारा ही स्वर्ग पाया था । भगवान् राम ने अपने यहाँ अश्वमेध यज्ञ कराया था । श्रीकृष्णजी की प्रेरणा से पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ कराया था, जिसमें श्रीकृष्णजी ने आगन्तुकों के स्वागत-सत्कार का भार अपने ऊपर लिया था । पापों के प्रायश्चित्त स्वरूप, अनिष्टों और प्रारब्धजन्य दुर्भाग्यों की शान्ति के निमित्त, किसी अभाव की पूर्ति के लिये, कोई सहयोग या सौभाग्य प्राप्त करने के प्रयोजन से, रोग निवारणार्थ देवताओं को प्रसन्न करने हेतु, धन-धान्य की अधिक उपज के लिये अमृतमयी वर्षा के निमित्त, वायु-मण्डल में से अस्वास्थ्यकर तत्त्वों का उन्मूलन करने के निमित्त हवन-यज्ञ किये जाते थे और उनका परिणाम भी वैसा ही होता था ।

यज्ञ एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान है। जिन वृक्षों की समिधायें काम में ली जाती हैं, उनमें विशेष प्रकार के गुण होते हैं। किस प्रयोग के लिये किस प्रकार की हव्य वस्तुयें होमी जाती हैं, उनका भी विज्ञान है। उन वस्तुओं के आपस में मिलने से एक विशेष गुण संयुक्त सम्मिश्रण तैयार होता है, जो जलने पर वायुमण्डल में एक विशिष्ट प्रवाह पैदा करता है। वेद-मन्त्रों के उच्चारण की शक्ति से उस प्रभाव में और भी अधिक वृद्धि होती है। फलस्वरूप जो व्यक्ति उसमें सम्मिलित होते हैं उन पर तथा निकटवर्ती वायुमण्डल पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। सूक्ष्म प्रकृति के अन्तराल में जो नाना प्रकार की दिव्य शक्तियाँ काम करती हैं, उन्हें देवता कहते हैं। इन देवताओं को अनुकूल बनाना, उनको उपयोगी दिशा में प्रयोग करना, उनसे सम्बन्ध स्थापित करना, यही देवताओं को प्रसन्न करना है। यह प्रयोजन यज्ञ द्वारा आसानी से पूरा हो जाता है।

संसार में कभी भी किसी वस्तु का नाश नहीं होता केवल रूपान्तर होता रहता है। जो वस्तुएँ हवन में होमी जाती हैं, वे तथा वेद-मन्त्रों की शक्ति के साथ जो सद्भावनायें यज्ञ द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, वे दोनों मिलकर आकाश में छा जाती हैं। उनका प्रवाह समस्त संसार के लिये कल्याणकारक परिणाम उत्पन्न करने वाला होता है। इस प्रकार यह संसार की सेवा का, विश्व में सुख-शान्ति उत्पन्न करने का एक उत्तम माध्यम एवं पुण्य-परमार्थ है। यज्ञ से याज्ञिक की आत्म-शुद्धि होती है, उनके पाप-ताप नष्ट होते हैं तथा शान्ति एवं सद्गति उपलब्ध होती है। सच्चे हृदय से यज्ञ करने वाले मनुष्यों का लोक-परलोक सुधरता है। यदि उनका पुण्य पर्याप्त हुआ, तब तो उन्हें स्वर्ग या मुक्ति की प्राप्ति होती है अन्यथा यदि दूसरा जन्म भी लेना पड़ा तो सुखी, श्रीमान्, साधन-सम्पन्न उच्च परिवार में जन्म होता है, ताकि आगे के लिये वह सुविधा के साथ सत्कर्म करता हुआ लक्ष्य को सफलतापूर्वक प्राप्त कर सके।

यज्ञ का अर्थ दान, एकता, उपासना से है। यज्ञ का वेदोक्त आयोजन शक्तिशाली मन्त्रों का विधिवत् उच्चारण, विधिपूर्वक बनाये हुए कुण्ड, शास्त्रोक्त समिधायें तथा सामग्रियाँ जब ठीक विधानपूर्वक हवन की जाती हैं, उनका दिव्य प्रभाव विस्तृत आकाश मण्डल में फैल जाता है। उसके प्रभाव के फलस्वरूप प्रजा के अन्तःकरण में प्रेम, एकता, सहयोग, सद्भाव, उदारता, ईमानदारी, संयम, सदाचार, आस्तिकता आदि सद्भावों एवं सद्विचारों का स्वयमेव आविर्भाव होने लगता है। पत्तों से आच्छादित दिव्य आध्यात्मिक वातावरण के स्थान पर जो सन्तान पैदा होती है, वह स्वस्थ, सद्गुणी एवं उच्च विचारधाराओं से परिपूर्ण होती है। पूर्वकाल में पुत्र प्राप्ति के लिये ही पुत्रेष्टि यज्ञ कराते हों सो बात नहीं, जिनको बराबर सन्तानें प्राप्त होती थीं, वे भी सद्गुणी एवं प्रतिभावान् सन्तान प्राप्त करने के लिये पुत्रेष्टि यज्ञ कराते थे। गर्भाधान, सीमान्त, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण आदि संस्कार बालक के जन्म लेते-लेते अबोध अवस्था में ही हो जाते थे। इनमें से प्रत्येक में हवन होता था, ताकि बालक के मन पर दिव्य प्रभाव पड़ें और वह बड़ा होने पर पुरुष सिंह एवं महापुरुष बने। प्राचीनकाल का इतिहास साक्षी है, कि जिन दिनों इस देश में यज्ञ की प्रतिष्ठा थी, उन दिनों यहाँ महापुरुषों की कमी नहीं थी। आज यज्ञ का तिरस्कार करके अनेक दुर्गुणों, रोगों, कुसंस्कारों और बुरी आदतों से ग्रसित बालकों से ही हमारे घर भरे हुए हैं।

यज्ञ से अदृश्य आकाश में जो आध्यात्मिक विद्युत् तरंगें फैलती हैं, वे लोगों के मनों से द्वेष, पाप, अनीति, वासना, स्वार्थपरता, कुटिलता आदि बुराइयों को हटाती हैं। फलस्वरूप, उससे अनेकों समस्यायें हल होती हैं। अनेकों उलझनें, गुत्थियाँ, पेचीदगियाँ, चिन्तायें, भय, आशंकायें तथा बुरी संभावनायें समूल नष्ट हो जाती हैं। राजा, धनी, सम्पन्न लोग, ऋषि-मुनि बड़े-बड़े यज्ञ करते थे, जिससे दूर-दूर तक का वातावरण निर्मल होता था और देश-व्यापी, विश्व-व्यापी बुराइयाँ तथा उलझनें सुलझती थीं।

बड़े रूप में यज्ञ करने की जिनकी सामर्थ्य है, उन्हें वैसे आयोजन करने चाहिये। अग्नि का मुख ईश्वर का मुख है। उसमें जो कुछ खिलाया जाता है, वह सच्चे अर्थों में ब्रह्मभोज है। ब्रह्म अर्थात् परमात्मा, भोज अर्थात् भोजन, परमात्मा को भोजन कराना, यज्ञ के मुख में आहुति छोड़ना ही है। भगवान् हम सबको खिलाता है, हमारा भी कर्तव्य है कि अपने उपकारी के प्रति पूजा करने में कंजूसी न करें। जिनकी आर्थिक स्थिति वैसी नहीं है, वे कई व्यक्ति थोड़ा-थोड़ा सहयोग करके सामूहिक यज्ञ की व्यवस्था कर सकते हैं। जहाँ साधन, सुयोग न हों, वहाँ

यदाकदा छोटे-छोटे हवन किये जा सकते हैं अथवा जहाँ नियमित यज्ञ होते हैं, वहाँ अपनी ओर से कुछ आहुतियों का हवन कराया जा सकता है। कोई अन्य व्यक्ति यज्ञ कर रहे हों तो उसमें समय, सहयोग एवं सहायता देकर उसे सफल बनाने का प्रयत्न भी यज्ञ में भागीदार होना ही है।

हमें यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये कि यज्ञ में जो कुछ धन, सामग्री, श्रम लगाया जाता है वह कभी निरर्थक नहीं जाता। एक प्रकार से वह देवताओं के बैंक में जमा हो जाता है और उचित अवसर पर सन्तोषजनक ब्याज समेत वापस मिल जाता है। विधिपूर्वक शास्त्रीय पद्धति और विशिष्ट उपचारों तथा विधानों के साथ किये गये हवन तो और भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। वे एक प्रकार से दिव्य अस्त्र बन जाते हैं। पूर्वकाल में यज्ञ के द्वारा मनोवांछित वर्षा होती थी, योद्धा लोग युद्ध में विजयश्री प्राप्त करते थे और योगी आत्म-साक्षात्कार करते थे। यज्ञ को वेदों में 'कामधुक्' कहा है, जिसका आशय यही है कि वह मनुष्य के सभी अभावों और बाधाओं को दूर करने वाला है।

नित्य का अग्निहोत्र बहुत सरल है। उसमें कुछ इतना भारी खर्च नहीं होता कि मध्यम वृत्ति का मनुष्य उस भार को उठा न सके। जो लोग नित्य हवन नहीं कर सकते, वे सप्ताह में एक बार रविवार अथवा अमावस्या, पूर्णमासी को अथवा महीने में एक बार पूर्णमासी को थोड़ा या बहुत हवन करने का प्रयत्न करें। विधि-विधान भी इन साधारण हवनों का कोई कठिन नहीं है। "गायत्री यज्ञ विधान" पुस्तक में उसकी सरल विधियाँ बताई जा चुकी हैं। उनके आधार पर बिना पण्डित-पुरोहित की सहायता के कोई भी द्विज आसानी से वह करा सकता है। जहाँ कुछ भी विधान न मालूम हो, वहाँ केवल शुद्ध घृत की आहुतियाँ गायत्री मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा' शब्द लगाते हुए दी जा सकती हैं। किसी न किसी रूप में यज्ञ परम्परा को जारी रखा जाए, तो वह भारतीय संस्कृति की एक बड़ी भारी सेवा है।

साधारण होम भी बहुत उपयोगी होता है, उससे घर की वायु शुद्धि, रोग-निवृत्ति, अनिष्टों से आत्म-रक्षा होती है। फिर विशेष आयोजन के साथ विधि-विधानपूर्वक किये गये यज्ञ तो असाधारण फल उत्पन्न करते हैं। यह एक विद्या है। पाँचों तत्त्वों के होम में एक वैज्ञानिक सम्मिश्रण होता है जिससे एक प्रचण्ड शक्ति को "द्वि मूर्धा, द्वि नासिका, सप्तहस्त, द्वि मुख, सप्त जिह्वा, उत्तर मुख कोटि द्वादश मूर्धा, द्वि पंचाशत्कला युतम्" आदि विशेषण युक्त कहा गया है। इस रहस्यपूर्ण संकेत में यह बताया गया है कि यज्ञाग्नि की मूर्धा भौतिक और आध्यात्मिक दोनों हैं। ये क्षेत्र सफल बनाये जा सकते हैं। स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति यज्ञ की नासिका है, उन पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। सातों प्रकार की सम्पदायें यज्ञाग्नि के हाथ में हैं, वाममार्ग और दक्षिण मार्ग ये दो मुख हैं, सातों लोक जिह्वायें हैं। इन सब लोकों में जो कुछ भी विशेषतायें हैं, वे यज्ञाग्नि के मुख में मौजूद हैं। उत्तर ध्रुव का चुम्बकत्व केन्द्र अग्नि मुख है। ५२ कलायें यज्ञ की ऐसी हैं, जिनमें से कुछ को प्राप्त करके ही रावण इतना शक्तिशाली हो गया था। यदि यह सभी कलायें उपलब्ध हो जाएँ, तो मनुष्य साक्षात् अग्नि स्वरूप हो सकता है और विश्व के सभी पदार्थ उसके करतलगत हो सकते हैं। यज्ञ की महिमा अनन्त है और उसका आयोजन भी फलदायक होता है। गायत्री उपासकों के लिये तो यज्ञ पिता तुल्य पूजनीय है। यज्ञ भगवान् की पूजा होती रहे, यह प्रयत्न करना आवश्यक है।

गायत्री महाविज्ञान

द्वितीय भाग

भूमिका

गायत्री के विषय में हमारे प्राचीन ग्रन्थों सुविस्तृत वर्णन है । अनेक ग्रन्थों में गायत्री के विवेचन, इतिहास, विवरण, साधन एवं माहात्म्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा हुआ है । विगत बीस वर्षों में गायत्री सम्बन्धी शोध के लिए हमने प्राय: दो हजार आर्ष ग्रन्थ पढ़े हैं । उनमें कितने ही प्रकरण तो ऐसे गूढ़ हैं, जिनका समझना केवल इस मार्ग के विशेषज्ञों के लिए ही सम्भव है; परन्तु सर्वसाधारण के लिए उपयोगी साहित्य भी इतना अधिक है कि उसे पढ़ने और समझने की उपयोगिता भी कम नहीं है ।

गायत्री विद्या का सर्वसुलभ प्राचीन साहित्य इस पुस्तक में संकलित किया गया है । यद्यपि हमारे तत् सम्बन्धी संकलित साहित्य का यह एक अंश मात्र ही है, फिर भी इससे यह तो जाना जा सकता है कि गायत्री विद्या का कितना अधिक महत्त्व है । यदि सुयोग हुआ तो अन्य साहित्य भी प्रकाशित करेंगे ।

गायत्री मन्त्र अकेला ही इतना सारगर्भित है, कि उसे समझने में कई जन्म लग सकते हैं । साथ ही उसके गर्भ में वह सभी तत्त्वज्ञान भरा हुआ है, जिसकी व्याख्या के लिए वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, दर्शन, उपनिषद् , ब्राह्मण, आरण्यक, स्मृति, नीति, संहिता एवं सूत्र ग्रन्थों की रचना की गई है । इस पुस्तक में वर्णित गायत्री सम्बन्धी लघु संग्रहों से पाठक इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि गायत्री विद्या कितनी अगाध है ।

इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में गायत्री सम्बन्धी आवश्यक जानकारी एवं सर्वसाधारण के लिए उपयोगी साधन-विधान का विस्तारपूर्वक उल्लेख कर चुके हैं, जो बात समझ में न आये, जवाबी पत्र द्वारा उसको पूछा जा सकता है । वाममार्गी तांत्रिक साधनाओं के सम्बन्ध में पूछताछ करना निरर्थक है; क्योंकि यह विज्ञान केवल सुपरीक्षित, अधिकारी एवं उपयुक्त मनोभूमि के लोगों के लिए ही सीमित एवं सुरक्षित है ।

हमारा सुनिश्चित विश्वास है कि मनुष्य के लिए गायत्री से बढ़कर और कोई तत्त्वज्ञान एवं जीवनक्रम नहीं हो सकता । इस महाविद्या के प्रचार में यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी- ऐसा हमारा विश्वास है ।

– श्रीराम शर्मा आचार्य

गायत्री महाविज्ञान
द्वितीय-भाग
गायत्री माहात्म्य

गायत्री के इतने महान् लाभों के मूल में क्या-क्या कारण हैं , जिनके कारण इतना सब आश्चर्य होता है, इसके बारे में पूर्ण जानकारी होना तो मनुष्यों के लिए कठिन है, पर उन महान् कारणों में एक कारण यह भी है कि गायत्री के पीछे अनेक मनस्वी साधकों का जगमगाता हुआ साधना-बल है । सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा से लेकर आधुनिक काल तक समस्त ऋषि-मुनियों ने, साधु-महात्माओं ने, श्रेयमार्गियों ने गायत्री मंत्र का आश्रय लिया है । इन सबके द्वारा जितना साधन, जप, अनुष्ठान गायत्री मन्त्र का हुआ है उतना और किसी का नहीं हुआ । अत्यन्त उच्चकोटि की आत्माओं ने अपनी सर्वश्रेष्ठ भावनाओं को सर्वाधिक एकाग्रता और तन्मयता के साथ गायत्री में लगाया है । कल्प-कल्पान्तरों से यह क्रम चलता आया है । इस प्रकार इस एक मंत्र के पीछे इतनी उच्चकोटि की आत्म-विद्युत् सम्मिलित हो गयी है कि सूक्ष्म लोकों में उसका एक भारी पुञ्ज जमा हो गया है ।

विज्ञान बताता है कि कोई शब्द या विचार कभी नष्ट नहीं होता । आज जो बातें कही जा रही हैं या सोची जा रही हैं, वे अपनी तरंगों के साथ आकाश में फैल जायेंगी और अनन्तकाल तक सृष्टि के अन्तराल में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहेंगी । जो तरंगें विशेष बलवान् होती हैं, वे तो विशेष रूप से प्रदीप्त रहती हैं । महाभारत युद्ध के संस्मरण और तानसेन के गायन की तरंगों को सूक्ष्म आकाश में से पकड़ कर रिकार्ड बना लेने के लिए वैज्ञानिक प्रयत्न चल रहे हैं । यदि वे सफल हुए तो प्राचीनकाल की महत्त्वपूर्ण वार्ताओं को ज्यों का त्यों हम कानों से सुन सकेंगे, तब भगवान् कृष्ण के मुख से निकली गीता को ज्यों का त्यों अपने कानों से सुनना सम्भव हो जायेगा । शब्द और विचारों को सूक्ष्म से स्थूल करना भले ही अभी बहुत काल तक कठिन रहे, पर इतना निश्चित है कि उनका अस्तित्व नष्ट नहीं होता । अब तक असंख्यों महान् व्यक्तियों के द्वारा गायत्री के प्रति जिस श्रद्धा और साधना का उपयोग हुआ है, वह नष्ट नहीं हो गयी है, वरन् सूक्ष्म-जगत् में उसका प्रबल अस्तित्व बना हुआ है । "एक प्रकार के पदार्थों का एक स्थान पर सम्मिलन" के सिद्धान्तानुसार उन सभी साधकों की श्रद्धाएँ, साधनाएँ, भावनाएँ, तपश्चर्याएँ एक स्थान पर एकत्रित होकर एक प्रबल चैतन्यता-युक्त आध्यात्मिक विद्युत्-भण्डार जमा हो गया है ।

जिन्हें विचार-विज्ञान का थोड़ा-सा भी परिचय है, वे जानते हैं कि मनुष्य जिस प्रकार सोचता है उसी प्रकार का एक आकर्षण-चुम्बकत्व उसके मस्तिष्क में उत्पन्न हो जाता है । यह चुम्बकत्व निखिल आकाश में उड़ते हुए उसी जाति के अन्य विचारों को आकर्षित करके अपने पास बुला लेता है और थोड़े ही समय में उसके पास उस जाति के विचारों का भारी जमाव जुड़ जाता है । साधुता की बात सोचने वाले दिन-दिन साधुता के विचारों, गुणों, कर्मों और स्वभावों से परिपूर्ण होते जाते हैं । इसी प्रकार दुष्टता एवं पाप के विचार का मस्तिष्क थोड़े ही समय में उस दिशा में बड़ा कुशल हो जाता है । यह सब विचार-आकर्षण विज्ञान के अनुसार होता है । इसी विज्ञान के अनुसार गायत्री के साधकों की, ये विचार - श्रृंखलाएँ सम्बद्ध हो जाती हैं, जो सृष्टि के आदि को लेकर अब तक की महान् आत्माओं द्वारा तैयार की गयी है । ऊँची दीवारों पर कोई व्यक्ति अपने बाहुबल द्वारा बड़ी मुश्किल से चढ़ सकता है, परन्तु कोई अच्छी सीढ़ी दीवार के सहारे लगा दी जाए, तो उस पर पैर रखते ही आसानी से मनुष्य दीवार पर चढ़ जाता है । भूतकाल के साधकों की बनायी हुई सीढ़ी पर चढ़कर हम गायत्री तत्त्व तक आसानी से चढ़ सकते हैं और उस स्थान पर प्राप्त होने वाली समृद्धियों को सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं ।

गायत्री-साधना में जितना श्रम हमें करना पड़ता है, उससे अनेक गुनी सहायता पूर्वकाल के महान् साधकों द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति से मिल जाती है और हम अनायास ही उन महान् लाभों से लाभान्वित हो जाते हैं, जिसके

लिए किसी समय किन्हीं साधकों को बहुत अधिक श्रम करना पड़ता होगा, परन्तु सूक्ष्म जगत् में ऐसे सूक्ष्म विधान निर्मित हो चुके हैं, जिन पर आरूढ़ होते ही हम द्रुतगति से दौड़ने लगते हैं। पानी की बूँद समुद्र में गिर कर समुद्र बन जाती है, एक सिपाही जब सेना में भर्ती हो जाता है, तो वह सेना का अंग बन जाता है, एक नागरिक की पीठ पर उसकी सरकार की समस्त ताकत होती है, इसी प्रकार एक साधक जो गायत्री शक्ति-पुञ्ज के साथ आबद्ध हो जाता है, उसे उस शक्ति-पुञ्ज द्वारा लाभ उठाने का पूरा-पूरा अवसर मिल जाता है। जितना प्रकाशवान् शक्ति-पुञ्ज गायत्री मन्त्र के पीछे है, उतना और किसी वेद-मन्त्र के पीछे नहीं है। यही कारण है कि गायत्री की साधना से स्वल्प श्रम में अत्यधिक लाभ प्राप्त होता है।

इतने पर भी हम देखते हैं कि कितने ही मनुष्य गायत्री की महिमा को जानते हुए भी उससे लाभ नहीं उठाते। किसी के बिल्कुल पास, यहाँ तक कि जेब में ही प्रचुर धन रखा हो, पर यदि वह उसका उपयोग करके आनंद प्राप्त न करे, तो वह उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। गायत्री एक दैवी विद्या है, जो परमात्मा ने हमारे लिए सुलभ बनाई है। ऋषि-मुनियों ने धर्म-शास्त्रों में पग-पग पर हमारे लिए गायत्री-साधना द्वारा लाभान्वित होने का आदेश किया है, इतने पर भी यदि हम उससे लाभ न उठाएँ, साधना न करें, तो उसे दुर्भाग्य के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

अथ गायत्री माहात्म्य

गायत्री की महिमा का वेद, शास्त्र, पुराण सभी वर्णन करते हैं। अथर्ववेद में गायत्री की स्तुति की गयी है, जिसमें उसे आयु, प्राण, शक्ति, पशु, कीर्ति, धन और ब्रह्मतेज प्रदान करने वाली कहा गया है-

ॐ स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥ -अथर्व० १९/७१/१

अथर्ववेद में स्वयं वेद भगवान् ने कहा है—

मेरे द्वारा स्तुति की गई, द्विजों को पवित्र करने वाली वेदमाता गायत्री, आयु, प्राण, शक्ति, पशु, कीर्ति, धन एवं ब्रह्मतेज उन्हें प्रदान करें।

यथा मधु च पुष्पेभ्यो घृतं दुग्धाद्रसात्पयः।
एवं हि सर्ववेदानां गायत्री सारमुच्यते॥ - बृहद् योगियाज्ञवल्क्यस्मृति ४.१६

"जिस प्रकार पुष्पों का सारभूत मधु, दूध का घृत, रसों का सारभूत पय है, उसी प्रकार गायत्री मन्त्र समस्त वेदों का सार है।"

तदित्यृचः समो नास्ति मन्त्रो वेदचतुष्टये।
सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च दानानि च तपांसि च।
समानि कलया प्राहुर्मुनयो न तदित्यृचः॥ - विश्वामित्र

"गायत्री मन्त्र के समान मन्त्र चारों वेदों में नहीं है। सम्पूर्ण वेद, यज्ञ, दान, तप, गायत्री मन्त्र की एक कला के समान भी नहीं हैं, ऐसा मुनि लोग कहते हैं।"

गायत्री छन्दसां मातेति॥ - महानारायणोपनिषद् १५/१

"गायत्री वेदों की माता अर्थात् आदि कारण है।"

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादम्पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ - मनु० अ० २/७७

"परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्माजी ने तीन ऋचा वाली गायत्री के तीनों चरणों को तीन वेदों से सारभूत निकाला है।"

गायत्र्यास्तु परन्नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्।
महाव्याहृतिसंयुक्ता प्रणवेन च संजपेत्॥ - सम्वर्त स्मृ० श्लो० २१४

"पाप को नाश करने में समर्थ गायत्री के समान अन्य कोई मन्त्र नहीं है, अत: प्रणव तथा महाव्याहृतियों के सहित गायत्री मन्त्र का जाप करें ।"

नान्नतोय-समं दानं न चाहिंसापरं तप: ।
न गायत्री समं जाप्यं न व्याहृति-समं हुतम् ॥ - सूत संहिता यज्ञ वैभव खण्ड अ० ६/३०

" अन्न और जल के समान कोई भी दान, अहिंसा के समान तप, गायत्री के समान जप, व्याहृति के समान अग्निहोत्र कोई भी नहीं है ।"

हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे ।
तस्मात्तामभ्यसेन्नित्यं ब्राह्मणो हृदये शुचि: ॥

"गायत्री, नरक रूपी समुद्र में गिरते हुए को हाथ पकड़कर बचाने वाली है, अत: द्विज नित्य ही पवित्र हृदय से गायत्री का अभ्यास करें अर्थात् जपें ।"

गायत्रीं चैव वेदांश्च तुलया समतोलयत् ।
वेदा एकत्र सांगास्तु गायत्री चैकत: स्थिता ॥ - योगी याज्ञवल्क्य० ४८०

"गायत्री और समस्त वेदों को तराजू में तोला गया । षट् अंगों सहित वेद एक ओर रखे गये और गायत्री को एक ओर रखा गया ।"

सारभूतास्तु वेदानां गुह्योपनिषदो मता: ।
ताभ्य: सारस्तु गायत्री तिस्रो व्याहृतयस्तथा ॥ - योगी याज्ञ० ४.७७

"वेदों के सार उपनिषद् हैं और उपनिषदों का सार गायत्री और तीनों महा व्याहृतियाँ हैं ।"

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी ।
गायत्र्यास्तु परन्नास्ति दिवि चेह च पावनम् ॥ - शंख स्मृति १२/२४

गायत्री वेदों की जननी है । गायत्री पापों को नाश करने वाली है । गायत्री से अन्य कोई पवित्र करने वाला मन्त्र स्वर्ग और पृथ्वी पर नहीं है ।

यद्यथाग्निर्देवानां, ब्राह्मणो मनुष्याणाम् ।
वसन्त ऋतूनामियं गायत्री चास्ति छन्दसाम् ॥

"जिस प्रकार देवताओं में अग्नि, मनुष्यों में ब्राह्मण, ऋतुओं में वसन्त ऋतु श्रेष्ठ है, उसी प्रकार छन्दों में गायत्री श्रेष्ठ है ।"

अष्टादशसु विद्यासु मीमांसाति गरीयसी ।
ततोऽपि तर्कशास्त्राणि पुराणं तेभ्य एव च ॥
ततोऽपि धर्मशास्त्राणि तेभ्यो गुर्वी श्रुतिर्द्विज ! ।
ततोऽप्युपनिषच्छ्रेष्ठा गायत्री च ततोऽधिका ॥
दुर्लभा सर्वमन्त्रेषु गायत्री प्रणवान्विता । - स्कन्द पु० ४/९/४९-५१

"अठारह विद्याओं में मीमांसा अत्यंत श्रेष्ठ है । मीमांसा से तर्कशास्त्र श्रेष्ठ है और तर्कशास्त्र से पुराण श्रेष्ठ हैं । पुराणों से भी धर्मशास्त्र श्रेष्ठ हैं । हे द्विज ! धर्मशास्त्रों से वेद श्रेष्ठ हैं और वेदों से उपनिषद् श्रेष्ठ हैं और उपनिषदों से गायत्री मन्त्र अत्यधिक श्रेष्ठ है ।"

प्रणव युक्त यह गायत्री समस्त वेदों में दुर्लभ है ।

नास्ति गंगा समं तीर्थं न देव: केशवात्पर: ।
गायत्र्यास्तु परं जाप्यं न भूतं न भविष्यति ॥ - बृ.यो०याज्ञ०अ० १०.१०-११

"गंगाजी के समान कोई तीर्थ नहीं है, केशव से श्रेष्ठ कोई देवता नहीं है। गायत्री मन्त्र के जप से श्रेष्ठ कोई जप न आज तक हुआ है और न होगा।"

सर्वेषां जप्यसूक्तानामृचां च यजुषां तथा।
साम्नां चैकाक्षरादीनां गायत्री परमो जपः॥ - बृ० पाराशर स्मृति अ० ३/४

"समस्त जप सूक्तों में, ऋक्-यजु एवं सामवेद में तथा एकाक्षरादि मन्त्रों में गायत्री मन्त्र जप परम श्रेष्ठ है।"

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परन्तपः।
सावित्र्यास्तु परन्नास्ति पावनं परमं स्मृतम्॥ - अग्नि पुराण १६६/१८

"एकाक्षर अर्थात् 'ओ३म्' परब्रह्म है। प्राणायाम परम तप है और गायत्री मन्त्र से बढ़कर पवित्र करने वाला कोई मन्त्र नहीं है।"

गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्।
हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे॥ - शंख स्मृति अ० १२/२५

"नरक रूपी समुद्र में गिरते हुए को हाथ पकड़ कर बचाने वाली गायत्री के समान पवित्र करने वाली वस्तु या मन्त्र पृथ्वी पर तथा स्वर्ग में भी नहीं है।"

गायत्री चैव वेदाश्च ब्रह्मणा तोलिताः पुरा।
वेदेभ्यश्च चतुर्भ्योऽपि गायत्र्यतिगरीयसी॥ - बृ० पाराशर स्मृति अ० ४/१६

"प्राचीनकाल में ब्रह्माजी ने गायत्री को वेदों से तोला। चारों वेदों से भी गायत्री का पलड़ा भारी रहा।"

सोमादित्यान्वयाः सर्वे राघवाः कुरवस्तथा।
पठन्ति शुचयो नित्यं सावित्रीं परमां गतिम्॥ - महाभारत अनु० पर्व अ० १५०/७७

"हे युधिष्ठिर! सम्पूर्ण चन्द्रवंशी, सूर्यवंशी, रघुवंशी तथा कुरुवंशी नित्य ही पवित्र होकर परम गतिदायक गायत्री मन्त्र का जप करते हैं।"

बहुना किमिहोक्तेन यथावत् साधु साधिता।
द्विजन्मानामियं विद्या सिद्धा कामदुघा स्मृता॥

"यहाँ पर अधिक कहने से क्या लाभ? अच्छी प्रकार सिद्ध की गयी गायत्री विद्या, द्विज जाति के लिए कामधेनु कही गई है।"

सर्ववेदोद्धृतः सारो मन्त्रोऽयं समुदाहृतः।
ब्रह्मादिदेवा गायत्री परमात्मा समीरितः॥

"यह गायत्री मन्त्र समस्त वेदों का सार कहा गया है। गायत्री ही ब्रह्मा आदि देवता है। गायत्री ही परमात्मा कही गयी है।"

या नित्या ब्रह्मगायत्री सैव गंगा न संशयः।
सर्वतीर्थमयी गंगा तेन गंगा प्रकीर्तिता॥ - गायत्री तन्त्र ३/१४३

"गंगा सर्व तीर्थमय होने से 'गंगा' कहलाती है। वह गंगा ब्रह्म गायत्री का ही रूप है।"

सर्वशास्त्रमयी गीता गायत्री सैव निश्चिता।
यागतीर्थं च गोलोकं गायत्रीरूपमद्भुतम्॥ - गायत्री तन्त्र ३/१४४

"गीता में सब शास्त्र भरे हुए हैं। वह गीता निश्चय ही गायत्री रूप है। याग, तीर्थ और गोलोक यह भी गायत्री के ही रूप हैं।"

अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छन्तिष्ठन् यथा तथा।
गायत्रीं प्रजपेद्धीमान् जपात् पापान्निवर्तते॥ - गायत्री तन्त्र

"अपवित्र हो अथवा पवित्र हो, चलता हो अथवा बैठा हो, जिस भी स्थिति में हो, बुद्धिमान् मनुष्य गायत्री का जप करता रहे। इस जप के द्वारा पापों से छुटकारा होता है।"

मननात् पापतस्त्राति मननात् स्वर्गमश्नुते।
मननात् मोक्षमाप्नोति चतुर्वर्गमयो भवेत्॥ -गायत्री तन्त्र

"गायत्री का मनन करने से पाप से छूटते हैं, स्वर्ग प्राप्त होता है और मुक्ति मिलती है तथा चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) सिद्ध होते हैं।

गायत्रीं तु परित्यज्य अन्यमन्त्रानुपासते।
त्यक्त्वा सिद्धान्नमन्यत्र भिक्षामटति दुर्मतिः॥

"जो गायत्री को छोड़कर दूसरे मन्त्रों की उपासना करता है, वह दुर्बुद्धि मनुष्य पकाये हुए अन्न को छोड़कर भिक्षा के लिए घूमने वाले पुरुष के समान है।"

नित्ये नैमित्तिके काम्ये तृतीये तपो वर्धने।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति इह लोके परत्र च॥

"नित्य, नैमित्तिक, काम्य की सफलता तथा तप की वृद्धि के लिये इस लोक तथा परलोक में गायत्री से बढ़कर कोई नहीं है।"

सावित्री - जाप्यनिरतः स्वर्गमाप्नोति मानवः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन स्नातः प्रयतमानसः।
गायत्रीं तु जपेत् भक्त्या सर्वपापप्रणाशिनीम्॥ - शंख० १२/३०-३१

"गायत्री मन्त्र जानने वाला मनुष्य स्वर्ग को प्राप्त करता है। इसी कारण स्नान कर समस्त प्रयत्नों से स्थिर चित्त हो सारे पापों के नाश करने वाली गायत्री का जाप करे।"

गायत्री जप के लाभ

गायत्री का जप करने से कितना महत्त्वपूर्ण लाभ होता है, इसका कुछ आभास निम्नलिखित थोड़े से प्रमाणों से जाना जा सकता है। ब्राह्मण के लिए तो इसे विशेष रूप से आवश्यक कहा है, क्योंकि ब्राह्मणत्व का सम्पूर्ण आधार सद्बुद्धि पर निर्भर है और वह सद्बुद्धि गायत्री के बताये हुए मार्ग पर चलने से मिलती है।

सर्वेषां वेदानां गुह्योपनिषत्सारभूतां ततो गायत्रीं जपेत्। - छान्दोग्य परिशिष्ट

'गायत्री समस्त वेदों का और गुह्य उपनिषदों का सार है। इसलिए गायत्री मन्त्र का नित्य जाप करें।

सर्ववेदसारभूता गायत्र्यास्तु समर्चना।
ब्रह्मादयोऽपि संध्यायां तां ध्यायन्ति जपन्ति च॥ -दे० भा० स्क० ११ अ० १६/१५-१६

'गायत्री मन्त्र की आराधना समस्त वेदों का सारभूत है। ब्रह्मादि देवता भी संध्या काल में गायत्री का ध्यान करते हैं और जप करते हैं।'

गायत्रीमात्रनिष्णातो द्विजो मोक्षमवाप्नुयात्॥ - दे० भा० स्क० १२ अ० ८/९०

'गायत्री मात्र की उपासना करने वाला ब्राह्मण भी मोक्ष को प्राप्त होता है।'

ऐहिकामुष्मिकं सर्वं गायत्रीजपतो भवेत्। - अग्नि पुराण

'गायत्री जपने वाले को सांसारिक और पारलौकिक समस्त सुख प्राप्त हो जाते हैं।'

योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥ - मनुस्मृति २/८२

'जो मनुष्य तीन वर्ष तक प्रतिदिन तत्परतापूर्वक गायत्री मन्त्र जपता है, वह अवश्य ब्रह्म को प्राप्त करता है और वायु के समान स्वेच्छागमन वाला होता है।'

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यात् इति प्राह मनुः स्वयम्।
अक्षयमोक्षमाप्नोति गायत्री - मात्र - जापनात्॥ - शौनक

'इस प्रकार मनु जी ने स्वयं कहा है कि अन्य देवताओं की उपासना करे या न करे, केवल गायत्री के जप से द्विज अक्षय मोक्ष को प्राप्त होता है।'

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ - मनु० २/७७

'परमेष्ठी पितामह ब्रह्माजी ने एक-एक वेद से सावित्री के एक-एक पद की रचना की, इस प्रकार तीन पदों का सृजन किया।'

एतया ज्ञातया सर्वं वाङ्मयं विदितं भवेत्।
उपासितं भवेत्तेन विश्वं भुवनसप्तकम्॥ - योगी याज्ञ० ४७०

'गायत्री के जान लेने से समस्त विद्याओं का ज्ञाता हो जाता है, इस प्रकार उसने केवल गायत्री की ही उपासना नहीं की; अपितु सात लोकों की उपासना कर ली।'

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो गायत्रीं यश्च विन्दति।
चरितब्रह्मचर्यश्च स वै श्रोत्रिय उच्यते॥ - योगी याज्ञ०

'जो ब्रह्मचर्य पूर्वक, ओंकार, महाव्याहृतियों सहित गायत्री मन्त्र का जप करता है, वह श्रोत्रिय है।'

ओंकारसहितां जपन् तां च व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेद - पुण्येन युज्यते॥ - मनुस्मृति अ० २/७८

'जो ब्राह्मण दोनों संध्याओं में प्रणव-व्याहृति सहित गायत्री मंत्र का जप करता है, वह वेदों के पढ़ने के फल को प्राप्त करता है।'

गायत्रीं जपते यस्तु द्विकालं ब्राह्मणः सदा।
असत्प्रतिगृहीतोऽपि स याति परमां गतिम्॥ अग्निपुराण

'जो ब्राह्मण सदा सायंकाल और प्रातःकाल गायत्री का जप करता है, वह ब्राह्मण अयोग्य प्रतिग्रह (दान) लेने पर भी परमगति को प्राप्त होता है।'

सकृदपि जपेद्विद्वान् गायत्रीं परमाक्षरीम्।
तत्क्षणात् संभवेत्सिद्धिर्ब्रह्मसायुज्यमाप्नुयात्॥ - गायत्री पुरश्चरण २८

'श्रेष्ठ अक्षरों वाली गायत्री को विद्वान् यदि एक बार भी जपे, तो तत्क्षण सिद्धि होती है और वह ब्रह्मा की सायुज्यता को प्राप्त करता है।'

जप्येनैव तु संसिद्ध्येत् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥ - मनु० २/८७

'ब्राह्मण अन्य कुछ करे या न करे, परन्तु वह केवल गायत्री से ही सिद्धि पा सकता है।'

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादनुष्ठानादिकं तथा।
गायत्रीमात्रनिष्ठस्तु कृतकृत्यो भवेद् द्विजः॥ - गायत्री तन्त्र ८

'अन्य अनुष्ठानादिक करे या न करे, गायत्री की उपासना करने वाला द्विज कृतकृत्य हो जाता है।'

सन्ध्यासु चार्घ्यदानं च गायत्रीजपमेव च।
सहस्रत्रितयं कुर्वन् सुरैः पूज्यो भवेन्मुने॥ - गायत्री तन्त्र श्लोक ९

'हे मुने ! संध्याकाल में ही सूर्य को अर्घ्यदान और तीन हजार नित्य गायत्री जपने मात्र से पुरुष देवताओं का भी पूजनीय हो जाता है।'

यदक्षरैकसंसिद्धेः स्पर्धते ब्राह्मणोत्तमः ।
हरिशंकरकंजोत्थ - सूर्यचन्द्रहुताशनैः ॥ - गायत्री पुर० ११

'गायत्री के एक अक्षर की सिद्धि मात्र से हरि, शंकर, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवताओं से भी साधक स्पर्धा करने लगता है ।'

दशसाहस्रमभ्यस्ता गायत्री शोधनी परा । - लघु अत्रिसंहिता ४.४

दस हजार बार जपी गयी गायत्री परम शोधन करने वाली है ।

सर्वेषाञ्चैव पापानां संकटे समुपस्थिते ।
दशसहस्रकाभ्यासो गायत्र्याः शोधनं परम् ॥

'दस हजार गायत्री का जप, समस्त पापों को तथा संकटों को नाश करके परम शुद्ध करने वाला है ।'

गायत्रीमेव यो ज्ञात्वा सम्यगुच्चरते पुनः ।
इहामुत्र च पूज्योऽसौ ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ॥ - व्यास

'जो गायत्री को भली प्रकार जानकर उसका उच्चारण करता है, वह इस लोक और परलोक में ब्रह्म की सायुज्यता को प्राप्त करता है ।'

मोक्षाय च मुमुक्षूणां श्रीकामानां श्रिये तथा ।
विजयाय युयुत्सूनां व्याधितानामरोगकृत् ॥ - गायत्री पंचांग १

'गायत्री-साधना से मुमुक्षुओं को मोक्ष मिलेगा, श्री कामियों को सम्पत्ति प्राप्त होगी, युद्धेच्छुओं को विजय तथा व्याधिग्रस्त को नीरोगिता प्राप्त होगी ।'

वश्याय वश्यकामानां विद्यायै वेदकामिनाम् ।
द्रविणाय दरिद्राणां पापिनां पापशान्तये ॥

'वशीकरण करने वालों के वशीकरण सिद्ध होंगे, वेदार्थियों को विद्या प्राप्ति, दरिद्रों को धन प्राप्ति, पापियों के पाप की शान्ति हो जाती है ।'

वादिनां वाद -विजये कवीनां कविताप्रदम् ।
अन्नाय क्षुधितानां च स्वर्गाय नाकमिच्छताम् ॥

'शास्त्रार्थियों को शास्त्र विजय, कवियों को काव्य लाभ, भूखों को अन्न तथा स्वर्गेच्छुकों को स्वर्ग प्राप्त होता है ।'

पशुभ्यः पशुकामानां पुत्रेभ्यः पुत्रकामिनाम् ।
क्लेशिनां शोक-शान्त्यर्थं नृणां शत्रुभयाय च ॥

'पशु इच्छुकों को पशु, पुत्रार्थियों को पुत्र, क्लेश-पीड़ितों को शोक-शान्ति, शस्त्रु-भय वालों को अभय मिलता है ।'

अष्टादशसु विद्यासु मीमांसाऽतिगरीयसी ।
ततोऽपि तर्कशास्त्राणि पुराणं तेभ्य एव च ॥

'अठारह विद्याओं में मीमांसा श्रेष्ठ है, उससे श्रेष्ठ तर्कशास्त्र तथा पुराण उससे भी श्रेष्ठ कहे गये हैं ।'

ततोऽपि धर्मशास्त्राणि तेभ्यो गुर्वी श्रुतिर्नृप ।
ततो ह्युपनिषत् श्रेष्ठा गायत्री च ततोऽधिका ॥

'धर्मशास्त्र उनसे भी श्रेष्ठ हैं तथा हे राजंन् ! उनसे भी श्रेष्ठ श्रुतियाँ कही गयी हैं । उन श्रुतियों से भी श्रेष्ठ उपनिषद् हैं और उपनिषदों से भी गरीयसी गायत्री कही गयी है ।'

तां देवीमुपतिष्ठन्ते ब्राह्मणा ये जितेन्द्रियाः ।
ते प्रयान्ति सूर्य्यलोकं क्रमान्मुक्तिञ्च पार्थिव ।। - पद्म पुराण

'जो इन्द्रियजित् ब्राह्मण इस गायत्री की उपासना करते हैं, हे पार्थिव ! वे अवश्य ही सूर्य लोक को प्राप्त होते हैं तथा क्रमशः मुक्ति को भी प्राप्त करते हैं ।'

गायत्री-सार-मात्रोऽपि वरं विप्रः सुसंयतः । - पद्म पु० सृ० खं० १७/२८१

'चार वेदों की सारभूत गायत्री को विधि सहित जानने वाला ब्राह्मण श्रेष्ठ है ।'

गायत्रीं यस्तु जपति त्रिकालं ब्राह्मणः सदा ।
अर्थी प्रतिग्रही वापि स गच्छेत्परमां गतिम् ।।

'जो ब्राह्मण गायत्री को त्रिकाल में जपता है, वह माँगने वाला या दान लेने वाला (अग्राह्य दान को ग्रहण करने वाला) ही क्यों न हो, वह भी परम गति को प्राप्त हो जाता है ।'

गायत्रीं यस्तु जपति कल्यमुत्थाय यो द्विजः ।
स लिम्पति न पापेन पद्म - पत्रमिवांभसा ।।

'जो ब्राह्मण प्रातः उठकर गायत्री का जप करता है, वह जल में कमलपत्र की भाँति पापग्रस्त नहीं होता ।'

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थो विनिर्णयः ।
गायत्री- भाष्य- रूपोऽसौ वेदार्थः परिबृंहितः ।। - मत्स्य पुराण

'गायत्री का अर्थ ब्रह्मसूत्र है । गायत्री का निर्णय महाभारत है, गायत्री का अर्थ वेदों में हुआ है ।'

जपन् हि पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ।
तपसा भावितो देव्या ब्राह्मणः पूतकिल्विषः ।।

'ब्राह्मण वेद-जननी गायत्री को जपता हुआ अनेक पापों से मुक्त हो जाता है ।'

गायत्री-ध्यानपूतस्य कलां नार्हति षोडशीम् ।
एवं किल्विषयुक्तस्य विनिर्दहति पातकम् ।।

'गायत्री के ध्यान से पवित्र हुई सोलह कलाओं का कोई मूल्यांकन नहीं हो सकता । इस प्रकार वह पाप-युक्त के पापों को शीघ्र ही दहन कर देती है ।'

उभे सन्ध्ये ह्युपासीत तस्मान्नित्यं द्विजोत्तम ।
छन्दस्तस्यास्तु गायत्रं गायत्रीत्युच्यते ततः ।। - मत्स्य पुराण

'हे द्विज श्रेष्ठ ! गायत्री का छन्दानुसार दोनों संध्याकाल में ध्यान करना चाहिये ।' 'गान करने वाले का यह त्राण करती है, इसीलिये इसे गायत्री कहा है ।'

गायन्तं त्रायते यस्मात् गायत्री तु ततः स्मृता ।
मारीच ! कारणात्तस्मात् गायत्री कीर्तिता मया ।। - लंकेश तन्त्र

' हे मारीच ! गान करने वाले का त्राण करती है, इसी हेतु मैंने इसे गायत्री कहा है ।'

ततः बुद्धिमतां श्रेष्ठ नित्यं सर्वेषु कर्मसु ।
सव्याहतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।।
जपन्ति ये सदा तेषां न भयं विद्यते क्वचित् ।
दशकृत्वः प्रजप्या सा रात्र्यह्नापि कृतं लघु ।।

'बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, अपने नित्य नियमित सभी कार्यों को करते हुए, व्याहृतियों के सहित तथा प्रणव के उच्चारण सहित गायत्री को जो पुरुष सदा जपते हैं, उनको कहीं भी भय नहीं है । दस बार जपने से रात्रि तथा दिन के लघु दोषों का निवारण होता है ।'

कामकामो लभेत्कामं गतिकामस्तु सद्गतिम्।
अकामस्तु तदाप्नोति यद्विष्णोः परमं पदम्॥ -वि० धर्मोत्तर पु० - ३

'कामाभिलाषी को काम की प्राप्ति होती है और जो मोक्ष की आकांक्षा करते हैं, उन्हें सद्गति प्राप्त होती है। जो पुरुष निष्काम भाव से गायत्री की उपासना करते हैं, वे विष्णु के परम पद को प्राप्त हो जाते हैं।'

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेद-पुण्येन युज्यते॥ - मनु० २/७८

'व्याहृतिपूर्वक इस गायत्री को दोनों संध्या काल में जपता हुआ ब्राह्मण, वेद पढ़ने के पुण्य को प्राप्त होता है।'

इयन्तु सव्याहृतिका द्वारं ब्रह्मपदाप्तये।
तस्मात्प्रतिदिनं विप्रैरध्येतव्या तथैव सा॥

'यह गायत्री ब्रह्मपद की प्राप्ति का द्वार है, अतः ब्राह्मणों को व्याहृतिपूर्वक प्रतिदिन इसका अध्ययन (मनन) करना चाहिये।'

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म पदमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥ - मनु० २/८२

'जो इस गायत्री को तन्द्रा रहित (आलस्य को छोड़कर) तीन वर्ष तक नियमित रूप से जपता है, वह ब्रह्मपद को निस्संदेह उपलब्ध हो जाता है।'

तत् पापं प्रणुदत्याशु नात्र कार्या विचारणा।
शतं जप्त्वा तु सा देवी पापौघशमनी स्मृता॥

'इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये कि सब पापों का शीघ्र ही निवारण हो जाता है। सौ बार जप करने पर यह गायत्री पापों के समूह का विनाश कर देती है।

विधिना नियतं ध्यायेत् प्राप्नोति परमं पदम्।
यथा कथञ्चिज्जपिता गायत्री पापहारिणी॥
सर्व-कामप्रदा प्रोक्ता पृथक्कर्म्मसु निष्ठिता।

'विधिपूर्वक नियत ध्यान करने पर परम पद की प्राप्ति होती है। जिस-किसी भी प्रकार जपी हुई गायत्री पापों का विनाश करती है, भिन्न-भिन्न कार्यों के उद्देश्य से किया हुआ जप भी अभीष्ट की सिद्धि कर देता है।

गायत्री से पाप और दुःखों से निवृत्ति

गायत्री साधना से सब पापों की और सब दुःखों की निवृत्ति के अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं-

ब्रह्महत्यादिपापानि गुरूणि च लघूनि च।
नाशयत्यचिरेणैव गायत्रीजापको द्विजः॥ -गा०पु०पृ० ६२

'गायत्री जपने वाले के ब्रह्महत्यादि सभी पाप, छोटे हों चाहे बड़े हों, शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।'

गायत्रीजपकृद् भक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते। - पाराशर

'भक्तिपूर्वक गायत्री जपने वाला समस्त पापों से छूट जाता है।'

सर्वपापानि नश्यन्ति गायत्रीजपतो नृणाम्। - भविष्य पुराण

गायत्री जपने वाला समस्त पापों से छूट जाता है।'

गायत्र्यष्टसहस्रं तु जपं कृत्वा स्थिते रवौ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो यदि न ब्रह्मद्विड् भवेत्॥ - अत्रि स्मृति ३/१५

'सूर्य के समक्ष यदि गायत्री का आठ हजार जप करे, तो वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। यदि ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी पुरुषों की निन्दा करने वाला न हो, तो।'

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥ - मनु० अ० २/७९

'एकान्त स्थान में प्रणव, महाव्याहृतिपूर्वक गायत्री का एक हजार जप करने वाला द्विज, बड़े से बड़े पापों से ऐसे छूट जाता है जैसे केंचुली से सर्प छूट जाता है।'

जना यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि।

'जिनसे पुरुषों के पाप दूर हो जाते हैं और वे इस संसार से तर जाते हैं, उनको तीर्थ कहते हैं। गायत्री के इन तीन अक्षरों में वह तीर्थ विद्यमान हैं- ग = गंगा, य = यमुना, त्र = त्रिवेणी समझनी चाहिये।'

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वंगनागमः।
महान्ति पातकादीनि, स्मरणान्नाशमाप्नुयुः॥ - गायत्री पु० २/२

'गायत्री के स्मरण मात्र से ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरु-स्त्री गमन आदि महापातक भी नष्ट हो जाते हैं।'

य एतां वेद गायत्रीं पुमान् सर्वगुणान्विताम्।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ ! स लोके न प्रणश्यति॥ - महा० भा० भीष्म प० अ० १४/१६

' हे युधिष्ठिर ! जो मनुष्य तत्त्वपूर्वक सर्वगुण सम्पन्न पुण्यमयी गायत्री को जान लेता है, वह संसार में दुःखित नहीं होता।'

गायत्री-निरतं हव्य-कव्येषु विनियोजयेत्।
तस्मिन्न तिष्ठते पापं जलबिन्दुरिव पुष्करे॥

'गायत्री जपने वालों को ही पितृकार्य तथा देवकार्य में बुलाना चाहिये, क्योंकि गायत्री उपासक में पाप उसी प्रकार नहीं रहता, जैसे कमल के पत्ते पर पानी की बूँद नहीं ठहरती।'

गायत्रीं यः पठेद्विप्रो न स पापेन लिप्यते। - लघु अत्रि संहिता २/१२

'जो द्विज गायत्री को जपता है, वह पाप में लिप्त नहीं होता।'

चरक संहिता में गायत्री-साधना के साथ आँवला सेवन करने से दीर्घ जीवन का वर्णन आया है।

सावित्रीं मनसा ध्यायन् ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
सम्वत्सरान्ते पौषीं वा माघीं वा फाल्गुनीं तिथिम्॥- चरक चिकित्सा आँव० रसा०श्लो० ९

'मन से गायत्री का ब्रह्मचर्य पूर्वक एक वर्ष तक ध्यान करता हुआ, वर्ष के उपरान्त में पौष मास अथवा माघ मास की अथवा फाल्गुन मास की किसी शुभ तिथि में तीन दिन क्रमशः उपासना के उपरान्त आँवले के वृक्ष पर चढ़कर जितने आँवले मनुष्य खायेगा, उतने ही वर्ष वह जीवित रहेगा।'

यदिह वा अप्येवं विद् बहु इव प्रतिगृह्णाति न हैव तद् गायत्र्या एकं च न पदं प्रति। स य इमान् त्रींल्लोकान् पूर्णान् प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतद् द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत् प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयात् अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात्। बृह० उ० ५/१४/५-६

'गायत्री को सर्वात्मक भाव से जपने वाला मनुष्य, यदि बहुत ही प्रतिग्रह लेता है, तो भी उस प्रतिग्रह का दोष गायत्री के प्रथम पाद उच्चारण के समान भी नहीं होता। यदि समस्त तीन लोकों को प्रतिग्रह में लें, तो उसका दोष प्रथम पाद उच्चारण से नष्ट हो जाता है। यदि तीन वेदों का प्रतिग्रह लें, तो उसका दोष द्वितीय पाद से नष्ट हो जाता है। यदि संसार के समस्त प्राणियों का भी प्रतिग्रह लें, तो उसका दोष तृतीय पाद से नष्ट हो जाता है। अतः

गायत्री जपने वाले को कोई हानि नहीं पहुँचती और गायत्री का चौथा पद परब्रह्म है, इसके सदृश दुनिया में भी कुछ नहीं है।'

यदह्ना कुरुते पापं तदह्नाप्रतिमुच्यते।
यद्रात्र्या कुरुते पापं तद्रात्र्या प्रतिमुच्यते॥ -तै०आ०प्र०१० अ०३४

'हे गायत्री ! तुम्हारे प्रभाव से दिन में किये पाप दिन में ही नष्ट हो जाते हैं और रात्रि में किये पाप रात्रि में ही नष्ट हो जाते हैं।'

गायत्रीं तु परित्यज्य येऽन्यमन्त्रमुपासते।
मुण्डकरा वै ते ज्ञेया इति वेदविदो विदुः॥

'जो गायत्री मन्त्र को त्याग कर अन्य मन्त्र की उपासना करते हैं, वे नास्तिक हैं, ऐसा देवताओं ने कहा है।'

गायत्रीं चिन्तयेद्यस्तु हृत्पद्मे समुपस्थिताम्।
धर्माधर्मविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम्॥

'जो मनुष्य हृदय कमल में बैठी हुई गायत्री का चिन्तन करता है, वह धर्म, अधर्म के द्वन्द्व से छूटकर परम गति को प्राप्त होता है।'

सहस्रं जप्ता सा देवी ह्युपपातकनाशिनी।
लक्षजाप्ये तथा सा च महापातकनाशिनी॥
कोटिजाप्येन राजेन्द्र ! यदिच्छति तदाप्नुयात्।

'एक सहस्र जप करने में गायत्री उपपातकों का विनाश करती है। एक लाख जप करने से महापातकों का विनाश होता है। एक करोड़ जप करने से अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त होती है।'

गायत्री उपेक्षा की भर्त्सना

गायत्री को न जानने वाले अथवा जानने पर भी, उसकी उपासना न करने वाले द्विजों की शास्त्रकारों ने कड़ी भर्त्सना की है और उन्हें अधोगामी बताया है। इस निन्दा में इस बात की चेतावनी दी है कि जो आलस्य या अश्रद्धा के कारण गायत्री साधना में ढील करते हों, उन्हें सावधान होकर इस श्रेष्ठ उपासना में प्रवृत्त होना चाहिये।

गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता।
यया विना त्वधः पातो ब्राह्मणस्यास्ति सर्वथा॥ - देवी भागवत स्कं० १२/अ० ८/८९

'गायत्री की उपासना नित्य ही समस्त वेदों में वर्णित है। गायत्री के बिना ब्राह्मण की सब प्रकार से अधोगति होती है।'

सांगांश्च चतुरो वेदानधीत्यापि सवाङ्मयान्।
गायत्रीं यो न जानाति वृथा तस्य परिश्रमः॥ - यो० याज्ञवल्क्य

'सस्वर और सांग चारों वेदों को जानकर भी जो गायत्री मन्त्र को नहीं जानता, उसका परिश्रम व्यर्थ है।'

गायत्रीं यः परित्यज्य चान्यमन्त्रमुपासते।
न साफल्यमवाप्नोति कल्पकोटिशतैरपि॥ - बृ० सन्ध्या भाष्य

'जो गायत्री मन्त्र को छोड़कर अन्य मन्त्र की उपासना करते हैं, वह करोड़ों जन्मों में भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते हैं।'

विहाय तां तु गायत्रीं विष्णूपासनतत्परः।
शिवोपासनतो विप्रो नरकं याति सर्वथा॥ - देवी भागवत १२/८/९२

'गायत्री को त्याग कर विष्णु और शिव की पूजा करने पर भी ब्राह्मण नरक में जाता है।'

गायत्र्या रहितो विप्रः शूद्रादप्यशुचिर्भवेत्।
गायत्री-ब्रह्म-तत्त्वज्ञः सम्पूज्यस्तु द्विजोत्तमः॥ - पारा० स्मृति ८/३१

'गायत्री से रहित ब्राह्मण शूद्र से भी अपवित्र है। गायत्री रूपी ब्रह्म तत्त्व को जानने वाला सर्वत्र पूज्य है।'

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु॥ - मनुस्मृति अ० २/८०

'प्रणव व्याहृतिपूर्वक गायत्री मन्त्र का जप सन्ध्याकाल में न करने वाला द्विज, सज्जनों में निन्दा का पात्र होता है।'

एवं यस्तु विजानाति गायत्रीं ब्राह्मणस्तु सः।
अन्यथा शूद्रधर्मा स्याद् वेदानामपि पारगः॥ - यो० याज्ञ० ४/४१-४२

'जो गायत्री को जानता है और जपता है, वह ब्राह्मण है; अन्यथा वेदों में पारंगत होने पर भी शूद्र के संमान है।'

अज्ञात्वैतां तु गायत्रीं ब्राह्मण्यादेव हीयते।
अपवादेन संयुक्तो भवेच्छ्रुतिनिदर्शनात्॥ - यो० याज्ञ० ४/७१

'गायत्री को न जानने से ब्राह्मण ब्राह्मणत्व से हीन होकर पापयुक्त हो जाता है, ऐसा श्रुति में कहा गया है।'

किं वेदैः पठितैः सर्वैः सेतिहासपुराणकैः।
सांगैः सावित्रिहीनेन न विप्रत्वमवाप्यते॥ - बृ० पा० अ० ५/१४

'इतिहास, पुराणों के तथा समस्त वेदों के पढ़ लेने पर भी यदि ब्राह्मण गायत्री मन्त्र से हीन हो, तो वह ब्राह्मणत्व को नहीं प्राप्त होता है।'

न ब्राह्मणो वेदपाठान्न शास्त्र पठनादपि।
देव्यास्त्रिकालमभ्यासाद् ब्राह्मणः स्याद् द्विजोऽन्यथा। - बृ० संध्या भाष्य

'वेद और शास्त्रों के पढ़ने से ब्राह्मणत्व नहीं हो सकता। तीनों कालों में गायत्री की उपासना से ब्राह्मणत्व होता है, अन्यथा वह द्विज नहीं रहता है।'

ओंकारं पितृरूपेण गायत्रीं मातरं तथा।
पितरौ यो न जानाति स विप्रस्त्वन्यरेतसः॥

'ओंकार को पिता और गायत्री को माता रूप से जो नहीं जानता, वह पुरुष अन्य की सन्तान है, अर्थात् व्यभिचार से उत्पन्न है।'

उपलभ्य च सावित्रीं नोपतिष्ठति यो द्विजः।
काले त्रिकालं सप्ताहात् स पतेन् नात्र संशयः॥

'गायत्री मन्त्र को जानकर, जो द्विज इसका आचरण नहीं करता अर्थात् इसे त्रिकाल में नहीं जपता, उसका निश्चय पतन हो जाता है।'

गायत्री आध्यात्मिक त्रिवेणी है

पिछले पृष्ठों पर कुछ थोड़े से प्रमाण गायत्री की महिमा-सूचक दिये गये हैं। इस प्रकार के प्रमाण धर्म-शास्त्रों में इतनी बड़ी मात्रा में भरे पड़े हैं कि उनका संग्रह और प्रकाशन करना कठिन है। गंगा, गीता, गौ, गायत्री यह चार आर्य धर्म की शिक्षायें हैं। भारतीय धर्म को मानने वाला प्रत्येक व्यक्ति इन चारों का माता के समान आदर करता है और एक माता की सन्तान के समान आपस में एकता का अनुभव करता है।

गायत्री को आध्यात्मिक त्रिवेणी कहा गया है। गंगा, यमुना के मिलने से एक अदृश्य, सूक्ष्म एवं अलौकिक दिव्य सरिता का आविर्भाव होता है, जिसे सरस्वती कहते हैं। गंगा, यमुना और सरस्वती तीनों का सम्मिलन

त्रिवेणी कहलाता है। त्रिवेणी होने के कारण ही प्रयाग को तीर्थराज कहा गया है, सब तीर्थों का राजा माना गया है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् की त्रिवेणी गायत्री है। इसके तीनों अक्षर संकेत रूप से इसी प्रकार के त्रिगुणात्मक सम्मेलन का रहस्योद्घाटन करते हैं। गा-पहला अक्षर, गंगा बोधक है। य-दूसरा अक्षर यमुना का संकेत करता है। त्री-तीसरा अक्षर त्रिवेणी का अस्तित्व बताता है। त्रयी शक्ति में कितने ही त्रिक् घुसे हुए हैं। (१) सत्, चित्, आनन्द (२) सत्य, शिव, सुन्दर (३) सत्, रज, तम, (४) ईश्वर, जीव, प्रकृति (५) ऋक्, यजु, साम, (६) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (७) गुण, कर्म, स्वभाव (८) शैशव, यौवन, बुढ़ापा (९) ब्रह्मा, विष्णु, महेश (१०) उत्पत्ति, वृद्धि, नाश (११) सर्दी, गर्मी. वर्षा (१२) धर्म, अर्थ, काम (१३) आकाश, पाताल, पृथ्वी, (१४) देव, मनुष्य, असुर आदि अगणित त्रिक् गायत्री छन्द के गर्भ में सम्पुटित हैं। जिसमें गहराई तक प्रवेश करके मनन, चिन्तन, परिशीलन रूपी स्नान करने से, वैसा ही आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होता है जैसा कि भौतिक जगत् में त्रिवेणी के स्नान का पुण्य फल माना गया है। इन तीन अक्षरों के अनेक प्रकार की तीन-तीन समस्यायें मनुष्य के सामने उपस्थित की गयी हैं, जिनका भली प्रकार अवगाहन करने से जीवन-मुक्ति के परम फल को प्राप्त किया जा सकता है।

त्रिवेणी की तीन धारायें देखने में बड़ी दुस्तर, भयंकर, विशाल और अगाध दिखाई पड़ती हैं। इसी प्रकार से गायत्री में जो समस्यायें सिमटी हुई हैं, वे काफी प्रतीत होती हैं, पर जैसे त्रिवेणी की जलधारा में प्रवेश करके स्नान करने से भय दूर हो जाता है और शान्तिदायक, शीतल प्रफुल्लता प्राप्त होती है, वैसे ही गायत्री में सन्निहित समस्याओं का चिन्तन, मनन और अवगाहन करने से ऐसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, जो सत्पथ की ओर प्रेरित करता है और शाश्वत शान्ति एवं परमानन्द के द्वार तक पहुँचा देता है।

गायत्री निस्संदेह आध्यात्मिक त्रिवेणी है, उसे तीर्थराज ही समझना चाहिये, क्योंकि उसमें सन्निहित तत्त्वज्ञान अति सरल, सुबोध, सुगम, सीधा और स्थायी सुख-शान्ति प्रदान करने वाला है।

गायत्री की महिमा अनन्त है। वेद- पुराण, शास्त्र-इतिहास, ऋषि-मुनि, गृही-विरागी सभी समान रूप से उनका महत्त्व स्वीकार करते हैं। उसमें हमारे दृष्टिकोण को बदल देने की अद्भुत शक्ति है। अपनी उलटी विचारधारा, भ्रान्त मनोभूमि यदि सीधी हो जाए, हमारी इच्छायें, आकांक्षायें, विचारधारा, भावनायें यदि उचित स्थान पर आ जायें, तो यह मनुष्य शरीर देवयोनि से बढ़कर और यह भूलोक सुरलोक से बढ़कर हर किसी के लिए आनन्ददायक हो सकता है। हमारी उलटी बुद्धि ही स्वर्ग को नरक बनाये हुए है। इस विषम स्थिति से उबारकर हमारे मस्तिष्क को सीधा करने की शक्ति गायत्री में है। जो उस शक्ति का उपयोग करता है, वह विषय विकारों, भ्रान्त विचारों और दुर्भावों के भव-बन्धन से छूटकर जीवन के सत्य, शिव और सुन्दर रूप का दर्शन करता हुआ परमात्मा की शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है। इसलिये वेदमाता गायत्री को महामहिमामयी कहा गया है। उसका माहात्म्य अनन्त है।

गायत्री गीता

वेदमाता गायत्री का मन्त्र छोटा-सा है। उसमें २४ अक्षर हैं, पर इतने थोड़े में ही अनन्त ज्ञान का समुद्र भरा पड़ा है। जो ज्ञान गायत्री के गर्भ में है, वह इतना सर्वांगपूर्ण एवं परिमार्जित है कि मनुष्य यदि उसे भली प्रकार समझ ले और अपने जीवन में व्यवहार करे, तो उससे लोक-परलोक सब प्रकार से सुख-शान्तिमय बन सकते हैं।

आध्यात्मिक और सांसारिक दोनों ही दृष्टिकोण से गायत्री का सन्देश बहुत ही अर्थ पूर्ण है। उसे गम्भीरतापूर्वक समझा और मनन किया जाए, तो सद्ज्ञान का अविरल स्रोत प्रस्फुटित होता है। नीचे संक्षिप्त-सा गायत्री-मन्त्रार्थ दिया जाता है। यही गायत्री गीता है-

ओमित्येव सुनामधेयमनघं विश्वात्मनो ब्रह्मणः।
सर्वेष्वेव हि तस्य नामसु वसोरेतत्प्रधानं मतम्॥

यं वेदा निगदन्ति न्यायनिरतं श्रीसच्चिदानन्दकम् ।
लोकेशं समदर्शिनं नियमनं चाकारहीनं प्रभुम् ॥१ ॥

अर्थ- जिसको वेद न्यायकारी, सच्चिदानन्द, सर्वेश्वर, समदर्शी, नियामक, प्रभु और निराकार कहते हैं, जो विश्व में आत्मा रूप से उस ब्रह्म के समस्त नामों में श्रेष्ठ नाम, पाप-रहित, पवित्र और ध्यान करने योग्य है, वह "ॐ" ही मुख्य नाम माना गया है ।

भावार्थ- "परमात्मा को प्राप्त करने और प्रसन्न करने का मार्ग उसके नियमों पर चलना है । वह निन्दा-स्तुति से प्रभावित नहीं होता, वरन् कर्मों के अनुसार फल देता है । परमात्मा को सर्वत्र व्यापक समझकर गुप्त रूप से भी पाप न करना चाहिये । प्राणियों की सेवा करना परमात्मा की ही पूजा करना है । परमात्मा को अपने अन्तस् में अनुभव करने से आत्मा पवित्र होती है और सत्, चैतन्यता तथा आनन्द की अनुभूति होती है ।

भूर्वै प्राण इति ब्रुवन्ति मुनयो वेदान्तपारं गताः,
प्राणः सर्वविचेतनेषु प्रसृतः सामान्यरूपेण च ।
एतेनैव विसिद्ध्यते हि सकलं नूनं समानं जगत्,
द्रष्टव्यः सकलेषु जन्तुषु जनैर्नित्यं ह्यसुश्चात्मवत् ॥२ ॥

अर्थ- मुनि लोग प्राण को 'भूः' कहते हैं । यह प्राण समस्त प्राणियों में सामान्य रूप से फैला हुआ है । इससे सिद्ध है कि यहाँ सब समान हैं । अतएव सब मनुष्यों और प्राणियों को अपने समान ही देखना चाहिए ।

भावार्थ- अपने समान सबको कष्ट होता है, इसलिये किसी को सताना नहीं चाहिये । दूसरों के प्रति वही व्यवहार करना चाहिये, जो हम दूसरों से अपने लिये चाहते हैं, सबमें समत्व की दृष्टि रखनी चाहिये । कुल, वंश, देश, जाति, समुदाय, स्त्री, पुरुष आदि भेदों के कारण किसी को नीचा-ऊँचा, छोटा-बड़ा नहीं समझना चाहिये । उच्चता और नीचता का कारण तो भले-बुरे कर्म ही हो सकते हैं ।

भुवर्नाशो लोके सकलविपदां वै निगदितः,
कृतं कार्यं कर्त्तव्यमिति मनसा चास्य करणम् ।
फलाशां मर्त्या ये विदधति न वै कर्मनिरताः,
लभन्ते नित्यं ते जगति हि प्रसादं सुमनसाम् ॥३ ॥

अर्थ- संसार में समस्त दुःखों का नाश ही 'भुवः' कहलाता है । कर्त्तव्य-भावना से किया गया कार्य ही कर्म कहलाता है । परिणाम में सुख की अभिलाषा को छोड़कर जो कार्य करते हैं, वे मनुष्य सदा प्रसन्न रहते हैं ।

भावार्थ- मनुष्य का अधिकार कार्य करना है, फल देने वाला ईश्वर है । अमुक वस्तु प्राप्त होने पर ही सुख माना जाए, ऐसा सोचने के बजाय ऐसा सोचना चाहिये, कि कर्त्तव्य-पालन ही हमारे लिये आनन्द का सर्वोत्तम केन्द्र है । जो अपने कर्त्तव्य कर्म को ही लक्ष्य मान लेता है, वह कर्मयोगी हर घड़ी सुखी रहता है । जो इच्छित फल की आशा के लिये लटका रहता है, उस तृष्णावान् को सदा सत्कर्म करते रहना चाहिये, गीता के कर्मयोग का यही तत्त्व है ।

स्वरेषो वै शब्दो निगदति मनःस्थैर्य-करणम्,
तथा सौख्यं स्वास्थ्यं ह्युपदिशति चित्तस्य चलतः ।
निमग्नत्वं सत्यव्रतसरसि चाचक्षति उत,
त्रिधां शांतिं ह्येतां भुवि च लभते संयमरतः ॥४ ।

अर्थ- 'स्वः' यह शब्द मन की स्थिरता का निर्देश करता है । चञ्चल मन को सुस्थिर और स्वस्थ रखो, यह उपदेश देता है । सत्य में निमग्न रहो, यह कहता है । इस उपाय से संयमी पुरुष तीनों प्रकार की शान्ति को प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ- अनिच्छित परिस्थिति प्राप्त होने पर प्रायः मनुष्य शोक, दुःख, क्रोध, द्वेष, दीनता, निराशा, चिन्ता, भय, बेचैनी आदि से उद्विग्न होकर अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं और अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर अहंकार, मद, उद्दण्डता, खुशी में फूलकर अस्वाभाविक आचरण करना, इतराना, अपव्यय, शेखी आदि से ग्रस्त हो जाते हैं । ये दोनों ही स्थितियाँ एक प्रकार का नशा या ज्वर हैं । ये विवेक को अन्धा कर देते हैं , जिससे विचार और कार्यों की उचित शृंखला नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है और आदमी अन्धा तथा बावला बन जाता है । इन सत्यानाशी तूफानों से आत्मा की रक्षा करने के लिये मन को स्थिर, सन्तुलित, स्वच्छ एवं सत्यप्रेमी बनाना चाहिये, तभी मनुष्य को आत्मिक, बौद्धिक तथा शारीरिक शांति मिल सकती है ।

ततो वै निष्पत्तिः स भुवि मतिमान् पण्डितवरः,
विजानन् गुह्यं यो मरणजीवनयोस्तदखिलम् ।
अनन्ते संसारे विचरति भयासक्तिरहित,
स्तथा निर्माणं वै निजगतिविधीनां प्रकुरुते ।।५ ।।

अर्थ- 'तत्' शब्द यह बतलाता है कि इस संसार में वही बुद्धिमान् है, जो जीवन और मरण के रहस्य को जानता है । भय और आसक्ति रहित जीता और अपनी गतिविधियों का निर्माण करता है ।

भावार्थ- मृत्यु सदा सिर पर खड़ी नाचती रहती है । इस समय साँस चल रही है, अगले ही क्षण बन्द हो जाए, इसका क्या ठिकाना है ? यह सोचकर इस सुर-दुर्लभ मानव-जीवन का श्रेष्ठतम उपयोग करना चाहिये और थोड़े जीवन में क्षणिक सुख के लिये पाप क्यों किये जाएँ, जिससे चिरकाल तक दुःख भोगने पड़ें, ऐसा विचार करना चाहिये ।

यदि विद्याध्ययन, समाज-सुधार, धर्म-प्रचार आदि श्रेष्ठ कार्य करने हों, तो ऐसा सोचना चाहिये कि जीवन अखण्ड है । यदि इस शरीर से वह कार्य पूरा न हो सका, तो अगले में पूरा करेंगे । यह निर्विवाद है, कि जो इस जीवन का सदुपयोग कर रहा है, उसे मृत्यु के पश्चात् आनन्द ही मिलेगा । परलोक, पुनर्जन्म आदि में सुख ही प्राप्त होगा, पर जो इन जीवन-क्षणों का दुरुपयोग कर रहा है, उसका भविष्य अन्धकारमय है । इसलिये जो बीत चुका है, उसके लिये दुःख न करते हुए शेष जीवन का सदुपयोग करना चाहिये ।

सवितुस्तु पदं वितनोति ध्रुवं,
मनुजो बलवान् सवितेव भवेत् ।
विषया अनुभूतिपरिस्थितय -
स्तु सदात्मन एव गणेदिति सः ।।६ ।।

अर्थ- 'सवितुः' यह पद बतलाता है कि मनुष्य को सूर्य के समान बलवान् होना चाहिये और सभी विषय तथा अनुभूतियाँ अपनी आत्मा से ही सम्बन्धित हैं, ऐसा विचारना चाहिये ।

भावार्थ- सूर्य को वीर्य और पृथ्वी को रज कहा जाता है । सूर्य की शक्ति से संसार की सब क्रियायें होती हैं । इसी प्रकार आत्मा अपनी क्रियाशीलता द्वारा विविध प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है । प्रारब्ध, भाग्य, दैव आदि भी अपने प्राचीन कर्मों का ही परिपाक मात्र है । इसलिये अपने लिये जैसी परिस्थिति अच्छी लगती है, उसी के योग्य अपने को बनाना चाहिये । अपना भाग्य-निर्माण करना हर मनुष्य के अपने हाथ में है । इसलिये आत्म-निर्माण की ओर ही सबसे अधिक ध्यान देना चाहिये । बाहर की सहायता भी अपनी अन्तरंग स्थिति के अनुकूल ही मिलती है ।

मनुष्य को तेजस्वी, बलवान्, पुरुषार्थी बनना चाहिये । स्वास्थ्य, विद्या, धन, चतुरता, संगठन, यश, साहस और सत्य इन आठ बलों से अपने को सदैव बलवान् बनाने का प्रयत्न करना चाहिये ।

वरेण्यञ्चैतद्वै प्रकटयति श्रेष्ठत्वमनिशम् ,
सदा पश्येच्छ्रेष्ठं मननमपि श्रेष्ठस्य विदधेत् ।

तथा लोके श्रेष्ठं सरलमनसा कर्म च भजेत्,
तदित्थं श्रेष्ठत्वं व्रजति मनुजः शोभितगुणैः ॥७ ॥

अर्थ- 'वरेण्यं' यह शब्द प्रकट करता है कि प्रत्येक मनुष्य को नित्य श्रेष्ठता की ओर बढ़ना चाहिये । श्रेष्ठ देखना, श्रेष्ठ चिन्तन करना, श्रेष्ठ विचारना, श्रेष्ठ कार्य करना इस प्रकार से मनुष्य को श्रेष्ठता प्राप्त होती है ।

भावार्थ- मनुष्य वैसा ही बनता है, जैसे उसके विचार होते हैं । विचार साँचा है और जीवन गीली मिट्टी । जैसे विचारों में हम डूबे रहते हैं, हमारा जीवन उसी ढाँचे में ढलता जाता है, वैसे ही आचरण होने लगते हैं, वैसे ही साथी मिलते हैं, उसी दिशा में जानकारी, रुचि तथा प्रेरणा मिलती है । इसलिये यदि अपने को श्रेष्ठ बनाना है, तो सदा श्रेष्ठ मनुष्यों के संपर्क में रहना, श्रेष्ठ पुस्तकें पढ़ना, श्रेष्ठ बातें सोचना, श्रेष्ठ घटनायें देखना, श्रेष्ठ कार्य करना आवश्यक है । दूसरों में जो श्रेष्ठतायें हों उनकी कदर करना और उन्हें अपनाना, श्रेष्ठता में श्रद्धा रखना ये सब बातें उन लोगों के लिये बहुत आवश्यक हैं, जो अपने को श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं ।

भर्गो व्याहरते पदं हि नितरां लोकः सुलोको भवेत्,
पापे पाप-विनाशने त्वविरतं, दत्तावधानो वसेत् ।
दृष्ट्वा दुष्कृतिदुर्विपाक-निचयं तेभ्यो जुगुप्सेद्धि च,
तन्नाशाय विधीयतां च सततं, संघर्षमेभिः सह ॥८ ॥

अर्थ- 'भर्गो' यह पद बताता है कि मनुष्य को निष्पाप बनना चाहिये । पापों से सावधान रहना चाहिये । पापों के दुष्परिणामों को देखकर उनसे घृणा करे और निरन्तर उनको नष्ट करने के लिये संघर्ष करता रहे ।

भावार्थ-संसार में जितने दु:ख हैं, पापों के कारण हैं । अस्पतालों में, जेलखानों में तथा अन्यत्र नाना प्रकार के कष्टों से पीड़ित मनुष्य अब के या पुराने पापों से ही दु:ख भोगते हैं । नरक में भी पापी ही त्रास पाते हैं । सन्त और परोपकारी पुरुष दूसरों के पापों का बोझ अपने सिर पर लेकर दु:ख उठाते हैं और उन्हें शुद्ध करते हैं । चाहे, दूसरों का दु:ख कोई सन्त सहे, चाहे पापी स्वयं सहे, हर हालत में दु:खों का कारण पाप ही है । इसलिये जिन्हें दु:ख का भय है और सुख की इच्छा है, उन्हें चाहिये कि पापों से बचें और भूतकाल के पापों के लिये प्रायश्चित्त करें । पापों से सावधानी रखना और उन्हें भीतर-बाहर से नष्ट करने के लिये संघर्ष करना- यह बहुत बड़ा पुण्य-कार्य है, क्योंकि इससे अगणित प्राणी दु:खों से छुटकारा पाकर सुखी बनते हैं । निष्पापता में ही सच्चे आनन्द का निवास है ।

देवस्येति तु व्याकरोत्यमरतां मर्त्योऽपि संप्राप्यते,
देवानामिव शुद्धदृष्टिकरणात् सेवोपचाराद् भुवि ।
निःस्वार्थं परमार्थ-कर्मकरणात् दीनाय दानात्तथा,
बाह्याभ्यन्तरमस्य देवभुवनं संसृज्यते चैव हि ॥९ ॥

अर्थ- 'देवस्य' यह पद बतलाता है कि मरणधर्मा मनुष्य भी अमरता अर्थात् देवत्व को प्राप्त कर सकता है । देवताओं के समान शुद्ध दृष्टि रखने से, प्राणियों की सेवा करने से, परमार्थ कर्म करने से, निर्बलों की सहायता करने से मनुष्य के भीतर और बाहर देवलोक की सृष्टि होती है ।

भावार्थ- परमात्मा की बनाई हुई इस पवित्र सृष्टि में जो कुछ है, पवित्र और आनन्दमय ही है । इस सृष्टि को, संसार को प्रसन्नता की दृष्टि से देखना, उसमें मनुष्यों द्वारा उत्पन्न की गयी बुराइयों को दूर करना और ईश्वरीय श्रेष्ठताओं को विकसित करना, प्रचलित करना देवकर्म है । इस देव-दृष्टि को धारण करने से मनुष्य देवता बन सकता है । जो अपने को शरीर न समझ कर आत्मा अनुभव करता है, वह अमर है । उसके पास से मृत्यु का भय दूर हो जाता है । प्राणियों को प्रेम और आत्मीयता की पवित्र दृष्टि से देखना, अपने आचरणों को पवित्र रखना, अपने से निर्बलों को ऊँचा उठाने के लिये अपनी शक्ति का दान करना यह देवत्व है । इन गुण वालों के लिये यह भूलोक भी देवलोक के समान आनन्दमय बन जाता है ।

धीमहि सर्वविधं शुचिमेव,

शक्तिचय वयमित्युपदिष्टाः ।
नो मनुजो लभते सुखशांति-
मनेन विनेति वदन्ति हि वेदाः ॥१० ॥

अर्थ- 'धीमहि' का आशय है कि हम सब लोग हृदय में सब प्रकार की पवित्र शक्तियों को धारण करें । वेद कहते हैं कि इसके बिना मनुष्य सुख-शान्ति को प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थ- संसार में भौतिक शक्तियाँ अनेक हैं । धन, पद, वैभव, राज्य, शरीर-बल, संगठन, शस्त्र, विद्या, बुद्धि, चतुरता, कोई विशेष योग्यता आदि के बल पर लोग ऐश्वर्य और प्रशंसा प्राप्त कर लेते हैं, पर यह अस्थायी होती हैं । इनसे सुख मिल सकता है, पर वह छोटे-मोटे आघात में ही नष्ट भी हो सकता है । स्थायी सुख आध्यात्मिक पवित्र गुणों में है, जिन्हें 'दैवी सम्पदायें' या 'दिव्य शक्तियाँ' भी कहते हैं । निर्भयता, विवेक, स्थिरता, उदारता, संयम, परमार्थ, स्वाध्याय, तपश्चर्या, दया, सत्य, अहिंसा, नम्रता, धैर्य, अद्रोह, प्रेम, न्यायशीलता, निरालस्य आदि दैवी गुणों के कारण जो सुख मिलता है, उसकी तुलना किसी भी भौतिक सम्पदा से नहीं हो सकती । इसलिये अपनी दैवी सम्पदाओं का कोश बढ़ाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये ।

धियो मत्योन्मथ्यागमनिगममन्त्रान् सुमतिमान्,
विजानीयात्तत्त्वं विमलनवनीतं परमिव ।
यतोऽस्मिन् लोके वै संशयगत - विचार-स्थलशते,
मतिः शुद्धैवाच्छा प्रकटयति सत्यं सुमनसे ।११ ।

अर्थ- 'धियो' पद बतलाता है कि बुद्धिमान् को चाहिये, वह वेद-शास्त्रों को बुद्धि से मथ कर मक्खन के समान उत्कृष्ट तत्त्वों को जाने, क्योंकि शुद्ध बुद्धि से ही सत्य को जाना जाता है ।

भावार्थ- संसार में अनेक विचारधारायें हैं, उनमें से अनेकों आपस में टकराती भी हैं । एक शास्त्र के सिद्धान्त दूसरे शास्त्र के विपरीत भी बैठते हैं । इसी कारण एक विद्वान् या ऋषि के विचार दूसरे विद्वान् या ऋषि के विचारों से पूर्णतया मेल नहीं खाते । ऐसी स्थिति में विचलित नहीं होना चाहिये । देश, काल, पात्र और परिस्थिति के अनुसार जो बात एक समय बिल्कुल ठीक होती है, वही भिन्न परिस्थितियों में गलत भी हो सकती है । जाड़े के दिनों में जो कपड़े लाभदायक होते हैं, उनसे गर्मी में काम नहीं चलाया जा सकता । इसी प्रकार एक परिस्थिति में जो बात उचित है, वह दूसरी परिस्थिति में अनुचित हो जाती है । इसलिये किसी ऋषि, विद्वान्, नेता व शास्त्र की निन्दा न करते हुए हमें उसमें से वही तत्त्व लेने चाहिये, जो आज की स्थिति के अनुकूल हैं । इस उचित-अनुचित का निर्णय तर्क, विवेक और न्याय के आधार पर वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए करना चाहिये ।

योनो वास्ति तु शक्तिसाधनचयो न्यूनाधिकश्चाथवा,
भागं न्यूनतमं हि तस्य विदधेमात्मप्रसादाय च ।
यत्पश्चादवशिष्टभागमखिलं त्यक्त्वा फलाशां हृदि,
तद्धीनेष्वभिलाषवत्सु वितरेद् ये शक्तिहीनाः स्वयम् ॥१२ ॥

अर्थ- 'योनः' पद का तात्पर्य है कि हमारी जो भी शक्तियाँ एवं साधन हैं, चाहे वे न्यून हों अथवा अधिक हों, उनके न्यून से न्यून भाग को ही अपनी आवश्यकता के लिये प्रयोग में लायें और शेष को निःस्वार्थ भाव से अशक्त व्यक्तियों को बाँट दें ।

भावार्थ- भगवान् ने मनुष्य को ज्ञान, बल तथा वैभव एक अमानत के रूप में इसलिये दिये हैं कि इन विभूतियों से सुसज्जित होकर अपने आप का मान, यश, सुख तथा पुण्य का श्रेय प्राप्त करे और इनका लाभ अधिक से अधिक मात्रा में दूसरों को उठाने दें । अपने ऐश, आराम, भोग, संचय या अहंकार की पूर्ति में इनका उपयोग नहीं होना चाहिये । वरन् लोकहित के लिये, अपने से निर्बलों की सहायता के लिये इनका उपयोग किया जाना चाहिये । विद्वान्, बलवान् या धनवान् का गौरव इसी बात में है कि उनके द्वारा कम ज्ञान वालों को, निर्धनों

को ऊँचा उठाने का प्रयास किया जाए। जैसे वृक्ष, कूप, तड़ाग, उपवन, पुष्प, अग्नि, जल, वायु, बिजली आदि श्रेष्ठ समझे जाने वाले पदार्थ, अपनी महान् शक्तियों को लोक-हित के लिये सदैव वितरित करते रहते हैं, वैसे ही हमें भी अपनी शक्तियों का जीवन-निर्वाह मात्र अपने लिये रख कर शेष को जनहित के लिये समर्पित कर देना चाहिये।

प्रचोदयात् स्वं त्वितरांश्च मानवान्,
नरः प्रयाणाय च सत्यवर्त्मनि।
कृतं हि कर्माखिलमित्थमंगिना,
वदन्ति धर्मं इति हि विपश्चितः ॥१३॥

अर्थ- 'प्रचोदयात्' पद का अर्थ है कि मनुष्य अपने आपको तथा दूसरों को सत्य मार्ग पर चलने के लिये प्रेरणा दे। इस प्रकार किये हुए सब कामों को विद्वान् लोग धर्म कहते हैं।

भावार्थ- प्रेरणा संसार की सबसे बड़ी शक्ति है। इसके बिना सारी साधन सामग्री बेकार है, चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो। प्रेरणा से उत्साहित और प्रवृत्त हुआ मनुष्य यदि कार्य आरम्भ कर देता है, तो साधन अपने आप जुटा लेता है। उसे ईश्वरीय सहायतायें मिलती हैं और अनेक सहयोगी प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये अपने आपको सन्मार्ग पर चलाने के लिए प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्राप्त करना चाहिये तथा दूसरों को श्रेष्ठता की दिशा में अग्रसर करने के लिये उन्हें प्रेरित करना चाहिये। वस्तुयें देकर किसी का उतना उपकार नहीं किया जा सकता है। सत्कार्य के लिये प्रेरणा देना इतना बड़ा पुण्य कार्य है कि उसकी तुलना में छोटी-मोटी पुण्य-क्रियायें बहुत ही तुच्छ बैठती हैं।

गायत्री-गीतां ह्येतां यो नरो वेत्ति तत्त्वतः।
स मुक्त्वा सर्वदुःखेभ्यः सदानन्दे निमज्जति ॥१४॥

अर्थ- जो मनुष्य इस गायत्री-गीता को भली प्रकार जान लेता है, वह सब प्रकार के दुःखों से छूट कर सदा आनन्दमग्न रहता है।

गायत्री गीता के उपर्युक्त १४ श्लोक समस्त वेद शास्त्रों में भरे हुए ज्ञान का निचोड़ है। समुद्र मन्थन से १४ रत्न निकले थे। समस्त शास्त्रों के समुद्र का मन्थन करके निकाले गये यह १४ श्लोक रूपी १४ रत्न हैं। जो व्यक्ति इन्हें भली प्रकार हृदयंगम कर लेता है, वह कभी भी दुःखी नहीं रह सकता, उसे सदा आनन्द ही आनन्द रहेगा।

गायत्री स्मृति

भूर्भुवः स्वस्त्रयो लोका व्याप्तमोम्ब्रह्म तेषु हि।
स एव तथ्यतो ज्ञानी यस्तद्वेत्ति विचक्षणः ॥१॥

"भूः भुवः और स्वः ये तीन लोक हैं, उन तीनों लोकों में ॐ ब्रह्म व्याप्त है। जो बुद्धिमान् उस ब्रह्म को जानता है, वही वास्तव में ज्ञानी है।"

परमात्मा का वैदिक नाम 'ॐ' है। ब्रह्म की स्फुरणा का सूक्ष्म प्रकृति पर निरन्तर आघात होता रहता है। इन्हीं आघातों के कारण सृष्टि में गतिशीलता उत्पन्न होती रहती है। काँसे के बर्तन पर जैसे हथौड़ी की हल्की चोट मारी जाए, तो वह बहुत देर तक झनझनाता रहता है, इसी प्रकार ब्रह्म और प्रकृति के मिलन-स्पन्दन स्थल पर ॐ की झन्कार होती रहती है। इसलिये यही परमात्मा का स्वयं घोषित नाम माना गया है।

यह ॐ तीनों ही लोकों में व्याप्त है। भूः पृथ्वी, भुवः पाताल, स्वः स्वर्ग- ये तीनों ही लोक परमात्मा से परिपूर्ण हैं। भूः शरीर, भुवः संसार, स्वः आत्मा यह तीनों ही परमात्मा के क्रीड़ा-स्थल हैं। इन सभी स्थलों को, निखिल ब्रह्माण्ड को भगवान् का विराट् रूप समझ कर उस आध्यात्मिक उच्च भूमिका को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये, जो गीता के ११वें अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखाकर प्राप्त कराई थी। परमात्मा को सर्वत्र सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, सर्वात्मा देखने वाला मनुष्य माया, मोह, ममता, संकीर्णता, अनुदारता, कुविचार एवं

कुकर्मों की अग्नि में झुलसने से बच जाता है और हर घड़ी परमात्मा के दर्शन करने से परमानन्द सुख में निमग्न रहता है । ॐ भूर्भुव: स्व: का तत्त्वज्ञान समझ लेने वाला ब्रह्मज्ञानी एक प्रकार से जीवन-मुक्त ही हो जाता है ।

तत्- तत्त्वज्ञास्तु विद्वांसो ब्राह्मणा: स्वतपोबलै: ।
अंधकारमपाकुर्यु: लोकादज्ञानसम्भवम् ॥२ ॥

'तत्त्वदर्शी विद्वान् ब्राह्मण अपने एकत्रित तप के द्वारा संसार से अज्ञान द्वारा उत्पन्न अन्धकार को दूर करें ।'

ब्राह्मण वे हैं जो तत्त्व को, वास्तविकता को, परिणाम को देखते हैं, जिन्होंने अपनी पढ़ाई को भाषा साहित्य, शिल्पकला, विज्ञान आदि की पेटभरू शिक्षा तक ही सीमित न रखकर जीवन का उद्देश्य, आनन्द और साफल्य प्राप्त करने की 'विद्या ' भी सीखी है । शिक्षित तो गली-कूचों में मक्खी-मच्छरों की तरह भरे पड़े हैं, पर जो विद्वान् हैं, वे ही ब्राह्मण हैं ।

भगवान् ने जिन्हें तत्त्वदर्शी और विद्वान् बनने की सुविधा एवं प्रेरणा दी है, उन ब्राह्मणों को अपनी जिम्मेदारी अनुभव करनी चाहिये, क्योंकि वे सबसे बड़े धनी हैं । लोग व्यर्थ ही ऐसा सोचते हैं कि धन की अधिकता ही सुख का कारण है । सच बात यह है कि बिना सद्ज्ञान के कोई मनुष्य सुख-शान्ति का जीवन नहीं बिता सकता, चाहे वह करोड़ों रुपयों का स्वामी क्यों न हो । भारतवासी सद्ज्ञान का महत्त्व आदि काल से समझते आये हैं, इसलिये यहाँ सद्ज्ञान के, ब्रह्मज्ञान के धनी ब्राह्मणों की मान-प्रतिष्ठा सबसे अधिक होती रही है । आज इस गये बीते जमाने में भी उसकी चिह्न पूजा किसी न किसी रूप में ब्राह्मणों के अनधिकारी वंशजों तक को प्राप्त हो जाती है ।

ब्राह्मणत्व विश्व का सबसे बड़ा धन है । रत्नों का भण्डार बढ़िया, कीमती, मजबूत तिजोरी में रखा जाता है । जो शरीर तप:पूत है, तपस्या की, संयम की, तितिक्षा की, त्याग की अग्नि में तपा-तपा कर जिस तिजोरी को भली प्रकार से मजबूती से गढ़ा गया है, उसी में ब्राह्मणत्व रहेगा और ठहरेगा । जो असंयमी, भोगी, स्वार्थी, तपोविहीन हैं, वे शास्त्रों की तोतारटन्त भले ही करते हों, पर उस बकवाद के अतिरिक्त अपने में ब्राह्मणत्व को भली प्रकार सुरक्षित एवं स्थिर रखने में समर्थ नहीं हो सकते । इसलिये ब्राह्मण को, सद्ज्ञान के धनी को, अपने को तप:पूत बनाना चाहिये । तप और ब्राह्मणत्व के सम्मिश्रण से ही सोना और सुगन्ध की उक्ति चरितार्थ होती है ।

ब्राह्मण को भूसुर कहा जाता है । भूसुर का अर्थ है- पृथ्वी का देवता । देवता वह है जो दे । ब्राह्मण संसार का सर्वश्रेष्ठ धन का, सद्ज्ञान का धनपति होता है । वह देखता है कि जो धन उसके पास अटूट भण्डार के रूप में भरा हुआ है, उसी के अभाव के कारण सारी जनता दु:ख पा रही है । अज्ञान से, अविद्या से बढ़कर दु:खों का कारण और कोई नहीं है । जैसे भूख से छटपटाते हुए, करुण क्रन्दन करते हुए मनुष्य को देखकर सहृदय धनी व्यक्ति उन्हें कुछ दान दिये बिना नहीं रह सकते, उसी प्रकार अविद्या के अन्धकार में भटकते हुए जन समूह को सच्चा ब्राह्मण, अपनी सद्ज्ञान रूपी सम्पदा से लाभ पहुँचाता है । यह कर्तव्य आवश्यक एवं अनिवार्य है । यह ब्राह्मण की स्वाभाविक जिम्मेदारी है ।

गायत्री का प्रथम शब्द 'तत्' ब्राह्मणत्व की इस महान् जिम्मेदारी की ओर संकेत करता है । जिसकी आत्मा, जितने अंशों में तत्त्वदर्शी, विद्वान् और तपस्वी है, वह उतने ही अंश में ब्राह्मण है । यह ब्राह्मणत्व जिस वर्ण, कुल, वंश के मनुष्य में निवास करता है, उसी का यह कर्तव्य-धर्म है कि अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को दूर करने के लिये जो कुछ कर सकता हो, अवश्य करता रहे ।

स-सत्तावन्तस्तथा शूरा: क्षत्रिया लोकरक्षका: ।
अन्यायाशक्तिसम्भूता ध्वंसयेयुर्हि त्वापद: ॥३ ॥

"सत्तावान् और संसार के रक्षक क्षत्रिय अन्याय और अशक्ति से उत्पन्न होने वाली आपत्तियों को नष्ट करें ।"

जन-बल, शरीर-बल, बुद्धि-बल, सत्ता-शक्ति, पद, शासन, गौरव, बड़प्पन, संगठन, तेज, पुरुषार्थ, चातुर्य, साधन, साहस, शौर्य यह क्षत्रियत्व के लक्षण हैं । जिसके पास इन वस्तुओं में से जितनी अधिक मात्रा है, उतने ही अंशों में उसका क्षत्रियत्व बढ़ा हुआ है ।

देखा गया है कि यह क्षत्रियत्व जब अनधिकारियों के हाथ में पहुँच जाता है तो इससे उन्हें अहंकार और मद बढ़ जाता है । अहंकार को बड़प्पन समझकर वे उसकी रक्षा के लिये अनेक प्रकार के अनावश्यक खर्च और आडम्बर बढ़ाते हैं । उसकी पूर्ति के लिये अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है, जिसे वे अनीति, अन्याय, शोषण, अपहरण द्वारा पूरी करते हैं । दूसरों को सताने में अपना पराक्रम समझते हैं । व्यसनों की अधिकता होती है और इन्द्रिय लिप्सा में प्रवृत्ति बढ़ती है । ऐसी दशा में वह क्षत्रियत्व उस व्यक्ति की आत्मा को ऊँचा उठाने और तेजस्वी महापुरुष बनाने की अपेक्षा अहंकारी, दम्भी, अत्याचारी, व्यसनी और दुराचारी बना देता है । ऐसे दुरुपयोग से बचना ही उचित है ।

गायत्री का 'स' अक्षर कहता है कि हे सत्तावानो ! तुम्हें सत्ता इसलिये दी गयी है कि शोषितों और निर्बलों को हाथ पकड़कर ऊँचा उठाओ, उनकी सहायता करो और जो दुष्ट उन्हें निर्बल समझकर सताने का प्रयास करते हैं, उन्हें अपनी शक्ति से परास्त करो । बुराइयों से लड़ने और अच्छाइयों को बढ़ाने के लिये ही ईश्वर शक्ति देता है । उसका उपयोग इसी दिशा में होना चाहिये ।

वि-वित्तशक्त्या तु कर्त्तव्या उचिताभावपूर्तयः ।
न तु शक्त्या तया कार्यं दर्पौद्धत्यप्रदर्शनम् ॥४ ॥

'धन की शक्ति द्वारा तो उचित अभावों की पूर्ति करनी चाहिये । उस शक्ति द्वारा घमण्ड और उद्दण्डता का प्रदर्शन नहीं करना चाहिये ।'

विद्या और सत्ता की भाँति धन भी एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है । इसका उपार्जन इसलिये आवश्यक है कि अपने तथा दूसरों के उचित अभावों की पूर्ति की जा सके । शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा के विकास के लिये, सांसारिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए धन का उपयोग होना चाहिये और इसलिये उसे कमाया जाना चाहिये ।

पर कई व्यक्ति प्रचुर मात्रा में धन जमा करने में अपनी प्रतिष्ठा अनुभव करते हैं । अधिक धन का स्वामी होना उनकी दृष्टि में कोई 'बहुत बड़ी बात' होती है । अधिक कीमती सामान का उपयोग करना, अधिक अपव्यय, अधिक भोग, अधिक विलास उन्हें जीवन की सफलता के चिह्न मालूम पड़ते हैं । इसलिये जैसे भी बने धन कमाने की उनकी तृष्णा प्रबल रहती है । इसके लिये वे धर्म-अधर्म का, उचित-अनुचित का विचार करना भी छोड़ देते हैं । धन में उनकी इतनी तन्मयता होती है कि स्वास्थ्य, मनोरंजन, स्वाध्याय, आत्मोन्नति, लोक-सेवा, ईश्वराराधन आदि सभी उपयोगी दिशाओं से वे मुँह मोड़ लेते हैं । धनपतियों को एक प्रकार का नशा-सा चढ़ा रहता है, जिससे उनकी सद्बुद्धि, दूरदर्शिता और सत्-असत् परीक्षणी प्रज्ञा कुण्ठित हो जाती है । धनोपार्जन की यह दशा निन्दनीय है ।

धन कमाना आवश्यक है, इसलिये कि उससे हमारी वास्तविक आवश्यकताएँ उचित सीमा तक पूरी हो सकें । इसी दृष्टि से प्रयत्न और परिश्रमपूर्वक लोग धन कमाएँ, गायत्री का 'वि' अक्षर वित्त (धन) के सम्बन्ध में यही संकेत करता है ।

तु-तुषाराणां प्रपातेऽपि यत्नो धर्मस्तु चात्मनः ।
महिमा च प्रतिष्ठा च प्रोक्ता परिश्रमस्य हि ॥५ ॥

"तुषारापात में भी प्रयत्न करना आत्मा का धर्म है । श्रम की महिमा और प्रतिष्ठा अपार है ऐसा कहा गया है ।"

मनुष्य जीवन में विपत्तियाँ, कठिनाइयाँ, विपरीत परिस्थितियाँ, हानियाँ और कष्ट की घड़ियाँ भी आती ही रहती हैं । जैसे रात और दिन समय के दो पहलू हैं वैसे ही सम्पदा और विपदा, सुख और दुःख भी जीवन रथ के दो पहिये हैं । दोनों के लिये ही मनुष्य को धैर्य पूर्वक तैयार रहना चाहिये । न विपत्ति में छाती पीटे और न सम्पत्ति में इतरा कर तिरछा चले ।

कठिन समय में मनुष्य के चार साथी हैं- (१) विवेक, (२) धैर्य, (३) साहस, (४) प्रयत्न । इन चारों को मजबूती से पकड़े रहने पर बुरे दिन धीरे-धीरे निकल जाते हैं और जाते समय अनेक अनुभवों, गुणों, योग्यताओं तथा

शक्तियों को उपहार में दे जाते हैं। चाकू पत्थर पर घिसे जाने से तेज होता है, सोना अग्नि में तपकर खरा सिद्ध होता है, मनुष्य कठिनाइयों में पड़कर इतनी शिक्षा प्राप्त करता है जितनी कि दस गुरु मिलकर भी नहीं सिखा सकते हैं। इसलिये कष्ट से डरना नहीं चाहिये वरन् उपर्युक्त चार साधनों द्वारा संघर्ष करके उसे परास्त करना चाहिये।

परिश्रम, प्रयत्न, कर्तव्य ये मनुष्य के गौरव और वैभव को बढ़ाने वाले हैं। आलसी, भाग्यवादी, कर्महीन संघर्ष से डरने वाले, अव्यावहारिक मनुष्य प्रायः सदा ही असफल होते रहते हैं। जो कठिनाइयों पर विजयी होना और आनन्दमय जीवन का रसास्वादन करना चाहते हैं, उन्हें गायत्री मन्त्र का 'तु' अक्षर उपदेश करता है कि प्रयत्न करो, परिश्रम करो, कर्त्तव्य पथ पर बहादुरी से डटे रहो, क्योंकि पुरुषार्थी की महिमा अपार है। 'पुरुष' कहाने का अधिकारी वही है जो पुरुषार्थी है।

व-वद नारीं विना कोऽन्यो निर्माता मनुसन्ततेः।
महत्त्वं रचनाशक्तेः स्वस्या नार्या हि ज्ञायताम्॥ ६॥

"नारी के बिना मनुष्य को बनाने वाला दूसरा और कौन है अर्थात् मनुष्य की निर्मात्री नारी ही है। नारी को अपनी रचना शक्ति का महत्त्व समझना चाहिये।"

जन-समाज दो भागों में बँटा हुआ है (१) नर (२) नारी। नर की उन्नति, सुविधा एवं सुरक्षा के लिये काफी प्रयत्न किया जाता है, परन्तु नारी हर क्षेत्र में पिछड़ी हुई है। फलस्वरूप हमारा आधा संसार, आधा परिवार, आधा जीवन पिछड़ा हुआ रह जाता है। जिस रथ का एक पहिया बड़ा और एक छोटा हो, जिस हल में एक बैल बड़ा और दूसरा बहुत छोटा जुता हो, उसके द्वारा संतोषजनक कार्य नहीं हो सकता। हमारा देश, हमारा समाज, समुदाय तब तक सच्चे अर्थों में विकसित नहीं कहा जा सकता, जब तक कि नारी को भी नर के समान ही अपनी क्रियाशीलता एवं प्रतिभा प्रकट करने का अवसर प्राप्त न हो।

नारी से ही नर उत्पन्न होता है। बालक की आदि गुरु उसकी माता ही होती है। पिता के वीर्य की एक बूँद निमित्त ही होती है। बाकी बालक के सब अंग-प्रत्यंग माता के रक्त से ही बनते हैं। उस रक्त में जैसी स्वस्थता, प्रतिभा, विचारधारा होगी उसी के अनुसार बालक का शरीर, मस्तिष्क और स्वभाव बनेगा। नारियाँ यदि अस्वस्थ, अशिक्षित, अविकसित, कूप-मण्डूक और पिछड़ी हुई रहेंगी, तो उनके द्वारा उत्पन्न हुए बालक भी इन्हीं दोषों से युक्त होंगे। ऊसर खेत में अच्छी फसल पैदा नहीं हो सकती। अच्छे फलों का बाग लगाना है तो अच्छी भूमि की आवश्यकता होगी।

गायत्री का 'व' अक्षर कहता है कि यदि मनुष्य जाति अपनी उन्नति चाहती है तो उसे पहले नारी को शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक क्षेत्रों में प्रतिभावान् सुविकसित बनाना चाहिये। तभी नर समुदाय में सबलता, सूक्ष्मता, समृद्धि, सद्बुद्धि, सद्गुण और महानता के संस्कारों का विकास हो सकता है। नारी को पिछड़ी हुई रखना अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मारना है।

रे-रेवेव निर्मला नारी पूजनीया सतां सदा।
यतो हि सैव लोकेऽस्मिन् साक्षाल्लक्ष्मीर्मता बुधैः॥ ७॥

"सज्जन पुरुष को हमेशा नर्मदा नदी के समान निर्मल नारी की पूजा करनी चाहिये; क्योंकि विद्वानों ने उसी को इस संसार में साक्षात् लक्ष्मी माना है।"

स्त्री लक्ष्मी का अवतार है। जहाँ नारी सुलक्षिणी है, बुद्धिमती है और सहयोगिनी है, वहाँ गरीबी होते हुए भी अमीरी का आनन्द बरसता रहता है। धन-दौलत निर्जीव लक्ष्मी है, किन्तु स्त्री लक्ष्मीजी की सजीव प्रतिमा है, उसका यथोचित आदर, सत्कार और परितोषण होना चाहिये।

जैसे नर्मदा नदी का जल सदा निर्मल रहता है, उसी प्रकार ईश्वर ने नारी को निर्मल अन्तःकरण दिया है। परिस्थिति दोष के कारण अथवा दुष्ट संगति से कभी-कभी उसमें विकार पैदा हो जाते हैं, पर इन कारणों को बदल दिया जाए, तो नारी हृदय पुनः अपनी शाश्वत निर्मलता पर लौट आता है। स्फटिक मणि को रंगीन मकान में रखा

जाए या उसके निकट कोई रंगीन पदार्थ रख दिया जाए, तो वह मणि भी रंगीन छाया के कारण रंगीन दिखायी पड़ने लगती है । परन्तु पीछे जब उन कारणों को हटा दिया जाए, तो वह शुद्ध, निर्मल, शुभ्र मणि ही दिखाई पड़ती है । इसी प्रकार नारी जब बुरी परिस्थितियों में फँसी हो, तब बुरी दिखाई देती है । उस परिस्थिति का अन्त होते ही वह निर्मल एवं निर्दोष हो जाती है ।

वैधव्य, किसी की मृत्यु, घाटा आदि दुर्घटनायें घटित होने पर उसे नव आगन्तुक वधू के भाग्य का दोष बताना नितांत अनुचित है । ऐसी घटनायें होतव्यता के अनुसार होती हैं । नारी, तो लक्ष्मी का अवतार होने से सदा ही कल्याणकारिणी और मंगलमयी है । गायत्री का अक्षर 'रे' नारी सम्मान की अभिवृद्धि चाहता है, ताकि लोगों को मंगलमय वरदान प्राप्त हो ।

णि- न्यस्यन्ति ये नराः पादान् प्रकृत्याज्ञानुसारतः ।
स्वस्थाः सन्तस्तु ते नूनं रोगमुक्ता भवन्ति हि ।।८ ।।

"जो मनुष्य प्रकृति की आज्ञानुसार पैरों को रखते हैं अर्थात् प्रकृति की आज्ञानुसार चलते हैं, वे मनुष्य निश्चय ही रोगों से मुक्त होते हुए स्वस्थ हो जाते हैं ।

स्वास्थ्य को ठीक रखने और बढ़ाने का राजमार्ग प्रकृति के आदेशानुसार चलना, प्राकृतिक आहार-विहार अपनाना, प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना है । अप्राकृतिक, अस्वाभाविक, बनावटी, आडम्बर और विलासिता से भरा हुआ जीवन बिताने से लोग बीमार होते हैं और अल्पायु में ही काल के ग्रास बन जाते हैं ।

(१) भूख लगने पर खूब चबाकर प्रसन्न चित्त से, थोड़ा पेट खाली रखकर भोजन करना (२) फल, शाक, दूध, दही, छिलके समेत अन्न और दालें जैसे ताजे सात्त्विक आहार लेना । (३) नशीली चीजें, मिर्च-मसाले, चाट, पकवान, मिठाइयाँ, मांस आदि अभक्ष्यों से बचना । (४) सामर्थ्य के अनुकूल श्रम एवं व्यायाम करना । (५) शरीर, वस्त्र, मकान और प्रयोजनीय सामान की भली प्रकार सफाई रखना । (६) रात को जल्दी सोना और प्रातः जल्दी उठना । (७) मनोरंजन, देशाटन, निर्दोष विनोद के लिये पर्याप्त अवसर प्राप्त करते रहना । (८) कामुकता, चटोरेपन, अन्याय, बेईमानी, ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता, क्रोध, पाप आदि के कुविचारों से मन को हटाकर सदा प्रसन्नता और सात्त्विकता के सद्विचारों में रमण करना । (९) स्वच्छ जलवायु का सेवन (१०) उपवास, एनीमा, फलाहार, जल, मिट्टी आदि प्राकृतिक उपचारों से रोग-मुक्ति का उपाय करना ।

ये दस नियम ऐसे हैं जिन्हें अपनाकर प्राकृतिक जीवन बिताने से खोये हुए स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त करना और प्राप्त स्वास्थ्य को सुरक्षित एवं उन्नत बनाना बिल्कुल सरल है । गायत्री का 'णि' अक्षर यही उपदेश करता है ।

य-यथेच्छति नरस्त्वन्यैः सदान्येभ्यस्तथाचरेत् ।
नम्रः शिष्टः कृतज्ञश्च सत्यसाहाय्यवान् भवेत ।।९ ।।

"मनुष्य दूसरे के साथ उस प्रकार का आचरण करे, जैसा वह दूसरों के द्वारा चाहता है और उसे नम्र, शिष्ट, कृतज्ञ और सच्चाई के साथ सहयोग की भावना वाला होना चाहिये ।"

दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, उसकी कसौटी यह है कि "हम दूसरों से जैसा व्यवहार अपने लिये चाहते हैं, वैसा ही आचरण स्वयं भी दूसरों के साथ करें ।" दुनिया कुएँ की आवाज की तरह है । कुएँ में मुँह करके जैसी वाणी हम बोलेंगे, बदले में वैसी ही प्रतिध्वनि दूसरी ओर से आयेगी ।

हर एक मनुष्य चाहता है कि दूसरे आदमी उससे नम्र बोलें, सभ्य व्यवहार करें, ईमानदारी से बरतें, कोई भूल हो जाये तो उसे सहन कर लें, मार्ग में कोई रोड़ा न अटकाएँ, उसकी बहिन-बेटियों पर कुदृष्टि न डालें तथा समय-समय पर उदारता एवं सहयोग की भावना का परिचय दें । जब हम दूसरों से ऐसा व्यवहार चाहते हैं तो हमारे लिये भी यह उचित है कि वैसा ही व्यवहार दूसरों से करें । कारण यह है कि सदा ही क्रिया से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है । यदि हम बुराई करेंगे, तो दूसरों के मन पर उसकी छाप पड़ेगी, प्रतिक्रिया होगी, जो अपने लिये ही नहीं, अन्यों के लिये भी अहितकर होती है । यदि लोग अपने विचार और कार्यों में वैसे ही तत्त्व भर लें, जैसे कि दूसरों में होने की आशा करते हैं तो संसार में सुख-शान्ति की स्थापना हो सकती है ।

गायत्री का अक्षर "य" शास्त्रकारों की **"आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"** उक्ति का उद्घोष करता है। इसे क्रियात्मक रूप में लाना, गायत्री शिक्षा की ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम बढ़ाना है।

भ-भवोद्विग्नमना नैव हृद्‌द्वेगं परित्यज।
कुरु सर्वास्ववस्थासु शांतं संतुलितं मन: ॥१०॥

"मानसिक उत्तेजना को छोड़ दो। सभी अवस्थाओं में मन को शान्त और सन्तुलित रखो।"

शरीर में उष्णता की मात्रा अधिक बढ़ जाना 'ज्वर' कहलाता है और ज्वर अनेक दुष्परिणामों को पैदा कर सकता है वैसे ही उद्वेग, आवेश, उत्तेजना, मद, आतुरता आदि लक्षण मानसिक ज्वर के हैं। आवेश का अन्धड़-तूफान जिस समय मन में आता है उस समय ज्ञान, विवेक सब का लोप हो जाता है और उस सन्निपात से ग्रस्त व्यक्ति अंड-बंड बातें बकता है, न करने लायक अस्त-व्यस्त क्रियायें करता है। यह स्थिति मानव जीवन में सर्वथा अवांछनीय है।

विपत्ति पड़ने पर लोग चिन्ता, शोक, निराशा, भय, घबराहट, क्रोध, कायरता आदि विषादात्मक आवेश से ग्रस्त हो जाते हैं और सम्पत्ति बढ़ने पर अहंकार, मद, मत्सर, अति हर्ष, अमर्यादा, नास्तिकता, अतिभोग, ईर्ष्या, द्वेष आदि विध्वंसक उत्तेजना में फँस जाते हैं। कई बार लोभ और भोग का आकर्षण उन्हें इतना लुभा लेता है कि वे आँखें रहते हुए भी अन्धे हो जाते हैं। इन तीनों स्थितियों में मनुष्य का होश-हवास दुरुस्त नहीं रहता। देखने में वह स्वस्थ और भला-चंगा दीखता है, पर वस्तुत: उसकी आन्तरिक स्थिति पागलों, बालकों, रोगियों तथा उन्मत्तों जैसी हो जाती है। ऐसी स्थिति मनुष्य के लिये विपत्ति, त्रास, अनिष्ट और अनर्थ के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न नहीं कर सकती। इसलिये गायत्री के 'भ' शब्द का सन्देश है कि इन आवेशों और उत्तेजनाओं से बचो। दूरदर्शिता, विवेक, शान्ति और स्थिरता से काम लो। बदली की छाया की तरह रोज घटित होती रहने वाली रंग-बिरंगी घटनाओं में अपनी आंतरिक शांति को नष्ट न होने दो। मस्तिष्क को स्वस्थ रखो, चित्त को शान्त रहने दो, आवेश की उत्तेजना से नहीं, विवेक और दूरदर्शिता के आधार पर अपनी विचारधारा और कार्य प्रणाली को चलाओ।

गो-गोप्या स्वीया मनोवृत्तिर्नासहिष्णुर्नरो भवेत्।
स्थितिमन्यस्य संवीक्ष्य तदनुरूपतां चरेत्॥११॥

"अपने मनोभावों को नहीं छिपाना चाहिये। मनुष्य को असहिष्णु नहीं होना चाहिये। दूसरे की स्थिति को देखकर उसके अनुसार आचरण करें।"

अपने मनोभाव और मनोवृत्ति को छिपाना, छल, कपट और पाप है। जैसे भीतर है, वैसे ही बाहर प्रकट कर दिया जाए, तो वह पाप निवृत्ति का सबसे बड़ा राजमार्ग है। स्पष्ट कहने वाले, खरी कहने वाले, जैसा पेट में है वैसा मुँह से कहने वाले, लोग चाहे किसी को कितने ही बुरे क्यों न लगें, पर वे ईश्वर के आगे, आत्मा के आगे अपराधी नहीं ठहरते। जो आत्मा पर असत्य का आवरण चढ़ाते रहते हैं, वे एक प्रकार के आत्म हत्यारे हैं। कोई व्यक्ति यदि अधिक रहस्यवादी हो, अधिक आपराधिक कार्य करता हो, तो भी वह अपने कुछ ऐसे आत्मीय जन, विश्वासी जीव अवश्य रखना चाहता है, जिनके आगे अपने सब रहस्य प्रकट करके मन हल्का कर लिया करे। ऐसे आत्मीय मित्र और गुरुजन हर मनुष्य को नियुक्त कर लेने चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य के दृष्टिकोण, विचार, अनुभव, अभ्यास, ज्ञान, स्वार्थ, रुचि एवं सस्कार भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिये सबका सोचना एक प्रकार का नहीं हो सकता। इस तथ्य को समझते हुए दूसरों के प्रति सहिष्णुता होनी चाहिये। अपने से किसी भी अंश में मतभेद रखने वाले को मूर्ख, अज्ञानी, दुराचारी या विरोधी मान लेना उचित नहीं। ऐसी असहिष्णुता झगड़ों की जड़ है। एक-दूसरे के दृष्टिकोण के अन्तर को समझते हुए यथासम्भव समझौते का मार्ग निकालना चाहिये। फिर भी जो मतभेद रह जाए उसे पीछे धीरे-धीरे सुलझाते रहने के लिये छोड़ देना चाहिये।

संसार में सभी प्रकृति के मनुष्य हैं। मूर्ख, विद्वान्, रोगी, स्वस्थ, पापी, पुण्यात्मा, पाखण्डी, कायर, वीर, कटुवादी, नम्र, चोर, ईमानदार, निन्दनीय, आदरास्पद, स्वधर्मी, विधर्मी, दया-पात्र, दण्डनीय, शुष्क, सरस, भोगी, त्यागी आदि

परस्पर विरोधी स्थितियों के मनुष्य भरे पड़े हैं। उनकी स्थिति के आधार पर ही उनके लिये शक्य सलाह दें। सबसे एक समान व्यवहार नहीं हो सकता और न सब एक मार्ग पर चल सकते हैं। यह सब बातें 'गो' अक्षर हमें सिखाता है।

दे-देयानि स्ववशे पुंसा स्वेन्द्रियाण्यखिलानि वै।
असंयतानि खादन्तीन्द्रियाण्येतानि स्वामिनम्॥१२।

'मनुष्य को अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने वश में करनी चाहिये। ये असंयत इन्द्रियाँ स्वामी को खा जाती हैं।"

इन्द्रियाँ आत्मा के औजार हैं, घोड़े हैं, सेवक हैं। परमात्मा ने इन्हें इसलिये प्रदान किया है कि इनकी सहायता से आत्मा की आवश्यकता पूरी हो और सुख मिले। सभी इन्द्रियाँ बड़ी उपयोगी हैं। सभी का काम जीव को उत्कर्ष एवं आनन्द प्रदान करना है। यदि उनका सदुपयोग हो, तो क्षण-क्षण पर मानव-जीवन का मधुर रस चखता हुआ प्राणी अपने भाग्य को सराहता रहेगा।

किसी इन्द्रिय का भोग पाप नहीं है। सच तो यह है कि अन्तःकरण को, विविध क्षुधाओं को, तृष्णाओं को तृप्त करने की इन्द्रियाँ एक माध्यम हैं। जैसे पेट की भूख-प्यास को न बुझाने से शरीर का सन्तुलन बिगड़ जाता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर की क्षुधायें उचित रीति से तृप्त न की जाती रहें, तो आंतरिक क्षेत्र का सन्तुलन बिगड़ जाता है और अनेक मानसिक रोग उठ खड़े होते हैं।

इन्द्रिय भोगों की जगह-जगह निन्दा की जाती है और वासनाओं को दमन करने का उपदेश दिया जाता है। उसका वास्तविक तात्पर्य यह है कि अनियन्त्रित इन्द्रियाँ स्वाभाविक एवं आवश्यक मर्यादा का उल्लंघन करके इतनी स्वेच्छाचारी एवं चटोरी हो जाती हैं कि वे स्वास्थ्य और धर्म के लिये संकट उत्पन्न करके भी मनमानी करती हैं। आजकल अधिकांश मनुष्य इसी प्रकार के इन्द्रिय-गुलाम हैं। अपनी वासना पर काबू नहीं रख सकते। बेकाबू हुई वासना अपने स्वामी को खा जाती है।

गायत्री का 'दे' अक्षर आत्म-नियन्त्रण का उपदेश देता है। इन्द्रियों पर हमारा काबू हो, वे अपनी मनमानी करके हमें जब चाहे जिधर को घसीट न सकें, बल्कि हम जब आवश्यकता अनुभव करें, तब उचित आंतरिक भूख बुझाने के लिये उनका उपयोग कर सकें। यही निग्रह है। निगृहीत इन्द्रियों से बढ़कर मनुष्य का सच्चा मित्र तथा अनियन्त्रित इन्द्रियों से बढ़कर बड़ा शत्रु और कोई नहीं है।

व-वस नित्यं पवित्रः सन् बाह्याभ्यन्तरतस्तथा।
यतः पवित्रतायां हि राजतेऽतिप्रसन्नता॥ १३॥

"मनुष्य को बाहर और भीतर सब तरह से पवित्र होकर रहना चाहिये; क्योंकि पवित्रता में ही प्रसन्नता रहती है।"

पवित्रता- अहा ! कितना शीतल, शान्तिदायक, चित्त को प्रसन्न और हल्का करने वाला शब्द है। कूड़ा, करकट, मैल, विकार, पाप, गन्दगी, दुर्गन्ध, अव्यवस्था, घिचपिच को झाड़-बुहार कर स्वच्छता, सफाई, पवित्रता स्थापित कर ली जाती है, तो पहली और पीछे की स्थिति में कितना भारी अन्तर हो जाता है।

मलिनता, अन्ध तामसिकता की प्रतीक है। आलस्य और दारिद्र्य, पाप और पतन जहाँ रहते हैं, वहाँ मलिनता एवं गन्दगी का निवास होता है। जो इस प्रकृति के हैं उनके वस्त्र, घर, सामान, शरीर, मन सब में मन्दगी और अस्तव्यस्तता भरी रहती है। इसके विपरीत जहाँ चैतन्य, जागरूकता, सुरुचि, सात्त्विकता होगी, वहाँ सबसे पहले स्वच्छता की ओर ध्यान जाएगा। सफाई, सादगी, सजावट, व्यवस्था का नाम ही पवित्रता है।

मलिनता से घृणा होनी चाहिये, पर उसे हटाने या उठाने में रुचि होनी चाहिये। जो गन्दगी को छूने या उसे उठाने, हटाने से हिचकिचाते हैं, वे सफाई नहीं रख सकते। मन में, शरीर में, वस्त्रों में, समाज में हर घड़ी गन्दगी पैदा होती है। निरन्तर टूट-फूट का जीर्णोद्धार न किया जाए, तो गन्दगी बढ़ती जाएगी और सफाई चाहने की इच्छा केवल एक कल्पना मात्र बनी रह जाएगी।

गायत्री का 'व' अक्षर स्वच्छता का सन्देश देता है । स्वच्छ शरीर, स्वच्छ वस्त्र, स्वच्छ निवास, स्वच्छ सामान, स्वच्छ जीविका, स्वच्छ विचार, स्वच्छ व्यवहार- जिसमें इस प्रकार की स्वच्छतायें निवास करती हैं, वह पवित्रात्मा मनुष्य निष्पाप जीवन व्यतीत करता हुआ पुण्य-गति को प्राप्त करता है ।

स्य-स्यन्दनं परमार्थस्य परार्थो हि बुधैर्मतः ।
योऽन्यान् सुखयते विद्वान् तस्य दुःखं विनश्यति ॥१४॥

"दूसरों का प्रयोजन सिद्ध करना परमार्थ का रथ है, ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है । जो विचारवान् दूसरे लोगों को सुख देता है, उसका दुःख नष्ट हो जाता है ।"

लोक व्यवहार के तीन मार्ग हैं- (१) अर्थ- जिसमें दोनों पक्ष समान रूप से आदान-प्रदान करते हैं, (२) स्वार्थ- दूसरों को हानि पहुँचा कर अपना लाभ करना, (३) परमार्थ- अपनी हानि करके भी दूसरों को लाभ पहुँचाना । स्वार्थ में चोरी, ठगी, अपहरण, शोषण, बेईमानी आदि आते हैं । परमार्थ में दान, सेवा, सहायता, शिक्षा आदि कार्यों को कहा जाता है ।

अर्थ (जीविका) हमारा नित्यकर्म है । उसके बिना जीवन यात्रा भी नहीं चल सकती । आहार निद्रा, भोजन, मल-त्याग आदि के समान स्वाभाविक होने के कारण उसका विधि-निषेध कुछ नहीं है । वह तो हर एक को करना ही होता है । स्वार्थ त्याज्य है, निन्दनीय है, पाप मूलक है, उससे यथासंभव बचते ही रहना चाहिये । परमार्थ धर्म कार्य है, इससे त्याग का, उदारता का अभ्यास बढ़ता है, आत्म-कल्याण का धर्म-मार्ग प्रशस्त होता है तथा उससे दूसरों का लाभ होने से वे प्रसन्न होकर बदले में प्रत्युपकार करते हैं, प्रशंसा और आदर देते हैं और कृतज्ञ रहते हैं ।

गायत्री का 'स्य' शब्द परमार्थ के लिये प्रेरणा देता है । हर मनुष्य का कर्तव्य है कि अर्थ उपार्जन करता हुआ स्वार्थ से बचे और परमार्थ के लिये यथा सम्भव प्रयत्नशील रहे । अपना पेट तो पशु भी भर लेते हैं, प्रशंसनीय वह है जिसके द्वारा दूसरे भी लाभ उठायें ।

धी-धीरस्तुष्टो भवेन्नैव त्वेकस्यां हि समुन्नतौ ।
क्रियतामुन्नतिस्तेन सर्वास्वाशासु जीवने ॥१५॥

"धीर पुरुष को एक ही प्रकार की उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये । मनुष्य को जीवन की सभी दिशाओं में उन्नति करनी चाहिये ।"

जैसे शरीर के कई अंग हैं और उन सभी का पुष्ट होना आवश्यक होता है, वैसे ही जीवन की अनेक दिशायें हैं और उन सभी का विकास होना सर्वतोमुखी उन्नति का चिह्न है । यदि पेट बहुत बढ़ जाए और हाथ-पाँव पतले हो जाएँ, तो इस विषमता से प्रसन्नता न होकर चिन्ता ही बढ़ेगी । इसी प्रकार यदि कोई आदमी केवल धनी, केवल विद्वान् या केवल पहलवान बन जाए तो वह उन्नति पर्याप्त न होगी । वह पहलवान किस काम का जो दाने-दाने को मोहताज हो । वह विद्वान् किस काम का जो रोगों से ग्रस्त हो । वह धनी किस काम का, जिसके पास न विद्या है न तनदुरुस्ती ।

केवल एक ही दिशा में उन्नति के लिये अत्यधिक प्रयत्न करना और अन्य दिशाओं की उपेक्षा करना, उसकी ओर से उदासीन रहना उचित नहीं । जैसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, वायव्य, नैर्ऋत्य, आग्नेय आठ दिशायें हैं, वैसे ही जीवन की भी आठ दिशायें हैं, आठ बल हैं । (१) स्वास्थ्य-बल, (२) विद्या-बल, (३) धन-बल, (४) मित्र-बल, (५) प्रतिष्ठा-बल, (६) चातुर्य-बल, (७) साहस-बल, (८) आत्म-बल । इन आठों का यथोचित मात्रा में संचय होना चाहिये । जैसे किसान खेत की सब ओर से रखवाली करता है, जैसे चतुर सेनापति युद्ध क्षेत्र के सब मोर्चों की रक्षा करता है, वैसे ही जीवन के ये आठों मोर्चे सावधानी के साथ ठीक रखे जाने चाहिये । जिधर भी भूल रह जायेगी, उधर से ही शत्रु के आक्रमण होने और परास्त होने का भय रहेगा ।

गायत्री का 'धी' शब्द हमें सजग करता है कि आठों बल बढ़ाओ, आठों मोर्चों पर सजग रहो,

अष्टभुजी दुर्गा की उपासना करो, आठों दिशाओं की रखवाली करो, तभी सर्वांगीण उन्नति हो सकेगी। सर्वांगीण उन्नति ही स्वस्थ उन्नति है, अन्यथा किसी एक अंग को बढ़ा लेना और अन्यों को दुर्बल रखना कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं।

म-महेश्वरस्य विज्ञाय नियमान्न्यायसंयुतान्।
तस्य सत्तां च स्वीकुर्वन् कर्मणा तमुपासयेत्॥१६॥

"परमात्मा के न्यायपूर्ण नियमों को समझकर और उसकी सत्ता को स्वीकार करते हुए कम से कम उस परमात्मा की उपासना करे।"

परमात्मा के नियम न्यायपूर्ण हैं। सृष्टि में उसके प्रधान कार्य भी दो ही हैं। (१) संसार को नियमबद्ध रखना, (२) कर्मों का न्यायानुकूल फल देना। इन दोनों ईश्वरीय प्रधान कार्यों को समझकर जो अपने को नियमानुसार बनाता है, प्रकृति के कठोर नियमों को ध्यान में रखता है, सामाजिक, राजकीय, धार्मिक, लोक-हितकारी कानूनों, कायदों को मानता है, वह एक प्रकार से ईश्वर को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जो यह समझता है कि न्याय की अदालत में खड़ा होना ही पड़ेगा और बुरे-भले कर्मों के अनुसार दुःख-सुख की प्राप्ति अनिवार्यत: होगी, वह ईश्वर के समीप पहुँचता है। काम करने पर ही उसकी उजरत मिलती है। जो पसीना बहायेगा, परिश्रम करेगा, पुरुषार्थ, उद्योग और चतुरता का परिचय देगा, उसे उसके प्रयत्न के अनुसार साधन सामग्री जुटाने में सफलता मिलेगी।

परमात्मा की पूजा, उपासना की जितनी साधनायें हैं, जितने कर्मकाण्ड हैं, उनका तात्पर्य यही है कि साधक, परमात्मा के अस्तित्व पर, उसकी सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता पर विश्वास करे। यह विश्वास जितना दृढ़ होगा, उतना ही उसे परमात्मा का नियम और न्याय स्मरण रहेगा। इन दोनों की कठोरता और निश्चितता पर विश्वास होना, सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा का सेतु है, जो समझता है कि शीघ्र या देर-सबेर में, तुरन्त या विलम्ब से कर्म का फल मिले बिना नहीं रह सकता, वह आलसी या कुकर्मी नहीं हो सकता। जो आलस्य और कुकर्म से जितना बचता है, वह ईश्वर का उतना ही बड़ा भक्त है। गायत्री का 'म' अक्षर ईश्वर उपासना के रहस्य का स्पष्टीकरण करता है और बताता है कि ईश्वरीय नियम और न्याय का ध्यान रखते हुए हम सत्पथ पर चलें।

हि-हितं मत्वा ज्ञानकेन्द्रं स्वातंत्र्येण विचारयेत्।
नान्धानुसरणं कुर्यात् कदाचित् कोऽपि कस्यचित्॥१७॥

"हितकारी ज्ञान केन्द्र को समझकर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करे। कभी भी कोई किसी का अन्धानुसरण न करे।"

देश, काल, पात्र, अधिकार और परिस्थिति के अनुसार मानव जाति के हल और सुविधा के लिये विविध प्रकार के नियम, धर्मोपदेश, कानून और प्रथाओं का निर्माण एवं परिचालन होता है। परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ इन प्रथाओं एवं मान्यताओं का परिवर्तन होता रहता है। आदिकाल से लेकर अब तक, अनेकों प्रकार की शासन-पद्धतियाँ, धर्म-धारणायें, रीति-रिवाज तथा परम्परायें बदल चुकी हैं। समय-समय पर जो परिवर्तन होते रहते हैं, उन सभी का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। यही कारण है कि उनमें परस्पर विरोधी बातें दिखाई पड़ती हैं। वास्तव में विरोध कुछ नहीं है। विभिन्न समयों पर विभिन्न कारणों से जो परिवर्तन रीति-नीति में होता रहता है, वह पुस्तकों में लिखा तो है, पर वह स्पष्ट नहीं है कि ये पुस्तकें और प्रथायें किस-किस काल में रही हैं। यदि उनमें काल का उल्लेख होता, तो ग्रन्थों में परस्पर विरोध न दिखाई पड़ता और पाठक समझ जाते कि देश, काल, परिस्थिति के कारण यह अन्तर है, विरोध नहीं।

समाज के सुसंचालन के लिये प्रथायें हैं। मनुष्य जाति की सुव्यवस्था के लिये उन्हें बनाया गया है। ऐसा नहीं कि उन प्रथाओं को अपरिवर्तनशील समझ कर समाज और जाति के लिये उन्हें अमिट लकीर मान लिया जाए। संसार में आदि काल से बराबर परिवर्तन होता आ रहा है। कई रिवाज आज के लिये अनुपयुक्त हैं, तो ऐसा नहीं कि परम्परा मोह के कारण अन्धानुकरण किया ही जाए।

गायत्री का 'हि' अक्षर कहता है कि मनुष्य के द्वारा समाज के हित का ध्यान रखते हुए देश, काल और विवेक के अनुसार प्रथाओं को, परम्पराओं को बदला जा सकता है । आज हिन्दू समाज में ऐसी अगणित प्रथायें प्रचलित हैं, जिन्हें बदलने की अत्यधिक आवश्यकता है ।

धि-धिया मृत्युं स्मरन् मर्म जानीयाज्जीवनस्य च।
तदा लक्ष्यं समालक्ष्य पादौ सन्ततमाक्षिपेत् ॥१८ ॥

"बुद्धि से मृत्यु का ध्यान रखे और जीवन के मर्म को समझे, तब अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर अपने पैरों को चलाए, अर्थात् निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़े ।"

जीवन और मृत्यु के रहस्य को विवेकपूर्वक गम्भीरता से समझना आवश्यक है । मृत्यु कोई डरने की बात नहीं, पर उसे ध्यान में रखना आवश्यक है । न जाने किस समय मृत्यु सामने आ खड़ी हो और कूच की तैयारी करनी पड़े । इसलिये जो समय हाथ में है, उसे अच्छे से अच्छे उपयोग में लाना चाहिये । धन, यौवन आदि अस्थिर हैं । छोटे से रोग या हानि से इनका विनाश हो सकता है, इसलिये इनका अहंकार न करके, दुरुपयोग न करके, ऐसे कार्यों में लगाना चाहिये, जिससे भावी जीवन में सुख-शान्ति की अभिवृद्धि हो ।

जीवन एक अभिनय है और मृत्यु उसका पटाक्षेप है । इस अभिनय को हमें इस प्रकार करना चाहिये, जिससे दूसरों की प्रसन्नता बढ़े और अपनी प्रशंसा हो । नाटक या खेल के समय सुखपूर्ण और दु:ख भरे अनेकों अवसर आते हैं, पर अभिनयकर्त्ता समझता है कि यह केवल खेल मात्र हो रहा है, इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है, उस खेल के समय होने वाले दु:ख के अभिनय में न दु:खी होता है, न सुख के अभिनय में सुखी । वरन् अपना कौशल प्रदर्शित करने में, अपनी नाट्य सफलता में प्रसन्नता अनुभव करता है । जीवन, नाटक का भी अभिनय इसी प्रकार होना चाहिये । हर समय मनुष्य पर आये दिन आने वाली सम्पदा-विपदा का कुछ महत्त्व नहीं, उनकी ओर विशेष ध्यान न देकर अपना कर्म-कौशल दिखाने के लिये हमें प्रयत्नशील रहना चाहिये । मृत्यु जीवन का अन्तिम अतिथि है । इसके स्वागत के लिये सदा तैयार रहना चाहिये । अपनी कार्य प्रणाली ऐसी रखनी चाहिये कि किसी भी समय मृत्यु सामने आ खड़ी हो, तो तैयारी में कोई कमी अनुभव न करनी पड़े ।

गायत्री का 'धि' अक्षर जीवन और मृत्यु के सत्य को समझाता है । जीवन को इस प्रकार बनाओ, जिससे मृत्यु के समय पश्चात्ताप न हो । जो वर्तमान की अपेक्षा भविष्य को उत्तम बनाने के लिये प्रयत्नशील हैं, वे जीवन और मृत्यु का रहस्य भली प्रकार जानते हैं ।

यो-यो धर्मो जगदाधार: स्वाचरणे तमानय।
मा विडम्बय तं सोऽस्ति ह्येको मार्गे सहायक: ॥१९ ॥

"जो धर्म संसार का आधार है, उस धर्म को अपने आचरण में लाओ । उसकी विडम्बना मत करो । वह तुम्हारे मार्ग में एक ही अद्वितीय सहायक है ।"

धर्म संसार का आधार है । उसके ऊपर विश्व का समस्त भार रखा हुआ है । यदि धर्माचरण उठ जाए और सब लोग पूर्ण रूप से अधर्मी बन जायें, तो एक क्षण के लिये भी कोई प्राणी चैन से न बैठ सकेगा । सबको अपने प्राण बचाने और दूसरे का अपहरण करने की चक्की के दुहरे पाटों के बीच पिसना पड़ेगा । आज अनेक व्यक्ति लुक-छिप कर अधर्माचरण करते हैं, पर उन्हें भी यह साहस नहीं होता कि प्रत्यक्षत: अपने को अधर्मी घोषित करें या अधर्म को उचित ठहराने की वकालत करें । बुराइयाँ भी भलाई की आड़ लेकर की जाती हैं । इससे प्रकट है कि धर्म ऐसी मजबूत चीज है कि उसी का आश्रय लेकर, आडम्बर ओढ़कर, दुष्ट दुराचारी भी अपना बेड़ा पार लगाते हैं । ऐसे मजबूत आधार को ही हमें अपना अवलम्बन बनाना चाहिये ।

कई आदमी धर्म को कर्मकाण्ड का, पूजा-पाठ का, तीर्थ-व्रत, दान आदि का विषय मानते हैं और कुछ समय इनमें लगाकर शेष समय को नैतिक-अनैतिक कैसे ही कार्य करने के लिये स्वतंत्र समझते हैं । यह भ्रान्त धारणा है । धर्म, पूज़ा-पाठ तक ही सीमित रहने वाली वस्तु नहीं है । वरन् उसका उपयोग तो अपनी प्रत्येक विचारधारा और क्रिया-प्रणाली में पूरी तरह होना चाहिये ।

गायत्री का 'यो' अक्षर बताता है कि धर्म की विडम्बना मत करो, उसे आडम्बर मत बनाओ, वरन् उसे अपने जीवन में घुला डालो। जो कुछ सोचो, जो कुछ करो, वह धर्मानुकूल होना चाहिये। शास्त्र की उक्ति है कि - "रक्षा किया हुआ धर्म अपनी रक्षा करता है और धर्म को जो मारता है, धर्म उसे मार डालता है।" इस तथ्य को ध्यान में रखकर हमें धर्म को ही अपनी जीवन- नीति बनाना चाहिये।

यो-योजनं व्यसनेभ्यः स्यात्तानि पुंसस्तु शत्रवः।
मिलित्वैतानि सर्वाणि समये घ्नन्ति मानवम् ॥२०॥

"व्यसनों से योजन भर दूर रहे अर्थात् व्यसनों से बचा रहे; क्योंकि वे मनुष्य के शत्रु हैं। ये सब मिलकर समय पर मनुष्य को मार देते हैं।"

व्यसन मनुष्य के प्राणघातक शत्रु हैं। मादक पदार्थ व्यसनों में प्रधान हैं। तम्बाकू, गाँजा, चरस, भाँग, अफीम, शराब आदि नशीली चीजें एक से एक बढ़कर हानिकारक हैं। इनसे क्षणिक उत्तेजना आती है। जिन लोगों की जीवनी शक्ति क्षीण एवं दुर्बल हो जाती है, वे अपने को शिथिल तथा अशक्त अनुभव करते हैं। उनका उपचार आहार-विहार इत्यादि में अनुकूल परिवर्तन करके शक्ति संचय की वृत्ति द्वारा वर्धन होना चाहिये। परन्तु भ्रान्त मनुष्य दूसरा मार्ग अपनाते हैं। वे थके घोड़े को चाबुक मार-मारकर दौड़ाने का उपक्रम करके चाबुक को शक्ति का केन्द्र मानने की भूल करते हैं। नशीली चीजें मस्तिष्क को मूर्च्छित कर देती हैं, जिससे मूर्च्छाकाल में शिथिलतावश पीड़ा नहीं होती। दूसरी ओर वे चाबुक मार-मार कर उत्तेजित करने की क्रिया करती हैं। नशीली चीजों का सेवन करने वाला ऐसा समझता है कि वे मुझे बल दे रही हैं, पर वस्तुतः उनसे बल नहीं मिलता, वरन् रही-बची हुई शक्तियाँ भड़ककर बहुत शीघ्र समाप्त हो जाती हैं और मादक द्रव्य सेवन करने वाला व्यक्ति दिन-दिन क्षीण होते-होते अकाल मृत्यु के मुख में चला जाता है। 'व्यसन मित्र के वेष में शरीर में घुसते हैं और शत्रु बनकर उसे मार डालते हैं।'

नशीले पदार्थों के अतिरिक्त और भी ऐसी आदतें हैं, जो शरीर और मन को हानि पहुँचाती हैं, पर आकर्षण और आदत के कारण मनुष्य उनका गुलाम बन जाता है। वे उससे छोड़े नहीं छूटते। सिनेमा, नाचरंग, व्यभिचार, मुर्गा-तीतर-बटेर लड़ाना आदि कितनी ही हानिकारक और निरर्थक आदतों के शिकार बनकर लोग अपना धन, समय और स्वास्थ्य निरर्थक बरबाद करते हैं।

गायत्री का 'यो' अक्षर व्यसनों को दूर करने का आदेश करता है, क्योंकि ये शरीर और मन दोनों का नाश करने वाले हैं। व्यसनी मनुष्य की वृत्तियाँ नीच मार्ग की ओर ही चलती हैं।

नः-नः शृण्वेकामिमां वार्तां "जागृतस्त्वं सदा भव"।
सप्रमादं नरं नूनं ह्याक्रामन्ति विपक्षिणः ॥२१॥

"हमारी यह एक बात सुनो कि तुम हमेशा जाग्रत् रहो; क्योंकि निश्चय ही सोते हुए मनुष्य पर दुश्मन आक्रमण करते हैं।"

असावधानी, आलस्य, बेखबरी, अदूरदर्शिता ऐसी भूलें हैं, जिन्हें अनेक आपत्तियों की जननी कह सकते हैं। बेखबर आदमी पर चारों ओर से हमले होते हैं। असावधानी में ऐसा आकर्षण है, जिससे खिंच-खिंच कर अनेक प्रकार की हानियाँ, विपत्तियाँ एकत्रित हो जाती हैं। असावधान, आलसी पुरुष एक प्रकार से अर्धमृत है। मरी हुई लाश को पड़ी देखकर जैसे चील, कौए, कुत्ते, शृगाल, गिद्ध दूर-दूर से दौड़कर वहाँ जमा हो जाते हैं, वैसे ही असावधान पुरुष के ऊपर आक्रमण करने वाले तत्त्व कहीं न कहीं से आकर अपनी घात लगाते हैं।

जो स्वास्थ्य की रक्षा के लिये जागरूक नहीं है, उसे देर-सबेर में बीमारियाँ आ दबोचेंगी। जो नित्य आते रहने वाले उतार-चढ़ावों से बेखबर है, वह किसी दिन दिवालिया बनकर रहेगा। जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर सरीखे मानसिक शत्रुओं की गतिविधियों की ओर से आँखें बन्द किये रहता है, वह कुविचारों और कुकर्मों के गर्त में गिरे बिना नहीं रह सकेगा। जो दुनिया के छल, फरेब, झूठ, ठगी, लूट, अन्याय, स्वार्थपरता, शैतानी आदि की ओर से सावधान नहीं रहता, उसे उल्लू बनाने वाले, ठगने वाले, सताने वाले अनेकों पैदा हो जाते हैं। जो

जागरूक नहीं, जो अपनी ओर से सुरक्षा के लिये प्रयत्नशील नहीं रहता, उसे दुनिया के शैतानी तत्त्व बुरी तरह नोंच खाते हैं।

इसलिये गायत्री का 'नः' अक्षर हमें सावधान करता है कि होशियार रहो, सावधान रहो, जागते रहो, जिससे तुम्हें शत्रुओं के आक्रमण का शिकार न बनना पड़े। विवेकपूर्वक त्याग करना और उदारता से परोपकार करना तो उचित है, पर अपनी बेवकूफी से दूसरे बदमाशों का शिकार बनना सर्वथा अवांछनीय व पापमूलक है। जहाँ अच्छाई की ओर, उन्नति की ओर बढ़ने का प्रयत्न आवश्यक है, वहाँ बुराई से सावधान रहने, बचने और उससे संघर्ष करने की भी आवश्यकता है।

प्र-प्रकृत्या तु भवोदारो नानुदारः कदाचन।
चिन्तयोदारदृष्ट्यैव तेन चित्तं विशुद्ध्यति ॥२२॥

"स्वभाव से ही उदार हों, कभी भी अनुदार मत बनें, उदार दृष्टि से ही विचार करें- ऐसा करने से चित्त शुद्ध हो जाता है।"

अपनी बात, अपनी रीति, अपने रिवाज, अपनी मान्यता, अपनी अक्ल को ही सही मानना और दूसरे सब लोगों को मूर्ख, भ्रान्त, बेईमान ठहराना अनुदारता का लक्षण है। अपने लाभ के लिये चाहे सारी दुनिया का विनाश होता हो तो हुआ करे, ऐसी नीति अनुदार लोगों की होती है। वे सिर्फ अपनी सुविधा और इच्छा को सर्वोपरि रखते हैं। दूसरों की कठिनाई और असुविधा का उन्हें जरा भी ध्यान नहीं होता।

गायत्री का 'प्र' अक्षर कहता है कि दूसरों की भूलों और कमियों के प्रति हमें कठोर नहीं, उदार होना चाहिये। उनकी उचित इच्छाओं, आवश्यकताओं और माँगों के प्रति हमारी सहानुभूति होनी चाहिये। दूसरे जिस स्थिति में हैं उस स्थिति में हम होते, तो कैसी इच्छा करते ? यह सोचकर उस दृष्टि से उनके साथ व्यवहार करना चाहिये और मतभेदों को संघर्ष का कारण न बनाकर जितने अंशों में एकता मिल सके, उसे प्रेम का निमित्त बनाना चाहिये।

चो-चोदयत्येव सत्संगो धियमस्य फलं महत्।
स्वमतः सज्जनैर्विद्वान् कुर्यात् पर्यावृतं सदा ॥२३॥

"सत्संग बुद्धि को प्रेरणा देता है। इस सत्संग का फल महान् है। इसलिये विद्वान् अपने आपको हमेशा सत्पुरुषों से घिरा हुआ रखे अर्थात् हमेशा सज्जनों का संग करे।"

मनुष्य का मस्तिष्क निर्मल जल के समान है। वातावरण, संस्कार और अनुकरण के साधन उसे विभिन्न दिशाओं में मोड़ते हैं। पानी का बहाव नाव को बहा ले जाता है। हवा जिधर को चलती है, पतंगे उधर ही उड़ते हैं। मनुष्य जिस वातावरण में रहता है, रमता है, उधर ही उसकी मनोवृत्तियाँ चलने लगती हैं और धीरे-धीरे वह उसी ढाँचे में ढलने लगता है। जैसे दो बालकों में से जन्म से ही एक को कसाई के यहाँ रखा जाय तथा एक को ब्राह्मण के यहाँ, तो बड़े होने पर उन दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव में जमीन-आसमान का अन्तर होगा। यह संगति का ही प्रभाव है।

जो लोग अच्छाई की दिशा में अपनी उन्नति करना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि अपने को अच्छे वातावरण में रखें, अच्छे लोगों को अपना मित्र बनायें और उन्हीं से अपना व्यापार, व्यवहार तथा सम्पर्क रखें। सम्भव हो तो परामर्श, उपदेश और पथप्रदर्शन भी उन्हीं से प्राप्त करें। इस प्रकार की स्थिति में रहने से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से वैसा ही प्रभाव अपने ऊपर पड़ता है और उसी दिशा में चलने के लिये प्रेरणा मिलती है। कुसंग में रहने से, बुरे वातावरण के सम्पर्क में आने से मलिनता बढ़ती है। इसलिये उधर से मुँह मोड़े रहना ही उचित है।

यथासाध्य अच्छे व्यक्तियों का सम्पर्क बढ़ाने के अतिरिक्त, अच्छी पुस्तकों का स्वाध्याय भी उपयोगी है। सत्संग न हो सके, तो पुस्तकें पढ़कर सत्संग का लाभ उठाया जा सकता है। एकान्त में स्वयं भी अच्छे विचारों का चिन्तन और मनन करने तथा अपने मस्तिष्क को उसी दिशा में लगाये रहने से भी आत्म-सत्संग होता है। यह सभी सत्संग आत्मोन्नति के लिये आवश्यक हैं। गायत्री का 'च' अक्षर सत्संग का महत्त्व बताता है और उसके लिये प्रयत्नशील रहने का उपदेश करता है।

द-दर्शनं ह्यात्मनः कृत्वा जानीयादात्म गौरवम्।
ज्ञात्वा तु तत्तदात्मानं पूर्णोन्नतिपथं नयेत्॥२४॥

"आत्मा का दर्शन करके आत्मा के गौरव को पहचानो। उसको जानकर तब आत्मा को पूर्ण उन्नति के मार्ग पर ले चलो।"

मनुष्य शरीर नाशवान् और तुच्छ है। उसके हानि-लाभ भी तुच्छ और महत्त्वहीन हैं, पर उसकी आत्मा ईश्वर का अंश होने के कारण महान् है। उसकी महिमा और महत्ता इतनी बड़ी है कि किसी से भी उसकी तुलना नहीं हो सकती। मनुष्य का गौरव उसके शरीर के कारण नहीं, वरन् आत्मा की विशेषताओं के कारण है, जिसकी आत्मा जितनी अधिक बलवान् होती है, वह उतना ही बड़ा महापुरुष कहा जाता है।

जिन कार्यों से हमारी प्रतिष्ठा, साख, सम्मान, आदर, श्रद्धा बढ़ती है, वे ही आत्म-गौरव को बढ़ाने वाले हैं। प्रतिष्ठा सबसे बड़ी सम्पत्ति है, फिर आत्मा की प्रतिष्ठा का मूल्यांकन तो हो ही नहीं सकता। इतनी बड़ी अमानत को हमें सब प्रकार सुरक्षित रखना चाहिये। लोग सम्पत्ति द्वारा बनी हुई प्रतिष्ठा को गिरते या नष्ट होते देखकर तिलमिला जाते हैं और उस दुःख से इतने दुःखी हो जाते हैं कि कोई-कोई तो आत्महत्या भी कर डालते हैं। फिर आत्म-प्रतिष्ठा, आत्म-गौरव तथा आत्म-सम्मान तो और भी ऊँची चीज है, उसे तो किसी भी मूल्य पर न गिरने देना चाहिये।

जिससे आत्म-गौरव घटता हो, आत्म-ग्लानि होती हो और आत्म-हनन करना पड़ता हो, ऐसे धन, सुख, भोग, पद को लेने की अपेक्षा भूखा और दीन रहना कहीं अच्छा है। गायत्री का 'द' अक्षर आत्म-सम्मान की रक्षा और आत्म-हनन की निवृत्ति के लिये हमें बड़े से बड़ा त्याग करने में कभी न झिझकने के लिये तैयार रहने को कहता है। जिसके पास आत्म-धन है, वही सबसे बड़ा धनी है। जिसका आत्म-गौरव सुरक्षित है, वह इन्द्र के समान बड़ा पदवीधारी है, भले ही चाँदी, ताँबे के टुकड़े उसके पास कम मात्रा में ही क्यों न हों ?

यात्- यायात्स्वोत्तरदायित्वं निर्वहन् जीवने पिता।
कुपितापि तथा पापः कुपुत्रोऽस्ति यथा मतः॥२५॥

"पिता अपने उत्तरदायित्व को निबाहता हुआ जीवन में चले, क्योंकि कुपिता भी उसी प्रकार पापी होता है, जैसे कुपुत्र होता है।"

जिनके हाथ में प्रबन्ध, व्यवस्था, शासन, स्वामित्व, बल होते हैं, वे प्रायः उसका यथोचित उपयोग नहीं करते। ढील, शिथिलता, लापरवाही भी वैसी ही बुराई है, जैसी कि स्वार्थपरता एवं अनुचित लाभ उठाने की नीति। इसका परिणाम बुरा ही होता है। अक्सर पुत्र, शिष्य, स्त्री, प्रजाजन, सेवक आदि के बिगड़ जाने, बुरे होने, अवज्ञा करने, अनुशासनहीन होने के उदाहरण बहुत सुने जाते हैं। इन बुराइयों का बहुत कुछ उत्तरदायित्व पिता, गुरु, पति, शासक, स्वामी आदि पर भी है, क्योंकि प्रबन्ध शक्ति उनके हाथ में होती है। बुद्धिमत्ता और अनुभव अधिक होने के कारण उत्तरदायित्व उन्हीं का अधिक होता है। व्यवस्था में शिथिलता आने, बुरे मार्ग पर चलने का अवसर देने, नियंत्रण में सावधानी न रखने से भी ऐसी घटनायें प्रायः घटित होती हैं।

प्रत्येक सम्बन्ध में दो पक्ष होते हैं। दोनों पक्षों के यथोचित कर्तव्य पालन करने से ही वे सम्बन्ध स्थिर और सुदृढ़ रहते हैं, तो भी समझदार पक्ष का उत्तरदायित्व विशेष है। उसे अपने पक्ष पर अधिक मजबूती से खड़ा रहना चाहिये और छोटे पक्ष के साथ उदार बर्ताव करना चाहिये। लोग अपने-अपने अधिकार पर अधिक बल देते हैं और अपने कर्तव्य से जी चुराते हैं, यही कलह का कारण है। यदि दोनों ओर से अपने-अपने अधिकारों की उपेक्षा न की जाये, तो संघर्ष का अवसर ही न आये और सम्बन्ध बड़ी मधुरता से निभते चले जायें।

"यात्" अक्षर पिता-पुत्र में, बड़े-छोटे में, अच्छे सम्बन्ध रखने का नुस्खा यह बताता है कि दोनों ओर से अधिकार की माँग मन्द रखी जाये और कर्तव्यों का दृढ़ता से पालन हो। बड़ा पक्ष छोटे पक्ष को सँभालने के लिये अधिक सावधानी और उदारता बरते।

गायत्री-उपनिषद्

वेदों से 'ब्राह्मण' ग्रन्थों का आविर्भाव हुआ है । प्रत्येक वेद के कई-कई ब्राह्मण ग्रन्थ थे, पर अब उनमें से थोड़े ही प्राप्त होते हैं । काल की कुटिल गति ने उनमें से कितनों को लुप्त कर दिया ।

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण मिलते हैं- शांखायन और ऐतरेय । शांखायन को कौषीतकि भी कहते हैं ।

यजुर्वेद के तीन ब्राह्मण प्राप्त हैं- शतपथ ब्राह्मण, काण्व ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण ।

सामवेद के ११ ब्राह्मण उपलब्ध हैं- आर्षेय ब्राह्मण, जैमिनी आर्षेय ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, मन्त्र ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण, साम विधान ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, दैवत ब्राह्मण, ताण्ड्य ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ।

अथर्ववेद का केवल मात्र एक ब्राह्मण मिलता है, जिसका नाम गोपथ ब्राह्मण है । गोपथ की ३१ से लेकर ३८ तक आठ कण्डिकायें गायत्री उपनिषद् कहलाती हैं । इनमें मैत्रेय और मौद्गल्य के परस्पर विवाद के उपाख्यान द्वारा गायत्री का महत्त्वपूर्ण रहस्य समझाया गया है । साधारण शब्दार्थ के अनुसार बुद्धि-प्रेरणा की प्रार्थना ही गायत्री का तात्पर्य है, परन्तु इस उपनिषद् में ब्रह्म-विद्या एवं पदार्थ विद्या से सम्बन्ध रखने वाले कई रहस्यों पर प्रकाश डाला गया है ।

अथ गायत्री उपनिषद्

एतद्धस्म एतद् विद्वांसमेकादशाक्षम् ।
मौद्गल्यं ग्लावो मैत्रेयोऽभ्याजगाम ।।

एकादशाक्ष मौद्गल्य के समीप ग्लाव मैत्रेय आये ।

स तस्मिन् ब्रह्मचर्यं वसतो विज्ञायोवाच ।
किं स्विन्मर्यादा अयं तन्मौद्गल्योऽध्येति
यदस्मिन्ब्रह्मचर्ये वसतीति ।

"मौद्गल्य के ब्रह्मचारी को देखकर और उसे सुनाकर ग्लाव ने उपहास लड़ाते हुए कहा- "मौद्गल्य अपने इस ब्रह्मचारी को क्या पढ़ाता है अर्थात् कुछ नहीं पढ़ाता है ।"

तद्धि मौद्गल्यस्यान्तेवासी शुश्राव ।
स आचार्यायाव्रज्याचचष्टे ।

मौद्गल्य के ब्रह्मचारी ने इस बात को सुनकर अपने आचार्य के पास जाकर कहा-

दुरधीयानं वा अयं भवन्तमवोचद्योऽयमद्यातिथिर्भवति ।

जो आज अतिथि हुए हैं, आपको उन्होंने मूर्ख कहा है ।

किं सौम्य विद्वानिति ।

क्या वह विद्वान् हैं ? मौद्गल्य ने पूछा ।

त्रीन्वेदान् ब्रूते भो३ इति-

हाँ, वे तीनों वेदों के प्रवचनकर्त्ता हैं, शिष्य ने कहा-

तस्य सौम्य यो विस्पष्टो विजिगीषोऽन्तेवासी तन्मेह्वयेति ।

हे सौम्य ! उसका जो विद्वान्, सूक्ष्मदर्शी तथा विजय चाहने वाला शिष्य हो, तुम उसे मेरे पास ले आओ ।

तमाजुहाव । तमभ्युवाचासाविति भो३ इति ।

तब वह उसे बुला लाया और बोला-वे ये हैं ।

किं सौम्य त आचार्योऽध्येतीति ।

मौद्गल्य ने उससे पूछा-हे सौम्य ! तुम्हारे आचार्य क्या पढ़ाते हैं ?

त्रीन् वेदान् ब्रूते भो३ इति।

उसने उत्तर दिया- वे तीनों वेदों का प्रवचन करते हैं।

यन्नु खलु सौम्यास्माभिः सर्वे वेदा मुखतो गृहीताः,
कथन्त एवमाचार्यो भाषते, कथं नु......स चेत्सौम्य
दुरधीयानो भविष्यति, आचार्योवाच ब्रह्मचारी
ब्रह्मचारिणे सावित्रीं प्राह, इति वक्ष्यति।

हे सौम्य ! यदि वे यह जानते होंगे, तो कहेंगे कि आचार्य अपने ब्रह्मचारी को जिसका उपदेश देते हैं, वह सावित्री है अर्थात् जो गायत्री का शब्दार्थ, स्थूल अर्थ है, उसे ही बता देंगे।

तत्त्वं ब्रूयाद् दुरधीयानं तं वै भवान्मौद्गल्य-
मवोचत्, स त्वा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचः।
पुरा सम्वत्सरादार्तिमाकृष्यसीति।

तब तुम कहना कि आपने तो आचार्य मौद्गल्य को मूर्ख बतलाया था। वे आपसे जो प्रश्न पूछते हैं, उसे आप नहीं बतला सके, तो एक वर्ष के भीतर ही आपको कुछ कष्ट होगा।

शिष्टाः शिष्टेभ्य एवं भाषेरन्। यं ह्येनमहं प्रश्नं पृच्छामि न तं विवक्ष्यति, न ह्येनमध्येतीति।

"हे सौम्य ! हमने भी सब वेदों का अध्ययन किया है, फिर तुम्हारे आचार्य मुझे मूर्ख क्यों कहते हैं ? क्या शिष्टों के लिये ऐसा कहना ठीक है ? हम उनसे जो प्रश्न पूछेंगे, वे उसे न बतला सकेंगे, वे उसे पढ़ाते भी नहीं होंगे।"

स ह मौद्गल्यः स्वमन्तेवासिनमुवाच, परेहि सौम्य, ग्लावं
मैत्रेयमुपसीद, अधीहि भोः सावित्रीं गायत्रीम्।
चतुर्विंशति योनिं द्वादशमिथुनां, यस्या भृग्वंगिरसश्च-
क्षुर्यस्यां सर्वमिदं श्रितं, तां भवान् प्रब्रवीत्विति। -गो० ब्रा० पू० १/३१

"तब उन मौद्गल्य ने अपने ब्रह्मचारी से कहा- हे सौम्य ! तुम जाओ, ग्लाव मैत्रेय के समक्ष उपस्थित होकर कहो कि बारह मिथुन तथा चौबीस योनि वाली भृगु और अंगिरा जिसके नेत्र हैं तथा जिसके आश्रित ये सब हैं, उस सावित्री-गायत्री को हमें पढ़ाइये।"

इस कण्डिका में मौद्गल्य ने मैत्रेय से गायत्री का रहस्य पुछवाया है। साधारण अर्थ तो सभी जानते हैं कि इस मन्त्र में परमात्मा से यह प्रार्थना की गयी है कि हमें सद्बुद्धि की प्रेरणा दीजिये। ऐसे मन्त्र तो श्रुति-स्मृतियों में अनेकों भरे पड़े हैं, जिसमें इसी प्रकार की या इससे भी उत्तम रीति से बुद्धि-विवेक आदि के लिये प्रार्थनायें की गयी हैं। फिर गायत्री में ही ऐसी क्या विशेषता है, जिसके कारण उसे वेद-माता कहा गया और समस्त श्रुति-क्षेत्र में इतना महत्त्व दिया गया ? इसका कोई न कोई बड़ा कारण अवश्य होना चाहिये। मौद्गल्य ने उसी रहस्य एवं कारण को मैत्रेय से पुछवाया।

स तत्राजगाम यत्रेतरो बभूव तं ह पप्रच्छ स ह न प्रतिपेदे।

"मौद्गल्य का शिष्य मैत्रेय के पास आया। उसने उनसे पूछा, किन्तु वे उसका उत्तर न दे सके।"

तं होवाच दुरधीयानं तं वै भवान्मौद्गल्यमवो-
चत्स त्वा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचः पुरा
सम्वत्सरादार्तिमाकृष्यसीति।

"उसने कहा- आपने मौद्गल्य को मूर्ख कहा था। उन्होंने जो आपसे पूछा, आप उसे नहीं बतला सके, इसलिये एक वर्ष में आपको कष्ट होगा।"

स ह मैत्रेयः स्वानन्तेवासिन उवाच-यथार्थं
भवन्तो यथागृहं यथामनो विप्रसृज्यन्तां दुरधीयानं
वा अहं मौद्गल्यमवोचम्, स मा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं
व्यवोचं, तमुपैष्यामि, शान्तिं करिष्यामीति।

"तब मैत्रेय ने अपने शिष्यों से कहा- अब आप लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार अपने-अपने घरों को लौट जाइये। मैंने मौद्गल्य को मूर्ख कहा था, पर उन्होंने जो कुछ पूछा है, मैं उसे नहीं बतला सका हूँ। मैं उनके पास जाऊँगा और उन्हें शान्त करूँगा।"

स ह मैत्रेयः प्रातः समित्पाणिमौद्गल्यमुपससादासावाग्रहं भो मैत्रेयः।

"दूसरे दिन प्रातःकाल हाथ में समिधा लेकर मैत्रेय अनुग्रहशील मौद्गल्य ऋषि के पास आये और कहा- मैं, मैत्रेय आपकी सेवा में आया हूँ।"

किमर्थमिति -

"किसलिये ?" उन्होंने पूछा।

दुरधीयानं वा अहं भवन्तमवोचं त्वं मा यं प्रश्नमप्राक्षीर्न्न तं व्यवोचं, त्वामुपैष्यामि, शान्तिं करिष्यामीति।

"मैत्रेय ने कहा- मैंने आपको मूर्ख कहा था। आपने जो पूछा, मैं उसे न बता सका। अब मैं आपकी सेवा में उपस्थित होऊँगा और आपको शान्त करूँगा।"

स होवाच-अत्र वा उपेतं च सर्वं च कृतं पापकेन त्वा
यानेन चरन्तमाहुः, अथोऽयं मम कल्याणस्तं ते
ददामि तेन याहीति।

"मौद्गल्य ने कहा- आप यहाँ आये हैं, लेकिन लोग कहते हैं कि आप यहाँ शुद्ध भावना से नहीं आये हैं, तो भी मैं तुम्हें कल्याणकारी भाव देता हूँ, तुम इसे लेकर लौटो।"

स होवाच। एतदेवात्रात्विषं चानृशंस्यं च यथा भवानाह। उपायामित्येवं भवन्तमिति।

मैत्रेय ने कहा- आपका कहना अभयकारी एवं सदय है। आपकी सेवा में समित्पाणि होकर उपस्थित होता हूँ।

तं होपेयाय-

अब वे विधिपूर्वक उनकी सेवा में उपस्थित हुए।

तं होपेत्य पप्रच्छ-

उपस्थित होकर पूछा-

किं स्विदाहुर्भोः सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयः किमाहुः।
धियो विचक्ष्व यदि ताः प्रविश्य प्रचोदयात्सविता याभिरेतीति॥

(१) सविता का वरेण्य किसे कहते हैं ?

(२) उस देव का भर्ग क्या है ?

(३) यदि आप जानते हों तो धी संज्ञक तत्त्वों को कहिये, जिनके द्वारा सबको प्रेरणा देता हुआ सविता विचरण करता है।

तस्मा एतत्प्रोवाच-

उन्होंने उत्तर दिया-

वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः ।
कर्माणि धियस्तदु ते ब्रवीमि प्रचोदयात्सविता याभिरेतीति ।।

(१) वेद और छन्द सविता का वरेण्य हैं ।

(२) विद्वान् पुरुष अन्न को ही देव का भर्ग मानते हैं ।

(३) कर्म ही वह "धी" तत्त्व है, जिसके द्वारा सबको प्रेरणा देता हुआ सविता विचरण करता है ।

तमुपसंगृह्य पप्रच्छाधीहि भोः, कः सविता, का सावित्री ।।- गो० ब्र० पू० भाग १/३२

यह सुनकर उनने फिर पूछा- सविता क्या है और सावित्री क्या है ?

मौद्गल्य के अभिप्राय को मैत्रेय भली प्रकार समझ गये । उन्होंने सचाई के साथ विचार किया तो जाना कि मैं गायत्री के उस रहस्य को नहीं जानता हूँ, जिसके कारण उन्हें इतना महत्त्व प्राप्त है । उन्होंने सोचा, यह मूल कारण न मालूम हो, तो उसके बाह्य प्रतीकों को जान लेने मात्र से कुछ लाभ नहीं हो सकता । इसलिये वेदों का प्रवचन करने से तब तक क्या लाभ, जब तक कि उनका मूल कारण न मालूम हो । यह सोच कर उनने निश्चय किया कि पहले मैं गायत्री का रहस्य समझूँगा, तब अन्य कार्य करूँगा । उन्होंने अपने विद्यार्थियों की छुट्टी कर दी और स्वयं नम्र बनकर समिधा हाथ में लेकर शिष्यभाव से मौद्गल्य के पास पहुँचे । विद्या प्राप्त करने की- विशेष रूप से अध्यात्म-विद्या की-यही परिपाटी है कि शिक्षार्थी अपने अध्यापक के पास नम्र होकर- उनके प्रति श्रद्धाभाव मन में धारण करके-पढ़ने जाये । इस आर्ष प्रणाली को छोड़कर आज के उच्छृंखल 'स्टूडेण्ट' जिन उजड्ड भावनाओं के साथ शिक्षा प्राप्त करते हैं, वह शिक्षा गुरु का आशीर्वाद न होने से निष्फल ही जाती है ।

मैत्रेय ने पूछा- गायत्री के प्रथम पद में आये हुए शब्दों का रहस्य बताइये । (१) सविता का वरेण्य क्या है अर्थात् उस तेजस्वी परमात्मा को किससे वरेण्य किया जाता है ? ईश्वर किस उपाय से प्राप्त होता है ? (२) उस देव का भर्ग क्या है ? देव कहते हैं श्रेष्ठ को, भर्ग कहते हैं बल को । देव का भर्ग क्या है ? (३) जिसके द्वारा परमात्मा सबको प्रेरणा करता है अर्थात् वह माध्यम क्या है जिसके द्वारा ईश्वर की कृपा होती है ? इन तीनों तत्त्वों को मैत्रेय ने मौद्गल्य से पूछा ।

इनका संक्षिप्त उत्तर मौद्गल्य ने दिया है, वह बड़े ही मार्के का है । इन उत्तरों पर जितना गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये, उतना ही उनका महत्त्व प्रकट होता है । मौद्गल्य कहते हैं-

(१) वेद और छन्द सविता का वरेण्य है । (२) अन्न को ही देव का भर्ग कहते है । (३) कर्म ही 'धी' तत्त्व है, इसी के द्वारा परमात्मा सबको प्रेरणा देता है, सबका विकास करता है । आइये तीनों प्रश्नों पर पृथक्-पृथक् विचार करें-

(१) वेद अर्थात् ज्ञान, छन्द अर्थात् अनुभव । वास्तव में आत्म- ज्ञान से परमात्मा की प्राप्ति होती है, पर वह ज्ञान केवल वाचिक न होना चाहिये । भारवाही गधे की तरह अनेक पुस्तकें पढ़ लेने से, शुक-सरिकाओं की भाँति कुछ रटे हुए शब्दों का प्रवचन कर देने से काम नहीं चल सकता । हमारा तत्त्व- ज्ञान अनुभव सिद्ध होना चाहिये । जिसके कारण तर्क, प्रमाण और उदाहरण के द्वारा सत्य मान लिया जाये, उस सत्य के प्रति मनुष्य के मन में अगाध श्रद्धा होनी चाहिये और उस श्रद्धा का जीवन में व्यावहारिक आचरण होना चाहिये । पहले पूरी तत्परता, सचाई और निष्पक्षता से यह देखना चाहिये कि कौन-कौन सिद्धान्त उचित एवं कल्याणकारी हैं । जब यह विश्वास हो जाए कि सत्य, परोपकार, संयम, ईमानदारी आदि गुण सब दृष्टियों से श्रेयस्कर हैं, तो उनके सिद्धान्त का जीवन में आचरण होना चाहिये । सद्ज्ञान का श्रद्धा-भूमि में परिपक्व होना, यही ईश्वर की प्राप्ति का प्रधान उपाय है । बिना सिद्धान्तों को जाने केवल अनुभव निर्बल है और बिना अनुभव का ज्ञान निष्फल है । जब मनुष्य का सद्ज्ञान श्रद्धा में परिणत हो जाता है, दम्भ, छल, मात्सर्य, कपट, धूर्तता एवं दुराव को छोड़कर, जब समस्त मनोभूमि में एक ही जाति की श्रद्धा स्थापित हो जाती है, तो उसी आधार पर परमात्मा की प्राप्ति होती है । वेद और छन्द के सम्मिश्रण में सविता का वर्णन किया है और ज्ञान तथा अनुभव से परमात्मा को प्राप्त किया जाता है ।

(२) इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए मौद्गल्य कहते हैं, देव का भर्ग अन्न है । श्रेष्ठ का बल, उसके साधन हैं ।

श्रेष्ठता को तभी बलवान् बनाया जा सकता है, जब उसको विकसित करने के लिये अन्न हो, साधन हो। साधन-सामग्री लक्ष्मी, एक शक्ति है, जो असुर के हाथ में चली जाए, तो असुरता को बढ़ाती है और यदि देवों के हाथ में चली जाए, तो उसके द्वारा देवत्व का विस्तार होता है, देवता बलवान् होते हैं। शासन-सत्ता, क्रूर, दुष्ट लोगों के हाथ में हो तो वे उससे दुष्टता फैलाते हैं। पिछली शताब्दियों में भारत की राज-सत्ता विदेशियों के हाथ में रही है, इसके कारण उन्होंने भारत-भूमि का कितना अध:पतन किया, यह किसी से छिपा नहीं है। वही सत्ता अब जब अच्छे हाथों में आयी, तो थोड़े दिनों में रूस, अमेरिका की भाँति यहाँ भी उन्नत अवस्था प्राप्त होने की संभावना है। योगी अरविन्द ने अपनी 'गीता पुस्तक' में लिखा है- "लक्ष्मी पर श्रेष्ठ लोगों को आधिपत्य करना चाहिये। इस प्रकार संसार में सुख-शांति बढ़ेगी। यदि लक्ष्मी असुरों के पास चली गयी, तो उससे विश्व का अनिष्ट ही समझिये।' देवताओं को भोग के लिये नहीं, लोभ के लिये नहीं, संग्रह के लिये नहीं, अहंकार-प्रदर्शन के लिये नहीं, अन्याय करने के लिये नहीं, वरन् इसलिये धन और साधन-सामग्रियों की आवश्यकता है कि वे शक्तियों द्वारा देवत्व की रक्षा एवं वृद्धि कर सकें। अन्न को, इस साधन-सामग्री को लक्ष्मी का प्रतीक माना है। मौद्गल्य का उत्तर यह है कि देव का भर्ग, अन्न है, श्रेष्ठ का बल, साधन है। बिना साधन के तो वह बेचारा निर्बल ही रहेगा।

मौद्गल्य का तीसरा उत्तर यह है कि कर्म ही 'धी' तत्त्व है। इसी के द्वारा परमात्मा सबका विकास करता है। यह नितान्त सत्य है कि परमात्मा की कृपा से सबका विकास होता है। परमात्मा सबको ऊपर की ओर-उन्नति की ओर प्रेरित करता है, पर यह भी जान लेना चाहिये कि उस प्रेरणा का रूप है 'धी'। 'धी' अर्थात् वह बुद्धि जो कर्म के लिये प्रेरणा, प्रोत्साहन देती है और कर्म करने में लगा देती है। परमात्मा की जिस प्रकार की कृपा होती है, उसी प्रकार की बुद्धि प्राप्त होती है। किसी मनुष्य पर परमात्मा की कृपा है या नहीं, इसकी पहचान करनी हो तो वह इस प्रकार हो सकती है कि वह मनुष्य उत्साहपूर्वक, तन्मयतापूर्वक श्रम, जागरूकता और रुचि के साथ कार्य करता है या नहीं? जिसका स्वभाव इस रुचि का है, समझना चाहिये कि इनको विकसित करने के लिये परमात्मा ने इन्हें 'धी' तत्त्व प्रदान किया है।

कितने ही व्यक्ति आलसी, निकम्मे, हरामखोर होते हैं, निराशा जिन्हें घेरे रहती है, काम को आधे मन से, अरुचिपूर्ण बेगार भुगतने की तरह करते हैं, जरा-सा काम उन्हें पहाड़ मालूम होता है, थोड़े से श्रम में भारी थकान अनुभव करते हैं। ऐसे लोगों को 'धी' तत्त्व से रहित समझना चाहिये। यह प्रत्यक्ष है कि वे ईश्वर के कृपा पात्र नहीं हैं, कर्म प्रेरक बुद्धि के अभाव में वे दुर्भाग्यग्रस्त ही होंगे।

मौद्गल्य का उपर्युक्त कथन गम्भीर और सत्य है, इसके बारे में दो मत नहीं हो सकते। भाग्य का रोना रोने वाले, तकदीर को कोसने वाले, अपनी त्रुटि का दोष किसी दूसरे ज्ञात-अज्ञात पर थोपकर झूठा मन-संतोष भले ही कर लें, पर वस्तुस्थिति यही है कि उन्होंने ईश्वर की कृपा को प्राप्त नहीं किया। यह कृपा हर किसी के लिये सुलभ है, हर किसी के अपने हाथों में है। 'धी' तत्त्व को कर्मशीलता को अपनाकर हर कोई ईश्वरीय कृपा और उन्नति का अधिकारी बन सकता है। परमात्मा अपनी कृपा से किसी को वंचित नहीं रखता, मनुष्य ही दुर्बुद्धि के कारण उसका परित्याग कर देता है।

मन एव सविता वाक् सावित्री यत्र ह्येव मनस्तद्वाक्।
यत्र वै वाक् तन्मन इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥१॥

'मन सविता है, वाक् गायत्री। जहाँ मन है वहाँ वाक् है, जहाँ वाक् है, वहाँ मन। ये दोनों दो योनि और एक मिथुन हैं।"

अग्निरेव सविता पृथिवी सावित्री यत्र ह्येवाग्निस्तत्पृथिवी।
यत्र वै पृथिवी तदग्निरिति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥२॥ - सावित्र्युपनिषद्

"अग्नि सविता है, पृथ्वी सावित्री। जहाँ अग्नि है वहाँ पृथ्वी है, जहाँ पृथ्वी है, वहाँ अग्नि है। ये दो योनि तथा एक मिथुन हैं।"

वायुरेव सविता अन्तरिक्षं सावित्री। यत्र ह्येव वायुस्तदन्तरिक्षम्, यत्र वा अन्तरिक्षं तद्वायुरिति एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥३ ॥

"वायु सविता है अन्तरिक्ष सावित्री है। जहाँ वायु है, वहाँ अन्तरिक्ष है, जहाँ अन्तरिक्ष है, वहाँ वायु है। ये दोनों दो योनि और एक मिथुन हैं।"

आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री यत्र ह्येवादित्यस्तद् द्यौः यत्र वै द्यौस्तदादित्य इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥४ ॥

"आदित्य सविता है, द्यौ सावित्री। जहाँ आदित्य है, वहाँ द्यौ है, जहाँ द्यौ है, वहाँ आदित्य है। ये दोनों दो योनि और एक मिथुन हैं ॥४ ॥

चन्द्रमा एव सविता नक्षत्राणि सावित्री यत्र ह्येव चन्द्रमास्तन्नक्षत्राणि।
यत्र वै नक्षत्राणि तच्चन्द्रमा इति। एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥५ ॥

"चन्द्रमा ही सविता है, नक्षत्र सावित्री है। जहाँ चन्द्रमा है वहाँ नक्षत्र हैं, जहाँ नक्षत्र हैं, वहाँ चन्द्रमा है। ये दोनों, दो योनि और एक मिथुन हैं ॥५ ॥"

अहरेव सविता रात्रिः सावित्री। यत्र ह्येवाहस्तद्रात्रिः।
यत्र वै रात्रिस्तदहरिति एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥६ ॥

"दिन सविता है और रात्रि सावित्री है। जहाँ दिन है, वहाँ रात्रि है, जहाँ रात्रि है, वहाँ दिन है। ये दो योनि और एक मिथुन हैं ॥६ ॥

उष्णमेव सविता शीतं सावित्री यत्र ह्येवोष्णं तच्छीतम्।
यत्र वै शीतं तदुष्णमिति एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥७ ॥

"उष्ण सविता है, शीत सावित्री। जहाँ उष्ण है, वहाँ शीत है, जहाँ शीत है, वहाँ उष्णता है। ये दोनों, दो योनि और एक मिथुन हैं ॥७ ॥"

अभ्रमेव सविता वर्षं सावित्री यत्र ह्येवाभ्रं तद्वर्षं।
यत्र वै वर्षं तदभ्रमिति एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥८ ॥

"बादल सविता है और वर्षण सावित्री। जहाँ बादल है, वहाँ वर्षण है, जहाँ वर्षण है, वहाँ बादल हैं। ये दोनों दो योनि तथा एक मिथुन हैं ॥८ ॥

विद्युदेव सविता स्तनयित्नुः सावित्री। यत्र ह्येव विद्युत्तत्स्तनयित्नुः यत्र वै स्तनयित्नुस्तद्विद्युदिति एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥९ ॥

"विद्युत् सविता है और उसकी तड़क सावित्री। जहाँ बिजली है वहाँ उसकी तड़क है, जहाँ तड़क है, वहाँ बिजली है। ये दोनों, दो योनि और एक मिथुन हैं ॥९ ॥

प्राण एव सविता अन्नं सावित्री । यत्र ह्येव प्राणस्तदन्नं यत्र वा अन्नं तत्प्राण इति। एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥१० ॥

"प्राण सविता है, अन्न सावित्री। जहाँ प्राण है, वहाँ अन्न है, जहाँ अन्न है, वहाँ प्राण है। ये दो योनि तथा एक मिथुन हैं ॥१० ॥

वेदा एव सविता छंदांसि सावित्री, यत्र ह्येव वेदास्तच्छन्दांसि यत्र वै छन्दांसि तद्वेदा इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥११ ॥

"वेद सविता है, छन्द सावित्री। जहाँ वेद हैं, वहाँ छन्द हैं, जहाँ छन्द हैं, वहाँ वेद हैं। ये दो योनि और एक मिथुन हैं ॥ ११ ॥"

यज्ञ एव सविता दक्षिणा सावित्री, यत्र ह्येव यज्ञस्तद् दक्षिणा।
यत्र वै दक्षिणास्तद्यज्ञ इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥१२॥

'यज्ञ सविता है और दक्षिणा सावित्री है। जहाँ यज्ञ है, वहाँ दक्षिणा है, जहाँ दक्षिणा है, वहाँ यज्ञ है। ये दो योनि तथा एक मिथुन हैं॥१२॥"

एतद्ध स्मैतद्विद्वांसमोपाकारिमासस्तुर्ब्रह्मचारी ते संस्थित इति।

"विद्वान् तथा परोपकारी महाराज! आपकी सेवा में यह ब्रह्मचारी आया है।'

अथैत आसस्तुराचित इव चितो बभूव अथोत्थाय प्राव्राजीदिति।

"यह ब्रह्मचारी आपके यहाँ आकर ज्ञान से परिपूर्ण हो गया है। इसके बाद वे वहाँ से चले गये।"

एतद्वा अहं वेद नैतासु योनिष्वित एतेभ्यो वा मिथुनेभ्यः सम्भूतो ब्रह्मचारी मम पुरायुषः प्रेयादिति।

"और उन्होंने कहा कि अब मैं इसे जान गया हूँ, उन योनियों अथवा इन मिथुनों में आया हुआ मेरा कोई ब्रह्मचारी अल्पायु नहीं होगा।"

अब प्रश्न होता है कि सविता क्या है ? और सावित्री क्या है ? गायत्री का देवता सविता माना गया है। प्रत्येक मन्त्र का एक देवता होता है, जिससे पता चलता है कि इस मन्त्र का क्या विषय है ? गायत्री का देवता सविता होने से यह स्पष्ट है कि इस मन्त्र का विषय सविता है। सविता की प्रधानता होने के कारण गायत्री का दूसरा नाम सावित्री भी है।

मैत्रेय पूछते हैं- भगवान् सविता क्या है ? और वह सावित्री क्या है ? महर्षि मौद्गल्य उन्हें उत्तर देते हैं कि सविता और सावित्री का अविच्छिन्न सम्बन्ध है, जो एक है वही दूसरा है। दोनों का मिलकर एक जोड़ा बनता है, एक केन्द्र है, दूसरा उसकी शक्ति है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

शक्ति-मार्ग का महत्त्व उसकी शक्ति के विस्तार से है। यों तो प्रत्येक परमाणु अनन्त शक्ति का पुञ्ज है। एक परमाणु के विस्फोट से प्रलय उपस्थित हो जाती है, पर इस प्रकार की गतिविधि होती तभी है, जब उस शक्ति का विस्तार एवं प्रकटीकरण होता है। यदि यह प्रकटीकरण न हो, तो अनन्त शक्तिशाली पदार्थ का भी कोई अस्तित्व नहीं, उसे कोई जानता तक नहीं। सविता कहते हैं- तेजस्वी परमात्मा को और सावित्री कहते हैं- उसकी शक्ति को। सावित्री, सविता से भिन्न नहीं वरन् उसकी पूरक है उसका मिथुन अर्थात् जोड़ा है। सावित्री द्वारा ही अचिन्त्य, अज्ञेय, निराकार एवं निर्लिप्त परमात्मा इस योग्य होता है कि उससे कोई लाभ उठाया जा सके।

यह बात बहुत सूक्ष्म और गम्भीर विचार के उपरान्त समझ में आने वाली है। इसलिये उपनिषद्कार उसे उदाहरण दे-देकर सुबोध बनाते हैं और इस गूढ़ तत्त्व को इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि हर कोई आसानी से समझ सके। वे कहते हैं-

मन सविता है वाक् सावित्री है, जहाँ मन है, वहाँ वाक् है, जहाँ वाक् है, वहाँ मन है। ये दोनों दो योनियाँ हैं, एक मिथुन है। इसी प्रकार अग्नि और पृथ्वी का, वायु और अन्तरिक्ष का, आदित्य और द्यौ का, चन्द्रमा और नक्षत्रों का, दिन और रात्रि का, उष्ण और शीत का, अग्नि और वरुण का, विद्युत् और तड़क का, प्राण और अन्न का, वेद और छन्द का, यज्ञ और दक्षिणा का मिथुन बताया गया है। यह तो थोड़े से उदाहरण मात्र हैं। यह उदाहरण बताकर उपनिषद्कार ने बताया है कि अकेली कोई वस्तु प्रकट नहीं हो सकती, प्रकाश में नहीं आ सकती, विस्तार नहीं कर सकती। अव्यक्त पदार्थ तभी व्यक्त होता है, जब उसकी शक्ति का प्रकटीकरण होता है। केवल परमात्मा, बुद्धि की मर्यादा के बाहर है, उसे न तो हम सोच सकते हैं और न उसके समीप तक पहुँचकर कोई लाभ उठा सकते हैं। यह अव्यक्त परमात्मा सविता, अपनी शक्ति, सावित्री द्वारा सर्व साधारण पर प्रकट होता है और उस शक्ति की उपासना द्वारा ही उसे प्राप्त किया जा सकता है।

लक्ष्मीनारायण, सीताराम, राधाकृष्ण, उमाशंकर, सविता-सावित्री, प्रकृति-परमेश्वर के मिथुन, यही बताते हैं कि यह एक दूसरे के पूरक हैं, प्रकट होने के कारण हैं। जीव भी माया के कारण अव्यक्त से व्यक्त होता है। यह मिथुन हेय या त्याज्य नहीं है वरन् क्रियाशीलता के विस्तार के लिये है। मनुष्य का विकास भी एकांगी नहीं हो सकता, उसे अपनी शक्तियों का विस्तार करना पड़ता है। जो अपनी शक्तियों को बढ़ाता है, वही उन्नति की ओर अग्रसर होता है।

शक्ति और शक्तिमान् का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जैसे सविता अपनी सावित्री से ओत-प्रोत है, उसी प्रकार हमें भी अपने आपको बहुमुखी शक्तियों से परिपूर्ण बनाना चाहिये। अपने साथ अनेक व्यक्तियों का सहयोग संगठित करना चाहिये। जिसके मिथुन जितने अधिक हैं, वह उतना ही सुखी है।

इस शक्ति और शक्तिमान् के रहस्य को जानकर मैत्रेय सन्तुष्ट हुए। उन्होंने कहा- मैं आपका शिष्य, अब ज्ञान की वास्तविक जानकारी से परिपूर्ण हो गया हूँ। अब मैं जान गया कि मेरा जो शिष्य इस योनि और मिथुन के रहस्य को जान लेगा वह अल्पायु न होगा। वह शक्ति को अपना अविच्छिन्न अंग मानकर उसका दुरुपयोग न करेगा; वरन् सदुपयोग द्वारा सब प्रकार का लाभ उठायेगा। इस प्रकार शक्ति का रहस्य समझकर उसका सदुपयोग करने वाले अल्पायु कदापि नहीं हो सकते।

ब्रह्म हेदं श्रियं प्रतिष्ठामायतनमैक्षत तत्तपस्व यदि तद्व्रते ध्रियेत तत् सत्ये प्रत्यतिष्ठत्।

"ब्रह्म ने श्री, प्रतिष्ठा आयतन को देखा और कहा कि - तप करो। यदि तप के व्रत को धारण किया जाए, तो सत्य में प्रतिष्ठा होती है।"

स सविता सावित्र्या ब्राह्मणं सृष्ट्वा तत्सावित्रीं पर्य्यदधात्।

उस सविता ने सावित्री से ब्राह्मण की सृष्टि की तथा सावित्री को उससे घेर लिया।

तत्सवितुर्वरेण्यं इति सावित्र्याः प्रथमः पादः।

'तत्सवितुर्वरेण्यं' यह सावित्री का प्रथम पाद है।

पृथिव्यर्चं समदधात्। ऋचा अग्निम्। अग्निना श्रियम्। श्रिया स्त्रियम्। स्त्रिया मिथुनम्। मिथुनेन प्रजाम्। प्रजया कर्म। कर्मणा तपः। तपसा सत्यम्। सत्येन ब्रह्म। ब्रह्मणा ब्राह्मणम्। ब्राह्मणेन व्रतम्। व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवति। अशून्यो भवति, अविच्छिन्नो भवति।

पृथ्वी से ऋक् को जोड़ा युक्त किया। ऋक् से अग्नि को, अग्नि से श्री को, श्री से स्त्री को, स्त्री से मिथुन को, मिथुन से प्रजा को, प्रजा से कर्म को, कर्म से तप को, तप से सत्य को, सत्य से ब्रह्म को, ब्रह्म से ब्राह्मण को, ब्राह्मण से व्रत को। ब्राह्मण व्रत से ही तीक्ष्ण होता है, पूर्ण होता है और अविच्छिन्न होता है।

अविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवतीति, य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्याः प्रथमं पादं व्याचष्टे।

"जो इस प्रकार से इसे जानता है और जानकर जो विद्वान् इसकी इस प्रकार व्याख्या करता है वह, उसका वंश तथा उसका जीवन अविच्छिन्न होता है।"

ब्रह्म जब तक अपने आप में केन्द्रित था, तब तक कोई पदार्थ न था। जब उसने **"एकोऽहं बहुस्याम्"** की इच्छा की, एक से बहुत बनने का उपक्रम किया तो उस इच्छा शक्ति के कारण सृष्टि उत्पन्न हुई। जब ब्रह्मा ने उस सृष्टि का साक्षात्कार किया, उसमें तीन वस्तुयें प्रधान दिखाई दीं- (१) श्री, (२) प्रतिष्ठा, (३) आयतन अर्थात् ज्ञान। इन विलक्षण सुख सामग्रियों को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए ब्रह्म ने कहा- तप करो, अर्थात् तन्मयतापूर्वक श्रम करो। यह किस प्रकार संभव है ? तप से अभीष्ट वस्तुयें किस प्रकार प्राप्त हो सकती हैं ? उसका भी ब्रह्म ने बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्टीकरण कर दिया। यदि तप का व्रत धारण किया जाय, तप को-रुचिपूर्वक श्रमशीलता को अपना स्वभाव बना लिया जाए, तो मनुष्य अवश्य ही सत्य में प्रतिष्ठित हो जाता है और अवश्य ही सही मार्ग मिल जाता है। उस मार्ग पर चलता हुआ प्राणी अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है।

अब इस श्री, प्रतिष्ठा और ज्ञान का अधिकारी कौन नियुक्त किया जाय ? इस विलक्षण सुख-साधना का अधिकारी हर कोई नहीं हो सकता । सविता ने- परमात्मा ने अपनी सत् शक्ति से ब्राह्मण को बनाया और उसको सावित्री से घेर दिया । जिसमें सत् तत्त्व विशेष है, जो ब्रह्म परायण है, वह व्यक्ति ब्राह्मण है । ऐसे व्यक्ति ईश्वरीय दिव्य भावों से, दिव्य शक्ति से घिरे रहते हैं, उन्हें श्री, प्रतिष्ठा और ज्ञान की प्राप्ति होती है, वे ही उनका सदुपयोग करके लाभान्वित होते हैं । अन्यों को इन तीनों का अधिकार नहीं है । यदि बलात्, अनधिकृत रूप से कोई इन्हें प्राप्त कर लेता है, तो उसके लिये ये वस्तुयें विपत्ति रूप बन जाती हैं ।

आसुरी भावनाओं से आच्छादित मनुष्य तपस्वी नहीं होते, जो उचित मार्ग से तप द्वारा ईमानदारी से इन वस्तुओं को प्राप्त करें । वे अवैधानिक रूप से, अनुचित मार्ग से, चालाकी से इन्हें प्राप्त करते हैं । ऐसी दशा में वह श्री, प्रतिष्ठा और ज्ञान उनके खुद के लिये तथा अन्य लोगों के लिये विपत्ति का कारण बनते हैं । आज हम देखते हैं कि धनी लोग, धन संग्रह के लिये कैसे-कैसे अनुचित तरीके अपनाते हैं और फिर उस संचित धन को कैसे अनुचित मार्ग में खर्च करते हैं । अपनी प्रतिष्ठा का दुरुपयोग करने वाले नेता, महात्मा, साधु-संन्यासी आदि की संख्या कम नहीं है । लोग औंधे-सीधे मार्ग से, नामवरी और वाहवाही लूटने के लिये प्रयत्न करते हैं । ज्ञान का दुरुपयोग करने वालों की भी कमी नहीं है । अश्लील, कुरुचिपूर्ण पुस्तकें लिखने वाले लेखक, चित्रकार कम नहीं हैं । झूठी विज्ञापनबाजी करके अपनी ज्ञान शक्ति का दुरुपयोग करने वालों की संख्या पर्याप्त है । ऐसे असत् प्रकृति के लोगों को जब यह तीन शक्तियाँ मिल जाती हैं, तो वे उनका दुरुपयोग करते हैं । दुरुपयोग का निश्चित परिणाम उनका छिन जाना है । प्रकृति का नियम है कि वह अयोग्य हाथों में किसी वस्तु को अधिक समय नहीं रहने देती ।

जो ब्राह्मण हैं, ब्रह्म प्रकृति के हैं, ब्रह्म ने उन्हें उपर्युक्त तीन लाभों का स्थायी अधिकारी बताया है । यही ईश्वरीय नियम है । जिन्हें स्थायी रूप से श्री, प्रतिष्ठा और ज्ञान का अधिकारी बनना हो, सदा के लिये इनका रसास्वादन करना हो, उन्हें ब्राह्मण बनना चाहिये । अपने गुण, कर्म, स्वभाव में ब्राह्मी भावों की प्रधानता रखनी चाहिये । तभी ये तीन तत्त्व स्थायी रूप से उसके पास ठहरेंगे । सविता ने- परमात्मा ने अपनी सावित्री से सत्-शक्ति से, ब्राह्मण को वर दिया है । हमें तप द्वारा, योग द्वारा, यज्ञ द्वारा, प्रेम द्वारा, न्याय द्वारा ब्राह्मण बनने का प्रयत्न करना चाहिये, जिससे संसार के इन तीन दिव्य सुखों के अधिकारी बन सकें ।

ब्राह्मण के पास-सन्मार्गगामी के पास, वैभव किस प्रकार पहुँचता और ठहरता है, इसका विवेचन करते हुए उपनिषद्कार ने परस्पर सम्बन्धों को गिनाया है कि वह परस्पर सम्बन्ध की शृंखला किस प्रकार सम्पन्नता को प्राप्त कराने में समर्थ होती है ?

गायत्री के प्रथम पाद "तत्सवितुर्वरेण्यं" का भूः प्रतिनिधि कहा गया है । तीन व्याहृतियों से- भूः भुवः स्वः से गायत्री के तीन पद आविर्भूत हुए हैं । भूः कहते हैं- पृथ्वी लोक को । पृथ्वी को पृथ्वी के निवासियों से, ऋक् को ज्ञान से सम्बद्ध किया, ज्ञान से अग्नि अर्थात् क्रिया को सम्बद्ध किया, अग्नि से श्री को अर्थात् क्रिया से वैभव को जोड़ दिया । वैभव को स्त्री से अर्थात् तृप्ति से जोड़ा । तृप्ति से मिथुन अर्थात् जोड़ा बना, मैत्री हुई, मैत्री से प्रजा अर्थात् बहुजन सम्बन्ध स्थापित हुआ, बहुजन सहयोग से कर्म हुए, सत्कर्मों से तप के लिये साहस बढ़ा । तप से सत्य मार्ग मिला, सत्य मार्ग से ब्रह्म प्राप्ति हुई, ब्रह्म प्राप्ति करने वाला ब्राह्मण कहलाया । ब्राह्मण ने व्रत को अपनाया, आदर्शवादी आचरण की प्रतिज्ञा की । इस प्रकार जिसका जीवन आदर्शवादी आचरण की प्रतिज्ञा से ओत-प्रोत है, वह ब्राह्मण सुतीक्ष्ण, परिपूर्ण और अखण्डित होता है । उसकी तीक्ष्णता में, क्रियाशीलता में, पूर्णता में कुछ भी कमी नहीं होती, उसे कोई खण्डित नहीं कर सकता ।

जो इस प्रकार का ज्ञान रखता है, जो इस प्रकार गायत्री की व्याख्या करता है, उसका जीवन और वंश अविच्छिन्न रहता है । गायत्री के प्रथम पाद का शब्दार्थ तो बहुत साधारण है । उसे समझने मात्र से उतना लाभ नहीं मिल सकता, जितना कि मिलना चाहिये । ब्रह्म ने श्री, प्रतिष्ठा और ज्ञान रूपी तीनों रत्नों का जिसे अधिकारी बनाया है उसे गायत्री से घेर दिया है । इसका तात्पर्य यह है कि गायत्री की मर्यादा के भीतर जिन्होंने ब्राह्मणत्व

प्राप्त किया है - वे ही भौतिक और आत्मिक आनन्दों को प्राप्त करेंगे। जिनकी जठराग्नि तीव्र है, उनके लिये साधारण श्रेणी के पदार्थ भी रुचिकर और पुष्टिकर होते हैं और जिनकी जठराग्नि मन्द है, उनके लिए बढ़िया मोहन-भोग भी रोग उत्पन्न करते हैं। गायत्री से आच्छादित ब्रह्मकर्मा मनुष्य की आत्मिक जठराग्नि ऐसी तीव्र होती है कि वह थोड़ी मात्रा में प्राप्त हुए पदार्थों से भी पर्याप्त रसास्वादन कर सकता है।

जो यह जानता है कि गायत्री के प्रथम पाद का वास्तविक उद्देश्य मानव जीवन को आदर्शवाद की प्रतिज्ञा से ओत-प्रोत बनाना है, वही उनका वास्तविक तात्पर्य जानता है। जो इस ज्ञान को व्यवहार में लाता है, अर्थात् अपने को वैसा ही बनाता है, उसका जीवन अविच्छिन्न होता है, अर्थात् जीवन भर पथ भ्रष्ट नहीं होता और उसका वंश भी नष्ट नहीं होता। पीछे भी जन्म-जन्मान्तरों तक वह भावना नष्ट नहीं होती, इस अविच्छिन्नता के कारण उसे श्री, प्रतिष्ठा और ज्ञान का भी अभाव नहीं होता।

भर्गो देवस्य धीमहि इति सावित्र्या द्वितीयः पादः।

भर्गो देवस्य धीमहि- यह सावित्री का दूसरा पाद है।

अन्तरिक्षेण यजुः समदधात्, यजुषा वायुम्, वायुना अभ्रम्। अभ्रेण वर्षम्, वर्षेणौषधि-वनस्पतीन्, ओषधि-वनस्पतिभिः पशून्, पशुभिः कर्म, कर्मणा तपः, तपसा सत्यम्, सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणम्, ब्राह्मणेन व्रतं, व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवति अशून्यो भवत्यविच्छिन्नो भवति।

"अन्तरिक्ष से यजुष् को युक्त करता है, यजुर्वेद से वायु को, वायु से मेघ को, मेघ से वर्षा को, वर्षा से ओषधि-वनस्पतियों को, ओषधि वनस्पतियों से पशुओं को, पशुओं से कर्म को, कर्म से तप को, तप से सत्य को, सत्य से ब्रह्म को, ब्रह्म से ब्राह्मण को, ब्राह्मण से व्रत को तथा व्रत से ब्राह्मण तीक्ष्ण, पूर्ण और अविच्छिन्न होता है।"

अविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति, य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्या द्वितीयं पादं व्याचष्टे।

"जो विद्वान् इस प्रकार जानकर सावित्री के द्वितीय पाद की व्याख्या करते हैं, उनका वंश तथा जीवन अविच्छिन्न होता है।"

पिछली कण्डिका में भूः से ऋक् को सम्बन्धित करके प्रथम पाद का रहस्य समझाया था। इस कण्डिका में गायत्री के दूसरे पद का विवेचन करते हैं। भुवः से (अन्तरिक्ष से) यजुः का सम्बन्ध किया है। यजुः कहते हैं यज्ञ को। यज्ञ कहते हैं, परमार्थ को। पहली कण्डिका में ज्ञान द्वारा आदर्श जीवन की प्राप्ति का उपाय बतलाया था। यहाँ यज्ञ द्वारा व्रतमय जीवन होने की शृंखला का वर्णन करते हैं।

भुवः से अन्तरिक्ष में यजुः को संयुक्त किया, यजुः से वायु को, वायु से मेघ को, मेघ से वर्षा को, वर्षा से ओषधि और वनस्पतियों को, वनस्पतियों से पशुओं को सम्बद्ध किया। गीता में भी यज्ञ विधान का ऐसा ही वर्णन है। यज्ञ से वायु शुद्ध होगी, वायु के सम्पर्क से गुणदायक जल बरसता है। उससे वृक्ष, वनस्पतियाँ और पशु श्रेष्ठ तत्त्वों वाले होते हैं, उनका उपयोग करने से मनुष्य का मन श्रेष्ठ बनता है और श्रेष्ठ मन से श्रेष्ठ कर्म होते हैं।

कर्म से मन को, मन से सत्य को, सत्य से ब्रह्म को, ब्रह्म से ब्राह्मण को और ब्राह्मण को व्रत से सम्बद्ध किया। अन्ततः यही क्रम आ गया। व्रत धारण करने से ब्राह्मण सुतीक्ष्ण, परिपूर्ण एवं अविच्छिन्न वंश वाला होता है।

जो ज्ञान से प्राप्त होता है, वही प्रकारान्तर से यज्ञ द्वारा, श्रेष्ठ कर्मों द्वारा भी प्राप्त हो सकता है। उच्च अन्तःकरण से निकली हुई सद्भावनायें समस्त आकाश को, वातावरण को सत्मय बना देती हैं और उस वातावरण में पलने वाले सभी पदार्थ सत् से परिपूर्ण होते हैं। जिस वातावरण के कारण मनुष्य व्रत परायण, व्रतवान् होकर अविच्छिन्न जीवन वाला हो जाता है, वही इस दूसरी कण्डिका का तात्पर्य है।

धियो यो नः प्रचोदयादिति सावित्र्यास्तृतीयः पादः।

धियो योनः प्रचोदयात्- यह सावित्री का तीसरा पाद है।

दिवा साम समदधात् साम्नाऽऽदित्यम् , आदित्येन रश्मीन् रश्मिभिर्वर्षम् , वर्षेणौषधिवनस्पतीन्, ओषधि- वनस्पतिभिः पशून्, पशुभिः कर्म, कर्मणा तपः, तपसा सत्यम् सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणम् , ब्राह्मणेन व्रतम्, व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवत्यशून्यो भवत्यविच्छिन्नो भवति। अविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति य एवं वेद , यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्यास्तृतीयं पादं व्याचष्टे।

द्युलोक से साम को उत्पन्न करता है, साम से आदित्य को, आदित्य से रश्मियों को, रश्मियों से वर्षा को, वर्षा से ओषधि-वनस्पतियों को, ओषधि-वनस्पतियों से पशुओं को, पशुओं से कर्म को, कर्म से तप को, तप से सत्य को, सत्य से ब्रह्म को, ब्रह्म से ब्राह्मण को, ब्राह्मण से व्रत को। व्रत से ब्राह्मण तीक्ष्ण, पूर्ण और अविच्छिन्न वंश होता है। जो विद्वान् यह जानकर सावित्री के तृतीय पाद की व्याख्या करते हैं, वे अपने वंश एवं जीवन को अविच्छिन्न बनाते हैं।

गायत्री का तीसरा पद 'स्वः' से आविर्भूत हुआ। 'स्वः' कहते हैं द्युलोक को। द्युलोक सामवेद से संयुक्त किया गया है। साम से आदित्य, आदित्य से रश्मियाँ, रश्मियों से वर्षा, वर्षा से ओषधि-वनस्पति, उनसे पशुओं का सम्बन्ध है। इनका प्रयोग करने से पूर्व कण्डिकाओं में वर्णित प्रकार से मनुष्य ब्रह्मचारी, व्रतधारी बनकर अविच्छिन्न जीवन और वंश वाला बन जाता है।

गायत्री के तीन पादों में वह विज्ञान सन्निहित है, जिसके द्वारा मनुष्य को श्री, प्रतिष्ठा और ज्ञान की उपलब्धि होती है। तीन पाद वेदों से बने हैं। प्रत्येक पाद एक-एक लोकों का प्रतीक है। इन तीन लोकों से यह तीनों वेदों के मन्त्र आवश्यक सामग्री को खींचकर लाते हैं और गायत्री साधक को सब प्रकार से सुखी बना लेते हैं। इसके व्यक्तिगत लाभ ही नहीं, वरन् सामूहिक लाभ भी हैं। जैसे यज्ञ करने से वायु की शुद्धि, उत्तम वर्षा और उससे गुणकारी वनस्पति तथा दूध की उत्पत्ति होती है। वैसे ही गायत्री द्वारा भी वह प्रक्रिया होती है।

ये सम्बद्ध शृंखलायें, अपने में एक बड़ा भारी पदार्थ-विज्ञान सम्बन्धी रहस्य छिपाये बैठी हैं। एक पदार्थ से दूसरे का सम्बन्ध किस प्रकार का है इसकी थोड़ी-सी विवेचना हमने आध्यात्मिक शैली से की है, परन्तु इसमें और भी विशद रहस्य मौजूद हैं, जिसके कारण गायत्री का साधक उन तीनों लाभों से- श्री, प्रतिष्ठा एवं ज्ञान से पर्याप्त मात्रा में लाभान्वित होता है और अन्त में ईश्वर की प्राप्ति करके अविच्छिन्न जीवन को प्राप्त करता है अर्थात् अमर हो जाता है, उसे जरा, मृत्यु के बन्धन में नहीं बँधना पड़ता। ऐसा है- इस त्रिपदा गायत्री का रहस्य !

तेन ह वा एवं विदुषा ब्राह्मणेन ब्रह्माभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्।

सावित्री के तीन पाद जानने वाला ब्राह्मण, ब्रह्म प्राप्त (APPROCHED), ग्रसित (DIGESTED) और परामृष्ट (REALISWS) होता है।

ब्रह्मणा आकाशमभिपन्नं, ग्रसितं परामृष्टम् , आकाशेन वायुरभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टो, वायुना ज्योतिरभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्। ज्योतिषापोऽभिपन्ना ग्रसिताः परामृष्टाः। अद्भिर्भूमिरभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा, भूम्यान्नमभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्। अन्नेन प्राणोऽभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टः। प्राणेन मनोऽभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्। मनसा वागभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा। वाचा वेदा अभिपन्ना ग्रसिताः परामृष्टाः। वेदैर्यज्ञोऽभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टः। तानि ह वा एतानि द्वादश महाभूतान्येवं विधि प्रतिष्ठितानि तेषां यज्ञ एव परार्ध्यः।

"ब्रह्म से आकाश प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। आकाश से वायु प्राप्त, ग्रसित तथा परामृष्ट है। वायु से ज्योति अभिपन्न, ग्रसित और परामृष्ट है। ज्योति से जल प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट है। जल से पृथ्वी प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट है। भूमि से अन्न अभिपन्न, ग्रसित और परामृष्ट है। अन्न से प्राण अभिपन्न, ग्रसित तथा परामृष्ट

है । प्राण से मन अभिपन्न, ग्रसित तथा परामृष्ट है । मन से वाक् अभिपन्न, ग्रसित तथा परामृष्ट है । वाक् से वेद अभिपन्न, ग्रसित एवं परामृष्ट है । वेद से यज्ञ प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है । इस प्रकार का ज्ञान रखने वालों में ये बारह महाभूत प्रतिष्ठित रहते हैं । इसमें यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ है ।"

पिछली तीन कण्डिकाओं में वर्णित गायत्री के तीन पादों के रहस्यों को जो भली प्रकार जानता है, उस ब्राह्मण से ब्रह्म प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट होता है अर्थात् वह ब्राह्मण ब्रह्म को प्राप्त करता है, प्राप्त करके उसे अपने में पचाता है और उससे परामृष्ट- आच्छादित होता है । उसके भीतर- बाहर सब ओर ब्रह्म की सत्ता काम करती है ।

अब १२ ऐसी कड़ियाँ बतायी जाती हैं, जिन पर विचार करने से यह प्रकट हो जाता है कि पञ्चभूत, अन्तःकरण चतुष्टय, वेद और यज्ञ सब का मूल केवल ब्रह्म है । ब्रह्म से ही एक कड़ी के बाद दूसरी कड़ी की तरह यह सब जुड़े हुए हैं, उसी से ओत-प्रोत हैं ।

बताया गया है कि ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से अन्न, अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से वाक्, वाक् से वेद और वेद से यज्ञ प्राप्त होता है, ग्रसित किया जाता है, आच्छादित होता है ।

ब्रह्म, प्रत्यक्ष रूप से आँखों से दिखाई नहीं पड़ता । स्वल्प ज्ञान वाले मनुष्य समझते हैं कि पञ्चभूतों का यह पुतला ही सब कुछ करता है । उन्हें यह बताया गया है कि पञ्चभूत और तुम्हारे अन्दर काम करने वाली मन, बुद्धि आदि की चैतन्यता ब्रह्म से पृथक् नहीं है वरन् उसी से आच्छादित है । यदि ब्रह्म का आच्छादन इन पर न हो, तो इनकी क्रियाशीलता समाप्त हो जाए और कोई तत्त्व कुछ भी काम करने में समर्थ न हो सके ।

जो प्रकृति में, पञ्चभूतों में, शरीर में ब्रह्म को, परमात्मा को समाया हुआ देखता है, वह ब्राह्मण कहलाता है । वह वेद और यज्ञ से घिरा होता है अर्थात् सद्ज्ञान और सत्कर्म उसके कण-कण में व्याप्त होते हैं । इन सब ज्ञानों में यज्ञ ही, सत्कर्म ही सर्वोत्तम है, क्योंकि इस ज्ञान का तात्पर्य ही यह है कि मनुष्य सत्कर्म में लगे । जिसे यह सब रहस्य मालूम है, उसमें सब भूत प्रतिष्ठित रहते हैं अर्थात् समस्त सृष्टि-विस्तार को वह अपने भीतर ही समझता है ।

तं ह स्मैतमेवं विद्वांसो मन्यन्ते विद्मैनमिति याथातथ्यमविद्वांसः ।

जो विद्वान् यह समझ लेते हैं कि हम इस यज्ञ के जानकार हो गये हैं, वे ही इसे नहीं जानते ।

अयं यज्ञो वेदेषु प्रतिष्ठितः । वेदा वाचि प्रतिष्ठिताः ।
वाङ् मनसि प्रतिष्ठिता । मनः प्राणे प्रतिष्ठितम् ।
प्राणोऽन्ने प्रतिष्ठितः । अन्नं भूमौ प्रतिष्ठितम् ।
भूमिरप्सु प्रतिष्ठिता । आपो ज्योतिषि प्रतिष्ठिता ।
ज्योतिर्वायौ प्रतिष्ठितम् । वायुराकाशे प्रतिष्ठितः ।
आकाशं ब्रह्मणि प्रतिष्ठितम् । ब्रह्म ब्राह्मणे ब्रह्मविदि प्रतिष्ठितम् ।

यो ह वा एवं-वित् स ब्रह्मवित्पुण्यां च कीर्तिं लभते सुरभींश्च गन्धान् । सोऽपहतपाप्मानन्तां श्रियमश्नुते य एवं वेद , यश्चैवं विद्वानेवमेतां वेदानां मातरं सावित्री- सम्पदमुपनिषदमुपास्त इति ब्राह्मणम् ।।
- गो० १/३८

यह यज्ञ वेद से प्रतिष्ठित है । वेद वाक् में प्रतिष्ठित हैं । वाक् मन में प्रतिष्ठित है । मन प्राण में प्रतिष्ठित है । प्राण अन्न में प्रतिष्ठित है । अन्न भूमि में प्रतिष्ठित है । भूमि जल में प्रतिष्ठित है । जल तेज पर प्रतिष्ठित है । आकाश ब्रह्म पर प्रतिष्ठित है । ब्रह्म ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण पर प्रतिष्ठित है । इस प्रकार जानने वाला ब्रह्मज्ञानी पुण्य एवं कीर्ति को प्राप्त करता है तथा सुरभित गन्धों को पाता है ।वह व्यक्ति पापहीन होकर अनन्त ऐश्वर्य को प्राप्त होता है ।

पिछली कण्डिका में यज्ञ को सर्वोत्तम बताया है, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि जो यह कहते हैं कि हम यज्ञ को जानते हैं, वे उसे नहीं जानते। कारण यह है कि दूसरे आदमी किसी कार्य के बाह्यरूप को देखकर ही उनके भले-बुरे होने का अनुमान लगाते हैं, परन्तु यथार्थ में काम के बाहरी रूप से यज्ञ का कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो आन्तरिक भावना पर निर्भर होता है। यह हो सकता है कि कोई व्यक्ति बड़े-बड़े दान, पुण्य, होम, अग्नि होत्र, ब्रह्म-भोज, तीर्थयात्रा आदि करता हो, पर उसमें उसका उद्देश्य यश लूटना या कोई और लाभ उठाना हो। इसी प्रकार डाक्टर के आपरेशन करने के समान ऐसे कार्य भी हो सकते हैं, जो देखने में पाप प्रतीत होते हैं, परन्तु कर्त्ता की सद्भावना के कारण वे श्रेष्ठ कर्म हों। इसलिये कौन आदमी यज्ञ कर रहा है या नहीं, इसका निर्णय उन व्यक्तियों की अंतरात्मा ही कर सकती है। बाहर के आदमी के लिये बहुत अंशों में उसका जानना सम्भव होने पर भी पूर्ण रूप से शक्य नहीं है।

पिछली कण्डिका में जिन बारह कड़ियों को एक ओर से गिनाया था, इस कण्डिका में उन्हें दूसरी ओर से गिनाया गया है अर्थात् क्रम उल्टा कर दिया-

यह यज्ञ वेदों में, वाक् मन में, मन प्राण में, प्राण अन्न में, अन्न भूमि में, भूमि जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश ब्रह्म में और ब्रह्म ब्राह्मण में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार इस शृंखला का एक सिरा ब्राह्मण है, तो दूसरा यज्ञ। एक सिरा यज्ञ है, तो दूसरा ब्राह्मण। दूसरी तरह से इसी को यों कह लीजिये कि जो सद्ज्ञान और सत्कर्म से ओत-प्रोत है, वही ब्राह्मण है।

जो इस प्रकार से जानता है, जो ब्रह्मज्ञानी है, वह सुगन्ध की तरह उड़ने वाली पुण्यमयी कीर्ति को प्राप्त करता है। वह निष्पाप हो जाने से अनन्त ऐश्वर्यों को भोगता है। वह ज्ञान का उपासक बनकर, इस वेदमाता गायत्री के उपनिषद् का उपासक बनता है अर्थात् इस उपनिषद् में वर्णित महान् ब्रह्मज्ञान को अपने अन्तःकरण में धारण करके उससे अपना जीवन ओत-प्रोत बनाता है। ऐसा व्यक्ति ही ब्राह्मण है, ऐसा शास्त्रों का अभिवचन है।

गायत्री रामायण

यह प्रसिद्ध है कि वाल्मीकि रामायण की रचना का मूल आधार गायत्री मन्त्र है। गायत्री मन्त्र की व्याख्या के रूप में इस महान् ग्रन्थ की रचना हुई है।

वाल्मीकि रामायण में २४ हजार श्लोक हैं। एक-एक अक्षर की व्याख्या स्वरूप एक-एक हजार श्लोक रचे हैं अथवा यों कहा जा सकता है कि एक-एक हजार श्लोकों के ऊपर गायत्री के एक-एक अक्षर का सम्पुट दिया गया है।

आजकल वाल्मीकि रामायण के जो संस्करण मिलते हैं, उनमें श्लोकों की संख्या समान नहीं है और उनमें काफी अन्तर पाया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि बीच के अन्धकार युग में, यवन काल में कितने ही श्लोक नष्ट-भ्रष्ट हो गये होंगे। अन्य ग्रन्थों की भाँति साम्प्रदायिक उतार-चढ़ाव के जोश में सम्भव है, वाल्मीकि रामायण में भी कुछ श्लोक जोड़े गये हों या निकाले गये हों। रामचन्द्रजी द्वारा मांस का प्रयोग होना ऐसी ही निषिद्ध बात है, जो किसी ने पीछे से जोड़ दी मालूम होती है, अन्यथा विश्वास नहीं होता कि भगवान् रामचन्द्र जब कि वनवास में यती बनकर रह रहे थे, लक्ष्मण से मांस पकवाते और फिर सीता-लक्ष्मण समेत उसे खाते।

इस प्रकार की गड़बड़ी में श्लोक संख्या का क्रम भी बिगड़ गया है। प्रति एक हजार श्लोकों के बाद गायत्री के एक अक्षर का सम्पुट देकर महर्षि वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थ में मिलावट रोकना चाहा था, पर न हो सका। आज हमें अव्यवस्थित क्रमों वाली पुस्तकें ही प्राप्त होती हैं। हिसाब लगाकर देखा गया, तो कहीं-कहीं तो केवल ४-६ श्लोकों का ही आगा-पीछा है, पर कहीं यह अन्तर सैकड़ों तक पहुँचा है।

इतना होने पर भी प्रति सहस्र पर गायत्री का एक अक्षर होने के इस क्रम को आकस्मिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्य किसी मन्त्र का ऐसा सम्पुट प्राप्त नहीं होता। अनजान में ऐसा सम्पुट नहीं लग सकता। महर्षि वाल्मीकि ने इसे बहुत समझकर लगाया है।

इस गायत्री सम्पुट के न जाने कितने रहस्य और कारण होंगे । उन सबका जानना तो आज कठिन है, परन्तु उन सम्पुट वाले श्लोकों पर दृष्टिपात किया जाए, तो वे बड़े महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं । वैसे उनमें अधिकांश श्लोक घटनात्मक हैं । किसी घटना या वार्तालाप का ही परिचय मिलता दीखता है, तो भी गम्भीर दृष्टि डाली जाए, तो प्रतीत होता है कि उसमें संकेत रूप से एक बड़ी महत्त्वपूर्ण शिक्षा भरी हुई है ।जिस शिक्षा पर ठीक प्रकार से अमल किया जाए, तो मनुष्य का जीवन असाधारण विशेषताओं से परिपूर्ण हो सकता है ।

इन २४ अक्षरों के आरम्भ वाले २४ श्लोकों को 'गायत्री रामायण' कहा जाता है । इन श्लोकों के गर्भ में संकेत रूप में छिपे हुए मर्मों को समझकर, उन्हें हृदयंगम करने वाला मनुष्य, सम्पूर्ण वाल्मीकि रामायण के लाभ प्राप्त कर सकता है । आगे उन गायत्री के २४ अक्षरों से आरंभ होने वाले श्लोकों की विवेचना करते हैं ।

१-तपः स्वाध्याय निरतं तपस्वी वाग्विदां वरम् ।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुंगवम् ।। - वा० रा० बालकाण्ड १/१

अर्थ- तप और स्वाध्याय करने वाले सर्व प्रधान और मुनियों में श्रेष्ठ नारदजी से तपस्वी वाल्मीकि ने पूछा-

इस श्लोक में दो पहेलियों पर प्रकाश डाला गया है । नारदजी को दो पदवी दी हैं और उन पदवियों का कारण भी बताया है । नारद जी को सर्वप्रधान विद्वान् और मुनियों में श्रेष्ठ कहा है । सर्वप्रधान विद्वान् उन्हें क्यों कहा गया है ? क्या नारद जी ने व्यास की तरह अठारह पुराण लिखे थे या उन्होंने कोई और ऐसी विशेषता दिखाई थी, जो अन्य विद्वानों में नहीं होती ? यदि ऐसा नहीं है, तो उन्हें सर्वश्रेष्ठ विद्वान् क्यों कहा गया ? या फिर वाल्मीकि जी झूठे थे, जिन्होंने नारदजी की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा की ?

इसी श्लोक में वह कारण भी स्पष्ट कर दिया है, जिसके कारण उन्हें सर्वश्रेष्ठ विद्वान् बताया गया है । वह कारण है- शास्त्र का चिंतन । पोथी पढ़ने वाले 'पड्‌दू' तो एक से एक बढ़िया पड़े हैं, जिनकी जिन्दगियाँ पोथी पढ़ने में बीत गयीं । हजारों-लाखों पुस्तकें जिनने पढ़ डालीं, क्या ऐसे लोगों को सर्वश्रेष्ठ विद्वान् कह दिया जाए ? नहीं , ऐसा नहीं हो सकता । पोथी पढ़ने का व्यसन, किसी की जानकारी को तो बढ़ा सकता है, पर उससे कोई आत्मिक लाभ नहीं हो सकता । व्यक्ति भले ही शास्त्र को थोड़ा पढ़ता हो, पर उसका चिन्तन करता रहे । शास्त्र के अर्थ पर, आदेश पर, मर्म पर, महत्त्व पर गम्भीरता से मनन करना, अपनी आत्मा का अध्ययन करना, आत्म-मन्थन से जो नवनीत निकलता हो, उसे पचाकर आत्मसात् कर लेना यही स्वाध्याय का तथ्य है । जो इस प्रकार शास्त्र-सेवन करता है, वही विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ है । इसलिये नारदजी को विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ कहा ।

दूसरी पदवी उन्हें मुनियों में श्रेष्ठ की दी गयी, ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर भी साथ ही मौजूद है, वह है 'तप' । मनन करने वालों को मुनि कहते हैं । ऐसे अनेक हैं, जो सत्तत्त्व का मनन करते हैं, पर इतने मात्र से काम नहीं चलता । जिसमें आदर्श के लिये घोर प्रयत्न करने की लगन है और उस प्रयत्न के लिये बड़े से बड़ा कष्ट सहने का साहस है, वही तपस्वी, मुनियों में श्रेष्ठ है । नारद जी घड़ी भर चैन किये बिना अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये यहाँ-वहाँ भ्रमण करते फिरते थे, लोक सेवा के लिये उन्होंने सारा जीवन ही उत्सर्ग कर रखा था ।

इस श्लोक में नारदजी को माध्यम बनाकर तप और स्वाध्याय की सर्वश्रेष्ठता वर्णन की है । गायत्री रामायण का पहला श्लोक हमें तपस्वी और स्वाध्यायशील होने का सदुपदेश देता है ।

२- स हत्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञघ्नान् रघुनन्दनः ।
ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा ।। - वा० रा० बालकाण्ड ३०/२४

अर्थ- "यज्ञ नष्ट करने वाले समस्त राक्षसों को रामचन्द्र जी ने मारा । ऋषियों ने उनकी इसी प्रकार पूजा की, जिस प्रकार पहले असुर-विजय करने पर इन्द्र की हुई थी ।"

इस दूसरे श्लोक में तीन तथ्य हैं (१) यज्ञ नष्ट करने वालों को राक्षस मानना (२) राक्षसों को मारना (३) राक्षसों को मारने के लिये विवेकशीलों द्वारा प्रोत्साहित किया जाना ।

भले कामों में जो लोग बाधा अटकाते हैं, जनता की सुख-शान्ति में विघ्न उपस्थित करते हैं, पुण्य की प्रथा को रोक पाप की प्रणाली चलाते हैं- ऐसे लोक-कण्टक मनुष्य राक्षस हैं, जनता के शत्रु हैं ऐसे लोगों के प्रति घृणा

के भाव जाग्रत् रखना आवश्यक है , अन्यथा वे हमारी उपेक्षा, लापरवाही तथा आँख चुराने की मनोवृत्ति देखकर निर्भय हो जायेंगे और दूने उत्साह से अपना काम करेंगे । इसलिये समाज-विरोधी, देश-द्रोही, लोक-कण्टक लोगों पर हमारी तीव्र दृष्टि रहनी आवश्यक है । उनकी करतूतों से सावधान रहें, दूसरों को सावधान रखें और उनके विपक्ष में घृणा का वातावरण तैयार करते रहें, जिससे वे राक्षसी-वृत्तियों में निर्भय होकर बढ़ने से ठिठकें ।

ऐसे लोगों के लिये दूसरा उपाय है- उनका दमन । जहाँ व्यक्तिगत रूप से निपट लेने की अनिवार्य आवश्यकता है, वहाँ तो दूसरी बात है, पर अन्य असाधारण अवसरों पर राज्य द्वारा ऐसे लोगों को दण्ड दिलवाना चाहिये । विदेशी शासन चले जाने पर, अब सरकार ही जनता का प्रतिनिधित्व करती है । इसलिये दण्ड देने का कार्य जनता की सामूहिक दण्ड-शक्ति-सरकार द्वारा उन्हें कुचलवाना चाहिये । ऋषियों ने राक्षसों को स्वयं नहीं मारा था । विश्वामित्र जी, राम और लक्ष्मण राज-पुत्रों को लाये थे और उन्हें धनुष विद्या सिखाकर राक्षसों को मरवाया था । चाहते तो विश्वामित्र भी राक्षसों को मार सकते थे, पर प्रजा द्वारा, प्रजा को दण्ड दिया जाना उचित न समझकर उन्होंने इसके लिये राज्याश्रय को प्राप्त किया । हमें भी दुष्टों के दमन के लिये अपनी राज्य-शक्ति का ही प्रयोग करना चाहिये ।

तीसरी बात यह है- ऋषियों द्वारा राजशक्ति की पूजा । दुष्टों से लड़ने वाली शक्तियों के साथ हमारी पूरी-पूरी सहानुभूति होनी चाहिये । यह हो सकता है कि हमें किसी से , किसी कारणवश विरोध हो, कोई असन्तोष या द्वेष हो, पर जब राक्षसत्व के दमन का अवसर आए, तो उस विरोधी का भी पूरा-पूरा समर्थन और सहयोग करके असुरत्व को परास्त करना चाहिये । सैद्धान्तिक या व्यक्तिगत विरोध का ऐसे अवसरों पर जरा भी ध्यान नहीं करना चाहिये । वीर-पूजा की प्रथा प्राचीन है । इन्द्र आदि की भी पूजा उनके असुर-विजय के कारण होती है । विघ्नों से, कण्टकों से और असुरता के साथ जो लड़ते हैं, वे हमारी प्रशंसा, प्रोत्साहन एवं सहयोग के अधिकारी हैं ।

३- विश्वामित्रः सरामस्तु श्रुत्वा जनक-भाषितम् ।
वत्स राम धनुः पश्य इति राघवमब्रवीत् ॥ - वा० रा० बालकाण्ड ६७/१२

अर्थ- "राम के साथ विश्वामित्र ने जनक की बातें सुनीं और रामचन्द्र से कहा-वत्स ! धनुष को देखो ।"

"इस कठिन काम को अनेक लोग पूरा नहीं कर सके, इसलिये यह मुझसे भी पूरा नहीं होगा ।" इस प्रकार के अपडर से अनेकों सुयोग्य व्यक्ति अपनी प्रतिभा को कुण्ठित कर लेते हैं और हीनता की ग्रन्थि से ग्रथित हो जाते हैं, ऐसा होना उचित नहीं । कई बार ऐसा देखा गया है कि जो काम बड़े लोगों के लिये कठिन था, वह छोटों ने पूरा कर दिखाया । जनक का धनुष "भूप सहस दस एकहि बारा । लगे उठावन टरहि न टारा ॥" के अनुसार बड़ा भारी कार्य बना हुआ था । विश्वामित्र जानते थे कि वह झिझक राम को भी आ सकती है और उससे डर जायें, तो आधा काम विफल हो सकता है । इसलिये उन्होंने उत्साह प्रदान करते हुए कहा- वत्स राम ! इस धनुष को देखो ।

जो कठिनाइयाँ हमारे सामने आती हैं , उनकी कल्पना बड़ी डरावनी होती है । ऐसा मालूम देता है कि वह विपत्ति न जाने हमारा क्या कर डालेगी, परन्तु जब मनुष्य साहस बाँध कर उसका मुकाबला करने खड़ा हो जाता है, तो विघ्न ऐसे सरल हो जाते हैं जैसे कि राम के लिये धनुष सरल हो गया था । उर्दू की कहावत है, "हिम्मते मरदां मददे खुदा" जो साहस वाले मर्द होते हैं, उनकी ईश्वर सहायता करता है । कठिनाइयों को देखकर हमें झिझकना, डरना या घबराना नहीं चाहिये वरन् दृढ़तापूर्वक उनको हल करने के लिए अग्रसर होना चाहिये । यही इस श्लोक का तात्पर्य है ।

४- तुष्टावास्य तदा वंशं प्रविश्य स विशांपतेः ।
शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठत ॥ -वा० रा० अयोध्याकाण्ड १५/१९-२०

अर्थ- "राजा के शयनागार तक वे (सुमन्त) चले गये ।वहाँ उनके वंश की प्रशसा की ।"

प्रशंसा एक ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा उस स्थान तक आसानी से पहुँचा जा सकता है, जहाँ पहुँचना

साधारणत: कठिन होता है । राजा के शयनागार में हर किसी का प्रवेश नहीं होता, पर सुमन्त वहाँ भी पहुँच गये । उन्होंने उनके वंश की-अहंभाव के विचार की प्रशंसा की ।

अहंपोषण और काम-सेवन संसार के यह दो प्रमुख विलास हैं । मन:क्षेत्र का सबसे प्रिय विलास प्रशंसा है । अपनी प्रशंसा सुन कर सब कोई मोहित हो जाते हैं । सर्प और मृग संगीत की ध्वनि पर मुग्ध हो जाते हैं, मनुष्य के लिये सबसे मधुर संगीत उसकी आत्म प्रशंसा है ।

इस श्लोक में प्रशंसा के महत्त्व का वर्णन है । यह एक शस्त्र है, जिसके उपयोग द्वारा बुरे और भले दोनों प्रकार के परिणाम निकल सकते हैं । खुशामदी, चालाक, धूर्त, ठग लोग अनुचित प्रशंसा करके दूसरों के गर्व को फुलाते हैं, अपना उल्लू सीधा करते हैं । अनुचित प्रशंसा से फूलने वाले की आदत बिगड़ती है । उसे ऐसा भ्रम होता है, मानो मैं वैसा ही हूँ । अपनी त्रुटियाँ दिखाई नहीं पड़तीं और अच्छाइयाँ अनुचित रूप से बढ़ी-चढ़ी दिखाई देती हैं, इससे उसका मस्तिष्क अज्ञानग्रस्त एवं भ्रान्त हो जाता है । फलस्वरूप उसके कार्य भी बेढंगे होते हैं । राजाओं, ताल्लुकेदारों, अमीरों, अफसरों आदि में इस प्रकार के खुशामद से उत्पन्न होने वाले अनेक विकार पाये जाते हैं । परन्तु यदि प्रशंसा का सदुपयोग किया जाए, उचित रीति से, किसी का उत्साह-वर्द्धन किया जाए, उसके वास्तविक गुणों को अच्छे रूप में सामने रखकर, उन्हें और अधिक बढ़ाने की शुभकामना की जाए, तो इससे उसका उत्साह और आत्मबल बढ़ता है, प्रशंसा की रक्षा के लिये वह बुराई से बचता है । सफेद कपड़े वाला मनुष्य बहुत सँभल कर बैठता-उठता है, कपड़े मैले न हो जाएँ इसका बहुत ध्यान रखता है, पर जो मैले कपड़े पहने है, उसे इस प्रकार का कोई संकोच नहीं होता । प्रशंसा स्वच्छ चादर है और निन्दा चिथड़ा । हमें अपने हर परिचित को सफेद कपड़े पहनाने चाहिये, जिससे वह लोक-जीवन में सावधानी और सुरुचि सीखे ।

५- वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च ।
भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वसुरो ददौ ॥ - वा० रा० अयोध्याकाण्ड ४०/१४

अर्थ- "वनवास के दिनों को गिनकर, पति के साथ जाने वाली सीता को, श्वसुर ने वस्त्र-आभूषण दिये ।"

भविष्य में आने वाली कठिनाइयों को ध्यान में रखकर, उनके लिये समुचित तैयारी करना- यह इस श्लोक का रहस्य है । पूर्व कर्मों के फलस्वरूप आज हमें अच्छी परिस्थिति प्राप्त है, पर यदि अब कोई अच्छी तैयारी न की गयी, तो भविष्य अन्धकारमय है । बुद्धिमान् मनुष्य भविष्य की चिन्ता करते हैं, आगामी जीवन सुख-शान्ति एवं आनन्द-उल्लास के साथ बीते, इसके लिये वे शुभ कर्म करके अधिकाधिक पुण्य-संचय करते हैं । ऐसा ही हमें भी करना चाहिये ।

६-राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम् ।
राजा माता-पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् । - वा० रा० अयोध्याकाण्ड ६७/३४

अर्थ- "राजा सत्य है, धर्म है, कुलवानों का कुल है, माता-पिता के तुल्य है और मनुष्यों का हितकारी है ।"

राजा के द्वारा, प्रजा के हित के लिये सत्य के आधार पर चलने वाले राज्य को सुराज्य और इसके भिन्न प्रकार के राज्य को कुराज्य कहते हैं । इस श्लोक में सुराज्य की प्रशंसा की गयी है, उसकी श्रेष्ठता बताकर सुराज्य द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करने का प्रोत्साहन है । प्रत्येक सभ्य नागरिक का कर्तव्य यह है कि समाज हित के राज्य-नियमों का ईश्वर की- धर्म की आज्ञाओं के समान आदर करे और उनका पालन करे । राज्य-भक्ति का तात्पर्य है- देश- भक्ति, समाज- भक्ति । इस देश-भक्ति एवं समाज-भक्ति के लिये यह श्लोक प्रेरणा देता है ।

७-निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम् ।
उटजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम् ॥ - वा० रा० अयोध्याकाण्ड ९९/२५

अर्थ- "भरत ने उसी क्षण, जटाधारी राम को उस कुटीर में बैठा देखा ।"

ईश्वर का ऐश्वर्य, बड़े वैभवशाली भवनों, खजानों और भण्डारों में मौजूद है, वैभव वाला ईश्वर, प्रत्येक

वैभववान् पदार्थ में हमें झिलमिलाता हुआ दिखाई पड़ता है। परन्तु यदि ईश्वर के सतोगुणी स्वरूप का-ब्रह्म का-जटाधारी त्याग-मूर्ति राम का दर्शन करना हो, तो वह कुटीर में ही मिलेगा।

महात्मा गाँधी दरिद्र जनता को दरिद्र नारायण कहा करते थे। उन्हें ईश्वर की सर्वोत्तम झाँकी दरिद्रों में होती थी और दीनों के झोपड़े, उन्हें ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ मन्दिर दृष्टिगोचर होते थे। कुटिया सादगी, अपरिग्रह एवं त्यागवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है। जहाँ यह गुण है, वहाँ जटाधारी राम, सत् शक्तियों से आच्छादित ब्रह्म के दर्शन हो सकते हैं। यह दर्शन उन्हें होंगे, जो भरत के समान, निर्मल एवं सरल अन्त:करण वाले हैं। इस श्लोक में ईश्वर की श्रेष्ठ झाँकी किस प्रकार हो सकती है, इस गुत्थी को सुलझाते हुए कुटिया, जटाधारी राम और भरत इन तीन तत्त्वों का उल्लेख किया है। विवेकवान् व्यक्ति अपने दृष्टिकोण को भरत-सा, अपने अन्त:करण को सरलतामयी कुटिया-सा बना ले, तब उसे जटाधारी राम के दर्शन होंगे। मुकुटधारी राम तो अन्यत्र भी देखे जा सकते हैं, उनकी झाँकी तो अयोध्या के महलों में भी होती थी, पर जटाधारी राम का घर तो कुटिया ही है।

८-यदि बुद्धिः कृता द्रष्टुमगस्त्यं तं महामुनिम्।
अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महामते॥ - वा० रा० अरण्यकाण्ड ११/४३

अर्थ- "हे महामति ! यदि तुमको अगस्त्य के दर्शन की इच्छा है, तो आज ही जाने की सोचो।"

अगस्त्य कहते हैं कल्याण को। जो महामति, कल्याण के दर्शन करना चाहता है, आत्म-साक्षात्कार करना चाहता है, अर्थात् किसी भी प्रकार की भौतिक-मानसिक सफलता चाहता है, तो उसे चाहिये कि उद्देश्य की पूर्ति के लिये आज से ही प्रयत्न प्रारम्भ करे। कल के लिये टालते रहने से कोई बात पूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि कल कभी आता नहीं।

वर्तमान सबसे मूल्यवान् समय है। जो बीत चुका वह वापस नहीं आ सकता, उसके लिये चिन्ता- शोक करने से कुछ लाभ नहीं। जीवन की बहुमूल्य पूँजी वे घड़ियाँ हैं, जिन्हें वर्तमान कहते हैं। समय का सदुपयोग यही है कि वर्तमान की एक-एक घड़ी का उत्तम से उत्तम उपयोग किया जाए। जो करना अभीष्ट है, उसके लिये विलम्ब न लगा कर, समय को बर्बाद न करके, वर्तमान में ही उसके लिये प्रयत्न आरम्भ कर देना चाहिये, यही इस श्लोक का आशय है।

९- भरतस्यार्यपुत्रस्य श्वश्रूणां मम च प्रभो।
मृगरूपमिदं दिव्यं विस्मयं जनयिष्यति॥ - वा० रा० अरण्यकाण्ड ४३/१८

अर्थ- "भरत को, आपको और मेरी सासों को यह दिव्य मृगरूपी खिलौना विस्मित करेगा, यदि वह जीवित न पकड़ा जा सके, तो भी इसका चर्म बड़ा ही सुन्दर होगा।"

सब लोगों को प्रसन्नता देने वाले सुन्दर पदार्थ यदि पूर्ण मात्रा में प्राप्त न हो सकें, तो उनको कम मात्रा में ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। सद्गुण अपने में जितनी अधिक मात्रा में हों उतने अच्छे। पूर्ण हों तो सबसे अच्छे, पर यदि पूर्णता प्राप्त न हो सके तो भी, जितनी कुछ न्यूनाधिक मात्रा में उनका प्राप्त होना सम्भव हो, उसके लिये भी प्रयत्न करना चाहिये। यदि पूर्ण सत्यवादी, पूर्ण निष्पाप, पूर्ण सदाचारी न बन सके, तो हिम्मत हार बैठने की अपेक्षा यही अच्छा है कि जितनी भी, थोड़ी-बहुत सफलता प्राप्त की जा सके, उसके लिये प्रयत्न बराबर जारी रखा जाए।

शिल्प, संगीत, कला-कौशल, व्यायाम, भाषण, वक्तृता, अन्य भाषाओं का ज्ञान आदि जितने कुछ अंशों में प्राप्त हो सके, उसके लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। 'पूरा या कुछ नहीं' की दुराग्रह भरी नीति के स्थान पर 'जितना मिले उसे लो और अधिक के लिये कोशिश करो' की नीति अपनाने की शिक्षा इस श्लोक में है। **'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डित:'** का भावार्थ यही है।

१०-गच्छ शीघ्रमितो वीर सुग्रीवं तं महाबलम्।
वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाऽद्य राघव॥ - वा० रा० अरण्यकाण्ड ७२/१७

अर्थ- " हे राघव ! तुम यहाँ से शीघ्र महाबली सुग्रीव के पास जाओ और आज ही उसे अपना मित्र बनाओ ।"

बलवान् को अपना मित्र बनाने में देर न करने की शिक्षा यहाँ दी गयी है । लोक-व्यवहार के लिये बल का, बलवान् का सहारा एक बड़ी चीज है, उससे बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का हल होता है और उन्नति के अनेक द्वार खुल जाते हैं । संगति की महिमा प्रसिद्ध है, जो अपने से बलवान् है उसकी समीपता से (मैत्री से) अपनी बल-वृद्धि होना स्वाभाविक है । आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही बात है, जीवात्मा अपने से बलवान् दैवी शक्तियों से मैत्री स्थापित करके दैवी लाभों को प्राप्त करता है । जिसे जिस क्षेत्र में लाभान्वित होना हो, उसे उसी क्षेत्र में अपने से बलवान् शक्तियों के साथ शीघ्र ही मैत्री स्थापित करनी चाहिये ।

११- देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाणः प्रियाप्रिये ।
सुख-दुःखसहः काले सुग्रीववशगो भव ।। - वा० रा० किष्किन्धाकाण्ड २२/२०

अर्थ- "देश काल को समझो । प्रिय-अप्रिय को तथा सुख-दुःख को सहकर सुग्रीव के अधीन रहो ।"

मनुष्य जैसी स्थिति चाहता है, जैसी कामनायें और इच्छायें करता है, वैसी उसे प्राप्त हो जाएँ, यह आवश्यक नहीं । देश-काल की विचित्रता के कारण, प्रारब्ध के कारण कभी-कभी मनुष्य को ऐसी परिस्थितियों में रहना पड़ता है, जो असुविधाजनक एवं कष्टकारक होती हैं । ऐसी स्थिति को धैर्यपूर्वक सहन करते हुए, उससे मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये । प्रिय-अप्रिय में, सुख-दुःख में मनुष्य को विचलित नहीं होना चाहिये , वरन् मन को एकरस कर अपनी मानसिक स्वस्थता का परिचय देना चाहिये ।

१२- वन्दितव्यास्ततः सिद्धास्तपसा वीतकल्मषाः ।
प्रष्टव्या चापि सीतायाः प्रवृत्तिर्विनयान्वितैः ।।- वा०रा० किष्किन्धाकाण्ड ४३/३२, ३३

"अर्थ- निष्पाप, सिद्ध, तपस्वियों को प्रणाम करना और उनसे विनयपूर्वक सीता का पता पूछना ।"

आत्म-ज्ञान की शिक्षा हर किसी से ग्रहण नहीं करनी चाहिये । गुरु चाहे जिसे नहीं बनाना चाहिये, वरन् पहले यह देख लेना चाहिये कि आत्म-ज्ञान का शिक्षक तीन गुणों से सम्पन्न है या नहीं ? (१) निष्पाप, (२) अनुभवी एवं सफलता प्राप्त, (३) तपस्वी । जिसमें यह तीन गुण हों, वे आध्यात्मिक शिक्षा देने के अधिकारी हो सकते हैं । पापात्मा, अनुभवहीन तथा भोग-परायण व्यक्ति चाहे कितने ही चतुर वक्ता एवं पण्डित क्यों न हों, उनके द्वारा शिक्षा ग्रहण करने में पथ-भ्रष्ट किये जाने का, ठगे जाने का खतरा रहता है ।

विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक प्राप्त होने पर, उन्हें प्रणाम करके विनयपूर्वक प्रश्न करना चाहिये । इस प्रकार उचित जिज्ञासा के साथ शिष्टाचार और शिष्य भाव से पूछे जाने पर अधिकारी गुरु उचित पथ-प्रदर्शन करते हैं । इस श्लोक में आत्म-ज्ञानी गुरु के लक्षण और शिष्य की पूछने की शैली का आधार बताया गया है ।

१३- स निर्जित्य पुरीं लंकां श्रेष्ठां तां कामरूपिणीम् ।
विक्रमेण महातेजा हनूमान् कपिसत्तमः ।। - वा० रा० सुन्दरकाण्ड ४/१

अर्थ- "कपिश्रेष्ठ महातेजस्वी हनुमान् ने पराक्रम से कामरूपिणी लंका को जीता ।"

कामवासना रूपी लंका देखने में बड़ी लुभावनी स्वर्ण-कान्त, नयनाभिराम मालूम देती है । उसे जीतना कठिन प्रतीत होता है । इस कामवासनारूपी स्वर्ण लंका में असुर कुल आनन्दपूर्वक निवास करता है । सब असुर, आन्तरिक शत्रु, तब तक सुरक्षित हैं जब तक उनकी कामवासना रूपी लंका का दुर्ग सुरक्षित है । इस रहस्य को समझते हुए हनुमान् जी ने इस असुरपुरी को जीतना आवश्यक समझा और अपने पराक्रम से, ब्रह्मचर्य से, शील, सदाचार एवं संयम से उस कामवासना रूपी लंका को जीता । असुरता को परास्त करना है, तो कामवासना को जीतना आवश्यक है । यह विजय ब्रह्मचर्य द्वारा ही संभव है । हनुमान् जी की भाँति हम सबको वासना रूपिणी लंका जीतने का प्रयत्न करना चाहिये ।

१४- धन्या देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
मम पश्यन्ति ये वीरं रामं राजीवलोचनम् ।। - वा० रा० सुन्दरकाण्ड २६/३९

अर्थ- "देवता, गन्धर्व, सिद्ध तथा ऋषिगण धन्य हैं, जो मेरे राजीव-लोचन, वीर राम को देखते हैं ।"

वे लोग धन्य हैं, जो परमात्मा को देखते हैं, परमात्मा सबके निकट हैं, सबके भीतर हैं, चारों ओर हैं, उससे एक इञ्च भूमि भी खाली नहीं है, फिर भी मायाग्रस्त लोग उसे देख नहीं पाते, समझते हैं कि न जाने परमात्मा मुझसे कितनी दूर है, न जाने उसे प्राप्त करना, उसके दर्शन करना कितना कठिन है ? वे अपनी अन्धी आँखों से ईश्वर को नहीं देखते और बुराइयों में डूबे रहते हैं ।

जिनके दिव्य नेत्र खुल गये हैं, उनको अपने भीतर बाहर चारों ओर जर्रे-जर्रे में परमात्मा के दर्शन होते रहते हैं । इस दिव्य झाँकी से उनका अन्तःकरण तृप्त हो जाता है और सात्त्विक कर्म, स्वभावों की कस्तूरी जैसी महक उनके भीतर उठती रहती है । दिव्यदर्शी व्यक्तियों को देव, गन्धर्व, सिद्ध, ऋषि की पदवी देते हुए इस श्लोक में उनकी सराहना की है और उन्हें धन्य कहा है ।

१५- मंगलाभिमुखी तस्य सा तदासीन्महाकपेः ।
उपतस्थे विशालाक्षी प्रयता हव्यवाहनम् ॥ - वा० रा० सुन्दरकाण्ड ५३/२६,२७

अर्थ- "वे उस समय कपि का मंगल करती थीं, इसलिये विशालाक्षी सीता ने अग्नि की स्तुति की ।"

मंगलकामना के लिये अग्निपूजा की वैदिक रीति प्रसिद्ध है । अग्निहोत्र, होम, यज्ञ के साथ जो शुभ कर्म किये जाते हैं, वे सदा सत्परिणाम उपस्थित करते हैं । यज्ञों की महिमा असाधारण है । उनके द्वारा रोगमुक्ति, वर्षा, पुत्र-प्राप्ति तथा विविध कामनाओं की पूर्ति से लेकर आत्मशुद्धि तक होती है । दूसरों के मंगल-अमंगल का विधान भी अग्नि-पूजा द्वारा होना शक्य है ।

अग्नि जीवन-शक्ति को भी कहते हैं । जीवन-शक्ति की वृद्धि से मंगल का होना तो प्रत्यक्ष ही है । जिसमें पर्याप्त मात्रा में उष्णता है, तेजस्विता है उसका हर प्रकार से मंगल ही होगा । क्रियाशक्ति की मात्रा में वृद्धि होने से उनके कार्य सहज ही सफल और सुलभ हो जाते हैं ।

१६- हितं महार्थं मृदु हेतुसंहितं व्यतीतकालायतिसंप्रतिक्षमम् ।
निशम्य तद्वाक्यमुपस्थितज्वरः प्रसंगवानुत्तरमेतदब्रवीत् ॥- वा० रा० युद्धकाण्ड १०/२७

अर्थ- "तीनों कालों में हितकारी, सप्रमाण, कोमल और अर्थयुक्त विभीषण के वचन सुनकर रावण को बड़ा क्रोध आया और उसने कहा ।"

इन व्यक्तियों को इस बात से प्रयोजन नहीं रहता कि क्या उचित है, क्या अनुचित ? क्या कल्याणकर है, क्या अकल्याणकर ? उन्हें तो अपना अहंकार, अपना स्वार्थ सर्वोपरि प्रतीत होता है । उनकी जो अपनी सनक होती है, उसके अतिरिक्त और किसी बात को वे सुनना नहीं चाहते । रावण पर विभीषण के हितकारी, सप्रमाण, कोमल और अर्थयुक्त वचनों का भी कुछ अच्छा प्रभाव नहीं हुआ, वरन् उलटा कुपित होकर प्रत्युत्तर देने लगा ।

"अन्धे के आगे रोवे अपने नयना खोवे" की लोकोक्ति को इस श्लोक में नीति वचन के रूप में समझाया है । जो लोग मदोन्मत्त हो रहे हैं, वे दूसरों की उचित बात को भी नहीं समझते । उनको समझाने का रास्ता दूसरा है ।

१७- धर्मात्मा राक्षसश्रेष्ठः संप्राप्तोऽयं विभीषणः ।
लंकैश्वर्यमिदं श्रीमान्ध्रुवं प्राप्नोत्यकंटकम् ॥ - वा० रा० युद्धकाण्ड ४१/६८

अर्थ- "राक्षस-श्रेष्ठ, धर्मात्मा विभीषण आ रहे हैं, वे ही लंका के शत्रुहीन राज्य का उपयोग करेंगे ।"

शासक चाहे परिवार का हो, वैभवयुक्त हो, राज्य का हो, आमतौर से उसके विरोधी बहुत रहते हैं । परन्तु वे लोग इसके अपवाद रहते हैं, जो धर्मात्मा हैं, जिनका दृष्टिकोण निष्पक्ष है, जो न्याय को, उदारता को सर्वोपरि स्थान देते हैं, ऐसे मनुष्य उत्तरदायित्व, नेतृत्व, शासन और न्याय की बागडोर अपने हाथ में रखते हुए भी किसी के शत्रु नहीं बनते । विभीषण की भाँति न्यायपूर्ण दृष्टि रखकर हम सर्वप्रिय रह सकते हैं और उनके हृदयों पर शासन कर सकते हैं ।

१८- यो वज्रपाताशनिसंनिपातान्न चुक्षुभे नापि चचाल राजा।
स रामबाणाभिहतो भृशार्तश्चचाल चापं च मुमोच वीरः ॥ - वा० रा० युद्धकाण्ड ५९/१३९

अर्थ- "जो रावण वज्रपात तथा अग्नि के प्रहार से विचलित नहीं हुआ था, वह राम के बाणों से आहत होकर बहुत दु:खी हुआ और उसने बाण चलाये।"

जो लोग बड़े साहसी, लड़ाकू और योद्धा होते हैं, सांसारिक कठिनाइयों की कुछ परवाह नहीं करते। कठिन प्रहार सहन करके भी अपना पराक्रम प्रदर्शित करते हैं। उन वीर प्रकृति के लोगों को भी राम के बाणों से, अन्तरात्मा के शाप से व्यथित होना पड़ता है। कुचली हुई आत्मा जब क्रन्दन करती है, जीवन धन को बुरी तरह बर्बाद करने के लिये कुबुद्धि को शाप देती है, तो अन्तस्तल में हाहाकार मच जाता है। उस आत्म- प्रताड़ना से बड़े-बड़े पाषाण हृदय भी विचलित हो जाते हैं।

अपने बाहुबल से लोग कमजोरों को सताते हैं और उनको लूट कर, परास्त कर अपनी विजयश्री पर अभिमान करते हैं, छोटे-मोटे पराक्रमों पर उन्हें बड़ा ही अभिमान रहता है। पर जब पाप के दण्ड स्वरूप कोई दैवी प्रहार उन पर होता है, तो उनके होश गुम हो जाते हैं। अहंकारियों को याद रखना चाहिये कि उनसे भी बलवान् कोई सत्ता मौजूद है और उसके एक प्रहार में सारी अकड़ ढीली हो सकती है। कमजोर को सताया जा सकता है, पर कमजोर की हाय का मुकाबला करना कठिन है, वह बड़े-बड़ों की ऐंठ को सीधा कर देती है। इसलिये हमें ईश्वरीय कोप का और दैवी दण्ड का ध्यान रखते हुए, अपने आचरण को ठीक रखना चाहिये।

१९-यस्य विक्रममासाद्य राक्षसा निधनं गताः।
तं मन्ये राघवं वीरं नारायणमनामयम् ॥ - वा० रा० युद्धकाण्ड ७२/११

अर्थ- "जिसके पराक्रम से राक्षसों की मृत्यु हुई, उस अनामय वीर राम को धन्य है।"

उस वीर पुरुष का पराक्रम धन्य है, जो स्वयं निष्पाप रहता है और कषाय-कल्मषों को मार भगाता है। स्वार्थ के लिये बहुत लोग पराक्रम दिखाते हैं, पराक्रम करने के लोभ से अहंकारग्रस्त हो जाते हैं। ऐसा तो साधारण व्यक्तियों में भी देखा जाता है, पर धन्य वे हैं, जो अपने पराक्रम का उपयोग केवल असुरत्व विनाश के लिये करते हैं और उस पराक्रम का तनिक भी दुरुपयोग न करके अपने को जरा भी पाप-पंक में गिरने नहीं देते। पराक्रम और वीरता की यही श्रेष्ठता है।

२०- न ते ददृशिरे रामं दहन्तमपिवाहिनीम्।
मोहिताः परमास्त्रेण गान्धर्वेण महात्मना ॥ - वा० रा० युद्धकाण्ड ९३/२६

अर्थ- "महात्मा राम ने दिव्य गन्धर्वास्त्र के द्वारा राक्षसों को मोहित कर दिया था, इसी से वे सेना को नष्ट करने वाले राम को नहीं देख सकते थे।"

अज्ञानियों की बुद्धि ऐसी भ्रम विमोहिता होती है कि उन्हें यह सूझ नहीं पड़ता कि उनकी सेना का संहार कौन कर रहा है ? उन्हें कष्ट कौन दे रहा है ? उन्हें इसका कारण ज्ञात ही नहीं होता। समझते हैं कि हमारे शत्रु हमें हानि पहुँचा रहे हैं, पर असल बात यह है कि अपनी असत् प्रणाली ही फलित होकर विपत्ति का कारण बन जाती है। ईश्वरीय प्रक्रिया के द्वारा वे पाप ही कष्ट बन जाते हैं। अज्ञानी लोग कष्टों का कारण सांसारिक परिस्थितियों को समझते हैं, पर वस्तुत: स्थिति यह है कि उनका पाप ही उनका सबसे बड़ा शत्रु होता है। अदृश्य ईश्वर उन पापों को ही गन्धर्व बाण की तरह उन पर फेंकता है और उससे वे आहत होते हैं।

२१-प्रणम्य दैवतेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली।
बद्धांजलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः ॥ - वा० रा० युद्धकाण्ड ११६/२४

अर्थ- "देवता और ब्राह्मणों को प्रणाम करके सीता ने हाथ जोड़ कर अग्नि के समीप जाकर कहा।"

सच्ची आत्मायें किसी बात को प्रकट करने से पूर्व देव और ब्राह्मणों का श्रद्धापूर्वक ध्यान रखती हैं, अर्थात् वे यह सोचती हैं कि इस कथन के सम्बन्ध में श्रेष्ठ लोग क्या कहेंगे ? चाहे दुनिया भर के मूर्ख लोग किसी बात

को पसन्द करें, पर यदि थोड़े से देव और ब्राह्मण अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष उसे त्याज्य ठहराते हैं, तो वह कार्य सच्ची आत्माओं के लिये त्याज्य ही होगा।

दूसरे सतोगुणी अन्त:करण वाले व्यक्ति चाहे वैभव में कितने ही बड़े क्यों न हो जायें, ब्रह्म-कर्मा उच्च चरित्र वाले व्यक्तियों के लिये वे सदा ही झुकते हैं।

सीता ने अग्नि के समीप जाकर कहा। हमें जो कुछ कहना हो, तो अन्त:करण में निवास करने वाली ज्योति के समक्ष उपस्थित होकर कहना चाहिये। छल, कपट, असत्य की वाणी उन्हीं के मुख से निकलती है, जो ईश्वर से दूर रहते हैं। अग्नि के समीप जाकर, अन्त:ज्योति के समक्ष उपस्थित होकर यदि हम अपना मुख खोलें, वाणी से उच्चारण करें, तो सदा सत्य ही मुख से निकलेगा।

२२- चालनात्पर्वतस्यैव गणा देवस्य कम्पिता:।
चचाल पार्वती चापि तदाश्लिष्टा महेश्वरम्॥ - वा० रा० उत्तरकाण्ड १६/२६

"अर्थ- पर्वत के काँपने से शिवगण भी काँप गये और पार्वती भी महादेव से लिपट गयीं।"

आधार के विचलित हो जाने से ऊपर स्थित अन्य सब वस्तुयें भी विचलित हो जाती हैं। चाहे वे कितनी ही बड़ी क्यों न हों। भूकम्प आता है, तो पृथ्वी पर रखी हुई सब वस्तुयें डाँवाडोल हो जाती हैं।

मनुष्य अपने दृष्टिकोण को जैसा निर्धारित कर लेता है उसी के अनुसार उसे संसार की वस्तुयें, क्रियायें, घटनायें तथा परिस्थितियाँ भली या बुरी लगती हैं, पर यदि पूर्व दृष्टिकोण बदल जाए और उसके स्थान पर नये प्रकार से सोचने की प्रणाली प्राप्त हो जाए, तो पहली रुचि बदल जाने के कारण सब कुछ बदला मालूम देता है। आज कोई व्यक्ति एक दृष्टि को अपनाने के कारण घोर लोभी और कंजूस है, यदि उसे कल ही कोई नयी दृष्टि मिल जाए, तो वह उच्चकोटि का त्यागी हो सकता है। इसी प्रकार उल्टा परिवर्तन हो जाए— तो त्यागी से लोभी भी बना जा सकता है। तात्पर्य यह है कि जीवन-परिवर्तन का मुख्य कारण वह आधार है, जिस पर खड़े होकर मनुष्य सोचता-विचारता है और अपने स्वार्थ का निर्णय करता है।

संसार में जितने भी व्यक्तिगत या सामूहिक परिवर्तन होते हैं, उनका मूल कारण दृष्टिकोण का, आधार का परिवर्तन है। हम अपने को, अपने समाज को, जिस दिशा में परिवर्तित करना चाहते हैं, वैसा ही उसकी दृष्टि का, उसकी विचार-प्रणाली का, आधारशिला का परिवर्तन करना अनिवार्य है। पर्वत काँपने से शिव-पार्वती काँपे थे, अन्त: दृष्टि के काँपने से बाह्य जीवन का सारा महल काँप जाता है।

२३- दारा: पुत्रा: पुरं राष्ट्रं भोगाच्छादनभोजनम्।
सर्वमेवाविभक्तं नौ भविष्यति हरीश्वर॥ - वा० रा० उत्तरकाण्ड ३४/४१

अर्थ- "वानरराज ! स्त्री, पुत्र, नगर, राष्ट्र, भोग, वस्त्र, भोजन यह हमारी अविभक्त सम्पत्ति होगी।"

सम्पत्ति को, राष्ट्र को, समाज को, खाद्य-सामग्री को अविभक्त बताकर इस श्लोक में वर्तमान समाजवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ईश्वर प्रदत्त जितनी भी सामग्री इस संसार में है, उस पर मानव प्राणियों का समान रूप से अधिकार है। आवश्यकतानुकूल सभी को इन वस्तुओं के उपभोग का अधिकार होना चाहिये। इन्हीं सिद्धान्तों पर समाजवाद की सारी आधारशिला खड़ी की गयी है। सम्पत्ति को बाँटकर अपने व्यक्तिगत कब्जे में कर लेने का इस श्लोक में विरोध है और समाज तथा व्यक्ति दोनों के सम्मिलित होने का समर्थन है। यह श्लोक समाजवाद के सिद्धान्त का सूत्ररूप है।

२४-यामेव रात्रिं शत्रुघ्न: पर्णशालां समाविशत्।
तामेव रात्रिं सीतापि प्रासूत दारकद्वयम्॥ - वा० रा० उत्तरकाण्ड ६६/१

अर्थ- "जिस रात्रि में शत्रुघ्न वाल्मीकि आश्रम की पर्णशाला में गये, उसी रात्रि में सीता ने दो पुत्रों को उत्पन्न किया।"

जिस दिन शत्रु का नाश करने वाला प्रेम-लोभ के महलों को छोड़कर ऋषि भावना की प्रतीक त्यागरूपी पर्णशाला में पहुँचता है, उसी में आत्मा रूपी सीता, दो पुत्र उत्पन्न करती है। (१) लव अर्थात् ज्ञान, (२) कुश अर्थात् कर्म।

निःस्वार्थ- निर्मल प्रेम जब संसार भर में शत्रुता का भाव हटा देता है, सबको अपना समझकर सबके लिये सद्भाव धारण कर लेता है, तो उसका स्वाभाविक फलितार्थ यह होता है कि वह व्यक्ति भोग और संग्रह की वासनायें त्याग कर संयम और त्याग की नीति अपना लेता है। यही शत्रुघ्न का वाल्मीकि जी की पर्णशाला में पहुँचना है।

ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर आत्मा में सद्ज्ञान का प्रकाश होता है और वह सत्कार्य में प्रवृत्त रहती है। यही सीता का दो पुत्र प्रसव करना है। यही आत्मोन्नति की दो परम सिद्धावस्थाएँ हैं।

गायत्री रामायण के पिछले २४ श्लोकों में धर्म, नीति, समाज , स्वास्थ्य, अध्यात्म आदि के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है, रास्ता दिखाया गया है। इस अन्तिम श्लोक में यह बता दिया गया है कि उन पर आचरण करने से अन्तिम स्थिति में क्या परिणाम उपस्थित होता है ? अन्त में सीता के दो पुत्र उत्पन्न होते हैं, आत्मा की गोदी, सद्ज्ञान और सत्कर्म रूपी दो पुत्रों से भर जाती है। इन पुत्रों को पाकर सीता सब कष्टों को भूल गयी थी। आत्मा तपश्चर्या के सारे काय-क्लेशों को विस्मरण करके इन दो दिव्य-पुत्रों के आनन्द से आच्छादित हो जाती है, फिर उन पुत्रों के आनन्द का ठिकाना नहीं रहता। सद्ज्ञान और सत्कर्म जिसे प्राप्त होते हैं उसके दोनों हाथों में लड्डू हैं। उसके आनन्द की सीमा कौन निर्धारित कर सकता है। यह परमानन्द ही गायत्री की सिद्धि है।

इन २४ श्लोकों में महर्षि वाल्मीकि ने अपने अनुभव और ज्ञान का निचोड़ भर दिया है। उपर्युक्त पंक्तियों में उस रहस्य की ओर अंगुलि-निर्देश मात्र हुआ है। विज्ञ विचारक इन २४ सूत्रों में छिपे रहस्यों पर स्वतंत्र चिन्तन करेंगे, तो उन्हें बड़े-बड़े अद्भुत ज्ञान-रत्न इनमें छिपे हुए मिलेंगे।

गायत्री हृदयम्

इस 'गायत्री हृदय' को कई ग्रन्थों में गायत्री उपनिषद् भी बताया गया है। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान की - तत्त्वज्ञान की चर्चा होती है। आत्म-विवेचना और आत्म-तत्त्व की प्राप्ति का उसमें विवेचन किया जाता है। इसमें भी वे ही सब विषय हैं, इसलिये इसको उपनिषद् ठीक ही कहा गया है।

परन्तु 'गोपथ-ब्राह्मण' की कुछ कण्डिकाओं को लेकर भी एक उपनिषद् प्रचलित है। इस प्रकार एक ही नाम की दो पुस्तकें हो जाने से भ्रम में पड़ने की बहुत सम्भावना थी। इस असुविधा को ध्यान में रखते हुए इस उपनिषद् को कई प्राचीन ग्रन्थों ने 'गायत्री-हृदयम्' नाम दिया है।

हमने भी इसका अनुसरण किया है। इसे हम, 'गायत्री-हृदयम्' और गोपथ ब्राह्मण में वर्णित कण्डिकाओं का 'गायत्री-उपनिषद्' नाम से उल्लेख करेंगे। फिर भी यह 'गायत्री-हृदयम्' उपनिषद् ही है। इसमें बड़े महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की चर्चा की गयी है-

ॐ नमस्कृत्य भगवान् याज्ञवल्क्यः स्वयंभुवं परिपृच्छति। त्वं नो ब्रूहि ब्रह्मन् गायत्र्युत्पत्तिं-तुरीयां श्रोतुमिच्छामि। ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिं प्रकृतिं परिपृच्छामि ॥१ ॥

याज्ञवल्क्यजी ब्रह्माजी से पूछते हैं कि गायत्री की उत्पत्ति कैसे हुई यह सुनाइये ? यह सुनने की इच्छा उन्हें इसलिये हुई कि उस उत्पत्ति विज्ञान को जान लेने से ब्रह्म-ज्ञान की भी उत्पत्ति होती है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह हुआ कि गायत्री की उत्पत्ति का जो कारण है, वही कारण ब्रह्म-ज्ञान की उत्पत्ति का है। एक ही वस्तु के यह दो नाम हैं। इन दोनों में से एक को जान लेने से दूसरे की जानकारी स्वयमेव हो जाती है।

श्री भगवानुवाच -

प्रणवेन व्याहृतयः प्रवर्तन्ते तमसस्तु परं ज्योतिः। कः पुरुषः ? स्वयम्भूर्विष्णुरिति। अथ ताःस्वांगुल्या मथ्नाति। मथ्यमानात् फेनो भवति। फेनाद् बुद्बुदो भवति। बुद्बुदादण्डं भवति। अण्डात् आत्मा भवति। आत्मन आकाशो भवति। आकाशाद्वायुर्भवति। वायोरग्निर्भवति।

अग्नेरोङ्कारो भवति। ओंकाराद् व्याहृतिर्भवति। व्याहृत्या गायत्री भवति। गायत्र्याः सावित्री भवति। सावित्र्याः सरस्वती भवति। सरस्वत्या वेदाः भवन्ति। वेदेभ्यो ब्रह्मा भवति। ब्रह्मणो लोका भवन्ति। तस्माल्लोकाः प्रवर्तन्ते। चत्वारो वेदाः सांगाः सोपनिषदः सेतिहासास्ते सर्वे गायत्र्याः प्रवर्तन्ते। यथाग्निर्देवानां, ब्राह्मणो मनुष्याणां, मेरुः शिखरिणां, गंगा नदीनां, वसन्त ऋतूणां, ब्रह्मा प्रजापतीनां, एवमसौ मुख्यः। गायत्र्या गायत्रीछन्दो भवति॥२॥

भगवान् बताते हैं कि ॐकार और भूर्भुवः स्वः के साथ उस परम ज्योति का सम्बन्ध है, जो प्रकृति के सत् और रजोगुण का स्पर्श तो करती है, परन्तु तमोगुण से सर्वथा दूर है। प्रथम सतोगुण है, उसकी उपासना करने वालों में सतोगुणी प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं, साथ ही रजोगुणी वैभव भी मिलते हैं। जिनके हृदय में आत्म-ज्ञान, संयम, आदर्श, धर्म, सुकर्म, सेवा, उदारता, प्रेम एवं आत्मीयता के सात्त्विक भाव प्रस्तुत होते हैं, उनके बाह्य जीवन में यज्ञ, ऐश्वर्य, सुख, वैभव, प्रतिष्ठा, स्वस्थता आदि राजस समृद्धियों का होना स्वाभाविक है। प्रणव और व्याहृतियों का जोड़ा ऐसा ही है, जैसा आत्म-ज्ञान और सुख-शान्ति का जोड़ा। जहाँ यह दो बातें हैं, वहाँ दुःख, दारिद्र्य, क्लेश, असन्तोष, दीनता, क्रूरता, पाप, पतन का तम नहीं ठहर सकता। जहाँ प्रकाश की परम ज्योति मौजूद है, वहाँ बेचारा तम-अन्धकार अपना किस प्रकार अस्तित्व रख सकेगा ?

जिस ज्योतिर्मय पुरुष का-अखण्ड-ज्योति का ऊपर वर्णन है, वह कौन है ? वह अजन्मा परमात्मा है। परमात्मा प्रकाश स्वरूप है, जहाँ परमात्मा का निवास होगा वहाँ अज्ञान का, पाप का अन्धकार रह नहीं सकता। परमात्मा के भक्त का अन्तःकरण सदा ज्ञान-ज्योति से प्रकाशवान् रहता है।

सृष्टि का निर्माण किस प्रकार हुआ ? अब इस प्रश्न पर विचार किया जाता है। उस ज्योति पुरुष परमात्मा ने सबसे प्रथम जल की रचना की। उस जल का उँगलियों से मन्थन किया, जिससे फेन उत्पन्न हुआ, फेन से बबूले हुए, बबूलों से अण्ड, अण्ड से आत्मा, आत्मा से आकाश और आकाश से वायु उत्पन्न हुई। वायु के चलने से परमाणुओं में संघर्ष हुआ, जिसकी गर्मी से अग्नि पैदा हुई। अग्नि से ओंकार अर्थात् शब्द उत्पन्न हुआ। शब्द को आकाश भी कह सकते हैं। इस प्रकार ईश्वर की इच्छा से एक-एक करके पाँचों तत्त्व बने। जिस प्रकार स्थूल सृष्टि के पाँच तत्त्व हुए, उसी प्रकार सूक्ष्म चैतन्य के भी पाँच कोष बने।

जल कहते हैं रस को। रस का गुण है स्वाद, अनुभूति। सबसे पहले प्राणी का वह भाग बढ़ा, जिससे वह रसास्वादन करता है, जिससे अनुभूति होती है, रस आता है। यदि विविध प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म प्रकार के स्वादों का अनुभव करने की शक्ति न होती, तो उसकी चैतन्यता का विकास होना असम्भव था। सबसे प्रथम प्राणी-जल-परिधान- इस आवरण का बनाया गया, इसे ही आनन्दमय कोष कहते हैं।

इसका मन्थन किया गया। मन्थन से फेन उत्पन्न हुआ। फेन से बुद्बुदे पैदा हुए और बुद्बुदों से पार्थिव परमाणु बने अर्थात् इसकी अनुभूति से अपनी अभीष्ट वस्तु की खोज की, मन्थन हुआ, प्राप्त पदार्थ की इच्छा हुई, यह फेन कहलाया। इच्छा ने पदार्थों की कल्पना की, जिन्हें बुद्बुदा कहा गया। इस खोज और कल्पना के साथ जिस पार्थिव आवरण की रचना हुई, उसे चैतन्य सृष्टि में विज्ञानमय कोष कहा जाता है।

आकाश से वायु हुई। वायु का अर्थ है- गति। विज्ञानमय कोष की सूक्ष्मता को अधिक स्थूल और सफल बनाने के लिये गति की आवश्यकता होती है, यह गतिमय है। परमाणु से वायु बनी। विज्ञानमय कोष से मनोमय कोष बना।

वायु के संघर्ष से अग्नि उत्पन्न हुई, मन की घुड़दौड़ मची। सूक्ष्म को स्थूल में लाने के लिये, अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष में अनुभव करने के लिये ऐसी साधन सामग्रियों की, इन्द्रियों की आवश्यकता हुई, जिनके द्वारा प्रकृति के स्थूल परमाणुओं के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। इस आवश्यकता ने आविष्कार उत्पन्न कर दिया। एक उष्णता गुण वाला विकासोन्मुख क्रियाशील शरीर पैदा हुआ, जिसे सूक्ष्म शरीर या प्राणमय कोष कहते हैं। मन, बुद्धि, अहंकार के साथ-साथ दसों इन्द्रियाँ इस अग्नि गुण वाले प्राणमय कोष में विनिर्मित हुईं।

अग्नि से ओंकार 'शब्द' आकाश हुआ। यह ईश्वर का प्रत्यक्ष निवास स्थान ब्रह्माण्ड का बीज रूप पिण्ड

कहलाया। इसे ही स्थूल शरीर कहते हैं। यह अन्नमय कोष ध्यानावस्थित अवस्था में प्रकृति के अन्तराल में प्रतिक्षण होने वाले 'ॐ' ध्वनि के शब्द गुञ्जन को सुनता है, 'ॐ' इस पर प्रकट होता है। इसलिये इस शरीर को अन्नमय कोष (ओंकार) भी कहा है।

पञ्च-तत्त्व पञ्च-कोष बन जाने पर उसकी मर्यादा नियत की गयी। यह पञ्च-तत्त्व कहाँ तक काम करेंगे, यह पञ्च-कोष वाला शरीर, कितने क्षेत्र में अपनी गति-विधि जारी रखेगा, इस सीमा का निर्धारण भूः लोक, भुवः लोक, स्वः लोक है। शरीर भूः लोक है, मस्तिष्क भुवः लोक है, अन्तःकरण स्वः लोक है। आकाश, पाताल और पृथ्वी यह तीन स्थूल लोक कहे जाते हैं। साथ ही चैतन्य प्राणी के लिये तीन व्याहृतियाँ उन अपनत्व में भी निवास करती हैं। शरीर, मस्तिष्क और अन्तःकरण व्याहृतिमय हैं।

व्याहृति से गायत्री उत्पन्न हुई। तीन लोकों में काम करने वाली त्रिविध शक्तियाँ उत्पन्न हुईं। गायत्री कारण शक्ति, सावित्री सूक्ष्म शक्ति, सरस्वती स्थूल शक्ति। यह एक ही ईश्वरीय शक्ति जब भिन्न-भिन्न स्थितियों में होती है, तब भिन्न-भिन्न नामों से पुकारी जाती है। ज्ञान की स्थूल शक्ति का नाम वेद है। यह वेद-शक्ति ब्रह्मा के रूप में अवतीर्ण हुई। ब्रह्मा ने उस शक्ति को व्यवस्थित रूप देकर सर्वसाधारण के लिए उपयोगी, सुसम्पादित बनाकर चार भागों में विभक्त कर दिया।

उस ब्रह्मा ने वेदों के साथ लोक भी बनाये अर्थात् लोकों को वेद ज्ञान से सुसज्जित कर दिया। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चतुष्टय को भी ज्ञानमय बताया है। वेद के तथ्य का विस्तार उपनिषदों और इतिहास में भी है। यह सब भी गायत्रीमय है।

प्रत्येक जाति में, श्रेणी में जो विशेषता होती है, वह प्रशंसनीय होती है। उसी का वैभव होता है, उसी की महत्ता से उस वर्ग का गौरव होता है। देवताओं में अग्नि, मनुष्यों में ब्राह्मण, पर्वतों में सुमेरु, नदियों में गंगा, ऋतुओं में वसन्त, प्रजापतियों में ब्रह्मा श्रेष्ठ हैं, विशेष हैं, असाधरण हैं, महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण छन्दों में, सम्पूर्ण ज्ञानों में, सम्पूर्ण शक्तियों में गायत्री श्रेष्ठ है- विशेष है।

किं भूः ? किं भुवः ? किं स्वः ? किं महः ? किं जनः ? किं तपः ? किं सत्यं ? किं तत् ? किं सवितुः ? किं वरेण्यं ? किं भर्गः ? किं देवस्य ? किं धीमहि ? किं धियः ? किं यः ? किं नः ? किं प्रचोदयात् ?३ ॥

भूरिति भूर्लोको, भुव इत्यन्तरिक्षलोकः, स्वरिति स्वर्लोको, महरिति महर्लोको, जन इति जनो लोकः, तप इति तपो लोकः , सत्यमिति सत्यलोकः, भूर्भुवः स्वरिति त्रैलोक्यम् तदिति तेजो यत्तेजसोऽग्निर्देवता सवितुरित्यादित्यस्य वरेण्यमित्यन्नम् अन्नमेव प्रजापतिः। भर्ग इत्यापः, आपो वै भर्गः। यदापस्तत् सर्वा देवताः। देवस्य सवितुर्देवो वा यः पुरुषः स विष्णुः। धीमहीत्यैश्वर्यं, यदैश्वर्यं स प्राण इत्यध्यात्मं, तदध्यात्मम्। तत् परमं पदं, तन्महेश्वरः, धिय इति महीति। पृथिवी मही। यो नः प्रचोदयादिति कामः। काम इमान् लोकान् प्रच्यावयते। यो नृशंसः। योऽनृशंसोऽस्याः स परो धर्म इत्येषा वै गायत्री ॥४॥

गायत्री का प्रत्येक शब्द क्या है? इसे भलीभाँति समझने की आवश्यकता है। एक सपाटे में सबका विहंगावलोकन कर जाने से काम न चलेगा वरन् एक-एक शब्द पर गम्भीर दृष्टि डालकर उसके गर्भ में छिपे हुए अर्थ, रहस्य और सन्देश पर विचार करना होगा। यह बताने के लिये उपर्युक्त पंक्तियों में हर शब्द के लिये अलग-अलग प्रश्न करके यह प्रयत्न किया गया है कि हर पद के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार किया जाये।

गायत्री की सात व्याहृतियों को और उसके अन्य शब्दों को स्पष्ट किया गया है। उनका क्या तात्पर्य है ? यह इस प्रकार समझना चाहिये। भूः- पृथ्वी लोक। भुवः- आकाश लोक। स्वः- स्वर्ग लोक। महः- महलोक। जनः- जन लोक। तपः- तप लोक। सत्यं- सत्य लोक। तत्- अर्थात् तेज, तेज का तात्पर्य है अग्नि। सविता- अर्थात् सूर्य। वरेण्यं- अर्थात् अन्न, अन्न का तात्पर्य है- प्रजापालिनी शक्ति। भर्ग- अर्थात् आपः, आपः का तात्पर्य

है देव- शक्तियों का समूह । देवस्य- अर्थात् सविता देव, सविता देव पुरुष । इसका तात्पर्य है- विष्णु । धीमहि- अर्थात् ऐश्वर्य का ध्यान करते हैं । ऐश्वर्य का अर्थ है, प्राण, अध्यात्म, परम पद, महेश्वर । योन: प्रचोदयात्- अर्थात् काम, काम वह जिसके कारण लोक का संचालन होता है ।असत् अर्थात् बुरे कर्मों का संहार करने वाली कामना । नृशंस अर्थात् गर्हित है । जो कामनायें सत्कर्मों की प्रेरणा करती हैं, वह अनृशंस अर्थात् ग्राह्य हैं । इस प्रणाली का परिचालन करना गायत्री का विशेष धर्म है, यह गायत्री का स्वरूप है ।

भू:, भुव:, स्व:, मह:, जन:, तप: , सत्यम्- यह सात लोक हैं । सातों लोकों को बार-बार स्मरण करना इसलिये आवश्यक है कि मनुष्य अपनी समस्याओं, कठिनाइयों, स्वार्थों और लाभों की ओर देखते रहने की संकुचितता से ऊँचा उठकर विश्व ब्रह्माण्ड की ओर देखे, उसकी समस्याओं को अपनी समस्या समझते हुए, विश्व-मानव का एक घटक अपने को समझते हुए सोचे और उसी दृष्टि से काम करे ।

तत्, सविता, वरेण्यं, भर्ग, देव- इन पाँच शब्दों द्वारा तेज, उष्णता, अन्न, दिव्यता और परमात्मा- इन पाँच महान् आवश्यकताओं की ओर ध्यान केन्द्रित किया गया है । यह पाँचों पदार्थ जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं, इन्हें अधिकाधिक मात्रा में संचित करना आवश्यक है । तेजस्विता, प्रतिभा, शालीनता, पुरुषार्थ, पराक्रम-यह तत् शब्द के अंतर्गत हैं । उष्णता, स्फूर्ति, पाचन-शक्ति, नीरोगिता, सुदृढ़ता- यह सब सविता से सम्बन्धित हैं । अन्न, वस्त्र, दुधारू पशु, गृहिणी, सन्तति एवं अन्य समस्त जीवनोपयोगी वस्तुयें वरेण्यं शब्द के अंतर्गत हैं । दिव्यता अनेक सद्गुण, योग्यतायें, शक्तियाँ, सामर्थ्य भर्ग शब्द से सम्बन्धित हैं । गायत्री को पहचानने वाला इन पाँचों की आवश्यकता का अनुभव करता है और अपने पुरुषार्थ एवं दैवी सहायता से उन्हें प्राप्त करता है ।

'धीमहि' कहते हैं- ध्यान को । किसका ध्यान ? उस मंगलमय परमात्मा का ध्यान, जिसको हृदय में धारण कर लेने से- उसके नियमों पर चलने से सब प्रकार की सुख-शान्ति मिलती है । ऐश्वर्य, प्राण-शक्ति, आत्म-दर्शन तथा परम पद की प्राप्ति होती है । ईश्वर की यह धारणा ऐसी निश्चित होनी चाहिये जैसे कि पृथ्वी की धारणा होती है ।

'योन: प्रचोदयात्' में कामनाओं की ओर संकेत किया गया है । मनुष्य कामनाओं से बना हुआ है, बिना कामना के वह रह नहीं सकता । काम उसका स्वभाव है, क्योंकि कामना के कारण-इच्छा के कारण यह संसार चल रहा है, पर हमारी कामना नृशंस नहीं होनी चाहिये । स्वार्थ, लोलुपता, निर्दयता, भोग आदि की नृशंसता से बचते हुए ऐसे काम का सेवन करें, ऐसी कामनायें करें जो धर्ममूलक हों, सबके लिये श्रेयस्कर हों, यही गायत्री का स्वरूप है । इस लक्षण को स्थित करना, इस मार्ग पर चलना यही गायत्री की असाधारण उपासना है ।

किं गोत्रा ? कत्यक्षरा ? कति पादा ? कति कुक्षि: ? कति शीर्षा ?५ ।।

सांख्यायनगोत्रा, चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री, त्रिपदा, षट्कुक्षि:, पञ्च शीर्षा ।।६ ।।

केऽस्यास्त्रय: पादा भवन्ति ? का अस्या षट् कुक्षय: ? कानि च पञ्च शीर्षाणि ।।७ ।।

ऋग्वेदोऽस्या: प्रथम: पादो भवति, यजुर्वेदो द्वितीय:, सामवेदस्तृतीय: । पूर्वा दिक् प्रथमा कुक्षिर्भवति । दक्षिणा द्वितीया, पश्चिमा तृतीया, उत्तरा चतुर्थी, ऊर्ध्वा पञ्चमी, अधोऽस्या: षष्ठी । व्याकरणमस्या: प्रथमं शीर्षं भवति, शिक्षा द्वितीयं, कल्पस्तृतीयं, निरुक्तं चतुर्थं, ज्योतिषामयनमिति पञ्चमम् ।।८ ।।

किं लक्षणम् ? किं विचेष्टितं ? किमुदाहृतम् ? ।।९ ।।

लक्षणं मीमांसा, अथर्ववेदो विचेष्टितं, छन्दो विचितिरुदाहृतम् ।।१० ।।

को वर्ण: ? क: स्वर: ? श्वेतो वर्ण: षट् स्वरा: ।।११ ।।

अब प्रश्न यह उठता है कि गायत्री का गोत्र क्या होता है ? कितने अक्षर हैं ? कितने पाद हैं ? कितने कुक्षि हैं ? कितने शीर्ष हैं ? इनका उत्तर यह है कि गायत्री का सांख्यायन गोत्र है । आत्म-कल्याण के दो मार्ग हैं- एक योग, दूसरा सांख्य । गीता में इन दोनों को एक बताया है- **"सांख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:"** ।

योग कहते हैं अनासक्ति को, संसार के पदार्थों को त्याग कर- उनसे विमुख होकर आत्मा को प्राप्त करना यह योग मार्ग है । दूसरा मार्ग है, संसार के पदार्थों को उत्साहपूर्वक एकत्रित करना और उदारतापूर्वक उनका सन्मार्ग में व्यय करना । यह दूसरा मार्ग ही सांख्य मार्ग है । गायत्री को सांख्यायन अर्थात् सांख्य का घर कहा है । वह सांख्य, प्रधानता के साथ जीवन व्यतीत करने का संकेत करती है । यही गायत्री का गोत्र है ।

गायत्री में चौबीस अक्षर हैं, तीन पाद हैं, छ: कुक्षि हैं, पाँच शीर्ष हैं । अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यह तीन पाद क्या हैं ? छ: कुक्षियाँ क्या हैं ? पाँच शीर्ष क्या हैं ? बताते हैं कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद- यह तीन वेद उसके पाद हैं । इनके ऊपर गायत्री खड़ी होती है । ये वेद उसकी आधारशिला हैं, चौथा अथर्ववेद तो इस वेदत्रयी की व्याख्या मात्र है । छ: कुक्षियाँ छ: दिशायें हैं , पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अध:- इन छहों दिशाओं में अर्थात् सर्वत्र गायत्री- शक्ति व्याप्त है । वेद के षट् अंगों को शीर्ष कहा गया है । गायत्री का शरीर छन्द है, शेष पाँच वेदांग उसके शीर्ष हैं । गायत्री छन्द के अन्य पाँच वेदांग- व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष् सिर हैं- मस्तिष्क हैं । इन वेदांगों के अन्तर्गत जो महान् भावनायें सन्निहित हैं, उन्हें ही गायत्री का सिर अर्थात् मस्तिष्क समझना चाहिये । गायत्री शक्ति में वही भावना विद्यमान् है, जो वेदांगों में है ।

अब जानना है कि गायत्री का लक्षण क्या है ? चेष्टा क्या है ? उदाहरण क्या है ? बताते हैं कि मीमांसा लक्षण है, अथर्ववेद चेष्टा है और छन्द प्रतीक हैं । मीमांसा का अर्थ है - विचार । गायत्री का लक्षण विचार है, इस महाशक्ति का आविर्भाव हुआ है या नहीं, यह परीक्षा किसी मनुष्य के विचारों को देखकर की जा सकती है । जिसके अन्त:करण में गायत्री अवतीर्ण होगी, उसके विचारों में परिवर्तन दिखाई पड़ेगा । उसके विचार, विवेचना, निर्णय ऐसे होंगे , जो एक आत्म-शक्ति सम्पन्न व्यक्ति के गौरव के अनुकूल हों । वह गायत्री का लक्षण है, लक्षण को देखकर ही किसी वस्तु का अस्तित्व पहचाना जाता है । गायत्री की उपस्थिति का लक्षण साधक की उच्च विचार-धारा को ही समझना चाहिये ।

गायत्री की चेष्टा अथर्ववेद बताता है । अथर्ववेद में व्यावहारिक ज्ञान है । शिल्प-कला, रसायन, विज्ञान, चिकित्सा, काम-शास्त्र आदि व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली विद्याओं का वेद में वर्णन है । जहाँ गायत्री की स्थिति होगी, वहाँ अथर्व से सम्बन्ध रखने वाली चेष्टायें देखी जायेंगी । उद्योग, प्रयोग, उत्पादन, निर्माण, कला-कौशल, व्यवस्था, परिवर्तन, ग्रहण, विसर्जन आदि चेष्टायें प्रयत्न रूप में परिलक्षित होंगी । अभीष्ट की प्राप्ति के लिये जहाँ प्रचण्ड प्रयत्न हो रहा हो, समझना चाहिये कि गायत्री-शक्ति की चेष्टा है ।

गायत्री का उदाहरण है- छन्द । छन्द का अर्थ है- पदार्थ । लक्षण और चेष्टाओं के द्वारा विचार और कर्मों द्वारा नि:संदेह अभीष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं । उदाहरण कहते हैं- नमूने को । गायत्री की स्थिति कैसी होती है ? इसका उदाहरण उत्तमोत्तम पदार्थों और परिस्थितियों को दिखाकर बताया गया है कि जहाँ जाने या अनजाने में गायत्री की कृपा होगी, वहाँ का बाह्य वातावरण श्रेष्ठता से परिपूर्ण होगा ।

अब मालूम करना है कि गायत्री का वर्ण क्या है ? स्वर क्या है ? वर्ण श्वेत है । श्वेत-सतोगुण का, शुभ्रता का, उज्ज्वलता का, पवित्रता का प्रतीक है । स्वर छ: हैं- ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित । प्रत्येक स्वर का अपना-अपना विज्ञान एवं अपना महत्त्व है । शब्द की शक्ति अनन्त है, शब्दों द्वारा कम्पन होते हैं, उनके कारण सृष्टि में विविध प्रकार के वातावरण बनते हैं । यह छ: स्वर ही ध्यान के छ: भेद हैं, इन्हीं के द्वारा पंच-तत्त्वों और सूक्ष्म २४ तत्त्वों में गति संचार होता है । इसे गायत्री महाविज्ञान के तृतीय खण्ड में सविस्तार लिखा जायेगा । यहाँ तो इतना ही जान लेना चाहिये कि संसार की सम्पूर्ण गतिविधियों को प्रेरणा देने वाले सभी स्वर गायत्री में मौजूद हैं । जो उनका रहस्य जानता है, वह चाहे जिस राग की स्वर-लहरी बजा सकता है और मनचाहे परिणाम उपस्थित कर सकता है ।

पूर्वा भवति गायत्री, मध्यमा सावित्री, पश्चिमा सन्ध्या सरस्वती ।
रक्ता गायत्री, श्वेता सावित्री, कृष्णा सरस्वती ।।१२ ।।

प्रणवे नित्ययुक्ता स्याद् व्याहृतिषु च सप्तसु। सर्वेषामेव पापानां संकरे समुपस्थिते। शतसाहस्रमभ्यस्ता गायत्री पावनं महत् ॥१३ ॥

उषः काले रक्ता, मध्याह्ने श्वेताऽपराह्ने कृष्णा। पूर्व सन्धि ब्राह्मी, मध्य सन्धि माहेश्वरी, परा सन्धि वैष्णवी। हंसवाहिनी ब्राह्मी, वृषवाहिनी माहेश्वरी, गरुडवाहिनी वैष्णवी ॥१४ ॥

पूर्वाह्नकाले सन्ध्या गायत्री, कुमारी रक्तांगी रक्तवासास्त्रिनेत्रा पाशांकुशाक्षमाला कमंडलुकरा हंसारूढा ऋग्वेदसहिता, ब्रह्मदैवत्या भूर्लोक व्यवस्थितादित्यपथगामिनी ॥१५ ॥

मध्याह्नकाले सन्ध्या सावित्री युवती श्वेतांगी श्वेतवासास्त्रिनेत्रा पाशांकुशत्रिशूलडमरुहस्ता वृषभारूढा यजुर्वेदसहिता, रुद्रदैवत्या भुवर्लोक व्यवस्थितादित्यपथगामिनी ॥१६ ॥

सायाह्नकाले सन्ध्या सरस्वती वृद्धा कृष्णांगी, कृष्णवासास्त्रिनेत्रा शंख- गदा- चक्र- पद्महस्ता- गरुडारूढा सामवेद- सहिता विष्णु- दैवत्या स्वर्लोक व्यवस्थितादित्यपथगामिनी ॥१७ ॥

गायत्री को तीन नामों से पुकारा जाता है। आरम्भिक अवस्था में गायत्री, मध्य अवस्था में सावित्री और अन्त अवस्था में सरस्वती। प्रारम्भ, तरुणाई और परिपक्वता, इन तीन भेदों के कारण एक ही शक्ति के तीन नाम रखे गये हैं। गायत्री की आभा अरुण है, सावित्री की श्वेत और सरस्वती की कृष्ण वर्ण-धुँधली है। जैसे सूर्य श्वेत वर्ण है पर प्रातःकाल में उसकी आभा लाल, मध्याह्न की शुभ्र और सन्ध्या में धुँधली हो जाती है। उसी प्रकार साधना काल में साधक को अपनी स्थिति के अनुसार यह तीनों वर्ण ध्यानावस्था में परिलक्षित होते हैं। गायत्री सदा प्रणव युक्त है। उसका उच्चारण सदा ॐकार समेत होता है। यद्यपि साधारण साधना में और विवेचना में तीन ही व्याहृतियों का प्रयोग होता है, पर ब्रह्म विवेचना के लिए- उपनिषद् विज्ञान के लिये सात व्याहृतियों का प्रयोग होता है। यदि सब पापों का समूह इकट्ठा हो जाए, तो भी उनका नाश शत-सहस्र गायत्री का अभ्यास करने से हो जाता है। यों मोटे अर्थ में शत सहस्र, एक लाख को और अभ्यास, जप को कहते हैं; परन्तु इस सूत्र का सूक्ष्म रहस्य इस प्रकार है- शत कहते हैं - निश्चित भाव से, सहस्रार कहते हैं- सहस्रार में- ब्रह्मरन्ध्र में गायत्री की धारणा का अभ्यास करने से पाप दूर होते हैं। निश्चित विधि से षट् चक्रों का वेधन कर ब्रह्मरन्ध्र तक गायत्री को पहुँचाने की विधि "गायत्री महाविज्ञान" के प्रथम भाग में वर्णित है। उस साधना से साधक अग्नि में तपे हुए स्वर्ण की भाँति निष्पाप हो जाता है। "शत सहस्र अभ्यास" पद में उसी साधना की ओर संकेत है।

पूर्व सन्ध्या को- प्रातःकाल की सन्ध्या को ब्राह्मी कहते हैं। यह हंसवाहिनी, कुमारी, रक्त अंगवाली, रक्त वस्त्र वाली, तीन नेत्र वाली, पाश, अंकुश, जप माला और कमण्डलु धारण करने वाली, ऋग्वेद सहित, ब्रह्म दैवत्या, भूः लोक में रहने वाली और सूर्य पथ से गमन करने वाली है।

आइए, उपर्युक्त आलंकारिक वर्णन के गूढ़ रहस्य पर विचार करें। प्रातःकाल का समय ब्रह्म-मुहूर्त का कहलाता है। उस समय ब्रह्म-तत्त्व की विशेषता रहने के कारण गायत्री को ब्राह्मी कहते हैं। हंस कहते हैं प्राण को। हंसारूढ़ अर्थात् प्राण पर छायी हुई। ब्राह्मी गायत्री प्राण पर अपना विशेष प्रभाव प्रकट करती है। कुमारी का अर्थ है- बाल्य-वृत्तियों से-चंचलता से युक्त। रक्त, गतिशीलता का-विकास विद्युत् का प्रतीक है। प्रातःकालीन गायत्री में गतिशीलता का- विकास विद्युत् के संचार का गुण है, यही उसका रक्तांगी और रक्तवस्त्रा होना है। त्रिनयनी-तीन दृष्टियों वाली, तीनों लोकों को दृष्टि में रखने वाली, शरीर, मस्तिष्क और अन्तःकरण को देखने वाली है। तीनों ओर दृष्टि रखती है, इसलिये उसे त्रिनयनी कहते हैं। पाश- अर्थात् बन्धन, अंकुश- अर्थात् नियन्त्रण, अक्षमाला- शब्द मातृकाएँ, कमण्डलु- अर्थात् धारणा, ऋग्वेद- अर्थात् ज्ञान, ब्रह्मदैवत्या- अर्थात् ब्रह्म की देव शक्ति। इन सब लक्षणों, गुणों और साधनों से सम्पन्न होने के कारण प्रातःकाल की गायत्री अपने साधक पर इन सब उपचारों का प्रयोग करती है। वह इन सब साधनों से ब्राह्मी गायत्री द्वारा तपाया जाता है और ब्रह्मभूत बनाया जाता है। ब्रह्म गायत्री भूर्लोक निवासिनी है। उसका इस भूर्लोक के प्राणियों द्वारा विशेष उपयोग होता है। भूः

लोक शरीर को भी कहते हैं, ब्राह्मी शरीर को स्वस्थ रखती है । वह सूर्य गामिनी है । जिस प्रकार सूर्य की तेजस्वी किरणें मनुष्य को विशेष रूप से प्रभावित करती हैं, वैसे ही गायत्री की शक्तियाँ भी काम करती हैं । सूर्य की किरणों और प्रातः गायत्री की शक्तियों की कार्य-विधि में बहुत कुछ समता है ।

अब मध्याह्न गायत्री के लक्षण देखिये । वह सावित्री नाम वाली युवती, श्वेतांगी, श्वेत वस्त्रा, त्रिनयना, पाश, अंकुश, त्रिशूल, डमरू लिये हुए है । वृषभ पर आरूढ़ है । यजुर्वेद सहित, रुद्र दैवत्या, भुवः लोक अवस्थित, सूर्य पथगामिनी है । इनमें से कुछ बातें तो ब्राह्मी के समान हैं- त्रिनयना, पाश, अंकुश, सूर्य पथगामिनी, इन चारों बातों की विवेचना पहले की जा चुकी है । अब शेष लक्षणों पर प्रकाश डालते हैं- युवती अर्थात् प्रौढ़, विकसित, परिपुष्ट, स्थिर, सुदृढ़ । श्वेत वर्ण अर्थात् प्रकाशवती, विस्तृत फैली हुई आलोकमय । परिपुष्ट होकर अपनी पूर्णावस्था के तेज से झिलमिलाती हुई गायत्री को श्वेत वर्ण, श्वेतवस्त्रा कहा है । सविता सूर्य के समान तेजस्वी होने से उनका सावित्री नाम है । त्रिशूल कहते हैं तीन दुःखों को- अज्ञान, अभाव और अशक्ति इन तीनों को वह अपने हाथ में, अपनी मुट्ठी में लिये हुए है- अर्थात् यह तीनों शूल उसके नियंत्रण में हैं । डमरू- ध्वनि का - वाणी का प्रतीक है । वृषभ धर्म का प्रतीक है । तरुण सावित्री धर्म पर आरूढ़ है । यजुर्वेद कर्मकाण्ड का प्रतीक है । वह कर्म की प्रेरणा करता है । रुद्र दैवत्या- अर्थात् भयंकर, उग्र, दिव्य शक्तियों वाली । भुवः लोक में निवास करने वाली, भुवः कहते हैं मानस लोक को । मस्तिष्क, विचार, तर्क, बुद्धि, सूझबूझ को परिमार्जित बनाने वाली है ।

अब सन्ध्याकाल की गायत्री के लक्षण देखिये । वह सावित्री के नाम वाली वृद्धा, कृष्णांगी, कृष्णवस्त्रा, तीन नेत्र वाली, शंख, चक्र, गदा, पद्म हाथ में लिये हुए, गरुड़ पर आरूढ़-सामवेद सहित, विष्णु दैवत्या, स्वःलोकनिवासिनी, सूर्यपथगामिनी है । सूर्य पथगामिनी और त्रिनयनी का वर्णन पहले हो चुका है । इसलिये इन दो लक्षणों को छोड़कर अन्य लक्षणों पर विचार करेंगे । स + रस् + वती = सरस्वती । सरसता वाली, संगीत, कला, कवित्व तथा अन्य स्थूल सूक्ष्म रसों की निर्झरिणी होने के कारण परिपक्व- सन्ध्याकालीन गायत्री को सरस्वती कहा है । वृद्धा का अर्थ है - परिपक्व, पूर्ण विकसित, विकास की अंतिम मर्यादा तक पहुँची हुई है । कृष्ण वर्ण- धुँधलापन-मिश्रण का द्योतक है । ब्रह्म और प्रकृति के उभय रूपों का मिश्रण काला होता है । पारा श्वेत है, गन्धक पीली है, इसी प्रकार ब्रह्म शुभ्र है, प्रकृति पीत है, दोनों के मिश्रण से काला रंग बनता है । भगवान् राम और कृष्ण के काला होने का यही कारण था । सन्ध्याकालीन गायत्री में ब्रह्म और प्रकृति का सम्मिश्रण होने से वह कृष्ण वर्ण वाली, कृष्ण वस्त्र वाली कहलाती है । सरस्वती के हाथ में चार पदार्थ हैं । शंख अर्थात् वाणी, चक्र अर्थात् तेज, गदा- अर्थात् विनाश, पद्म अर्थात् वैभव । इन चारों शक्तियों पर सरस्वती का आधिपत्य है । गरुड़ कहते हैं- क्रिया को, गतिशीलता को । सरस्वती का क्षेत्र विचार तक ही सीमित नहीं है वरन् वह क्रियाशील भी है । सामवेद, संगीत का- बाह्य गायन का प्रतीक है । विष्णु की सेविका दिव्य शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने के कारण वह विष्णु दैवत्या कहलाती है । स्वःलोक कहते हैं- हृदय को- अन्तःकरण को । सरस्वती वीणा के तारों को झंकृत करती है- अन्तःकरण में विवेक जाग्रत् करती है ।

ऊपर ब्राह्मी , सावित्री और सरस्वती का विवेचन किया गया है । अविकसित, विकसित और परिपुष्ट इन भेदों से तीन रूप कहे गये हैं । इनको प्रातः, मध्याह्न , सन्ध्या इन तीन कालों में भी विभक्त कर दिया गया है । इन तीन भेदों में से साधक को अपने लिये जिस शक्ति की उपयोगिता दृष्टिगोचर होती हो, उसे साधना के लिये चुन लेना चाहिये ।

कान्यक्षर दैवतानि भवन्ति ? ॥१८॥

प्रथममाग्नेयं , द्वितीयं प्राजापत्यं तृतीयं सौम्यं, चतुर्थमैशानं, पञ्चमादित्यं, षष्ठं बार्हस्पत्यं, सप्तमं भगदैवत्यम्, अष्टमं पितृदैवत्यं नवममर्यमणं, दशमं सावित्रं, एकादशं त्वाष्ट्रं, द्वादशं पौष्णं, त्रयोदशमैन्द्राग्नं , चतुर्दशं वायव्यं, पञ्चदशं वामदेव्यं, षोडशं मैत्रावरुणं, सप्तदशं वाभ्रव्यं, अष्टादशं वैश्वदेव्यम्, एकोनविंशतिकं वैष्णव्यं, विंशतिकं वासवम्, एकविंशतिकं

तौषितं, द्वाविंशतिकं कौबेरं, त्रयोविंशतिकं आश्विनं, चतुर्विंशतिकं ब्राह्मं इत्यक्षरदैवतानि भवन्ति ॥१९ ॥

गायत्री के चौबीस अक्षरों के देवता कौन-कौन हैं ? इसका उत्तर देते हुए बताते हैं कि 'तत्' का देवता अग्नि, 'स' का प्रजापति, 'वि' का सोम, -'तुः' का ईशान, 'य' का आदित्य, 'रे' का बृहस्पति, 'णि' का भग, 'यम्' का पितृ, 'भ' का अर्यमा, 'गो' का सविता, 'दे' का त्वष्टा, 'व' का पूषा, 'स्य' का इन्द्र और अग्नि, 'धी' का वायु, 'म' का वामदेव, 'हि' का मित्र और वरुण, 'धि' का वभ्रु, 'यो' का विश्वदेव, 'यो' का विष्णु, 'नः' का वसु, 'प्र' का तुषित, 'चो' का कुबेर, 'द' का अश्विनी कुमार और 'यात्' का ब्रह्मा देवता है ।

ये देवता प्रत्येक अक्षर की शक्तियाँ हैं । इन शक्तियों का गायत्री के चौबीस अक्षर प्रतिनिधित्व करते हैं । इस महामन्त्र के साथ उन शक्तियों का साधना में आविर्भाव होता है ।

द्यौ मूर्ध्निसंगतास्ते, ललाटे रुद्रः, भ्रुवोर्मेघः चक्षुषोश्चन्द्रादित्यौ, कर्णयोः शुक्रबृहस्पती नासिके वायुदैवत्ये दन्तौष्ठावुभयसन्ध्ये, मुखमग्निः, जिह्वा सरस्वती, ग्रीवासाध्यानुगृहीतिः, स्तनयोर्वसवः , बाह्वोर्मरुतः, हृदयं पर्जन्यमाकाशमुदरं, नाभिरंतरिक्षं कट्योरिन्द्राग्नी, जघनं प्राजापत्यं, कैलासमलयावूरू, विश्वेदेवा जानुनी, जह्नु-कुशिकौ जंघाद्वयं, खुराः पितराः , पादौ वनस्पतयः अंगुलयो रोमाणि, नखाश्च मुहूर्त्तास्तेऽपि ग्रहाः केतुर्मासा ऋतवः सन्ध्याकालस्तथाच्छादनं सम्वत्सरो निमिषमहोरात्र आदित्यश्चन्द्रमाः ॥२० ॥

गायत्री को यदि एक मनुष्याकृति देवी माना जाए, तो उसके अंग-प्रत्यंगों में विविध देव-शक्तियों की स्थापना माननी होगी । गायत्री का ध्यान जब मनुष्याकृति देवी रूप में करते हैं, तो उसके दिव्य होने की धारणा की जाती है । गायत्री के अंग-प्रत्यंगों में जो शक्तियाँ निवास करती हैं, उनका ध्यान भी साधक को करना होता है । जब साधक अपने को गायत्री-शक्ति से ओत-प्रोत अनुभव करे, तब भी उसे ऐसा ही ज्ञान होना चाहिये कि मैं स्वयं उन शक्तियों से ओत-प्रोत हो रहा हूँ । मेरे अंग-प्रत्यंगों में वे ही देवतागण समाये हुए हैं, जो गायत्री के अंगों में हैं । इस भावना के कारण साधक अपने उपास्य देव की जाति में आ जाता है । कहा है कि - "देव बनकर देवता की उपासना करनी चाहिये ।" देव शक्तियाँ हमारे अंग-प्रत्यंगों में विराजमान हैं, यह भावना आत्म-श्रेष्ठता का संचार करती है और आत्म-स्थिति को देव- उपासना के योग्य बनाती है । अब गायत्री के अंगों में देव-शक्तियों की स्थापना का वर्णन देखिये ।

गायत्री के मस्तक में स्वर्ण, ललाट में रुद्र, भौंहों में मेघ, दोनों नेत्रों में चन्द्र-सूर्य, दोनों कानों में शुक्र और बृहस्पति, दोनों नथुनों में वायु, दन्त और ओष्ठों में दोनों सन्ध्याएँ, मुख में अग्नि, जिह्वा में सरस्वती, ग्रीवा में साध्य-गण, स्तनों में वसु-गण, दोनों भुजाओं में मरुद्गण, हृदय में पर्जन्य, उदर में आकाश, कटि में इन्द्राग्नि , जघन में प्रजापति, उरु में कैलाश और मलय पर्वत, जंघा में जह्नु और कुशिक, तलवों में पितृ-गण, चरण में वनस्पति-गण, अंगुलियों , रोम और नखों में मुहूर्त, ग्रह, धूमकेतु, मास, ऋतु और सन्ध्याएँ, आच्छादन, सम्वत्सर, वर्ष, दिन-रात्रि, सूर्य और चन्द्र गायत्री के निमेष हैं ।

सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम् । सहस्रनेत्रां गायत्रीं शरणमहं प्रपद्ये ॥२१ ॥

ॐ तत्सवितुर्वरेण्याय नमः । ॐ तत् पूर्व जयाय नमः । ॐ तत् प्रातरादित्य प्रतिष्ठाय नमः ॥२२ ॥

सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति । तत् सायं प्रातरधीयानो ऽपापो भवति ॥२३ ॥

य इदं गायत्रीहृदयं ब्राह्मणः पठेत् अपेयपानात् पूतो भवति । अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति । अज्ञानात् पूतो भवति । स्वर्ण स्तेयात् पूतो भवति । गुरु तल्पगमनात् पूतो भवति । अपंक्ति

पावनात् पूतो भवति। ब्रह्महत्यायाः पूतो भवति। अब्रह्मचारी ब्रह्मचारी भवति। इत्यनेन हृदयेनाधीतेन क्रतु सहस्त्रेणेष्टो भवति। षष्टि शतसहस्त्राणि जप्यानि फलानि भवन्ति अष्टौ ब्राह्मणान् सम्यग् ग्राहयेदर्थसिद्धिर्भवति ।।२४ ।।

य इदं नित्यमधीयानो ब्राह्मणः प्रयतः शुचिः सर्वपापैः प्रमुच्यते इति। ब्रह्मलोके महीयते इत्याह भगवान् याज्ञवल्क्यः ।।२५ ।।

।। इति "गायत्री हृदयम्" सम्पूर्णम् ।।

गायत्री का एक हजार जप करना नित्य श्रेष्ठ है । इतना न हो सके तो मध्यम रूप से सौ जप भी किये जा सकते हैं । अन्ततः इतना भी न हो सके, तो कम से कम दस बार तो अवश्य ही करना चाहिये । गायत्री सहस्त्र नेत्र वाली है, उसकी हजारों आँखें हैं, वह सर्वत्र सब कुछ देखती है, उससे कुछ भी छिपा हुआ नहीं है । ऐसी सर्वत्रदर्शी ईश्वरीय शक्ति को सर्व-व्यापक समझकर अपने विचार और कार्य ऐसे रखने चाहिये, जो दिव्य हों, माता की दृष्टि में उचित, उत्तम, धर्ममय जँचें । अपने उद्देश्य, आचरण और व्यवहार को श्रेष्ठ रखना ही गायत्री की भक्ति है । सच्चा साधक वह है , जो भक्तिपूर्वक वेदमाता की शरण में जाता है ।

'ॐ तत् सवितुर्वरेण्यं' इत्यादि पदों वाले मंत्रों को नमस्कार है, जिनके द्वारा माता का साक्षात्कार होता है । ॐ तत् आदि शब्दों के साथ किये हुए पूर्व जप को नमस्कार है, क्योंकि उस जप के द्वारा आत्म-ब्रह्म की प्राप्ति होती है । ॐ तत् सहित भगवान् आदित्य को नमस्कार है, क्योंकि उनके प्रकाश और प्रेरणा से पथ में प्रगति होती है ।

सायंकाल में गायत्री का पाठ करने से, दिन में किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं । प्रातः पाठ करने से रात्रि में किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं । सायं-प्रातः दोनों पाठ करने से पापी भी निष्पाप हो जाते हैं । मद्यादि पीने, अभक्ष्य खाने, अज्ञान में डूबे रहने, चोरी करने, व्यभिचार, ब्रह्महत्या, दुराचार आदि पापों से छुटकारा मिल जाता है, ऐसा भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है ।

पाठ के द्वारा निष्पाप हो जाने का रहस्य यह है कि श्रद्धा और विश्वासपूर्वक इन महान् ब्रह्मविद्या का विवेचन, चिन्तन, मनन करने के कारण विवेक की जागृति होती है । मनुष्य को पाप की निरर्थकता और पुण्य की सार्थकता समझ में आ जाती है । फलस्वरूप वह कुमार्ग से विरत होकर सन्मार्ग पर चलना अपनी नीति बनाता है । अन्तःकरण में धँसे हुए अज्ञानान्धकार को बहिष्कृत करके ज्ञान का प्रकाश धारण करता है । पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित्त करता है और भविष्य में उन्हें न करने की प्रतिज्ञा करता है । ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाने पर नये पाप हो जाना बन्द हो जाता है, पुराने प्रारब्ध बने हुए पाप धीरे-धीरे भुगतते जाते हैं, इस प्रकार वह थोड़े ही दिनों में निष्पाप बन जाता है । कुबुद्धि का परित्याग और सद्बुद्धि की धारणा ही पाप-नाश का वास्तविक कारण है । परन्तु वह कारण यदि इस ब्रह्मज्ञान के पाठ, चिन्तन, मनन से उत्पन्न हुआ है, तो उसका श्रेय इस पाठ या मनन को ही दिया जायेगा । इसलिये पाठ द्वारा पाप-निवृत्ति का वर्णन किया जाता है ।

'गायत्री-हृदय' में जो विस्तृत तत्त्व-ज्ञान भरा पड़ा है, उसको भली प्रकार हृदयंगम कर लेने से आत्मा में उतना ही प्रकाश हो जाता है, उतनी ही आत्म- शुद्धि हो जाती है, जितनी कि साठ लाख गायत्री जप करने से । इस 'गायत्री-हृदय' में वर्णित तत्त्वज्ञान को आत्मसात् कर लेने का पुण्य-फल इतना अधिक है कि इसकी तुलना और किसी कार्य से नहीं की जा सकती ।

गायत्री पञ्जरम्

किसी वस्तु के सम्बन्ध में विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी कोई मूर्ति हमारे मनःक्षेत्र में हो । बिना कोई प्रतिमूर्ति बनाये मन के लिये किसी भी विषय में कुछ सोचना असम्भव है । मन की प्रक्रिया ही यह है कि पहले वह किसी वस्तु का आकार निर्धारित कर लेता है, तब उसके बारे में कल्पना-शक्ति काम करती

है। समुद्र भले ही किसी ने न देखा हो, पर जब समुद्र के बारे में कुछ सोच-विचार किया जायेगा, तब एक बड़े जलाशय की प्रतिमूर्ति मनःक्षेत्र में अवश्य रहेगी। भाषा विज्ञान का यही आधार है। प्रत्येक शब्द के पीछे एक आकृति रहती है। 'कुत्ता' शब्द जानना तभी सार्थक है, जब 'कुत्ता' शब्द उच्चारण करते ही एक प्राणी विशेष की आकृति सामने आ जाये। न जानी हुई विदेशी भाषा कोई हमारे सामने बोले, तो उसके शब्द कान में पड़ते हैं, पर वे शब्द चिड़ियों के चहचहाने की तरह निरर्थक जान पड़ते हैं। कोई भाव मन में उदय नहीं होता। कारण यही है कि उस शब्द के पीछे रहने वाली आकृति का हमें पता नहीं होता। जब तक आकृति सामने न आए, तब तक मन के लिये असम्भव है कि उस सम्बन्ध में कोई सोच-विचार करे।

ईश्वर या ईश्वरीय शक्तियों के बारे में यही बात है। चाहे उन्हें सूक्ष्म माना जाए या स्थूल, निराकार माना जाए या साकार, इन दार्शनिक और वैज्ञानिक झमेलों में पड़ने से मन का कोई प्रयोजन नहीं। उससे यदि इस दिशा में कोई सोच-विचार का काम लेना है, तो कोई न कोई आकृति बनाकर उसके सामने उपस्थित करनी पड़ेगी, अन्यथा वह ईश्वर या उसकी शक्ति के बारे में कुछ भी नहीं सोच सकेगा। जो लोग ईश्वर को निराकार मानते हैं, वे भी 'निराकार' का कोई न कोई आकार बनाते हैं। आकाश जैसा निराकार, प्रकाश जैसा तेजोमय, अग्नि जैसा व्यापक, परमाणुओं जैसा अदृश्य। आखिर कोई न कोई आधार उस निराकार का भी स्थापित करना ही होगा। जब तक आकार की स्थापना न होगी, मन, बुद्धि और चित्त से उसका कुछ भी सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकेगा।

इस महा सत्य को ध्यान में रखते हुए निराकार, अचिन्त्य, बुद्धि से अगम्य, वाणी से अतीत परमात्मा का मन से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये भारतीय आचार्यों ने ईश्वर की आकृतियाँ स्थापित की हैं। इष्टदेवों के ध्यान की सुन्दर, दिव्य आकृति की प्रतिमायें गढ़ी हैं। उनके साथ दिव्य आयुध, दिव्य वाहन, दिव्य गुण, दिव्य स्वभाव एवं शक्तियों का सम्बन्ध किया गया है। ऐसी आकृतियों का भक्तिपूर्वक ध्यान करने से साधक उनके साथ एकीभूत होता है, दूध और पानी की तरह साध्य और साधक का मिलन होता है। भृंगी झींगुर को पकड़ ले जाती है और उसके सामने भिनभिनाती है, झींगुर उस गुञ्जन को सुनता है और इतना तन्मय हो जाता है कि उसकी आकृति तक बदल जाती है और वह झींगुर भृंगी बन जाता है। दिव्य कर्म स्वभाव वाली देवाकृति का ध्यान करते रहने से साधक में भी उन्हीं दिव्य शक्तियों का आविर्भाव होता है। जैसे रेडियो यन्त्र को माध्यम बनाकर सूक्ष्म आकाश में उड़ती फिरने वाली विविध ध्वनियों को सुना जा सकता है, उसी प्रकार ध्यान में देवमूर्ति की कल्पना करना एक आध्यात्मिक रेडियो स्थापित करना है, जिसके माध्यम से सूक्ष्म जगत् में विचरण करने वाली विविध ईश्वरीय शक्तियों को साधक पकड़ सकता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार अनेक इष्टदेवों की अनेक आकृतियाँ साधकों को ध्यान करने के लिये बनाई गयी हैं। इन देव आकृतियों का स्वतंत्र विज्ञान है। अमुक देवता की अमुक प्रकार की आकृति क्यों रखी गयी है ? इसका एक क्रमबद्ध रहस्य है। उसकी चर्चा तो स्वतन्त्र पुस्तक में करेंगे, यहाँ तो इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि अमुक प्रयोजन के लिये अमुक ईश्वरीय शक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये जो आकृति योगी लोगों को ठीक सिद्ध हुई है, वही आकृति उस देवता की घोषित कर दी गयी है।

जहाँ अन्य प्रयोजनों के लिये अन्य देवाकृतियाँ हैं, वहाँ इस विश्व-ब्रह्माण्ड को ईश्वरमय देखने के लिये 'विराट् रूप' परमेश्वर की प्रतिमूर्ति विनिर्मित की गयी है। मनुष्य की सारी आत्मोन्नति और सुख-शान्ति इस बात पर निर्भर है कि उसका आन्तरिक और बाह्य जीवन पवित्र एवं निष्पाप हो, समस्त प्रकार के क्लेश, दुःख, अभाव एवं विक्षोभों के कारण मनुष्य के शारीरिक एवं मानसिक पाप हैं। यदि वह इन पापों से बचता जाता है, तो फिर और कोई कारण ऐसा नहीं, जो इसकी ईश्वर प्रदत्त अनन्त सुख-शान्ति में बाधा डाल सके। पापों से बचने के लिये ईश्वरीय भय की आवश्यकता होती है। ईश्वर सर्वत्र व्यापक है, इस बात को जानते तो सब हैं, पर अनुभव बहुत कम लोग करते हैं। जो मनुष्य यह अनुभव करेगा कि ईश्वर मेरे चारों ओर छाया हुआ है और वह पाप का दण्ड अवश्य देता है- जिसको यह भावना अनुभव में आने लगेगी, वह पाप नहीं कर सकेगा। जिस चोर के चारों ओर सशस्त्र पुलिस घेरा डाले खड़ी हो और हर तरफ से उस पर आँखें गड़ी हुई हों, वह ऐसी दशा में भला किस प्रकार चोरी करने का साहस करेगा ?

परमात्मा की आकृति चराचरमय ब्रह्माण्ड में देखना ऐसी साधना है, जिसके द्वारा सर्वत्र परमात्मा अनुभव करने की चेतना जाग्रत् हो जाती है। यही विश्व मानव की पूजा है, इसे ही विराट् दर्शन कहते हैं। रामायण में भगवान् राम ने अपने जन्म-काल में कौशल्या को विराट् रूप दिखाया था। एक बार भोजन करते समय भी राम ने माता को विराट् रूप दिखलाया था। उत्तरकाण्ड में काकभुशुण्डि जी के सम्बन्ध में वर्णन है कि वे एक बार भगवान् के मुख में चले गये, तो वहाँ सारे ब्रह्माण्ड को देखा। भगवान् कृष्ण ने भी इसी प्रकार कई बार अपने विराट् रूप दिखाये। मिट्टी खाने के अपराध में मुँह खुलवाते समय यशोदा को विराट् रूप दिखाया, महाभारत के उद्योग पर्व में दुर्योधन ने भी ऐसा ही रूप देखा। अर्जुन को भगवान् ने युद्ध के समय में विराट् रूप दिखलाया, जिसका गीता के ११वें अध्याय में सविस्तार वर्णन किया गया है।

इस विराट् रूप को देखना हर किसी के लिये सम्भव है। अखिल विश्व ब्रह्माण्ड को परमात्मा की विशालकाय मूर्ति देखना और उसके अन्तर्गत-उसके अंग-प्रत्यंगों के रूप में समस्त पदार्थों को देखने, प्रत्येक स्थान को ईश्वर से ओत-प्रोत देखने की भावना करने से भगवद् बुद्धि जाग्रत् होती है और सर्वत्र प्रभु की सत्ता के व्याप्त होने का सुदृढ़ विश्वास होने से मनुष्य पाप से छूट जाता है। फिर उससे पाप कर्म नहीं बन सकते। निष्पाप होना इतना बड़ा लाभ है कि उसके फलस्वरूप सब प्रकार के दु:खों से छुटकारा मिल जाता है। अन्धकार के अभाव का नाम है- प्रकाश और दु:ख के अभाव का नाम है- आनन्द। विराट् दर्शन के फलस्वरूप निष्पाप हुआ व्यक्ति, सदा अक्षय आनन्द का उपभोग करता है।

गायत्री परमात्मा की शक्ति है। परमात्मा की शक्ति सर्वत्र, अणु-अणु में, विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। जो कुछ है गायत्रीमय है। गायत्री के शरीर में ही यह जगत् है, यह भावना 'गायत्री का विराट् रूप दर्शन' कहलाती है। नीचे दिये हुए "गायत्री पञ्जर स्तोत्र" में यही विराट् दर्शन है। पञ्जर कहते हैं ढाँचे को। गायत्री का ढाँचा, सम्पूर्ण विश्व में है, यह इस स्तोत्र में बताया गया है। इस स्तोत्र का भावना सहित ध्यान करने से अन्त:लोक और बाह्य-जगत् में विराट् गायत्री के दर्शन होते हैं। उस दर्शन के फलस्वरूप पाप करने का किसी को उसी प्रकार साहस नहीं हो सकता जैसे कि पुलिस से घिरा हुआ व्यक्ति चोरी करने का प्रयत्न नहीं करता।

।। अथ गायत्री पञ्जरम् ।।

भूर्भुवः सुविरित्येतैर्निगमत्व प्रकाशिकाम्।
महर्जनस्तपः सत्यं लोकोपरि सुसंस्थिताम्।।१ ।।

भू: भुव: स्व: द्वारा निगम को प्रकाशित करती है, मह: , जन:, तप:, सत्यं इन लोकों से ऊपर स्थित है।

कृतगान- विनोदादि कथालापेषु तत्पराम्।
तदित्यवाङ् मनोगम्य तेजो रूपधरां पराम्।।२ ।।

गान आदि से विनोद और कथा आदि में तत्पर वह वाणी और मन से अगम्य होने पर भी जो तेज रूप धारण किये हुए है।

जगतः प्रसवित्रीं तां सवितुः सृष्टिकारिणीम्।
वरेण्यमित्यन्नमयीं पुरुषार्थफलप्रदाम्।।३ ।।

जगत् का प्रसव करने वाली को सविता की सृष्टिकर्त्री कहा है। वरेण्य का अर्थ अन्नमयी है, वह पुरुषार्थ का फल देती है।

अविद्या वर्ण वर्ज्यां च तेजोवद्गर्भसंज्ञिकाम्।
देवस्य सच्चिदानन्द परब्रह्म रसात्मिकाम्।।४ ।।

वह अविद्या है, वर्ण रहित है, तेजयुक्त है, गर्भ संज्ञा वाली है तथा सच्चिदानन्द परब्रह्म देव की रसमयी है।

यद्द्वयं धीमहि सा वै ब्रह्माद्वैतस्वरूपिणीम् ।
धियो योनस्तु सविता प्रचोदयादुपासिताम् ।।५ ।।

हम ध्यान करते हैं कि वह अद्वैत ब्रह्म स्वरूपिणी है, सविता स्वरूपा हमारी बुद्धि को उपासना के लिये प्रेरणा देती है ।

तादृगस्या विराट्रूपां किरीटवरराजिताम् ।
व्योमकेशालकाकाशां रहस्यं प्रवदाम्यहम् ।।६ ।।

इस प्रकार वह विराट् रूप वाली है, वह सुन्दर किरीट धारण करती है । व्योम केश हैं, आकाश अलकें हैं, इस प्रकार इसका रहस्य कहा जाता है ।

मेघ भ्रुकुटिकाक्रान्तां विधिविष्णुशिवार्चिताम् ।
गुरु भार्गवकर्णां तां सोमसूर्याग्निलोचनाम् ।।७ ।।

भौंहों से आक्रान्त मेघ हैं । ब्रह्मा, विष्णु और शिव से जो अर्चित है, गुरु, शुक्र जिसके कान हैं, सोम, सूर्य, अग्नि जिसके नेत्र हैं ।

पिंगलेडाद्वयं नूनं वायुनासापुटान्विताम् ।
सन्ध्यौभयोष्ठपुटितां लसद्वाग्भूपजिह्विकाम् ।।८ ।।

इडा, पिंगला दोनों नासापुट हैं । दोनों सन्ध्या, दोनों ओष्ठ हैं, उपजिह्वा ही वाणी है ।

सन्ध्याद्युमणिकण्ठां च लसद्बाहुसमन्विताम् ।
पर्जन्य हृदयासक्तां वसु-सुस्तनमण्डलाम् ।।९ ।।

उस सन्ध्या रूपी द्युमणि से कण्ठ शोभित है । बाहु शोभायुक्त हैं तथा पर्जन्य हृदय है और स्तनमण्डल वसु है ।

वितताकाशमुदरं सुनाभ्यन्तरदेशकाम् ।
प्रजापत्याख्यजघनां कटीन्द्राणीतिसंज्ञिकाम् ।।१० ।।

आकाश उदर है, अन्तरदेश नाभि है । जघन प्रजापति है, कटि इन्द्राणी है ।

ऊरुमलयमेरुभ्यां सन्ति यत्रासुरद्विषः ।
जानुनी जह्नु कुशिकौ वैश्वदेवसदाभुजाम् ।।११ ।।

ऊरु मलय- मेरु है, जहाँ असुर द्वेषी देव निवास करते हैं । जानु में जह्नु कुशिक है, भुजाएँ वैश्वदेव हैं ।

अयनद्वयं जंघाद्यं खुरादि पितृसंज्ञिकाम् ।
पदांघ्रि नखरोमादि भूतलद्रुमलांछिताम् ।।१२ ।।

जंघाओं के दोनों आदि स्थान अयन हैं, खुर आदि पितृ हैं, पद, अंघ्रि, नख, रोम आदि पृथ्वी तल के पेड़ आदि कहे हैं ।

ग्रहराशिर्देवर्षयो मूर्तिं च परसंज्ञिकाम् ।
तिथिमासस्तुवर्षाख्यं सुकेतुनिमिषात्मिकाम् ।।
माया कल्पित वैचित्र्यां सन्ध्याच्छादन संवृताम् ।।१३ ।।

ग्रह, राशि, देव, ऋषि, परसंज्ञक शशि की मूर्तियाँ हैं । तिथि, मास, ऋतु, वर्ष तथा सुकेतु आदि निमेष हैं । माया से रचित विचित्रता वाली तथा सन्ध्या के आवरण से युक्त है ।

ज्वलत्कालानलप्रभां तडित्कोटिसमप्रभाम् ।
कोटिसूर्य-प्रतीकाशां चन्द्रकोटि-सुशीतलाम् ।।१४ ।।

कालाग्नि की तरह ज्वलन है, करोड़ों बिजलियों के समान प्रभायुक्त है, करोड़ों सूर्य की तरह प्रकाशवान् और करोड़ों चन्द्रमा के समान शीतल है ।

सुधामण्डलमध्यस्थां सान्द्रानन्दाऽमृतात्मिकाम् ।
प्रागतीतां मनोरम्यां वरदां वेदमातरम् ।।१५ ।।

सुधा मण्डल के मध्य में आनन्द और अमृतयुक्त है, प्राक् है, अतीत है, मनोहर है, वरदा है और वेदमाता है ।

षडंगा वर्णिता सा च तैरेव व्यापकत्रयम् ।
पूर्वोक्तदेवतां ध्यायेत्साकारगुणसंयुताम् ।।१६ ।।

इसके छः अंग हैं, यह तीनों भुवनों में व्यापक है । इन पूर्वोक्त गुणों से संयुक्त देवता का ध्यान करना चाहिये ।

पञ्चवक्त्रां दशभुजां त्रिपञ्चनयनैर्युताम् ।
मुक्ताविद्रुमसौवर्णां स्वच्छशुभ्रसमाननाम् ।।१७ ।।

पाँच मुँह हैं, दश भुजाएँ हैं, पन्द्रह नेत्र हैं और मुक्ता, विद्रुम के तुल्य सुवर्ण, सफेद तथा शुभ्र आनन हैं ।

आदित्य-मार्गगमनां स्मरेद् ब्रह्मस्वरूपिणीम् ।
विचित्र-मन्त्र-जननीं स्मरेद्विद्यां सरस्वतीम् ।।१८ ।।

वह सूर्य मार्ग से गमन करती है, उस ब्रह्म स्वरूपिणी का स्मरण करना चाहिये । उन विचित्र मन्त्रों की जननी विद्या सरस्वती का स्मरण करना चाहिये ।

।।इति गायत्री पञ्जरम् ।।

अन्यत्र भी इस प्रकार के प्रमाण पाये जाते हैं, जिनमें पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की स्थिति होने की पुष्टि की गयी है, देखिये-

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः ।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः ।।
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि तथा ग्रहाः ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठ देवताः ।।
सृष्टिसंहारकर्त्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च ।।
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः ।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्त्तते ।।
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ।
ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः ।।

- शिव संहिता

मनुष्य शरीर इस विशाल ब्रह्माण्ड की प्रतिमूर्ति है, जो शक्तियाँ इस विश्व का परिचालन करती हैं, वे सब इस मानव देह में विद्यमान हैं ।

इस शरीर में सप्तद्वीप सहित मेरु है । नदियाँ, सागर, पर्वत, खेत, किसान, ऋषि, मुनि, सब नक्षत्र, ग्रह, पुण्यतीर्थ, पीठ और पीठ-देवता विद्यमान हैं । सृष्टि और संहार करने वाले चन्द्र, सूर्य घूम रहे हैं । आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तीनों लोकों में जितने भी भूत हैं वे सब शरीर में हैं । मेरु को संवेष्टन कर सर्वत्र व्यवहार होता है । जो भी इनको जानता है, वह योगी है । इसमें संशय नहीं कि ये सब ब्रह्माण्ड नामक देह में यथा आदेश व्यवस्थित हैं ।

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भेद्य निर्गतः।
सहस्त्रोर्वङ्घ्रिबाहृवक्षः सहस्राननशीर्षवान्॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्यनाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः॥
ग्रीवायां जनलोकोऽस्य तपोलोकः स्तनद्वयात्।
मूर्द्धाभिः सत्यलोकश्च ब्रह्म लोकः सनातनः॥
तत्कट्या चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जंघाभ्यां च तलातलम्॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्।
पातालं पादतलजमिति लोकमयः पुमान्॥

इसलिए यह भी पुरुष प्राण को भेदन कर निकल गया, जिसके हजार ऊरु, अंगुली, बाहु, नेत्र और हजार ही मुख और शिर थे तथा इस संसार में विद्वान् जिसके अवयवों के द्वारा लोकों की कल्पना करते हैं। कटि से नीचे सात और नितम्ब से ऊपर सात लोक हैं। पैरों में भू लोक की कल्पना की है, नाभि से भुवः लोक की, हृदय में स्वर्लोक की, वक्षस्थल से महः लोक, गर्दन से जनःलोक की तथा दोनों स्तनों में तपः लोक की और मूर्द्धा में सत्य-लोक की। वह ब्रह्म लोक सनातन है, उसकी कटि में अतल कल्पित किया है। ऊरुओं में वितल, घुटनों में सुतल, पिण्डलियों में तलातल, गुल्फ में महातल, पञ्जों में रसातल और पादतल में पाताल। यह लोकमय पुरुष हैं।

इन श्लोकों का पाठ करना पर्याप्त न होगा। इस पर विचारपूर्वक, भक्ति-भावना के साथ चित्त एकाग्र किया जाना चाहिए। विराट् विश्व में अपने इष्टदेव को व्याप्त देखने की अनुभूति जब प्रत्यक्ष होने लगती है, तो प्रतिक्षण ईश्वर के दर्शन का लाभ प्राप्त करने वाले स्वर्ग का साक्षात्कार इसी जीवन में होने लगता है।

गायत्री संहिता

आदि शक्तिरिति विष्णोस्तामहं प्रणमामि हि।
सर्गः स्थितिर्विनाशश्च जायन्ते जगतोऽनया॥१॥

यह गायत्री ही परमात्मा की आदि शक्ति है उसको मैं प्रणाम करता हूँ। इसी शक्ति से संसार का निर्माण, पालन और विनाश होता है।

नाभि- पद्म- भुवा विष्णोर्ब्रह्मणा निर्मितं जगत्।
स्थावरं जंगमं शक्त्या गायत्र्या एव वै ध्रुवम्॥२॥

विष्णु की नाभि-कमल से उत्पन्न हुए ब्रह्मा ने गायत्री की शक्ति से जड़ तथा चेतन संसार भी बनाया।

चन्द्रशेखर केशेभ्यो निर्गता हि सुरापगा।
भगीरथं ततारैव परिवारसमं यथा॥३॥
जगद्धात्री समुद्भूय या हृन्मानसरोवरे।
गायत्री सकुलं पारं तथा नयति साधकम्॥

सास्ति गंगैव ज्ञानाख्यसुनीरेण समाकुला।
ज्ञान गंगा तु तां भक्त्या वारं-वारं नमाम्यहम् ।।५ ।।

जिस प्रकार शिव के केशों से निकलने वाली गंगा ने परिवार सहित भगीरथ को पार कर दिया, उसी प्रकार संसार का पालन करने वाली गायत्री, हृदयरूपी मानसरोवर से प्रकट होकर सपरिवार साधक को भवसागर से पार ले जाती है। वही गायत्री ज्ञानरूपी जल से परिपूर्ण गंगा है। उस गंगा को मैं भक्ति से बार-बार नमस्कार करता हूँ।

ऋषयो वेद- शास्त्राणि सर्वे चैव महर्षयः ।
श्रद्धया हृदि गायत्रीं धारयन्ति स्तुवन्ति च ।।६ ।।

ऋषि लोग, वेद, शास्त्र और समस्त महर्षि गायत्री को श्रद्धा से हृदय में धारण करते और उनकी स्तुति करते हैं।

ह्रीं श्रीं क्लीं चेति रूपैस्तु त्रिभिर्वा लोकपालिनी।
भासते सततं लोके गायत्री त्रिगुणात्मिका।। ७।।

ह्रीं, श्रीं, क्लीं इन तीनों रूपों से संसार का पालन करने वाली त्रिगुणात्मक गायत्री संसार में निरन्तर प्रकाशित होती है।

गायत्र्यैव मता माता वेदानां शास्त्रसम्पदाम्।
चत्वारोऽपि समुत्पन्ना वेदास्तस्या असंशयम् ।।८ ।।

शास्त्रों की सम्पत्ति रूप वेदों की माता गायत्री ही मानी जाती है। निश्चित ये चारों ही वेद इस गायत्री से उत्पन्न हुए हैं।

परमात्मनस्तु या लोके ब्रह्म शक्तिर्विराजते।
सूक्ष्मा च सात्त्विकी चैव गायत्रीत्यभिधीयते ।।९ ।।

संसार में परमात्मा की जो सूक्ष्म और सात्विक ब्रह्मशक्ति विद्यमान है, वह ही गायत्री कही जाती है।

प्रभावादेव गायत्र्या भूतानामभिजायते।
अन्तःकरणेषु देवानां तत्त्वानां हि समुद्भवः ।।१० ।।

प्राणियों के अन्तःकरण में दैवी तत्त्वों का प्रादुर्भाव गायत्री के प्रभाव से ही होता है।

गायत्र्युपासनाकरणादात्मशक्तिर्विवर्धते ।
प्राप्यते क्रमशोऽजस्य सामीप्यं परमात्मनः ।।११ ।।

गायत्री की उपासना करने से आत्मबल बढ़ता है। धीरे-धीरे जन्म- बन्धन रहित परमात्मा की समीपता प्राप्त होती है।

शौचं शान्तिर्विवेकश्चैतल्लाभ त्रयमात्मिकम्।
पश्चादवाप्यते नूनं सुस्थिरं तदुपासकम्।। १२।।

मन को वश में रखने वाली गायत्री के उस उपासक को उपासना के पश्चात् पवित्रता, शान्ति और विवेक- ये तीन आत्मिक लाभ प्राप्त होते हैं।

कार्येषु साहसः स्थैर्यं कर्मनिष्ठा तथैव च।
एते लाभाश्च वै तस्माज्जायन्ते मानसास्त्रयः ।।१३ ।।

कार्यों में साहस, स्थिरता और वैसी ही कर्तव्यनिष्ठा ये तीन मन सम्बन्धी लाभ उसको प्राप्त होते हैं।

पुष्कलं धन- संसिद्धिः सहयोगश्च सर्वतः ।
स्वास्थ्यं वा त्रय एते स्युस्तस्माल्लाभाश्च लौकिकाः ।।१४ ।।

संतोषजनक धन की वृद्धि, सब ओर से सहयोग और स्वस्थता ये तीन सांसारिक लाभ उससे होते हैं।

काठिन्यं विविधं घोरं ह्यापदां संहतिस्तथा।
शीघ्रं विनाशतां यान्ति विविधा विघ्नराशयः ॥१५ ॥

नाना प्रकार की घोर कठिनाई और विपत्तियों का समूह, नाना प्रकार के विघ्नों के समूह इससे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

विनाशादुक्त शत्रूणामन्तः शक्तिर्विवर्धते।
संकटानामनायासं पारं याति तया नरः ॥१६ ॥

उपर्युक्त शत्रुओं के विनाश से आन्तरिक शक्ति बढ़ती है। आन्तरिक शक्ति से मनुष्य सहज ही संकटों से पार हो जाता है।

गायत्र्युपासकस्वान्ते सत्कामा उद्भवन्ति हि।
तत्पूर्तयेऽभिजायन्ते सहजं साधनान्यपि ॥१७ ॥

निश्चय ही गायत्री के उपासक के हृदय में सदिच्छाएँ पैदा होती हैं। उनकी पूर्ति के लिये सहज में साधन भी मिल जाते हैं।

त्रुटयः सर्वथा दोषा विघ्ना यान्ति यदान्तताम्।
मानवो निर्भयं याति पूर्णोन्नति पथं तदा ॥१८ ॥

जब सब प्रकार के दोष, भूलें और विघ्न विनाश को प्राप्त हो जाते हैं, तब मनुष्य निर्भय होकर पूर्ण उन्नति के मार्ग पर चलता है।

बाह्यंचाभ्यन्तरं त्वस्य नित्यं सन्मार्गगामिनः।
उन्नतेरुभयं द्वारं यात्युन्मुक्तकपाटताम् ॥१९ ॥

सर्वदा सन्मार्ग पर चलने वाले ऐसे व्यक्ति के बाह्य और भीतरी दोनों उन्नति के द्वार खुल जाते हैं।

अतः स्वस्थेन चित्तेन श्रद्धया निष्ठया तथा।
कर्त्तव्याविरतं काले गायत्र्याः समुपासना ॥२० ॥

इसलिये श्रद्धा से, निष्ठा से तथा स्वस्थ चित्त से प्रतिदिन निरन्तर ठीक समय पर गायत्री की उपासना करनी चाहिये।

दयालुः शक्ति सम्पन्ना माता बुद्धिमती यथा।
कल्याणं कुरुते ह्येव प्रेम्णा बालस्य चात्मनः ॥२१ ॥
तथैव माता लोकानां गायत्री भक्तवत्सला।
विदधाति हितं नित्यं भक्तानां ध्रुवमात्मनः ॥२२ ॥

जैसे दयालु, शक्तिशालिनी और बुद्धियुक्त माता प्रेम से अपने बालक का कल्याण ही करती है, उसी प्रकार भक्तों पर प्यार करने वाली गायत्री संसार की माता है, वह अपने भक्तों का सर्वदा कल्याण ही करती है।

कुर्वन्नपि त्रुटीर्लोके बालको मातरं प्रति।
यथा भवति कश्चिन्न तस्या अप्रीतिभाजनः ॥२३ ॥
कुर्वन्नपि त्रुटीर्भक्तः क्वचित् गायत्र्युपासने।
न तथा फलमाप्नोति विपरीतं कदाचन ॥२४ ॥

जिस प्रकार संसार में माता के प्रति भूलें करता हुआ भी कोई बालक उस माता का शत्रु नहीं होता, उसी प्रकार गायत्री की उपासना करने में भूल करने पर कोई भक्त कभी भी विपरीत फल को नहीं प्राप्त होता।

अक्षराणां तु गायत्र्या गुम्फनं ह्यस्ति तद्विधम्।
भवन्ति जागृता येन सर्वा गुह्यास्तु ग्रन्थयः ॥२५ ॥

गायत्री के अक्षरों का गुम्फन इस प्रकार हुआ है कि जिससे समस्त गुह्य ग्रन्थियाँ जाग्रत् हो जाती हैं।

जागृता ग्रन्थयस्त्वेताः सूक्ष्माः साधकमानसे।
दिव्यशक्तिसमुद्‌भूतिं क्षिप्रं कुर्वन्त्यसंशयम् ॥२६ ॥

जाग्रत् हुई ये सूक्ष्म यौगिक ग्रन्थियाँ साधक के मन में निःसंदेह शीघ्र ही दिव्य शक्तियों को पैदा कर देती हैं।

जनयन्ति कृते पुंसामेता वै दिव्यशक्तयः।
विविधान् वै परिणामान् भव्यान् मंगलपूरितान् ॥२७।

ये दिव्य शक्तियाँ मनुष्यों के लिये नाना प्रकार के मंगलमय सुन्दर परिणामों को उत्पन्न करती हैं।

मन्त्रस्योच्चारणं कार्यं शुद्धमेवाप्रमादतः।
तदशक्तो जपेन्नित्यं सप्रणवास्तु व्याहृतीः ॥२८ ॥

आलस्य रहित होकर गायत्री मन्त्र का शुद्ध ही उच्चारण करना चाहिये। जो ऐसा करने में असमर्थ हों, वे केवल प्रणव (ॐ) सहित व्याहृतियों का जाप करें।

ओमिति प्रणवः पूर्वं भूर्भुवः स्वस्तदुत्तरम्।
एषोक्ता लघु गायत्री विद्वद्‌भिर्वेदपण्डितैः ॥२९ ॥

पहले प्रणव (ॐ) का उच्चारण करना चाहिये, तत्पश्चात् भूर्भुवः स्वः का यह पञ्चाक्षरी मन्त्र (ॐ भूर्भुवः स्वः) वेदज्ञ विद्वानों ने लघु गायत्री कहा है।

शुद्धं परिधानमाधाय शुद्धे वै वायुमण्डले।
शुद्ध देहमनोभ्यां वै कार्या गायत्र्युपासना ॥३० ॥

शुद्ध वस्त्रों का धारण करके शुद्ध वायुमण्डल में देह एवं मन को शुद्ध करके गायत्री की उपासना करनी चाहिये।

दीक्षामादाय गायत्र्या ब्रह्मनिष्ठाग्रजन्मना।
आरभ्यतां ततः सम्यग्विधिनोपासना सता ॥३१ ॥

किसी ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण से गायत्री की दीक्षा लेकर तब विधिपूर्वक उपासना आरम्भ करनी चाहिए।

गायत्र्युपासनामुक्त्वा नित्यावश्यककर्मसु।
उक्तस्तत्र द्विजातीनां नानध्यायो विचक्षणैः ॥३२ ॥

गायत्री उपासना को विद्वानों ने द्विजों के लिये अनिवार्य किसी भी दिन न छोड़ने योग्य, नित्य कर्म बताया है।

आराधयन्ति गायत्रीं न नित्यं ये द्विजन्मनः।
जायन्ते हि स्वकर्मभ्यस्ते च्युता नात्र संशयः ॥३३ ॥

जो द्विज गायत्री की नित्य प्रति उपासना नहीं करते, वे अपने कर्तव्य से च्युत हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है।

शूद्रास्तु जन्मना सर्वे पश्चाद्यान्ति द्विजन्मताम्।
गायत्र्यैव जनाः साकं ह्युपवीतस्य धारणात् ॥३४।

जन्म से तो सभी शूद्र होते हैं, तत्पश्चात् मनुष्य गायत्री के सहित यज्ञोपवीत धारण करने से द्विजत्व को प्राप्त होता है।

उच्चता पतितानां च पापिनां पापनाशनम्।
जायेते कृपयैवास्याः वेदमातुरनन्तया ॥३५ ॥

पतितों को उच्चता और पापियों को उनके पापों का विनाश, ये दोनों कार्य इन वेदों की माता गायत्री की अनन्त कृपा से ही होते हैं।

गायत्र्या या युता संध्या ब्रह्मसंध्या तु सा मता।
कीर्तितं सर्वतः श्रेष्ठं तस्यानुष्ठानमागमैः ॥३६

जो सन्ध्या गायत्री से युक्त होती है, वह ब्रह्म सन्ध्या कहलाती है। शास्त्रों ने उसका उपयोग सबसे श्रेष्ठ बताया है।

आचमनं शिखाबंधः प्राणायामोऽघमर्षणम्।
न्यासश्चोपासनायां तु पंच कोषा मता बुधैः ॥३७ ॥

आचमन, चोटी बाँधना, प्राणायाम, अघमर्षण और न्यास, ये पाँच कोष विद्वानों ने गायत्री सन्ध्या की उपासना में स्वीकार किये हैं।

ध्यानतस्तु ततः पश्चात् सावधानेन चेतसा।
जप्या सततं तुलसी मालया च मुहुर्मुहुः ॥३८ ॥

सावधान चित्त से ध्यानपूर्वक गायत्री मन्त्र को सात्त्विक प्रयोजन के लिये तुलसी की माला पर जपना चाहिये।

एक वारं प्रतिदिनं न्यूनतो न्यूनसङ्ख्यकम्।
धीमान्मन्त्र शतं नूनं नित्यमष्टोत्तरं जपेत् ॥३९ ॥

प्रतिदिन कम से कम एक माला १०८ मन्त्रों का जप अवश्य ही करना चाहिये।

ब्राह्मे मुहूर्त्ते प्राङ्मुखो मेरुदण्डं प्रतन्य हि।
पद्मासनं समासीनः सन्ध्यावंदनमाचरेत् ॥४० ॥

ब्राह्म मुहूर्त में पूर्वाभिमुख होकर, मेरुदण्ड को सीधा कर पद्मासन पर बैठकर सन्ध्यावन्दन करे।

दैन्यरुक् शोक चिंतानां विरोधाक्रमणापदाम्।
कार्यं गायत्र्यनुष्ठानं भयानां वारणाय च ॥४१ ॥

दीनता, रोग, शोक, विरोध, आक्रमण, आपत्तियाँ और भय; इनके निवारण के लिये गायत्री का अनुष्ठान करना चाहिये।

जायते सा स्थितिरस्मान्मनोऽभिलाषयान्विता।
यतः सर्वेऽभिजायन्ते यथा कालं हि पूर्णताम् ॥४२ ॥

इस अनुष्ठान से वह स्थिति पैदा होती है, जिससे समस्त मनोवांछित अभिलाषायें यथासमय पूर्णता को प्राप्त होती हैं।

अनुष्ठानात्तु वै तस्माद् गुप्ताध्यात्मिक-शक्तयः।
चमत्कारमया लोके प्राप्यन्तेऽनेकधा बुधैः ॥४३ ॥

इस अनुष्ठान से साधकों को संसार में चमत्कार से पूर्ण अनेक प्रकार की गुप्त आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

सपादलक्षमंत्राणां गायत्र्या जपनं तु वै।
ध्यानेन विधिना चैव ह्यनुष्ठानं प्रचक्षते ॥४४ ॥

विधि एवं ध्यानपूर्वक गायत्री के सवा लाख मन्त्रों का जप करना ही अनुष्ठान कहलाता है।

पञ्चम्यां पूर्णिमायां वा चैकादश्यां तथैव हि।
अनुष्ठानस्य कर्त्तव्यं आरम्भः फल-प्राप्तये ।।४५ ।।

पञ्चमी, पूर्णमासी और एकादशी के दिन अनुष्ठान का आरम्भ करना शुभ होता है।

मासद्वयेऽविरामं तु चत्वारिंशद् दिनेषु वा।
पूरयेत्तदनुष्ठानं तुल्यसंख्यासु वै जपन् ।।४६ ।।

दो महीने में अथवा चालीस दिनों में बिना नागा किये तथा नित्य समान संख्याओं में जप करता हुआ उस अनुष्ठान को पूर्ण करे।

तस्याः प्रतिमां सु संस्थाप्य प्रेम्णा शोभन-आसने।
गायत्र्यास्तत्र कर्त्तव्या सत्प्रतिष्ठा विधानतः ।।४७ ।।

प्रेम से सुन्दर और ऊँचे आसन पर गायत्री की प्रतिमा स्थापित करके, उसकी भली प्रकार प्रतिष्ठा करनी चाहिये।

तद्विधाय ततो दीप-धूप-नैवेद्य-श्चन्दनैः।
नमस्कृत्याक्षतेनापि तस्याः पूजनमाचरेत् ।।४८ ।।

इस प्रकार से गायत्री की स्थापना करके, तदनन्तर उन्हें नमस्कार करके, दीपक, धूप, नैवेद्य और चन्दन तथा अक्षत इन सबसे पूजन करे।

पूजनानन्तरं विज्ञः भक्त्या तज्जपमारभेत्।
जपकाले तु मनः कार्यं श्रद्धान्वितमचञ्चलम् ।।४९ ।।

बुद्धिमानों को चाहिये कि वह पूजा के अनन्तर भक्ति से गायत्री का जप आरम्भ करें। जप के समय मन को श्रद्धा से युक्त और स्थिर कर लेना चाहिये।

कार्यतो यदि चोत्तिष्ठेन्मध्य एव ततः पुनः।
कर- प्रक्षालनं कृत्वा शुद्धैरंगैरुपाविशेत् ।।५० ।।

और यदि किसी काम से साधना समय के बीच में ही उठना पड़े, तो फिर पानी से हाथ मुँह धोकर बैठे।

आद्यशक्तिर्वेदमाता गायत्री तु मदन्तरे।
शक्तिकल्लोलसंदोहान् ज्ञानज्योतिश्च संततम् ।।५१ ।।
उत्तरोत्तरमाकीर्य प्रेरयन्ती विराजते।
इत्येवाविरतं ध्यायन् ध्यानमग्नस्तु तां जपेत् ।।५२ ।।

आद्यशक्ति, वेदों की माता स्वरूप गायत्री मेरे भीतर लगातार शक्ति की लहरों के समूहों को और ज्ञान के प्रकाश को उत्तरोत्तर फैलाकर प्रेरित करती हुई विद्यमान है, इस प्रकार से निरन्तर ध्यान करता हुआ निमग्न होकर उनका जाप करे।

चतुर्विंशतिलक्षाणां सततं तदुपासकः।
गायत्रीणामनुष्ठानाद् गायत्र्याः सिद्धिमाप्नुते ।।५३ ।।

गायत्री का उपासक निरन्तर चौबीस लाख गायत्री के मन्त्र जप का अनुष्ठान करने से गायत्री की सिद्धि को प्राप्त करता है।

साधनायै तु गायत्र्या निश्छलेन हि चेतसा।
वरणीयः सदाचार्यः साधकेन सुभाजनः ।।५४ ।।

गायत्री की साधना के लिये साधक को चाहिये कि वह श्रद्धा भक्ति के साथ योग्य श्रेष्ठ आचार्य को गुरु वरण करे और गायत्री की दीक्षा लेकर साधना आरंभ करे।

लघ्वनुष्ठानतो वापि महानुष्ठानतोऽथवा।
सिद्धिं विन्दति वै नूनं साधकः सानुपातिकाम् ।।५५ ।।

लघु अनुष्ठान करने से अथवा बृहत् अनुष्ठान करने से साधक, साधना में किये श्रम के अनुपात के अनुसार सिद्धि को प्राप्त करता है ।

एक एव तु संसिद्धः गायत्री मन्त्र आदिशत्।
समस्तलोक-मन्त्राणां कार्य- सिद्धेस्तु पूरकः ।।५६ ।।

सिद्ध हुआ अकेला ही गायत्री मन्त्र संसार के समस्त मंत्रों द्वारा हो सकने वाले कार्यों को सिद्ध करने वाला माना गया है ।

अनुष्ठानावसाने तु अग्निहोत्रो विधीयताम्।
यथाशक्ति ततो दानं ब्रह्मभोजस्ततः खलु ।।५७ ।।

अनुष्ठान के अनन्तर हवन करना चाहिये, तदनन्तर शक्ति के अनुसार दान और ब्रह्मभोज कराना चाहिये ।

महामन्त्रस्य चाप्यस्य स्थाने स्थाने पदे पदे।
गूढानन्तोपदेशानां रहस्यं तत्र वर्त्तते ।।५८ ।।

इस महामन्त्र के अक्षर- अक्षर और पद- पद में रहस्य भरा हुआ है और अनन्त उपदेशों का समूह इस महामन्त्र में छिपा हुआ है ।

यो दधाति नरश्चैतानुपदेशांस्तु मानसे।
जायते ह्युभयं तस्य लोकमानन्दसंकुलम् ।।५९ ।।

जो मनुष्य इन उपदेशों को मन में धारण करता है, उसके दोनों लोक आनन्द से व्याप्त हो जाते हैं ।

समग्रामपि सामग्रीमनुष्ठानस्य पूजिताम्।
स्थाने पवित्र एवैतां कुत्रचिद्धि विसर्जयेत् ।।६० ।।

अनुष्ठान की समस्त पूजित सामग्री को कहीं पवित्र स्थान पर ही विसर्जित करना उचित है ।

सत्पात्रो यदि वाचार्यो न चेत्संस्थापयेत्तदा।
नारिकेलं शुचिं वृत्वाचार्य- भावेन चासने ।।६१ ।।

अगर श्रेष्ठ एवं योग्य आचार्य न प्राप्त हो, तो पवित्र नारियल को आचार्य भाव से वरण करके आसन पर स्थापित करे ।

प्रायश्चित्तं मतं श्रेष्ठं त्रुटीनां पापकर्मणाम्।
तपश्चर्यैव गायत्र्याः नातोऽन्यद् दृश्यते क्वचित् ।।६२ ।।

विभिन्न प्रकार की भूलों एवं पाप-कर्मों के प्रायश्चित्त के लिये गायत्री की तपश्चर्या सबसे श्रेष्ठ मानी गयी है ।

सेव्याः स्वात्मसमृद्ध्यर्थं पदार्थाः सात्त्विकाः सदा।
राजसाश्च प्रयोक्तव्याः मनोवांछित- पूर्तये ।।६३ ।।

आत्मा की उन्नति के लिये सतोगुणी पदार्थों का उपयोग करना चाहिये और मनोभिलाषाओं की पूर्ति के लिये रजोगुणी पदार्थ का उपयोग करना चाहिये ।

प्रादुर्भावस्तु भावानां तामसानां विजायते।
तमोगुणानामर्थानां सेवनादिति निश्चयः ।।६४ ।।

तमोगुणी पदार्थों के उपयोग करने से, तमोगुणी भावों की उत्पत्ति होना निश्चित है ।

मालासन-समिध्यज्ञ-सामग्र्यर्चन- संग्रहः ।
गुणत्रयानुसारं हि सर्वे वै ददते फलम् ।।६५ ।।

माला, आसन, हवन सामग्री, पूजा के पदार्थ जिस तत्त्व की प्रधानता वाले लिये जायेंगे, वे वैसे ही अपने गुणों के अनुसार फल को देते हैं ।

प्रादुर्भवन्ति वै सूक्ष्माश्चतुर्विंशति शक्तयः ।
अक्षरेभ्यस्तु गायत्र्या मानवानां हि मानसे ।।६६ ।।

मनुष्य के अन्तःकरण में गायत्री के चौबीस अक्षरों से चौबीस सूक्ष्म शक्तियाँ प्रकट होती हैं ।

मुहूर्ता योग-दोषा वा येऽप्यमंगलकारिणः ।
भस्मतां यान्ति ते सर्वे गायत्र्यास्तीव्रतेजसा ।।६७ ।।

अमंगल को करने वाले जो मुहूर्त्त अथवा योग दोष हैं, वे सब गायत्री के प्रचण्ड तेज से भस्म हो जाते हैं ।

एतस्मात्तु जपान्नूनं ध्यानमग्नेन चेतसा ।
जायते क्रमशश्चैव षट् चक्राणां तु जागृतिः ।।६८ ।।

निश्चय ही ध्यान में रत चित्त के द्वारा, इस जप को करने से धीरे-धीरे षट्- चक्र जाग्रत् हो जाते हैं ।

षट् चक्राणि यदैतानि जागृतानि भवन्ति हि ।
षट् सिद्धयोऽभिजायन्ते चक्रैरेतैर्नरस्य वै ।६९ ।।

जब ये षट्- चक्र जाग्रत् हो जाते हैं, तब मनुष्य को इन चक्रों के द्वारा छः सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

अग्निहोत्रं तु गायत्री मन्त्रेण विधिवत् कृतम् ।
सर्वेष्ववसरेष्वेव शुभमेव मतं बुधैः ।।७० ।।

गायत्री मन्त्र से विधिपूर्वक किया गया अग्निहोत्र सभी अवसरों पर विद्वानों ने शुभ माना है ।

यदावस्थासु स्याल्लोके विपन्नासु तदा तु सः ।
मौनं मानसिकं चैव गायत्री- जपमाचरेत् ।।७१ ।।

जब कोई मनुष्य विपन्न (सूतक, रोग, अशौच आदि) अवस्थाओं में हो, तब तक मौन मानसिक गायत्री जप करे ।

तदनुष्ठान- काले तु स्वशक्तिं नियमेज्जनः ।
निम्नकर्मसु ताः धीमान् न व्ययेद्धि कदाचन ।।७२ ।।

मनुष्य को चाहिये कि वह गायत्री साधना से प्राप्त हुई अपनी शक्ति को संचित रखे । बुद्धिमान् मनुष्य कभी भी उन शक्तियों को छोटे कार्यों में खर्च नहीं करते ।

नैवानावश्यकं कार्यमात्मोद्धार- स्थितेन च ।
आत्मशक्तेस्तु प्राप्तायाः यत्र-तत्र प्रदर्शनम् ।।७३ ।।

आत्मोद्धार के अभिलाषी मनुष्य को प्राप्त हुई अपनी शक्ति का जहाँ- तहाँ अनावश्यक प्रदर्शन नहीं करना चाहिये ।

आहारे व्यवहारे च मस्तिष्केऽपि तथैव हि ।
सात्त्विकेन सदा भाव्यं साधकेन मनीषिणा ।।७४ ।।

आहार में, व्यवहार में और उसी प्रकार मस्तिष्क में भी बुद्धिमान् साधक को सात्त्विक होना चाहिये ।

कर्त्तव्यधर्मतः कर्म विपरीतं तु यद् भवेत् ।
तत्साधकस्तु प्रज्ञावानाचरेन्न कदाचन ।।७५ ।।

जो काम कर्त्तव्य कर्म से विपरीत हो, वह कर्म बुद्धिमान् साधक कभी नहीं करें ।

पृष्ठतोऽस्याः साधनाया राजतेऽतितरं सदा।
मनस्विसाधकानां हि बहूनां साधनाबलम्॥७६॥

इस साधना के पीछे आदिकाल से लेकर अब तक के असंख्य मनस्वी साधकों का साधन बल शोभित है।

अल्पीयस्या जगत्येवं साधनायास्तु साधकः।
भगवत्याश्च गायत्र्याः कृपां प्राप्नोत्यसंशयम्॥७७॥

थोड़ी ही श्रम साधना से जगत् में ही साधक भगवती गायत्री माता की कृपा को प्राप्त कर लेता है।

प्राणायामे जपन् लोकः गायत्रीं ध्रुवमाप्नुते।
निग्रहं मनसश्चैव इन्द्रियाणां हि सम्पदाम्॥७८॥

मनुष्य निश्चय पूर्वक प्राणायाम सहित गायत्री को जपता हुआ मन का निग्रह और इन्द्रियों की सम्पत्ति को प्राप्त करता है।

मन्त्रं विभज्य भागेषु चतुर्षु सुबुधस्तदा।
रेचकं कुम्भकं बाह्यं पूरकं कुम्भकं चरेत्॥७९॥

बुद्धिमान् व्यक्ति मन्त्र को चारों भागों में विभक्त करके, तब रेचक, कुम्भक, पूरक और बाह्य कुम्भक को करे।

यथा पूर्वस्थितञ्चैव न द्रव्यं कार्य-साधकम्।
महासाधनतोऽप्यस्मान्नाज्ञो लाभं तथाप्नुते॥८०॥

जिस प्रकार धन पास में रखे रहने से ही कार्य सिद्ध नहीं हो जाता, उसी प्रकार से मूर्ख मनुष्य इस महासाधना से लाभ प्राप्त नहीं कर सकता।

साधकः कुरुते यस्तु मन्त्रशक्तेरपव्ययः।
तं विनाशयति सैव समूलं नात्र संशयः॥८१॥

जो साधक मन्त्र- शक्ति का दुरुपयोग करता है, उसको वह शक्ति ही समूल नष्ट कर देती है।

सततं साधनाभिर्यो याति साधकतां नरः।
स्वप्नावस्थासु जायन्ते तस्य दिव्यानुभूतयः॥८२॥

जो मनुष्य निरन्तर साधना करने से साधकत्व को प्राप्त हो जाता है, उस व्यक्ति को स्वप्नावस्था में दिव्य अनुभव होते हैं।

सफलः साधको लोके प्राप्नुतेऽनुभवान् नवान्।
विचित्रान् विविधाँश्चैव साधनासिद्ध्यनन्तरम्॥८३॥

संसार में सफल साधक नवीन और विचित्र प्रकार के विविध अनुभवों को साधना की सिद्धि के पश्चात् प्राप्त करता है।

भिन्नाभिर्विधिभिर्बुद्ध्या भिन्नासु कार्यपंक्तिषु।
गायत्र्याः सिद्धमन्त्रस्य प्रयोगः क्रियते बुधैः॥८४॥

बुद्धिमान् पुरुष भिन्न-भिन्न कार्यों में गायत्री के सिद्ध हुए मन्त्र का प्रयोग भिन्न- भिन्न विधि से विवेकपूर्वक करता है।

चतुर्विंशतिवर्णैर्या गायत्री गुम्फिता श्रुतौ।
रहस्यमुक्तं तत्रापि दिव्यैः रहस्यवादिभिः॥८५॥

वेद में जो गायत्री चौबीस अक्षरों में गूँथी गयी है, विद्वान् लोग इन चौबीस अक्षरों के गूँथने में बड़े-बड़े रहस्यों को छिपा बतलाते हैं।

रहस्यमुपवीतस्य गुह्याद् गुह्यतरं हि यत्।
अन्तर्हितं तु तत्सर्वं गायत्र्यां विश्वमातरि ॥८६ ॥

यज्ञोपवीत का जो गुह्य से गुह्य रहस्य है, वह सब विश्व-माता गायत्री में अन्तर्निहित है ।

अयमेव गुरोर्मन्त्रः यः सर्वोपरि राजते।
बिन्दौ सिंधुरिवास्मिंस्तु ज्ञानविज्ञानमाश्रितम् ॥८७ ॥

यह गायत्री ही गुरु- मन्त्र है, जो सर्वोपरि विराजमान है । एक बिन्दु में सागर के समान इस मन्त्र में समस्त ज्ञान और विज्ञान आश्रित है ।

आभ्यन्तरे तु गायत्र्या अनेके योगसञ्चयाः ।
अन्तर्हिता विराजन्ते कश्चिदत्र न संशयः ॥८८ ॥

गायत्री के अन्तर्गत अनेक योग समूह छिपे हुए रहते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ।

धारयन् हृदि गायत्रीं साधको धौतकिल्विषः ।
शक्तीरनुभवत्युग्राः स्वस्मिन्नेवह्यलौकिकाः ॥ ८९ ॥

पाप- रहित साधक हृदय में गायत्री को धारण करता हुआ अपनी आत्मा में अलौकिक तीव्र शक्तियों का अनुभव करता है ।

एतादृश्यस्तस्य वार्ता भासन्तेऽल्पप्रयासतः ।
यास्तु साधारणो लोको ज्ञातुमर्हति नैव हि ॥९० ॥

उसको थोड़े ही प्रयास से ऐसी-ऐसी बातें विदित हो जाती हैं , जिन बातों को सामान्य लोग जानने में समर्थ नहीं होते ।

एतादृश्यस्तु जायन्ते तन्मनस्यनुभूतयः ।
यादृश्यो न हि दृश्यन्ते मानवेषु कदाचन ॥९१ ॥

उसके मन में इस प्रकार के अनुभव होते हैं, जैसे अनुभव साधारण मनुष्यों में कभी नहीं देखे जाते ।

प्रसादं ब्रह्मज्ञानस्य येऽन्येभ्यो वितरन्त्यपि ।
आसादयन्ति ते नूनं मानवाः पुण्यमक्षयम् ॥९२ ॥

ब्रह्मज्ञान के प्रसाद को जो लोग दूसरों को भी बाँटते हैं, वे मनुष्य निश्चय ही अक्षय पुण्य को प्राप्त करते हैं ।

गायत्री संहिता ह्येषा परमानन्ददायिनी ।
सर्वेषामेव कष्टानां वारणायास्त्यलं भुवि ॥९३ ॥

यह 'गायत्री-संहिता' परम आनन्द को देने वाली है । समस्त कष्टों के निवारण के लिये पृथ्वी पर यह अकेली ही पर्याप्त है ।

श्रद्धया ये पठन्त्येनां चिंतयन्ति च चेतसा ।
आचरंत्यानुकूल्येन भवबाधां तरन्ति ते ॥९४ ॥

जो लोग इसको श्रद्धा से पढ़ते हैं और ध्यानपूर्वक इसका चिन्तन, मनन करते हैं तथा अपने विचार एवं कार्यों को इसके अनुकूल बना लेते हैं, वे लोग भव- बाधाओं से तर जाते हैं ।

गायत्री तन्त्र

गायत्री का गोपनीय वाम मार्ग

न देयं परशिष्येभ्यो ह्यभक्तेभ्यो विशेषत: ।
शिष्येभ्यो भक्तियुक्तेभ्यो ह्यन्यथा मृत्युमाप्नुयात् ।।

"दूसरे के शिष्य के लिये, विशेषकर भक्ति रहित के लिये, यह मन्त्र कभी नहीं देना चाहिये । इसकी शिक्षा भक्तियुक्त शिष्य को ही देनी चाहिये अन्यथा मृत्यु की प्राप्ति होती है ।

उपर्युक्त प्रमाण में यह बताया गया है कि तन्त्र एक गुप्त विज्ञान है । उसकी बातें सब लोगों के सामने प्रकट करने योग्य नहीं होतीं । कारण यह है कि तान्त्रिक साधनायें बड़ी क्लिष्ट होती हैं । वे उतनी ही कठिन हैं, जितना कि समुद्र के तले में घुसकर मोती निकालना । गोताखोर लोग जान को जोखिम में डालकर पानी में बड़ी गहराई तक नीचे उतरते हैं, तब बहुत प्रयत्न के बाद उन्हें कुछ मोती हाथ लगते हैं, परन्तु इस क्रिया में उन्हें अनेक बार जल- जन्तुओं का सामना करना पड़ता है । नट अपनी कला दिखाकर लोगों को मुग्ध कर देता है और प्रशंसा भी प्राप्त करता है, परन्तु यदि एक बार चूक जाए तो खैर नहीं ।

तन्त्र- प्रकृति से संग्राम करके उसकी शक्तियों पर विजय प्राप्त करना है । इसके लिये असाधारण प्रयत्न करने पड़ते हैं और उसकी असाधारण ही प्रतिक्रिया होती है । पानी में ढेला फेंकने पर वहाँ का पानी जोर से उछाल खाता है और एक छोटे विस्फोट जैसी स्थिति दृष्टिगोचर होती है । तान्त्रिक साधक भी एक रहस्यमय साधन द्वारा प्रकृति के अन्तराल में छिपी हुई शक्तियों को प्राप्त करने के लिये अपनी साधना का एक आक्रमण करता है । उसकी एक प्रतिक्रिया होती है, उस प्रतिक्रिया से कभी-कभी साधक के भी आहत हो जाने का भय रहता है ।

जब बन्दूक चलाई जाती है, तो जिस समय नली में से गोली बाहर निकलती है, उस समय वह पीछे की ओर एक झटका मारती है और भयंकर शब्द करती है । यदि बंदूक चलाने वाला कमजोर प्रकृति का है, तो उस झटके से पीछे की ओर गिर सकता है, धड़ाके की आवाज से डर या घबरा सकता है । चन्दन के वृक्षों के निकट सर्पों का निवास रहता है, गुलाब के फूलों में काँटे होते हैं, शहद प्राप्त करने के लिये मक्खियों के डंक का सामना करना पड़ता है, सर्पमणि प्राप्त करने के लिये भयंकर सर्प से और गजमुक्ता प्राप्त करने के लिये मदोन्मत्त हाथी से जूझना पड़ता है । तांत्रिक साधनायें ऐसे ही विकट पुरुषार्थ हैं, जिनके पीछे ख़तरों की शृंखला जुड़ी रहती है । यदि ऐसा न होता तो उन लाभों को हर कोई आसानी से प्राप्त कर लिया करता ।

तलवार की धार पर चलने के समान तंत्र- विद्या के कठिन साधन हैं । उनके लिये साधक में पुरुषार्थ, साहस, दृढ़ता, निर्भयता और धैर्य पर्याप्त होना चाहिये । ऐसे व्यक्ति सुयोग्य अनुभवी गुरु की अध्यक्षता में यदि स्थिर चित्त से श्रद्धापूर्वक साधना करें, तो वे अभीष्ट साधना में सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं । परन्तु यदि निर्बल मनोभूमि के डरपोक, सन्देहयुक्त स्वभाव वाले, अश्रद्धालु, अस्थिर मति वाले लोग किसी साधना को करें और थोड़ा-सा संकट उपस्थित होते ही उसे छोड़ भागें, तो वैसा ही परिणाम होता है, जैसा किसी सिंह, सर्प को पहले तो छेड़ा जाय, पर जब वह क्रुद्ध होकर अपनी ओर लपके तो लाठी-डण्डा फेंककर बेतहाशा भागा जाय । इस प्रकार छोड़कर भागने वाले मनुष्य के पीछे वह सिंह या सर्प अधिक क्रोधपूर्वक, अधिक साहस के साथ दौड़ेगा और उसे पछाड़ देगा । देखा गया है कि मनुष्य किसी भूत-पिशाच को वश में करने के लिये तान्त्रिक साधना करते हैं । जब उनकी साधना आगे बढ़ चलती है, तो ऐसे भय सामने आते हैं, जिनसे डर कर वे मनुष्य अपनी साधना छोड़ बैठते हैं । यदि उस साधक में साहस नहीं होता और किसी भयंकर दृश्य को देखकर डर जाता है, तो डराने वाली शक्तियाँ उसके ऊपर हमला बोल देती हैं, फलस्वरूप उसको भयंकर क्षति का सामना करना पड़ता है । कई व्यक्ति भयंकर बीमार पड़ते हैं, कई पागल हो जाते हैं, कई तो प्राणों तक से हाथ धो बैठते हैं ।

तन्त्र एक उत्तेजनात्मक उग्र प्रणाली है । इस प्रक्रिया के अनुसार जो साधना की जाती है, उससे प्रकृति के

अन्तराल में बड़े प्रबल कम्पन उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण ताप और विक्षोभ की मात्रा बढ़ती है। गर्मी के दिनों में सूर्य की प्रचण्ड किरणों के कारण जब वायुमण्डल का तापमान बढ़ जाता है, तो हवा कुछ तेज चलने लगती है। लू, आँधी और तूफान के दौरे बढ़ते हैं। उस उग्र उत्तेजना में खतरे बढ़ जाते हैं, किसी को लू सता जाती है, किसी की आँख में धूल भर जाती है, अनेकों के शरीर फोड़े-फुन्सियों से भर जाते हैं, आँधी से छप्पर उड़ जाते हैं, पेड़ उखड़ जाते हैं। कई बार हवा के भँवर पड़ जाते हैं, जो एक छोटे दायरे में बड़ी तेजी से नाचते हुए डरावनी शक्ल में दिखाई पड़ते हैं। तन्त्र की साधनाओं से ग्रीष्म काल का- सा उत्पात पैदा होता है और मनुष्य के बाह्य एवं आन्तरिक वातावरण में एक प्रकार की सूक्ष्म लू एवं आँधी चलने लगती है, जिसकी प्रचण्डता के झकझोरे लगते हैं। यह झकझोरे मस्तिष्क के कल्पना तन्तुओं से जब संघर्ष करते हैं, तो अनेकों प्रकार की भयंकर प्रतिमूर्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। ऐसे अवसर पर डरावने भूत, प्रेत, पिशाच, देव, दानव जैसी आकृतियाँ दीख सकती हैं। दृष्टि-दोष उत्पन्न होने से कुछ का कुछ दिखाई दे सकता है। अनेकों प्रकार के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शों का अनुभव हो सकता है। यदि साधक निर्भयतापूर्वक इन स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं को देखकर मुस्कराता न रहे, तो उसका साहस नष्ट हो जाता है और उन भयंकरताओं से यदि वह भयभीत हो जाए, तो वह उसके लिये संकट बन सकती है।

इस प्रकार की कठिनाई का हर कोई मुकाबला नहीं कर सकता, इसके लिये एक विशेष प्रकार की साहसपूर्ण मनोभूमि होनी चाहिये। मनुष्य दूसरों के विषय में तो परीक्षा बुद्धि रखता है, पर अपनी स्थिति का ठीक परीक्षण कोई विरले ही कर सकते हैं। मैं तन्त्र साधनायें कर सकता हूँ या नहीं इसका निर्णय अपने लिये कोई मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता। इसके लिये उसे किसी दूसरे अनुभवी व्यक्ति की सहायता लेनी पड़ती है। जैसे रोगी अपनी चिकित्सा स्वयं नहीं कर सकता, विद्यार्थी अपने आप शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता, वैसे ही तांत्रिक साधनायें भी अपने आप नहीं की जा सकतीं, इसके लिये किसी विज्ञ पुरुष को गुरु नियुक्त करना होता है। वह गुरु सबसे पहले अपने शिष्य की मनोभूमि का निरीक्षण करता है और तब उस परीक्षण के आधार पर निश्चित करता है कि इस व्यक्ति के लिये कौन साधना उपयोगी होगी और उसकी विधि में अन्यों की अपेक्षा क्या हेर-फेर करना ठीक होगा। साधना काल में जो विक्षेप आते हैं, उनका तात्कालिक उपचार और भविष्य के लिये सुरक्षा व्यवस्था बनाना भी गुरु के द्वारा ही सम्भव है। इसलिये तन्त्र की साधनायें गुरु परम्परा से चलती हैं। सिद्धि के लोभ से अनधिकारी साधक स्वयं अपने आप- उन्हें ऊट-पटाँग ढंग से न करने लग जायें- इसलिये उन्हें गुप्त रखा जाता है। रोगी के निकट मिठाइयाँ नहीं रखी जाती, क्योंकि पचाने की शक्ति न होते हुए भी यदि लोभवश उसने उन्हें खाना शुरू कर दिया तो अन्तत: उसका अहित ही होगा।

तन्त्र की साधनायें सिद्ध करने के बाद जो शक्ति आती है उसका यदि दुरुपयोग करने लगे, तो उससे संसार में बड़ी अव्यवस्था फैल सकती है, दूसरों का अहित हो जाता है, अनधिकारी लोगों को अनावश्यक रीति से लाभ या हानि पहुँचाने से उनका अनिष्ट ही होता है। बिना परिश्रम के जो लाभ प्राप्त होता है, वह अनेक प्रकार के दुर्गुण पैदा करता है। जिसने जुआ खेलकर दस हजार रुपया कमाया है, वह उन रुपयों का सदुपयोग नहीं कर सकता और न उनके द्वारा वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार ईश्वरीय या राजकीय विधि से मिलने वाले स्वाभाविक दण्ड विधान से बचकर किसी को मन्त्र बल से, जो हानि पहुँचाई जा सकती है, वह गर्भपात के समान ही अहितकर होती है। तन्त्र में सफल हुआ व्यक्ति ऐसी गड़बड़ी पैदा कर सकता है। इसलिये हर किसी को उसकी साधना करने का अधिकार नहीं दिया गया है। वह तो एक विशेष मनोभूमि के व्यक्तियों के लिये सीमित क्षेत्र में उपयोग में आने वाली वस्तु है। इसलिये उसका सार्वजनिक प्रकाशन नहीं किया जा सकता। हमारे घर सिर्फ उन्हीं व्यक्तियों के प्रयोग के लिये होते हैं, जो उनमें अधिकार पूर्वक रहते हैं। निजी घरों का प्रयोग धर्मशालाओं की तरह नहीं हो सकता और न हर कोई मनुष्य किसी के घर में प्रवेश कर सकता है। तन्त्र भी अधिकार सम्पन्न मनोभूमि वाले विशेष व्यक्तियों का घर है, उसमें हर व्यक्ति का प्रवेश नहीं है। इसलिये उसे नियत सीमा तक सीमित रखने के लिये गुप्त रखा गया है।

हम देखते हैं कि तन्त्र ग्रन्थों में जो साधन-विधियाँ लिखी गयी हैं, वे अधूरी हैं । उनमें दो ही बातें मिलती हैं- एक साधना का फल दूसरे साधन-विधि का कोई छोटा-सा अंग । जैसे एक स्थान पर आया है कि 'छोंकर की लकड़ी हवन करने से पुत्र की प्राप्ति होती है ।' केवल इतने उल्लेख मात्र को पूर्ण समझकर जो छोंकर की लकड़ियों के गट्ठे भट्टों में झोंकेगा, उसकी मनोकामना पूर्ण नहीं होगी । मूर्ख लोग समझेंगे कि साधना विधि झूठी है । परन्तु इस शैली से वर्णन करने में तन्त्रकारों का मन्तव्य यह है कि साधना विधि का संकेत कायम रहे, जिससे इस विद्या का लोप न हो, वह विस्मृत न हो जाए । यह सूत्र प्रणाली है । व्याकरण आदि के सूत्र बहुत छोटे-छोटे होते हैं । उनमें अक्षर तो दस-दस या पाँच-पाँच ही होते हैं और अर्थ बहुत । वे लघु संकेत मात्र होते हैं, जिससे यदि काम करना पड़े तो समय पड़ने पर पूरी बात याद आ जाए । गुप्त कार्य करने वाले डाकू षड्यंत्रकारी या खुफिया पुलिस आदि के व्यक्ति भी कुछ ऐसे ही संकेत बना लेते हैं, जिनके द्वारा दो- चार शब्द कह देने मात्र से एक अर्थ समझ लिया जाता है ।

"छोंकर के हवन से पुत्र प्राप्ति" इस संकेत सूत्र में एक भारी विधान छिपा हुआ है । किस मनोभूमि का मनुष्य किस समय, किन नियमों के साथ, किन उपकरणों के द्वारा, किन मन्त्रों से, कितना हवन करे, तब पुत्र की प्राप्ति हो, यह सब विधान उस सूत्र में छिपा कर रखा गया है । छिपाना इसलिये है कि अनधिकारी लोग उसका प्रयोग न कर सकें । संकेत रूप से कहा इसलिये गया है कि कालान्तर में इस तथ्य का विस्मरण न हो जाए, आधार रहने से आगे की बात का स्मरण हो आना सुगम होता है । तन्त्र ग्रन्थों में साधना विधियों को गुप्त रखने पर बार-बार जोर दिया गया है । साथ ही कहीं-कहीं ऐसी विधियाँ बताई गयी हैं, जो देखने में बड़ी सुगम मालूम पड़ती हैं, पर उनका फल बड़ा भारी कहा गया है । इस दशा में अनजान लोगों के लिये यह गोरखधन्धा बड़ा उलझन भरा हुआ है । वे कभी उसे अत्यंत सरल समझते हैं और कभी उसे असत्य मानते हैं, पर वस्तुस्थिति दूसरी ही है । संकेत सूत्रों की विधि से उन साधनाओं का वर्णन करके तंत्रकारों ने अपनी रहस्यवादी वृत्ति का परिचय दिया है ।

गायत्री के दोनों ही प्रयोग हैं, दक्षिणमार्गी भी और वाममार्गी भी । वे योग भी हैं और तन्त्र भी । उससे आत्म-दर्शन और ब्रह्म-प्राप्ति भी होती है तथा सांसारिक उपार्जन और संहार भी । गायत्री योग दक्षिणमार्ग है- उस मार्ग से हमारे आत्मकल्याण का उद्देश्य पूरा होता है । गायत्री-तन्त्र वाममार्ग है- उससे सांसारिक वस्तुयें प्राप्त की जा सकती हैं और किसी का नाश भी किया जा सकता है । तन्त्र का विषय गोपनीय है, इसलिये गायत्री तन्त्र के ग्रन्थों से ऐसी अनेकों साधनायें प्राप्त होती हैं, जिनमें धन, संतान, स्त्री, आरोग्य, पद-प्राप्ति, रोग निवारण, शत्रु नाश, पाप नाश, वशीकरण आदि लाभों का वर्णन है और संकेत रूप से उन साधनाओं का एक अंश बताया गया है। परन्तु यह भली प्रकार स्मरण रखना चाहिये कि इन संक्षिप्त संकेतों के पीछे एक भारी कर्मकाण्ड एवं विधि-विधान है । वह पुस्तकों में नहीं, वरन् अनुभवी, साधना सम्पन्न व्यक्तियों से प्राप्त होता है ।

तन्त्र-ग्रन्थों से संग्रह करके कुछ संकेत आगे के पृष्ठों पर दिये जाते हैं, जिससे पाठकों को गायत्री द्वारा मिल सकने वाले महान् लाभों का थोड़ा-सा परिचय प्राप्त हो जाए ।

अथ गायत्रीतन्त्रम्

नारद उवाच—

नारायण महाभाग गायत्र्यास्तु समासतः ।
शान्त्यादिकान्प्रयोगांस्तु वदस्व करुणानिधे ! ॥१ ॥

नारदजी ने प्रश्न किया- हे नारायण ! गायत्री के शान्ति आदि के प्रयोग को कहिये ।

नारायण उवाच—

अतिगुह्यमिदं पृष्टं त्वया ब्रह्मतनूद्भव ।
वक्तव्यं न कस्मैचिद् दुष्टाय पिशुनाय च ॥२ ॥

यह सुनकर श्री नारायण ने कहा कि - हे नारद ! आपने अत्यन्त गुप्त बात पूछी है, परन्तु उसे किसी दुष्ट या पिशुन (छलिया) से नहीं कहना चाहिये ।

अथ शान्त्यर्थमुक्ताभिः समिद्भिर्जुहुयाद् द्विजः ।
शमी समिद्भिः शाम्यन्ति भूतरोगग्रहादयः ॥३ ॥

द्विजों को शान्ति प्राप्त करने के लिये हवन करना आवश्यक है तथा शमी की समिधाओं से हवन करने पर भूत-रोग एवं ग्रहादि की शान्ति होती है ।

आर्द्राभिः क्षीरवृक्षस्य समिद्भिर्जुहुयाद् द्विजः ।
जुहुयाच्छकलैर्वापि भूतरोगादिशान्तये ॥४ ॥

दूध वाले वृक्षों की आर्द्र समिधाओं से हवन करने पर ग्रहादि की शान्ति होती है । अतः भूत- रोगादि की शान्ति के लिये सम्पूर्ण प्रकार की समिधाओं से हवन करना आवश्यक है ।

जलेन तर्पयेत्सूर्यं पाणिभ्यां शान्तिमाप्नुयात् ।
जानुघ्ने जले जप्त्वा सर्वान् दोषान् शमं नयेत ॥ ५ ॥

सूर्य को हाथों द्वारा जल से तर्पण करने पर शान्ति मिलती है तथा घुटनों पर्यन्त पानी में स्थिर होकर जपने से सब दोषों की शान्ति होती है ।

कण्ठदघ्ने जले जप्त्वा मुच्येत् प्राणान्तिकाद् भयात् ।
सर्वेभ्यः शान्तिकर्मभ्यो निमज्याप्सु जपः स्मृतः ॥६ ॥

कण्ठ पर्यन्त जल में खड़ा होकर जप करने से प्राणों के नाश होने का भय नहीं रहता, इसलिये सब प्रकार की शान्ति प्राप्त करने के लिये जल में प्रविष्ट होकर जप करना श्रेष्ठ है ।

सौवर्णे राजते वापि पात्रे ताम्रमयेऽपि वा ।
क्षीरवृक्षमये वापि निश्छिद्रे मृन्मयेऽपि वा ॥७ ॥
सहस्रं पंचगव्येन हुत्वा सुज्वलितेऽनले ।
क्षीरवृक्षमयैः काष्ठैः शेषं सम्पादयेच्छनैः ॥८ ॥

सुवर्ण, चाँदी, ताँबा, दूध वाले वृक्ष की लकड़ी से बने या छेद रहित मिट्टी के बर्तन में पञ्चगव्य रखकर दुग्ध वाले वृक्ष की लकड़ियों से प्रज्वलित अग्नि में हवन करना चाहिये ।

प्रत्याहुतिं स्पृशञ्जप्त्वा तद्गव्यं पात्रसंस्थितम् ।
तेन तं प्रोक्षयेद्देशं कुशैर्मन्त्रमनुस्मरन् ॥९ ॥

प्रत्येक आहुति में पञ्चगव्य को स्पर्श करना चाहिये तथा मन्त्रोच्चारण करते हुए कुशाओं द्वारा पञ्चगव्य ही से सम्पूर्ण स्थान का मार्जन करना चाहिये ।

बलिं प्रदाय प्रयतो ध्यायेत परदेवताम् ।
अभिचारसमुत्पन्ना कृत्या पापं च नश्यति ॥१० ॥

पश्चात् बलि प्रदान कर देवताओं का ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार ध्यान करने से अभिचारोत्पन्न कृत्यों और पाप की शान्ति होती है ।

देवभूतपिशाचादीन् यद्येवं कुरुते वशे ।
गृहं ग्रामं पुरं राष्ट्रं सर्वं तेभ्यो विमुच्यते ॥११ ॥

देवता, भूत और पिशाच आदि को वश में करने के लिये भी उपर्युक्त कही हुई विधि करनी चाहिये । इस प्रकार की क्रिया से देवता, भूत, पिशाच सभी अपना-अपना घर, ग्राम, नगर और राज्य छोड़कर वश में हो जाते हैं ।

चतुष्कोणे हि गन्धेन मध्यतो रचितेन च।
मण्डले शूलमालिख्य पूर्वोक्ते च क्रमेऽपि वा ॥१२॥
अभिमन्त्र्य सहस्रं तन्निखनेत्सर्व सिद्धये।

चतुष्कोण मण्डल में गन्ध से शूल लिखकर और पूर्वोक्त विधि द्वारा सहस्र गायत्री का जप कर, गाढ़ देने पर सब प्रकार की सिद्धि मिलती है।

सौवर्णं, राजतं वापि कुम्भं ताम्रमयं च वा ॥१३॥
मृन्मयं वा नवं दिव्यं सूत्रवेष्टितमव्रणम्॥
स्थण्डिले सैकते स्थाप्य पूरयेन्मन्त्रितैर्जलैः ॥१४॥
दिग्भ्य आहृत्य तीर्थानि चतसृभ्यो द्विजोत्तमैः॥

सोना, चाँदी, ताँबा, मिट्टी आदि में से किसी एक का छेद रहित घड़ा लेकर सूत्र से ढक कर बालुका युक्त स्थान में स्थापित कर श्रेष्ठ ब्राह्मणों द्वारा चारों दिशाओं से लाये हुए जल से भरें।

एला, चन्दन, कर्पूर, जाती, पाटल, मल्लिकाः ॥१५॥
बिल्वपत्रं तथाक्रान्तां, देवीं ब्रीहि यवांस्तिलान्।
सर्षपान् क्षीरवृक्षाणां प्रवालानि च निक्षिपेत्॥१६॥

इलायची, चन्दन, कपूर, पाटल, बेला, बिल्व-पत्र, विष्णु-क्रान्ता, देवी (सहदेई), जौ, तिल, सरसों और दुग्ध निकालने वाले वृक्षों के पत्ते लेकर उसमें छोड़ें।

सर्वमेवं विनिक्षिप्य कुशकूर्चसमन्वितम्।
स्नातः समाहितो विप्रः सहस्रं मन्त्रयेद् बुधः ॥१७॥

इस प्रकार सबको छोड़कर कुशा की कूँची बनाकर तथा उसे भी घड़े में छोड़कर स्नान करके एक हजार बार मन्त्र का जप करना चाहिये।

दिक्षु सौरानधीयीरन् मन्त्रान् विप्रास्त्रयीविदः।
प्रोक्षयेत्पाययेदेनं नीरं तेनाभिषिंचयेत्॥१८॥

धर्मादि के ज्ञाता ब्राह्मण द्वारा मन्त्रों से पूतीकृत इस जल से भूत आदि की बाधा से पीड़ित पुरुष के ऊपर मार्जन करे तथा पिलाए और गायत्री मन्त्र के साथ इसी जल से अभिषिंचन करे।

भूत रोगाभिचारेभ्यः स निर्मुक्तः सुखीभवेत्।
अभिषेकेण मुच्येत मृत्योरास्यगतो नरः ॥१९॥

इस प्रकार अभिषिंचन करने पर, मरणासन्न हुआ मनुष्य भी भूत व्याधि से मुक्त होकर सुखी हो जाता है।

अवश्यं कारयेद्विद्वान् राजा दीर्घं जिजीविषुः।
गावो देयाश्च ऋत्विग्भ्यो ह्यभिषेके शतं मुने ॥२०।
तेभ्यो देया दक्षिणा च यत् किञ्चिच्छक्ति- पूर्वकम्।
जपेदश्वत्थमालम्ब्य मन्दवारे शतं द्विजः ॥२१॥
भूतरोगाभिचारेभ्यो मुच्यते महतो भयाद्।

हे मुने ! अधिक समय तक जीने की इच्छा वाला विद्वान् राजा इस कार्य को अवश्य कराए तथा इस अभिषेक के समय ऋत्विजों को सौ गायों की दक्षिणा देनी चाहिये या ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करने वाली दूसरी दक्षिणा देनी चाहिये अथवा अपनी शक्ति के अनुसार जो हो सके, वह देनी चाहिये। शनिवार के दिन जो ब्राह्मण, पीपल के नीचे बैठकर सौ बार जप करता है, वह निःसंदेह भूत बाधा आदि से विमुक्त होता है।

गुडूच्याः पर्व विच्छिन्नैर्जुहुयाद्दुग्ध-सिक्तकैः ।
द्विजो मृत्युञ्जयो होमः सर्व व्याधिविनाशनः ॥२२ ॥

जो द्विज गुर्च (गिलोय) की समिधाओं को दूध में डुबा-डुबाकर हवन करता है, वह सम्पूर्ण व्याधियों से छुटकारा पा जाता है । यह मृत्यु को जीतने वाला होम है ।

आम्रस्य जुहुयात्पत्रैः पयसाज्वरशान्तये ॥२३ ॥

ज्वर की शान्ति हेतु, दूध में डालकर आम्र- पत्तों से द्विजों को हवन करना चाहिये ।

वचाभिः पयः सिक्ताभिः क्षयं हुत्वा विनाशयेत् ।
मधुत्रितय होमेन राजयक्ष्मा विनश्यति ॥२४ ॥

दुग्ध में बच को अभिषिक्त कर, हवन करने से क्षय रोग विनष्ट होता तथा दुग्ध, दधि एवं घृत इन तीनों का अग्नि में हवन करने से राजयक्ष्मा का विनाश होता है ।

निवेद्य भास्करायान्नं पायसं होमपूर्वकम् ।
राजयक्ष्माभिभूतं च प्राशयेच्छान्तिमाप्नुयात् ॥२५ ॥

दूध की खीर बनाकर सूर्य को अर्पण करे तथा हवन से शेष बची हुई खीर को राजयक्ष्मा के रोगी को सेवन कराएँ, तो रोग की शान्ति होती है ।

लताः पर्वसु विच्छिद्य सोमस्य जुहुयाद् द्विजः ।
सोमे सूर्येण संयुक्ते प्रयोक्ताः क्षयशान्तये ॥२६ ॥

अमावस्या के दिन सोमलता (छेउटा) की डाली से होम करने पर क्षय रोग का निवारण होता है ।

कुसुमैः शंखवृक्षस्य हुत्वा कुष्ठं विनाशयेत् ।
अपस्मार विनाशः स्यादपामार्गस्य तण्डुलैः ॥२७ ॥

शंख वृक्ष (कोडिला) के पुष्पों से यदि हवन किया जाए, तो कुष्ठ रोग का विनाश होता है तथा अपामार्ग के बीजों से हवन करने पर अपस्मार (मृगी) रोग का विनाश होता है ।

क्षीर वृक्षसमिद्धोमादुन्मादोऽपि विनश्यति ।
औदुम्बर - समिद्धोमादतिमेहः क्षयं व्रजेत् ॥२८ ॥

क्षीर वृक्ष की समिधाओं से हवन करने पर उन्माद रोग नहीं रहता तथा औदुम्बर (गूलर) की समिधाओं से हवन किया जाए, तो महा-प्रमेह विनष्ट होता है ।

प्रमेहं शमयेद्धुत्वा मधुनेक्षुरसेन वा ।
मधुत्रितय होमेन नयेच्छान्तिं मसूरिकाम् ॥२९ ॥

प्रमेह की शान्ति के लिये मधु अथवा शर्बत से भी हवन करना चाहिये और मसूरिका रोग, मधुत्रय (दुग्ध, घृत, दधि) से हवन करने पर नहीं रहता ।

कपिला सर्पिषा हुत्वा नयेच्छान्तिं मसूरिकाम् ।
उदुम्बर - वटाऽश्वत्थैर्गोगजाश्वामयं हरेत् ॥३० ॥

कपिला गौ के घी से हवन करके भी मसूरिका को दूर करना चाहिये । गाय के सभी रोगों की शान्ति के लिये गूलर, हाथी के रोग निवारण के लिये वट और घोड़े के रोग दूर करने के लिये पिप्पल की समिधाओं से हवन करना लाभदायक है ।

पिपीलि मधुवल्मीके गृहे जाते शतं शतम् ।
शमी समिद्भिरन्नेन सर्पिषा जुहुयाद् द्विजः ॥३१ ॥

चींटी तथा शहद की मक्खियों द्वारा घर में छत्ता रख लेने पर शमी (छोंकर) की समिधाओं से हवन करना उत्तम है। साथ ही अन्न और घी भी होना चाहिये।

अभ्रस्तनित भूकम्पो समिद्भिर्वनवेतसः।
तदुत्थं शान्तिमायाति हूयात्तत्र बलिं हरेत् ॥३२ ॥

बिजली की कड़क से पृथ्वी में कम्पन उत्पन्न होती हो, तो वनवेत की लकड़ियों से हवन करना चाहिए। इससे उत्पन्न भय शान्त होता है।

सप्ताहं जुहुयादेवं राष्ट्रे राज्ये सुखं भवेत्।
यां दिशं शतजप्तेन लोष्ठेनाभिप्रताडयेत् ॥३३ ॥
ततोऽग्निमारुतारिभ्यो भयं तस्य विनश्यति।
मनसैव जपेदेनां बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥३४ ॥

किसी भी दिशा में यदि दिग्दाह हो, तो सात दिन पर्यन्त मन्त्र जपकर उस दिशा में जिधर दाह होता है, ढेला फेंकना चाहिये। इस प्रकार शान्ति उत्पन्न होती है। एक सप्ताह तक इस क्रिया को करने से राज्य और राष्ट्र में सुख-समृद्धि होती है।

बन्धन में ग्रसित मनुष्य गायत्री मन्त्र का मन में ही जाप करने पर बन्धन मुक्त हो जाता है।

भूत रोग विषादिभ्यः व्यथितं जप्त्वा विमोचयेत्।
भूतादिभ्यो विमुच्येत जलं पीत्वाभिमंत्रितम् ॥३५ ॥

भूत रोग तथा विष आदि से व्यथित पुरुष को गायत्री मन्त्र जपना चाहिये।

(कुश से जल को स्पर्श करता हुआ गायत्री मन्त्र का जप करे। फिर इस जल को भूत, प्रेत तथा पिशाच आदि की पीड़ा से पीड़ित मनुष्य को पिला दिया जाय तो वह रोगमुक्त हो जाता है।)

अभिमन्त्र्य शतं भस्मन्यसेद्भूतादिशान्तये।
शिरसा धारयेद् भस्म मंत्रयित्वा तदित्यृचा ॥३६ ॥

गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित भस्म लगाने से भूत-प्रेत की शान्ति होती है। मन्त्र का उच्चारण करते हुए अभिमन्त्रित भस्म को पीड़ित व्यक्ति के मस्तक और सिर में लगाना चाहिये।

अथ पुष्टिं श्रियं लक्ष्मीं पुष्पैर्हुत्वाप्नुयाद् द्विजः।
श्री कामो जुहुयात् पद्मैः रक्तैः श्रियमवाप्नुयात् ॥३७ ॥

श्री और सौन्दर्य की कामना करने वाले पुरुष को रक्त कमल के फूलों से हवन करने पर श्री की प्राप्ति होती है।

(लक्ष्मी की आकांक्षा करने वाले पुरुष को गायत्री मन्त्रोच्चारण के साथ पुष्पों से हवन करना चाहिये।)

हुत्वा श्रियमवाप्नोति जाती पुष्पैर्नवैः शुभैः।
शालितण्डुल होमेन श्रियमाप्नोति पुष्कलाम् ॥३८ ॥

जाती (चमेली, मालती) के पुष्पों से हवन किया जाए, तो लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। इसलिये लक्ष्मी की अभिलाषा वाले पुरुष को नवीन जाति के पुष्पों से हवन करना चाहिये। शालि चावलों से हवन करने पर लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

श्रियमाप्नोति परमां मूलस्य शकलैरपि।
समिद्भिर्बिल्ववृक्षस्य पायसेन च सर्पिषा ॥३९ ॥

बिल्व वृक्ष के जड़ की समिधा, खीर तथा घी इनसे हवन करने पर लक्ष्मी की प्राप्ति होती है अथवा केवल

जड़ का प्रयोग करने के स्थान में बिल्व वृक्ष की लकड़ी, पत्ते, पुष्प को लेकर सबको सुखा दें और कूट कर सामग्री बना लें, तब घी और खीर मिलाकर हवन करें ।

शतं-शतं च सप्ताहं हुत्वाश्रियमवाप्नुयात् ।
लाजैस्तु मधुरोपेतैर्होमे कन्यामवाप्नुयात् ॥४० ॥

मधुत्रय मिलाकर लाजा से सात दिन तक सौ-सौ आहुतियाँ देकर हवन करने पर सुन्दर कन्या की प्राप्ति होती है ।

अनेन विधिना कन्या वरमाप्नोति वाञ्छितम् ।
हुत्वा रक्तोत्पलैः हेमं सप्ताहं प्राप्नुयात्खलु ॥४१ ॥

इस विधि से होम करने पर कन्या अति सुन्दर और अभीष्ट वर प्राप्त करती है । सात दिन पर्यन्त लाल कमल के फूलों से हवन करने पर सुवर्ण की प्राप्ति होती है ।

सूर्यविम्बे जलं हुत्वा जलस्थं हेममाप्नुयात् ।
अन्नं हुत्वाप्नुयादन्नं ब्रीहीन्ब्रीहिपतिर्भवेत् ॥४२ ॥

सूर्य के मण्डल में जल छोड़ने से जल में स्थित सुवर्ण की प्राप्ति होती है । अन्न का होम करने पर अन्न की प्राप्ति होती है ।

करीषचूर्णैर्वत्सस्य हुत्वा पशुमवाप्नुयात् ।
प्रियंगु पायसाज्यैश्च भवेद्धोमादिष्ट सन्ततिः ॥४३ ॥

बछड़े के सूखे गोबर के होम करने से पशुओं की प्राप्ति होती है । काकुनि की खीर व घृत के होम से अभीष्ट प्रजा की प्राप्ति होती है ॥४३ ॥

निवेद्य भास्करायान्नं पायसं होमपूर्वकम् ।
भोजयेत्तदृतुस्नातां पुत्ररत्नमवाप्नुयात् ॥४४ ॥

सूर्य को होम पूर्वक पायस अन्न अर्पण करके, ऋतुस्नान की हुई स्त्री को भोजन कराने से पुत्र की प्राप्ति होती है ।

स प्ररोहाभिरार्द्राभिर्हुत्वा आयुष्यमाप्नुयात् ।
समिद्भिः क्षीरवृक्षस्य हुत्वाऽऽयुष्यमवाप्नुयात् ॥४५ ॥

पलाश की गीली समिधा से होम करने पर आयु की वृद्धि होती है । क्षीर वृक्षों की समिधा से हवन किया जाए, तो भी आयु-वृद्धि होती है ।

स प्ररोहाभिरार्द्राभिर्युक्ताभिर्मधुरत्रयैः ।
ब्रीहीणां च शतं हुत्वा हेमं चायुरवाप्नुयात् ॥४६ ॥

पलाश समिधा के तथा यवों के होम करने से, मधुत्रय से और ब्रीहियों से सौ आहुतियाँ देने से सुवर्ण और आयु की प्राप्ति होती है ।

सुवर्ण कमलं हुत्वा शतमायुरवाप्नुयात् ।
दूर्वाभिः पयसा वापि मधुना सर्पिषापि वा ॥४७ ॥
शतं शतं च सप्ताहमपमृत्युं व्यपोहति ।
शमीसमिद्भिरन्नेन पयसा वा च सर्पिषा ॥४८ ॥

सुवर्ण कमल के होम से पुरुष शतजीवी होता है । दूर्वा, दुग्ध, मधु (शहद) और घी से सौ-सौ आहुतियाँ देने पर, अकाल मृत्यु का भय नहीं रहता । शमी (छोंकर) की समिधाओं से, दूध से तथा घी से हवन करने पर भी अल्पमृत्यु होने का डर नहीं रहता ।

शतं शतं च सप्ताहमपमृत्युं व्यपोहति।
न्यग्रोध समिधो हुत्वा पायसं होमयेत्ततः ॥४९ ॥

वट वृक्ष की समिधाओं से सौ-सौ बार आहुति देने से भी अल्पमृत्यु का भय नहीं रहता।

शतं शतं च सप्ताहमपमृत्युं व्यपोहति।
क्षीराहारो जपेन्मृत्योः सप्ताहाद्विजयी भवेत् ॥५० ॥

केवल एक सप्ताह तक दुग्धाहार करके सौ-सौ आहुतियाँ दी जायें तो पुरुष मृत्युजित् हो जाता है।

अनश्नन्वाग्यतो जप्त्वा त्रिरात्रं मुच्यते यमात्।
निमज्याप्सु जपेदेवं सद्यो मृत्योर्विमुच्यते ॥५१ ॥

तीन रात्रि बिना खाये रहकर, मन्त्र जप करने पर मृत्यु के भय से भी मुक्त हो जाता है। जल में निमग्न होकर गायत्री जाप करने से तत्क्षण ही मृत्यु से विमुक्ति हो जाती है।

जपेद् बिल्वं समाश्रित्य मासं राज्यमवाप्नुयात्।
बिल्वं हुत्वाप्नुयाद् राज्यं समूलं फलपल्लवम् ॥५२ ॥

एक मास तक बिल्व वृक्ष के नीचे आसन लगाकर जप करने से राज्य की प्राप्ति होती है। बिल्व वृक्ष की जड़, फल, फूल और पत्तों से एक साथ हवन करने पर भी राज्य मिलता है।

हुत्वा पद्मशतं मासं राज्यमाप्नोत्यकण्टकम्।
यवागूं ग्राममाप्नोति हुत्वा शालिसमन्वितम् ॥५३ ॥ - दे० भा० ११/२४/५५

एक मास पर्यन्त यदि कमल से हवन किया जाए, तो राज्य की प्राप्ति होती है। शालि से युक्त यवागु (जौ की खिचड़ी) से हवन किया जाय तो ग्राम की प्राप्ति होती है।

अश्वत्थ समिधो हुत्वा युद्धादौ जयमाप्नुयात्।
अर्कस्य समिधो हुत्वा सर्वत्र विजयी भवेत् ॥५४ ॥ - दे० भा० ११/२४/५६

पीपल की समिधाओं से हवन करने पर युद्ध में विजय प्राप्त होती है। आक की समिधाओं से हवन करने पर सर्वत्र ही विजय होती है।

संयुक्तैः पयसा पत्रैः पुष्पैर्वा वेतसस्य च।
पायसेन शतं हुत्वा सप्ताहं वृष्टिमाप्नुयात् ॥५५ ॥ - ११/२४/५७

वेत वृक्ष के फूलों से अथवा पत्र मिलाकर खीर से हवन करने पर वृष्टि होती है।

नाभिदघ्ने जले जप्त्वा सप्ताहं वृष्टिमाप्नुयात्।
जले भस्म शतं हुत्वा महावृष्टिं निवारयेत् ॥५६ ॥ - ११/२४/५८

नाभि पर्यन्त जल में खड़े होकर एक सप्ताह तक गायत्री जपने से वृष्टि होती है और जल में सौ बार भस्म का हवन करने से अतिवृष्टि का निवारण होता है।

पलाशीभिरवाप्नोति समिद्भिर्ब्रह्मवर्चसम्।
पलाशकुसुमैर्हुत्वा सर्वमिष्टमवाप्नुयात् ॥५७ ॥ - ११.२४.५९

पलाश की समिधाओं से हवन करने पर ब्रह्मतेज की अभिवृद्धि होती है और पलाश के कुसुमों से हवन-करने पर अपने सभी इष्टों की उपलब्धि होती है।

पयोहुत्वाप्नुयान्मेधामाज्यं बुद्धिमवाप्नुयात्।
पीत्वाभिमंत्र्य सुरसं ब्राह्म्या मेधामवाप्नुयात् ॥५८ ॥

दूध का हवन करने से तथा घृत की आहुतियाँ देने से बुद्धि-वृद्धि होती है। मंत्रोच्चारण करते हुए ब्रह्मी के रस का पान करने से चिरग्राहिणी बुद्धि होती है।

पुष्प होमे भवेद्वासस्तंन्तुभिस्तद्विधं पटम्।
लवणं मधुना युक्तं हुत्वेष्टं वशमानयेत्॥५९॥

पुष्प का होम करने पर वस्त्र और डोडों के होम से भी उसी प्रकार का वस्त्र मिलता है। नमक मिले हुए शहद से होम करने पर इष्ट वश में हो जाता है।

नयेदिष्टं वशं हुत्वा लक्ष्मी पुष्पैर्मधुप्लुतैः।
नित्यमञ्जलिनात्मानमभिसिंचन् जले स्थितः॥६०॥

लक्ष्मी पुष्पों से मिले हुए शहद का हवन करने पर इष्ट वश में होता है। जल में स्थित होकर अञ्जलि द्वारा अपना अभिषेक करने (अञ्जलि से जल लेकर अपने ऊपर छिड़कने) से भी उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति होती है।

मतिमारोग्यमायुष्यन्नित्यं स्वास्थ्यमवाप्नुयात्।
कुर्याद्विप्रोऽन्यमुद्दिश्य सोऽपि पुष्टिमवाप्नुयात्॥६१॥

नियमित हवन करने से मति, नीरोगिता, चिरायु और स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। यदि ब्राह्मण किसी अन्य पुरुष के लिये करे, तो भी वह पुष्टि को प्राप्त होता है।

सुचारु विधिना मासं सहस्त्रं प्रत्यहं जपेत्।
आयुष्कामः शुचौ देशे प्राप्नुयादायुरुत्तमम्॥६२॥

उचित रीति से प्रतिदिन एक सहस्र जप, एक मास तक करने से आयु की वृद्धि होती है, बल बढ़ता है तथा यह दीर्घायु, बल और उत्तम देश को प्राप्त होता है।

आयुरारोग्यकामस्तु जपेन्मासद्वयं द्विजः।
भवेदायुष्यमारोग्यं श्रियै मासत्रयं जपेत्॥६३॥

आयु और आरोग्य के अभिलाषायुक्त द्विज को, दो मास तक इसका जप करना चाहिये। दो मास तक जप करने पर, आयु और आरोग्य दोनों ही उपलब्ध होते हैं और लक्ष्मी की कामना के लिये तीन मास तक जप करना आवश्यक है।

आयुः श्रीपुत्र दाराद्याश्चतुर्भिश्च यशो जपात्।
पुत्र दारायुरारोग्यं श्रियं विद्यां च पंचभिः॥६४॥

चार मास तक जप करने से दीर्घायु, श्री (लक्ष्मी), स्त्री और यश की प्राप्ति होती है। पुत्र, कलत्र, आयु और आरोग्य, लक्ष्मी तथा विद्या की प्राप्ति हेतु पाँच मास तक जप करना चाहिये।

एवमेवोक्त- कामार्थं जपेन्मासैः सुनिश्चितैः।
एकपादो जपेदूर्ध्वबाहुः स्थित्वा निराश्रयः॥६५॥

इस प्रकार उपर्युक्त वस्तुओं की प्राप्ति के लिये निर्दिष्ट मासों तक जप करना आवश्यक है। एक पैर पर बिना किसी का आश्रय लिये खड़े रह कर तथा ऊपर को भुजायें लम्बी कर जप करना चाहिये।

मासं शतत्रयं विप्रः सर्वान्कामानवाप्नुयात्।
एवं शतोत्तरं जप्त्वा सहस्त्रं सर्वमाप्नुयात्॥६६॥

इस प्रकार एक मास तक ३०० मन्त्र प्रतिदिन जाप करने पर सब कार्यों की सिद्धि प्राप्त होती है। इसी प्रकार ग्यारह सौ नित्य जपने से सर्व कार्य सम्पन्न हो जाते हैं।

रुद्ध्वा प्राणमपानं च जपेन्मासं शतत्रयम्।
यदिच्छेत्तदवाप्नोति सर्वं स्वाभीष्टमाप्नुयात्॥६७॥

प्राण-अपान वायु को रोककर एक मास तक प्रतिदिन तीन सौ मन्त्र जपने से इच्छित वस्तु की उपलब्धि होती है।

एकपादो जपेदूर्ध्व बाहू रुध्वानिलं वशी।
मासं शतमवाप्नोति यदिच्छेदिति कौशिकः ॥६८ ॥

आकाश की ओर भुजा उठाए हुए और एक पैर के ऊपर खड़ा होकर साँस को यथाशक्ति अवरोध कर एक मास तक १०० मन्त्र प्रतिदिन जपने से अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती है, ऐसा कौशिक का मत है ।

एवं शतत्रयं जप्त्वा, सहस्त्रं सर्वमाप्नुयात्।
निमज्ज्याप्सु जपेन्मासं शतमिष्टमवाप्नुयात् ॥६९ ॥

जल के भीतर डुबकी लगाकर एक मास तक ३०० मन्त्र प्रतिदिन जप करने से सभी अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती है ।

एवं शतत्रयं जप्त्वा सहस्त्रं सर्वमाप्नुयात्।
एकपादो जपेदूर्ध्वबाहू रुद्ध्वा निराश्रयः ॥७० ॥

इसी प्रकार १३०० मन्त्र प्रतिदिन जप करने से सभी वस्तुओं की प्राप्ति होती है । जपने के समय एक पैर पर खड़े होकर आकाश की ओर बाहु लम्बी किये और बिना किसी का आश्रय लिये खड़ा होना चाहिये ।

नक्तमश्नन्हविष्यान्नं वत्सरादृषितामियात्।
गीरमोघा भवेदेवं जप्त्वा सम्वत्सरद्वयम् ॥७१ ॥

इसी प्रकार एक पैर पर खड़े होकर रात्रि में हविष्यान्न खाकर एक वर्ष तक जप करने से मनुष्य ऋषि हो जाता है । इसी प्रकार दो वर्ष तक जप करने से वाणी अमोघ होती है ।

त्रिवत्सरं जपेदेवं भवेत् त्रैकालदर्शनम्।
आयाति भगवान्देवश्चतुः सम्वत्सरं जपेत् ॥७२ ॥

तीन वर्ष तक इसी विधि के अनुसार जप करने से मनुष्य त्रिकालदर्शी हो जाता है और यदि चार वर्ष तक इसका जप उक्त विधि से किया गया, तो भगवान् ही निकट आ जाते हैं ।

पञ्चभिर्वत्सरैरेवमणिमादियुतो भवेत्।
एवं षड्वत्सरं जप्त्वा कामरूपित्वमाप्नुयात्॥ ७३॥

पाँच वर्ष पर्यन्त जप करते रहने से अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है और छः वर्ष तक एक पाद पर स्थिर होकर ऊर्ध्व बाहु किये जप करने से इच्छा- रूप (जैसा वेश बनाने की इच्छा हो, वैसा ही रूप धारण कर लेना) हो जाता है ।

सप्तभिर्वत्सरैरेवममरत्वमवाप्नुयात् ।
मनुत्व-सिद्धिर्नवभिरिन्द्रत्वं दशभिर्भवेत् ॥७४ ॥

सात वर्ष तक जप करने से अमरता प्राप्त होती है अर्थात् देव-योनि मिल जाती है । नौ वर्ष पर्यन्त जप करने से मनु की पदवी और दस वर्ष में इन्द्रासन ही मिल जाता है ।

एकादशभिराप्नोति प्राजापत्यं तु वत्सरैः ।
ब्रह्मत्वं प्राप्नुयादेवं जप्त्वा द्वादशवत्सरान् ॥७५ ॥

ऐसे एक आसन के सहारे ग्यारह वर्ष तक जप किया जाय, तो मनुष्य प्रजापति के भाव को प्राप्त कर लेता है और बारह वर्ष पश्चात् तो ब्रह्मपद को ही प्राप्त कर लेता है ।

एतेनैव जिता लोकास्तपसा नारदादिभिः ।
शाकमन्येऽपरे मूलं फलमन्ये पयोऽपरे ॥७६ ॥

इसी तप से नारदजी आदि ऋषियों ने सम्पूर्ण लोकों को जीत लिया था, जिसमें कुछ शाकाहारी थे, दूसरे कन्द भोजी, कुछ फल खाने वाले और कुछ दूध पर निर्भर रहते थे ।

घृतमन्येऽपरे सोममपरे चरुवृत्तयः।
ऋषयः भैक्ष्यमश्नन्ति केचिद् भैक्षाशिनोऽहनि ॥७७।

कुछ घृताहारी, दूसरे सोमपान करने वाले, कुछ चरु ग्रहण करने वाले और कुछ ऐसे थे जो भिक्षान्न पर ही निर्वाह करते थे।

हविष्यमपरेऽश्नन्तः कुर्वन्त्येवं परंतपः।
अथ शुद्ध्यै रहस्यानां त्रिसहस्रं जपेद् द्विजः ॥७८ ॥

कुछ लोग हविष्य को खाते हुए महान् जप करते थे। द्विज को पापों के निवारणार्थ तीन सहस्र जप करना चाहिये।

मासं शुद्धो भवेत्स्तेयात्सुवर्णस्य द्विजोत्तमः।
जपेन्मासं त्रिसहस्रं सुरापः शुद्धिमाप्नुयात् ॥७९ ॥

यदि किसी द्विज के द्वारा सुवर्ण चुरा लिया गया हो, तो इस पाप से मुक्त होने के लिये, एक मास पर्यन्त जप करना चाहिये। जिस द्विज ने मदिरा पान कर लिया हो, तो उसे पूरे एक मास पर्यन्त ३००० मन्त्र प्रतिदिन जप करना चाहिये।

मासं जपेत् त्रिसाहस्रं शुचिः स्याद् गुरुतल्पगः।
त्रिसहस्रं जपेन्मासं कुटीं कृत्वा वने वसन् ॥८० ॥
ब्रह्महत्योद्भवात्पापान्मुक्तिः कौशिकभाषितम्।
द्वादशाहं निमज्याप्सु सहस्रं प्रत्यहं जपेत् ॥८१।

गुरु शय्यागामी को शुद्ध होने के लिये एक मास तक ३००० मंत्र का जप प्रतिदिन करना चाहिये। जंगल में कुटी बनाकर रहकर और तीन सहस्र प्रतिदिन जप करने से ब्रह्महत्या करने वाला हत्या रूपी महान् पातक से विमुक्त हो जाता है, ऐसा विश्वामित्र ने कहा है। बारह दिन तक जल में डुबकी लगाकर सहस्र गायत्री का जप करे।

मुक्ताः स्युरघव्यूहाच्च महापातकिनो द्विजाः।
त्रिसाहस्रं जपेन्मासं प्राणानायम्य वाग्यतः ॥८२ ॥

उपर्युक्त जप को शुद्ध होकर प्राणायाम करके ३००० मन्त्र एक मास तक जपने से महान् पातक से भी छूट जाता है।

महापातकयुक्तोऽपि मुच्यते महतो भयात्।
प्राणायाम-सहस्रेण ब्रह्महापि विशुध्यति ॥८३ ॥

महापातकी ही क्यों न हो, वह महान् भय से मुक्त हो जाता है। एक सहस्र प्राणायाम करने से ब्रह्मघाती भी विशुद्ध हो जाता है।

षट् कृत्वो ह्यभ्यसेदूर्ध्वं प्राणापानौ समाहितः।
प्राणायामो भवेदेष सर्वपाप-प्रणाशनः ॥८४ ॥

छः बार प्राणापान को ऊपर करके जो प्राणायाम किया जाता है, वह सब पापों का विनाश करता है।

सहस्रमभ्यसेन्मासं क्षितिपः शुचितामियात्।
द्वादशाहं त्रिसाहस्रं जपेद्धि गोवधे द्विजः ॥८५ ॥

राजा एक मास तक जपता हुआ पवित्रता को प्राप्त होता है और गो-हत्या हो जाने पर बारह दिन तक ३००० जप प्रतिदिन करे।

अगम्यगमने स्तेये हननेऽभक्ष्यभक्षणे।
दश साहस्रमभ्यस्ता गायत्री शोधयेत् द्विजम् ॥८६ ॥

अगम्य स्थान में गमन करना, चोरी, मारना, अभक्ष्य वस्तु का भक्षण कर लेना, इन दोषों को मिटाने के निमित्त दस हजार गायत्री का जप करना चाहिये । इससे द्विज की शुद्धि होती है ।

प्राणायामशतं कृत्वा मुच्यते सर्वकिल्विषात् ।
सर्वेषामेव पापानां संकरे सति शुद्धये ॥८७ ॥

सम्पूर्ण पापों से एक साथ ही दूषित होने पर अथवा जब किसी पुरुष को एक साथ ही अनेक पापों ने दोषयुक्त बना दिया हो, तो सौ प्राणायाम कर इन पापों से मुक्त होना चाहिये ।

सहस्रमभ्यसेन्मासं नित्य जापी वने वसन् ।
उपवाससमो जापस्त्रिसहस्रं तदित्यृचः ॥८८ ॥

वन में बसकर हजार जप करता हुआ एक मास तक ठहरे, इससे सभी कल्मष दूर होते हैं । तीन हजार जप करने से एक उपवास के समान पुण्य मिलता है ।

चतुर्विंशति साहस्रमभ्यस्ता कृच्छ्रसंज्ञिता ।
चतुष्षष्टिः सहस्राणि चान्द्रायणसमानि तु ॥८९ ॥

चौबीस सहस्र जप करने से एक कृच्छ्र के समान और चौंसठ हजार का फल एक चान्द्रायण व्रत के समान होता है ।

शतकृत्वोऽभ्यसेन्नित्यं प्राणानायम्य सन्ध्ययोः ।
तदित्यृचमवाप्नोति सर्वपापक्षयं परम् ॥९० ।

प्रात: और सायं- दोनों सन्ध्याओं में सौ-सौ बार जपने से सभी पाप छूट जाते हैं ।

निमज्याप्सु जपेन्नित्यं शतकृत्वस्तदित्यृचम् ।
ध्यायेद् देवीं सूर्यरूपां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥९१ ॥

जल में निमग्न होकर एक शत, गायत्री नित्य जप करके सब पापों से मुक्त हों । जप करते समय सूर्य-रूपी गायत्री का ध्यान करते रहें ।

इति मे सम्यगाख्याताः, शान्ति-शुद्ध्यादि कल्पनाः ।
रहस्यातिरहस्याश्च गोपनीयास्त्वया सदा ॥९२ ॥

हे नारदजी ! यह हमने आपसे शान्ति शुद्ध्यादि-कल्पना रहस्य कहा है । यह रहस्य का भी रहस्य है, यह आपको सदैव गुप्त रखने योग्य है ।

इति संक्षेपतः प्रोक्तः सदाचारस्य संग्रहः ।
विधिनाचरणादस्य माया दुर्गा प्रसीदति ॥९३ ॥

यह सदाचार का संग्रह आपको संक्षेप से सुनाया । इसका विधिपूर्वक आचरण करने से माया, दुर्गा प्रसन्न होती हैं ।

नैमित्तिकं च नित्यं च काम्यं कर्म यथाविधि ।
आचरेन्मनुजः सोऽयं मुक्तिभुक्तिफलाप्तिभाक् ॥९४

नित्य, नैमित्तिक कर्म जो यथाविधि करता है, वह पुरुष भक्ति और मुक्ति दोनों का अधिकारी होता है ।

आचारः प्रथमो धर्मो धर्मस्य प्रभुरीश्वरी ।
इत्युक्तं सर्वशास्त्रेषु सदाचार-फलं महत् ॥९५ ॥

आचार को प्रथम धर्म कहा है तथा धर्म की स्वामिनी देवी को कहा है । यही सम्पूर्ण शास्त्रों में बतलाया गया है कि सदाचार के समान कोई भी वस्तु महान् फलदायिनी नहीं है ।

आचारवान्सदा पूतः सदैवाचारवान्सुखी।
आचारवान्सदा धन्यः सत्यं सत्यं च नारद ॥९६ ॥

सदाचारी पुरुष सदा पवित्र और सदा सुखी होता है। हे नारद ! इसमें असत्य नहीं है कि सदाचारयुक्त पुरुष धन्य होता है।

देवीप्रसाद-जनकं सदाचार - विधानकम्।
श्रावयेत् शृणुयान्मर्त्यो महासम्पत्तिसौख्यभाक् ॥९७ ॥

जो देवी के प्रसादजनक सदाचार विधि को सुनता और सुनाता है, वह सब प्रकार से धनी और सुख का भागी होता है।

जप्यं त्रिवर्ग संयुक्तं गृहस्थेन विशेषतः।
मुनीनां ज्ञानसिद्ध्यर्थं यतीनां मोक्षसिद्धये ॥९८ ॥

विशेषतः जप करने वाले गृहस्थों को त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति होती है। मुनियों को ज्ञान-सिद्धि तथा यतियों को मोक्ष की सिद्धि होती है।

त्रिरात्रोपोषितः सम्यग्घृतं हुत्वा सहस्रशः।
सहस्रं लाभमाप्नोति हुत्वाग्नौ खदिरेन्धनम् ॥९९ ॥

तीन रात उपवास करके अच्छी प्रकार से हजार घी की आहुति, खदिर की समिधाओं से अग्नि में देने पर बहुसंख्यक धन-प्राप्ति का लाभ होता है।

पलाशैर्हि समिद्भिश्च घृताक्तैस्तु हुताशने।
सहस्रं लाभमाप्नोति राहुसूर्य-समागमे ॥१०० ।

घृतयुक्त पलाश की समिधायें सूर्यग्रहण के समय अग्नि में हवन करने से सहस्र धन की प्राप्ति होती है।

हुत्वा तु खदिरं वह्नौ घृताक्तं रक्तचन्दनम्।
सहस्रं हेममाप्नोति राहुचन्द्र-समागमे ॥१०१ ॥

खदिर तथा रक्त चन्दन को घृतयुक्त करके चन्द्रग्रहण के अवसर पर अग्नि में हवन करने से सहस्र स्वर्ण की प्राप्ति होती है।

रक्तचन्दन-चूर्णं तु सघृतं हव्यवाहने।
हुत्वा गोमयमाप्नोति सहस्रं गोमयं द्विजः ॥१०२ ॥

रक्त चन्दन को घी में भिगोकर अग्नि में हजार बार आहुति देने से घी, दूध आदि गोमय की कमी नहीं रहती।

जाती-चम्पक-राजार्क-कुसुमानां सहस्रशः।
हुत्वा वस्त्रमवाप्नोति घृताक्तानां हुताशने ॥१०३ ॥

जाती, चम्पक, राजार्क के फूलों को घृतयुक्त करके अग्नि में हवन करने से वस्त्र प्राप्त होते हैं।

सूर्यमण्डल-विम्बे च हुत्वा तोयं सहस्रशः।
सहस्रं प्राप्नुयाद्धेमं रौप्यमिन्दुमये हुते ॥१०४ ॥

जब सूर्य मण्डल का विम्ब मात्र झलक रहा हो अर्थात् सूर्योदय हो रहा हो, उस समय हजार बार तर्पण करने तथा सूर्योदय से पूर्व चन्द्रकाल में एक हजार आहुतियाँ देने से सोना, चाँदी की प्राप्ति होती है।

अलक्ष्मीपाप-संयुक्तो मलव्याधि-समन्वितः।
मुक्तः सहस्रजाप्येन स्नायाद्यस्तु जलेन वै ॥१०५ ॥

जल में स्नान करके एक हजार बार जप करने से अलक्ष्मी, पाप, मल, व्याधि नष्ट हो जाते हैं।

गोघृतेन सहस्रेण लोध्रेण जुहुयाद्यदि।
चौराग्निमारुतोत्थानि भयानि न भवन्ति वै ॥१०६ ॥

लोध को गो-घृत में मिलाकर हजार बार होमने से चोर, अग्नि, वायु के उपद्रवों का भय नष्ट हो जाता है।

क्षीराहारो जपेल्लक्षमपमृत्युमपोहति।
घृताशी प्राप्नुयान्मेधां बहु विज्ञान संचयाम् ॥१०७ ॥

दूध पीकर एक लक्ष गायत्री का जप करने से अकाल मृत्यु का डर चला जाता है। घी खाने वाला मेधा प्राप्त करता है, जिससे बहुत प्रकार के विज्ञान का संचय होता है।

हुत्वा वेतसपत्राणि घृताक्तानि हुताशने।
लक्षाधिपस्य पदवीमाप्नोतीति न संशयः ॥१०८ ॥

वेतस पत्रों को घी में मिलाकर अग्नि में हवन करने से लक्षाधिपति की पदवी प्राप्त हो जाती है।

लाक्षा भस्म होमञ्च कृत्वा ह्युत्तिष्ठते जलात्।
आदित्याभिमुखं स्थित्वा नाभि मात्रजले शुचौ ॥१०९ ॥
गर्भपातादि प्रदराश्चान्ये स्त्रीणां महारुजः।
नाशमेष्यन्ति ते सर्वे मृतवत्सादि दुःखदाः ॥११० ॥

जल में स्थिर होकर लाख की भस्म की आहुति दे तथा सूर्य के सम्मुख नाभिमात्र जल में शुद्ध होकर खड़ा रहे तो गर्भपात, प्रदर, मृत सन्तान की उत्पत्ति आदि स्त्री सम्बन्धी महारोग दूर हो जाते हैं।

तिलानां लक्षहोमेन घृताक्तानां हुताशने।
सर्वकामसमृद्धात्मा परं स्थानमवाप्नुयात् ॥१११ ॥

घी मिलाकर तिलों से अग्नि में एक लाख बार हवन करने से सब कामनाओं की सिद्धि होती है तथा परम स्थान की प्राप्ति होती है।

यवानां लक्षहोमेन घृताक्तानां हुताशने।
सर्वकामसमृद्धात्मा परां सिद्धिमवाप्नुयात् ॥११२ ॥

यवों में घी मिलाकर एक लाख बार अग्नि में आहुति देने से सब कर्मों की सिद्धि होती है तथा परासिद्धि प्राप्त होती है।

घृतस्याहुतिलक्षेणसर्वान्कामानवाप्नुयात् ।
पञ्चगव्याशनो लक्षं जपेच्चाति स्मृतिर्भवेत् ॥११३ ॥

एक लाख बार घी की आहुति देने से सब कामों की सिद्धि होती है। पञ्चगव्य पीकर एक लाख जप करने से स्मृति की वृद्धि होती है।

अन्नादि-हवनान्नित्यमन्नादिश्च भवेत्सदा।
तदेव ह्यनले हुत्वा प्राप्नोति बहुसाधनम् ॥११४ ॥

इसी प्रकार अन्नादि से नित्य हवन करने से अन्नादि प्राप्त होता है और अग्नि में आहुति देने से बहुत-सा साधन-सामान प्राप्त होता है।

लवणं मधुसंयुक्तं हुत्वा सर्ववशी भवेत्।
हुत्वा तु करवीराणि रक्तानि ज्वालयेज्ज्वरम् ॥११५ ।

नमक और मधु मिलाकर हवन करने से सब वश में हो जाते हैं। ज्वर नष्ट करने के लिये लाल कनेर के फूलों से हवन करना चाहिये।

हुत्वा भल्लातकं-तैलं देशादेव प्रचालयेत्।
हुत्वा तु निम्ब-पत्राणि विद्वेषं शमयेन्नृणाम् ॥११६ ॥

भिलावे के तेल द्वारा हवन करने से उच्चाटन हो जाता है । नीम के पत्तों के हवन करने से विद्वेष दूर हो जाता है ।

सुरक्तान्तण्डुलान्नित्यं घृताक्तान् च हुताशने।
हुत्वा बलमवाप्नोति शत्रुभिर्न स जीर्यते ॥११७ ॥

लाल चावलों को घी में मिलाकर अग्नि में हवन करने से बल की प्राप्ति होत्ती है और शत्रुओं का क्षय होता है ।

प्रत्यानयन-सिद्ध्यर्थं मधुसर्पिः समन्वितम्।
गवां क्षीरं प्रदीप्तेऽग्नौ जुह्वतस्तत्प्रशाम्यति ॥११८ ॥

मधु, घी संयुक्त करके किसी को वापस बुलाने के लिये हवन करना चाहिये । गाय के दूध का अग्नि में हवन करने से शान्ति का निवास हो जाता है ।

ब्रह्मचारी जिताहारो यः सहस्त्रत्रयं जपेत्।
सम्वत्सरेण लभते धनैश्वर्यं न संशयः ॥११९ ॥

आहार जीतकर जो ब्रह्मचारी तीन हजार गायत्री जप करता है, वह वर्ष में धन, ऐश्वर्य आदि प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ।

शमीबिल्वपलाशानामर्कस्य तु विशेषतः ।
पुष्पाणां हि समिद्भिश्च हुत्वा हेममवाप्नुयात् ॥१२० ॥

शमी, बिल्व, पलाश और खासतौर से अर्क या आक के पुष्पों की समिधा बनाकर जो हवन करते हैं, उन्हें स्वर्ण की प्राप्ति होती है ।

आब्रह्म त्र्यम्बकाद्यन्तं यो हि प्रयतमानसः ।
जपेल्लक्षं निराहारः गायत्री वरदा भवेत् ॥१२१ ॥

"आब्रह्म...से त्र्यम्बकं यजामहे"....तक एक लाख बार निराहार होकर जपने से गायत्री वरदा हो जाती है ।

महारोगा विनश्यन्ति लक्ष जप्यानुभावतः ।
स्नात्वा तथैव गायत्र्याः शतमन्तर्जले जपेत् ॥१२२ ॥

भावनापूर्वक एक लाख बार गायत्री जपने से महारोग नष्ट हो जाते हैं तथा स्नान करके जल के भीतर सौ बार जप करने से भी रोग दूर होते हैं ।

स्वर्णहारी, तैलहारी, यस्तु विप्रः सुरां पिबेत्।
चन्दनद्वय-संयुक्तं कर्पूरं तण्डुलं यवम् ॥१२३ ॥
लवंगं सुफलं चाज्यं सितां चाम्रस्य दारुकम्।
जुहुयाद्विधिरुक्तोऽयं गायत्र्याः प्रीतिकारकः ॥१२४ ॥

स्वर्ण, तेल की चोरी करने तथा सुरा पीने का पाप नष्ट होने के लिये विप्र दोनों चन्दन, कपूर, चावल, यव, लवंग, नारियल, आज्य, मिश्री, आम की लकड़ी इन सबसे हवन करे । इस सामग्री से किया हुआ हवन गायत्री को प्रिय है ।

क्षीरोदनं तिलान्दूर्वां क्षीरद्रुमसमिद्वरान्।
पृथक् सहस्त्रत्रितयं जुहुयान्मन्त्र-सिद्धये ॥१२५ ॥

प्रणवयुक्त २४ लाख गायत्री जप, जपसिद्धि के लिये पृथक् दूध, भात, तिल, दूर्वा, बरगद, गूलर आदि दूध वाले वृक्षों की समिधाओं से तीन हजार गायत्री का हवन करे ।

तत्त्वसंख्या सहस्राणि मन्त्रविज्जुहुयात्तिलैः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो दीर्घमायुः स विन्दति ।।१२६ ।।

तिलों से २४ हजार आहुति देने वाला समस्त पापों से रहित हो दीर्घायु हो जाता है ।

आयुषे साज्यहविषा केवलेनाथ सर्पिषा ।
दूर्वाक्षीरतिलैर्मन्त्री जुहुयात्त्रिसहस्रकम् ।।१२७ ।।

आयु की कामना से घृतयुक्त सामग्री अथवा केवल घृत से, खीर से, दूध और तिलों से तीन हजार आहुति दे ।

अरुणाब्जैस्त्रिमध्वक्तैर्जुहुयादयुतं ततः ।
महालक्ष्मीर्भवेत्तस्य षण्मासान्न संशयः ।।१२८ ।।

तदनन्तर लाल कमलों से, त्रिमधु-युक्त दश हजार आहुति दे, तो छः महीने में महान् धनवान् हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ।

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
ये जपन्ति सदा तेषां न भयं विद्यते क्वचित् ।।१२९ ।।

जो मनुष्य प्रणव, व्याहृति तथा शिर सहित गायत्री मन्त्र का जप करते हैं, उनको कहीं पर भी भय नहीं होता है ।

शतं जप्ता तु सा देवी दिनपापप्रणाशिनी ।
सहस्रं जप्ता सा देवी सर्वकल्मषनाशिनी ।।१३० ।।

सौ बार गायत्री का जप करने से दिन भर का पाप नष्ट होता है और हजार बार जपने से अनेक पातकों से मुक्त हो जाता है ।

दशसहस्र जप्तासा पातकेभ्यः समुद्धरेत् ।
स्वर्णस्तेयकृद्यो विप्रो ब्राह्मणो गुरुतल्पगः ।।१३१ ।।

दस हजार बार गायत्री जपने से सोने की चोरी करने तथा गुरु की स्त्री से गमन करने के पापों से मुक्त हो जाता है ।

सुरापश्च विशुध्येत लक्षजापान्न संशयः ।
प्राणायामत्रयं कृत्वा स्नानकाले समाहितः ।।१३२ ।।

स्नान-काल में तीन बार प्राणायाम कर यदि गायत्री का एक लाख जप करे, तो मदिरापान के दोष से छूट जाता है ।

अहोरात्रकृतात्पापात्तत्क्षणादेव मुच्यते ।
प्राणायामैः षोडशभिर्व्याहृतिप्रणवान्वितैः ।।१३३ ।।

प्रणव, महाव्याहृतिपूर्वक यदि प्राणायाम सोलह बार करे तो तत्क्षण ही रात-दिन के पाप से छूट जाता है ।

भ्रूणहत्यायुतं दोषं पुनाति सहस्रं जपात् ।
हुता देवी विशेषेण सर्वकामप्रदायिनी ।।१३४ ।।

एक हजार नित्य गायत्री का जप, एक मास तक करने से भ्रूण हत्या के दोष को भी नाश कर देता है । विशेषकर गायत्री मन्त्र द्वारा हवन करने से समस्त कामनाएँ पूर्ण होती हैं ।

सर्वपापक्षयकरी वरदा भक्तवत्सला।
शान्तिकामस्तु जुहुयात् सावित्रीमक्षतैः शुचिः ॥१३५ ॥

गायत्री समस्त पापनाशिनी और वर देने वाली तथा भक्तों पर कृपा करने वाली है । अतः शान्ति की कामना करने वाला पुरुष पवित्र होकर चावलों से गायत्री मन्त्र द्वारा हवन करे ।

हन्तुकामोऽपमृत्युं च घृतेन जुहुयात्तथा।
श्रीकामस्तु तथा पद्मैर्बिल्वैः काञ्चनकामुकः ॥१३६ ॥

अपमृत्यु को नाश करने की इच्छा वाला पुरुष घृत द्वारा, शोभा की इच्छा करने वाला पद्मों से और सोने की इच्छा करने वाला बेलपत्तों द्वारा गायत्री मन्त्र का हवन करे ।

ब्रह्मवर्चसकामस्तु पयसा जुहुयात्तथा।
घृताप्लुतैस्तिलैरग्नौ जुहुयात्सुसमाहितः ॥१३७ ॥

ब्रह्म-तेज की कामना करने वाला व्यक्ति सावधानीपूर्वक घृतयुक्त तिलों से और घी से हवन करे ।

गायत्र्ययुत-होमाच्च सर्वपापैः प्रमुच्यते।
पापात्मा लक्ष-होमेन पातकेभ्यः प्रमुच्यते ॥१३८ ॥

दस हजार गायत्री के हवन करने से पापमुक्त हो जाता है और एक लाख बार हवन करने से पापी पुरुष बड़े पाप से छूट जाता है ।

इष्ट लोकमवाप्नोति प्राप्नुयात्काममीप्सितम्।
गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी ॥१३९ ॥

गायत्री वेदों की माता एवं पाप नाश करने वाली है । अतः गायत्री की उपासना करने वाला व्यक्ति इच्छित लोकों को प्राप्त करता है ।

उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ।
नोच्चैर्जपमतः कुर्यात्सावित्र्यास्तु विशेषतः ॥१४० ॥

उपांशु (जिसमें होठ मात्र हिलें) भाव से जपने पर सौ गुना फल प्राप्त होता है और मन में जपने से हजार गुना फल होता है । अतः गायत्री का जप विशेषतया उच्च स्वर में न करे ।

सावित्रीजाप-निरतः स्वर्गमाप्नोति मानवः ।
गायत्रीजाप-निरतो मोक्षोपायं च विन्दति ॥१४१ ॥

गायत्री जपने वाला पुरुष स्वर्ग को प्राप्त करता है और मोक्ष को भी प्राप्त करता है ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्नातः प्रयतमानसः ।
गायत्रीं तु जपेद्भक्त्या सर्वपापप्रणाशिनी ॥१४२ ॥

इस कारण से समस्त प्रयत्नों द्वारा स्नान कर स्थिर चित्त हो सर्व पाप-नाश करने वाली गायत्री का जप करे ।

एवं यः कुरुते राजा लक्षहोमं यतव्रतः ।
न तस्य शत्रवः संख्ये अग्रे तिष्ठन्ति कर्हिचित् ॥१४३ ॥

जो राजा व्रतपूर्वक गायत्री का एक लक्ष होम करता है, उसके शत्रु युद्ध-भूमि में उसके आगे कदापि नहीं ठहरते ।

नाकाल-मरणं देशे व्याधिर्वा जायते तथा।
अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः ॥१४४ ॥

उसके देश में अकाल-मृत्यु तथा व्याधि का कभी भय नहीं रहता । अतिवर्षण, अवर्षण, मूषक, शलभ (टिड्डी आदि) पक्षियों से रक्षा भी होती है ।

राक्षसाद्याः विनश्यन्ति सर्वास्तत्र तथेतयः ॥१४५ ॥
रसवन्ति च तोयानि राज्यं च निरुपद्रवम् ।
धर्मिष्ठा जायते चेष्टा भद्रं भवति सर्वतः ॥१४६ ॥

उसे सब प्रकार की ईतियों का और राक्षसों का भय नहीं रहता अर्थात् इन सबका विनाश हो जाता है, सबकी धर्मनिष्ठ चेष्टा होती है और सभी ओर कल्याण होता है ।

कोटि होमं तु यो राजा कारयेद्विधिपूर्वकम् ।
न तस्य मानसो दाह इह लोके परत्र च ॥
कोटि होमे तु वरयेत् ब्राह्मणान् विंशति नृपः ॥१४७ ॥

जो नृपति एक कोटि संख्या में सविधि होम करता है, उसका चित्त स्थिर और शान्त रहता है । उसे मानसिक दाह, इस लोक और परलोक में कहीं भी व्यथित नहीं करते । इस कोटि होम में राजा बीस ब्राह्मणों का वरण करे ।

शतं वाथ सहस्त्रं वा य इच्छेद् गतिमात्मनः ।
कोटि होमं स्वयं यस्तु कुरुते श्रद्धया द्विजः ॥१४८ ॥
क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा तस्य पुण्यफलं महत् ।
यद् यदिच्छति कामानां तत्तदाप्नोत्यसंशयम् ॥१४९ ॥

जो द्विज आत्मा की सद्गति के लिये सौ या एक सहस्र अथवा एक करोड़ होम स्वयं करता है, उसे और इस प्रकार श्रद्धान्वित होकर करने पर क्षत्रिय हो अथवा वैश्य उसे महान् पुण्य का फल प्राप्त होता है और वह जिन-जिन वस्तुओं की अभिलाषा करता है, उसे वह निस्संदेह मिलती है ।

सशरीरोऽपि चेद् गन्तुं दिवमिच्छेत्तदाप्नुयात् ।
सावित्री परमा देवी सावित्री परमात्परा ॥१५० ॥

सावित्रीदेवी- जो देवाधिदेव रूप हैं तथा पर से पर है, उनका आश्रय लेने पर मनुष्य की सदेह स्वर्ग जाने की अभिलाषा भी पूर्ण होती है ।

सर्वकामप्रदा चैव सावित्री कथिता पुनः ।
अभिचारेषु तां देवीं विपरीतां विचिन्तयेत् ॥१५१ ॥

सब कामों और मनोभिलाषाओं की प्रदायिनी सावित्री कही गयी है । इसके अभिचार में विपरीत चिन्तन करना चाहिये ।

कार्या व्याहृतयश्चात्र विपरीताक्षरास्तथा ।
विपरीताक्षरं कार्यं शिरश्च ऋषिसत्तम ! ॥१५२ ॥

यहाँ विपरीताक्षर व्याहृतियों का उच्चारण करना चाहिये । हे ऋषि श्रेष्ठ ! इसके सिर अक्षरों को भी विपरीत मानना चाहिये ।

आदौ शिरः प्रयोक्तव्यं प्रणवोऽन्ते च वै ऋषे !
भीतिस्थेनेव फट्कारं मध्ये नाम प्रकीर्तितम् ॥१५३ ॥

प्रारम्भ में शिर का प्रयोग करना चाहिये तथा प्रणव को अंत में उच्चारण करना चाहिये और फट्कार को मध्य में प्रयुक्त करे ।

गायत्रीं चिन्तयेत्तत्र दीप्तानलसमप्रभाम् ।
घातयन्तीं त्रिशूलेन केशेष्वाक्षिप्य वैरिणम् ॥१५४ ॥

प्रज्वलित अग्नि की आभा के समान आभा वाली गायत्री का चिन्तन करे और ऐसा ध्यान करे कि वह शत्रुओं के केशों को पकड़कर अपने त्रिशूल द्वारा उन पर घात कर रही है ।

एवं विधा च गायत्री जप्तव्या राजसत्तम !
होतव्या च यथा शक्त्या सर्वकामसमृद्धिदा ।।१५५ ।।

हे राजसत्तम ! सकल कामनाओं को देने वाली गायत्री को इस प्रकार जपना चाहिये और शक्ति के अनुसार होम करना चाहिये ।

निर्दहन्तीं त्रिशूलेन भृकुटी भूषिताननाम् ।
उच्चाटने तु तां देवीं वायुभूतां विचिन्तयेत् ।।१५६ ।।

अपने त्रिशूल से दहन करती हुई तथा चढ़ी हुई भृकुटी से सुशोभित मुख मण्डल वाली, उस वायुभूत देवी का उच्चाटन काल में चिन्तन करे ।

धावमानं तथा साध्यं तस्माद् देशात्तु दूरतः ।
अभिचारेषु होतव्या राजिका विषमिश्रिताः ।।१५७ ।।

धावमान तथा साध्य को उस देश से दूर से अभिचार में विष मिश्रित होम करना चाहिये ।

स्वरक्तसिक्तं होतव्यं कटुतैलमथापि वा ।
तत्राऽपि च विषं देयं होमकाले प्रयत्नतः ।।१५८ ।।

अपने रक्त को कड़वे तेल में मिलाकर तथा उसमें विष मिलाकर यत्नपूर्वक होम काल में देना चाहिये ।

क्रोधेन महताविष्टः परान्नाभिचरेद्बुधः ।
जुहुयात् यदि क्रोधेन ध्रुवं नश्येत् स एव तु ।।१५९ ।।

किन्तु क्रोधावेश में आकर शत्रुओं के वध करने की इस रीति का प्रयोग नहीं करना चाहिये, अन्यथा शत्रु के ऊपर प्रयुक्त न हुआ, तो प्रयोक्ता को निश्चय नष्ट कर डालता है ।

अनागसि न कर्त्तव्यो ह्यभिचारो मतो बुधैः ।
स्वल्पागसि न कर्त्तव्यो ह्यभिचारो महामुने ।।१६० ।।

बुद्धिमानों को इसका प्रयोग निरपराधी पर नहीं करना चाहिये । हे मुनीश्वर ! स्वल्प अपराध होने पर भी इसका उपयोग करना उचित नहीं है ।

महापराधं बलिनं देव-ब्राह्मण-कण्टकम् ।
अभिचारेण यो हन्यान्न स दोषेण लिप्यते ।।१६१ ।।

महान् अपराध करने वाले बलवान् को तथा देव और ब्राह्मण को कष्ट देने वाले को जो हनन करे, उसे दोष नहीं लगता ।

धर्मस्य दानकाले च स्वल्पागसि तथैव च ।
अभिचारं न कुर्वीत बहुपापं विचक्षणः ।।१६२ ।।

धर्म और दान करते समय तथा स्वल्प अपराध के समय, पण्डित को चाहिये कि बहुपाप-रूप अभिचार को कदापि न करे ।

बहूनां कण्टकात्मानं पापात्मानं सुदुर्म्मतिम् ।
हन्यात्कृतापराधान्तु तस्य पुण्य- फलं महत् ।।१६३ ।।

जो पापात्मा तथा दुर्मति अनेकों के मार्ग में कण्टक बना हुआ है, उस अपराधी के हनन करने वाले को महान् पुण्य फल की प्राप्ति होती है ।

ये भक्ताः पुण्डरीकाक्षे वेदयज्ञे द्विजे जने ।
न तानभिचरेत् जातु तत्र तद्विफलं भवेत् ।।१६४ ।।

जो पुरुष भगवान् के, वेद और यज्ञों के, द्विजों के भक्त हैं, उनके प्रति कभी अभिचार न करे। यदि ऐसा किया जाय, तो वह अभिचार निष्फल हो जाता है।

नहि केशवभक्तानामभिचारेण कर्हिचित्।
विनाशमभिपद्येत तस्मात्तन्न समाचरेत्॥१६५॥

जो श्रीकृष्ण भगवान् के भक्त हैं, उनके प्रति अभिचार का प्रयोग कदापि न करें, क्योंकि इस प्रकार करने पर अपना ही विनाश हो जाता है।

सेयं धात्री विधात्री च सावित्र्यघविनाशिनी।
प्राणायामेन जाप्येन तथा चान्तर्ज्जलेन च॥१६६॥
सव्याहृतीसप्रणवा जप्तव्या शिरसा सह।
प्रणवेन तया न्यस्ता वाच्या व्याहृतयः पृथक्॥१६७॥

पाप-समूहों का विनाश करने वाली उस धात्री सावित्री को प्राणायाम से, जप, अन्तर्जल से व्याहृति तथा प्रणव सहित सिर से जपना चाहिये। प्रणव के साथ न्यास करके व्याहृतियों का पृथक्-पृथक् उच्चारण करना चाहिये।

सदाचारेण सिध्येच्च ऐहिकामुष्मिकं सुखम्।
तदेव ते मया प्रोक्तं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि॥१६८॥

सदाचार से लौकिक और पारलौकिक सुख प्राप्त होता है। यह मैंने आपसे कहा और क्या सुनने की इच्छा है ? वह मुझसे कहो।

गायत्री तंत्र के अन्तर्गत कुछ थोड़े से प्रयोगों का संकेत ऊपर किया गया है। इन प्रयोगों के जो सुविस्तृत, विधि-विधान, कर्म-काण्ड एवं नियम-बन्धन हैं, उनका उल्लेख यहाँ न करना ही उचित है, क्योंकि तन्त्र के गुह्य विषय को सर्वसाधारण के सम्मुख प्रकट करने से सार्वजनिक सुव्यवस्था में बाधा उपस्थित होने की आशंका रहती है।

गायत्री अभिचार

मनुष्य एक अच्छा-खासा बिजली घर है। उसमें इतनी उष्णता एवं विद्युत् शक्ति होती है कि यदि उस सबका ठीक प्रकार से उपयोग हो सके, तो एक द्रुत वेग से चलने वाली तूफान मेल रेलगाड़ी दौड़ सकती है। जो शब्द मुख से निकलते हैं, वे अपने साथ एक विद्युत् प्रवाह ले जाते हैं। फलस्वरूप उनके द्वारा एक सूक्ष्म जगत् में कम्पन उत्पन्न होती है और उन कम्पनों द्वारा अन्य वस्तुओं पर प्रभाव पड़ता है। देखा गया है कि कोई वक्ता अपनी वक्तृता के साथ-साथ ऐसी भाव-विद्युत् का सम्मिश्रण करते हैं कि सुनने वालों का हृदय हर्ष, विषाद, क्रोध, त्याग आदि से भर जाता है। वे अपने श्रोताओं को उँगली पर नचाते हैं। देखा गया है कि कई उग्र वक्ता भीड़ को उत्तेजित करके उनसे भयंकर कार्य करा डालते हैं। कभी किसी-किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के भाषण इतने महत्त्वपूर्ण होते हैं कि उससे समस्त संसार में हलचल मच जाती है।

शब्द को शास्त्रों में बाण कहा गया है। धनुष से जब बाण छूटता है तो उसमें शक्ति होती है। यह शक्ति जहाँ चोट करती है , उसे तिलमिला देती है। शब्द भी ऐसा शक्ति सम्पन्न साधन है, जो प्रकृति के परमाणुओं में विविध प्रकार के विक्षोभ उत्पन्न करता है। जिस प्रकार प्रकृति में वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से हलचल पैदा की जाती है, उसी प्रकार मनुष्य शरीर में रहने वाले विद्युत् प्रवाह के आधार पर भी सृष्टि के परमाणुओं में गतिविधि पैदा की जा सकती है और वैसे ही परिणाम उपस्थित किये जा सकते हैं, जैसे कि वैज्ञानिक लोग मशीनों के आधार पर प्रस्तुत करते हैं।

आकाश के ऊँचे स्तर पर बर्फ का चूर्ण हवाई जहाजों से फैलाकर वैज्ञानिकों ने तुरंत वर्षा करने की विधि निकाली है। इसी कार्य को प्राचीनकाल में शब्द-विज्ञान द्वारा, मन्त्र-बल से किया जाता था। उस समय भी

उच्चकोटि के वैज्ञानिक मौजूद थे, पर उनका आधार वर्तमान आधार से भिन्न था। इसके लिये उन्हें मशीनों की जरूरत नहीं पड़ती थी, इतनी खर्चीली खटपट के बिना भी उनका काम चल जाता था। आज स्थूल से सूक्ष्म को प्रभावित करके वह शक्ति उत्पन्न की जाती है, जिससे आविष्कारों का प्रकटीकरण होता है। आज कोयला, तेल और पानी से शक्ति पैदा की जाती है। परमाणु का विस्फोट करके शक्ति उत्पन्न करने का अब नया प्रयोग सफल हुआ है। अमेरिका साइन्स एकेडमी के प्रधान डाक्टर 'एविड' का कहना है कि आगामी तीन सौ वर्षों के भीतर विज्ञान इतनी उन्नति कर लेगा कि बाहरी किसी वस्तु की सहायता के बिना मानव शरीर के अन्तर्गत रहने वाले तत्त्वों के आधार पर ही सूक्ष्म जगत् में हलचल पैदा की जा सकेगी और जो लाभ आजकल मशीनों द्वारा मिलते हैं, वे शब्द आदि के प्रयोग द्वारा ही प्राप्त किये जा सकेंगे।

डाक्टर एविड भविष्य में जिस वैज्ञानिक उन्नति की आशा करते हैं, भारतीय वैज्ञानिक किसी समय उसमें पारंगत हो चुके थे। शाप और वरदान देना इसी शब्द विज्ञान की चरम उन्नति थी। शब्द का आघात मारकर प्रकृति के अन्तराल में भरे हुए परमाणुओं को इस प्रकार आकर्षित-विकर्षित किया जाता है कि मनुष्य के सामने वैसे ही भले-बुरे परिणाम आ उपस्थित होते थे, जैसे आज विशेष प्रक्रियाओं द्वारा, मशीनों की गति-विधि द्वारा विशेष कार्य सिद्ध किये जाते हैं। प्राचीन काल में अपने आपको ही एक महा शक्तिशाली यन्त्र मानकर उसी के द्वारा ऐसी शक्ति उत्पन्न करते थे कि जिसके द्वारा अभीष्ट फलों को चमत्कारिक रीति से प्राप्त किया जा सकता था। वह प्रणाली साधना, योगाभ्यास, तपश्चर्या, तन्त्र आदि नामों से पुकारी जाती है। इन प्रणालियों के उपाय जप, होम, पुरश्चरण, अनुष्ठान, तप, व्रत, यज्ञ, पूजन, पाठ आदि होते थे। विविध प्रयोजनों के विविध कर्मकाण्ड थे। हवन में होमी जाने वाली सामग्रियाँ, मन्त्रों की ध्वनि, ध्यान का आकर्षण, स्तोत्र और प्रार्थनाओं द्वारा आकांक्षा प्रदीप्ति, विशेष प्रकार के आहार-विहार द्वारा मनःशक्तियों का विशेष प्रकार का निर्माण, तपश्चर्याओं द्वारा शरीर में विशेष प्रकार की उष्णता का उत्पन्न होना, देव पूजा द्वारा प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों को खींचकर अपने में धारण करना आदि अनेक विधियों से साधक अपने आपको एक ऐसा विद्युत् पुञ्ज बना लेता था कि उसका प्रयास जिस दिशा में चल पड़े, उस दिशा के प्रकृति के परमाणुओं पर उसका आधिपत्य हो जाता था और उस प्रक्रिया द्वारा अभीष्ट परिणाम प्राप्त होते थे।

भारतीय विज्ञान इसी प्रकार का था। उसमें मशीनों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी, बल्कि अपने आपको महायन्त्र मानकर उसी को समय-समय पर इस योग्य बना लेते थे कि उसी से दुनिया की सारी मशीनों का काम चल जाता था। उस समय रेडियो ध्वनि विस्तारक या ध्वनि ग्राहक यन्त्रों की जरूरत नहीं पड़ती थी। तब विचार संचालन की विद्या जानने वाले बड़ी आसानी से इस लाभ को उठा लेते थे। अस्त्र-शस्त्रों के विषय में भी यही बात थी। आज बन्दूक की गोली को सीध में चलाये जाने की बात लोगों को मालूम है, पर किसी जमाने में गोली या बाण को मोड़कर गोलाई में चक्राकार चलाने का विज्ञान भी मालूम था। रामचन्द्र जी ने चक्राकार खड़े हुए सात ताड़ के वृक्षों को एक ही बाण से वेधा था। एकलव्य ने कुत्ते के होठों को बाणों से सी दिया था, पर कुत्ते के जबड़े में राई भर भी चोट नहीं आयी थी। शब्दवेधी बाण चलाने की विद्या तो पृथ्वीराज चौहान तक को विदित थी। आज तो उस विज्ञान का प्रायः लोप-सा हो गया है।

बिना मशीन के चलने वाले जिन अद्‌भुत दिव्य शस्त्रों का भारतीय इतिहास में वर्णन है, उनमें आग्नेयास्त्र भी एक था। मुँह में इससे आग लगाई जाती थी, जलन, आँधी या तूफान पैदा किया जाता था। व्यक्तिगत प्रयोगों में इससे किसी व्यक्ति विशेष पर प्रयोग करके उसकी जान तक ले ली जाती थी। अग्निकाण्ड कराये जाते थे। इसे तान्त्रिक काल में 'अगियाबैताल' कहा जाता था। इनका प्रयोग गायत्री मन्त्र द्वारा भी होता था, जिसका कुछ संकेत निम्न प्रमाणों में वर्णित है। उल्टी गायत्री को 'अनुलोम जप' कहते हैं, यही आग्नेयास्त्र है-

त् या द चो प्र नः यो यो धि। हि म धी यस् व दे र्गो भ यं ण रे र्व तु वि सत् त वः स्वः र्भु भू ॐ। यह मन्त्र आग्नेयास्त्र है। इस विद्या का कुछ परिचय इस प्रकार है-

आग्नेयास्त्रस्य जानाति विसर्गादानपद्धतिम्।
यः पुमान् गुरुणा शिष्टस्तस्याधीनं जगत्त्रयम्॥

जो पुरुष इस आग्नेयास्त्र के छोड़ने तथा खींचने की विधि को जानता है और जो गुरु द्वारा शिक्षित है, उसके अधिकार में त्रैलोक्य है।

आग्नेयास्त्राधिकारी स्यात्सविधानमुदीर्यते।
आग्नेयास्त्रमिति प्रोक्तं विलोमं पठितं मनु॥

और वह आग्नेयास्त्र का अधिकारी होता है। अब आग्नेयास्त्र की प्रयोग विधि कहते हैं। आग्नेयास्त्र प्रतिलोम और अनुलोम दो प्रकार से कहा गया है-

क्षीरद्रुमेन्धनाज्येन, हविष्यान्नैर्घृतान्वितैः।
चतुश्चत्वारिंशदाढ्यं चतुःशतसमन्वितम्॥
चतुः सहस्र जुहुयादर्चिते हव्यवाहने।
मण्डले सर्वतोभद्रे षट्कोणांकितकर्णिके॥

दूध वाले वृक्षों की समिधाओं से घृतयुक्त जौ की सामग्री से चार हजार चार सौ चवालीस (४४४४) आहुति प्रदीप्त अग्नि में दे और सर्वतोभद्र यन्त्र बनाकर उसके अन्तर्गत छः कोण वाला यन्त्र बनाए।

पूर्वोक्ता एव संपठ्याः, मन्त्राश्च परिकीर्तिताः।
प्रतिलोमं कुर्यादस्य षडंगानि प्रकल्पयेत्॥

प्रतिलोम कर्म में पूर्वोक्त ऋष्यादि तथा षडंगन्यास आदि को प्रतिलोम क्रम से (उलटा) करें।

वर्णन्यासं पदन्यासं, विदध्यात्प्रतिलोमतः।
ध्यानभेदान्विजानीयाद् गुर्वादेशान्न चान्यथा॥

वर्णन्यास, पदन्यास आदि को भी प्रतिलोम क्रम से करे। ध्यान भेदों को गुरु की आज्ञा से करे, अन्यथा न करे।

पूर्ववज्जपक्लृप्तिः स्याज्जुहुयात्पूर्वसंख्यया।
पंचगव्य सुपक्वेन चरुणा तस्य सिद्धये॥

पूर्वोक्त संख्यानुसार जप करे और पञ्चगव्य युक्त अच्छी प्रकार से पके चरु से जप सिद्धि के लिये पूर्वोक्त संख्यानुसार आहुति दे।

अर्चनं पूर्ववत्कुर्याच्छक्तीनां प्रतिलोमतः।
सर्वत्र दैशिकः कुर्यात् गायत्र्या द्विगुणं जपम्॥

प्रतिलोमता से शक्तियों का पूजन पूर्ववत् करे और सर्वत्र आचार्य गायत्री का दूना जप करे।

क्रूरकर्माणि कुर्वीत प्रतिलोमविधानतः।
शांतिकं पौष्टिकं कर्म कर्तव्यमनुलोमतः॥

प्रतिलोम के विधान को जपादि, क्रूर कर्मों की सिद्धि के लिये करे और शान्तिमय एवं पुष्टिदायक कर्मों की सिद्धि के लिये, अनुलोमन के विधान से करे।

विलोमे प्रजपेदष्टौ, पादान्तु प्रतिलोमतः।
शोधितो जायते पश्चात् मन्त्रोऽयं विधिनामुना॥

विलोम, प्रयोग काल में मन्त्र के आठों पदों को प्रतिलोम क्रम से पढ़े और अनुलोम क्रम में अनुलोमतः आठों पदों से पढ़े, क्योंकि मन्त्र पढ़ने से मन की अस्थिरता आदि दोष नष्ट हो जाते हैं।

उपर्युक्त विधि एक संकेत मात्र है। उसके साथ में एक विस्तृत कर्मकाण्ड एवं गुप्त साधना विधि है, उन सबका रहस्य गुप्त ही रखा जाता है, क्योंकि उन बातों का सार्वजनिक प्रकटीकरण करना सब प्रकार निषिद्ध है।

मारण प्रयोग

तन्त्र ग्रन्थों में मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के कितने ही प्रयोग मिलते हैं । शत्रु नाश के लिये मारण प्रयोगों को काम में लाया जाता है । मारण कितने ही प्रकार का होता है । एक तो ऐसा है जिससे किसी मनुष्य की तुरन्त मृत्यु हो जाए । ऐसे प्रयोगों में "घात" या "कृत्या" प्रसिद्ध है । यह शक्तिशाली तान्त्रिक अग्नि अस्त्र है, जो प्रत्यक्षत: दिखाई नहीं पड़ता, तो भी बन्दूक की गोली की तरह निशाने पर पहुँचता है और शत्रु को गिरा देता है । दूसरे प्रकार के मारण, मन्द-मारण कहे जाते हैं । इनके प्रयोग से किसी व्यक्ति को रोगी बनाया जा सकता है । ज्वर, दस्त, दर्द, लकवा, उन्माद, मतिभ्रम आदि रोगों का आक्रमण किसी व्यक्ति पर उसी प्रकार हो सकता है, जिस प्रकार कीटाणु बमों से प्लेग, हैजा आदि महामारियों को फैलाया जा सकता है ।

इस प्रकार के प्रयोग नैतिक दृष्टि से उचित हैं या अनुचित यह प्रश्न दूसरा है, पर इतना निश्चित है कि यह असम्भव नहीं, सम्भव है । जिस प्रकार विष खिलाकर या शस्त्र चलाकर किसी मनुष्य को मार डाला जा सकता है, वैसे ही ऐसे अदृश्य उपकरण भी हो सकते हैं, जिनको प्रेरित करने से प्रकृति के घातक परमाणु एकत्रित होकर अभीष्ट लक्ष्य की ओर दौड़ पड़ते हैं और उस पर भयंकर आक्रमण करके ऊपर चढ़ बैठते हैं और परास्त करके प्राण संकट में डाल देते हैं । इसी प्रकार प्रकृति के गर्भ में विचरण करते हुए रोग विशेष के कीटाणुओं को किसी व्यक्ति विशेष की ओर विशेष रूप से प्रेरित किया जा सकता है ।

'मृत्यु किरण' आज का ऐसा ही वैज्ञानिक आविष्कार है । किसी प्राणी पर इन किरणों को डाला जाए, तो उसकी मृत्यु हो जाती है । प्रत्यक्ष देखने में उस व्यक्ति को किसी प्रकार का घाव आदि नहीं होता , पर अदृश्य मार्ग से उसके भीतर अवयवों पर ऐसा सूक्ष्म प्रभाव होता है कि उस प्रहार से उसका प्राणान्त हो जाता है । यदि वह आघात हलके दर्जे का हुआ, तो उससे मृत्यु तो नहीं होती, पर मृत्यु तुल्य कष्ट देने वाले या घुला-घुलाकर मार डालने वाले रोग पैदा हो जाते हैं ।

शाप देने की विद्या प्राचीनकाल में अनेक लोगों को ज्ञात थी । जिसे शाप दिया जाता था, उसका बड़ा अनिष्ट होता था । शाप देने वाला अपनी आत्मिक शक्तियों को एकत्रित करके एक विशेष विधि व्यवस्था के साथ जिसके ऊपर उनका प्रहार करता था, उसका वैसा ही अनिष्ट हो जाता था, जैसा कि शाप देने वाला चाहता था । तान्त्रिक अभिचारों द्वारा भी इस प्रकार से दूसरों का अनिष्ट हो सकता है । परन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि इस प्रकार के प्रयोगों के प्रयोगकर्त्ता की शक्ति भी कम नष्ट नहीं होती । बालक के प्रसव करने के उपरांत माता बिल्कुल निर्बल, नि:सत्त्व हो जाती है, किसी को काटने के बाद साँप निस्तेज, हतवीर्य और शक्ति रहित हो जाता है । मारण, उच्चाटन के अभिचार करने वाले लोगों की शक्तियाँ भी काफी परिमाण में व्यय हो जाती हैं और उसकी क्षतिपूर्ति के लिये उन्हें असाधारण प्रयोग करने होते हैं ।

जिस प्रकार मन्त्र द्वारा दूसरों का मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अनिष्ट हो सकता है, उसी प्रकार कोई कुशल तांत्रिक इस प्रकार के अभिचारों को रोक भी सकता है । यहाँ तक कि उस आक्रमण को इस प्रकार उलट सकता है कि वह प्रयोगकर्त्ता पर उलटा पड़े और उसी का अनिष्ट कर दे । घात, कृत्या, चोरी आदि को कोई अन्य तांत्रिक पलट दे, तो उसके प्रेरक प्रयोक्ता पर विपत्ति का पहाड़ टूटा हुआ ही समझिये ।

उपर्युक्त अनिष्टकर प्रयोग अक्सर होते हैं- तन्त्र-विद्या द्वारा हो सकते हैं । पर नीति, धर्म, मनुष्यता और ईश्वरीय विधान की सुस्थिरता की दृष्टि से ऐसे प्रयोगों का किया जाना नितान्त अनुचित, अवांछनीय है । यदि इस प्रकार की गुप्त हत्याओं का ताँता चल पड़े, तो उससे लोक व्यवस्था में भारी गड़बड़ी उपस्थित हो जाए और परस्पर के सद्भाव एवं विश्वास का नाश हो जाए । हर व्यक्ति दूसरों को आशंका, सन्देह एवं अविश्वास की दृष्टि से देखने लगे । इसलिये तन्त्र विद्या के भारतीय ज्ञाताओं ने इन क्रियाओं को निषिद्ध घोषित करके उन विधियों

को गोपनीय रखा है। आजकल परमाणु बम बनाने के रहस्यों को बड़ी सावधानी से गुप्त रखा जा रहा है, ताकि उनकी जानकारी सर्वसुलभ हो जाने से कहीं उनका दुरुपयोग न होने लगे। उसी प्रकार इन अभिचारों को भी सर्वथा गोपनीय रखने का ही नियम बनाया गया है।

शारदा तिलक तन्त्र के गायत्री-पटल में इस प्रकार के अभिचारों का वर्णन है। इसमें संकेत रूप से उन विस्तृत क्रियाओं का थोड़ा-थोड़ा आभास कराया गया है। वह संकेत सर्वथा अपूर्ण एवं असम्बद्ध है, तो भी उस सूत्र के आधार पर यह जाना जा सकता है कि कार्य को पूरा करने के लिये किस प्रणाली का अवलम्बन करना होगा, किन वस्तुओं की प्रधान रूप से आवश्यकता होगी। इन संकेतों के द्वारा मार्ग पर चलने वाले को किसी न किसी प्रकार उन गुप्त रहस्यों की जानकारी हो ही जायेगी।

नीचे शारदा तिलक मन्त्र के कुछ ऐसे अभिचार सूत्र दिये गये हैं, जिनसे इस प्रकार की विधियों पर कुछ प्रकाश पड़ता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार गायत्री से सात्त्विक लाभ उठाये जाते हैं, उसी प्रकार उससे तामसिक कार्य भी किये जा सकते हैं। परन्तु ऐसा उपयोग करना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। इसलिये उन विधानों को गुप्त भी रखा जा रहा है। नीचे कुछ अभिचार संकेतों के श्लोक दिये जा रहे हैं।

धत्तूर विषवृक्षार्कभूरुहोत्थान्समिद्वरान्।
राजीतैलेन संलिप्तान् पृथक्सप्त सहस्रकम्॥
जुहुयात संयतो मन्त्री, रिपुर्यमपुरं व्रजेत्।

धतूरा, कुचिला तथा राई के तेल से युक्त श्रेष्ठ समिधाओं से पृथक् सात हजार आहुति जितेन्द्रिय होकर दे, तो शत्रु यमपुर को जाए।

सप्तरात्रं प्रजुहुयात् सर्षपैःस्नेहमिश्रितैः।
आर्द्रवस्त्रो वृष्टिकाले मरीचैर्मनुनामुना॥

सात रात तक सरसों के तेल से युक्त मिर्चों द्वारा हवन करे, गीला वस्त्र धारण कर वर्षाकाल में यह प्रयोग करे।

निगृह्यते ज्वरेणारिः प्रलयाग्नि समेन सः।
तालपत्रे समालिख्य, शत्रुनाम यथाविधि॥
आग्नेयास्त्रेण संवेष्ट्य कुण्डमध्ये निखन्यते।
जुहुयान्मरिचैः क्रुद्धो, ज्वराक्रान्तः स जायते॥

ऐसा करने पर शत्रु प्रलयाग्नि के सदृश ज्वर से युक्त हो जाता है। ताड़ के पत्ते पर शत्रु के नाम को यथोक्त विधिपूर्वक लिखकर आग्नेयास्त्र से अभिमन्त्रित कर कुण्ड के मध्य गाड़ दे और क्रोधित होकर मिर्चों का हवन करे, तो वैरी ज्वर से युक्त हो जाता हैं।

तदादाय क्षिपेत्तोये, शीतले स वशी भवेत्।
पिष्टापामार्गबीजानि, मरीचं मधुसंयुतम्॥
अत्युष्ण लवणे तोये, निक्षिप्य क्वाथयेत्ततः।
ऋक्षवृक्ष प्रतिकृतौ हृदये वदने नसि॥

पुनः कुण्ड में से उखाड़कर उसको शीतल जल में डाल दे और अपामार्ग (चिड़चिड़ा) के बीजों को पीस, शहद से युक्त मिर्चों को नमक के जल में डाल; अग्नि पर रखकर क्वाथ सदृश पकाए। पुनः ऋक्ष और वृक्ष से रचित प्रतिकृति के हृदय, वदन और नासा बनाए।

किंचित्किंचित्क्षिपेत्तोंये, दर्व्यासंचालयेत्तथा।
आग्नेयमुच्चरन्मन्त्रं, सोऽचिराज्ज्वरितो भवेत्॥

और साथ में थोड़ा-थोड़ा जल डालते हुए मन्त्र का उच्चारण कर दर्वी (करछुली) से चलाये, तो शीघ्र ही शत्रु ज्वरयुक्त हो जाए।

क्वथितेऽम्भसि तां क्षिप्त्वा हन्याच्छत्रून्प्रयत्नतः।
तीक्ष्ण स्नेहेन संलिप्तां, शत्रोः प्रतिकृतिं निशि॥
तापयेदेधिते वह्नौ प्रतिलोममनुं जपन्।
ज्वरेण बाध्यते सद्यो होमादस्य मृतिर्भवेत्॥

क्वाथ बन जाने पर उसको जल में डालकर कूटे। पुनः तेल से उस कुटे हुए क्वाथ को रात्रि में प्रतिलोमतापूर्वक मन्त्र जपता हुआ प्रज्वलित अग्नि में तपाये। इससे शीघ्र ही शत्रु ज्वर से आक्रान्त हो जाता है और होम से उसकी मृत्यु हो जाती है।

सामुद्रे सलिले हिंगु बीजजीरकलोलिते।
क्वथितेन पुत्तलिकां नक्षत्र तरुनिर्मिताम्॥
अधोवक्त्रां विनिःक्षिप्य, यष्ट्या विपद्रुमस्य वै।
तच्छिरः स्फोटनं कुर्वन् जपेन्मन्त्रं विलोमतः॥

नमक युक्त जल में हींग, जीरा मिलाकर क्वाथ बनाकर ऋक्ष-वृक्ष से उसकी मूर्ति बनाए और उसको अधोमुख पृथ्वी पर डालकर विष वृक्ष की लाठी से उसका सिर फोड़े और मन्त्र पढ़ता जाए।

सप्ताहान्मरणं याति शत्रुर्ज्वरविमोहितः।
आदित्य रथ नागेन्द्र ग्रस्तांघ्रिस्तद्विषा हतम्॥

इस प्रकार करने पर, शत्रु ज्वर से युक्त हो जाता है और उसकी सप्ताह में मृत्यु हो जाती है। उसको सर्प पैर में काट लेता है।

तत्तैलेन सुलिप्तांगं दग्धं रक्तमरीचिभिः।
अधोमुखं निज-रिपुं दग्ध्वा क्वथित-वारिणा॥
तर्पयेद्भानुमालोक्य शत्रुर्मृत्यु-मुखे भवेत्॥

दूसरी विधि यह है कि मूर्ति को तेल से चुपड़ कर मिर्चों के साथ जलाकर उसका नीचे को मुख कर उष्ण जल से सूर्य का तर्पण करे, तो शत्रु की शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

प्रांगणे स्थण्डिलं कृत्वा, सुगन्धिकुसुमादिभिः।
देवीमभ्यर्चयेन्नित्यं, प्रागुक्तेनैव वर्त्मना॥
आहरेद्रात्रिषु बलिं, चरुणा सर्वसिद्धिदम्।
भूतरोग द्रोह भयं, प्रभवेन्नात्र संशयः॥

आँगन में वेदी बनाकर सुगन्धित पुष्प आदि से नित्य देवी की विधानपूर्वक अर्चना करे और रात्रि में समस्त सिद्धिदायक चरु द्वारा बलिदान दे, इस प्रकार करने पर रोग, भय, द्रोह तथा भूतादि का भय नहीं रहता।

यथावदग्निमाराध्य, गन्धैः पुष्पैः मनोरमैः।
स्थित्वा तस्याग्रतो मन्त्री जपेन्मन्त्रमनन्यधीः॥

मनोहर सुगन्धित पुष्पों द्वारा अग्नि की पूजा कर अग्नि के समक्ष अनन्य बुद्धि द्वारा मन्त्र जाप करे।

जपोऽयं सर्व सिद्ध्यै स्यान्नात्र कार्या विचारणा।
लवणैर्मधुरासिक्तैः जुहुयात्पश्चिमोन्मुखः॥

यह जप समस्त सिद्धि प्रदायक है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये। पश्चिम की ओर मुख करके नमकीन अन्न तथा मिष्टान्न द्वारा हवन करे।

मन्त्रार्थ संख्यया मंत्री, रिपुमात्मवशं नयेत्।
शालीन्प्रक्षाल्य संशोध्य, शुद्धान्कुर्वीत तण्डुलान् ॥
जपित्वा पञ्चगव्येषु संस्कृते हव्यवाहने।
संपचेज्जपन्मंत्रं च व्रीहीन्तत्र पुनः सुधीः ॥

चवालीस हजार मन्त्र जप करने पर, जपने वाला शत्रु को अपने वश में कर लेता है। शाठी चावलों को धोकर शुद्ध करे और शोधित चावलों को पंचगव्य में शुद्ध करके विद्वान् पुनः मन्त्र का जप करे।

अर्चयित्वा विशदधीर्देवीमग्नौ यथा पुरा।
जुहुयाच्चरुणानेन साज्येनाष्ट सहस्रकम् ॥

पुनः पूर्ववत् देवी को पूजकर अग्नि में घृतयुक्त इस चरु के द्वारा आठ हजार आहुति दे।

पात्रे सम्पातनं कुर्वन्साध्यं भक्षयेत्सुधीः।
शेषं तं निखनेद्वारि सम्पातं प्रांगणांतरे ॥

पुनः कुछ पात्र में रखकर स्वयं भक्षण करे और शेष आँगन में गाड़ दे अथवा द्वार पर फेंक दें।

कृत्यारोगा विनश्यन्ति सह भूत ग्रहामयैः।
परैरुत्पादिता कृत्या, पुनस्तानेव भक्षयेत् ॥

कृत्या से उत्पन्न रोग भूत ग्रहों के साथ-साथ नष्ट हो जाते हैं। दूसरों के द्वारा भेजी गयी कृत्या (घात) उन्हीं को नष्ट करती है।

चौबीस गायत्री

गायत्री के २४ अक्षर यथार्थ में २४ शक्ति-बीज हैं। पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश यह पाँच तत्त्व तो प्रधान हैं ही, इनके अतिरिक्त २४ तत्त्व हैं, जिनका वर्णन सांख्य दर्शन में किया गया है। सृष्टि के इन २४ तत्त्वों को गुम्फन करके एक सूक्ष्म आध्यात्मिक शक्ति का आविर्भाव किया, जिसका नाम गायत्री रखा गया।

गायत्री के २४ अक्षर चौबीस मातृकाओं की महाशक्तियों के प्रतीक हैं। उनका पारस्परिक गुन्थन ऐसे वैज्ञानिक क्रम से हुआ है कि इस महामन्त्र का उच्चारण करने मात्र से शरीर के विभिन्न भागों में अवस्थित चौबीस बड़ी ही महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं।

मार्कण्डेय पुराण में शक्ति के अवतार की कथा इस प्रकार है कि सब देवताओं ने अपना-अपना तेज एकत्रित किया और वह एकत्रित तेज-केन्द्र 'शक्ति' के रूप में अवतीर्ण हुआ। देवता उन तत्त्व शक्तियों का नाम है, जो सृष्टि के निर्माण, पोषण एवं संहार के मूल कारण हैं। रसायन विज्ञान का नियम है, क्रियाशील पदार्थों के सम्मिलन से नये पदार्थ बनते हैं। रज और वीर्य के सजीव परमाणु जब मिलते हैं, तो एक-मूर्तिमान् गर्भ का आविर्भाव होता है। गन्धक और पारा मिलकर कजली बन जाती है, दूध और खटाई मिलकर दही बनता है। ऋण और धन परमाणु मिलकर बिजली की शक्तिशाली धारा के रूप में परिणत हो जाते हैं। २४ सूक्ष्म तत्त्वों के- २४ सूक्ष्म शक्तियों के सम्मिलन से एक ऐसी अद्भुत धारा उत्पन्न होती है, जिसकी सामर्थ्यों का वर्णन करना कठिन है। मार्कण्डेय पुराण का शक्ति अवतार और उस अवतार की आश्चर्यजनक क्रियाशीलता इसी तथ्य पर प्रकाश डालती है।

एक विशेष पर्वतीय प्रदेश की भूमि, वहाँ की वायु, वहाँ की वनस्पतियों व रासायनिक पदार्थों के सम्मिश्रण के कारण गंगोत्री से आरंभ होने वाला जल एक विशेष प्रकार के अद्भुत गुणों वाला बन गया। इसी प्रकार चौबीस अक्षरों से, उपयोगी तत्त्वों का कारणवश सम्मिश्रण हो जाने से अन्तरिक्ष आकाश में एक विद्युन्मयी सूक्ष्म सरिता बह निकली। इस अध्यात्म गंगा का नाम 'गायत्री' रखा गया। जिस प्रकार गंगा नदी में स्नान करने से शारीरिक

व मानसिक स्वस्थता प्राप्त होती है, उसी प्रकार उस आकाशवाहिनी विद्युन्मयी गायत्री शक्ति की समीपता से आन्तरिक एवं बाह्य बल तथा वैभवों की उपलब्धि होती है।

सृष्टि के उत्पादक तत्त्व चैतन्य-रहित कहे जाते हैं, यह अचैतन्य उसका स्थूल रूप है। पर अचेतना के पीछे भी एक प्रेरणा रहती है, मोटर, जहाज, तार, बम, तोप आदि को चलाने वाला कोई न कोई होता है। ये इतने शक्तिशाली होते हुए भी कुछ कार्य स्वयं नहीं कर सकते। इन यन्त्रों को चलाने के लिये यह आवश्यक है कि कोई चैतन्य प्राणी इनका संचालन करे। इसी प्रकार तत्त्वों को क्रियाशील होने के लिये यह आवश्यक है कि उनके पीछे कोई चैतन्य शक्ति कार्य करती हो। अध्यात्म विद्या को भारतीय वैज्ञानिक सदा से यह मानते आये हैं कि प्रत्येक तत्त्व के पीछे एक चैतन्य शक्ति प्रेरक सत्ता के रूप में विद्यमान है। उस प्रेरक शक्ति से सम्बन्ध स्थापित करके उन पदार्थों का लाभ उठाया जा सकता है जिन पर उस शक्ति का आधिपत्य है। इन प्रेरक शक्तियों को भारतीय विज्ञानवेत्ताओं ने देवता नाम दिया है।

पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल आदि पूजा के लिये वेदोक्त और पुराणोक्त प्रक्रियायें मिलती हैं। क्या यह लोहा-लकड़ी, पानी, आग, हवा आदि की पूजा है ? क्या हमारे ऋषि-मुनि इतने मूर्ख थे, जो यह भी नहीं जानते थे कि इन निर्जीव वस्तुओं के पूजने से लाभ होना असम्भव है ? ऐसा सोचने से काम न चलेगा। भारतीय वैज्ञानिकों ने बहुत ऊँची शोध की थी। आज के भौतिक विज्ञानी जहाँ अपने विज्ञान की अन्तिम सीमा समझते हैं, वहाँ से भारतीय ऋषियों की शोधों का आरम्भ होता है, उनको मिट्टी पूजने वाला मूर्ख समझने की भूल हमें न करनी चाहिये। वस्तुस्थिति यह है कि एक प्रकार के गुण, शक्ति, स्वभाव, प्रवृत्ति एवं स्थिति के परमाणु समूह तत्त्वों में रहते हैं और तत्त्व के पीछे एक प्रेरक शक्ति काम करती है, जो ईश्वरीय अनुशासन के नाम से भी पुकारी जाती है। यह प्रेरक, नियामक, उत्पादक, संचालक एवं विध्वंसक सत्ता अपने क्षेत्र की अधिपति है। उसका आधिपत्य अपने क्षेत्र में अक्षुण्ण है। उसी का नाम देवता है।

इन देवताओं की अपनी-अपनी कार्य-प्रणाली, अपनी-अपनी मर्यादा होती है। जहाँ उनके पदार्थ एवं परमाणुओं सम्बंधी क्रियायें होती हैं, वहाँ गुण और स्वभाव सम्बन्धी शक्तियाँ भी हैं। जिस देवता से उपासना विधि द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, उसके गुण और स्वभाव के साथ भी सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार वह देव-उपासक, अपने उपास्य देव के गुण और स्वभाव को प्राप्त करता है। साथ ही जिन पदार्थों पर उस देव-शक्ति का आधिपत्य है, वे भी उसे किसी ने किसी मार्ग से अधिक मात्रा में उपलब्ध होने लगते हैं।

इन देव-शक्तियों तक पहुँचने के लिये, उन्हें पकड़ने के लिये, उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये साधना-विज्ञान के आचार्यों ने समाधि अवस्था में पहुँचकर अपनी ध्यान चेतना को अन्तरिक्ष लोकों में फेंका। उनकी अन्तःचेतना ने देव शक्तियों से सम्बन्ध होते हुए जो अनुभव किये उन अनुभवों को योगीजनों ने देवता का रूप घोषित कर दिया। मनुष्य के मस्तिष्क का निर्माण इस प्रकार हुआ है कि उससे कोई भी वस्तु टकराये, तो उसका रूप अवश्य ध्यान में आएगा। कोई वस्तु साकार हो या निराकार पर यदि मस्तिष्क से उसके सम्बन्ध में कुछ सोचना पड़ा, तो वह उसका कोई न कोई रूप निर्धारित करेगा। बिना रूप की स्थापना हुए मस्तिष्क उसके सम्बंध में किसी प्रकार के विचार या धारणा करने में असमर्थ होता है। साकार वस्तुओं को देखने या सुनने के आधार पर उनका कोई रूप मस्तिष्क में बन जाता है। वह निराकार वस्तुओं का आकार अपनी कल्पना के आधार पर गढ़ता है। परन्तु वह कल्पना भी किसी न किसी आधार पर चलती है। देवताओं का आकार निर्धारित करने का कार्य योग के आचार्यों ने किया है। उनके मस्तिष्क ने अन्तरिक्ष लोक में फैली हुई देव शक्तियों से सम्बद्ध होते समय जो रूप बनते देखा उसे ही देव रूप माना।

यह देव रूप एक माध्यम है जिसको पकड़कर आसानी के साथ उन देव शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। देव शक्तियों से सम्बन्ध होने पर जो चित्र मन में आता है यदि आरम्भ में ही उस चित्र को मन में धारण कर लिया जाय तो उस शक्ति से सम्बद्ध होने का कार्य भी सुविधापूर्वक पूरा किया जा सकता है। देवताओं

के रूप का ध्यान करना इस दिशा में प्रधान साधन है। इसलिये आचार्यों ने प्रत्येक देवता का रूप अपनी अनुभव साधना के आधार पर निर्धारित कर दिया है।

यहाँ हमें भली-भाँति ध्यान रखना चाहिये कि यह देवता कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। एक ही परमात्मा की विविध शक्तियों का नाम ही देवता है। जैसे सूर्य की विविध गुणों वाली किरणें अल्ट्रा वायलेट, अल्फा, पारदर्शी, मृत्यु किरण आदि अनेक नामों से पुकारी जाती हैं, उसी प्रकार अनेक कार्य और गुणों के कारण ईश्वरीय शक्तियाँ भी देव नामों से पुकारी जाती हैं। सूर्य की प्रातःकालीन, मध्याह्न कालीन, संध्याकालीन किरणों के गुण भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार गर्मी, वर्षा और शीतकाल में किरणों के गुण में अन्तर पड़ जाता है। सूर्य एक ही है पर प्रदेश, ऋतु और काल के भेद से उसका गुण भिन्न-भिन्न हो जाता है। ईश्वर की शक्तियों में इसी प्रकार की विभिन्नताओं के होने के कारण उनके नाम विभिन्न प्रकार के रखे गये हैं।

गायत्री में २४ शक्तियाँ गुम्फित हैं। साधारणतः गायत्री की उपासना करने से उन २४ शक्तियों का यथोचित मात्रा में लाभ मिलता है। दूध में सभी पोषक तत्त्व होते हैं, दूध पीने वाले को उन सभी तत्त्वों का यथोचित मात्रा में लाभ मिल जाता है, परन्तु यदि किसी को किसी विशेष तत्त्व की आवश्यकता होती है तो वह उसके किसी विशेष भाग का ही खासतौर से सेवन करता है। किसी को दूध के चिकनाई वाले भाग की आवश्यकता होती है तो वह 'घी' निकाल कर उसका सेवन करता है और बाकी अंश को छोड़ देता है। किसी को छाछ की अधिक आवश्यकता है तो वह दूध के छाछ वाले अंश को लेकर अन्य भागों को छोड़ देता है। रोगियों को दूध फाड़ कर उसका पानी मात्र देते हैं। इसी प्रकार किसी विशेष शक्ति की आवश्यकता होती है, तो वह उसी की आराधना करता है। अपनी प्रमुख आवश्यकता की वस्तु के लिये अधिक श्रम करता है।

इस दृष्टि से काम करने के लिये पृथक्-पृथक् साधनायें बताई गयी हैं। इन पद्धतियों को 'चौबीस गायत्री साधना' कहते हैं। गायत्री के मन्त्र-ग्रन्थों में चौबीस देवताओं की चौबीस गायत्री लिखी हुई हैं। उनका संक्षिप्त-सा साधन-विधान भी है। उन सबका सूक्ष्म अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि विविध कामनाओं की पूर्ति के लिये सृष्टि के प्रधान चौबीस तत्त्वों की प्रेरक शक्तियों का उपयोग करने का विधि-विधान है।

भारतीय योग विज्ञान की क्रिया पद्धति यह है कि वह परमाणुओं एवं तत्त्वों का ऊहापोह उस तरह नहीं करती, जिस प्रकार वर्तमान काल के भौतिक विज्ञानी करते हैं। वैज्ञानिक अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिये तत्त्वों और परमाणुओं को पकड़ते हैं। इस पकड़ के लिये उन्हें बहुत श्रम और धन से बनने वाली, बार-बार टूटने-फूटने वाली मशीनों की आवश्यकता होती है। योग-विज्ञान इस सतह से कहीं ऊँची सतह पर काम करता है। वह तत्त्वों और परमाणुओं की पीठ पर काम करने वाली प्रेरक एवं चैतन्य देव-शक्ति को पकड़ता है और उससे अपना मनोरथ पूरा करता है। इस पकड़ के लिये उसे लोहे की मशीनों की आवश्यकता नहीं होती वरन् यह मानव शरीर, मस्तिष्क एवं अन्तःकरण की अद्‌भुत अलौकिक, असाधारण एवं अनन्त शक्तिशाली मशीन का उपयोग करता है। ईश्वर ने जितनी सर्वांगपूर्ण मशीन "मनुष्य देह" बनाई है उतनी सम्पूर्ण सामर्थ्यों वाली, सम्पूर्ण प्रयोजनों में प्रयुक्त हो सकने वाली मशीनें आज तक किसी भी वैज्ञानिक द्वारा नहीं बनाई जा सकी हैं और न भविष्य में इस प्रकार की कोई सम्भावना ही है। भारतीय वैज्ञानिकों ने नई-नई मशीनें बनाने के झंझट से बचकर इस एक ही मशीन से सब सूक्ष्म प्रयोजनों को पूरा करने की क्रिया निकाली थी।

रेडियो यन्त्र की सुई घुमाने से उन विविध स्थानों की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं, जो आपस में बहुत दूर और बहुत भिन्न हैं। सुई के घुमाने से यन्त्र के भीतर ऐसा परिवर्तन हो जाता है कि पहले उसके भीतर जो गतिविधि काम कर रही थी, वह बन्द हो जाती है और नये प्रकार की गतिविधि आरम्भ हो जाती है, जिससे पहले जिस स्टेशन की ध्वनियाँ सुनाई पड़ रही थीं, वे बन्द होकर नया स्टेशन सुनाई पड़ने लगता है। मनुष्य शरीर की स्थिति को भी साधनात्मक कर्मकाण्डों द्वारा इसी प्रकार परिवर्तित कर दिया जाता है कि वह कभी किसी देव-शक्ति के और कभी अन्य देव-शक्ति के अनुकूल बन जाती है। साधनाकाल में साधक के रहन- सहन, आहार- विहार, दिनचर्या, विचार, चिन्तन, धन, संयम, कर्मकाण्ड आदि के ऐसे प्रबंध एवं नियंत्रण कायम किये जाते हैं, जिनके

कारण उसकी मनोभूमि एक विशेष दिशा में काम करने योग्य बन जाती है । साधना काल के नियमोपनियमों, प्रतिबन्धों या नियन्त्रणों को कोई साधक पूरी तरह पालन करे, तो उसकी मशीन इतनी सूक्ष्म हो जाएगी कि इच्छित देव-शक्ति से सम्बन्ध स्थापित कर सके । इसलिये अध्यात्म विद्या के पथ-प्रदर्शक अपने शिष्यों को साधना-काल में आवश्यक संयम-प्रतिबंधों का पालन करने के लिये विशेष रूप से सावधान करते रहते हैं ।

स्थूल शरीर में दोनों हाथ इस प्रकार के अवयव हैं, जिनकी सहायता से वस्तुओं को पकड़ा जाता है । सूक्ष्म शरीर के भी इसी प्रकार के दो हाथ हैं, जिनके द्वारा परमाणु तत्त्वों की ऊपरी सतह पर परब्रह्म-लोक में भ्रमण करने वाली देव-शक्तियों को पकड़ा जाता है । इन सूक्ष्म हाथों का नाम है- श्रद्धा और विश्वास । श्रद्धा और विश्वास के कारण मानव अन्तःकरण की बिखरी हुई शक्तियाँ एक स्थान पर एकत्रित हो जाती हैं । इसी एकीकरण को जिस दिशा में प्रेरित किया जाता है, उसी में वह बड़ी द्रुत गति से दौड़ता है । थोड़ी-सी बारूद और शीशे की गोलियों की पुड़ियों (कारतूस) को बंदूक की नाल में भरते हैं, इस पुड़िया को चिन्गारी लगाकर एक बन्दूक की सहायता से एक विशेष दिशा में उड़ाते हैं । निशाना सीधा होने पर वह गोली अभीष्ट स्थान पर प्रहार करती है और लक्ष्य को वेध देती है । योग-साधना में भी यही होता है । आहार-विहार का, दिनचर्या का प्रतिबन्ध बन्दूक बनाना है, उसमें श्रद्धा और विश्वास का होना गोली व बारूद डाला जाना है । साधन-विधि उसमें चिन्गारी लगाना है । इस प्रकार जो लक्ष्य वेध किया जाता है, वह मनोवांछित परिणाम उपस्थित करता है । चन्द्रलोक और मंगल ग्रह की यात्रा करने की तैयारी में जो वैज्ञानिक लगे हुए हैं, वे ऐसी तोप तैयार कर रहे हैं, जो अत्यन्त दूरी पर निशाना फेंक सके । उस तोप में ऐसा गोला रखा जायेगा, जिसमें यात्री लोग बैठ सकें । यह गोला चन्द्र या मंगल तक उन्हें पहुँचा देगा ऐसी उनकी मान्यता है । वह प्रयोग कहाँ तक सफल होगा यह तो भविष्य ही बतायेगा, पर भूतकाल में यह भली प्रकार साबित हो चुका है कि योग साधना रूपी लक्ष्य वेध उपर्युक्त विधि-विधान के आधार पर देव शक्तियों के साथ टकराता है, उन्हें पकड़ता है और उन्हें मनुष्य के लाभ के लिये उसी प्रकार प्रस्तुत करता है, जिस प्रकार आज के वैज्ञानिकों ने बिजली, भाप आदि की शक्तियों को मनुष्य की सुख-साधना के लिये लगा दिया है । योग साधक अपनी देह की शक्ति को सुसंचालित करके देवशक्तियों तक पहुँचते हैं और उनसे वे लाभ, वरदान प्राप्त करते हैं, जिनकी उन्हें आवश्यकता होती है । हमारे इतिहास, पुराण पग-पग पर इस महा सत्य की साक्षी देते हैं ।

विज्ञान का मार्ग एक होते हुए भी उसके साधन- मार्गों में अन्तर होता है तथा हो सकता है । रेडियो का विज्ञान एक है, पर रेडियो यन्त्रों की बनावट, हर बनाने वाला अलग-अलग रखता है । घड़ियों और मोटर के पुर्जों में भी इसी प्रकार का हेर-फेर हुआ करता है । इस प्रकार के अन्तर होते हुए भी इन विविध आकृति के यन्त्रों से लाभ एक-सा ही मिलता है । योग-साधना के अनेक मार्ग हैं, उनमें से एक मार्ग 'गायत्री-मार्ग' भी है । गायत्री की साधना-पद्धति द्वारा भी उन सूक्ष्म शक्तियों से साधक अपने को सम्बद्ध कर सकता है और अभीष्ट लाभ उठा सकता है ।

गायत्री के तन्त्र-ग्रन्थों में २४ गायत्रियों का वर्णन है । चौबीस देवताओं के लिये एक-एक गायत्री है । इस प्रकार २४ गायत्रियों द्वारा २४ देवताओं से सम्बन्ध स्थापित किया गया है ।

गायत्री मन्त्र के २४ अक्षरों में से प्रत्येक के देवता क्रमशः (१) गणेश (२) नृसिंह (३) विष्णु (४) शिव (५) कृष्ण (६) राधा (७) लक्ष्मी (८) अग्नि (९) इन्द्र (१०) सरस्वती (११) दुर्गा (१२) हनुमान् (१३) पृथ्वी (१४) सूर्य (१५) राम (१६) सीता (१७) चन्द्रमा (१८) यम (१९) ब्रह्मा (२०) वरुण (२१) नारायण (२२) हयग्रीव (२३) हंस (२४) तुलसी हैं । यद्यपि इनमें से कई नामों के मनुष्य अवतार, ग्रह, नक्षत्र, तत्त्व, पक्षी, वृक्ष आदि भी हुए और चरित्र भी उपलब्ध होते हैं, पर यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि ऊपर जिन नामों का उल्लेख है उनका प्रयोग तन्त्र विज्ञान में विशुद्ध देव-शक्तियों की छाया लेकर मनुष्य, ग्रह, तत्त्व, पक्षी, वृक्ष आदि जो हुए हैं, वे इन शक्तियों के या तो स्थूल प्रतीक हैं या आलंकारिक विवेचना।हंस पक्षी, तुलसी का पौधा, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, अग्नि, वरुण आदि तत्त्व; राम, कृष्ण, सीता, राधा, हनुमान् आदि अवतारी पुरुष उन देव शक्तियों के स्थूल प्रस्फुरण हैं । वस्तुतः वे शक्तियाँ

अत्यंत सूक्ष्म और ईश्वरीय सूर्य की किरणें हैं। २४ गायत्री द्वारा उन २४ किरणों से ही सान्निध्य स्थापित किया जाता है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि देव-शक्तियाँ स्वचैतन्य हैं और अपनी मर्यादा में परमाणुओं, तत्त्वों, पदार्थों पर शासन करती हैं। इसलिये वे भौतिक और आत्मिक दोनों ही सत्ताओं से सम्पन्न हैं। देव-उपासना से मनुष्य को उस प्रकार के गुण प्राप्त होते हैं। साथ ही उनके शासन में रहने वाले पदार्थ भी उसी ओर खिंच-खिंच कर जमा हो जाते हैं। मधु- मक्खियों के छत्ते में एक शासक मक्खी होती है, वह जिधर चलती है, उधर ही छत्ते की अन्य मक्खियाँ चल देती हैं। जहाँ चुम्बक होता है, वहाँ लोहे के कण स्वयमेव खिंच आते हैं। शक्ति अपने आधार को अपनी ओर खींचती रहती है। जिस मनुष्य ने देव शक्ति की जितनी धारणा अपनी मनोभूमि में कर ली है, उसी अनुपात से उस शक्ति से सम्बंधित परिस्थितियाँ एवं वस्तुयें उसकी ओर खिंचती चली आयेंगी और वह उपासना का समुचित लाभ प्राप्त करेगा।

गायत्री के चौबीस देवताओं की चैतन्य शक्तियाँ क्या हैं ? और उन शक्तियों के द्वारा क्या-क्या लाभ मिल सकते हैं ? इसका विवरण नीचे दिया जाता है-

१- गणेश-सफलता शक्ति। फल-कठिन कामों में सफलता, विघ्नों का नाश, बुद्धि-वृद्धि।

२- नृसिंह- पराक्रम शक्ति। फल-पुरुषार्थ, पराक्रम, वीरता, शत्रुनाश, आतंक, आक्रमण से रक्षा।

३- विष्णु- पालन-शक्ति। फल-प्राणियों का पालन, आश्रितों की रक्षा, योग्यताओं की वृद्धि, रक्षा।

४- शिव- कल्याण-शक्ति। फल- अनिष्ट का विनाश, कल्याण की वृद्धि, निश्चयता, आत्मपरायणता।

५- कृष्ण- योग-शक्ति। फल- क्रियाशीलता, आत्म-निष्ठा, अनासक्ति, कर्मयोग, सौन्दर्य, सरसता ।

६- राधा- प्रेम-शक्ति। फल-प्रेम-दृष्टि, द्वेष-भाव की समाप्ति।

७- लक्ष्मी- धन-शक्ति। फल-धन, पद, यश और भोग्य पदार्थों की प्राप्ति।

८- अग्नि- तेज-शक्ति। फल-उष्णता, प्रकाश, शक्ति और सामर्थ्य की वृद्धि, प्रभावशाली, प्रतिभाशाली, तेजस्वी होना।

९- इन्द्र- रक्षा-शक्ति। फल-रोग, हिंसक, चोर, शत्रु, भूत-प्रेत, अनिष्ट आदि के आक्रमणों से रक्षा।

१०- सरस्वती- बुद्धि- शक्ति। फल-मेधा की वृद्धि, बुद्धि की पवित्रता, चतुरता, दूरदर्शिता, विवेकशीलता।

११- दुर्गा- दमन-शक्ति। फल- विघ्नों पर विजय, दुष्टों का दमन, शत्रुओं का संहार, दर्प की प्रचण्डता।

१२- हनुमान्- निष्ठा-शक्ति। फल-कर्त्तव्य परायणता, निष्ठावान्, विश्वासी, ब्रह्मचारी एवं निर्भय होना।

१३- पृथ्वी- धारण-शक्ति। फल- गम्भीरता, क्षमाशीलता, सहिष्णुता, दृढ़ता, धैर्य, भार-वहन करने की क्षमता।

१४- सूर्य- प्राण-शक्ति। फल- नीरोगिता, दीर्घ जीवन, विकास, वृद्धि, उष्णता, विकारों का शोधन।

१५- राम- मर्यादा-शक्ति। फल- तितिक्षा, कष्ट में विचलित न होना, धर्म, मर्यादा, सौम्यता, संयम, मैत्री।

१६- सीता- तप-शक्ति। फल-निर्विकार, पवित्रता, मधुरता, सात्त्विकता, शील, नम्रता।

१७- चन्द्र- शान्ति-शक्ति। फल-उद्विग्नताओं की शान्ति, शोक, क्रोध, चिन्ता, प्रतिहिंसा आदि विक्षोभों का शमन, काम, लोभ, मोह एवं तृष्णा का निवारण, निराशा के स्थान पर आशा का संचार।

१८- यम- काल-शक्ति। फल-समय का सदुपयोग, मृत्यु से निर्भयता, निरालस्यता, स्फूर्ति, जागरूकता।

१९- ब्रह्मा- उत्पादक-शक्ति। फल-उत्पादन शक्ति की वृद्धि। वस्तुओं का उत्पादन बढ़ना, सन्तान बढ़ना, पशु, कृषि, वृक्ष, वनस्पति आदि में उत्पादन की मात्रा बढ़ना।

तृष्णा का निवारण, निराशा के स्थान पर आशा का संचार।

१८- यम- काल-शक्ति। फल-समय का सदुपयोग, मृत्यु से निर्भयता, निरालस्यता, स्फूर्ति, जागरूकता।

१९- ब्रह्मा- उत्पादक-शक्ति। फल-उत्पादन शक्ति की वृद्धि। वस्तुओं का उत्पादन बढ़ना, सन्तान बढ़ना, पशु, कृषि, वृक्ष, वनस्पति आदि में उत्पादन की मात्रा बढ़ना।

२०- वरुण- रस-शक्ति । फल-भावुकता, सरलता, कलाप्रियता, कवित्व, आर्द्रता, दया, दूसरों के लिये द्रवित होना, कोमलता, प्रसन्नता, माधुर्य, सौन्दर्य ।

२१-नारायण- आदर्श-शक्ति । फल महत्त्वाकांक्षा, श्रेष्ठता, उच्च आकांक्षा, दिव्य गुण, दिव्य स्वभाव, उज्ज्वल चरित्र, पथ-प्रदर्शक कार्य-शैली ।

२२- हयग्रीव- साहस-शक्ति । फल-उत्साह, साहस, वीरता, शूरता, निर्भयता, कठिनाइयों से लड़ने की अभिलाषा, पुरुषार्थ ।

२३- हंस- विवेक-शक्ति ।फल-उज्ज्वल कीर्ति, आत्म-सन्तोष, सत्-असत् निर्णय, दूरदर्शिता, सत् संगति, उत्तम आहार-विहार ।

२४- तुलसी- सेवा-शक्ति । फल-लोक सेवा में प्रवृत्ति, सत्य प्रधानता, पतिव्रत, पत्नीव्रत, आत्म-शान्ति, परदु:ख- निवारण ।

जिसे अपने में जिस शक्ति की, जिस गुण, कर्म, स्वभाव की कमी या विकृति दिखाई पड़ती हो, उसे उस शक्ति वाले देवता की उपासना विशेष रूप से करनी चाहिये । जिस देवता की जो गायत्री है, उसका दशांश जप गायत्री साधना के साथ-साथ करना चाहिये । जैसे कोई व्यक्ति संतानहीन है, सन्तान की कामना करनी चाहिये । यदि गायत्री की दस मालायें नित्य जपी जायें, तो एक माला ब्रह्म गायत्री की भी जपनी चाहिये । केवल मात्र ब्रह्म गायत्री को भी जपने से काम न चलेगा, क्योंकि ब्रह्म गायत्री की स्वतंत्र सत्ता उतनी बलवती नहीं है । देव गायत्रियाँ, उस महान् वेद-माता गायत्री की छोटी-छोटी शाखायें तभी तक हरी-भरी रहती हैं, जब तक वे मूल वृक्ष के साथ जुड़ी हुई हैं । वृक्ष से अलग कट जाने पर शाखा निष्प्राण हो जाती है, उसी प्रकार अकेली देवी गायत्री भी निष्प्राण होती है उनका जप महागायत्री के साथ ही करना चाहिये ।

आरम्भ में देव-गायत्री का जप करना चाहिये । साथ ही उस देवता का ध्यान करते जाना चाहिये और ऐसी भावना करनी चाहिये कि वह देवता हमारे अभीष्ट परिणाम को प्रदान करेंगे । नीचे चौबीसों देवताओं की गायत्रियाँ दी जाती हैं, इनके जप से उन देवताओं के साथ विशेष रूप से सम्बन्ध स्थापित होता है और उनसे सम्बन्ध रखने वाले गुण, पदार्थ एवं अवसर साधक प्राप्त कर सकते हैं ।

१-गणेश गायत्री-ॐ **एक दंष्ट्राय विद्महे, वक्रतुण्डाय धीमहि । तन्नो बुद्धिः प्रचोदयात् ।**
२-नृसिंह गायत्री-ॐ **उग्रनृसिंहाय विद्महे, वज्र नखाय धीमहि । तन्नो नृसिंहः प्रचोदयात् ।**
३- विष्णु गायत्री-ॐ **नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि । तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ।**
४- शिव गायत्री-ॐ **पञ्चवक्त्राय विद्महे, महादेवाय धीमहि । तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।**
५- कृष्ण गायत्री- ॐ **देवकी नन्दनाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि । तन्नः कृष्णः प्रचोदयात् ।**
६- राधा गायत्री- ॐ **वृषभानुजायै विद्महे, कृष्ण प्रियायै धीमहि । तन्नो राधा प्रचोदयात् ।**
७- लक्ष्मी गायत्री- ॐ **महालक्ष्म्यै विद्महे, विष्णु प्रियायै धीमहि । तन्नो लक्ष्मीः प्रचोदयात् ।**
८- अग्नि गायत्री- ॐ **महाज्वालाय विद्महे, अग्निदेवाय धीमहि । तन्नो अग्निः प्रचोदयात् ।**
९- इन्द्र गायत्री- ॐ **सहस्रनेत्राय विद्महे, वज्र हस्ताय धीमहि । तन्न इन्द्रः प्रचोदयात् ।**
१०- सरस्वती गायत्री- ॐ **सरस्वत्यै विद्महे, ब्रह्मपुत्र्यै धीमहि । तन्नो देवी प्रचोदयात् ।**
११- दुर्गा गायत्री- ॐ **गिरिजायै विद्महे, शिव प्रियायै धीमहि । तन्नो दुर्गा प्रचोदयात् ।**
१२- हनुमान् गायत्री- ॐ **अञ्जनीसुताय विद्महे, वायुपुत्राय धीमहि । तन्नो मारुतिः प्रचोदयात् ।**
१३- पृथ्वी गायत्री- ॐ **पृथ्वी देव्यै विद्महे, सहस्र मूर्त्यै धीमहि । तन्नः पृथ्वी प्रचोदयात् ।**
१४- सूर्य गायत्री- ॐ **भास्कराय विद्महे, दिवाकराय धीमहि । तन्नः सूर्य्यः प्रचोदयात् ।**
१५- राम गायत्री- ॐ **दाशरथये विद्महे, सीता वल्लभाय धीमहि । तन्नो रामः प्रचोदयात् ।**
१६- सीता गायत्री- ॐ **जनकनन्दिन्यै विद्महे, भूमिजायै धीमहि । तन्नः सीता प्रचोदयात् ।**

१७- चन्द्र गायत्री- ॐ **क्षीर पुत्राय विद्महे, अमृत-तत्त्वाय धीमहि। तन्नः चन्द्रः प्रचोदयात्।**
१८- यम गायत्री- ॐ **सूर्य पुत्राय विद्महे, महाकालाय धीमहि। तन्नो यमः प्रचोदयात्।**
१९- ब्रह्मा गायत्री- ॐ **चतुर्मुखाय विद्महे, हंसारूढाय धीमहि। तन्नो ब्रह्मा प्रचोदयात्।**
२०- वरुण गायत्री- ॐ **जलबिम्बाय विद्महे, नील-पुरुषाय धीमहि। तन्नो वरुणः प्रचोदयात्।**
२१- नारायण गायत्री- ॐ **नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।**
२२- हयग्रीव गायत्री- ॐ **वाणीश्वराय विद्महे, हयग्रीवाय धीमहि। तन्नो हयग्रीवः प्रचोदयात्।**
२३- हंस गायत्री- ॐ **परमहंसाय विद्महे, महाहंसाय धीमहि। तन्नो हंसः प्रचोदयात्।**
२४- तुलसी गायत्री- ॐ **श्री तुलस्यै विद्महे, विष्णु प्रियायै धीमहि। तन्नो वृन्दा प्रचोदयात्।**

इन देव गायत्रियों के साथ व्याहृतियाँ लगाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये वेदोक्त नहीं तन्त्रोक्त हैं। यों तो उपर्युक्त देव-शक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के स्वतंत्र एवं विशिष्ट विज्ञान हैं, जो साधना ग्रन्थों में सविस्तार वर्णित हैं। उन साधनाओं से सम्पूर्ण प्रगति उसी दिशा में होती है। यहाँ उस विस्तृत विज्ञान का वर्णन करना आवश्यक नहीं। यहाँ तो इन देव-शक्तियों एवं गायत्रियों का वर्णन इसलिये किया गया है कि वेदमाता की सर्व फलदायिनी साधना में भी किसी विशेष तत्त्व को बढ़ाकर किसी विशेष उद्देश्य के लिये अतिरिक्त प्रयत्न भी साथ में जोड़ा जा सकता है।

गायत्री पुरश्चरण

पुरः कहते हैं पूर्व को (अर्थात् आगे की ओर) और चरण कहते हैं चलने को। चलने से पूर्व की जो स्थिति है, तैयारी है, उसे पुरश्चरण कहा जाता है, चलने के तीन भाग हैं (१) गति, (२) आगति, (३) स्थिति। गति कहते हैं बढ़ने को, आगति कहते हैं लौटने को और स्थिति कहते हैं- ठहरने को। पुरश्चरण में यह तीनों ही क्रियायें होती हैं। किसी विशेष अभीष्ट को प्राप्त करने के लिये जो साधना की जाती है, तो उसके साथ-साथ उन दोषों को लौटाया भी जाता है, जो प्रगति के मार्ग में विशेष रूप से बाधक होते हैं। इस गति-आगति से पूर्व शक्ति को प्रस्फुटित करने के लिये जिस स्थिति को अपनाना होता है, वही पुरश्चरण है।

सिंह जब शिकार पर आक्रमण करता है, तो एक क्षण ठहरकर हमला करता है। धनुष पर बाण को चढ़ा कर जब छोड़ा जाता है, तो यत्किंचित् रुककर तब बाण छोड़ा जाता है। बन्दूक का घोड़ा दबाने से पहले जरा-सी देर शरीर को साध कर स्थिर कर लिया जाता है ताकि निशाना ठीक बैठे। इसी प्रकार अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिये पर्याप्त मात्रा में आत्मिक बल एकत्रित करने के लिये कुछ समय आन्तरिक शक्तियों को फुलाया और विकसित किया जाता है, इसी प्रक्रिया का नाम पुरश्चरण है।

सवा लक्ष या न्यूनाधिक मन्त्रों का अनुष्ठान एक सर्वसुलभ, सर्व-जनोपयोगी साधना है। पुरश्चरण किसी कार्य विशेष के लिये किया जाता है। इसका विधान बहुत विस्तृत है। यह पुरोहित की अध्यक्षता में किया जाता है। अनुष्ठान को अकेला मनुष्य बिना किसी सहायता के कर सकता है। पुरश्चरण के लिये अनेक कर्मकाण्डी पण्डितों का सहयोग आवश्यक होता है। किसी विशेष पाप के प्रायश्चित्त के लिये, किसी विशेष लाभ की प्राप्ति के लिये पुरश्चरण किये जाते हैं। इससे अपने अन्दर ऐसी शक्ति का उद्भव होता है, जिससे अभीष्ट उद्देश्य को प्राप्त करना सरल हो जाता है।

गायत्री पुरश्चरण किस मुहूर्त में करना चाहिये और किस आहार- विहार के साथ करना चाहिये, इसका वर्णन इसी प्रकरण में अन्यत्र दिया हुआ है। समय और नियम का पालन करते हुए इस पुरश्चरण की महासाधना को किसी विज्ञ कर्मकाण्डी पुरोहित की अध्यक्षता में आरंभ करना चाहिये।

उत्तम स्थान चुनकर वहाँ पूजा की वेदी बनानी चाहिये। (आटा, रोली, हल्दी, मेंहदी, पीली मिट्टी, पेवड़ी आदि) मांगलिक वस्तुओं की सहायता से चौक पूरे। बीच में हवन की वेदी बनावे, वेदी भूमि से चार अंगुल ऊँची

एवं चौबीस-चौबीस अंगुल लम्बी-चौड़ी होनी चाहिये। ईशान कोण में कलश स्थापित करे। एक चौकी पर देव-स्थापन एवं गायत्री मन्त्र की स्थापना करे। चौकी के निकट घी का दीपक जलता रहना चाहिये। गायत्री-पूजा का विधान आगे दिया हुआ है, उस पूजा को करने के उपरान्त अन्य कार्य आरम्भ करे।

जप से दशांश होम, होम से दशांश तर्पण और तर्पण का दशांश मार्जन और मार्जन का दशांश ब्राह्मण भोजन कराने का पुरश्चरण का नियम है। इस नियम को ध्यान में रखते हुए पहले यह निश्चय करना चाहिये कि हमें कितने जप का पुरश्चरण करना है, क्योंकि उनका आर्थिक स्थिति से सम्बन्ध है। सवा लक्ष मन्त्रों का पुरश्चरण करना हो तो १२,५०० आहुतियों का हवन करना होगा। १२५० तर्पण होगा। १२५ मार्जन करने होंगे और १२ से अधिक ब्राह्मण भोजन करना होगा। इससे व्यय का अन्दाजा लगा लेना चाहिये। जप-तप की संख्या न्यूनाधिक की जा सकती है।

पुरश्चरण का कार्य-विभाजन इस प्रकार है- (१) नित्य कर्म-स्थान आदि। (२) सन्ध्या (३) गायत्री- पूजन- जिसके प्रधान अंग पूजा, कवच, न्यास, ध्यान एवं स्तोत्र हैं। (४) शापमोचन (५) हवन (६) तर्पण (७) मार्जन (८) मुद्रा (९) विसर्जन (१०) ब्राह्मण भोजन। यह क्रम नित्य चलना चाहिये।

इतने बड़े कार्यक्रम के साथ अधिक जप अपने आप नहीं किया जा सकता। इसलिये ब्राह्मणों को वरण करके उनके लिये केवल जप नियत कर दिया जाता है। पुरोहित, यजमान से पूजन, ध्यान, होम-तर्पण आदि कराता है। होम-तर्पण के लिये भी कई व्यक्तियों की सहायता ली जा सकती है, जिससे समय की बचत हो सके। पुरश्चरण सवा लक्ष, चौबीस लक्ष, एक करोड़, सवा करोड़ अथवा न्यून से न्यून चौबीस हजार होता है। प्राय: २४ दिन में उसे पूरा करना पड़ता है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर जप करने वाले तथा हवन-तर्पण में सहयोग देने वाले ब्राह्मणों की नियुक्ति करनी होती है। नियुक्त ब्राह्मणों का भोजन, उनके लिये नये वस्त्र, पात्र तथा दक्षिणा की समुचित व्यवस्था की जाती है।

पुरश्चरण पूरा हो जाने पर ब्रह्म- भोज, प्रीति-भोज, बड़ा यज्ञ, कथा-कीर्तन, प्रसाद-वितरण आदि का समारोह उत्सव मनाना चाहिये और मंगल- कामना के साथ पूजा-सामग्री को किसी शुद्ध स्थान पर विसर्जित करते हुए कार्यक्रम समाप्त करना चाहिये।

अब पुरश्चरण के दस अंगों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है।

नित्य कर्म

प्रतिदिन प्रात:काल ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा त्यागकर उठे। आँख खुलते ही ईश्वर का ध्यान करें और मल-मूत्र का विसर्जन करके स्नान करे। शुद्ध धुले हुए वस्त्र धारण करे। आहार-विहार को ठीक रखे। बुरे कर्मों से बचे। बुरे विचारों से दूर रहे। ब्रह्मचर्य से रहे। पुरश्चरण के लिये जिन नियमों का पालन करना चाहिये, उनका उल्लेख नीचे किया जाता है।

पूजा त्रैकालिकी नित्यं जपस्तर्पणमेव च।
होमो ब्राह्मण भुक्तिश्च पुरश्चरणं तदुच्यते॥ - कुलार्णव तंत्र

नित्यप्रति त्रिकाल पूजन, जप, तर्पण, होम तथा ब्राह्मण भोजन कराना पुरश्चरण कहलाता है।

पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले जलाशये।
गोष्ठे देवालयेऽश्वत्थे उद्याने तुलसी वने॥
पुण्य क्षेत्रे गुरो: पार्श्वे चित्तैकाग्र्यस्थलेऽपि च।
पुरश्चरणकृन्मंत्री सिध्यत्येव न संशय:॥ - विश्वामित्र कल्प

पहाड़ की चोटी पर, नदी किनारे, बिल्ववृक्ष के नीचे नदी या तालाब पर, गौशाला में, देव मन्दिर में, पीपल के नीचे, बगीची में, तुलसी-वन में, तीर्थ-स्थान में, गुरु के निकट या जहाँ चित्त की एकाग्रता बढ़ती हो उस स्थान पर मन्त्र जानने वाले को पुरश्चरण करना चाहिये, वहाँ सिद्धि मिलती है, इसमें सन्देह नहीं।

क्षीराहारी फलाशी वा शाकाशी वा हविष्यभुक्।
भिक्षाशी वा जपेद्यत्तत्कृच्छ्र चान्द्रसमं भवेत्॥

दूध पीने वाला, फल खाने वाला, शाक खाने वाला, हविष्यान्न खाने वाला या भिक्षान्न खाने वाला यदि जप करे, तो वह कृच्छ्र के समान होता है अर्थात् फिर उसे जप करने में पूर्ण कृच्छ्र करने की आवश्यकता नहीं होती है।

लवणं क्षारमम्लं च गृञ्जनादि निषेधितम्।
ताम्बूलं च द्विभुक्तिश्च दुष्टावासः प्रमत्तता॥

नमक, क्षार, खटाई, प्याज आदि निषिद्ध भोजन, पान, दो बार का भोजन तथा दुष्ट-वास और प्रमाद यह छोड़ देने चाहिये।

श्रुतिस्मृति-विरोधं च जपं रात्रौ विवर्जयेत्।

श्रुतिस्मृति का विरोध तथा रात्रि का जप वर्जित है।

भूशय्या ब्रह्मचारित्वं मौनचर्य्या तथैव च।
नित्यं त्रिषवणं स्नानं क्षौरकर्म विवर्जनम्॥
नित्य-पूजा नित्यदानमानन्द-स्तुति-कीर्त्तनम्।
नैमित्तिकार्चनं चैव विश्वासो गुरुदेवयोः॥
जप-निष्ठा द्वादशैते धर्माः स्युर्मन्त्रसिद्धिदाः।

पृथ्वी-शयन, ब्रह्मचर्य-व्रत, मौन, त्रिकाल सन्ध्या, स्नान, बाल न बनवाना, नित्य-पूजन, दान, स्तुति, कीर्तन, नैमित्तिक अर्चन, गुरु एवं देवता का विश्वास तथा जप में निष्ठा- ये बारह मन्त्र सिद्ध करने वाले के लिये आवश्यक कार्य हैं।

ज्येष्ठाषाढौ भाद्रपदं पौषं तु मलमासकम्।
अंगारशनिवारौ तु व्यतिपातञ्च वैधृतिम्॥
अष्टमीं नवमीं षष्ठीं चतुर्थीं च त्रयोदशीम्।
चतुर्दशीममावस्यां प्रदोषंच तथा निशा॥

ज्येष्ठ, आषाढ़, भाद्रपद, पौष तथा अधिक मास, मंगल व शनिवार, व्यतिपात तथा वैधृति योग, अष्टमी, नवमी, षष्ठी, चतुर्थी, त्रयोदशी, चतुर्दशी तथा अमावस्या, प्रदोष, रात्रिकाल ये पुरश्चरण के लिये वर्जित हैं।

यमाग्नि रुद्र सार्पेन्द्रि वसु श्रवण जन्मभम्।
मेष कर्क तुला कुम्भमकरं चैव वर्जयेत्॥
सर्वाण्येतानि वर्ज्यानि पुरश्चरण कर्मणि।

भरणी, कृत्तिका, आर्द्रा, आश्लेषा, ज्येष्ठा, धनिष्ठा, श्रवण और जन्म नक्षत्र तथा मेष, कर्क, तुला, कुम्भ, मकर लग्नों के समय पुरश्चरण आरम्भ करना चाहिये।

गुरु शुक्रोदये शुद्धे लग्ने सद्वारशोधिते।
चन्द्रतारानुकूल्ये च शुक्ल पक्षे विशेषतः॥
पुरश्चरणकं कुर्यान्मन्त्रसिद्धिः प्रजायते।

गुरु, शुक्र के उदय होने पर, शुद्ध लग्न में अच्छे वार में अनुकूल चन्द्र तथा तारा में, विशेष रूप से शुक्ल पक्ष में पुरश्चरण करने में मन्त्र की सिद्धि होती है।

कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धिर्मुक्तिः श्रीर्व्याघ्रचर्मणि।
स्यात्पौष्टिकं च कौशेयं शान्तिकं वेत्रविष्टरम्॥

वंशासने व्याधिनाशः कम्बले दुःख-मोचनम्।
सर्वाभावेत्वासनार्थं कुशविष्टरमुत्तमम्॥

काले मृग का चर्म ज्ञान सिद्धि के लिये, मोक्ष तथा श्री के लिये व्याघ्र का चर्म, पुष्टि कार्य के लिये रेशम, शान्ति कार्य के लिये वेत, व्याधिनाश के लिये बाँस, दुःख मोचन के लिये कम्बल का आसन लेना चाहिये।

आरम्भदिनमारभ्य समाप्तिदिवसावधि।
नन्यूनं नातिरिक्तं च जपं कुर्याद् दिने-दिने॥
नैरंतर्येण कुर्वीत न स्ववृत्तौ च लिंपयेत्।
प्रातरारभ्य विधिवज्जपेन्मध्यंदिनावधि॥
मनः संहरणं शौचं ध्यानं मन्त्रार्थचिन्तनम्।

प्रारम्भिक दिन से लेकर अन्तिम दिन तक एक-सा ही, एक ही संख्या में जप करे, न कम करे न अधिक। निरन्तर ऐसा करता ही रहे, अपनी वृत्ति के चक्कर में लिप्त न हो जाए। प्रातः से लेकर मध्याह्न तक विधिवत् जप करता रहे। मन से पवित्र रहे और मन्त्रार्थ का चिन्तन करता रहे।

होमस्य तु दशांशेन तर्पणं समुदीरितम्।
तर्पणस्य दशांशेन चाभिषेकस्ततः परम्।
अभिषेक दशांशेन कुर्यात् ब्राह्मण भोजनम्।

होम का दशांश तर्पण और तर्पण का दशांश अभिषेक तथा अभिषेक का दशांश ब्राह्मण भोजन कराना चाहिये।

२-सन्ध्या

पुरश्चरण आरम्भ करते हुए सबसे पूर्व सन्ध्या करनी चाहिये। सन्ध्या की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। यजुर्वेदीय, ऋग्वेदीय, सामवेदीय सन्ध्यायें प्रसिद्ध हैं। दाक्षिणात्यों की सन्ध्यायें, उत्तर में जो सन्ध्या आजकल प्रचलित है वह और धार्मिक जनता में जो सन्ध्या आजकल प्रचलित है, वह श्रुति और स्मृति दोनों के मिश्रित मन्त्रों वाली हैं। आर्यसमाजी सन्ध्या अलग है। इनमें से किसी भी सन्ध्या को अपनाया जा सकता है। हमारे मत से गायत्री ब्रह्म सन्ध्या सर्वोत्तम है, जिसका वर्णन 'गायत्री महाविज्ञान' पुस्तक के प्रथम भाग में हम भली-भाँति कर चुके हैं।

३-गायत्री पूजन

एक चौकी पर गायत्री की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये। यह प्रतिमा, गायत्री मन्त्र के अक्षरों में या देवी के चित्र या मूर्ति रूप में हो सकती है। उसका धूप, दीप, चन्दन, गन्ध, अक्षत, नैवेद्य, ताम्बूल, पूगीफल, दूर्वा, पुष्प, अर्घ्य, नमस्कार आदि से पूजन करना चाहिये। मानसी पूजा में ध्यानावस्थित होकर भावना रूप में ही यह सब पूजा पदार्थ गायत्री माता के सम्मुख उपस्थित करके उनका पूजन किया जाता है।

पूजा से पूर्व गायत्री का आह्वान करना चाहिये और विश्वास करना चाहिये कि विश्वव्यापी गायत्री शक्ति का एक विशिष्ट भाग यहाँ पूजा को स्वीकार करने के लिये पधारा हुआ है। आह्वान मन्त्र यह है-

आयातु वरदे देवि त्र्यक्षरे ब्रह्मवादिनि।
गायत्रिच्छन्दसां मातः ब्रह्मयोने नमोऽस्तु ते॥

पूजा के उपरान्त ध्यान, कवच, न्यास एवं स्तोत्र के द्वारा गायत्री की धारणा तथा प्रतिष्ठा करनी चाहिये। यह पञ्चोपचार पूजा कहलाती है। पाँचों का आगे वर्णन किया जाता है।

४-ध्यान

ध्यान का अभिप्राय है- किसी वस्तु को श्रद्धा और रुचिपूर्वक, सम्मान सहित मनोभूमि में धारण करना । इस प्रकार जिस मूर्ति को मन में धारण किया जाता है वह एक प्रकार से अपना आदर्श बन जाती है और उसी के अनुरूप अपने गुण, कर्म, स्वभाव बनने लगते हैं ।

गायत्री का ध्यान करते समय उस महाशक्ति की विशेषताओं एवं महत्ताओं का ध्यान आता है, वह एक प्रकार से अपना आदर्श बनाती है और उसमें वे विशेषतायें स्वयमेव बढ़ने लगती हैं । शक्ति का उपासक दिन-दिन शक्तिमान् बनेगा ।

गायत्री के दो प्रकार के ध्यान नीचे दिये गये हैं, वर्णपरक और शक्तिपरक । इनका यथारुचि ध्यान करें ।

।। वर्णानां ध्यानम् ।।

तत्कारं चम्पकापीतं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
शतपत्रासनारूढं ध्यायेत् सुस्थानसंस्थितम् ।।

चम्पक पुष्प जैसा पीत, ब्रह्मा, विष्णु, शिवात्मक, कमलासन रूप, सुन्दर स्थान पर स्थित (तत्) कार का ध्यान करे ।

सकारं चिन्तयेद्देवमतसी पुष्पसन्निभम् ।
पद्म मध्यस्थितं सौम्यमुपपातक नाशनम् ।।

अलसी के पुष्प के सदृश आभा वाले पद्म के बीच में स्थित सौम्य तथा उपपातकों के विनाश कर्ता 'स' कार का ध्यान करना चाहिये ।

विकारं कपिलं नित्यं कमलासनसंस्थितम् ।
ध्यायेच्छान्तो द्विजः श्रेष्ठो महापातकनाशनम् ।।

कमलासन पर स्थित विद्रुम के समान महापापों को विनाश करने वाले 'वि' कार का द्विज शान्त चित्त से ध्यान करे ।

तुकारं चिन्तयेत्प्राज्ञ इन्द्रनील सम प्रभम् ।
निर्दहेत् सर्वपापानि ग्रहरोगसमुद्भवम् ।।

इन्द्रमणि के समान प्रभा वाले, ग्रह रोगों से समुत्पन्न समस्त पापों का दहन करने वाले 'तु' कार का विद्वान् ध्यान करें ।

वकारं वह्नि दीप्ताभं चिन्तयेच्च विचक्षणः ।
भ्रूणहत्या कृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ।।

प्रज्वलिताग्नि के समान आभा वाले 'व' कार का पण्डित लोग ध्यान करें, इसके चिन्तन से भ्रूण हत्या से लगा हुआ पाप शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है ।

रेकारं विमलं ध्यायेत् शुद्ध स्फटिक सन्निभम् ।
पापं नश्यति तत्क्षिप्रमगम्यागमनोद्भवम् ।।

शुद्ध स्फटिक के तुल्य निर्मल 'रे' कार का ध्यान करने से अगम्य स्थान में जाने से लगा हुआ पाप दूर होता है ।

णिकारं चिन्तयेद्योगी शुद्ध स्फटिक सन्निभम् ।
अभक्ष्य-भक्षणं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ।।

शुद्ध स्फटिक के सदृश 'णि' कार का योगी पुरुष ध्यान करें, क्योंकि इसका ध्यान करने से अभक्ष्य वस्तु खा लेने से लगा पाप शीघ्र ही विनष्ट होता है ।

यकारं तारकावर्णमिन्दु शेषविभूषितम्।
योगिनां वरदं ध्यायेत् ब्रह्म-हत्याविनाशनम्॥

तारों के वर्ण वाले चन्द्र से विभूषित 'य' कार का ध्यान करना चाहिये, क्योंकि इस महान् वर के प्रदान करने वाले 'य' कार से ब्रह्म-हत्या सम्बन्धी पाप नष्ट होता है।

भकारं कृष्ण वर्णं तु नील मेघ समप्रभम्।
ध्यात्वा पुरुषहत्यादि पापं नाशयति द्विजः॥

नील मेघ की आभा के समान, कृष्ण, कान्त 'भ' कार का ध्यान करने से द्विज पुरुष की हत्या आदि पापों का नाश करता है।

गो कारं रक्त वर्णं च कमलासन संस्थितम्।
गोहत्यादि कृतं पापं ध्यात्वा नश्यति तत्क्षणात्॥

रक्तवर्ण, कमलासन पर बैठे हुए, 'गो' कार का ध्यान करने से गोहत्या आदि महापापों का शीघ्र ही विनाश होता है।

देकारं रक्त संकाशं कमलासनसंस्थितम्।
चिन्तयेत्सततं योगी स्त्री-हत्या गहनं परम्॥

रक्त वर्ण वाले कमलासन पर स्थित 'दे' कार का ध्यान स्त्री-हत्या आदि पापों से मुक्ति देता है, योगी पुरुष निरन्तर उसका चिन्तन करें।

वकारं चिन्तयेच्छुद्धं जातीपुष्पसमप्रभम्।
गुरु हत्या कृतं पापं ध्यानात् नश्यति तत्क्षणात्॥

जाती फूल के समान आभा वाले 'व' कार का ध्यान करे। इसके ध्यान करने से गुरु हत्या का पाप शीघ्र ही विनष्ट होता है।

स्यकारं तं तथा भानुं सुवर्ण सदृश प्रभम्।
मनसा चिन्तितं पापं ध्यात्वा दूरमपाहरेत्॥

सुवर्ण के समान आभा वाले 'स्य' कार का मन से चिन्तन कर पापों को दूर करना चाहिये।

धीकारं चिन्तयेच्छुक्लं कुन्दपुष्पसमप्रभम्।
पितृ मातृवधात् पापान्मुच्यते नात्र संशयः॥

कुन्द पुष्प के समान आभा वाले शुक्लवर्ण 'धी' कार के चिन्तन करने से माता-पिता के वध करने के लगे हुए पाप से मुक्त हो जाता है।

मकारं पद्म रागाभं चिन्तयेद्दीप्ततेजसम्।
पूर्वजन्मार्जितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति॥

पद्म के रंग के समान आभा वाले, दीप्त तेज के समान 'म' कार का ध्यान करने से पूर्व जन्म के पापों का अविलम्ब नाश होता है।

हिकारं शंख वर्णन्तु पूर्ण चन्द्र समप्रभम्।
अशेष पाप दहनं ध्यायेन्नित्यं विचक्षणः॥

पूर्ण चन्द्र के समान कान्ति वाले, शंख के से वर्ण वाले सम्पूर्ण पापों को नाश करने वाले 'हि' कार का ध्यान करे।

धिकारं पाण्डवं ध्यायेत् पद्मस्योपरि संस्थितम्।
प्रतिग्रहकृतं पापं स्मरणादेव नश्यति ॥

पद्म के ऊपर स्थित पाण्डुवर्ण 'धि' कार का ध्यान करना चाहिये। प्रतिग्रह पाप स्मरण मात्र से ही दूर हो जाते हैं।

यो कारं रक्तवर्णं तु इन्द्रगोपसमप्रभम्।
ध्यात्वा प्राणि-वधं पापं निर्दहेन्मुनि पुंगवः ॥

रक्त वर्ण गोप के समान प्रभा वाले 'यो' कार का ध्यान कर श्रेष्ठ मुनि लोग, प्राणी वध के पाप से मुक्त होते हैं।

द्वितीयश्चैव यः प्रोक्तो यो कारो रक्त सन्निभः।
निर्दहेत् सर्व पापानि पुनः पापं न लिप्यते ॥

द्वितीय 'यो' कार, जो रक्त वर्ण का कहा जाता है उसका ध्यान करने पर, सब पापों को विनष्ट कर देता है तथा पुनः पापों में प्रलिप्त नहीं होना पड़ता।

नः कारन्तु मुखं पूर्वमादित्योदयसन्निभम्।
सकृद् ध्यात्वा द्विजः श्रेष्ठः स गच्छेत्परमं पदम् ॥

उदय होते हुए सूर्य की आभा वाले 'नः' कार का ध्यान पूर्व की ओर मुख करके करने से श्रेष्ठ द्विज परम पद को प्राप्त होता है।

नीलोत्पलदलश्यामं प्र-कारं दक्षिणायनम्।
सकृद् ध्यात्वा द्विजः श्रेष्ठः संगच्छेदीश्वरं पदम् ॥

नीलकमल के समान श्याम वर्ण 'प्र' कार का ध्यान करके श्रेष्ठ ब्राह्मण ईश्वर पद को प्राप्त करे।

सौम्यं गोरोचनापीतं चोकारं चतुराननम्।
सकृद् ध्यात्वा द्विजः श्रेष्ठः संगच्छेद्वैष्णवं पदम् ॥

सौम्य गोरोचन जैसे पीले वर्ण वाले 'चो' कार का एक बार ध्यान कर, श्रेष्ठ ब्राह्मण विष्णु पद को प्राप्त होता है।

शुक्लवर्णेन्दुसंकाशं दकारं पश्चिमाननम्।
सकृद् ध्यात्वा द्विजः श्रेष्ठः संगच्छेद् ब्रह्मणः पदम् ॥

शुक्लचन्द्र के समान पश्चिम मुखी 'द' कार का ध्यान कर श्रेष्ठ द्विज, ब्रह्मा पद को प्राप्त करता है।

यात्कारं तु शिवं प्रोक्तं चतुर्वदनसमप्रभम्।
प्रत्यक्ष फलदो ब्रह्म विष्णुरुद्र इति स्मृतिः ॥

'यात्' कार को तो शिव अर्थात् कल्याणकारी कहा है। यह ब्रह्मा के समान आभा वाला प्रत्यक्ष शुभ फल देने वाला है।

न भवेत्सूतकं तस्य मृतकं च न विद्यते।
यस्त्वेवं न विजानाति गायत्रीं च तथाविधाम् ॥

जो इस प्रकार गायत्री को सविधि जानता है, उसको न तो कभी सूतक ही होता है और न कभी मृत्यु ही होती है।

कथितं सूतकं तस्य मृतकं च मयानघ।
न च तीर्थ-फलं प्रोक्तं तथैव सूतके सति ॥

हे पाप रहित ! मैंने उसके सूतक मृतक वर्णन किये। उनके होने पर उसे न दान का फल प्राप्त है और न उसे तीर्थ में जाने का फल लाभ होता है।

गायत्री शक्ति ध्यान

वर्णास्त्र कुण्डिका हस्तां शुद्ध निर्मल ज्योतिषीम्।
सर्व तत्त्वमयीं वन्दे गायत्रीं वेदमातरम्॥

वर्णास्त्र युक्त कुण्डिका सहित हाथ वाली शुद्ध निर्मल ज्योति स्वरूपिणी, सब तत्त्वों से युक्त वेदमाता गायत्री की वन्दना करता हूँ।

मुक्ता-विद्रुमहेम-नील-धवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणैः
युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम्।
गायत्रीं वरदाभयांकुशकशां शूलं कपालं तथा,
शंखं चक्रमथारविंदयुगलं हस्तैर्वहंतीं भजे॥

मोती, विद्रुम, सुवर्ण, नील तथा श्वेत आभायुक्त तीन नेत्र वाले मुख युक्त, चन्द्र जटित रत्नों के मुकुट को धारण करने वाली, तत्त्वार्थ प्रकाशन करने वाली, अभय वरदान प्रदान करने वाली, त्रिशूल, कपाल, शंख तथा चक्र और कमल हाथों में धारण करती हुई गायत्री देवी का ध्यान करता हूँ।

पञ्चवक्त्रां दशभुजां सूर्य कोटि समप्रभाम्।
सावित्रीं ब्रह्मवरदां चन्द्रकोटि सुशीतलाम्॥
त्रिनेत्रां सितवक्त्रां च मुक्ताहार विराजिताम्।
वराभयांकुशकशां हेम पात्राक्षमालिकाम्॥
शंखचक्राब्ज युगलं कराभ्यां दधतीं पराम्।
सितपंकज संस्थां च हंसारूढां सुखस्मिताम्॥
ध्यात्वैवं मानसाम्भोजे गायत्री-कवचं पठेत्।

पाँच मुँह, दश भुजा वाली, करोड़ों सूर्य के समान प्रभावती, सावित्री, ब्रह्मवरदा, करोड़ों चन्द्र के समान शीतल, तीन नेत्र वाली, शीतल वाणी वाली, मोतियों का हार धारण करने वाली, वर, अभय, अंकुश, हेमपात्र, अक्षमाला, शंख, चक्र हाथों में धारण करने वाली, श्वेत कमल पर स्थित, हंसारूढ़, मन्द-मन्द मुस्कराती हुई गायत्री का हृदय-कमल पर ध्यान करके तब गायत्री कवच का पाठ करना चाहिये।

कवच

कवच का अर्थ है आच्छादन। किसी से अपने को ढक लिया जाए, तो उसे कवच पहनना कहेंगे। लड़ाई के समय प्राचीनकाल में योद्धा लोग एक विशेष प्रकार के चमड़े और लोहे से बने हुए वस्त्र पहनते थे, जिससे दूसरों के द्वारा किया हुआ प्रहार उन वस्त्रों पर ही रह जाता था। उन वस्त्रों को कवच कहते थे। कवच का काम रक्षा करना है। रक्षा करने वाली वस्तु को कवच कहा जा सकता है।

जिस प्रकार पदार्थों से बने हुए कवच के द्वारा शरीर की रक्षा की जाती है, उसी प्रकार आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न ऐसे दैवी कवच भी होते हैं, जिसका आवरण ओढ़ लेने पर हमारी रक्षा हो सकती है। मन्त्र शक्ति, कर्मकाण्ड और श्रद्धा का सम्मिश्रित आध्यात्मिक कवच इस प्रकार का है कि उससे अपने आपको आच्छादित कर लेने पर शरीर और मन पर आक्रमण करने वाले अनिष्टों को सफलता नहीं मिलती है।

नीचे दो कवच दिये हैं। एक में गायत्री के अक्षरों को 'शक्ति बीज' मानकर उनके द्वारा अपनी रक्षा का आच्छादन बुना जाता है। दूसरे कवच में गायत्री को शक्ति मानकर उसके विविध रूपों द्वारा अपने चारों ओर एक घेरा स्थापित किया जाता है। सुविधा और रुचि के अनुसार इनमें से किसी एक को या दोनों को ही काम में लाया जा सकता है।

शान्त चित्त होकर कवच का पाठ करते हुए ध्यान करना चाहिये कि मेरे अमुक अंग पर अमुक शक्ति का आच्छादन (कवच) चढ़ गया है। अब वहाँ कोई अनिष्ट उसी प्रकार आक्रमण नहीं कर सकता, जिस प्रकार योद्धा के शरीर पर धारण किये हुए कवच को शत्रु नहीं तोड़ सकते। अब मेरे अंग-प्रत्यंगों पर चढ़े हुए आध्यात्मिक कवच का भेदन करके कोई विकार मुझे शारीरिक, मानसिक अथवा किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचा सकते। इस भावना के साथ धारण किया हुआ कवच सचमुच ही एक बड़ा महत्त्वपूर्ण रक्षा-कार्य पूरा करता है।

अक्षर शक्ति कवच

तत्पदं पातु मे पादौ जंघे मे सवितुः पदम्।
वरेण्यं कटि देशन्तु नाभिं भर्गस्तथैव च॥

'तत्' ये मेरे पैरों की रक्षा करे। 'सवितुः' यह पद मेरी जंघाओं की रक्षा करे। 'वरेण्यं' पद मेरे कटि प्रदेश की रक्षा करे। 'भर्ग' पद मेरी नाभि की रक्षा करे।

देवस्य मे तु हृदयं धीमहीति गलं तथा।
धियो मे पातु जिह्वायां यः पदं पातु लोचने॥

'देवस्य' पद मेरे हृदय की तथा 'धीमहि' मेरे गले की रक्षा करे। 'धियो' मेरी जीभ की तथा 'यः' पद मेरे दोनों चक्षुओं की रक्षा करे।

ललाटे नः पदं पातु मूर्द्धानं मे प्रचोदयात्।

'नः' षद मेरे ललाट की और 'प्रचोदयात्' मेरे शिर की रक्षा करे।

तद्वर्णः पातु मूर्द्धानं सकारः पातु भालकम्।

'तत्' वर्ण मूर्धा की, 'स' कार भाल की रक्षा करे।

चक्षुषी मे विकारस्तु श्रोत्रे रक्षेत्तुकारकः।
नासापुटे वकारो मे रेकारस्तु मुखे तथा।

'वि' मेरे नेत्रों की और 'तु' कार कर्णों की रक्षा करे, 'व' कार नासापुट की और 'रे' कार कपाल की रक्षा करे।

णिकारस्त्वधरोष्ठे च यकारस्तूर्ध्व ओष्ठके।
आस्य मध्ये भकारस्तु गोकारस्तु कपोलयोः॥

'णि' कार नीचे के ओष्ठ की, 'य' कार उपरोष्ठ की, मुख के मध्य में 'भ' कार और 'गो' कार दोनों कपोलों की रक्षा करे।

देकारः कण्ठ देशे च वकारः स्कन्ध देशयोः।
स्यकारो दक्षिणं हस्तं धीकारो वाम हस्तकम्॥

'दे' कार कण्ठ प्रदेश की, 'व' कार दोनों कन्धों में, 'स्य' कार दायें हाथ की तथा 'धी' यह बायें हाथ की रक्षा करे।

मकारो हृदयं रक्षेद्धिकारो जठरं तथा।
धिकारो नाभिदेशं तु यो कारस्तु कटि द्वयम्॥

'म' कार हृदय की रक्षा करे, 'हि' कार पेट की और 'यो' कार कटि द्वय की रक्षा करे।

गुह्यं रक्षतु यो कार ऊरू मे नः पदाक्षरम्।
प्रकारो जानुनी रक्षेच्चोकारो जंघ देशयोः॥

'यो' कार गुह्य प्रदेश की रक्षा करे, दोनों ऊरुओं में 'न' पद रक्षा करे। 'प्र' कार दोनों घुटनों की रक्षा करे। 'चो' कार जंघा प्रदेश की रक्षा करे।

दकारो गुल्फदेशे तु याकारः पादयुग्मकम्।
तकार व्यंजनं चैव सर्वांग मे सदाऽवतु॥

'द' कार गुल्फ की रक्षा करे, 'य' कार दोनों पैरों की रक्षा करे। तकार व्यंजन मेरे समस्त अंगों की रक्षा करे॥

न्यास

न्यास का अर्थ है- स्थापना। किसी स्थान में किसी वस्तु की स्थापना करना न्यास करना कहलाता है। साधना पर स्थित होकर दाहिने हाथ का अँगूठा मध्यमा तथा अनामिका को मिलाकर विविध अंगों का स्पर्श करते हैं और उन अंगों में गायत्री-शक्तियों की स्थापना की भावना करते जाते हैं।

इस प्रकार की भावना से साधक अपने अंग-प्रत्यंगों में एक दैवी शक्ति का अनुभव करता है। यह भावना अपने श्रद्धा-विश्वास के कारण सचमुच दृढ़ता और पुष्टि प्रदान करती है।

न्यास शक्ति

सावित्री मे शिरः पातु शिखायाममृतेश्वरी।
ललाटं ब्रह्मदैवत्या भ्रुवौ मे पातु वैष्णवी॥

सावित्री शिर की रक्षा करें, अमृतेश्वरी शिखा की, ब्रह्म देवी ललाट की तथा वैष्णवी भ्रू की रक्षा करें।

कर्णौ मे पातु रुद्राणी सूर्या सावित्रिकाम्बके।
गायत्री वदनं पातु शारदा दशनच्छदौ॥

रुद्राणी कान की, सूर्य में रहकर सभी प्राणियों का सृजन करने वाली भगवती सावित्री दोनों नेत्रों की, गायत्री मुख की तथा शारदा ओठों की रक्षा करें।

द्विजान्यज्ञप्रिया पातु रसनां तु सरस्वती।
सांख्यायनी नासिकां मे कपोलौ चन्द्रहासिनी॥

द्विजों की यज्ञ-प्रिया जीभ की सरस्वती नासिका की सांख्यायनी तथा कपाल की चन्द्रहासिनी रक्षा करें।

चिबुकं वेद गर्भा च कण्ठं पात्वघनाशिनी।
स्तनौ मे पातु इन्द्राणी हृदयं ब्रह्मवादिनी॥

ठोड़ी में वेदगर्भा, अघनाशिनी कण्ठ की, इन्द्राणी स्तनों की, ब्रह्मवादिनी हृदय की रक्षा करें।

उदरं विश्व भोक्त्री च नाभिं पातु सुरप्रिया।
जघनं नारसिंही च पृष्ठं ब्रह्मांडधारिणी॥

विश्वभोक्त्री उदर की, सुरप्रिया नाभि की, नारसिंही जघन की तथा ब्रह्माण्डधारिणी पीठ की रक्षा करें।

पार्श्वौ मे पातु पद्माक्षी गुह्यं गोगोप्त्रिकाऽवतु।
ऊर्वोरोंकाररूपा च जान्वोः सन्ध्यात्मिकाऽवतु॥

पद्माक्षी पार्श्व की, गोप्त्रिका गुह्य की, ओंकार रूपा ऊरु की तथा सन्ध्यात्मिका जानु की रक्षा करें।

जंघयोः पातु अक्षोभ्या गुल्फयोर्ब्रह्मशीर्षका।
सूर्या पदद्वयं पातु चन्द्रा पादांगुलीषु च॥

अक्षोभ्या जंघा की, ब्रह्मशीर्षका गुल्फ की, सूर्या दोनों पैरों की अँगुलियों की रक्षा करें।

सर्वांगं वेदजननी पातु मे सर्वदाऽनघा।
इत्येतत्कवचं ब्रह्मन् गायत्र्याः सर्व-पावनम्।
पुण्यं पवित्रं पापघ्नं सर्व- रोग- निवारणम्॥

वेद जननी सब शरीर की, सर्वदा मेरी रक्षा करें । यह सर्वपावन ब्रह्म गायत्री का कवच है, जो पुण्यकारी, पवित्रकारी, पापनाशक तथा सर्वरोग निवारक है ।

त्रिसंध्यं यः पठेद्विद्वान् सर्वान्कामानवाप्नुयात् ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स भवेद्वेदवित्तमः ॥

त्रिसन्ध्या पाठ करने से विद्वान् सब कामनाओं को प्राप्त करता है, वह सब शास्त्रों का जानकार हो जाता है । वेदज्ञ हो जाता है ।

सर्व यज्ञ फलं प्राप्य ब्रह्मान्ते समवाप्नुयात् ।
प्राप्नोति जपमात्रेण पुरुषार्थांश्चतुर्विधान् ॥

सब यज्ञों का फल उसे मिलता है । अन्त में ब्रह्म की प्राप्ति होती है और जप मात्र से ही वह चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करता है ।

प्रार्थना और स्तुति से, उस शक्ति की महत्ता पर अपना ध्यान केन्द्रित होता है । महिमा में जिन विशेषताओं का वर्णन होता है, उनका प्राय: अपने में अभाव रहने से मन उस ओर आकर्षित होता है और उधर रुचि एवं श्रद्धा उत्पन्न होती है । जैसे किसी निर्धन और भुखमरे व्यक्ति के सामने किसी के बड़े भारी ऐश्वर्य का वर्णन किया जाए और स्वादिष्ट बढ़िया भोजनों का रोचक वर्णन किया जाए, तो वह उस ओर लालायित होता है और उस स्थिति को या उन स्वादिष्ट पदार्थों को प्राप्त करने के लिये उसके मन की लालसायें प्रदीप्त हो जाती हैं । यह लालसाओं का प्रदीप्त होना किसी कार्य में तत्परतापूर्वक लगने का प्रधान हेतु होता है । स्तोत्र पाठ से साधक में श्रद्धा भक्ति की जागृति होती है ।

गायत्री स्तोत्र

सुकल्याणीं वाणीं सुरमुनिवरैः पूजितपदाम् ।
शिवामाद्यां वन्द्यां त्रिभुवनमयीं वेदजननीम् ॥
परां शक्तिं स्रष्टुं विविधविध रूपां गुणमयीम् ।
भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम् ॥१ ॥
विशुद्धां सत्त्वस्थामखिल दुरवस्थादिहरणीम् ।
निराकारां सारां सुविमल तपो मूर्त्तिमतुलाम् ॥
जगज्ज्येष्ठां श्रेष्ठामसुरसुरपूज्यां श्रुतिनुताम् ।
भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम् ॥२ ॥
तपो निष्ठाभीष्टांस्वजनमनसन्तापशमनीम् ।
दयामूर्तिं स्फूर्तिं यतितति प्रसादैकसुलभाम् ॥
वरेण्यां पुण्यां तां निखिल भव बन्धापहरणीम् ।
भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम् ॥३ ॥
सदाराध्यां साध्यां सुमति मति विस्तारकरणीम् ।
विशोकामालोकां हृदयगत मोहान्धहरणीम् ।
परां दिव्यां भव्यामगमभवसिन्ध्वेक तरणीम् ।
भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम् ॥४ ॥

अजां द्वैतां त्रैतां विविधगुणरूपां सुविमलाम्।
तमो हन्त्रीं-तन्त्रीं श्रुति मधुरनादां रसमयीम्॥
महामान्यां धन्यां सततकरुणाशील विभवाम्।
भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम्॥५॥
जगद्धात्रीं पात्रीं सकल भव संहारकरणीम्।
सुवीरां धीरां तां सुविमल तपो राशि सरणीम्॥
अनेकामेकां वै त्रिजगसदधिष्ठानपदवीम्।
भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम्॥६॥
प्रबुद्धां बुद्धां तां स्वजनमति जाड्यापहरणाम्।
हिरण्यां गुण्यां तां सुकविजन गीतां सुनिपुणीम्॥
सुविद्यां निरवद्याममल गुणगाथां भगवतीम्।
भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम्॥७॥
अनन्तां शान्तां यां भजति बुध वृन्दः श्रुतिमयीम्।
सुगेयां ध्येयां यां स्मरति हृदि नित्यं सुरपतिः॥
सदा भक्त्या शक्त्या प्रणतमतिभिः प्रीतिवशगाम्।
भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम्॥८॥
शुद्ध चित्तः पठेद्यस्तु गायत्र्या अष्टकं शुभम्।
अहो भाग्यो भवेल्लोके तस्मिन् माता प्रसीदति॥९॥

गायत्री वाणी का कल्याण करने वाली है। सुर, मुनि द्वारा इसकी पूजा की जाती है। इसे शिवा कहते हैं। यह आद्या है, त्रिभुवन में वन्दनीय है, वेद-जननी है, पराशक्ति है, गुणमयी है तथा विविध रूप धारण करके प्रादुर्भूत होती है। इस माता गायत्री का, जो सौभाग्य और आनन्द का सृजन करती है, हम भजन करते हैं॥१॥

गायत्री विशुद्ध तत्त्व वाली, सत्त्वमयी तथा समस्त दुःख, दोष एवं दुरवस्था हरने वाली है। यह निराकार है, सारभूत है और अतुल तप की मूर्ति एवं विमल है। यह संसार में सबसे महान् है, ज्येष्ठ है। देवता तथा असुरों से पूजित है। उस सौभाग्य एवं आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं॥२॥

गायत्री का तपोनिष्ठ रहना भी अभीष्ट है। यह स्वजनों के मानसिक संतापों का शमन करने वाली है। यह स्फूर्तिमयी है, दया मूर्ति है और उसकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेना अत्यंत सुलभ है। वह संसार के समस्त बन्धनों का हरण करने वाली है एवं वरण करने योग्य है। उस परम सौभाग्य एवं आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं॥३॥

गायत्री निरन्तर आराधना करने योग्य है और उसकी आराधना करना अत्यंत साध्य है। वह सुमति का विस्तार करने वाली है। वह प्रकाशमय है, शोकरहित है और हृदय में रहने वाले मोहान्धकार को दूर करने वाली है। वह परा है, दिव्य है, अगम संसार सागर से तरने के लिये नौका के समान है, उस परम सौभाग्य और आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं।

गायत्री अजन्मा है, द्वैता है, त्रिगुण एवं सुविमल रूपमयी है। तम को दूर करती है। विश्व की संचालिका है। वाणी सुनने में मधुर एवं रसमयी है। वह महामान्य है, धन्य है और उनका वैभव निरंतर करुणाशील है। उस परम सौभाग्य एवं आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं॥५॥

गायत्री संसार की माता है और सकल संसार की संहार करने की भी उनमें शक्ति है। वह वीर है, धीर है

और उसका जीवन पवित्र तपोमय है । वह एक होते हुए भी अनेक रूपों में है । उसकी पदवी संसार की अधिष्ठात्री की है । उस परम सौभाग्य एवं आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं ॥६ ॥

गायत्री प्रबुद्ध है, बोधमयी है, स्वजनों की जड़ता को नाश करने वाली है, हिरण्यमयी है, गुणमयी है, जिनकी निपुणता सुकवि जनों द्वारा गाई जाने वाली है । निरवद्य है, उनके रूपों में गुणों की गाथा अकथनीय है । वे भगवती अम्बा गायत्री उस परम सौभाग्य एवं आनंद की जननी है, मैं उनका भजन करता हूँ ॥७ ॥

गायत्री अनन्त है, इसका भजन करके पण्डित लोग वेदमय हो जाते हैं इसका गान, ध्यान तथा स्मरण इन्द्र नित्यप्रति हृदय से करता है । सदा भक्तिपूर्वक, शक्ति के साथ, आत्म-निवेदन पूर्वक, प्रेमयुक्त आनंद एवं सौभाग्य की जननी माता गायत्री की मैं उपासना करता हूँ ॥८ ॥

इस शुभ गायत्री अष्टक को जो लोग शुद्ध चित्त होकर पढ़ते हैं, वे इस संसार में भाग्यवान् हो जाते हैं और माता की उन पर पूर्ण कृपा रहती है ॥९ ॥

४-शापमोचन

गायत्री को शाप लगने के बारे में दो कथायें पुराणों में मिलती हैं । एक है कि ब्रह्माजी की प्रथम पत्नी सावित्री अपने पति की आज्ञा न मानकर यज्ञ में सम्मिलित नहीं हुई, तब उन्होंने दूसरी पत्नी गायत्री को साथ लेकर यज्ञ-कर्म पूरा किया । इस पर सावित्री बहुत कुपित हुईं और उन्होंने गायत्री को शाप दिया कि तुम्हारी शक्ति नष्ट हो जायेगी । इस शाप से सर्वत्र बड़ी चिन्ता फैली । देवताओं ने अनुनय-विनय कर प्रार्थना की कि गायत्री को शाप से मुक्त कर दिया जाए, अन्यथा ब्रह्मशक्ति की बड़ी भारी क्षति होगी । तब सावित्री ने एक मन्त्र बताया, जिसके पढ़ने से गायत्री शाप मुक्त हो जाती है और जो उसका प्रयोग नहीं करता, उसके लिये गायत्री शाप युक्त रहती है ।

दूसरा उपाख्यान इस प्रकार मिलता है कि किसी समय ब्रह्मा, वशिष्ठ और विश्वामित्र ने अपनी-अपनी सृष्टि, स्थिति और प्रलय करने की शक्ति प्राप्त करने के लिये गायत्री-उपासना की थी, परन्तु गायत्री ने इनकी इच्छा पूर्ण न की । तब उन तीनों ने क्रुद्ध होकर गायत्री को शाप दिया कि तुम्हारी शक्ति नष्ट हो जाए । शाप के फलस्वरूप गायत्री शक्तिहीन हो गयीं । तब देवताओं की प्रार्थना करने पर उन तीनों ने शाप-मुक्ति का यह उपाय बताया कि जो मनुष्य शापमोचन मन्त्र के साथ जप करेगा, उसके लिये गायत्री शक्ति वाली होगी ।

शापोद्धार के मन्त्र

ॐ अस्य गायत्री शापविमोचन मन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः गायत्री छन्दो वरुणो देवता ब्रह्मशापविमोचने विनियोगः ।

इस गायत्री शाप विमोचन, मन्त्र के ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द, वरुण देवता हैं तथा ब्रह्म-शाप के मोचन में इसका प्रयोग होता है ।

ॐ यद् ब्रह्मेति ब्रह्मविदो विदुस्त्वां पश्यन्ति धीराः ।
सुमनसो त्वं गायत्रि ब्रह्मशापाद्विमुक्ता भव ॥

हे गायत्रि ! ब्रह्मवेत्ता जिसको ब्रह्मनाम से कहते हैं, धीर पुरुष अपने अन्तःकरण में आपको उसी रूप में देखते हैं, आप ब्रह्म-शाप से विमुक्त हों ।

ॐ अस्य गायत्री वशिष्ठशापविमोचन मन्त्रस्य वशिष्ठ ऋषिः, अनुऽष्टुप् छन्दो, वशिष्ठ देवता, वशिष्ठ शाप विमोचने विनियोगः ॥

गायत्री के वशिष्ठ-शाप विमोचन मन्त्र के वशिष्ठ ऋषि, अनुष्टुप् छन्द, वशिष्ठ देवता हैं तथा वशिष्ठ के शाप विमोचन में विनियोग है ।

ॐ अर्क ज्योतिरहं ब्रह्मा ब्रह्म ज्योतिरहं शिवः।
शिव ज्योतिरहं विष्णुः विष्णुर्ज्योतिः शिवः परः।
गायत्रि त्वं वशिष्ठशापाद्विमुक्ता भव॥

मैं सूर्य की ज्योति ब्रह्मा हूँ। मैं ब्रह्मा की ज्योति शिव हूँ। मैं शिव की ज्योति विष्णु हूँ। मैं विष्णु की ज्योति शिव हूँ। हे गायत्रि ! आप वशिष्ठ के शाप से विमुक्त हों।

ॐ अस्य गायत्री विश्वामित्रशापविमोचनमन्त्रस्य विश्वामित्र ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, आद्या देवता विश्वामित्र शापविमोचने विनियोगः॥

विश्वामित्र शाप विमोचन मन्त्र के विश्वामित्र ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और आद्य देवता हैं तथा विश्वामित्र के शाप विमोचन में इनका प्रयोग होता है।

ॐ अहो देवि महादेवि सन्ध्ये विद्ये सरस्वति।
अजरे अमरे चैव ब्रह्मयोने नमोऽस्तु ते।
गायत्रि त्वं विश्वामित्रशापाद्विमुक्ता भव॥

हे देवि ! हे महादेवि ! हे ज्ञानरूपे ! हे सन्ध्या रूपे ! हे सरस्वति ! हे जरारहिते ! हे मरणरहिते ! आपको नमस्कार है। हे गायत्रि ! आप विश्वामित्र के शाप से मुक्त हों।

५-हवन

गायत्री- हवन की विधि गायत्री महाविज्ञान के प्रथम भाग में बताई जा चुकी है कि हवन किस प्रकार करना चाहिये तथा किस उद्देश्य के लिये किन-किन सामग्रियों का हवन करना चाहिये, कुण्ड या वेदी कैसे बनानी चाहिये, उन सब बातों को बार-बार दुहराने से कोई लाभ नहीं। पाठक उसे देखकर हवन का सारा परिचय प्राप्त कर लें। आहुति मन्त्र के लिये गायत्री ही एक मात्र मन्त्र है, उसके अन्त में 'स्वाहा' शब्द जोड़कर आहुति देनी चाहिये।

६-तर्पण

तर्पण के लिये नदी या सरोवर में खड़े होकर, कुश हाथ में लेकर, यज्ञोपवीत को अँगूठे और तर्जनी के बीच में होते हुए हाथ में अटका हुआ निकालकर, अंजलि में जल भरकर अर्घ्य की भाँति उँगलियों के छोरों की ओर जल विसर्जित करे। तर्पण के समय दोनों हाथों की अनामिका उँगलियों में कुश की बनी हुई अँगूठी पहने। शिखा में, दोनों पैरों के नीचे, यज्ञोपवीत में तथा धोती की अण्टी में कुश के टुकड़े लगा लेने चाहिये।

तर्पण मन्त्र-

ॐ भूर्भुवः स्वः पुरुषमृग्यजुः साममंडलान्तर्गत सवितारमावाहयामीत्यावाह्य तर्पणं कुर्यात्।

ॐ भूः पुरुषमृग्वेदं तर्पयामि।
ॐ भुवः पुरुषं यजुर्वेदं तर्पयामि।
ॐ स्वः पुरुषं सामवेदं तर्पयामि।
ॐ महः पुरुषमथर्ववेदं तर्पयामि।
ॐ जनः पुरुषमितिहासपुराणं तर्पयामि।
ॐ तपः पुरुषं सर्वागमं तर्पयामि।
ॐ सत्यं पुरुषं सर्वलोकं तर्पयामि।
ॐ भूर्भुवः स्वः (पुरुषं) ऋग्यजुः साममण्डलान्तर्गतं तर्पयामि।
ॐ भूरेकं पादं गायत्रीं तर्पयामि।

ॐ भुवर्द्विपादं गायत्रीं तर्पयामि।
ॐ स्वस्त्रिपादं गायत्रीं तर्पयामि।
ॐ भूर्भुवः स्वश्चतुष्पादं गायत्रीं तर्पयामि।
ॐ उषसं तर्पयामि।
ॐ गायत्रीं तर्पयामि।
ॐ सावित्रीं तर्पयामि।
ॐ सरस्वतीं तर्पयामि।
ॐ वेदमातरं तर्पयामि।
ॐ पृथिवीं तर्पयामि।
ॐ जयां तर्पयामि।
ॐ कौशिकीं तर्पयामि।
ॐ सांकृतीं तर्पयामि।
ॐ सर्वापराजितां तर्पयामि।
ॐ सहस्त्रमूर्तिं तर्पयामि।
ॐ अनन्तमूर्तिं तर्पयामि।
एभिर्मन्त्रैश्च यो नित्यं चतुर्विंशतिभिर्द्विजः।
सुतर्पयति गायत्रीं स सन्ध्याफलमाप्नुयात्॥

७-मार्जन

कुश की एक छोटी-सी कूँची बना लेनी चाहिये। इसका पूजन करके उसमें पवित्रीकरण की शक्ति की श्रद्धा करनी चाहिये। तदनन्तर इस कूँची को ताम्रपात्र में रखे हुए जल में डुबो-डुबोकर बार-बार ऊपर छिड़कना चाहिये, यही मार्जन है। मार्जन की विधि और नौ मन्त्र नीचे दिये जाते हैं। कोई-कोई आचार्य इन नौ मन्त्रों की जगह गायत्री मन्त्र से ही मार्जन का काम लेते हैं।

संकल्प्य मार्जनं कुर्यादापोहिष्ठा कुशोदकैः।
पादे पादे क्षिपेन्मूर्ध्नि प्रतिप्रणवसंयुताम्॥१॥

संकल्प तथा मार्जन करे। मार्जन प्रणवयुक्त आपोहिष्ठा इत्यादि मन्त्र द्वारा कुशोदक से करे, प्रत्येक पाद पर, मूर्धा पर जल निक्षेप करे।

आत्मानं प्रणवेनैव परिसिंच्य जलेन सः।
कुर्यात्सप्रणवैः पादैर्मार्जनं तु कुशोदकैः॥
ततो हि पाणिस्थ जलं सकुशं प्रक्षिपेदधः॥२॥

प्रणव से आत्म-कमल पर परिसिंचन करे, फिर कुश सहित जल को नीचे फेंक दें।

स्पृष्ट्वा हस्तेन वामेन तटं नद्यादिकेषु च।
पाणिना दक्षिणेनैव मार्जयेत् सकुशेन तु॥३॥

नदी आदि के तट को बायें हाथ से स्पर्श करे, दाहिने हाथ में कुश को लेकर मार्जन करे।

पाणिस्थितोदकेनैव वामहस्तोदकेन वा।
गृहे तु मार्जनं कुर्यान्नान्यथेत्यब्रवीन्मनुः॥४॥

दायें हाथ पर रखा हुआ जल हो या बायें पर, मनु कहते हैं कि घर में उससे मार्जन करे ।

आपोहिष्ठेति त्र्यृचस्य सिन्धुद्वीप ऋषि आपो देवता गायत्री छन्दः मार्जने विनियोगः ।

आपोहिष्ठा मंत्र की तीन ऋचाओं के सिन्धु द्वीप हैं, आपः गायत्री है, मार्जन उसका विनियोग है ।

ॐ आपोहिष्ठामयो भुवः ।१ ।
ॐ तान ऊर्जे दधातन ।२ ।
ॐ महेरणाय चक्षसे ।३ ।
ॐ यो वः शिवतमो रसः ।४ ।
ॐ तस्यभाजयतेह नः ।५ ।
ॐ उशतीरिव मातरः ।६ ।
ॐ तस्माऽअरंगमामवः ।७ ।
ॐ यस्य क्षयाय जिन्वथ ।८ ।
ॐ आपोजनयथा च नः ।९ ।

दर्भान्विसृज्य कुशपाणिर्मार्जयेत् । प्रणव युक्तसमस्तया व्याहृत्या गायत्र्या आपोहिष्ठेति नवपादैः शन्नोदेवीरिति सप्तभिर्मार्जयेत् ।

दर्भ को फेंककर जिस हाथ में कुश है, उसे धो डाले । सबके साथ प्रणव लगाकर व्याहृति के साथ गायत्री से आपोहिष्ठा के नव पदों से सात बार मार्जन करे ।

नवपादमतिक्रम्य अथर्चा वसुसंख्यया ।
ऋतं च प्रणवेनैव मार्जनं समुदाहृतम् ।।

नव पाद को छोड़कर- लाँघकर- आठ बार प्रणव सहित 'ऋतं च' मन्त्र से मार्जन करे ।

भुवि मूर्ध्नि तथाऽऽकाश आकाशे भुवि मस्तके ।
मस्तके भुवि मूर्ध्निस्यान्मार्जनं समुदाहृतम् ।।

भू, मूर्धा तथा आकाश, आकाश; भू और मस्तक; मस्तक, भू और मूर्धा पर क्रमशः मार्जन करे ।

८- मुद्रा

गायत्री जप की चौबीस मुद्राएँ हैं । हाथ को विशेष आकृति में मोड़ने पर विविध प्रकार की मुद्रायें बनती हैं । मुद्रायें गायत्री प्रतिमा या मन्त्र के सामने एकान्त में दिखाई जाती हैं । किसी के सामने इनका प्रदर्शन नहीं किया जाता । जब दिखाते हैं तब या तो उपस्थित लोगों को हटा देते हैं या किसी वस्त्र का पर्दा कर देते हैं, ताकि उन्हें कोई देख न सके । नीचे चौबीस मुद्राओं का वर्णन किया जाता है ।

गायत्री की २४ मुद्रायें

अतः परं प्रवक्ष्यामि वर्णा मुद्राः क्रमेण तु ।
सुमुखं सम्पुटं चैव विततं विस्तृतं तथा ।।१ ।।

अब क्रमशः वर्णों में मुद्राओं का वर्णन करते हैं । सुमुख, सम्पुट वितत, विस्तृत ।

द्विमुखं त्रिमुखं चैवं चतुः पञ्चमुखं तथा ।
षण्मुखाधोमुखं चैव व्यापकांजलिकं तथा ।।२ ।।

द्विमुख, त्रिमुख, चतुर्मुख, पञ्चमुख, षण्मुख, अधोमुख, व्यापकाञ्जलि ।

शकटं यम पाशं च ग्रन्थितं सन्मुखोन्मुखम् ।
प्रलम्बं मुष्टिकं चैव मत्स्यकूर्मवराहकम् ॥३ ॥

शकट, यमपाश, ग्रन्थित, सन्मुखोन्मुख, प्रलम्ब, मुष्टिक, मत्स्य, कूर्म, वराहक ।

सिंहाक्रान्तं महाक्रान्तं, मुद्गरं, पल्लवं तथा ।
एताः मुद्राः चतुर्विंशज्जपादौ परिकीर्तिताः ॥४ ॥

सिंहाक्रान्त, महाक्रान्त, मुद्गर, पल्लव- ये २४ मुद्रायें जप के आदि में करने के लिये कही गयी हैं ।

चतुर्विंशतिरिमा मुद्रा गायत्र्याः सुप्रतिष्ठिताः ।
एता मुद्राः न जानाति गायत्री निष्फला भवेत् ॥५ ॥

उपर्युक्त चौबीस मुद्रायें गायत्री में सुप्रसिद्ध हैं । इन मुद्राओं को न जानने वाले की गायत्री निष्फल हो जाती है ।
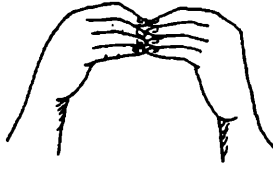
१. सुमुखम् २. सम्पुटम् ३. विततम्
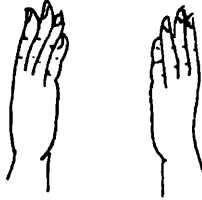
४. विस्तृतम् ५. द्विमुखम् ६. त्रिमुखम्
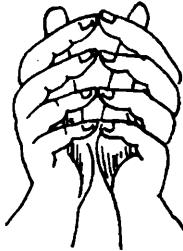
७. चतुर्मुखम् ८. पञ्चमुखम्
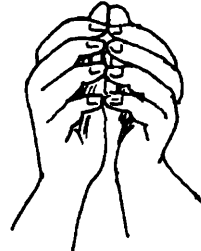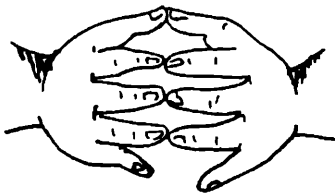
९. षण्मुखम् १०. अधोमुखम्
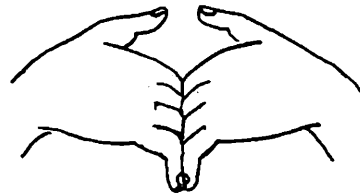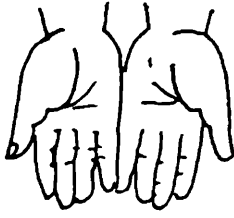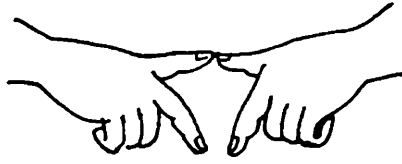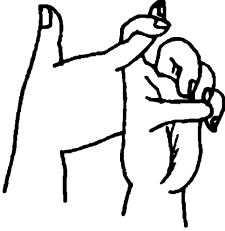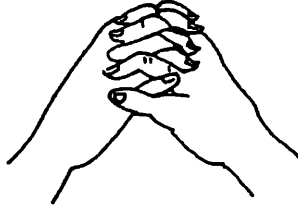
११. व्यापकाञ्जलिकम्
१२. शकटम्
१३. यमपाशम्
१४. ग्रन्थितम्
१५. उन्मुखोन्मुखम्
१६. प्रलम्बम्
१७. मुष्टिकम्
१८. मत्स्यः
१९. कूर्मः
२०. वराहकम्
२१. सिंहाक्रान्तम्
२२. महाक्रान्तम्
२३. मुद्गरम्
२४. पल्लवम् ।
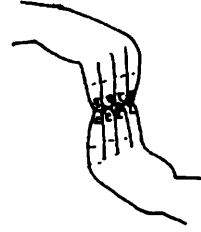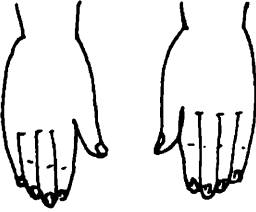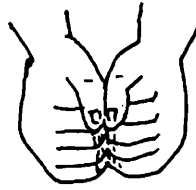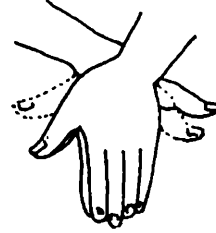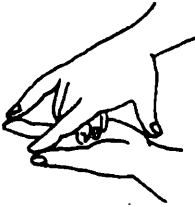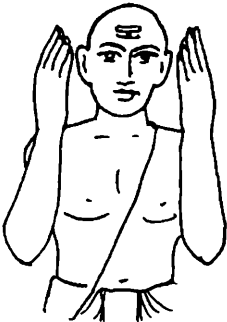
९-विसर्जन

पूजा के समय गायत्री का आह्वान किया जाता है। प्रतिदिन पुरश्चरण पूरा करते हुए गायत्री का विसर्जन करना चाहिये। विसर्जन का मन्त्र नीचे है-

गायत्री का आवाहन मन्त्र-

आयातु वरदे देवि त्र्यक्षरे ब्रह्मवादिनि।
गायत्रिच्छन्दसां मातः ब्रह्मयोनेनमोऽस्तु ते।

गायत्री का विसर्जन मन्त्र -

उत्तमे शिखरे देवि भूम्यां पर्वत मूर्धनि।
ब्राह्मणेभ्यो ह्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम्॥

१०-अर्घ्य-दान

पुरश्चरण से बचे हुए जल से सूर्य के सामने अर्घ्य देना चाहिये। यह जल पवित्र भूमि में छोड़ा जाना चाहिये अथवा किसी चौड़े मुँह के पात्र में अर्घ्य से गिरे हुए जल को लेकर उसे गौओं को पिला देना चाहिये। अर्घ्य की विधि-

मुक्त हस्तेन दातव्यं मुद्रां तत्र न कारयेत्।
तर्जन्यंगुष्ठयोगं तु राक्षसी मुद्रिका स्मृता॥

अर्घ्य देते समय तर्जनी अँगुली की जड़ में अँगूठा मिला हुआ न होना चाहिये। अतः अँगूठे को तर्जनी से बिना मिलाये ही अर्घ्य देना चाहिये। अँगूठे का तर्जनी के साथ योग हो जाने पर राक्षसी मुद्रा हो जाती है।

गायत्र्या त्रिरर्घ्यं सूर्याय दद्यात्।

गायत्री मन्त्र से तीन बार अर्घ्य सूर्य को दे। पश्चात् नीचे लिखे हुए मन्त्र से सूर्य को अर्घ्य दे। मन्त्र -

सूर्यदेव सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं दिवाकर॥

हे सहस्ररश्मि सूर्य ! तेज की राशि ! जगत्पति ! मेरे ऊपर आप कृपा करें तथा भक्ति से दिये हुए मेरे अर्घ्य को ग्रहण करें।

११-क्षमा प्रार्थना

प्रत्येक साधना के अन्त में इस क्षमा प्रार्थना स्तोत्र का पाठ करना चाहिये। इससे जाने या अनजाने में हुई भूलों का दुष्परिणाम शांत हो जाता है।

न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो,
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुति-कथाः।
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनम्,
परं जाने मातस्त्वदनुसरणं क्लेश-हरणम्।

न तो मैं मन्त्र, यन्त्र जानता हूँ और न स्तुति ही जानता हूँ। आवाहन, ध्यान, स्तुति-कथा भी नहीं जानता हूँ, पूजा और मुद्रा भी नहीं जानता, लेकिन इतना जानता हूँ कि तुम्हारी शरण क्लेश हरने वाली है।

विधेरज्ञानेन द्रविणविरहेणालसतया,
विधेयाशक्यत्वात्तव चरणयोर्याच्युतिरभूत्।
तदेतत्क्षन्तव्यं जननि सकलोद्धारिणि शिवे,
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥

हे शिवे ! सकल उद्धारिणी जननी ! विधि के अज्ञान से, धन की कमी से, आलस्य और सामर्थ्यहीनता के कारण आपकी चरण सेवा करने में जो भूल रह गयी हो, उसको क्षमा करना, क्योंकि पुत्र-कुपुत्र हो सकता है, लेकिन माता-कुमाता नहीं होती ।

पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि बहवः सन्ति सरलाः,
परं तेषां मध्ये विरल तरलोऽहं तव सुतः ।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे,
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥

हे माँ ! पृथ्वी पर तेरे बहुत से पुत्र हैं, जो सरल हैं, पर उनके बीच में तेरा पुत्र अकेला मैं ही टेढ़ा हो गया हूँ । फिर भी हे माँ ! तेरे लिये त्याग उचित नहीं है ; क्योंकि पुत्र कुपुत्र हो सकता है, पर माता कुमाता नहीं होती है ।

जगन्मातर्मातस्तव चरण सेवा न रचिता,
न वा दत्तं देवि द्रविणमपि भूयस्तव मया ।
तथापि त्वं स्नेहं मयि निरुपमं यत्प्रकुरुषे,
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥

हे जगत् की माता ! मैंने तेरे चरण की सेवा नहीं की । हे देवि ! तूने मुझे पर्याप्त द्रव्य भी नहीं दिया, जिससे दान ही करता; परंतु तू मेरे ऊपर खूब स्नेह करती है । पुत्र-कुपुत्र हो जाता है, परन्तु माता-कुमाता नहीं होती है ।

श्वपाको जल्पाको भवति मधुपाकोपमगिरा,
निरातंको रंको विहरति चिरं कोटि कनकैः ।
तवापर्णे कर्णे विशति मनुवर्णे फलमिदं,
जनः को जानीते जननि जपनीयं जप विधौ ॥

हे माँ ! तुम्हारी स्तुति करने से नीच और चाण्डाल भी मीठी और मधुर वाणी बोलने वाले महाकवि हो जाते हैं और रंक भी दुःख की अग्नि से बचकर करोड़ों स्वर्ण मुहरों से युक्त धनिक बन जाते हैं । तुम्हारा शब्द कान में पड़ते ही मनुष्य श्रेष्ठ बल प्राप्त करता है । हे माता ! तुम्हारी स्तुति करने के ढंग को कौन जानता है ?

जगदम्ब ! विचित्रमत्र किं, परिपूर्णा करुणास्ति चेन्मयि ।
अपराध परंपरावृतं, नहि माता समुपेक्षते सुतम् ॥

हे जगदम्बे ! यदि तुम्हारी मेरे ऊपर कृपा हो, तो इसमें क्या विचित्रता है ? अपराधों की चाहे कितनी ही परम्परा क्यों न हो, लेकिन माँ अपने पुत्र की कभी उपेक्षा नहीं करती ।

मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा नहि ।
एवं ज्ञात्वा महादेवि यथा योग्यं तथा कुरु ॥

मेरे समान तो कोई पातकी नहीं है तथा तुम्हारे समान पाप नाश करने वाली कोई नहीं है, ऐसा जानकर हे महादेवि ! जैसा तुम्हें उचित लगे, वैसा करो ।

१२-ब्राह्मण भोजन

पुरश्चरण में प्रतिदिन ब्राह्मण भोजन कराने का विधान है । जो लोग पुरश्चरण कार्य में नियोजित हैं, उनकी भोजन व्यवस्था का भार तो, यजमान को उठाना ही होता है, इसके अतिरिक्त चिड़ियों को दाना, चींटियों को चावल का चूर्ण और शक्कर मिलाकर, गौओं को आटे की लोई खिलानी चाहिये । उपस्थित लोगों को पंचामृत-दूध, दही, घृत, मधु-शर्करा, जल एवं तुलसी-पत्र का सम्मिश्रण पञ्चामृत अथवा कोई अन्य मधुर वस्तु प्रसाद रूप में वितरित करनी चाहिये ।

समाप्ति के साथ-साथ कीर्तन, सामूहिक प्रार्थना एवं आरती का सम्मिलित रूप से मधुर गायन करना चाहिये और अभिवादन एवं आशीर्वाद की भावनाओं के साथ सब लोगों को कार्य समाप्त करना चाहिये।

प्रत्येक शुभ कार्य के अन्त में दान का विधान है। कहा गया है कि बिना दक्षिणा का यज्ञ निष्फल होता है। ज्ञान-प्रसार करने वाली संस्थाओं, लोक सेवी ब्रह्मपरायण सत्पुरुषों एवं दीन-दुःखियों को, पण्डितों को यथाशक्ति प्रत्येक शुभ कार्य के अन्त में दान देना आवश्यक है। यह दान, भोजन, धन, वस्त्र, पुस्तकें या अन्य उपयोग की वस्तुओं के रूप में किया जा सकता है।

गायत्री लहरी

अमन्दानंदेनामरवरगृहे वास निरतां-
नरं गायन्तं या भुवि भवभयात्त्रायत इह।
सुरेशैः सम्पूज्यां मुनिगणनुतां तां सुखकरीं
नमामो गायत्रीं निखिलमनुजाघौघशमनीम् ॥१ ॥

अर्थ- आनन्दपूर्वक देवलोक में निवास करने वाली, अपने भक्त की सांसारिक भयों से रक्षा करने वाली, देवताओं द्वारा पूजित, प्राणिमात्र के पापों का विनाश करने वाली गायत्री माता को हम भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हैं।

अवामा संयुक्तं सकलमनुजैर्जाप्यमभितो-
ह्यपायात्पायाद्भूरथ भुवि भुवः स्वः पदमिति।
पदं तन्मे पादाववतु सवितुश्चैव जघने-
वरेण्यं श्रोणिं मे सततमवतान्नाभिमपि च ॥२ ॥
पदं भर्गो देवस्य मम हृदयं धीमहि तथा-
गलंपायान्नित्यं धिय इह पदं चैव रसनाम्।
तथा नेत्रे योऽव्यादलकमवतान्नः पदमिति-
शिरोदेशं पायान्मम तु परितश्चान्तिमपदम् ॥३ ॥

अर्थ- ओंकार और अनुस्वार से युक्त प्रत्येक प्राणी द्वारा जपने योग्य ॐ भूर्भुवः स्वः ये पद सम्पूर्ण पापों से मेरी रक्षा करें तथा तत् पद पैरों की, सवितुः जांघों की, वरेण्यं कटि की, भर्गो पद नाभि की, देवस्य पद हृदय की धीमहि, गले की, धियः जिह्वा की, यः नयनों की और नः ललाट की एवं अन्तिम पद प्रचोदयात् मेरे सिर की सर्व प्रकार से रक्षा करे। इन दोनों श्लोकों में पूरा गायत्री मन्त्र है और उसके द्वारा अपने सर्वांग संरक्षण की प्रार्थना की गयी है। इसे युग्मक कहते हैं।

अये दिव्ये देवि त्रिदशनिवहैर्वंदितपदे,
न शेकुस्त्वां स्तोतुं भगवति महान्तोऽपि मुनयः।
कथंकारं तर्हिस्तुतिततिरियं मे शुभतरा-
तथा पूर्णा भूयात् त्रुटिपरियुता भावरहिता ॥४ ॥

अर्थ- हे देवताओं द्वारा पूजनीय चरणों वाली गायत्री माता ! तेरी स्तुति करने में बड़े-बड़े मुनि भी समर्थ नहीं हैं। तब मेरी यह दोषों से युक्त तथा भाव से रहित स्तुति उपयुक्त कैसे हो सकती है ? तथापि मैं स्तुति करता हूँ, सो स्वीकृत करो।

भजन्तं निर्व्याजं तव सुखदमन्त्रं विजयिनं,
जनं यावज्जीवं जपति जननि त्वं सुखयसि।
न वा कामं काचित् कलुषकणिकाऽपि स्पृशति तं,
ससारं संसारम् सरति सहसा तस्य सततम् ॥५ ॥

हे माता ! तेरे सुखद और विजयी मन्त्र को जो जन जपता है, उसको तुम सुखी बनाती हो और उसको पाप की कणिका स्पर्श नहीं करती एवं उसका सांसारिक वातावरण आनन्दयुक्त हो जाता है ।

दधानां ह्याधानं सितकुवलयास्फालनरुचां,
स्वयं विभ्राजन्तीं त्रिभुवनजनाह्लादनकरीम् ।
अलं चालं चालं मम चकितचित्तं सुचपलं,
चलच्चन्द्रास्ये त्वद्वदनरुचमाचामय चिरम् ।।६ ।।

हे चंचल चन्द्र के समान मुख वाली ! श्वेत कमल की कमनीय कान्ति-समूह को धारण करने वाली, संसार के प्राणियों को सुख देने वाली दाँतों की ज्योति का मेरे चलायमान चंचल चित्त को शीघ्र पान कराओ ।

ललामे भाले ते बहुतर विशालेऽति विमले,
कला चञ्चच्चांद्री रुचिरतिलकावेन्दुकलया ।
नितान्तं गोमाया निविड तमसो नाश व्यसना,
तमो मे गाढं हि हृदयसदनस्थं ग्लपयतु ।।७ ।।

हे भगवति ! आपके विशाल भाल पटल पर, जो चन्द्रमा की कला अथवा चन्द्राकार तिलक शोभायमान हो रहा है, उसकी कान्ति जो भूतल के अन्धकार का नाश करने वाली है, वह मेरे हृदय-सदन के अन्धकार को दूर करे ।

अये मातः किन्ते चरण-शरणं संश्रयवतां-
जनानामन्तस्थो वृजिन हुतभुक् प्रज्वलति यः ।
तदस्याशु सम्यक् प्रशमनहितायैव विधृतं-
करे पात्रं पुण्यं सलिलभरितं काष्ठरचितम् ।।८ ।।

हे माता गायत्री ! आपके चरणों की शरण ग्रहण करने वाले प्राणियों के हृदय में, पाप रूपी जो आग लगी है , उसको शीघ्र शान्त करने के लिये आपने अपने कर-कमल में, जल-पूरित काष्ठनिर्मित कमण्डलु धारण किया है क्या ?

अथाहोस्विन्मातः सरिदधिपतेः सारमखिलं,
सुधारूपं कूपं लघुतरमनूपं कलयति ।
स्वभक्तेभ्यो नित्यं वितरसि जनोद्धारिणि शुभे,
विहीने दीने मय्यपि कृपय किंचित् करुणया ।।९ ।।

अथवा हे माता ! समुद्र के सारभूत अमृत को ही अपने कमण्डलु रूपी छोटे से कूप में भरकर, अपने प्रिय भक्तों को वितरित करती हो । हे प्राणिमात्र के उद्धार करने वाली शुभे ! दीन-हीन मुझ पर भी कुछ कृपा कीजिये ।

सदैव त्वत्पाणौ विधृतमरविन्दं द्युतिकरं,
त्विदं दर्शं दर्शं रविशशिसमं नेत्रयुगलम् ।
विचिंत्य स्वां वृत्तिं भ्रमविषमजालेऽस्ति पतित-
मिदं मन्ये नोचेत् कथमिति भवेदर्ध-विकचम् ।।१० ।।

हे माता! तुम्हारे हाथ में जो कमल शोभायमान हो रहा है, वह आपके सूर्य और चन्द्र के समान नेत्र युगल को देखकर भ्रम में पड़ गया है और अपनी वृत्ति का विचार कर सूर्योदय समझ खिलना चाहता है और चन्द्रमा को देख मुकुलित होना चाहता है, ऐसा मैं मानता हूँ। नहीं तो वह कमल दिन-रात अधखिला क्यों रहता है ?

स्वयं मातः किम्वा त्वमसि जलजानामपि खनि-
र्यतस्ते सर्वांगं कमलमयमेवास्ति किमु नो।
तथा भीत्या तस्माच्छरणमुपयातः कमलराट्-
प्रयुञ्जानोऽश्रान्तं भवति तदिहैवासनविधौ ॥११ ॥

अथवा हे माता ! तुम स्वयं कमलों की खान हो क्या, क्योंकि आपका सम्पूर्ण अंग ही क्या कमलमय नहीं है ? अतएव जो कमलों का राजा है, वह आपके शरण में डर कर आया है और वही निरन्तर आपके आसन के प्रयोग में आता है ।

दिवौकोभिर्वन्द्ये विकसित सरोजाक्षि सुखदे,
कृपादृष्टेर्वृष्टिः सुनिपतति यस्योपरि तव।
तदीया वाञ्छा किं द्रुतमनु विधेयास्ति सकला,
अतोमंतोस्तंतून् मम सपदि छित्वाऽम्ब सुखय ॥१२ ॥

हे देवताओं द्वारा पूजनीये ! विकसित कमल के समान नेत्र वाली सुखदायिनी, आपकी कृपा दृष्टि की वर्षा जिस पर होती है, उसकी सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण कर देती हो, अतएव मेरे भी अपराध शूलों का छेदन कर सुख प्रदान करो ।

करेऽक्षाणां माला प्रविलसति या तेऽतिविमले,
किमर्थं सा कान् वा गणयसि जनान् भक्ति निरतान्।
जपन्ती कं मन्त्रं प्रशमयसि दुःखं जनिजुषा,
मये का वा वांछा तव वरिवृति त्वत्र वरदे ॥१३ ॥

हे माता ! तेरे एक हाथ में जो अक्षमाला विराजित है वह किस लिये है ? किन भक्तों को उसके द्वारा गिनती हो ? अथवा किस मन्त्र को जपकर प्राणियों के दुःखों का शमन करती हो ? हे वरदायिनी, अथवा और मन्त्र जपकर क्या करना चाहती हो ?

न मन्ये धन्येऽहं त्ववितथमिदं लोकगदितं,
ममात्रोक्तिर्मत्वा कमलमिव फुल्लं तव करम्।
विजृम्भा संयुक्त द्युतिमयमिदं कोकनदमि-
त्यरं जानानेयं मधुकरततिः संविलसति ॥१४ ॥

हे धन्ये ! यह जो लोकोक्ति ऊपर कही गयी है, इसे मैं तो उपयुक्त नहीं मानता । इस विषय में मेरी उक्ति ही युक्त है कि आपके हाथों को विकसित कमल मानकर यह भ्रमरों की पंक्ति मँडरा रही है ।

महामोहाम्भोधौ मम निपतिता जीवनतरि-
र्निरालम्बा दोला चलित दुरवस्थामधिगता।
जलावर्त व्यालो ग्रसितुमभितो वांछति च तां
करालम्बं दत्त्वा भगवति द्रुतं तारय शिवे ॥१५ ॥

हे भगवति ! कल्याणमयी इस संसार रूपी विशाल समुद्र में, मेरी जीवन नौका पड़ी हुई है और वह बिना सहायता के बुरी अवस्था को प्राप्त हो गयी है । उसको भँवर रूप सर्प डसने की इच्छा कर रहा है । अतएव हे माता ! उसे शीघ्र तिराओ तथा अपने कर कमल का सहारा दो ।

दधानासित्वं यत् स्ववपुषि पयोधारि-युगल-
मिति श्रुत्वा लोकैर्मम मनसि चिन्ता समभवत्।
कथं स्यात् सा तस्मादलक लतिका मस्तक भुवि,
शिरोद्यां हृद्येयं जलदपटली खेलति किल ॥१६ ॥

हे माता ! आप दो पयोधरों को धारण करती हो, ऐसा लोगों के द्वारा सुनकर मेरे मन में चिन्ता उत्पन्न हुई कि यह मस्तक रूपी भूमि पर केशपाशमयी लता कैसी हो सकती है। यह तो निश्चय ही मस्तकाकाश पर मेघमण्डली क्रीड़ा कर रही है ॥१६ ॥

तथा तत्रैवोपस्थितिमपि निशीथिन्यधिपतेः
प्रपश्यामि श्यामे सह सहचरैस्तारक गणैः।
अहोरात्रः क्रीडा परवशमितास्तेऽपि चकिता
श्चिरं चिक्रीडन्ते तदपि महदाश्चर्य-चरितम् ॥१७ ॥

तथा साथ ही हे माता ! उस समस्त आकाश में चन्द्र को अपने सहचर तारागणों के साथ ही मैं देख रहा हूँ, रात-दिन क्रीड़ा में रत होकर आश्चर्ययुक्त क्रीड़ा नित्य करते ही रहते हैं। यह भी आश्चर्यमय चरित्र है, क्योंकि सूर्योदय होने पर दिन में चन्द्र-तारे अदृश्य हो जाते हैं, किन्तु यहाँ नहीं होते।

यदाहुस्तं मुक्ता पटल जटितं रत्न मुकुटं,
न धत्ते तेषां सा वचनरचना साधुपदवीम्।
निशैषा केशास्तु नहि विगत वेशा ध्रुवमिति,
प्रसन्नाऽध्यासन्ना विधुपरिषदेषा विलसति ॥१८ ॥

कुछ लोगों का कहना है कि यह तो अनेक मणि-माणिक्यों में जड़ा हुआ मुकुट है, किन्तु मेरी सम्मति से यह बात उनकी ठीक नहीं जँचती। यह तो निशा ही है, विगत वेश, केश नहीं है, ऐसा निश्चय करके ही यह प्रसन्नतापूर्वक चन्द्रमा की सभा शोभित हो रही है।

त्रिबीजे हे देवि त्रि प्रणवसहिते त्र्यक्षरयुते,
त्रिमात्रा राजन्ते भुवनविभवे ह्योमितिपदे।
त्रिकालं संसेव्ये त्रिगुणवति च त्रिस्वरमयि,
त्रिलोकेशैः पूज्ये त्रिभुवनभयात्त्राहि सततम् ॥१९ ॥

हे तीन बीज वाली, तीन ओंकारयुक्त मन्त्र वाली, तीन अक्षर वाली ! 'ओं' इस एक मात्र सारभूत मन्त्र में तीन मात्रा शोभित हैं। हे तीनों काल में सेवनीय, तीन गुण वाली, तीन स्वर वाली, तीन लोक के ईश देवताओं द्वारा पूजनीय माता हमारी सांसारिक भय से रक्षा करो।

न चन्द्रो नैवेमे नभसि, वितता तारकगणाः,
त्विषां राशी रम्या तव चरणयोरम्बुनिचये।
पतित्वा कल्लोलैः सह परिचयाद्विस्तृतिमिता,
प्रभा सैवाऽनन्ता गगनमुकुरे दीव्यति सदा ॥२० ॥

आकाश में ये चन्द्रमा और तारागण नहीं हैं; किन्तु आपके चरणों की छाया जल में गिर कर तरंगों के साथ परिचय होने से विस्तार को प्राप्त हो गयी और वही आभा आकाश रूपी काँच में देदीप्यमान हो रही है।

त्वमेव ब्रह्माणी त्वमसि कमला त्वं नगसुता,
त्रिसन्ध्यं सेवन्ते चरणयुगलं ये तव जनाः।
जगज्जाले तेषां निपतित जनानामिह शुभे,
समुद्धारार्थं किं मतिमति ! मतिस्ते न भवति ॥२१ ॥

तू ही ब्रह्माणी, कमला एवं रुद्राणी है। तीनों काल में जो आपके चरण की सेवा करते हैं, उन जगजाल में फँसे हुए प्राणियों के उद्धार के लिये हे मतिमती ! आपकी मति नहीं होती है क्या ?अर्थात् अवश्य होती है।

अनेकैः पापौघैर्लुलित वपुषं शोक सहितं,
लुठन्तं दीनं मां विमल पदयो रेणुषु तव।
गलद्वाष्पं शश्वद् जननि सहसाश्वासनवचो,
ब्रुवाणोत्तिष्ठ त्वं अमृतकणिकां पास्यसि कदा ॥२२ ॥

अनेक पापों के समुदाय से जर्जर शरीर वाले, शोकयुक्त मुझ दीन को आपके पाँवों की धूल में लोटते हुए अश्रुपूर्ण नेत्र वाले मुझ पापी को आश्वासन के वचन कहती हुई- हे बेटा ! उठ, ऐसे वचनों के अमृत कण का कब पान कराओगी ?

न वा मादृक् पापी नहि तव समा पापहरणी,
न दुर्बुद्धिर्मादृक् न च तव समा धी वितरिणी।
न मादृग् गर्विष्ठो नहि त्तव समा गर्वहरणी,
हृदि स्मृत्वा ह्येवं मामयि ! कुरु यथेच्छा तव यथा ॥२३ ॥

मेरे जैसा पापी नहीं और आप जैसी पाप हरणी नहीं, मेरे जैसा मूर्ख नहीं और आप जैसी बुद्धिदायी नहीं। मेरे जैसा अभिमानी नहीं और आप जैसी गर्वहारिणी नहीं। अतएव हे माता ! यह सब विचार कर चाहे जैसा करो ॥२३ ॥

दरीधर्ति स्वांतेऽक्षर वर चतुर्विंशतिमितं,
त्वदन्तर्मन्त्रं यत्त्वयि निहित चेतो हि मनुजः।
समन्ताद् भास्वन्तं भवति भुवि संजीवनवनं,
भवाम्भोधेः पारं व्रजति स नितान्तं सुखयुतः ॥२४ ॥

जो मनुष्य आपके २४ अक्षर वाले मन्त्र को हृदय में धारण करता है वह सुखी है। वह संसार समुद्र से पार हो जाता है और उसका जीवन-वन हरा-भरा हो जाता है ॥२४ ॥

भगवति ! लहरीयं रुद्रदेव प्रणीता
तव चरण सरोजे स्थाप्यते भक्तिभावैः।
कुमतितिमिरपंकस्यांकमग्नं सशंकं,
अयि ! खलु कुरु दत्त्वा वीतशंकं स्वमंकम् ॥२५ ॥

हे भगवति ! यह लहरी रुद्रदेव द्वारा रचित तेरे चरण कमलों में स्थापित की जाती है। कुमति रूपी अन्धकार के कीचड़ की गोद में मग्न, शंकित मुझको अपनी गोद की शरण दे निर्भय करिये ॥२५ ॥

॥ इति श्री रुद्रदेव विरचित गायत्री लहरी समाप्ता ॥

॥ वन्दे वेद मातरम् ॥

श्री गायत्री चालीसा

दोहा

ह्रीं, श्रीं, क्लीं, मेधा, प्रभा, जीवन ज्योति प्रचण्ड।
शान्ति, क्रान्ति, जागृति, प्रगति, रचना शक्ति अखण्ड॥
जगत जननि, मंगल करनि, गायत्री सुख धाम।
प्रणवों सावित्री, स्वधा, स्वाहा पूरन काम॥

भूर्भुवः स्वः ॐ युत जननी। गायत्री नित कलिमल दहनी॥
अक्षर चौबिस परम पुनीता। इनमें बसें शास्त्र श्रुति गीता॥
शाश्वत सतोगुणी सतरूपा। सत्य सनातन सुधा अनूपा॥
हंसारूढ़ सितम्बर धारी। स्वर्ण कांति शुचि गगन बिहारी॥
पुस्तक पुष्प कमण्डलु माला। शुभ्र वर्ण तनु नयन विशाला॥
ध्यान धरत पुलकित हिय होई। सुख उपजत, दुःखदुरमतिखोई॥
कामधेनु तुम सुर तरु छाया। निराकार की अद्भुत माया॥
तुम्हरी शरण गहै जो कोई। तरै सकल संकट सों सोई॥
सरस्वती लक्ष्मी तुम काली। दिपै तुम्हारी ज्योति निराली॥
तुम्हरी महिमा पार न पावैं। जो शारद शत मुख गुन गावैं॥
चार वेद की मातु पुनीता। तुम ब्रह्माणी गौरी सीता॥
महामन्त्र जितने जग माहीं। कोऊ गायत्री सम नाहीं॥
सुमिरत हिय में ज्ञान प्रकासै। आलस पाप अविद्या नासै॥
सृष्टि बीज जग जननि भवानी। कालरात्रि वरदा कल्याणी॥
ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र सुर जेते। तुम सों पावें सुरता तेते॥
तुम भक्तन की भक्त तुम्हारे। जननिहिं पुत्र प्राण ते प्यारे॥
महिमा अपरम्पार तुम्हारी। जै जै जै त्रिपदा भय हारी॥
पूरित सकल ज्ञान विज्ञाना। तुम सम अधिक न जग में आना॥
तुमहिं जानि कछु रहै न शेषा। तुमहिं पाय कछु रहै न क्लेशा॥
जानत तुमहिं तुमहिं ह्वै जाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥
तुम्हरी शक्ति दिपै सब ठाईं। माता तुम सब ठौर समाईं॥
ग्रह नक्षत्र ब्रह्माण्ड घनेरे। सब गतिवान तुम्हारे प्रेरे॥
सकल सृष्टि की प्राण विधाता। पालक, पोषक, नाशक, त्राता॥
मातेश्वरी दया व्रतधारी। तुम सन तरे पातकी भारी॥
जापर कृपा तुम्हारी होई। तापर कृपा करें सब कोई॥
मंद बुद्धि ते बुधि बल पावें। रोगी रोग रहित ह्वै जावें॥
दारिद मिटै कटै सब पीरा। नाशै दुःख हरै भव भीरा॥
गृह कलेश चित चिन्ता भारी। नासै गायत्री भय हारी॥
सन्तति हीन सुसन्तति पावें। सुख सम्पत्ति युत मोद मनावें॥

भूत पिशाच सबै भय खावें। यम के दूत निकट नहिं आवें॥
जो सधवा सुमिरें चित लाई। अछत सुहाग सदा सुखदाई॥
घर वर सुखप्रद लहैं कुमारी। विधवा रहें सत्य व्रत धारी॥
जयति जयति जगदम्ब भवानी। तुम सम और दयालु न दानी॥
जो सद्गुरु सों दीक्षा पावें। सो साधन को सफल बनावें॥
सुमिरन करें सुरुचि बड़भागी। लहैं मनोरथ गृही विरागी॥
अष्ट सिद्धि नवनिधि की दाता। सब समर्थ गायत्री माता॥
ऋषि, मुनि, यती, तपस्वी, योगी। आरत, अर्थी, चिन्तित भोगी॥
जो जो शरण तुम्हारी आवैं। सो सो मन वांछित फल पावैं॥
बल, बुद्धि, विद्या, शील सुभाऊ। धन, वैभव, यश, तेज उछाऊ॥
सकल बढ़ें उपजें सुख नाना। जो यह पाठ करै धरि ध्याना॥

यह चालीसा भक्ति युत, पाठ करै जो कोय।
तापर कृपा प्रसन्नता, गायत्री की होय॥

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

॥ आरती ॥

जयति जय गायत्री माता, जयति जय गायत्री माता।
आदि शक्ति तुम अलख निरंजन जग पालन कर्त्री।
दुःख शोक भय क्लेश कलह दारिद्र्य दैन्य हर्त्री॥
ब्रह्म रूपिणी, प्रणत पालिनी, जगतधातृ अम्बे।
भवभयहारी, जनहितकारी, सुखदा जगदम्बे॥
भय हारिणि भव तारिणि अनघे, अज आनन्द राशी।
अविकारी, अघहरी, अविचलित, अमले, अविनाशी॥
कामधेनु सतचित आनन्दा जय गंगा गीता।
सविता की शाश्वती शक्ति तुम सावित्री सीता॥
ऋग्, यजु, साम, अथर्व प्रणयिनी, प्रणव महामहिमे।
कुण्डलिनी सहस्त्रार, सुषुम्ना शोभा गुण गरिमे॥
स्वाहा, स्वधा, शची, ब्रह्माणी, राधा, रुद्राणी।
जय सतरूपा वाणी, विद्या, कमला कल्याणी॥
जननी हम हैं दीन हीन, दुःख दारिद के घेरे।
यदपि कुटिल कपटी कपूत, तऊ बालक हैं तेरे॥
स्नेह सनी करुणामयि माता, चरण शरण दीजै।
बिलख रहे हम शिशु सुत तेरे, दया दृष्टि कीजै॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, दम्भ, दुर्भाव, द्वेष हरिये।
शुद्ध बुद्धि निष्पाप हृदय, मन को पवित्र करिये॥
तुम समर्थ सब भाँति तारिणी, तुष्टि पुष्टि त्राता।
सत मारग पर हमें चलाओ जो है सुखदाता॥
जयति जय गायत्री माता। जयति जय गायत्री माता॥

गायत्री सहस्रनाम का विज्ञान

गायत्री ईश्वरीय दिव्य शक्तियों का एक पुञ्ज है । उस पुञ्ज में कितनी शक्तियाँ निहित हैं, इसकी कोई संख्या नहीं बतायी जा सकती । उसके गर्भ में शक्तियों का भण्डार है । शास्त्रों में 'सहस्र' शब्द 'अनन्त के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । यों मोटे अर्थ में तो सहस्र, एक हजार को कहते हैं, पर अन्यत्र अनन्त संख्या के लिये भी सहस्र शब्द प्रयुक्त होता है । ईश्वर की प्रार्थना है 'सहस्र शीर्षा' आदि ।

इस प्रार्थना में ईश्वर को सहस्र मस्तक और सहस्र हाथ, पाँव, नेत्र आदि वाला बताया है । यहाँ उस सहस्र का तात्पर्य अनन्त दल हैं न कि एक हजार । ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे सहस्र का अर्थ अनन्त सिद्ध होता है । गायत्री की अनन्त शक्तियों में से मनुष्य को बहुत थोड़ी शक्तियों का अभी तक पता चला है और जिन शक्तियों का पता चला है उनमें से बहुत थोड़ी उपयोग में आई हैं । जो शक्तियाँ अब तक जानी जा चुकी हैं, समझी जा सकती हैं, उनकी संख्या लगभग एक हजार है ।

इन हजार शक्तियों के नाम उनके गुणों के अनुसार रखे गये हैं । उन हजार नामों का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में 'गायत्री सहस्रनाम' करके मिलता है ।

इन शक्तियों का जानना, समझना और पाठ करना इसलिये आवश्यक है कि हमें पता चलता रहता है कि इस शक्ति के पुञ्ज के अन्दर क्या-क्या विशेषतायें छिपी हुई हैं और गायत्री की प्राप्ति के साथ-साथ हम किन-किन विशेषताओं को अपने में धारण करते हैं । यह पता चल जाने पर ही उनका उपयोग और प्रयोग हो सकता है । जब तक किसी वस्तु का गुण और महत्त्व न मालूम हो, उसकी शक्ति का परिचय न हो, तब तक उस वस्तु से लाभ नहीं उठाया जा सकता है ।

गायत्री में क्या-क्या शक्तियाँ हैं और उन शक्तियों का सहयोग पाने से हम क्या-क्या लाभ उठा सकते हैं, सहस्रनाम में यही परिचय कराया है । क्योंकि इन नामों पर भली प्रकार ध्यान देने से गायत्री की मर्यादा, शक्ति, प्रकृति उपयोगिता आदि का परिचय प्राप्त हो जाता है, यह परिचय उन लाभों की प्राप्ति का सोपान है । इस जानकारी के आधार पर साधक सोचता है कि गायत्री शक्ति की अमुक-अमुक विशेषतायें हैं, जिन्हें आवश्यकता या रुचि के अनुसार प्राप्त किया जा सकता है । यह पता चलने पर एक तो उसकी उपयोगिता की ओर ध्यान जाता है और जीवन को सर्वांगपूर्ण बनाने के उन लाभों का संग्रह करने की प्रवृत्ति बढ़ती है । साथ ही इस महातत्त्व की महिमा का पता चलता है कि यह इतनी असाधारण वस्तु है । किसी की महिमा, विशेषता या श्रेष्ठता का पता चलने पर ही उसके प्रति श्रद्धा की भावनायें उत्पन्न होती हैं । जो पारस के गुणों को जानता है, वही उसकी खोज करता है, प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, मिल जाने पर उसको सुरक्षित रखता है और उसका उपयोग करके समुचित लाभ उठाता है । जिसे यह सब मालूम न हो, पारस की विशेषताओं से परिचित न हो, तो उसके लिये यह पत्थर के मामूली टुकड़े से अधिक नहीं है ।

इसलिये सहस्रनाम का श्रद्धापूर्वक पाठ करने का शास्त्रों में बड़ा माहात्म्य बताया गया है । आइये श्रद्धापूर्वक गायत्री सहस्रनाम का पाठ करें और उसमें वर्णित नामों पर विचार करते हुए गायत्री की महिमा को समझें और उनसे लाभ उठाएँ ।

॥ अथ गायत्री सहस्रनाम ॥

श्री नारायण उवाच—

साधु-साधु महाप्राज्ञ सम्यक् पृष्टं त्वयाऽनघ ।
शृणु वक्ष्यामि यत्नेन गायत्र्यष्टसहस्रकम् ।
नाम्नां शुभानां दिव्यानां सर्वपापविनाशनम् ॥१ ॥
सृष्ट्यादौ यद् भगवता पूर्वं प्रोक्तं ब्रवीमि ते ।
अष्टोत्तरसहस्रस्य ऋषिर्ब्रह्मा प्रकीर्त्तितः ॥२ ॥

छन्दोऽनुष्टुप्तथा देवी गायत्रीं देवता स्मृता।
हलो बीजानि तस्यैव स्वराः शक्तय ईरिताः ॥३ ॥
अंगन्यासकरन्यासावुच्येते मातृकाक्षरैः।
अथ ध्यानं प्रवक्ष्यामि साधकानां हिताय वै ॥४ ॥
सूर्य्यमण्डलमध्यवासनिरतां श्वेतप्रभारञ्जिताम्।
रक्त श्वेतहिरण्यनीलधवलैर्युक्तां कुमारीमिमाम् ॥५ ॥
गायत्रीं कमलासनां करतलव्यानद्धकुण्डांबुजां।
पद्माक्षीं च वरस्त्रजं च दधतीं हंसाधिरूढां भजे ॥६ ॥
अचिंत्यलक्षणाव्यक्ताप्यर्थमातृमहेश्वरी।
अमृतार्णवमध्यस्थाप्यजिता चापराजिता ॥७ ॥
अणिमादिगुणाधाराप्यर्कमंडलसंस्थिता।
अजरा ऽजाऽपरा धर्मा अक्षसूत्रधराऽधरा ॥८ ॥
अकारादिक्षकारांताप्यरिषड्वर्गभेदिनी।
अञ्जनाद्रिप्रतीकाशाप्यंजनाद्रिनिवासिनी ॥९ ॥
अदितिश्चाजपा विद्याप्यरविन्दनिभेक्षणा।
अन्तर्बहिः स्थिताऽविद्याध्वंसिनी चान्तरात्मिका ॥१० ॥
अजा चाजमुखा वासाप्यरविंदनिभानना।
अर्द्धमात्रार्थदानज्ञाप्यरिमण्डलमर्दिनी ॥११ ॥
असुरघ्नी ह्यमावास्याप्यलक्ष्मीघ्न्यत्यजार्चिता।
आदिलक्ष्मीश्चादिशक्तिराकृतिश्चायतानना ॥१२ ॥
आदित्यपदवीचाराप्यादित्यपरिसेविता।
आचार्या वर्त्तनाचाराप्यादिमूर्तिनिवासिनी ॥१३ ॥
आग्नेयी चामरी चाद्या चाराध्या चासनस्थिता।
आधारनिलयाधारा चाकाशांतनिवासिनी ॥१४ ॥
आद्याक्षरसमायुक्ता चांतराकाशरूपिणी।
आदित्यमण्डलगता चान्तरध्वांतनाशिनी ॥१५ ॥

इन्दिरा चेष्टदा चेष्टा चेंदीवरनिभेक्षणी।
इरावती चेन्द्रपदा चेन्द्राणी चेन्दुरूपिणी ॥१६ ॥
इक्षुकोदण्डसंयुक्ता चेषुसन्धानकारिणी।
इन्द्रनीलसमाकारा चेडापिंगलरूपिणी ॥१७ ॥
इन्द्राक्षी चेश्वरी देवी चेहात्रयविवर्जिता।
उमा चोषा ह्युडुनिभा उर्वारुकफलानना ॥१८ ॥
उडुप्रभा चोडुमती ह्युडुपा ह्युडुमध्यगा।
ऊर्ध्वा चाप्यूर्ध्वकेशी चाप्यूर्ध्वाधोगतिभेदिनी ॥१९ ॥

ऊर्ध्वबाहुप्रिया चोर्मिमाला वाग्ग्रन्थदायिनी।
ऋतं चर्षिर्ऋतुमती ऋषिदेवनमस्कृता ॥२० ॥
ऋग्वेदा ऋणहर्त्री च ऋषिमण्डलचारिणी।
ऋद्धिदा ऋजुमार्गस्था ऋजुधर्मा ऋतुप्रदा ॥२१ ॥
ऋग्वेदनिलया ऋज्वी लुप्तधर्म प्रवर्त्तिनी।
लूतारिवरसम्भूता लूतादिविषहारिणी ॥२२ ॥
एकाक्षरा चैकमात्रा चैका चैकैकनिष्ठिता।
ऐन्द्री ह्यैरावतारूढा चैहिकामुष्मिकप्रदा ॥२३ ॥
ओंकारा ह्योषधी चोता चोतप्रोतनिवासिनी।
और्वा ह्यौषधसम्पन्ना औपासनफलप्रदा ॥२४ ॥
अण्डमध्यस्थिता देवी चाः कारमनुरूपिणी।
कात्यायनी कालरात्रिः कामाक्षी कामसुन्दरी ॥२५ ॥
कमला कामिनी कान्ता कामदा कलकंठिनी।
करिकुम्भस्तनभरा करवीरसुवासिनी ॥२६ ॥

कल्याणी कुण्डलवती कुरुक्षेत्रनिवासिनी।
कुरुविन्ददलाकारा कुण्डली कुमुदालया ॥२७ ॥

कालजिह्वा करालास्या कालिका कालरूपिणी।
कमनीयगुणा कान्तिः कलाधारा कुमुद्वती ॥२८ ॥

कौशिकी कमलाकारा कामचारप्रभंजिनी।
कौमारी करुणापांगी ककुबन्ता करिप्रिया ॥२९ ॥
केसरी केशवनुता कदम्ब कुसुमप्रिया।
कालिन्दी कालिका कांची कलशोद्भवसंस्तुता ॥३० ॥
काममाता क्रतुमती कामरूपा कृपावती।
कुमारी कुण्डनिलया किराती करिवाहना ॥३१ ॥
कैकेयी कोकिलालापा केतकी कुसुमप्रिया।
कमंडलुधरा काली कर्मनिर्मूलकारिणी ॥३२ ॥
कलहंसगतिः कक्षा कृतकौतुकमंगला।
कस्तूरीतिलका कम्रा करीन्द्रगमना कुहूः ॥३३ ॥
कर्पूरलेपना कृष्णा कपिला कुहराश्रया।
कूटस्था कुधरा कम्रा कुक्षिस्थाखिलविष्टपा ॥३४ ॥
खड्ग खेटकरा खर्वा खेचरीखगवाहना।
खट्वांगधारिणी ख्याता खगराजोपरिस्थिता ॥३५ ॥
खलघ्नी खंडितजरा खंडाख्यानप्रदायिनी।
खंडेन्दुतिलका गंगा गणेशगुहपूजिता ॥३६ ॥

गायत्री गोमती गीता गान्धारी गानलोलुपा।
गौतमी गामिनी गाधा गन्धर्वाप्सरसेविता ॥३७ ॥
गोविन्दचरणाक्रान्ता गुणत्रयविभाविता।
गन्धर्वी गह्वरी गोत्रा गिरीशा गहनागमी ॥३८ ॥

गुहावासा गुणवती गुरुपापप्रणाशिनी।
गुर्वी गुणवती गुह्या गोप्तव्या गुणदायिनी ॥३९ ॥

गिरिजा गुह्यमातंगी गरुडध्वजवल्लभा।
गर्वापहारिणी गोदा गोकुलस्था गदाधरा ॥४० ॥

गोकर्णनिलयासक्ता गुह्यमण्डलवर्त्तिनी।
घर्मदा घनदा घण्टा घोरदानवमर्दिनी ॥४१ ।
घृणिमंत्रमयी घोषा घनसम्पातदायिनी।
घण्टारवप्रिया घ्राणा घृणिसन्तुष्टकारिणी ॥४२ ॥
घनारिमण्डला घूर्णा घृताची घनवेगिनी।
ज्ञानधातुमयी चर्चा चर्चिता चारुहासिनी ॥४३ ॥
चटुला चण्डिकाचित्राचित्रमाल्यविभूषिता।
चतुर्भुजा चारुदन्ता चातुरी चरितप्रदा ॥४४ ॥
चूलिका चित्रवस्त्रान्ता चन्द्रमः कर्णकुण्डला।
चन्द्रहासा चारुदात्रीं चकोरी चन्द्रहासिनी ॥४५ ॥
चन्द्रिका चन्द्रधात्री च चौरी चौरा च चण्डिका।
चञ्चद्वाग्वादिनी चन्द्रचूडा चोरविनाशिनी ॥४६ ॥
चारुचन्दनलिप्तांगी चञ्चच्चामरवीजिता।
चारुमध्या चारुगतिश्चन्दिला चन्द्ररूपिणी ॥४७ ॥
चारुहोमप्रिया चार्वा चरिता चक्रबाहुका।
चन्द्रमंडलमध्यस्था चन्द्रमंडलदर्पणा ॥४८ ॥
चक्रवाकस्तनी चेष्टा चित्रा चारुविलासिनी।
चित्स्वरूपा चन्द्रवती चन्द्रमाश्चन्दनप्रिया ॥४९ ॥
चोदयित्री चिरप्रज्ञाचातका चारुहेतुकी।
छत्रयाता छत्रधरा छायाछन्दः परिच्छदा ॥५० ॥
छायादेवी छिद्रनखा छन्नेन्द्रियविसर्पिणी।
छन्दोऽनुष्टुप्प्रतिष्ठान्ता छिद्रोपद्रवभेदिनी ॥५१ ॥
छेदा छत्रेश्वरी छिन्ना छुरिका छेदनप्रिया।
जननी जन्मरहिता जातवेदा जगन्मयी ॥५२ ॥
जाह्नवी जटिला जेत्री जरामरणवर्जिता।
जम्बूद्वीपवती ज्वाला जयन्ती जलशालिनी ॥५३ ॥

जितेन्द्रिया जितक्रोधा जितामित्रा जगत्प्रिया।
जातरूपमयी जिह्वा जानकी जगतीजरा ॥५४ ॥

जनित्री जह्नुतनया जगत्त्रयहितैषिणी।
ज्वालामुखी जपवती ज्वरघ्नी जितविष्टपा ॥५५ ॥

जिताक्रान्तमयी ज्वाला जाग्रती ज्वरदेवता।
ज्वलन्ती जलदा ज्येष्ठा ज्याघोषास्फोटदिङ्मुखी ॥५६ ॥

जम्भिनी जृंभणा जृंभा ज्वलन्माणिक्यकुण्डला।
झिंझिका झणनिर्घोषा झंझामारुतवेगिनी ॥५७ ॥
झल्लरीवाद्यकुशला ञरूपा ञभुजा स्मृता।
टंकबाणसमायुक्ता टंकिनी टंकभेदिनी ॥५८ ॥
टंकीगणकृताघोषा टंकनीयमहोरसा।
टंकारकारिणी देवी ठठशब्दनिनादिनी ॥५९ ॥
डामरी डाकिनी डिंभा डुंडुमारैकनिर्जिता।
डामरीतन्त्रमार्गस्था डमड्डमरुनादिनी ॥६० ॥
डिण्डीरवसहा डिम्भलसत्क्रीडापरायणा।
ढुंढिविघ्नेशजननी ढक्काहस्ता ढिलिव्रजा ॥६१ ॥
नित्यज्ञाना निरुपमा निर्गुणा नर्मदा नदी।
त्रिगुणा त्रिपदा तन्त्री तुलसी तरुणातरुः ॥६२ ॥
त्रिविक्रमपदाक्रान्ता तुरीयपदगामिनी।
तरुणादित्यसंकाशा तामसी तुहिनातुरा ॥६३ ॥
त्रिकालज्ञानसम्पन्ना त्रिवली च त्रिलोचना।
त्रिशक्तिस्त्रिपुरा तुंगा तुरंगवदना तथा ॥६४ ॥
तिमिंगिलगिला तीव्रा त्रिस्रोता तामसादिनी।
तन्त्रमन्त्रविशेषज्ञा तनुमध्या त्रिविष्टपा ॥६५ ॥
त्रिसन्ध्या त्रिस्तनी तोषासंस्था तालप्रतापिनी।
तांटकिनी तुषाराभा तुहिनाचलवासिनी ॥६६ ॥
तन्तुजालसमायुक्ता तारहारावलिप्रिया।
तिलहोमप्रिया तीर्थातमालकुसुमाकृतिः ॥६७ ॥
तारका त्रियुता तन्वी त्रिशंकुपरिवारिता।
तलोदरी तिलोभूषा ताटंक प्रियवादिनी ॥६८ ॥
त्रिजटा तित्तिरी तृष्णा त्रिविधा तरुणाकृतिः।
तप्तकांचनसंकाशा तप्तकांचनभूषणा ॥६९ ॥
त्रैयम्बका त्रिवर्गा च त्रिकालज्ञानदायिनी।
तर्पणा तृप्तिदा तृप्ता तामसी तुम्बुरुस्तुता ॥७० ॥

ताक्ष्यस्था त्रिगुणाकारा त्रिभंगी तनुवल्लरिः ।
थात्कारी थारवा थांता दोहिनी दीनवत्सला ।।७१ ।।

दानवान्तकरी दुर्गा दुर्गासुरनिबर्हिणी ।
देवरीतिर्दिवारात्रिर्द्रौपदी दुन्दुभिस्वना ।।७२ ।।

देवयानी दुरावासा दारिद्र्यभेदिनी दिवा ।
दामोदरप्रिया दीप्ता दिग्वासा दिग्विमोहिनी ।।७३ ।।

दण्डकारण्यनिलया दण्डिनी देवपूजिता ।
देववन्द्या दिविषदा द्वेषिणी दानवाकृतिः ।।७४ ।।
दीनानाथस्तुता दीक्षा दैवतादिस्वरूपिणी ।
धात्री धनुर्धुरा धेनुर्धारिणी धर्मचारिणी ।।७५ ।।
धुरन्धरा धराधारा धनदा धान्यदोहिनी ।
धर्मशीला धनाध्यक्षा धनुर्वेदविशारदा ।।७६ ।।
धृतिर्धन्या धृतपदा धर्मराजप्रिया ध्रुवा ।
धूमावती धूमकेशी धर्मशास्त्रप्रकाशिनी ।।७७ ।।
नन्दा नन्दप्रिया निद्रा नृनुता नन्दनात्मिका ।
नर्मदा नलिनी नीला नीलकण्ठसमाश्रया ।।७८ ।।
नारायणप्रिया नित्या निर्मला निर्गुणा निधिः ।
निराधारानिरुपमा नित्यशुद्धा निरंजना ।।७९ ।।
नादबिन्दुकलातीता नादबिन्दुकलात्मिका ।
नृसिंहिनी नगधरा नृपनागविभूषिता ।।८० ।।
नरकक्लेशशमनी नारायणपदोद्भवा ।
निरवद्या निराकारा नारदप्रियकारिणी ।।८१ ।।
नानाज्योतिः समाख्याता निधिदा निर्मलात्मिका ।
नवसूत्रधरा नीतिर्निरुपद्रवकारिणी ।।८२ ।।
नन्दजा नवरत्नाढ्या नैमिषारण्यवासिनी ।
नवनीतिप्रिया नारी नीलजीमूतनिःस्वना ।।८३ ।।
निमेषिणी नदीरूपा नीलग्रीवा निशीश्वरी ।
नामावलिर्निशुम्भघ्नी नागलोकनिवासिनी ।।८४ ।।
नवजाम्बूनदप्रख्या नागलोकाधिदेवता ।
नूपुराक्रांतचरणा नरचित्त प्रमोदिनी ।।८५ ।।
निमग्नारक्तनयना निर्घातसमनिस्वना ।
नन्दनोद्याननिलया निर्व्यूहोपरिचारिणी ।।८६ ।।
पार्वती परमोदारा परब्रह्मात्मिका परा ।
पञ्चकोश विनिर्मुक्ता पंचपातकनाशिनी ।।८७ ।।

परचित्तविधानज्ञा पंचिका पंचरूपिणी।
पूर्णिमा परमा प्रीतिः परतेजः प्रकाशिनी॥८८॥
पुराणी पौरुषी पुण्या पुण्डरीकनिभेक्षणा।
पातालतलनिर्मग्ना प्रीता प्रीतिविवर्धिनी॥८९॥
पावनी पादसहिता पेशला पवनाशिनी।
प्रजापतिः परिश्रान्ता पर्वतस्तनमण्डला॥९०॥
पद्मप्रिया पद्मसंस्था पद्माक्षी पद्मसम्भवा।
पद्मपत्रा पद्मपदा पद्मिनी प्रियभाषिणी॥९१॥
पशुपाशविनिर्मुक्ता पुरन्ध्री पुरवासिनी।
पुष्कला पुरुषा पर्वा पारिजातसुमप्रिया॥९२॥
पतिव्रता पवित्रांगी पुष्पहासपरायणा।
प्रज्ञावती सुता पौत्री पुत्रपूज्या पयस्विनी॥९३॥

पट्टिपाशधरा पंक्तिः पितृलोकप्रदायिनी।
पुराणी पुण्यशीला च प्रणतार्त्ति विनाशिनी॥९४॥

प्रद्युम्नजननी पुष्टा पितामह परिग्रहा।
पुण्डरीकपुरावासा पुण्डरीकसमानना॥९५॥

पृथुजंघा पृथुभुजा पृथुपादा पृथूदरी।
प्रवालशोभा पिंगाक्षी पीतवासाः प्रचापला॥९६॥
प्रसवा पुष्टिदा पुण्या प्रतिष्ठा प्रणवागतिः।
पंचवर्णा पंचवाणी पंचिका पंजरस्थिता॥९७॥
परमाया परज्योतिः परप्रीतिः परागतिः।
पराकाष्ठा परेशानी पाविनी पावकद्युतिः॥९८॥
पुण्यप्रदा परिच्छेद्या पुष्पहासा पृथूदरी।
पीतांगी पीतवसना पीतशय्या पिशाचिनी॥९९॥
पीतक्रिया पिशाचघ्नी पाटलाक्षी पटुक्रिया।
पंचभक्षप्रियाचारा पूतना प्राणघातिनी॥१००॥
पुन्नागवनमध्यस्था पुण्यतीर्थनिषेविता।
पंचांगी च पराशक्तिः परमाह्लादकारिणी॥१०१॥
पुष्पकांडस्थिता पूषा पोषिताखिलविष्टपा।
पानप्रिया पंचशिखा पन्नगोपरिशायिनी॥१०२।
पंचमात्रात्मिका पृथ्वी पथिका पृथुदोहिनी।
पुराणन्यायमीमांसा पाटली पुष्पगन्धिनी॥१०३॥
पुण्यप्रजा पारदात्री परमार्गैकगोचरा-
प्रवालशोभा पूर्णाशा प्रणवा पल्लवोदरी॥१०४॥

फलिनी फलदा फल्गुः फूत्कारी फलकाकृतिः।
फणीन्द्रभोगशयना फणिमंडलमंडिता ॥१०५॥
बालबाला बहुमता बालातपनिभांशुका।
बलभद्रप्रिया वन्द्या वडवा बुद्धिसंस्तुता ॥१०६॥
बन्दी देवी बिलवती बडिशघ्नी बलिप्रिया।
बांधवी बोधिता बुद्धिर्बन्धूककुसुमप्रिया ॥१०७॥
बालभानुप्रभाकारा ब्राह्मी ब्राह्मणदेवता।
बृहस्पतिस्तुता वृन्दा बृन्दावनविहारिणी ॥१०८॥
बलाकिनी बिलाहारा बिलावासा बहूदका।
बहुनेत्रा बहुपदा बहुकर्णावतंसिका ॥१०९॥
बहुबाहुयुता बीजरूपिणी बहुरूपिणी।
बिन्दुनादकलातीता बिन्दुनादस्वरूपिणी ॥११०॥
बद्धगोधांगुलित्राणा बदर्याश्रमवासिनी।
बृन्दारका बृहत्स्कन्धा बृहती बाणपातिनी ॥१११॥

बृन्दाध्यक्षा बहुनुता बनिता बहुविक्रमा।
बद्धपद्मासनासीना बिल्वपत्रतलस्थिता ॥११२॥

बोधिद्रुमनिजावासा बडिस्था बिन्दुदर्पणा।
बाला बाणासनवती बडवानलवेगिनी ॥११३॥

ब्रह्माण्डबहिरन्तःस्था ब्रह्मकंकणसूत्रिणी।
भवानी भीषणवती भाविनी भयहारिणी ॥११४॥
भद्रकाली भुजंगाक्षी भारती भारताशया।
भैरवी भीषणाकारा भूतिदा भूतिमालिनी ॥११५॥
भामिनी भोगनिरता भद्रदा भूरिविक्रमा।
भूतावासा भृगुलता भार्गवी भूसुरार्चिता ॥११६॥
भागीरथी भोगवती भवनस्था भिषग्वरा।
भामिनी भोगिनी भाषा भवानी भूरिदक्षिणा ॥११७॥
भर्गात्मिका भीमवती भवबन्ध-विमोचिनी।
भजनीया भूतधात्री भञ्जिता भुवनेश्वरी ॥११८॥
भुजंगवलया भीमा भेरुण्डा भागधेयिनी।
माता माया मधुमती मधुजिह्वा मधुप्रिया ॥११९॥
महादेवी महाभागा मालिनी मीनलोचना।
मायातीता मधुमती मधुमासा मधुद्रवा ॥१२०॥
मानवी मधुसम्भूता मिथिलापुरवासिनी।
मधुकैटभसंहर्त्री मेदिनी मेघमालिनी ॥१२१॥

मन्दोदरी महामाया मैथिली मसृणप्रिया।
महालक्ष्मीर्महाकाली महाकन्या महेश्वरी ॥१२२ ॥
माऽहेन्द्री मेरुतनया मन्दारकुसुमार्चिता।
मञ्जुमञ्जीरचरणा मोक्षदा मंजुभाषिणी ॥१२३ ॥
मधुरद्राविणी मुद्रा मलया मलयान्विता।
मेधा मरकतश्यामा मागधी मेनकात्मजा ॥१२४ ॥
महामारी महावीरा महाश्यामा मनुस्तुता।
मातृका मिहिराभासा मुकुन्दपदविक्रमा ॥१२५ ॥
मूलाधारस्थिता मुग्धा मणिपूरकवासिनी।
मृगाक्षी महिषारूढा महिषासुरमर्दिनी ॥१२६ ॥

योगासना योगगम्या योगा यौवनकाश्रया।
यौवनी युद्धमध्यस्था यमुना युगधारिणी ॥१२७ ॥

यक्षिणी योगयुक्ता च यक्षराजप्रसूतिनी।
यात्रा यानविधानज्ञा यदुवंशसमुद्भवा ॥१२८ ॥

यकारादिहकारान्ता याजुषी यज्ञरूपिणी।
यामिनी योगनिरता यातुधान- भयंकरी ॥१२९ ॥
रुक्मिणी रमणी रामा रेवती रेणुका रतिः।
रौद्री रौद्रप्रियाकारा राममाता रतिप्रिया ॥१३० ॥
रोहिणी राज्यदा रेवा रमा राजीवलोचना।
राकेशी रूपसम्पन्ना रत्नसिंहासनस्थिता ॥१३१ ॥
रक्तमाल्यांबरधरा रक्तगन्धानुलेपना।
राजहंससमारूढा रम्भा रक्तबलिप्रिया ॥१३२ ॥
रमणीययुगाधारा राजिताखिलभूतला।
रुरुचर्मपरीधाना रथिनी रत्नमालिका ॥१३३ ॥
रोगेशी रोगशमनी राविणी रोमहर्षिणी।
रामचन्द्रपदाक्रान्ता रावणच्छेदकारिणी ॥१३४ ॥
रत्नवस्त्रपरिच्छन्ना रथस्था रुक्मभूषणा।
लज्जाधिदेवता लोला ललिता लिंगधारिणी ॥१३५ ॥
लक्ष्मीर्लोला लुप्तविषा लोकिनी लोकविश्रुता।
लज्जा लम्बोदरीदेवी ललना लोकधारिणी ॥१३६ ॥
वरदा वन्दिता विद्या वैष्णवी विमलाकृतिः।
वाराही विरजा वर्षा वरलक्ष्मीर्विलासिनी ॥१३७ ॥
विनता व्योममध्यस्था वारिजासनसंस्थिता।
वारुणी वेणुसम्भूता वीतिहोत्रा विरूपिणी ॥१३८ ॥

वायुमण्डलमध्यस्था विष्णुरूपा विधिप्रिया।
विष्णुपत्नी विष्णुमती विशालाक्षी वसुन्धरा ॥१३९।
वामदेवप्रिया वेला वज्रिणी वसुदोहिनी।
वेदाक्षरपरीतांगी वाजपेयफलप्रदा ॥१४०॥
वासवी वामजननी वैकुण्ठनिलयावरा।
व्यासप्रिया वर्मधरा वाल्मीकिपरिसेविता ॥१४१।
शाकम्भरी शिवा शान्ता शारदा शरणागतिः।
शातोदरी शुभाचारा शुम्भासुर विमर्दिनी ॥१४२॥
शोभावती शिवाकारा शंकरार्धशरीरिणी।
शोणाशुभाशयाशुभ्राशिरःसन्धानकारिणी ॥१४३॥
शरावती शरानन्दा शरज्ज्योत्स्ना शुभानना।
शरभा शूलिनी शुद्धा शबरी शुकवाहना ॥१४४॥
श्रीमती श्रीधरानन्दा श्रवणानन्ददायिनी।
शर्वाणी शर्वरीवन्द्या षड्भाषा षड्ऋतुप्रिया ॥१४५॥

षडाधारस्थिता देवी षण्मुखप्रियकारिणी।
षडंगरूपसुमतिः सुरासुरनमस्कृता ॥१४६॥

सरस्वती सदाधारा सर्वमंगलकारिणी।
सामगानप्रिया सूक्ष्मा सावित्री सामसम्भवा ॥१४७॥

सर्ववासा सदानन्दा सुस्तनी सागराम्बरा।
सर्वैश्वर्य्यप्रिया सिद्धिः साधुबन्धुपराक्रमा ॥१४८॥
सप्तर्षिमंडलगता सोममंडलवासिनी।
सर्वज्ञा सान्द्रकरुणा समानाधिकवर्जिता ॥१४९॥
सर्वोत्तुंगा संगहीना सद्गुणा सकलेष्टदा।
सरघा सूर्यतनया सुकेशी सोमसंहतिः ॥१५०॥
हिरण्यवर्णा हरिणी ह्रींकारी हंसवाहिनी।
क्षौमवस्त्रपरीतांगी क्षीराब्धितनया क्षमा ॥१५१॥
गायत्री चैव सावित्री पार्वती च सरस्वती।
वेदगर्भा वरारोहा श्री गायत्री पराम्बिका ॥१५२॥
इति साहस्त्रकं नाम्नां गायत्र्याश्चैव नारद।
पुण्यदं सर्वपापघ्नं महासम्पत्तिदायकम् ॥१५३॥
एवं नामानि गायत्र्यास्तोषोत्पत्तिकराणि हि।
अष्टम्यां च विशेषेण पठितव्यं द्विजैः सह ॥१५४॥
जपं कृत्वा होमपूजां ध्यानं कृत्वा विशेषतः।
यस्मै कस्मै न दातव्यं गायत्र्यास्तु विशेषतः ॥१५५॥

सुभक्ताय सुशिष्याय वक्तव्यं भूसुराय वै।
भ्रष्टेभ्यः साधकेभ्यश्च बान्धवेभ्यो न दर्शयेत् ॥१५६ ॥
यद्गृहे लिखितं शास्त्रं भयं तस्य न कस्यचित्।
चंचलापि स्थिरा भूत्वा कमला तत्र तिष्ठति ॥१५७ ॥
इदं रहस्यं परमं गुह्याद् गुह्यतरं महत्।
पुण्यप्रदं मनुष्याणां दरिद्राणां निधिप्रदम् ॥१५८ ॥
मोक्षप्रदं मुमुक्षूणां कामिनां सर्वकामदम्।
रोगाद्विमुच्यते रोगी बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥१५९ ॥
ब्रह्महत्यासुरापानसुवर्णस्तेयिनो नराः ।
गुरुतल्पगतो वापि पातकान्मुच्यते सकृत् ॥१६० ॥
असत्प्रतिग्रहाच्चैवाभक्ष्यभक्षाद्विशेषतः ।
पाखण्डानृतमुख्येभ्यः पठनादेव मुच्यते ॥१६१ ॥
इदं रहस्यममलं मयोक्तं पद्मजोद्भव।
ब्रह्मसायुज्यदं नृणां सत्यं सत्यं न संशयः ॥१६२ ॥

॥ इति गायत्री सहस्रनाम ॥

गायत्री के सहस्र नामों में प्रत्येक नाम बड़ा ही रहस्यमय है । उसमें सूत्र रूप से गायत्री की शक्तियों का परिचय, इतिहास एवं विज्ञान छिपा हुआ है । मोटी दृष्टि से देखने में यह नाम साधारण मालूम होते हैं, पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया जाए, तो प्रत्येक नाम में से बड़े से बड़े रहस्यों का उद्घाटन होता है । यदि एक-एक नाम की व्याख्या और विवेचना की जाए, तो उन तत्त्वों का उद्घाटन होगा, जिनको समझने के लिये वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, दर्शन, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक, स्मृति, नीति, संहिता एवं सूत्र ग्रन्थों की रचना हुई है । प्रत्येक नाम की विशद व्याख्या करना इस छोटे ग्रन्थ में सम्भव नहीं है, कभी सुयोग मिला और माता की प्रेरणा हुई तो इन सहस्र नामों में से एक-एक का सुबिस्तृत विवेचन करेंगे । तब सर्वसाधारण के लिये यह जानना सुगम होगा कि आद्यशक्ति गायत्री की रूपरेखा, गतिविधि, प्रक्रिया, उपयोगिता, महत्ता, वैज्ञानिकता एवं वास्तविकता क्या है ? यह नाम गायत्री के गुण, इतिहास और विज्ञान का रहस्योद्घाटन करने के अतिरिक्त अनेक प्रकार की दक्षिणमार्गी एवं वाममार्गी साधनाओं की भी शिक्षा देते हैं । अँगुलि निर्देश, संकेत, सूक्ष्म एवं बीज रूप में इन सहस्र नामों के अन्तर्गत गायत्री विद्या का अनन्त भण्डार भरा हुआ है ।

गायत्री के ऋषि, छन्द और देवता

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादनुष्ठानादिकं तथा।
गायत्रीमात्रनिष्ठस्तु कृतकृत्यो भवेद् द्विजः ॥

श्री नारायण बोले- चाहे अनुष्ठानादिक करे या न करे , पर गायत्री मात्र के जप में निष्ठा रखने वाला ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है ।"

संध्यासु चार्घ्यदानं च गायत्रीजपमेव च।
सहस्रत्रितयं कुर्वन्सुरैः पूज्यो भवेन्मुने ॥ -दे० भा० १२/१/८

"तीनों सन्ध्याओं में अर्घ्य दे और प्रत्येक सन्ध्या में तीन हजार गायत्री जप करे, तो हे मुने ! वह मनुष्य देवताओं द्वारा भी पूज्य हो जाता है ।"

न्यासान् करोतु वा मा वा गायत्रीमेव चाभ्यसेत्।
ध्यात्वा निर्व्याजया वृत्त्या सच्चिदानन्दरूपिणीम् ॥ -देवी० १२.१.१०

"न्यास करे या न करे, निर्व्याज भक्ति से सच्चिदानन्दरूपिणी भगवती का ध्यान करके गायत्री का अभ्यास करे।"

यदक्षरैकसंसिद्धेः स्पर्धते ब्राह्मणोत्तमः।
हरिशंकरकंजोत्थ सूर्यचन्द्रहुताशनैः ॥ -देवी० १२.१.११

जो सच्चा ब्राह्मण गायत्री के एक अक्षर की भी सिद्धि कर लेता है, उसकी स्पर्धा हरि, शंकर, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि से होने लगती है।"

अथातः श्रूयतां ब्रह्मन्वर्णऋष्यादिकांस्तथा।
छन्दांसि देवतास्तद्वत् क्रमात्तत्त्वानि चैव हि ॥ -देवी० १२.१.१२

"हे ब्रह्मन् ! अब गायत्री के चौबीस वर्णों के ऋषि, छन्द, देवता आदि को क्रम से कहते हैं।"

वामदेवोऽत्रिर्वसिष्ठः शुक्रः कण्वः पराशरः।
विश्वामित्रो महातेजाः कपिलः शौनको महान् ॥
याज्ञवल्क्यो भरद्वाजो जमदग्निस्तपोनिधिः।
गौतमो मुद्गलश्चैव वेदव्यासश्च लोमशः।
अगस्त्यः कौशिको वत्सः पुलस्त्यो मांडुकस्तथा।
दुर्वासास्तपसां श्रेष्ठो नारदः कश्यपस्तथा। -देवी० १२.१.१३-१५

"गायत्री के ऋषि ये हैं- वामदेव, अत्रि, वसिष्ठ, शुक्र, कण्व, पराशर, महातेजस्वी विश्वामित्र, कपिल, शौनक, याज्ञवल्क्य, भरद्वाज, जमदग्नि, गौतम, मुद्गल, वेदव्यास, लोमश, अगस्त्य, कौशिक, वत्स, पुलस्त्य, माण्डूक, दुर्वासा, नारद और कश्यप।"

इत्येते ऋषयः प्रोक्ता वर्णानां क्रमशो मुने।
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पंक्तिरेव च ॥
त्रिष्टुभं जगती चैव तथाऽतिजगती मता।
शक्वर्यतिशक्वरी च धृतिश्चातिधृतिस्तथा ॥
विराट् प्रस्तारपंक्तिश्च कृतिः प्रकृतिराकृतिः।
विकृतिः संकृतिश्चैवाक्षर पंक्तिस्तथैव च ॥
भूर्भुवः स्वरितिच्छन्दस्तथा ज्योतिष्मती स्मृतम्।
इत्येतानि च छंदांसि कीर्तितानि महामुने ॥ -देवी० १२.१.१७-१९

"हे नारद जी ! गायत्री के ऋषियों के पश्चात् अब उसके छन्दों को सुनिये-गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, धृति, अतिधृति, विराट् प्रस्तार- पंक्ति, कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अक्षरपंक्ति, भूः, भुवः, स्वः और ज्योतिष्मती ये २४ छन्द क्रम से कहे हैं।"

दैवतानि शृणु प्राज्ञ तेषामेवानुपूर्वशः।
आग्नेयं प्रथमं प्रोक्तं प्राजापत्यं द्वितीयकम् ॥
तृतीयं च तथा सौम्यमीशानं च चतुर्थकम्।
सावित्रं पञ्चमं प्रोक्तं षष्ठमादित्य दैवतम् ॥
बार्हस्पत्यं सप्तमं तु मैत्रावरुणमष्टमम्।
नवमं भगदैवत्यं दशमं चार्यमेश्वरम् ॥

गणेशमेकादशकं त्वाष्ट्रं द्वादशकं स्मृतम्।
पौष्णं त्रयोदशं प्रोक्तमैंद्राग्नं च चतुर्दशम्।।
वायव्यं पंचदशकं वामदेव्यं च षोडशम्।
मैत्रावरुणिदैवत्यं प्रोक्तं सप्तदशाक्षरम्।।
अष्टादशं वैश्वदेवमूनविंशं तु मातृकम्।
वैष्णवं विंशतितमं वसुदैवतमीरितम्।।
एकविंशतिसंख्याकं द्वाविंशं रुद्रदैवतम्।।
त्रयोविंशं च कौबेरमाश्विनं तत्त्वसंख्यकम्।
चतुर्विंशतिवर्णानां देवतानां च संग्रहः।।
कथितः परमश्रेष्ठो महापापैकशोधनः।
यदाकर्णनमात्रेण सांगं जाप्यफलं मुने।। - दे०भा० १२.१.२०-२७

"अब क्रम से सब अक्षरों के देवता बतलाते हैं- प्रथम के अग्नि, द्वितीय के प्रजापति, तृतीय के सोम, चतुर्थ के ईशान, पंचम के सविता, षष्ठ के आदित्य, सप्तम के बृहस्पति, अष्टम के मैत्रावरुणि, नवम के भग, दशम के अर्यमा, एकादश के गणेश, द्वादश के त्वष्ट्रा, त्रयोदश के पूषा, चतुर्दश के इन्द्राग्नी, पंचदश के वायु, षोडश के वामदेव, सप्तदश के मैत्रावरुणि,अष्टादश के विश्वदेवा , उन्नीसवें के मातृका, बीसवें के विष्णु, इक्कीसवें के वसु, बाईसवें के रुद्र, तेईसवें के कुबेर, चौबीसवें के अश्विनी कुमार- ये चौबीस वर्णों के देवता कहे गये हैं, जो परम श्रेष्ठ और महापाप के दूर करने वाले हैं , जिनके श्रवण मात्र से ही सांग जप का फल प्राप्त होता है ।"

आदिशक्ते जगन्मातर्भक्तानुग्रहकारिणि।
सर्वत्रव्यापिकेऽनन्ते श्रीसंध्ये वै नमोऽस्तु ते।। - दे० भा० १२.५.२

"हे आदि शक्ति, जगन्माता, भक्तों पर अनुग्रह करने वाली, सर्वत्र व्यापक. अनन्ता, श्री सन्ध्या तुम्हारे लिये नमस्कार है ।"

त्वमेव सन्ध्या गायत्री सावित्री च सरस्वती।
ब्राह्मी च वैष्णवी रौद्री रक्ता श्वेता सितेतरा।। - १२.५.३

"सन्ध्या, गायत्री, सावित्री, सरस्वती, ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्रा, रक्ता, श्वेता, कृष्णा तुम्हीं हो ।"

प्रातर्बाला च मध्याह्ने यौवनस्था भवेत् पुनः।
वृद्धा सायं भगवती चिन्त्यते मुनिभिः सदा।। - १२.५.४

"प्रातःकाल बालस्वरूपिणी, मध्याह्न में युवती और सायंकाल में वृद्धा भगवती का मुनिगण ध्यान करते हैं ।"

हंसस्था गरुडारूढा तथा वृषभवाहिनी।
ऋग्वेदाध्यायिनी भूमौ दृश्यते या तपस्विभिः।। - १२.५.५

"ब्राह्मी, हंसारूढ़ा, सावित्री वृषभवाहिनी और सरस्वती गरुड़ारूढ़ा है । इनमें से ब्राह्मी ऋग्वेदाध्यायिनी , भूमितल में तपस्वियों द्वारा देखी जाती है ।"

यजुर्वेदं पठंती च अंतरिक्षे विराजते।
सा सामगापि सर्वेषु भ्राम्यमाणा तथा भुवि।। - १२.५.६

"सरस्वती यजुर्वेद पढ़ती हुई, अन्तरिक्ष में विराजमान होती हैं और सावित्री सामवेद गाती हुई, पृथ्वी तल पर सर्वजनों में रमती हैं ।"

रुद्रलोकं गता त्वं हि विष्णुलोकनिवासिनी।
त्वमेव ब्रह्मणो लोकेऽमर्त्यानुग्रहकारिणी॥ -१२.५.७

"सावित्री रुद्रलोक में, सरस्वती विष्णु लोक में और ब्राह्मी ब्रह्मलोक में विराजमान रहती हैं - ये सब प्राणियों पर कृपा करने वाली हैं।"

गायत्री अभियान की साधना

गायत्री को पञ्चमुखी कहा जाता है। कई चित्रों में आलंकारिक रूप से पाँच मुख दिखाये गये हैं। वास्तव में यह पाँच विभाग हैं- (१) ॐ, (२) भूर्भुवः स्वः, (३) तत्सवितुर्वरेण्यं, (४) भर्गोदेवस्य धीमहि, (५) धियो यो नः प्रचोदयात्। यज्ञोपवीत के पाँच भाग हैं- तीन सूत्र, चौथी मध्यग्रन्थियाँ, पाँचवीं ब्रह्मग्रन्थि। पाँच देवता भी प्रसिद्ध हैं- ॐ-गणेश। व्याहृति-भवानी। प्रथम चरण-ब्रह्मा। द्वितीय चरण- विष्णु। तृतीय चरण-महेश। यह पाँच देवता गायत्री के पाँच प्रमुख शक्ति-पुञ्ज कहे जा सकते हैं। प्रकृति के संचालक पाँच तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) जीव के पाँच कोष (अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष, आनन्दमय कोष) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, चैतन्य पञ्चक (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, आत्मा) इस प्रकार की पंच प्रवृत्तियाँ गायत्री के पाँच भागों में प्रस्फुटित, प्रेरित, प्रसारित होती हैं। इन्हीं आधारों पर वेदमाता गायत्री को पंचमुखी कहा गया है।

पंचमुखी माता की उपासना एक नैष्ठिक अनुष्ठान है, जिसे 'गायत्री अभियान' कहते हैं, जो पाँच लाख जप का होता है। यह एक वर्ष की तपश्चर्या साधक का उपासनीय महाशक्ति से तादात्म्य करा देती है। श्रद्धा और विश्वासपूर्वक की हुई अभियान की साधना अपना फल दिखाये बिना नहीं रहती। 'अभियान' एक ऐसी तपस्या है, जो साधक को गायत्री शक्ति से भर देती है। फलस्वरूप साधक अपने अन्दर, बाहर और चारों ओर एक दैवी वातावरण का अनुभव करता है।

अभियान की विधि

एक वर्ष में पाँच लाख जप पूरा करने का अभियान किसी भी मास में शुक्ल पक्ष की एकादशी से आरंभ किया जा सकता है। गायत्री का आविर्भाव शुक्ल पक्ष की दशमी को मध्य रात्रि में हुआ है। इसलिये उसका उपवास पुण्य दूसरे दिन एकादशी को माना जाता है। अभियान आरम्भ करने के लिये यही मुहूर्त सबसे उत्तम है। जिस एकादशी से आरंभ किया जाय, एक वर्ष बाद उसी एकादशी को समाप्त करना चाहिये।

महीने की दोनों एकादशियों को उपवास करना चाहिये। उपवास में दूध, दही, छाछ, शाक आदि सात्त्विक पदार्थ लिये जा सकते हैं। जो एक समय भोजन करके काम चला सकें, वे वैसा करें। बाल, वृद्ध, गर्भिणी या कमजोर प्रकृति के व्यक्ति दो बार भी सात्त्विक आहार ले सकते हैं। उपवास के दिन पानी कई बार पीना चाहिये।

दोनों एकादशियों को २४ मालायें जपनी चाहिये। साधारण दिनों में प्रतिदिन १० मालायें जपनी चाहिये। वर्ष में तीन सन्ध्यायें होती हैं, उन्हें नवदुर्गाएँ कहते हैं। इन नवदुर्गाओं में चौबीस-चौबीस हजार के तीन अनुष्ठान कर लेने चाहिये। जैसे प्रतिदिन प्रातःकाल, मध्याह्न, सायंकाल की तीन सन्ध्यायें होती हैं, वैसे ही वर्ष में ऋतु परिवर्तन की संधियों में तीन नवदुर्गायें होती हैं। वर्षा के अन्त और शीत के आरम्भ में आश्विन शुक्ला १ से लेकर ९ तक, शीत के अन्त और ग्रीष्म के आरंभ में चैत्र शुक्ला १ से लेकर ९ तक। ग्रीष्म के अन्त और वर्षा के आरम्भ में ज्येष्ठ शुक्ला १ से लेकर ९ तक। यह तीन नवदुर्गायें हैं। दशमी गायत्री जयन्ती का पूर्णाहुतिदिन होने से वह भी नवदुर्गाओं में जोड़ दिया गया है। इस प्रकार दश दिन की इन सन्ध्याओं में चौबीस माला प्रतिदिन के हिसाब से चौबीस हजार जप हो जाते हैं। इस प्रकार एक वर्ष में पाँच लाख जप पूरा हो जाता है।

संख्या का हिसाब इस प्रकार और भी अच्छी तरह समझ में आ सकता है-

१- बारह महीने की चौबीस एकादशियों को प्रतिदिन २४ मालाओं के हिसाब से २४ x २४ = ५७६ मालायें।

२- दस-दस दिन की तीन कुल ३० दिन की नवदुर्गाओं में प्रतिदिन की २४ मालाओं के हिसाब से ३० x २४ = ७२० मालायें।

३- वर्ष के ३६० दिन में से उपर्युक्त ३० + २४ = ५४ दिन काटकर शेष ३०६ दिन में दस माला प्रतिदिन के हिसाब से ३०६० मालायें।

४- प्रतिदिन रविवार को पाँच माला अधिक जपनी चाहिये अर्थात् दस की जगह पन्द्रह माला रविवार को जपी जायें। इस प्रकार एक वर्ष में ५२ x ५ = २६० मालायें।

इस प्रकार कुल मिलाकर (५७६ + ७२० + ३०६० + २६० = ४६१६ मालायें हुई)। एक माला में १०८ दाने होते है। इस तरह ४६१६ x १०८ = ४,९८,१२८ कुल जप हुआ, पाँच लाख में करीब उन्नीस सौ कम है। चौबीस मालायें पूर्णाहुति के अन्तिम दिन विशेष जप एवं हवन करके पूरी की जाती हैं।

इस प्रकार पाँच लाख जप पूरे हो जाते हैं। तीन नवदुर्गाओं में काम-सेवन, पलंग पर सोना, दूसरे व्यक्ति से हजामत बनवाना, चमड़े का जूता पहनना, मद्य-मांस का सेवन आदि बातें विशेष रूप से वर्जित हैं। शेष दिनों में सामान्य जीवन क्रम रखा जा सकता है, उसमें किसी विशेष तपश्चर्याओं का प्रतिबंध नहीं है।

महीने में एक बार शुक्लपक्ष की एकादशी को १०८ मन्त्रों से हवन कर लेना चाहिये। हवन की विधि 'गायत्री महाविज्ञान' के प्रथम भाग में बता चुके हैं।

अभियान एक प्रकार का लक्ष्यवेध है। इसके लिये किसी पथ-प्रदर्शक एवं शिक्षक की नियुक्ति आवश्यक है, जिससे कि बीच-बीच में जो अनुभव हों उनके सम्बन्ध में परामर्श किया जाता रहे। कई बार जबकि प्रगति में बाधा उपस्थित होती है, तो उसका उपाय अनुभवी मार्ग-दर्शक से जाना जा सकता है।

शुद्ध होकर प्रातः-सायं दोनों समय जप किया जा सकता है। प्रातःकाल उपासना में अधिक समय लगाना चाहिये, सन्ध्या के लिये तो कम भाग ही छोड़ना चाहिये। जप के समय मस्तक के मध्य भाग अथवा हृदय में प्रकाश-पुञ्ज-गायत्री का ध्यान करते जाना चाहिये।

साधारणतः एक घंटे में दस मालायें जपी जा सकती हैं। अनुष्ठान के दिनों में ढाई घण्टे प्रतिदिन और साधारण दिनों एक घण्टा प्रतिदिन उपासना में लगा देना कुछ विशेष बात नहीं है। सूतक, यात्रा, बीमारी आदि के दिनों में बिना माला के मानसिक जप चालू रखना चाहिये। किसी दिन साधना छूट जाने पर, उसकी पूर्ति अगले दिन की जा सकती है।

फिर भी यदि वर्ष के अन्त में कुछ जप कम रह जाए, तो उसके लिये ऐसा हो सकता है कि उतने मन्त्र अपने लिये किसी से उधार जपाये जा सकते हैं, जो सुविधाजनक लौटा दिये जायें। इस प्रकार हवन आदि की कोई असुविधा पड़े, तो वह इसी प्रकार सहयोग के आधार पर पूरी की जा सकती है। किसी साधक की साधना खण्डित न होने देने एवं उसका संकल्प पूरा कराने के लिये 'अखण्ड-ज्योति' से भी समुचित उत्साह, पथ-प्रदर्शन तथा सहयोग मिल जाता है।

अभियान एक वर्ष में पूरा होता है। साधना की महानता को देखते हुए इतना समय कुछ अधिक नहीं है। इस तपस्या के लिये जिनके मन में उत्साह है, उन्हें इस शुभ आरंभ को कर ही देना चाहिये। आगे चलकर माता अपने आप सँभाल लेती है। यह निश्चित है कि शुभ आरम्भ का परिणाम शुभ ही होता है।

गायत्री - वन्दना

ॐ काररूपा त्रिपदा त्रयी च, त्रिदेववन्द्या त्रिदिवाधिदेवी।
त्रिलोककर्त्री त्रितयस्य भर्त्री, त्रैकालिकी संकलनाविधात्री ॥१॥
त्रैगुण्यभेदात् त्रिविधस्वरूपा, त्रैविध्ययुक्तस्य फलस्य दात्री।
तथापवर्गस्य विधायिनी त्वं, दयार्द्रदृक्कोणविलोकनेन ॥२॥

त्वं वाङ्मयी विश्ववदान्यमूर्ति, विश्वस्वरूपापि हि विश्वगर्भा ।
तत्त्वात्मिका तत्त्वपरात्परा च, दृक् तारिका तारकशंकरस्य ॥३॥
विश्वात्मिके विश्वविलासभूते, विश्वाश्रये विश्वविकाशधामे ।
विभूत्यधिष्ठात्रि विभूतिदात्रि, पदे त्वदीये प्रणतिर्मदीया ॥४॥
भोगस्य भोक्त्री करणस्य कर्त्री, धात्वाव्ययप्रत्ययलिंगशून्या ।
ज्ञेया न वेदैर्न पुराणभेदै, र्ध्येया धिया धारणयादिशक्तिः ॥५॥
नित्या सदा सर्वगताऽप्यलक्ष्या, विष्णोर्विधेः शंकरतोऽप्यभिन्ना ।
शक्तिस्वरूपा जगतोऽस्य शक्ति, र्ज्ञातुं न शक्या करणादिभिस्त्वम् ॥६॥
त्यक्तस्त्वयात्यन्तनिरस्तबुद्धि, र्नरो भवेद् वैभवभाग्यहीनः ।
हिमालयादप्यधिकोन्नतोऽपि, जनैस्समस्तैरपि लंघनीयः ॥७॥
शिवे हरौ ब्रह्मणि भानुचन्द्रयो, श्चराचरे गोचरकेऽप्यगोचरे ।
सूक्ष्मातिसूक्ष्मे महतो महत्तमे, कला त्वदीया विमला विराजते ॥८॥
सुधामरन्दं तव पादपद्मं, स्वे मानसे धारणया निधाय ।
बुद्धिर्मिलिन्दीभवतान्मदीया, नातः परं देवि वरं समीहे ॥९॥
दीनेषु हीनेषु गतादरेषु, स्वाभाविकी ते करुणा प्रसिद्धा ।
अतः शरण्ये शरणं प्रपन्नं, गृहाण मातः प्रणयाञ्जलिं मे ॥१०॥

गायत्री महाविज्ञान

तृतीय भाग

भूमिका

गायत्री के पाँच मुख और दस भुजा होने का वर्णन अनेक जगह आता है। ऐसी अनेक तस्वीरें एवं मूर्तियाँ भी मिलती हैं। यह अनेक मुख और अनेक भुजाएँ साधारण पाठकों के लिए पहेली हैं, जिसे न सुलझा सकने पर, वे गायत्री विद्या जैसे सुदृढ़ विज्ञान को साम्प्रदायिक कथा-गाथाओं की श्रेणी में रख देते हैं और उसके महत्त्व की गम्भीरता में सन्देह करने लगते हैं।

इस पुस्तक की रचना उस गुत्थी को सुलझाने के लिए की गई है। गायत्री के पाँच मुख, आत्मा के पाँच कोश- आवरण हैं। अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश- यह पाँच आत्मा के आवागमन के, कैद तथा छुटकारे के वैसे ही द्वार हैं, जैसे कि मनुष्य के शरीर में साँस आने-जाने के लिए नाक में छिद्र होते हैं। पाँच मुखों के चित्रण में योग-विद्या का वह गुप्त विज्ञान और विधान दिया हुआ है, जिसको जानकर परमपद को, परम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

गायत्री की दस भुजाएँ, जीवन के दस शूलों, कष्ट-दुःखों का निवारण करने वाली महाशक्तियाँ हैं, जिसके सिर पर माता की दस भुजाओं का वरदान है, वह सब प्रकार के दुःखों से निश्चय ही बच सकता है।

इस पुस्तक में गायत्री के पाँच मुखों और दस भुजाओं का रहस्य 'गायत्री मंजरी' के आधार पर समझाते हुए इस महाविद्या के तत्त्वज्ञान पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इसके साथ ही समुचित अनुभव होने के कारण पुस्तक की उपयोगिता पर हमें सहज ही विश्वास है।

—श्रीराम शर्मा आचार्य

गायत्री महाविज्ञान
(तृतीय भाग)
गायत्री के पाँच मुख

गायत्री को पञ्चमुखी कहा गया है। पञ्चमुखी शंकर की भाँति गायत्री भी पञ्चमुखी है। पुराणों में ऐसा वर्णन कई जगह आया है, जिसमें वेदमाता गायत्री को पाँच मुखों वाली कहा गया है। अधिक मुख, अधिक हाथ-पाँव वाले देवताओं का होना कुछ अटपटा-सा लगता है। इसलिये बहुधा इस सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया जाता है। चार मुख वाले ब्रह्माजी, पाँच मुख वाले शिवजी, छः मुख वाले कार्तिकेय जी बताये गये हैं। चतुर्भुजी विष्णु, अष्टभुजी दुर्गा, दशभुजी गणेश प्रसिद्ध हैं। सहस्रबाहु की हजार भुजा और इन्द्र के हजार नेत्रों का वर्णन है।

यह प्रकट है कि अन्योक्तियाँ एवं पहेलियाँ बड़ी आकर्षक एवं मनोरंजक होती हैं, इनके पूछने और उत्तर देने में रहस्योद्‌घाटन की एक विशेष महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विकास होता है। छोटे बच्चों से पहेलियाँ पूछते हैं, तो वे उस विलक्षण प्रश्न का उत्तर खोजने में अपने मस्तिष्क को दूर-दूर तक दौड़ाते हैं और उत्तर खोजने में बुद्धि पर काफी जोर देते हैं। स्वयं नहीं सूझ पड़ता, तो दूसरों से आग्रहपूर्वक पूछते हैं। जब तक उस विलक्षण पहेली का उत्तर नहीं मिल जाता, तब तक उनके मन में बड़ी उत्सुकता, बेचैनी रहती है। इस प्रकार सीधे-साधे नीरस प्रश्नों की अपेक्षा टेढ़े-मेढ़े उलझन भरे विलक्षण प्रश्न, पहेलियों के द्वारा हल करने से बालकों को बौद्धिक विकास और मनोरंजन दोनों ही प्राप्त होते हैं।

देवताओं के अधिक अंगों का रहस्य

देव-दानवों के अधिक मुख और अधिक अंग ऐसी ही रहस्यमय पहेलियाँ हैं, जिनमें तत्सम्बन्धी प्रमुख तथ्यों का रहस्य सन्निहित होता है। वह सोचता है ऐसी विचित्रता क्यों हुई ? इस प्रश्न पहेली का समाधान करने के निमित्त जब वह अन्वेषण करता है, तब पता चल जाता है कि इस बहाने कैसे महत्त्वपूर्ण तथ्य उसे प्राप्त होते हैं ? अनुभव कहता है कि यदि इस प्रकार उलझी पहेली न होती, तो शायद उनका ध्यान भी इन रहस्यमय बातों की ओर न जाता और वह उस अमूल्य जानकारी से वंचित रह जाता। पहेलियों के उत्तर बालकों को ऐसी दृढ़तापूर्वक याद हो जाते हैं कि वे भूलते नहीं। आध्यात्मिक कक्षा का विद्यार्थी भी अधिक मुख वाले देवताओं को समझने के लिये जब उत्सुक होता है, तो उसे वे अद्‌भुत बातें सहज ही विदित हो जाती हैं, जो उस दिव्य महाशक्ति से सम्बद्ध हैं।

कभी अवसर मिलेगा तो सभी देवताओं की आकृतियों के बारे में विस्तारपूर्वक पाठकों को बतायेंगे। हनुमान् जी की पूँछ, गणेशजी की सूँड़, हयग्रीव का अश्वमुख, ब्रह्माजी के चार मुख, दुर्गाजी की आठ भुजाएँ, शिवजी के तीन नेत्र, कार्तिकेयजी के छः मुख तथा इन देवताओं के मूषक, मोर, बैल, सिंह आदि वाहनों में क्या रहस्य है ? इसका विस्तृत विवेचन फिर कभी करेंगे। यहाँ तो गायत्री के पाँच मुखों के सम्बन्ध में ही प्रकाश डालना है।

गायत्री सुव्यवस्थित जीवन का, धार्मिक जीवन का अविच्छिन्न अंग है, तो उसे भली प्रकार समझना, उसके मर्म, रहस्य, तथ्य और उपकरणों को जानना भी आवश्यक है। डाक्टर, इन्जीनियर, यन्त्रविद्, बढ़ई, लुहार, रंगरेज, हलवाई, सुनार, दर्जी, कुम्हार, जुलाहा, नट, कथावाचक, अध्यापक, गायक, किसान आदि सभी वर्ग के कार्यकर्ता अपने काम की बारीकियों को जानते हैं और प्रयोग-विधि, हानि-लाभ के कारणों को समझते हैं। गायत्री-विद्या के जिज्ञासुओं और प्रयोक्ताओं को भी अपने विषय में भली प्रकार परिचित होना चाहिये; अन्यथा सफलता का क्षेत्र अवरुद्ध हो जायेगा। ऋषियों ने गायत्री के पाँच मुख बताकर हमें यह बताया है कि इस महाशक्ति के अन्तर्गत

पाँच तथ्य ऐसे हैं जिनको जानकर और उनका ठीक प्रकार अवगाहन करके संसार सागर के सभी दुस्तर दुरितों से पार हुआ जा सकता है।

गायत्री के पाँच मुख वास्तव में उसके पाँच भाग हैं- १- ॐ, २- भूः भुवः स्वः, ३- तत्सवितुर्वरेण्यम्, ४- भर्गो देवस्य धीमहि, ५- धियो यो नः प्रचोदयात्। यज्ञोपवीत के पाँच भाग हैं, तीन लड़ें, चौथी मध्य ग्रन्थियाँ, पाँचवी ब्रह्म ग्रन्थि। पाँच देवता प्रसिद्ध हैं- ॐ अर्थात् गणेश, व्याहृति अर्थात् भवानी, गायत्री का प्रथम चरण-ब्रह्मा, द्वितीय चरण-विष्णु, तृतीय चरण-महेश। इस प्रकार यह पाँच देवता गायत्री के प्रमुख शक्ति पुञ्ज कहे जा सकते हैं।

गायत्री के इन पाँच भागों में वे सन्देश छिपे हुए हैं, जो मानव जीवन की बाह्य एवं आन्तरिक समस्याओं को हल कर सकते हैं। हम क्या हैं? किस कारण जीवन धारण किये हुए हैं? हमारा लक्ष्य क्या है? अभावग्रस्त और दुःखी रहने का कारण क्या है? सांसारिक सम्पदाओं की और आत्मिक शान्ति की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है? कौन बन्धन हमें जन्म-मरण के चक्र में बाँधे हुए हैं? किस उपाय से छुटकारा मिल सकता है? अनन्त आनन्द का उद्गम कहाँ है? विश्व क्या है? संसार का और हमारा क्या सम्बन्ध है? जन्म-मृत्यु के त्रास दायक चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है? आदि जटिल प्रश्नों के सरल उत्तर उपर्युक्त पंचकों में मौजूद हैं।

गायत्री के पाँच मुख असंख्य सूक्ष्म रहस्य और तत्त्व अपने भीतर छिपाये हुए हैं। उन्हें जानने के बाद मनुष्य को इतनी तृप्ति हो जाती है कि कुछ जानने लायक बात उसको सूझ नहीं पड़ती। महर्षि उद्दालक ने उस विद्या की प्रतिष्ठा की थी, जिसे जानकर और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, वह विद्या गायत्री विद्या ही है। चार वेद और पाँचवाँ यज्ञ, यह पाँचों ही गायत्री के पाँच मुख हैं, जिनमें समस्त ज्ञान-विज्ञान और धर्म-कर्म बीज रूप में केन्द्रीभूत हो रहा है।

शरीर पाँच तत्त्वों से बना हुआ है और आत्मा के पाँच कोश हैं। मिट्टी, पानी, हवा, अग्नि और आकाश के सम्मिश्रण से देह बनती है। गायत्री के पाँच मुख बताते हैं कि यह शरीर और कुछ नहीं केवल पंचभूतों का, जड़ परमाणुओं का सम्मिश्रण मात्र है। यह हमारे लिये अत्यन्त उपयोगी औजार, सेवक एवं वाहन है। अपने आप को शरीर समझ बैठना भारी भूल है। इस भूल को ही माया या अविद्या कहते हैं। शरीर का एवं संसार का वास्तविक रूप समझ लेने पर जीव मोह-निद्रा से जाग उठता है और संचय, स्वामित्व एवं भोगों की बाल-क्रीड़ा से मुँह मोड़कर आत्म-कल्याण की ओर लगता है। पाँचों मुखों का एक सन्देश यह है- पंच तत्त्वों से बने पदार्थों को केवल उपयोग की वस्तु समझें, उनमें लिप्त, तन्मय, आसक्त एवं मोहग्रस्त न हों।

गायत्री के पाँच मुखों से पञ्चकोशों का संकेत

पाँच मुखों का दूसरा संकेत आत्मा के कोशों की ओर है। जैसे शरीर से ऊपर बनियान, कुर्ता, बासकट, कोट और ओवरकोट एक के ऊपर एक पहन लेते हैं, वैसे ही आत्मा के ऊपर यह पाँच आवरण चढ़े हुए हैं। इन पाँचों को १-अन्नमय कोश, २-प्राणमय कोश, ३- मनोमय कोश, ४- विज्ञानमय कोश, ५-आनन्दमय कोश कहते हैं। इन पाँच परकोटों के किले में जीव बन्दी बना हुआ है। जब इसके फाटक खुल जाते हैं, तो आत्मा बन्धनमुक्त हो जाती है।

यों तो गायत्री के पाँच मुखों में अनेक पंचकों के अद्भुत रहस्य छिपे हुए हैं, पर इन सबकी चर्चा इस पुस्तक में नहीं हो सकती। यहाँ तो हमें इन पाँचों कोशों पर ही कुछ प्रकाश डालना है। कोश, खजाने को भी कहते हैं। आत्मा के पास यह पाँच खजाने हैं, इनमें से हर एक में बहुमूल्य सम्पदायें भरी पड़ी हैं। जैसे धन-कुबेरों के यहाँ नोट रखने की, चाँदी रखने की, सोना रखने की, जवाहरात रखने की, हुण्डी-चैक आदि रखने की जगह अलग-अलग होती है, वैसे ही आत्मा के पास भी पाँच खजाने हैं। सिद्ध किये हुए पाँच कोशों के द्वारा ऐसी अगणित सम्पदायें, सुख-सुविधायें मिलती हैं, जिनको पाकर इसी जीवन में स्वर्गीय आनन्द की उपलब्धि होती है। योगी लोग उसी आनन्द के लिये तप करते हैं और देवता लोग उसी आनन्द के लिए नर-तन धारण करने को तरसते रहते हैं।

कोशों का सदुपयोग अनन्त आनन्द का उत्पादक है और उनका दुरुपयोग पाँच परकोटों वाले कैदखाने के रूप में बन्धनकारक बन जाता है।

पंचकोशों का उपहार प्रभु ने हमारी अनन्त सुख-सुविधाओं के लिये दिया है। यह पाँच सवारियाँ हैं, जो अनिष्ट रूपी शत्रुओं का विनाश और आत्म संरक्षण करने के लिये अतीव उपयोगी हैं। ये पाँच शक्तिशाली सेवक हैं, जो हर घड़ी आज्ञा पालन के लिये प्रस्तुत रहते हैं। इन पाँच खजानों में अटूट सम्पदा भरी पड़ी है। इस पंचामृत का ऐसा स्वाद है कि जिसकी बूँद चखने के लिये मुक्त हुई आत्मायें लौट-लौटकर नर-तन में अवतार लेती रहती हैं।

बिगड़ा हुआ अमृत विष हो जाता है, स्वामिभक्त कुत्ता पागल हो जाने पर अपने पालने वालों को ही संकट में डाल देता है। सड़ा हुआ अन्न विष्ठा कहलाता है। जीवन का आधार रक्त जब सड़ने लगता है, तो दुर्गन्धित पीव बनकर वेदनाकार फोड़े के रूप में प्रकट होता है। पंचकोशों का विकृत रूप भी हमारे लिये ऐसा ही दु:खदायी होता है। नाना प्रकार के पाप-तापों, क्लेशों, कलहों, दु:खों, दुर्भाग्यों, चिन्ता-शोकों, अभाव दारिद्र्य, पीड़ा और वेदनाओं में तड़पते हुए मानव इस विकृति के ही शिकार हो रहे हैं। सुन्दरता और दृष्टि-ज्योति के केन्द्र, नेत्रों में जब विकृति आ जाती है, दु:खने लगते हैं, तो सुन्दरता एक ओर रही, उलटी उन पर चिथड़ों की पट्टी बँध जाती है, सुन्दर दृश्य देखकर मनोरंजन करना तो दूर, दर्द के मारे मछली की तरह तड़पना पड़ता है। आनन्द के उद्‌गम पाँच कोशों की विकृति ही जीवन को दु:खी बनाती है, अन्यथा ईश्वर का राजकुमार, जिस दिव्य रथ पर बैठकर जिस नन्दन वन में आया है, उसमें आनन्द ही आनन्द मिलना चाहिये। दु:ख, दुर्भाग्य का कारण इस विकृति के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकता।

पाँच तत्त्व, पाँच कोश, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच उपप्राण, पाँच तन्मात्रायें, पाँच यज्ञ, पाँच देव, पाँच योग, पाँच अग्नि, पाँच अंग, पाँच वर्ण, पाँच स्थिति, पाँच अवस्था, पाँच शूल, पाँच क्लेश आदि अनेक पंचक गायत्री के पाँच मुखों से सम्बन्धित हैं। इनको सिद्ध करने वाले पुरुषार्थी व्यक्ति ऋषि, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि, देवर्षि कहलाते हैं। आत्मोन्नति की पाँच कक्षाएँ हैं। पाँच भूमिकायें हैं। उनमें से जो जिस कक्षा की भूमिका को उत्तीर्ण कर लेता है, वह उसी श्रेणी का ऋषि बन जाता है। किसी समय भारत भूमि ऋषियों की भूमि थी। यहाँ ऋषि से कम तो कोई था ही नहीं, पर आज तो लोगों ने उस पंचायत का तिरस्कार कर रखा है और बुरी तरह प्रपंच में फँसकर पंच क्लेशों से पीड़ित हो रहे हैं।

अनन्त आनन्द की साधना

तैत्तिरीयोपनिषद् की तृतीय वल्ली (भृगु वल्ली) में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण आख्यायिका आती है। उसमें पञ्चकोशों की साधना पर मार्मिक प्रकाश डाला गया है।

वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता के निकट जाकर प्रार्थना की कि **'अधीहि भगवो ब्रह्मेति'** अर्थात् हे भगवन्! मुझे ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दीजिये।

वरुण ने उत्तर दिया- **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि, जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति'** अर्थात् - हे भृगु ! जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें विलीन हो जाते हैं, तू उस ब्रह्म की इच्छा कर।

पिता के आदेशानुसार पुत्र ने, उस ब्रह्म को जानने के लिये तप आरम्भ कर दिया। दीर्घकालीन तप के उपरान्त भृगु ने अन्नमय जगत् (स्थूल संसार) में फैली ब्रह्म विभूति को जान लिया और वह पिता के पास पहुँचा।

वरुण ने भृगु से फिर कहा- **'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति'** अर्थात् हे पुत्र ! तू तप करके ब्रह्म को जानने का प्रयास कर, क्योंकि ब्रह्म को तप द्वारा ही जाना जाता है।

भृगु ने फिर तपस्या की और "प्राणायामं जगत्" की ब्रह्म विभूति को जान लिया। तत्पश्चात् पुन: वह पिता के पास पहुँचा। वरुण ने फिर उसे तप द्वारा ब्रह्म को जानने का उपदेश दिया।

पुत्र ने पुन: कठोर तप किया और 'मनोमय जगत्' की ब्रह्म विभूति का अभिज्ञान प्राप्त कर लिया। पिता ने

उसे फिर तप में लगा दिया। अब उसने विज्ञानमय जगत् की ईश्वरीय विभूति को प्राप्त कर लिया, अन्त में पाँचवीं बार भी पिता ने उसे तप में ही प्रवृत्त किया और भृगु ने उस आनन्दमयी विभूति को भी उपलब्ध कर लिया।

'आनन्दमय' जगत् की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचने से किस प्रकार पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, इसका वर्णन करते हुए 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की तृतीय वल्ली के छठवे मन्त्र में बताया गया है कि-

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि, जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषां भार्गवी वारुणी विद्या। परमेव्योमन् प्रतिष्ठिता।"

अर्थात् उस (भृगु) ने जाना कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द में ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं।

उपनिषद्कार ने उपर्युक्त आख्यायिका में ब्रह्मानन्द, परमानन्द, आत्मानन्द में ही ब्रह्मज्ञान का अन्तिम लक्ष्य बताया है। आनन्दमय जगत् के कोश में पहुँचने के लिये तप करने का संकेत किया है। कोशों की सीढ़ियाँ जैसे-जैसे पार होती जाती हैं वैसे ही वैसे ब्रह्म की उपलब्धि निकट आती जाती है। आगे बताया कि-

'स य एवंवित् अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतमानन्द-मयमात्मानमुपसंक्रामति। इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम-गायन्नास्ते।

अर्थात्- इस प्रकार जो मनुष्य ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है वह इस अन्नमय कोश को पार कर, इस प्राणमय कोश को पार कर, इस मनोमय कोश को पार कर, इस विज्ञानमय कोश को पार कर, इस आनन्दमय कोश को पार कर इच्छानुसार भोगवाला और इच्छानुसार रूपवाला हो जाता है तथा इन सब लोकों में विचरता हुआ इस साम का गायन करता रहता है।

जीवन इसलिये है कि ब्रह्मरूपी आनन्द को प्राप्त किया जाए, न कि इसलिये कि पग-पग पर अभाग्य, दु:ख-दारिद्र्य और दुर्भाग्य का अनुभव किया जाए। जीवन को लोग सांसारिक सुविधाओं के संचय में लगाते हैं, पर उनके भोगने से पूर्व ही ऐसी समस्यायें उठ खड़ी होती हैं कि वह अभिलषित सुख जब प्राप्त होता है, तो उसमें कुछ सुख नहीं रह जाता, सारा प्रयत्न मृगतृष्णावत् व्यर्थ गया मालूम देता है।

संसार के पदार्थों में जितना सुख है उससे अधिक गुना सुख आत्मिक उन्नति में है। स्वस्थ पंच कोशों से सम्पन्न आत्मा जब अपने वास्तविक स्वरूप में पहुँचता है तो उसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। यह अनुभव होता है कि ब्राह्मी स्थिति का क्या मूल्य और क्या महत्त्व है? संसार में क्षुद्र सुखों की अपेक्षा असंख्य गुने सुख आत्मानन्द के लिये अधिकतम त्याग एवं तप करने में किसी प्रकार का संकोच क्यों हो? विज्ञ पुरुष ऐसा करते भी हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगु वल्ली में आनन्द की मीमांसा करते हुए कहा गया है कि कोई मनुष्य यदि पूर्ण स्वस्थ, सुशिक्षित, गुणवान्, सामर्थ्यवान्, सौभाग्यवान् एवं समस्त संसार की धन-सम्पत्ति का स्वामी हो, तो उसे जो आनन्द हो सकता है, उसे एक मानुषी आनन्द कहते हैं। उससे करोड़ों-अरबों गुने आनन्द को ब्रह्मानन्द कहते हैं। ब्रह्मानन्द का ऐसा ही वर्णन शतपथ ब्राह्मण १४/७/१/३१ में तथा बृहदारण्यक उपनिषद् ४/३/३३ में भी आया है।

पञ्चमुखी गायत्री की साधना, पञ्च कोशों की साधना है। एक-एक कोश की एक-एक ब्रह्म-विभूति है। ये ब्रह्म विभूतियाँ वे सीढ़ी हैं, जो साधक को अपना सुखास्वादन कराती हुई अगली सीढ़ी पर चढ़ने के लिये अग्रसर करती हैं।

जीवन जैसी बहुमूल्य सम्पदा कीट-पतंगों की तरह व्यतीत करने के लिये नहीं है। चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करते हुए नर-तन बड़ी कठिनाई से मिलता है। इसको तुच्छ स्वार्थ में नहीं, परम स्वार्थ में, परमार्थ में लगाना चाहिये। गायत्री साधना ऐसा परमार्थ है, जो हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को सुख-शान्ति और समृद्धि से भर देता है।

अगले पृष्ठों पर वेदमाता, जगज्जननी आदिशक्ति गायत्री के पाँच मुखों की उपासना का, आत्मा के पाँच कोशों की साधना का विधान बताया जाएगा। भृगु के समान जो इन तपश्चर्याओं को करेंगे, वे ही ब्रह्म प्राप्ति के अधिकारी होंगे।

यदि विचार किया जाए, तो यह आश्चर्य और खेद का विषय है कि ऐसा साधन सुलभ होने पर भी मनुष्य केवल पेट भरने और निकृष्ट भोग करने की स्थिति में ही पड़ा रहे अथवा इससे भी नीचे उतर कर छल, कपट, चोरी, हत्या आदि जैसे जघन्य कृत्य करके नरक वास करने के दण्ड का भागी बन जाय। ईश्वर ने हमको इस कार्य भूमि में मुख्यतः इसलिये भेजा है कि हम सत्कर्म और सात्त्विकी साधना तथा उपासना करके दैवी-मार्ग पर अग्रसर हों और जीवन को उच्चतर बनाते हुए अपने महान् लक्ष्य को प्राप्त करें। दैवी मार्ग को अपनाने और जीवन को शुद्ध, पवित्र, परोपकारमय बनाने में ऐसी कोई बात नहीं है, जो हमारी प्रगति में बाधा स्वरूप सिद्ध हो। गरीब से गरीब और सांसारिक साधनों से रहित व्यक्ति भी इसको अपना सकता है और गायत्री उपासना तथा सेवामय जीवन के द्वारा निरन्तर ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ उच्चतम शिखर तक पहुँच सकता है। इसके लिये मुख्य आवश्यकता श्रद्धा, लगन, दृढ़ता व आत्म-विश्वास की ही है, जिसको मनुष्य अभ्यास द्वारा प्राप्त कर सकता है।

गायत्री मञ्जरी

जिस पुस्तक की व्याख्या स्वरूप यह पुस्तक लिखी गयी है, उस 'गायत्री मञ्जरी' को हिन्दी टीका सहित नीचे दिया जा रहा है-

एकदा तु महादेवं कैलाशगिरिसंस्थितम्।
पप्रच्छ पार्वती देवी वन्द्या विबुधमण्डलैः ॥१॥

एक बार कैलाश पर्वत पर विराजमान देवताओं के पूज्य महादेवजी से वन्दनीया पार्वती ने पूछा -

कतमं योगमासीनो योगेश त्वमुपाससे।
येन हि परमां सिद्धिं प्राप्नुवान् जगदीश्वर ॥२॥

हे संसार के स्वामी योगेश्वर महादेव ! आप किसके योग की उपासना करते हैं ? जिससे आप परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

श्रुत्वा तु पार्वती वाचं मधुसिक्तां श्रुतिप्रियाम्।
समुवाच महादेवो विश्वकल्याणकारकः ॥३॥

पार्वती की कर्णप्रिय एवं मधुर वाणी को सुनकर, विश्व का कल्याण करने वाले महादेवजी बोले-

महद्रहस्यं तद्गुप्तं यत्तु पृष्टं त्वया प्रिये।
तथापि कथयिष्यामि स्नेहात्तत्त्वामहं समम् ॥४॥

हे पार्वती ! तुमने बहुत ही गुप्त और गूढ़ रहस्य के विषय को पूछा है, फिर भी स्नेह के कारण वह सारा रहस्य मैं तुमसे कहूँगा।

गायत्री वेद मातास्ति साद्या शक्तिर्मता भुवि।
जगतां जननी चैव तामुपासेऽहमेव हि ॥५॥

गायत्री वेदमाता है, पृथ्वी पर वह आद्यशक्ति कहलाती है और वह ही संसार की माता है। मैं उसी की उपासना करता हूँ।

यौगिकानां समस्तानां साधनानां तु हे प्रिये।
गायत्र्येव मता लोके मूलाधारो विदांवरैः ॥६॥

हे प्रिये ! समस्त यौगिक साधनाओं का मूलाधार विद्वानों ने गायत्री को ही माना है।

अति रहस्यमय्येषा गायत्री तु दश भुजा।
लोकेऽति राजते पंच धारयन्ति मुखानि तु ॥७ ॥

दस भुजाओं वाली अत्यन्त रहस्यमयी यह गायत्री संसार में पाँच मुखों को धारण करती हुई अत्यन्त शोभित होती हैं।

अति गूढानि संश्रुत्य वचनानि शिवस्य च।
अति संवृद्ध जिज्ञासा शिवमूचे तु पार्वती ॥८ ॥

शिव के अत्यन्त गूढ़ वचनों को सुनकर अतिशय जिज्ञासा वाली पार्वती ने शिव से पछा -

पंचास्य दशबाहूनामेतेषां प्राणवल्लभ।
कृत्वा कृपां कृपालो त्वं किं रहस्यं तु मे वद ॥९ ॥

हे प्राणवल्लभ ! हे कृपालो ! कृपा करके इन पाँच मुख और दस भुजाओं का रहस्य मुझे बतलाइये।

श्रुत्वा त्वेतन्महादेवः पार्वतीवचनं मृदु।
तस्याः शंकामपाकुर्वन् प्रत्युवाच निजां प्रियाम् ॥१० ॥

पार्वती के इन कोमल वचनों को सुनकर महादेव जी पार्वती की शंका का समाधान करते हुए बोले-

गायत्र्यास्तु महाशक्तिर्विद्यते या हि भूतले।
अनन्य भावतो ह्यस्मिन्नोतप्रोतोऽस्ति चात्मनि ॥११ ।

पृथ्वी पर गायत्री की जो महान् शक्ति है, वह इस आत्मा में अनन्त भाव से ओत-प्रोत हो रही है।

बिभर्ति पंचावरणान् जीवः कोशास्तु ते मताः ।
मुखानि पंच गायत्र्यास्तानेव वेद पार्वति ॥१२ ॥

जीव पंच आवरणों को धारण करता है, वे ही कोश कहलाते हैं। हे पार्वती ! उन्हीं को गायत्री के पाँच मुख कहते हैं।

विज्ञानमयान्नमय - प्राणमय - मनोमयाः ।
तथानन्दमयश्चैव पंच कोशाः प्रकीर्तिताः ॥१३ ॥

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये पाँच कोश कहलाते हैं।

एष्वेव कोशकोशेषु ह्यनन्ता ऋद्धि सिद्धयः ।
गुप्ता आसाद्य या जीवो धन्यत्वमधिगच्छति ॥१४ ॥

इन्हीं कोशरूपी भण्डारों में अनन्त ऋद्धि-सिद्धियाँ छिपी हुई हैं, जिन्हें पाकर जीव धन्य हो जाता है।

यस्तु योगीश्वरो ह्येतान् पंच कोशान्नु वेधते।
स भवसागरं तीर्त्वा बन्धनेभ्यो विमुच्यते ॥१५ ॥

जो योगी इन पाँच कोशों को बेधता है, वह भव सागर को पार कर बन्धनों से छूट जाता है।

गुप्तं रहस्यमेतेषां कोषाणां योऽवगच्छति।
परमां गतिमाप्नोति स एव नात्र संशयः ॥१६ ॥

जो इन कोशों के गुप्त रहस्य को जानता है, वह निश्चय ही परम गति को प्राप्त करता है।

लोकानां तु शरीराणि ह्यन्नादेव भवन्ति नु।
उपत्यकासु स्वास्थ्यं च निर्भरं वर्तते सदा ॥१७ ॥

मनुष्यों के शरीर अन्न से बनते हैं। उपत्यकाओं पर स्वास्थ्य निर्भर रहता है।

आसनेनोपवासेन तत्त्व शुद्ध्या तपस्यया।
चैवान्नमयकोशस्य संशुद्धिरभिजायते ॥१८ ॥

आसन, उपवास, तत्त्व शुद्धि और तपस्या से अन्नमय कोश की शुद्धि होती है।

ऐश्वर्यं पुरुषार्थश्च तेज ओजो यशस्तथा।
प्राणशक्त्या तु वर्धन्ते लोकानामित्यसंशयम् ॥१९ ॥

प्राण शक्ति से मनुष्य का ऐश्वर्य, पुरुषार्थ, तेज, ओज एवं यश निश्चय ही बढ़ते हैं।

पंचभिस्तु महाप्राणैर्लघुप्राणैश्च पंचभिः।
एतैः प्राणमयः कोशो जातो दशभिरुत्तमः ॥२० ॥

पाँच महा प्राण और पाँच लघु प्राण, इन दस से उत्तम प्राणमय कोश बना है।

बन्धेन मुद्रया चैव प्राणायामेन चैव हि।
एष प्राणमयः कोशो यतमानं तु सिद्ध्यति ॥२१ ॥

बन्ध, मुद्रा और प्राणायाम द्वारा यत्नशील पुरुष को यह प्राणमय कोश सिद्ध होता है।

चेतनाया हि केन्द्रन्तु मनुष्याणां मनोमतम्।
जायते महतीत्वन्तः शक्तिस्तस्मिन् वशंगते ॥२२ ॥

मनुष्यों में चेतना का केन्द्र मन माना गया है। उसके वश में होने से महान् अन्तःशक्ति पैदा होती है।

ध्यान - त्राटक - तन्मात्राजपानां साधनैर्ननु।
भवत्युज्ज्वलः कोशः पार्वत्येष मनोमयः ॥२३ ॥

ध्यान, त्राटक, तन्मात्रा और जप इनकी साधना करने से हे पार्वती ! मनोमय कोश अत्यन्त उज्ज्वल हो जाता है, यह निश्चय है।

यथावत् पूर्णतो ज्ञानं संसारस्य च स्वस्य च।
नूनमित्येव विज्ञानं प्रोक्तं विज्ञानवेत्तृभिः ॥२४ ॥

संसार का और अपना ठीक-ठीक और पूरा-पूरा ज्ञान होने को ही विज्ञानवेत्ताओं ने विज्ञान कहा है।

साधना सोऽहमित्येषा तथा वात्मानुभूतयः।
स्वराणां संयमश्चैव ग्रन्थिभेदस्तथैव च ॥२५ ॥
एषां संसिद्धिभिर्नूनं यतमानस्य ह्यात्मनि।
नु विज्ञानमयः कोशः प्रिये याति प्रबुद्धताम् ॥२६ ॥

सोऽहं की साधना, आत्मानुभूति, स्वरों का संयम और ग्रन्थि-भेद इनकी सिद्धि से यत्नशील की आत्मा में हे प्रिये ! विज्ञानमय कोश प्रबुद्ध होता है।

आनन्दावरणोन्नत्यात्यन्तशांति- प्रदायिका।
तुरीयावस्थितिर्लोके साधकं त्वधिगच्छति ॥२७ ॥

आनन्द-आवरण की उन्नति से अत्यन्त शान्ति को देने वाली तुरीयावस्था, साधक को संसार में प्राप्त होती है।

नाद विन्दु कलानां तु पूर्ण साधनया खलु।
नन्वानन्दमयः कोशः साधके हि प्रबुद्ध्यते ॥२८ ॥

नाद, बिन्दु और कला की पूर्ण साधना से साधक में आनन्दमय कोश जाग्रत् होता है।

भूलोकस्यास्य गायत्री कामधेनुर्मता बुधैः।
लोक आश्रयणेनामूं सर्वमेवाधिगच्छति ॥२९ ॥

विद्वानों ने गायत्री को भूलोक की कामधेनु माना है। इसका आश्रय लेकर सब कुछ प्राप्त कर लिया जाता है।

पंचास्या यास्तु गायत्र्याः विद्यां यस्त्ववगच्छति।
पंचतत्त्व प्रपंचात्तु स नूनं हि प्रमुच्यते ।।३० ।।

पाँच मुख वाली गायत्री-विद्या को जो जानता है, वह निश्चय ही पंच तत्त्वों के प्रपंच से छूट जाता है।

दशभुजास्तु गायत्र्याः प्रसिद्धा भुवनेषु याः ।
पंच शूल महाशूलान्येताः संकेतयन्ति हि ।।३१ ।।

संसार में गायत्री की दस भुजायें प्रसिद्ध हैं, ये भुजायें पाँच शूल और पाँच महाशूलों की ओर संकेत करती हैं।

दशभुजानामेतासां यो रहस्यं तु वेत्ति यं सः ।
त्रासं शूलमहाशूलानां ना नैवावगच्छति ।।३२ ।।

जो मनुष्य इन दस भुजाओं के रहस्य को जानता है, वह शूल और महाशूल के भय को नहीं पाता।

दृष्टिस्तु दोषसंयुक्ता परेषामवलम्बनम्।
भयञ्च क्षुद्रता ऽसावधानता स्वार्थयुक्तता ।।३३ ।।
अविवेकस्तथावेशस्तृष्णालस्यं तथैव च।
एतानि दश शूलानि शूलदानि भवन्ति हि ।।३४ ।।

दोषयुक्त दृष्टि, परावलम्बन, भय, क्षुद्रता, असावधानी, स्वार्थपरता, अविवेक, क्रोध, आलस्य, तृष्णा- ये दुःखदायी दस शूल हैं।

निजैर्दशभुजैर्नूनं शूलान्येतानि तु दश।
संहरते हि गायत्री लोककल्याणकारिणी ।।३५ ।।

संसार का कल्याण करने वाली गायत्री अपनी दस भुजाओं से इन दस शूलों का संहार करती है।

कलौ युगे मनुष्याणां शरीराणीति पार्वति।
पृथ्वी तत्त्व प्रधानानि जानास्येव भवन्ति हि ।।३६ ।।

हे पार्वती ! कलियुग के मनुष्यों के शरीर पृथ्वी तत्त्व प्रधान होते हैं, यह तो तुम जानती ही हो।

सूक्ष्मतत्त्व प्रधानान्ययुगोद्भूत नृणामतः ।
सिद्धीनां तपसामेते न भवन्त्यधिकारिणः ।।३७ ।।

इसलिये अन्य युग में पैदा हुए सूक्ष्म तत्त्व प्रधान मनुष्यों की सिद्धि और तप के ये अधिकारी नहीं होते।

पंचांग योग संसिद्ध्या गायत्र्यास्तु तथापि ते।
तद्युगानां सर्वश्रेष्ठां सिद्धिं संप्राप्नुवन्ति हि ।।३८ ।।

फिर भी वे गायत्री के पंचांग योग की सिद्धि द्वारा, उन गुणों की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

गायत्र्या वाममार्गीयं ज्ञेयमत्युच्चसाधकैः ।
उग्रं प्रचण्डमत्यन्तं वर्तते तन्त्र साधनम् ।।३९ ।।

उत्कृष्ट साधकों द्वारा जानने योग्य गायत्री का वाममार्गी तन्त्र साधन अत्यन्त उग्र और प्रचण्ड है।

अतएव तु तद्गुप्तं रक्षितं हि विचक्षणैः ।
स्याद्यतो दुरुपयोगो न कुपात्रैः कथंचन ।।४० ।।

इसलिये विद्वानों ने इसे गुप्त रक्खा है, जिससे कुपात्रों द्वारा उसका किसी प्रकार दुरुपयोग न हो।

गुरुणैव प्रिये विद्या तत्त्वं हृदि प्रकाश्यते।
गुरुं विना तु सा विद्या सर्वथा निष्फला भवेत् ।।४१ ।।

हे प्रिये ! विद्या का तत्त्व गुरु के द्वारा ही हृदय में प्रकाशित किया जाता है । बिना गुरु के वह विद्या निष्फल हो जाती है ।

गायत्री तु पराविद्या तत्फलावाप्तये गुरुः ।
साधकेन विधातव्यो गायत्री- तत्त्व पंडितः ॥४२ ॥

गायत्री परा विद्या है, अतः उसके फल की प्राप्ति के लिए साधक को ऐसा गुरु करना चाहिये, जो गायत्री तत्त्व का ज्ञाता हो ।

गायत्रीं यो विजानाति सर्वं जानाति स ननु ।
जानातीमां न यस्तस्य सर्वा विद्यास्तु निष्फलाः ॥४३ ॥

जो गायत्री को जानता है, वह सब कुछ जानता है । जो इसको नहीं जानता , उसकी सब विद्या निष्फल है ।

गायत्र्येवतपो योगः साधनं ध्यानमुच्यते ।
सिद्धीनां सा मता माता नातः किंचित् बृहत्तरम् ॥४४ ॥

गायत्री ही तप है, योग है, साधन है, ध्यान है और वह ही सिद्धियों की माता मानी गयी है । इस गायत्री से बढ़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है ।

गायत्री साधना लोके न कस्यापि कदापि हि ।
याति निष्फलतामेतत् ध्रुवं सत्यं हि भूतले ॥४५ ॥

कभी भी किसी की गायत्री साधना संसार में निष्फल नहीं जाती, यह पृथ्वी पर ध्रुव सत्य है ।

गुप्त मुक्तं रहस्यं यत् पार्वति त्वां पतिव्रताम् ।
प्राप्स्यन्ति परमां सिद्धिं ज्ञास्यन्त्येतत् तु ये जनाः ॥४६ ॥

हे परम पतिव्रता पार्वती ! मैंने जो यह गुप्त रहस्य कहा है, जो लोग इसे जानेंगे, वे परम सिद्धि को प्राप्त होंगे ।

गायत्री लहरी के इन ४६ श्लोकों में भारतीय अध्यात्म-विद्या का जो सारांश सामान्य पाठकों के हितार्थ प्रकट किया गया है, उसका यदि भली प्रकार मनन किया जाए और उससे जो निष्कर्ष निकले, तदनुसार आचरण किया जाए, तो मनुष्य निःसंदेह इस लोक और परलोक के सभी कष्टों से बचकर सत्पुरुषों को मिलने वाली गति का अधिकारी बन सकता है । इसमें मानव शरीर, मन तथा आत्मा सम्बन्धी जितने भी तथ्य प्रकट किये गये हैं, वे सब तर्क युक्त, बुद्धिसंगत तथा अनुभव द्वारा भी सब प्रकार से उपयोगी हैं । यदि एक ज्ञानशून्य मनुष्य अपने को केवल शरीर रूप ही समझता है और केवल उसी के पालन, पोषण, भोग, सुरक्षा आदि की चिन्ता में व्यस्त रहता है, तो यही कहना चाहिये कि वह एक प्रकार से पशुओं जैसा जीवन व्यतीत कर रहा है । यद्यपि ऊपर से वह शरीर अस्थि, चर्ममय ही प्रतीत होता है, जिसमें मल, मूत्र, रक्त, चर्बी जैसे जुगुप्सा उत्पन्न करने वाले पदार्थ भरे हैं, पर इसके भीतर मन, बुद्धि, अन्तःकरण जैसे महान् तत्त्व भी अवस्थित हैं, जिनको विकसित करके मनुष्य पशु श्रेणी से ऊपर उठकर देव श्रेणी और स्वयं ईश्वर के समकक्ष स्थिति तक पहुँच सकता है । गायत्री लहरी में इन्हीं तत्त्वों की जानकारी और उनके विकास की साधना का सूत्र रूप में वर्णन किया गया है ।

शरीर के जिस रूप को हम बाहर से नेत्रों द्वारा देखते हैं, वह 'अन्नमय कोश' के अन्तर्गत है । इसको स्थिर रखने के लिये ही मनुष्य खाता, पीता, सोता और मलमूत्र विसर्जित करता है, पर अधिकांश मनुष्य इसके सम्बन्ध में यह भी नहीं जानते कि इसे किस प्रकार से स्वस्थ, पूर्ण कार्यक्षम, दीर्घजीवी रखा जा सकता है । अन्नमय कोश के भीतर उससे अपेक्षाकृत सूक्ष्म 'प्राणमय कोश' है, जिसका साधन और विकास करने के विभिन्न शारीरिक अंगों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है और उसकी शक्ति को बहुत अधिक बढ़ाया जा सकता है । 'प्राणमय कोश' से सूक्ष्म 'मनोमय कोश' है जिसकी साधना से मानसिक शक्तियों का केन्द्रीकरण करके अनेक अद्‌भुत कार्य किये

जा सकते हैं। इसकी मुख्य साधन विधि ध्यान बतलाई गयी है, जिससे अन्य व्यक्तियों को वश में करना, दूरवर्ती घटनाओं को जानना, भूत-भविष्य सम्बन्धी ज्ञान आदि शक्तियों की प्राप्ति होती है।

'मनोमय कोश' के पश्चात् उससे भी सूक्ष्म 'विज्ञानमय कोश' बतलाया गया है, जिससे मनुष्य आत्मा के क्षेत्र में पहुँच जाता है और जीव को बन्धन में रखने वाली तीनों ग्रन्थियों को खोल सकता है।अन्त में 'आनन्दमय कोश' आता है जिससे पञ्चतत्त्वों से बना मनुष्य परमात्मा के निकट पहुँचने लगता है और समाधि का अभ्यास करके अपने मूल स्वरूप में स्थित हो सकता है।

इस प्रकार गायत्री मञ्जरी के थोड़े से श्लोकों में ही योग-शास्त्र का अत्यन्त गम्भीर ज्ञान सूत्र रूप से बता दिया गया है। इसे गायत्री योग के छिपे हुए रत्न-भण्डार की चाबी कहा जा सकता है। इसके एक-एक श्लोक की विस्तृत व्याख्या की जाए, तो उस पर विस्तृत प्रकाश पड़ सकता है। गायत्री महाविज्ञान का तीसरा खण्ड इन ४६ श्लोकों की विवेचना के रूप में लिखा गया है। इससे अधिक प्रकाश प्राप्त करके योग मार्ग के पथिक अपना मार्ग सरल कर सकते हैं।

अन्नमय कोश और उसकी साधना

गायत्री के पाँच मुखों में, आत्मा के पाँच कोशों में प्रथम कोश का नाम अन्नमय कोश है। अन्न का सात्त्विक अर्थ है- पृथ्वी का रस। पृथ्वी से जल, अनाज, फल, तरकारी, घास आदि पैदा होते हैं। उन्हीं से दूध, घी, मांस आदि भी बनते हैं। यह सब अन्न कहे जाते हैं। इन्हीं के द्वारा रज, वीर्य बनते हैं और इन्हीं से इस शरीर का निर्माण होता है। अन्न द्वारा ही देह बढ़ती है, पुष्ट होती है तथा अन्त में अन्नरूप पृथ्वी में ही भस्म होकर सड़-गलकर मिल जाती है, अन्न से उत्पन्न होने वाला और उसी में जाने वाला यह देह प्रधानता के कारण 'अन्नमय कोश' कहा जाता है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि हाड़-मास का जो यह पुतला दिखाई देता है, वह अन्नमय कोश की अधीनता में है, पर उसे ही अन्नमय कोश न समझ लेना चाहिये। मृत्यु हो जाने पर देह तो नष्ट हो जाती है, पर अन्नमय कोश नष्ट नहीं होता। वह जीव के साथ रहता है। बिना शरीर के भी जीव भूतयोनि में या स्वर्ग-नरक में उन भूख-प्यास, सर्दी, गर्मी, चोट, दर्द आदि को सहता है जो स्थूल शरीर से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार उसे, उन इन्द्रिय भोगों की चाह रहती है, जो शरीर द्वारा भोगे जाने सम्भव हैं। भूतों की इच्छाएँ वैसी ही आहार-विहार की रहती हैं, जैसी शरीर- धारी मनुष्यों की होती हैं। इससे प्रकट है कि अन्नमय कोश शरीर का संचालक, कारण, उत्पादक, उपभोक्ता आदि तो है पर, उससे पृथक् भी है। इसे सूक्ष्म शरीर भी कहा जा सकता है।

रोग हो जाने पर डाक्टर, वैद्य, उपचार, औषधि, इन्जेक्शन, शल्य क्रिया आदि द्वारा उसे ठीक करते हैं। चिकित्सा पद्धतियों की पहुँच स्थूल शरीर तक ही है। इसलिये वह केवल उन्हीं रोगों को दूर कर पाते हैं, जो कि हाड़, मांस, त्वचा आदि के विकारों के कारण उत्पन्न होते हैं। परन्तु कितने ही रोग ऐसे भी हैं, जो अन्नमय कोश की विकृति के कारण उत्पन्न होते हैं, उन्हें शारीरिक चिकित्सक लोग ठीक करने में प्राय: असमर्थ ही रहते हैं।

अन्नमयकोश की स्थिति के अनुसार शरीर का ढाँचा और रंग रूप बनता है। उसी के अनुसार इन्द्रियों की शक्तियाँ होती हैं। बालक जन्म से ही कितनी ही शारीरिक त्रुटियाँ, अपूर्णतायें या विशेषतायें लेकर आता है। किसी की देह आरम्भ में ही मोटी, किसी की जन्म से ही पतली होती है। आँखों की दृष्टि, वाणी की विशेषता, मस्तिष्क का भौंड़ा या तीव्र होना, किसी विशेष अंग का निर्बल या न्यून होना, अन्नमय कोश की स्थिति के अनुरूप होता है। माता-पिता के रज-वीर्य का भी उसमें थोड़ा प्रभाव होता है, पर विशेषता अपने कोश की ही रहती है। कितने ही बालक माता-पिता की अपेक्षा अनेक बातों में बहुत भिन्न पाये जाते हैं।

शरीर अन्न से बनता और बढ़ता है। अन्न के भीतर सूक्ष्म जीवन तत्त्व रहता है, वह अन्नमय कोश को बनाता है। जैसे शरीर में पाँच कोश हैं, वैसे ही अन्न में तीन कोश हैं- स्थूल, सूक्ष्म, कारण। स्थूल में स्वाद और भार, सूक्ष्म में प्रभाव और गुण तथा कारण के कोश में अन्न का संस्कार रहता है। जिह्वा से केवल भोजन का स्वाद मालूम होता है। पेट उसके बोझ का अनुभव करता है, रस में उसकी मादकता, उष्णता आदि प्रकट होती है।

अन्नमय कोश पर उसका संस्कार जमता है । मांस आदि अनेक अभक्ष्य पदार्थ ऐसे हैं, जो जीभ को स्वादिष्ट लगते हैं, देह को मोटा बनाने में भी सहायक होते हैं, पर उनमें सूक्ष्म संस्कार ऐसा होता है, जो अन्नमय कोश को विकृत कर देता है और उसका परिणाम अदृश्य रूप से आकस्मिक रोगों के रूप में तथा जन्म-जन्मान्तर तक कुरूपता एवं शारीरिक अपूर्णता के रूप में चलता है । इसलिये आत्म विद्या के ज्ञाता सदा सात्त्विक, सुसंस्कारी अन्न पर जोर देते हैं; ताकि स्थूल शरीर में बीमारी, कुरूपता, अपूर्णता, आलस्य एवं कमजोरी की बढ़ोत्तरी न हो । जो लोग अभक्ष्य खाते हैं, वे अब नहीं तो भविष्य में ऐसी आन्तरिक विकृति से ग्रस्त हो जायेंगे, जो उनको शारीरिक सुख से वञ्चित रखे रहेगी । इस प्रकार अनीति से उपार्जित धन या पाप की कमाई प्रकट में आकर्षक लगने पर भी अन्नमय कोश को दूषित करती है और अन्त में शरीर को विकृत तथा चिररोगी कर देती है । धन सम्पन्न होने पर भी ऐसी दुर्दशा भोगने के अनेक उदाहरण प्रत्यक्ष दिखाई दिया करते हैं ।

कितने ही शारीरिक विकारों की जड़ अन्नमय कोश में होती है । उनका निवारण दवा-दारू से नहीं, यौगिक साधनाओं से हो सकता है । जैसे संयम, चिकित्सा, शल्यक्रिया, व्यायाम, मालिश, विश्राम, उत्तम आहर-विहार, जलवायु आदि से शारीरिक स्वास्थ्य में बहुत कुछ अन्तर हो सकता है, वैसे ही कुछ ऐसी भी प्रक्रियाएँ हैं जिनके द्वारा अन्नमय कोश को परिमार्जित एवं परिपुष्ट किया जा सकता है और विविध-विध शारीरिक अपूर्णताओं से छुटकारा पाया जा सकता है । ऐसी पद्धतियों में १-उपवास २-आसन, ३-तत्त्व शुद्धि, ४-तपश्चर्या- ये चार मुख्य हैं । इन चारों पर इस प्रकरण में कुछ प्रकाश डालेंगे ।

उपवास

जिनके शरीर में मलों का भाग संचित हो रहा हो, उस रोगी की चिकित्सा आरम्भ करने से पहले ही चिकित्सक उसे जुलाब देते हैं, ताकि दस्त होने से पेट साफ हो जाए और औषधि अपना काम कर सके । यदि चिर संचित मल के ढेर की सफाई न की जाए, तो औषधि भी उस मल के ढेर में मिलकर प्रभावहीन हो जाएगी । अन्नमय कोश की अनेक सूक्ष्म विकृतियों का परिवर्तन करने में उपवास वही काम करता है, जो चिकित्सा के पूर्व जुलाब लेने से होता है ।

मोटे रूप से उपवास के लाभों से सभी परिचित हैं । पेट में रुका अपच पच जाता है, विश्राम से पाचन अंग नव चेतना के साथ दूना काम करते हैं, आमाशय में भरे हुए अपक्व अन्न से जो विष उत्पन्न होता है, वह नहीं बनता, आहार की बचत से आर्थिक लाभ होता है । ये उपवास के लाभ ऐसे हैं, जो हर किसी को मालूम हैं । डाक्टरों का यह भी निष्कर्ष प्रसिद्ध है कि स्वल्पाहारी दीर्घजीवी होते हैं । जो बहुत खाते हैं, पेट को ठूँस-ठूँसकर भरते हैं, कभी पेट को चैन नहीं लेने देते, एक दिन को भी उसे छुट्टी नहीं देते, वे अपनी जीवनी सम्पत्ति को जल्दी ही समाप्त कर लेते हैं और स्थिर आयु की अपेक्षा बहुत जल्दी उन्हें दुनिया से बिस्तर बाँधना पड़ता है । आज के राष्ट्रीय अन्न-संकट में तो उपवास, देशभक्ति भी है । यदि लोग सप्ताह में एक दिन उपवास करने लगें, तो विदेशों से करोड़ों रुपये का अन्न न मँगाना पड़े और अन्न सस्ता होने के साथ-साथ अन्य सभी चीजें भी सस्ती हो जायें ।

गीता में **'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः'** श्लोक में बताया है कि उपवास से विषय-विकारों की निवृत्ति होती है । मन का विषय-विकारों से रहित होना एक बहुत बड़ा मानसिक लाभ है । उसे ध्यान में रखते हुए भारतीय धर्म में प्रत्येक शुभ कार्य के साथ उपवास को जोड़ दिया है । कन्यादान के दिन माता-पिता उपवास रखते हैं, अनुष्ठान के दिन यजमान तथा आचार्य उपवास रखते हैं । नवदुर्गा के नौ दिन कितने ही स्त्री-पुरुष पूर्ण या आंशिक उपवास रखते हैं । ब्राह्मण भोजन कराने से पूर्व, उस दिन घर वाले भोजन नहीं करते । स्त्रियाँ अपने पति तथा सास-ससुर आदि पूज्यों को भोजन कराये बिना भोजन नहीं करतीं । यह आंशिक उपवास भी चित्त शुद्धि की दृष्टि से बड़े उपयोगी होते हैं ।

स्वाध्याय की दृष्टि से उपवास का असाधारण महत्त्व है । रोगियों के लिये तो इसे जीवन मूरि ही कहते हैं । चिकित्सा शास्त्र का रोगियों को एक दैवी उपदेश है कि 'बीमारी को भूखा मारो ।' संक्रामक, कष्टसाध्य एवं खतरनाक रोगों में लंघन भी चिकित्सा का एक अंग है । मोतीझरा, निमोनिया, विशूचिका, प्लेग, सन्निपात, टाइफाइड

जैसे रोगों में कोई भी चिकित्सक उपवास कराये बिना रोग को आसानी से अच्छा नहीं कर पाता। प्राकृतिक चिकित्सा-विज्ञान में तो, समस्त रोगों में पूर्ण या आंशिक उपवास को ही प्रधान उपचार माना गया है।

इस तथ्य को हमारे ऋषियों ने भली प्रकार समझा था। उन्होंने हर महीने कई उपवासों का धार्मिक महत्त्व स्थापित किया था।

अन्नमय कोश की शुद्धि के लिये उपवास की विशेष आवश्यकता है। शरीर में कई जाति की उपत्यकायें देखी जाती हैं, जिन्हें शरीर शास्त्री 'नाड़ी गुच्छक' कहते हैं। देखा गया है कि कई स्थानों पर ज्ञान तन्तुओं जैसी बहुत पतली नाड़ियाँ आपस में चिपकी होती हैं। यह गुच्छक कई बार रस्सी की तरह आपस में लिपटे और बँटे हुए होते हैं। कई जगह वह गुच्छक गाँठ की तरह ठोस गोली जैसे बन जाते हैं।

कई बार यह समानान्तर लहराते हुए सर्प की भाँति चलते हैं और अन्त में उनके सिर आपस में जुड़ जाते हैं। कई जगह इनमें बरगद के वृक्ष की तरह शाखा-प्रशाखायें फैली रहती हैं और इस प्रकार के कई गुच्छक परस्पर सम्बन्धित होकर एक परिधि बना लेते हैं, इनके रंग आकार एवं अनुच्छेदन में काफी अन्तर होता है। यदि अनुसन्धान किया जाए तो, उनके तापमान, अणु परिक्रमण एवं प्रतिभापुंज में भी काफी अन्तर पाया जायेगा।

वैज्ञानिक इन नाड़ी गुच्छकों के कार्य का कुछ विशेष परिचय अभी तक प्राप्त नहीं कर सके हैं, पर योगी लोग जानते हैं कि यह उपत्यकायें शरीर में अन्नमय कोश की बन्धन ग्रन्थियाँ हैं। मृत्यु होते ही सब बन्धन खुल जाते हैं और फिर एक भी गुच्छक दृष्टिगोचर नहीं होता। यह उपत्यिकायें अन्नमय कोश के गुण-दोषों की प्रतीक हैं। 'इन्धिका' जाति की उपत्यकायें चंचलता, अस्थिरता, उद्विग्नता की प्रतीक हैं। जिन व्यक्तियों में इस जाति के नाड़ी गुच्छक अधिक हों, तो उनका शरीर एक स्थान पर बैठकर काम न कर सकेगा, उन्हें कुछ खटपट करते रहनी पड़ेगी। 'दीपिका' जाति की उपत्यकायें जोश, क्रोध, शारीरिक उष्णता, अधिक पाचन, गर्मी, खुश्की आदि उत्पन्न करेंगी। ऐसे गुच्छकों की अधिकता वाले लोग चर्म रोग, फोड़ा-फुन्सी, नकसीर फूटना, पीला पेशाब, आँखों में जलन आदि रोगों के शिकार होते रहेंगे।

'मोचिकाओं' की अधिकता वाले व्यक्ति के शरीर से पसीना, लार, कफ, पेशाब आदि मलों का निष्कासन अधिक होगा। पतले दस्त अक्सर हो जाते हैं और जुकाम की शिकायत होते देर नहीं लगती। 'आप्यायिनी' जाति के गुच्छक आलस्य, अधिक निद्रा, अनुत्साह, भारीपन उत्पन्न करते हैं। ऐसे व्यक्ति थोड़ी-सी मेहनत में थक जाते हैं। उनसे शारीरिक या मानसिक कार्य विशेष नहीं हो सकता।

'पूषा' जाति के गुच्छक काम वासना की ओर मन को बलात् खींच ले जाते हैं। संयम, ब्रह्मचर्य के सारे आयोजन रखे रह जाते हैं। 'पूषा' का तनिक-सा उत्तेजन मन को बेचैन कर डालता है और वह बेकाबू होकर विकार ग्रस्त हो जाता है। शिवजी पर शर संधान करते समय कामदेव ने अपने कुसुम बाण से उस प्रदेश की 'पूषाओं' को उत्तेजित कर डाला था।

'चन्द्रिका' जाति की उपत्यकायें सौन्दर्य बढ़ाती हैं। उनकी अधिकता से वाणी में मधुरता, नेत्रों में मादकता, चेहरे पर आकर्षण, कोमलता एवं मोहकता की मात्रा रहेगी। 'कपिला' के कारण नम्रता, डर लगना, दिल की धड़कन, बुरे स्वप्न, आशंका, मस्तिष्क की अस्थिरता, नपुंसकता, वीर्यरोग आदि लक्षण पाये जाते हैं। 'घूसार्चि' में संकोचन शक्ति बहुत होती है। फोड़े देर में पकते हैं, कफ मुश्किल से निकलता है। शौच कच्चा और देर में होता है मन की बात कहने में झिझक लगती है। ऊष्माओं की अधिकता से मनुष्य हाँफता रहता है। जाड़े में भी गर्मी लगती है। क्रोध आते देर नहीं लगती। जल्दबाजी बहुत होती है। रक्त की गति, श्वास-प्रश्वास में तीव्रता रहती है।

'अमाया' वर्ण के गुच्छक, दृढ़ता, मजबूती, कठोरता, गम्भीरता, हठधर्मी के प्रतीक होते हैं। इस प्रकार के शरीरों पर बाह्य उपचारों का कुछ असर नहीं होता। कोई दवा काम नहीं करती, ये स्वेच्छापूर्वक रोगी या रोग मुक्त होती हैं। उन्हें कोई कुपथ्य रोगी नहीं कर पाता; परन्तु जब गिरते हैं, तो संयम- नियम का पालन भी कुछ काम नहीं आता।

चिकित्सक लोगों के उपचार अनेक बार असफल होते रहते हैं। कारण कि उपत्यकाओं के अस्तित्व के कारण शरीर की सूक्ष्म स्थिति कुछ ऐसी हो जाती है कि चिकित्सा कुछ विशेष काम नहीं करती। 'उद्गीथ' उपत्यकाओं की अभिवृद्धि से सन्तान होना बन्द हो जाता है। यह जिस पुरुष या स्त्री में अधिक होंगी, वह पूर्ण स्वस्थ होते हुए भी सन्तानोत्पादन के अयोग्य हो जायेगा।

स्त्री-पुरुष में से 'असिता' की अधिकता जिनमें होगी, वही अपने लिंग की सन्तान उत्पन्न करने में विशेष सफल रहेगा। 'असिता' से सम्पन्न नारी को कन्यायें और पुरुष को पुत्र उत्पन्न करने में सफलता मिलती है। जोड़े में से जिसमें 'असिता' की अधिकता होगी, उसकी शक्ति जीतेगी।

'युक्त हिंस्रा' जाति के गुच्छक क्रूरता, दुष्टता, परपीड़न की प्रेरणा देते हैं। ऐसे व्यक्तियों को चोरी, जुआ, व्यभिचार, ठगी आदि करने में बड़ा रस आता है। आवश्यक धन, सम्पत्ति होते हुए भी उनका अनुचित मार्ग अपनाने का मन चलता रहता है। कोई विशेष कारण न होते हुए भी दूसरों के प्रति ईर्ष्या, द्वेष और आक्रमण का आचरण करते हैं। ऐसे लोग माँसाहार, मद्यपान, शिकार खेलना, मारपीट करना या लड़ाई-झगड़े को और पंच बनने को बहुत पसन्द करते हैं। 'हिंस्रा' उपत्यकाओं की अधिकता वाला मनुष्य सदा ऐसे काम करने में रस लेगा, जो अशान्ति उत्पन्न करते हों। ऐसे लोग अपना सिर फोड़ लेने, आत्म-हत्या करने, अपने बच्चों को बेतरह पीटने और कुकृत्य करते देखे जाते हैं।

उपरोक्त पंक्तियों में कुछ थोड़ी-सी उपत्यकाओं का वर्णन किया गया है। इनकी ९६ जातियाँ जानी जा सकी हैं। सम्भव है ये इससे भी अधिक होती हों। ये ग्रन्थियाँ ऐसी हैं, जो शारीरिक स्थिति को इच्छानुकूल रखने में बाधक होती हैं। मनुष्य चाहता है कि मैं अपने शरीर को ऐसा बनाऊँ, वह उसके लिये कुछ उपाय भी करता है, पर कई बार वे उपाय सफल नहीं होते। कारण यह है कि ये उपत्यकायें भीतर ही भीतर शरीर में ऐसी विलक्षण क्रिया एवं प्रेरणा उत्पन्न करती हैं, जो बाह्य प्रयत्नों को सफल नहीं होने देतीं और मनुष्य अपने को बार-बार असफल एवं असहाय अनुभव करता है।

अन्नमय कोश को शरीर से बाँधने वाली यह उपत्यकायें शारीरिक एवं मानसिक अकर्मों से उलझकर विकृत होती हैं तथा सत्कर्मों से सुव्यवस्थित रहती हैं। बुरा आचरण तो खाई खोदने जैसा है और शरीर को उस खाई में गिराकर रोग- शोक आदि की पीड़ा सहनी पड़ती है। इन उलझनों को सुलझाने के लिये आहार-विहार का संयम एवं सात्त्विक रखना, दिनचर्या ठीक रखना, प्रकृति के आदेशों पर चलना आवश्यक है। साथ में कुछ ऐसे ही विशेष यौगिक उपाय भी हैं, जो उन आन्तरिक विकारों पर काबू पा सकते हैं, जिनको कि केवल बाह्योपचार से सुधारना कठिन है।

उपवास का उपत्यकाओं के संशोधन, परिमार्जन और सुसंतुलन से बड़ा सम्बन्ध है। योग साधना में उपवास का एक सुविस्तृत विज्ञान है। अमुक अवसर पर, अमुक मास में, अमुक मुहूर्त में, अमुक प्रकार से उपवास करने का अमुक फल होता है। ऐसे आदेश शास्त्रों में जगह-जगह पर मिलते हैं। ऋतुओं के अनुसार शरीर की छः अग्नियाँ न्यूनाधिक होती रहती हैं। ऊष्मा, बहुवृच, ह्वादी, रोहिता, आत्पता, व्याति-यह छः शरीरगत अग्नियाँ ग्रीष्म से लेकर वसन्त तक छः ऋतुओं में क्रियाशील रहती है। इनमें से प्रत्येक के गुण भिन्न-भिन्न हैं।

१-उत्तरायण, दक्षिणायन की गोलार्ध स्थिति, २- चन्द्रमा की घटती- बढ़ती कलायें, ३- नक्षत्रों का भूमि पर आने वाला प्रभाव, ४- सूर्य की अंश किरणों का मार्ग। इन चारों बातों का शरीरगत ऋतु अग्नियों के साथ सम्बन्ध होने से क्या परिणाम होता है, इनका ध्यान रखते हुए ऋतुओं ने ऐसे पुण्य-पर्व निश्चित किये हैं, जिनमें अमुक विधि से उपवास किया जाए, तो उसका अमुक परिणाम हो सकता है। कार्तिक कृष्णा चौथ जिसे करवा चौथ कहते हैं। उस दिन का उपवास दाम्पत्य प्रेम बढ़ाने वाला होता है; क्योंकि उस दिन की गोलार्द्ध स्थिति, चन्द्रकलायें, नक्षत्र प्रभाव एवं सूर्य मार्ग का सम्मिश्रण परिणाम, शरीरगत अग्नि के साथ समन्वित होकर शरीर एवं मन की स्थिति को ऐसा उपयुक्त बना देता है, जो दाम्पत्य सुख को सुदृढ़ और चिरस्थायी बनाने में बड़ा सहायक होता है।

इसी प्रकार के अन्य व्रत— उपवास हैं, जो अनेक इच्छाओं और आवश्यकताओं को पूरा करने में तथा बहुत से अनिष्टों को टालने में उपयोगी सिद्ध होते हैं।

उपवासों के पाँच भेद होते हैं- (१) पाचक (२) शोधक (३) शामक (४) आनक (५) पावक। पाचक उपवास वे हैं जो पेट के अपच, अजीर्ण, कोष्ठबद्धता को पचाते हैं। शोधक वे हैं जो रोगों को भूखा मार डालने के लिये किये जाते हैं, इन्हें लंघन भी कहते हैं। शामक वे हैं जो कुविचारों, मानसिक विकारों, दुष्प्रवृत्तियों एवं विकृत उपत्यकाओं का शमन करते हैं। आनक- वे हैं, जो किसी विशेष प्रयोजन के लिये दैवी शक्ति को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये किये जाते हैं। पावक वे हैं, जो पापों के प्रायश्चित के लिये होते हैं। आत्मिक और मानसिक स्थिति के अनुरूप कौन-सा उपवास उपयुक्त होगा और उसके क्या नियमोपनियम होने चाहिये, इसका निर्णय करने के लिये सूक्ष्म विवेचन की आवश्यकता है।

साधक का अन्नमय कोश किस स्थिति में है ? उसकी कौन उपत्यकायें विकृत हो रही हैं ? किस उत्तेजित संस्थान को शान्त करने एवं किस मर्म स्थल को सतेज करने की आवश्यकता है ? यह देखकर निर्णय किया जाना चाहिये कि कौन व्यक्ति किस प्रकार का उपवास कब करे ?

पाचक उपवास में तब तक भोजन छोड़ देना चाहिये, जब तक कि कड़ाके की भूख न लगे। एक बार का, एक दिन का या दो दिन का आहार छोड़ देने से आमतौर पर कब्ज पक जाता है। पाचक उपवास में सहायता देने के लिये नींबू का रस, जल एवं किसी पाचक औषधि का सेवन किया जा सकता है।

शोधक उपवासों के साथ विश्राम आवश्यक है। यह लगातार तब तक चलते हैं, जब तक रोगी खतरनाक स्थिति को पार न कर लें। औटाकर ठण्डा किया हुआ पानी ही ऐसे उपवासों में एक मात्र अवलम्ब होता है।

शामक उपवास दूध, छाछ, फलों का रस आदि पतले, रसीले हल्के पदार्थों के आधार पर चलते हैं। इन उपवासों में स्वाध्याय, आत्म-चिन्तन, एकान्त सेवन, मौन, जप, ध्यान, पूजा, प्रार्थना आदि आत्म-शुद्धि के उपचार भी साथ में होने चाहिये।

आनक उपवास में सूर्य की किरणों द्वारा अभीष्ट दैवी शक्ति का आवाहन करना चाहिये। सूर्य की सप्तवर्ण किरणों में राहु, केतु को छोड़कर अन्य सातों ग्रहों की रश्मियाँ सम्मिलित होती हैं। सूर्य में तेजस्विता, उष्णता, पित्त प्रकृति प्रधान है। चन्द्रमा- शीतल, शान्तिदायक, उज्ज्वल, कीर्तिकारक। मंगल-कठोर, बलवान्, संहारक। बुध-सौम्य, शिष्ट, कफ प्रधान, सुन्दर आकर्षक। गुरु- विद्या, बुद्धि, धन, सूक्ष्मदर्शिता, शासन, न्याय राज्य का अधिष्ठाता। शुक्र-वात प्रधान, चञ्चल, उत्पादक, कूटनीतिक। शनि- स्थिरता, स्थूलता, सुखोपभोग, दृढ़ता, परिपुष्टि का प्रतीक है। जिस गुण की आवश्यकता हो, उसके अनुरूप दैवी तत्त्वों को आकर्षित करने के लिये सप्ताह में उसी दिन उपवास करना चाहिये। इन उपवासों में लघु आहार उन ग्रहों में समता रखने वाला होना चाहिये तथा उसी ग्रह के अनुरूप रंग की वस्तुयें वस्त्र आदि का जहाँ तक सम्भव हो अधिक प्रयोग करना चाहिये।

रविवार को श्वेतरंग और गाय के दूध, दही का आहार उचित है। सोमवार को पीला रंग और चावल का माड़ उपयुक्त है। मंगल को लाल रंग, भैंस का दही या छाछ। बुध को नीले रंग और खट्टे-मीठे फल। गुरु को नारंगी रंग वाले मीठे फल। शुक्र को हरा रंग, बकरी का दूध, दही, गुड़ का उपयोग ठीक रहता है। प्रातःकाल की किरणों के सम्मुख खड़े होकर, नेत्र बन्द करके निर्धारित किरणें अपने में प्रवेश होने का ध्यान करने से वह शक्ति सूर्य रश्मियों द्वारा अपने में अवतरित होती है।

पावक उपवास प्रायश्चित्त स्वरूप किये जाते हैं। ऐसे उपवास केवल जल लेकर करने चाहिये। अपनी भूल के लिये प्रभु से सच्चे हृदय से क्षमा याचना करते हुए, भविष्य में वैसी भूल न करने का प्रण करना चाहिये। अपराध के लिये शारीरिक कष्टसाध्य तितिक्षा एवं शुभ कार्य के लिये इतना दान करना चाहिये, जो पाप की व्यथा को पुण्य की शान्ति के बराबर कर सके। चान्द्रायण व्रत, कृच्छ्र चान्द्रायण आदि पावक व्रतों में गिने जाते हैं।

प्रत्येक उपवास में यह बातें विशेष रूप से ध्यान रखते हैं- १-उपवास के दिन जल बार-बार पीना चाहिये, बिना प्यास के पीना चाहिये। २- उपवास के दिन अधिक शारीरिक श्रम न करना चाहिये। ३- उपवास के दिन

यदि निराहार न रहा जाए तो अल्प मात्रा में रसीले पदार्थ, दूध, फल आदि ले लेना चाहिये । मिठाई, हलुआ आदि गरिष्ठ पदार्थ भरपेट खा लेने से उपवास का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । ४- उपवास तोड़ने के बाद हल्का शीघ्र पचने वाला आहार स्वल्प मात्रा में लेना चाहिये । उपवास समाप्त होते ही अधिक मात्रा में भोजन कर लेना हानिकारक है । ५- उपवास के दिन अधिकांश समय आत्म-चिन्तन, स्वाध्याय या उपासना में लगाना चाहिये ।

उपत्यकाओं के शोधन, परिमार्जन और उपयोगीकरण के लिये उपवास किसी विज्ञ पथ-प्रदर्शक की सलाह से करने चाहिये । साधारण उपवास जो कि प्रत्येक गायत्री उपासक के अनुकूल होता है, रविवार के दिन होना चाहिये । उस दिन सातों ग्रहों की सम्मिलित शक्ति पृथ्वी पर आती है, जो विविध प्रयोजनों के लिये उपयोगी होती है । रविवार को प्रात:काल स्नान करके या सम्भव न हो तो हाथ-मुँह धोकर शुद्ध वस्त्रों में सूर्य के सम्मुख मुख करके बैठना चाहिये और एक बार खुले नेत्र बन्द कर लेने चाहिये । "इस सूर्य के तेजपुञ्ज रूपी समुद्र में हम स्नान कर रहे हैं, वह हमारे चारों ओर ओत-प्रोत हो रहा है" ऐसा ध्यान करने से सविता की ब्रह्म रश्मियाँ अपने भीतर भर जाती हैं । बाहर से चेहरे पर धूप पड़ना और भीतर से ध्यानाकर्षण द्वारा उसकी सूक्ष्म रश्मियों को खींचना उपत्यकाओं को सुविकसित करने में बड़ा सहायक होता है । यह साधना १५-२० मिनट तक की जा सकती है ।

उस दिन श्वेत वर्ण की वस्तुओं का अधिक प्रयोग करना चाहिये, वस्त्र भी अधिक सफेद ही हों । दोपहर के बारह बजे के बाद फलाहार करना चाहिये । जो लोग रह सकें, वे निराहार रहें, जिन्हें कठिनाई हो, वे फल, दूध, शाक लेकर रहें । बालक, वृद्ध, गर्भिणी, रोगी या कमजोर व्यक्ति चावल, दलिया आदि दोपहर को, दूध रात को ले सकते हैं, नमक एवं शक्कर इन दो स्वाद उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को छोड़कर बिना स्वाद का भोजन भी एक प्रकार का उपवास हो जाता है । आरम्भ में अस्वाद आहार के आंशिक उपवास से भी गायत्री साधक अपनी प्रवृत्ति को बढ़ा सकते हैं ।

आसन

मोटे तौर से आसनों को शारीरिक व्यायाम में ही गिना जाता है । उनसे वे लाभ मिलते हैं, जो व्यायाम द्वारा मिलने चाहिये । साधारण कसरतों से जिन भीतर के अंगों का व्यायाम नहीं हो पाता, उनका आसनों द्वारा हो जाता है ।

ऋषियों ने आसनों को योग साधना में इसलिये प्रमुख स्थान दिया है कि ये स्वास्थ्य रक्षा के लिये अतीव उपयोगी होने के अतिरिक्त मर्म स्थानों में रहने वाली 'हव्य-वहा' और 'कव्य-वहा' तड़ित शक्ति को क्रियाशील रखते हैं । मर्मस्थल वे हैं जो अतीव कोमल हैं और प्रकृति ने उन्हें इतना सुरक्षित बनाया है कि साधारणत: उन तक बाह्य प्रभाव नहीं पहुँचता । आसनों से इनकी रक्षा होती है ।

इन मर्मों की सुरक्षा में यदि किसी प्रकार की बाधा पड़ जाय, तो जीवन संकट में पड़ सकता है । ऐसे मर्म स्थान उदर और छाती के भीतर विशेष हैं । कण्ठ-कूप, स्कन्ध- पुच्छ, मेरुदण्ड और ब्रह्मरन्ध्र से सम्बन्धित ३६ मर्म हैं । इनमें कोई आघात लग जाए, रोग विशेष के कारण विकृति आ जाए, रक्ताभिषरण रुक जाए और विष-बालुका जमा हो जाए, तो देह भीतर ही भीतर घुलने लगती है । बाहर से कोई प्रत्यक्ष या विशेष रोग दिखाई नहीं पड़ता, पर भीतर-भीतर देह खोखली हो जाती है । नाड़ी में ज्वर नहीं होता, पर मुँह का कड़ुआपन शरीर में रोमांच, भारीपन, उदासी, हड़फूटन, शिर में हल्का-सा दर्द, प्यास आदि भीतरी ज्वर जैसे लक्षण दिखाई पड़ते हैं । वैद्य, डाक्टर कुछ समझ नहीं पाते, दवा-दारू देते हैं, पर कुछ विशेष लाभ नहीं होता ।

मर्मों में चोट पहुँचने से आकस्मिक मृत्यु हो सकती है । तांत्रिक अभिचारी, जब मारण प्रयोग करते हैं, तो उनका आक्रमण इन मर्म स्थलों पर ही होता है । हानि, शोक, अपमान आदि की कोई मानसिक चोट लगे तो मर्मस्थल क्षत-विक्षत हो जाते हैं और उस व्यक्ति के प्राण संकट में पड़ जाते हैं । मर्म अशक्त हो जायें तो गठिया, गंज, श्वेतकण्ठ, पथरी, गुर्दे की शिथिलता, त्वचा की खुश्की, बहुमूत्र, बवासीर जैसे न ठीक होने वाले रोग उपज पड़ते हैं ।

हाथ और पैरों को मजबूत बनाने वाले

चार उपयोगी आसन

सर्वांगासन बद्धपद्मासन पाद हस्तासन उत्कटासन

(इन आसनों को नित्य करने से हाथ-पाँवों की नसें तथा माँसपेशियाँ मजबूत होती हैं तथा उनकी शक्ति बढ़ती है।)

पीठ और पेट को मजबूत बनाने वाले

चार महाप्रभावी आसन

इन आसनों का अभ्यास करते रहने से रीढ़, पसलियाँ, फेफड़े, हृदय, आमाशय, आँतों और जिगर की दुर्बलता दूर होती है।

पश्चिमोत्तान आसन

मयूरासन

सर्पासन

धनुरासन

शिर और धड़ में रहने वाले मर्मों में 'हव्य-वहा' नामक धन (पोजेटिव) विद्युत् का निवास और हाथ-पैरों में, 'कव्य-वहा' ऋण (नेगेटिव) विद्युत् की विशेषता है । दोनों का सन्तुलन बिगड़ जाए, तो लकवा, अर्द्धांग, सन्धिवात जैसे उपद्रव खड़े होते हैं ।

कई बार मोटे, तगड़े स्वस्थ दिखाई पड़ने वाले मनुष्य भी ऐसे मन्द रोगों से ग्रसित हो जाते हैं, जो उनकी शारीरिक अच्छी स्थिति को देखते हुए नहीं होने चाहिये थे । इन मार्मिक रोगों का कारण मर्म स्थलों की गड़बड़ी है । कारण यह है कि साधारण परिश्रम या कसरतों द्वारा इन मर्म स्थानों का व्यायाम नहीं हो पाता । औषधियों की वहाँ तक पहुँच नहीं होती । शल्य क्रिया या सूची-भेद (इन्जेक्शन) भी उनको प्रभावित करने में समर्थ नहीं होते । उस विकट गुत्थी को सुलझाने में केवल 'योग-आसन' ऐसे तीक्ष्ण अस्त्र हैं, जो मर्म शोधन में अपना चमत्कार दिखाते हैं ।

ऋषियों ने देखा कि अच्छा आहार-विहार रखते हुए भी विश्राम व्यायाम की समुचित व्यवस्था रखते हुए भी कई बार अज्ञात सूक्ष्म कारणों से मर्म स्थल विकृत हो जाते हैं और उनमें रहने वाली, 'हव्य-वहा'और कव्य-वहा' तड़ित शक्ति का सन्तुलन बिगड़ जाने से बीमारी तथा कमजोरी आ घेरती हैं, जिससे योग साधना में बाधा पड़ती है । इस कठिनाई को दूर करने के लिये उन्होंने अपने दीर्घकालीन अनुसंधान और अनुभव द्वारा 'आसन-क्रिया' का अविष्कार किया है ।

आसनों का सीधा प्रभाव हमारे मर्म स्थलों पर पड़ता है । प्रधान नस-नाड़ियों और मांस-पेशियों के अतिरिक्त सूक्ष्म कशेरुकाओं का भी आसनों द्वारा ऐसा आकुंचन-प्रकुंचन होता है कि उनमें जमे हुए विकार हट जाते हैं तथा फिर नित्य सफाई होती रहने से नये विकार जमा नहीं होते । मर्मस्थलों की शुद्धि, स्थिरता एवं परिपुष्टि के लिये आसनों को अपने ढंग का सर्वोत्तम उपचार कहा जा सकता है ।

आसन अनेक हैं, उनमें से ८४ प्रधान हैं । उन सबकी विधि- व्यवस्था और उपयोगिता वर्णन करने का यहाँ अवसर नहीं है । सर्वांगपूर्ण आसन विद्या की शिक्षा यहाँ नहीं दी जा सकती । इस विषय पर हमारी 'बलवर्द्धक व्यायाम' पुस्तक देखनी चाहिये । आज तो हमें गायत्री की योग साधना करने के इच्छुकों को ऐसे सुलभ आसन बताना पर्याप्त होगा; जो साधारणतः उसके सभी मर्म स्थलों की सुरक्षा में सहायक हों ।

आठ आसन ऐसे हैं, जो सभी मर्मों पर अच्छा प्रभाव डालते हैं । उनमें से जो चार या अधिक अपने लिये सुविधाजनक हों, उन्हें भोजन से पूर्व कर लेना चाहिये । इनकी उपयोगिता एवं सरलता अन्य आसनों से अधिक है । उपासना के पश्चात् ही करना चाहिये, जिससे रक्त की गति तीव्र हो जाने से उत्पन्न हुई चित्त की चञ्चलता ध्यान में बाधक न हो ।

सर्वांगासन- आसन पर चित्त लेट जाइये और शरीर को बिलकुल सीधा कर दीजिये । हाथों को जमीन से ऐसा मिला रखिये कि हथेलियाँ जमीन से चिपकी रहें । अब घुटने सीधे कड़े करके दोनों पैर मिले हुए ऊपर को उठाइये और पैरों को ले जाकर सिर के पीछे जमीन से लगाइये । पैर मुड़ने न पावें, बल्कि सीधे तने हुए रहें । हाथ चाहे जमीन पर रखिये, चाहे सहारे के लिये कमर से लगा दीजिये । ठोड़ी कण्ठ के सहारे से चिपकी रहनी चाहिये ।

बद्ध-पद्मासन- पालथी मार कर आसन पर बैठिये । फिर पीठ के पीछे से दाहिना हाथ ले जाकर दाहिने पैर का अँगूठा पकड़िये और बायाँ हाथ उसी तरह ले जाकर बाँयें पैर का अँगूठा पकड़िये । पीठ को तान दीजिये और दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर जमाइये । ठोड़ी को कण्ठ के मूल में गढ़ाये रखिये । बहुतों के हाथ शुरू में ही पीठ के पीछे घूमकर अँगूठा नहीं पकड़ सकते, इसका कारण उनकी इन नसों का शुद्ध और पूरे फैलाव में न होना है । इसलिये जब तक दोनों पैरों के अँगूठे पकड़े न जा सकें, तब तक एक ही पैर का अँगूठा पकड़ कर अभ्यास करना चाहिये ।

पाद-हस्तासन- सीधे खड़े हो जाइये । फिर धीरे-धीरे हाथों को नीचे ले जाकर हाथ से पैरों के दोनों अँगूठों

को पकड़िये। पैर आपस में मिले और बिलकुल सीधे रहें, घुटने-मुड़ने न पावें। इसके बाद सिर दोनों हाथों के बीच से भीतर की ओर ले जाकर नाक सीधा घुटनों से मिलाइये। दाहिने हाथ से बाँये पैर और बाँये हाथ से दाहिने पैर का अँगूठा पकड़ करके भी यह किया जाता है। इस आसन को करते समय पेट को भीतर की ओर खूब जोर से खींचना चाहिये।

उत्कटासन- सीधे खड़े हो जाइये। दोनों पैर, घुटने, एड़ी और पंजे आपस में मिले रहने चाहिये। दोनों हाथ कमर पर रहें, पेट को कुछ भीतर की तरफ खींचिये और घुटनों को मोड़ते हुए शरीर सीधा रखते हुए उसे धीरे-धीरे पीछे की ओर झुकाइये। इस प्रकार बिलकुल उस तरह हो जाइये जैसे कुर्सी पर बैठते हैं। जब कमर झुककर घुटनों के सामने हो जाए, तो उसी दिशा में स्थिर हो जाना चाहिये।

इसका अभ्यास हो जाने पर एड़ियों को भी जमीन से उठा दीजिये और केवल पंजों के बल स्थिर होइये। उसका भी अभ्यास हो जाए, तो घुटनों को खोलिये और उन्हें काफी फैला दीजिये। ध्यान रहे घुटनों को इस प्रकार रखिये कि दोनों हाथों की उँगलियाँ, घुटनों के बाहर जमीन को छूती रहें।

पश्चिमोत्तान आसन- पैरों को लम्बा फैला दीजिये। दोनों पैर मिले रहें। घुटने मुड़े न हों, बिलकुल सीधे रहें। टाँगें जमीन से मिली रहें। इसके बाद टाँगों को झुकाकर दोनों हाथों से पैरों के दोनों अँगूठों को पकड़िये। ध्यान रहे कि पैर जमीन से जरा भी न उठने पाएँ। पैरों के अँगूठे पकड़ कर सिर दोनों घुटनों के बीच में करके यह प्रयत्न करना चाहिये कि सिर घुटनों पर या उनके भी आगे रखा जा सके।

यदि बन सके तो हाथ की कोहनियों को जमीन से छुआना चाहिये। शुरू में पैर फैलाकर और घुटने सीधे रखकर कमर आगे झुकाकर अँगूठे पकड़ने का प्रयत्न करना चाहिये और धीरे-धीरे पकड़ने लग जाने पर सिर घुटनों पर रखने का प्रयत्न करना चाहिये।

सर्पासन- पेट के बल आसन पर लेट जाइये। फिर दोनों हाथों के पंजे जमीन पर टेक कर हाथ खड़े कर दीजिये। पंजे नाभि के पास रहें। शरीर पूरी तरह जमीन से चिपटा हो, मूल घुटने यहाँ तक कि पैर के पंजों की पीठ तक जमीन से पूरी तरह चिपकी हो। अब क्रमश: सिर, गर्दन, गला, छाती और पेट को धीरे-धीरे जमीन से उठाते जाइये और जितना तान सकें तान दीजिये। दृष्टि सामने रहे। शरीर साँप के फन की तरह तना खड़ा रहे, नाभि के पास तक शरीर जमीन से उठा रहना चाहिये।

धनुरासन- आसन पर लेट जाइये। फिर दोनों पैरों को घुटनों से मोड़कर पीछे की तरफ ले जाइये और हाथ भी पीछे ले जाकर दोनों पैरों को पकड़ लीजिये। अब धीरे-धीरे सिर और छाती को ऊपर उठाइये, साथ ही हाथों को भी ऊपर की ओर खींचते हुए पैरों को ऊपर की ओर तानिये। आगे-पीछे शरीर इतना उठा दीजिये कि केवल पेट और पेड़ू जमीन से लगे रह जाएँ। शरीर का बाकी तमाम हिस्सा उठ जाए और शरीर खिंचकर धनुष के आकार का हो जाए। पैर, सिर और छाती के तनाव में टेढ़ापन आ जाए, दृष्टि सामने रहे और सीना निकलता हुआ मालूम हो।

मयूरासन- घुटनों के सहारे आसन पर बैठ जाइये और फिर दोनों हाथ जमीन पर साधारण अन्तर से ऐसे रखिये कि पंजे पीछे भीतर की ओर रहें। अब दोनों पैरों को पीछे ले जाकर पंजों के बल हो जाइये और हाथों की दोनों कोहनियाँ नाभि के दोनों तरफ लगा कर छाती और सिर को आगे दबाते हुए पैरों को जमीन से ऊपर उठाने का प्रयत्न कीजिये।

जब पैर जमीन से उठकर कोहनियों के समानान्तर आ जाएँ तो सिर और छाती को भी सीधा कीजिये। सारा शरीर हाथों की कोहनियों पर सीधा आकर तुल जाना चाहिये।

यह आठ आसन ऐसे हैं, जो अधिक कष्टसाध्य न होते हुए भी मर्मों और सन्धियों पर प्रभाव डालने वाले हैं। शास्त्रों में इनकी विशेष प्रशंसा है।

इन सबके द्वारा जो लाभ होते हैं, उसका सम्मिलित लाभ सूर्य नमस्कार से होता है । यह एक ही आसन कई आसनों के मिश्रण से बना है । इसका परस्पर ऐसा क्रमवत् तारतम्य है कि अलग-अलग आसनों की अपेक्षा यह एक ही आसन अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है ।

हम गायत्री साधकों को बहुधा सूर्य-नमस्कार करने की ही सलाह देते हैं । हमारे अनुभव में सूर्य नमस्कार के लाभ अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं, किन्तु जो कर सकते हों, वे उपरोक्त आठ आसनों को भी करें । बड़े लाभदायक हैं ।

सूर्य-नमस्कार की विधि-

प्रात:काल सूर्योदय समय के आस-पास इन आसनों को करने के लिये खड़े होइये । यदि अधिक सर्दी-गर्मी या हवा हो, तो हल्का कपड़ा शरीर पर पहने रहिये ।अन्यथा लँगोट या नेकर के अतिरिक्त सब कपड़े उतार दीजिये, खुली हवा में स्वच्छ खुली खिड़कियों से युक्त कमरे में कमर सीधी रखकर खड़े होइये ।

मुख पूर्व की ओर कर लीजिये । नेत्र बन्द करके हाथ जोड़कर भगवान् सूर्यनारायण का ध्यान कीजिये और भावना कीजिये कि सूर्य की तेजस्वी आरोग्यमयी किरणें आपके शरीर में चारों ओर से प्रवेश कर रही हैं । अब निम्न प्रकार से क्रिया आरम्भ कीजिये-

१-पैरों को सीधा रखिये । कमर पर से नीचे की ओर झुकिए, दोनों हाथों को जमीन पर लगाइये । मस्तक घुटनों से लगे, यह 'पाद-हस्तासन' है । इससे टखनों का, टाँग के नीचे के भागों का, जंघा का, पुट्ठों का, पसलियों का, कंधों के पृष्ठ भाग तथा बाँहों के नीचे के भाग का व्यायाम होता है ।

२- सिर को घुटनों से हटाकर लम्बी साँस लीजिये । पहले दाहिने पैर को पीछे ले जाइये और पंजे को लगाइये । बायें पैर को आगे की ओर मुड़ा रखिये । दोनों हथेलियाँ जमीन से लगी रहें । निगाह सामने और सिर कुछ ऊँचा रहे । इससे जाँघों के दोनों भागों का तथा बाँये पेडू का व्यायाम होता है, इसे एक पाद प्रसारणासन कहते हैं ।

३-बाँये पैर को पीछे ले जाइये । उसे दाहिने पैर से सटाकर रखिये । कमर को ऊँचा उठा दीजिये । सिर और सीना कुछ नीचे झुक जायेगा ।

यह द्विपाद प्रसारणासन है । इससे हथेलियों की सब नसों का, भुजाओं का, पैरों की उँगलियों और पिण्डलियों का व्यायाम होता है ।

४- दोनों पाँवों के घुटने, दोनों हाथ, छाती तथा मस्तक इन सब अंगों को सीधा रखकर भूमि में स्पर्श कराइये । शरीर तना रहे, कहीं लेटने की तरह निश्चेष्ट न हो जाइये । पेट जमीन को न छुए ।

इसे "अष्टांग प्रणिपातासन" कहते हैं । इससे बाँहों, पसलियों, पेट, गर्दन, कन्धे तथा भुजदण्डों का व्यायाम होता है ।

५-हाथों को सीधा खड़ा कर दीजिये । सीना ऊपर उठाइये । कमर को जमीन की ओर झुकाइये, सिर ऊँचा कर दीजिये, आकाश को देखिये । घुटने जमीन पर न टिकने पाएँ । पंजे और हाथों पर शरीर सीधा रहे । कमर जितनी मुड़ सके मोड़िये, ताकि धड़ ऊपर को अधिक उठ सके ।

यह 'सर्पासन' है । इससे जिगर का, आँतों का तथा कण्ठ का अच्छा व्यायाम होता है ।

६- हाथ और पैर के पूरे तलुए जमीन से स्पर्श कराइये, घुटने और कोहनियों के टखने झुकने न पाएँ । कमर को जितना हो सके ऊपर उठा दीजिये । ठोड़ी कण्ठमूल में लगी रहे, फिर नीचे रखिए ।

यह 'मयूरासन' है । इससे गर्दन, पीठ, कमर, कूल्हे, पिण्डली, पैर तथा भुजदण्डों की कसरत होती है ।

७- यहाँ से अब पहली की हुई क्रियाओं पर वापस जाया जायेगा । दाहिने पैर को पीछे ले जाइये पूर्वोक्त नं० २ के अनुसार 'एक पादप्रसारणासन' कीजिये ।

८- पूर्वोक्त नं० १ की तरह 'पादहस्तासन' कीजिये ।

९- सीधे खड़े हो जाइये । दोनों हाथों को आकाश की ओर ले जाकर हाथ जोड़िये । सीने को जितना पीछे

ले जा सकें ले जाइये। हाथ जितने पीछे ले जा सकें ठीक है, पर मुड़ने न पाएँ। यह 'ऊर्ध्वनमस्कारासन' है, इससे फेफड़ों और हृदय का अच्छा व्यायाम होता है।

१०- अब उसी आरम्भिक स्थिति पर आ जाइये, सीधे खड़े होकर हाथ जोड़िये और भगवान् सूर्यनारायण का ध्यान कीजिये।

यह एक सूर्य नमस्कार हुआ। आरम्भ पाँच से करके सुविधानुसार थोड़ी-थोड़ी संख्या धीरे-धीरे बढ़ाते जाना चाहिये। व्यायाम काल में मुँह बन्द रखना चाहिये। साँस, नाक से ही लेनी चाहिये।

तत्त्व शुद्धि

यह सृष्टि पंचतत्त्वों से बनी हुई है। प्राणियों के शरीर भी इन तत्त्वों से बने हुए हैं। मिट्टी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पाँच तत्त्वों का यह सब कुछ संप्रसार है, जितनी वस्तुयें दृष्टिगोचर होती हैं या इन्द्रियों द्वारा अनुभव में आती हैं, उन सबकी उत्पत्ति पञ्च- तत्त्वों द्वारा हुई है। वस्तुओं का परिवर्तन उत्पत्ति, विकास तथा विनाश इन तत्त्वों की मात्रा में परिवर्तन आने से होता है।

यह प्रसिद्ध है कि जलवायु का स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है, शीत प्रधान देशों तथा यूरोपियन लोगों का रंग, रूप, कद, स्वास्थ्य अफ्रीका के तथा उष्ण प्रदेश वासियों के रंग, रूप, कद, स्वास्थ्य से सर्वथा भिन्न होते हैं। पंजाबी, कश्मीरी, बंगाली, मद्रासी लोगों के शरीर एवं स्वास्थ्य की भिन्नता प्रत्यक्ष है। यह जलवायु का ही अन्तर है।

किन्हीं प्रदेशों में मलेरिया, पीला बुखार, पेचिस, चर्मरोग, फील पाँव, कुष्ठ आदि रोगों की बाढ़-सी रहती है और किन्हीं स्थान की जलवायु ऐसी होती है कि वहाँ जाने पर तपेदिक सरीखे कष्टसाध्य रोग भी अच्छे हो जाते हैं। पशु-पक्षी, घास-अन्न, फल, औषधि आदि के रंग, रूप, स्वास्थ्य, गुण, प्रकृति आदि में भी जलवायु के अनुसार अन्तर पड़ता है। इसी प्रकार वर्षा, गर्मी-सर्दी का तत्त्वपरिवर्तन प्राणियों में अनेक प्रकार के सूक्ष्म परिवर्तन कर देता है।

आयुर्वेद-शास्त्र में वात-पित्त, कफ का असन्तुलन रोगों का कारण बताया है। वात का अर्थ है- वायु, पित्त का अर्थ है- गर्मी, कफ का अर्थ है- जल। पाँच तत्त्वों में पृथ्वी शरीर का स्थिर आधार है। मिट्टी से ही शरीर बना है और जला देने या गाढ़ देने पर केवल मिट्टी रूप में ही इसका अस्तित्व रह जाता है। इसलिये पृथ्वी तत्त्व तो शरीर का स्थिर आधार होने से वह रोग आदि का कारण नहीं बनता।

दूसरे आकाश का सम्बन्ध मन से, बुद्धि एवं इन्द्रियों की सूक्ष्म तन्मात्राओं से है। स्थूल शरीर पर जलवायु और गर्मी का ही प्रभाव पड़ता है और उन्हीं प्रभावों के आधार पर रोग एवं स्वास्थ्य बहुत कुछ निर्भर रहता है।

वायु की मात्रा में अन्तर आ जाने से गठिया, लकवा, दर्द, कम्प, अकड़न, गुल्म, हड़फूटन, नाड़ी, विक्षेप आदि रोग उत्पन्न होते हैं।अग्नि तत्त्व के विकार से फोड़े-फुन्सी, चेचक, ज्वर, रक्त-पित्त, हैजा, दस्त, क्षय, श्वास, उपदंश, दाह, रक्त-विकार आदि बढ़ते हैं।

जल तत्त्व की गड़बड़ी से जलोदर, पेचिस, संग्रहणी, बहु-मूत्र, प्रमेह, स्वप्नदोष, सोम, प्रदर, जुकाम, अकड़न, अपच, शिथिलता सरीखे रोग उठ खड़े होते हैं। इसी प्रकार अन्य तत्त्वों का घटना बढ़ना अनेक रोग उत्पन्न करता है।

आयुर्वेद के मत से विशेष प्रभावशाली, गतिशील, सक्रिय एवं स्थूल शरीर को स्थिर करने वाले कफ, वात-पित्त अर्थात् जल, वायु, गर्मी ही हैं और दैनिक जीवन में जो उतार-चढ़ाव होते रहते हैं, उनमें इन तीन का ही प्रधान कारण होता है। फिर भी शेष दो तत्त्व पृथ्वी और आकाश शरीर पर स्थिर रूप में काफी प्रभाव डालते हैं।

मोटा या पतला होना, लम्बा या ठिगना होना, रूपवान् या कुरूप होना, गोरा या काला होना, कोमल या सुदृढ़ होना शरीर में पृथ्वी तत्त्व की स्थिति से सम्बन्धित है। इसी प्रकार चतुरता-मूर्खता, सदाचार-दुराचार, नीचता-महानता, तीव्र बुद्धि-मन्दबुद्धि, सनक-दूरदर्शिता, खिन्नता-प्रसन्नता एवं गुण, कर्म, स्वभाव, इच्छा, आकांक्षा, भावना, आदर्श, लक्ष्य आदि बातें इस पर निर्भर रहती हैं कि आकाश-तत्त्व की स्थिति क्या है ?

उन्माद, सनक, दिल की धड़कन, अनिद्रा, पागलपन-दु:स्वप्न, मृगी, मूर्छा, घबराहट, निराशा आदि रोगों में भी आकाश ही प्रधान कारण होता है।

रसोई का स्वादिष्ट तथा लाभदायक होना इस बात पर निर्भर है कि उनमें पड़ने वाली चीजें नियत मात्रा में हों। चावल, दलिया, दाल, हलुआ, रोटी आदि में अग्नि का प्रयोग कम रहे या अधिक हो जाए, तो वह खाने लायक न होगी। इसी प्रकार पानी, नमक, चीनी, घी आदि की मात्रा बहुत कम या अधिक हो जाए तो भोजन का स्वाद, गुण तथा रूप बिगड़ जायेगा।

यही दशा शरीर की है। तत्त्वों की मात्रा में गड़बड़ी पड़ जाने से स्वास्थ्य में निश्चित रूप से खराबी आ जाती है। जलवायु, सर्दी-गर्मी (ऋतु प्रभाव) के कारण रोगी मनुष्य नीरोग और नीरोग मनुष्य रोगी बन सकता है।

योग-साधकों को जान लेना चाहिये कि पञ्च-तत्त्वों से बने शरीर को सुरक्षित रखने का आधार यह है कि देह में सभी तत्त्व स्थिर मात्रा में रहें। गायत्री के पाँच मुख शरीर में पाँच तत्त्व बनकर निवास करते हैं। यही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियों को क्रियाशील रखते हैं। लापरवाही, अव्यवस्था और आहार-विहार के असंयम से तत्त्वों का संतुलन बिगड़कर रोगग्रस्त होना एक प्रकार से पञ्चमुखी गायत्री माता का, देह परमेश्वरी का तिरस्कार करना है।

वेदान्त शास्त्र में इन पाँच तत्त्वों को आत्मा का आवरण एवं बन्धन माना गया है। भगवान् शंकराचार्य ने 'तत्त्व-बोध' की संकेत पिटिका में 'पञ्चीकरण विद्या' बतायी है। उनका कथन है कि बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिये पहले हमें यह भली भाँति जान लेना चाहिये कि यह संसार और कुछ नहीं केवल पञ्चभूतों के परमाणुओं का इधर-उधर उड़ते फिरना, संयुक्त और विमुक्त होते रहना मात्र है। जैसे वायु से प्रेरित बादल इधर-उधर उड़ते हैं, तो उनके संयोग वियोग से आकाश में पर्वत, रीछ, सिंह, पक्षी, वृक्ष, गुफा जैसे नाना प्रकार के कौतूहल पूर्ण चित्र क्षण-क्षण में बनते और बिगड़ते रहते हैं, उसी प्रकार इस संसार में नाना प्रकार के निर्माण, विकास और ध्वंस होते रहते हैं।

जैसे बादलों से बनने वाले चित्र मिथ्या हैं, भ्रम हैं, भुलावा हैं, स्वप्न हैं, वैसे ही संसार-माया, भ्रम या स्वप्न है। यह पाँच भूतों के उड़ने-फिरने का खेल मात्र है। इसलिये उसे लीलाधर की लीला, नटवर की कला या माया बताया गया है।

कई अदूरदर्शी व्यक्ति 'संसार स्वप्न है' यह सुनते ही आग-बबूला हो जाते हैं और वेदान्त शास्त्र पर यह आरोप लगाते हैं कि इन विचारों के द्वारा लोगों में अकर्मण्यता, निराशा, निरुत्साह, अनिच्छा पैदा होगी और सांसारिक उन्नति की महत्त्वाकांक्षा शिथिल हो जाने से हमारा समाज या राष्ट्र पिछड़ा रह जाएगा। यह आक्षेप बहुत ही उथला और अविवेकपूर्ण है।

वेदान्त विरोधी इतना तो जानते ही हैं कि हमें मरना है और मरने पर कोई भी वस्तु साथ नहीं जाती। इतनी जानकारी होते हुए भी वे सांसारिक उन्नति को छोड़ते नहीं। स्वप्न में भी सब काम होते रहते हैं। इसी प्रकार शरीर का निर्माण ही ऐसे ढंग से हुआ है, उसमें पेट की, इन्द्रियों की, मन की क्षुधायें इतनी प्रबल लगा दी गयी हैं कि बिना कर्तव्य परायण हुए, कोई प्राणी क्षण भर भी चैन से नहीं बैठ सकता। निष्क्रिय व्यक्ति के लिये तो जीवन धारण किये रहना भी असम्भव है।

वेदान्त ने संसार की दार्शनिक विवेचना करते हुए उसे पञ्चभूतों का अस्थिर परमाणु-पुञ्ज, स्वप्न बताया है। तो इसका फलितार्थ यह होना चाहिये कि हम आत्मिक लाभ के लिये ही सांसारिक वस्तुओं का उपार्जन एवं उपयोग करें। वस्तुओं की मोहकता पर आसक्त होकर उनके सञ्चय एवं अनियन्त्रित भोगों की मृग-तृष्णा से अपने आत्मिक हितों का बलिदान न करें।

कर्त्तव्य रत रहना तो शरीर का स्वाभाविक धर्म है, इसे त्यागना किसी भी जीवित व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं। वेदान्त की यह शिक्षा कि यह संसार पञ्चभूतों की क्रीड़ास्थली मात्र है, पूर्णतया विज्ञान सम्मत है। दार्शनिकों की भाँति वैज्ञानिक भी यही बताते हैं कि अणु परमाणुओं के द्रुतगति से परिभ्रमण करने के कारण संसार की

गतिशीलता है और पञ्च तत्त्वों से बने हुए ९६ जाति के परमाणु ही संसार की वस्तुओं, देहों, योनियों के उत्पादन एवं विनाश के हेतु हैं ।

'पञ्चीकरण विद्या' के अनुसार साधक जब भली प्रकार यह बात हृदयंगम कर लेता है कि यह संसार उड़ते हुए परमाणुओं के संयोग-वियोग से क्षण-क्षण में बनने-बिगड़ने वाली चित्रावली मात्र है, तो उसका दृष्टिकोण भौतिक न रहकर आत्मिक हो जाता है । वह वस्तुओं का अनावश्यक मोह न करके उन बुराइयों से बच जाता है, जो लोभ और मोह को भड़काकर नाना प्रकार के पाप, तृष्णा, द्वेष, चिन्ता, शोक और अभावजन्य क्लेशों से जीवन को नारकीय बनाये हुए हैं ।

देह या मन को अपना मानने का कोई कारण नहीं । यह जड़, परिवर्तनशील, देह भी संसार के अन्य पदार्थों की भाँति ही पञ्चभौतिक है । इसलिये इसको अपने उपयोग की वस्तु, औजार या सवारी समझकर आनन्दमयी जीवन-यात्रा के लिये प्रयुक्त तो करना चाहिये, पर देह या मन की आवश्यक तृष्णाओं के पीछे आत्मा को परेशान नहीं करना चाहिये । इस मान्यता को हृदयंगम कराने के लिये शरीर का विश्लेषण करते हुए 'तत्त्व-बोध' में बताया गया है कि किस तत्त्व से शरीर का कौन-सा भाग बनता है ।

पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता से अस्थि, मांस, त्वचा, नाड़ी, रोम आदि भारी पदार्थ बने हैं । जल की प्रधानता से मूत्र, कफ, रक्त, शुक्र आदि हुआ करते हैं ।अग्नि तत्त्व के कारण-भूख, प्यास, श्रम, थकान, निद्रा, कान्ति आदि का अस्तित्व है । वायु तत्त्व में चलना, फिरना, गति, क्रिया, सिकुड़ना, फैलना होता है । आकाश तत्त्व से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि वृत्तियों, इच्छाओं और विचारधाराओं का आविर्भाव हुआ करता है, तात्पर्य यह है कि शरीर में जो कुछ भी अंग-प्रत्यंग, पदार्थ तथा प्रेरणा है, वह पञ्च-तत्त्वों के आधार पर है ।

जब इस प्रपञ्चरूप संसार और पञ्चावरण शरीर में से 'अहम्' की मान्यता हटाकर विश्व-व्यापी चैतन्य आत्मा में अपने को परिव्याप्त मान लिया है, तो वह परिपूर्ण मान्यता ही मुक्ति बन जाती है । शरीर और संसार की पञ्चभौतिक सत्ता को प्रपंच शब्द से संबोधित किया गया है और वेदान्त में योग-साधना का आदर्श है कि मैं और मेरा द्वैत छोड़कर केवल 'मैं' का अद्वैत सीखो, विश्व में जो कुछ है, 'वह मैं आत्मा हूँ , मुझसे भिन्न कुछ नहीं' यह मान्यता अद्वैत ब्रह्म को प्राप्त करा देती है ।

इसी बात को भक्ति-मार्गी, दूसरे शब्दों में कहते हैं-'जो कुछ है तू है' मेरा अलग अपनत्व कुछ नहीं । दोनों ही मान्यतायें बिल्कुल एक हैं । भक्ति-मार्ग और वेदान्त में शब्दों के फेर के अतिरिक्त वस्तुतः कुछ अन्तर नहीं है ।

अन्नमय कोश के परिमार्जन के लिये तीसरा उपाय 'तत्त्व-शुद्धि' है । स्थूल रूप से शरीर के पंच तत्त्वों को ठीक रखने के लिये जल, वायु, ऋतु, प्रदेश और वातावरण का ध्यान रखना आवश्यक है । सूक्ष्म रूप से पञ्चीकरण विद्या के अनुसार तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आत्म तत्त्व और अनात्म-तत्त्व के अन्तर को समझते हुए प्रपंच से छुटकारा पाना चाहिये, तत्त्व शुद्धि के दोनों ही पहलू महत्त्वपूर्ण हैं। जिसे अपना अन्नमय कोश ठीक रखना है उसे व्यावहारिक जीवन में पंचतत्त्वों की शुद्धि सम्बन्धी बातों का भी विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

(१) जलतत्त्व- जल से शरीर और वस्त्रों की शुद्धि बराबर करता रहे । स्नान करने का उद्देश्य केवल मैल छुड़ाना नहीं वरन् पानी में रहने वाली 'विशिवा' नामक विद्युत् से देह को सतेज करना एवं आक्सीजन, नाइट्रोजन आदि बहुमूल्य तत्त्वों से शरीर को सींचना भी है । सबेरे शौच जाने से बीस-तीस मिनट पूर्व एक गिलास पानी पीना चाहिये जिससे रात का अपच धुल जाए और शौच साफ हो ।

पानी को सदा घूँट-घूँट कर धीरे-धीरे दूध की तरह पीना चाहिये । हर घूँट के साथ यह भावना करते जाना चाहिये कि 'इस अमृत-तुल्य जल में जो शीतलता, मधुरता और शक्ति भरी हुई है, उसे खींचकर मैं अपने शरीर में धारण कर रहा हूँ ।' इस भावना के साथ पिया हुआ पानी दूध के समान गुणकारक होता है ।

जिन स्थानों का पानी भारी, खारी, तेलिया, उथला, तालाबों का तथा हानिकारक हो, वहाँ रहने पर अन्नमय कोश में विकार पैदा होता है । कई स्थानों में पानी ऐसा होता है कि वहाँ फीलपाँव, अण्डनासूर, जलोदर, कुष्ठ, खुजली, मलेरिया, जुएँ, मच्छर आदि का बहुत प्रसार होता है । ऐसे स्थानों को छोड़कर स्वस्थ, हल्के, सुपाच्य

जल के समीप अपना निवास रखना चाहिये । धनी लोग दूर स्थानों से भी अपने लिये उत्तम जल मँगा सकते हैं ।

कभी-कभी एनीमा द्वारा पेट में औषधि मिश्रित जल चढ़ाकर आँतों की सफाई कर लेनी चाहिये । उससे संचित मलों से उत्पन्न विष, पेट में से निकल जाते हैं और चित्त बड़ा हल्का हो जाता है । प्राचीन काल में वस्तिक्रिया, योग का आवश्यक अंग थी । अब एनीमा यन्त्र द्वारा यह क्रिया सुगम हो गयी है ।

जल चिकित्सा पद्धति, रोग निवारण एवं स्वास्थ्य सम्वर्धन के लिये बड़ी उपयुक्त है । डाक्टर लुईकुने ने इस विज्ञान पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं । उनकी बताई पद्धति से किये गये कटि स्नान, मेहन स्नान, मेरुदण्ड-स्नान, गीली चादर लपेटना, कपड़े की पट्टी, गीली मिट्टी का पलस्तर आदि से रोग निवारण में बड़ी सहायता मिलती है ।

(२) **अग्नि-तत्त्व-** सूर्य के प्रकाश के अधिक सम्पर्क में रहने का प्रयत्न करना चाहिये । घर की सभी खिड़कियाँ खुली रखनी चाहिये, ताकि धूप और हवा खूब आती रहे । सबेरे की धूप नंगे शरीर पर लेने का प्रयत्न करना चाहिये । सूर्यताप से तपाये हुए जल का उपयोग करना, भीगे बदन पर धूप लेना उपयोगी है ।

सूर्य की सप्त किरणें अल्ट्रा वायलेट और अल्फा वायलेट किरणें स्वास्थ्य के लिये बड़ी उपयोगी साबित हुई हैं । वे जल के साथ धूप का मिश्रण होने से खिंच आती हैं । धूप में रखकर रंगीन काँच से सम्पूर्ण रोगों की चिकित्सा करने की विस्तृत विधि तथा अग्नि और जल के सम्मिश्रण से भाप बन जाने पर उसके द्वारा अनेकों रोगों का उपचार करने की विधि, सूर्य चिकित्सा विज्ञान की किसी भी प्रामाणिक पुस्तक से देखी जा सकती है ।

रविवार को उपवास रखना सूर्य की तेजस्विता एवं बलदायिनी शक्ति का आह्वान है । पूरा या आंशिक उपवास शरीर की कान्ति और आत्मिक तेज को बढ़ाने वाला सिद्ध होता है ।

(३) **वायु तत्त्व-** घनी आबादी के मकान जहाँ धूल, धुआँ, सील की भरमार रहती है और शुद्ध वायु का आवागमन नहीं होता, वे स्थान स्वास्थ्य के लिये खतरनाक हैं । हमारा निवास खुली हवा में होना चाहिये । दिन में वृक्ष और पौधों से ओषजन वायु (आक्सीजन) निकलती है, वह मनुष्य के लिये बड़ी उपयोगी है । जहाँ तक हो सके, वृक्ष पौधों के बीच अपना दैनिक कार्यक्रम करना चाहिये । अपने घर, आँगन, चबूतरे आदि पर वृक्ष-पौधे लगाने चाहिये ।

प्रात:काल की वायु बड़ी स्वास्थ्यप्रद होती है, उसे सेवन करने के लिये तेज चाल से टहलने के लिये जाना चाहिये । दुर्गन्धित एवं बन्द हवा के स्थान से अपना निवास दूर ही रखना चाहिये । तराई, सील, नमी के स्थानों की वायु, ज्वर आदि पैदा करती है । तेज हवा के झोकों से त्वचा फट जाती है । अधिक ठण्डी या गर्म हवा से निमोनिया या लू लगना जैसे रोग हो सकते हैं । इस प्रकार के प्रतिकूल मौसम से अपनी रक्षा करनी चाहिये ।

प्राणायाम द्वारा फेफड़ों का व्यायाम होता है और शुद्ध वायु से रक्त की शुद्धि होती है । इसलिये स्वच्छ वायु के स्थान में बैठ कर नित्य प्राणायाम करना चाहिये । प्राणायाम की विधि प्राणमय कोश की साधना के प्रकरण में लिखेंगे ।

हवन करना- अग्नि तत्त्व के संयोग से हवन, वायु को शुद्ध करता है । जो वस्तु अग्नि में जलाई जाती है, वह नष्ट नहीं होती वरन् सूक्ष्म होकर वायु मण्डल में फैल जाती है । भिन्न-भिन्न वृक्षों की समिधाओं एवं हवन सामग्रियों में अलग-अलग गुण हैं । उनके द्वारा ऐसा वायुमण्डल रखा जा सकता है, जो शरीर और मन को स्वस्थ बनाने में सहायक हो । किस समिधा और किन-किन सामग्रियों से किस विधान के साथ हवन करने का क्या परिणाम होता है ? इसका विस्तृत विधान बताने के लिये "गायत्री यज्ञ विधान नामक पुस्तक" लिखी गयी है ।

गायत्री साधकों को तो, अपने अन्नमय कोश की वायु शुद्धि के लिये कुछ हवन सामग्री बनाकर रख लेनी चाहिये, जिसे धूपदानी में थोड़ी-थोड़ी जलाकर, उससे अपने निवास स्थान की वायु शुद्धि करते रहना चाहिये ।

चन्दन चूरा, देवदारु, जायफल, इलायची, जावित्री, अगर-तगर, कपूर, छार-छबीला, नागरमोथा, खस, कर्पूर-कचरी तथा मेवायें, जौ कूट करके थोड़ा घी और शक्कर मिलाकर धूप बन जाती है । इस धूप की बड़ी मनमोहक एवं स्वास्थ्यवर्धक गन्ध आती है । बाजार से भी कोई अच्छी अगरबत्ती या धूपबत्ती लेकर काम चलाया जा सकता है । साधना काल में सुगन्ध की ऐसी व्यवस्था कर लेना उत्तम है ।

श्वास मुँह से नहीं, सदा नाक से ही लेना चाहिये। कपड़े से मुँह ढककर नहीं सोना चाहिये और किसी के मुँह के इतना पास नहीं सोना चाहिये कि उसकी छोड़ी हुई श्वास अपने भीतर जाये। धूलि, धुआँ और दुर्गन्ध भरी अशुद्ध वायु से सदा बचना चाहिये।

(४) **पृथ्वी तत्त्व-** शुद्ध मिट्टी में विष-निवारण की अद्भुत शक्ति होती है। गन्दे हाथों को मिट्टी से माँजकर शुद्ध किया जाता है। प्राचीनकाल में ऋषि-मुनि जमीन खोदकर गुफा बना लेते थे और उसमें रहा करते थे। इससे उनके स्वास्थ्य पर बड़ा अच्छा असर पड़ता था।

मिट्टी उनके शरीर के दूषित विकारों को खींच लेती थी, साथ ही भूमि से निकलने वाले वाष्प द्वारा देह का पोषण भी होता रहता था। समाधि लगाने के लिये गुफायें उपयुक्त स्थान समझी जाती हैं, क्योंकि चारों ओर मिट्टी से घिरे होने के कारण शरीर को श्वास द्वारा ही बहुत-सा आहार प्राप्त हो जाता है और कई दिनों तक भोजन की आवश्यकता नहीं पड़ती या कम भोजन से काम चल जाता है।

छोटे बच्चे जो प्रकृति के अधिक समीप हैं, पृथ्वी के महत्त्व को जानते हैं, वे भूमि पर खेलना, भूमि पर लेटना, गद्दों-तकियों की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं। पशुओं को देखिये, वे अपनी थकान मिटाने के लिये जमीन पर लोट जाते हैं और लोट-पोटकर पृथ्वी की पोषण शक्ति से फिर ताजगी प्राप्त कर लेते हैं। तीर्थयात्रा एवं धर्म कार्यों के लिये नंगे पैरों चलने का विधान है। तपस्वी लोग भूमि पर शयन करते हैं।

इन प्रथाओं का उद्देश्य धर्म साधना के नाम पर पृथ्वी की पोषक शक्ति द्वारा साधकों को लाभान्वित करना ही है। पक्के मकानों की अपेक्षा मिट्टी के झोपड़ों में रहने वाले सदा अधिक स्वस्थ रहते हैं।

मिट्टी के उपयोग द्वारा स्वास्थ्य सुधार में हमें बहुत सहायता मिलती है। निर्दोष-पवित्र भूमि पर नंगे पाँवों टहलना चाहिये। जहाँ छोटी-छोटी हरी घास उग रही हो, वहाँ टहलना तो और भी अच्छा है।

पहलवान लोग चाहे वे अमीर ही क्यों न हों रुई के गद्दों पर कसरत करने की अपेक्षा मुलायम मिट्टी के अखाड़ों में ही व्यायाम करते हैं, ताकि मिट्टी के अमूल्य गुणों का लाभ उनके शरीर को प्राप्त हो। साबुन के स्थान पर पोतनी या मुलतानी मिट्टी का उपयोग भी किया जा सकता है। वह मैल को दूर करेगी, विष को खींचेगी और त्वचा को कोमल, ताजा, चमकीला और प्रफुल्लित कर देगी।

मिट्टी शरीर पर लगाकर स्नान करना एक अच्छा उबटन है। गर्मी के दिनों में उठने वाली घमोरियाँ और फुन्सियाँ दूर हो जाती हैं, सिर के बालों को मुलतानी मिट्टी से धोने का रिवाज अभी तक मौजूद है। इससे सिर का मैल दूर हो जाता है। खुरन्ट जमने बन्द हो जाते हैं। बाल काले मुलायम एवं चिकने रहते हैं तथा मस्तिष्क में बड़ी तरावट पहुँचती है। हाथ साफ करने और बर्तन माँजने के लिए मिट्टी से अच्छी और कोई चीज नहीं है।

फोड़े, फुन्सी, दाद, खाज, गठिया, जहरीले जानवरों के काटने, सूजन, जख्म, गिल्टी, नासूर, दुखती हुई आँख, कुष्ठ उपदंश, रक्त विकार आदि रोगों पर गीली मिट्टी बाँधने से आश्चर्यजनक लाभ होता है। डॉ. लुईकुने ने अपनी जल चिकित्सा में मिट्टी की पट्टी के अनेक उपचार लिखे हैं। चूल्हे की जली हुई मिट्टी से दाँत माँजने, नाक के रोगों में मिट्टी के ढेले पर पानी डालकर सुँघाने, लू लगने पर पैरों के ऊपर मिट्टी थोप लेने की विधि से सब लोग परिचित हैं।

किसी स्थान पर बहुत समय तक मल-मूत्र डालते रहें, तो डालना बन्द कर देने के बाद भी बहुत समय तक वहाँ दुर्गन्ध आती रहती है। कारण यह है कि भूमि में शोषण शक्ति है, वह पदार्थों को सोख लेती है और उसका प्रभाव बहुत समय तक अपने अन्दर धारण किये रहती है।

पृथ्वी की सूक्ष्म शक्ति लोगों के सूक्ष्म विचारों और गुणों को सोखकर अपने में धारण कर लेती है। जिन स्थानों पर हत्या, व्यभिचार, जुआ आदि दुष्कर्म होते हैं, उन स्थानों का वातावरण ऐसा घातक हो जाता है कि वहाँ जाने वालों पर उनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता।

श्मशान भूमि जहाँ अनेक मृत शरीर नष्ट हो जाते हैं, अपने में एक भयंकरता छिपाये बैठी रहती है, वहाँ जाने

पर एक विलक्षण प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है, अनेक तांत्रिक साधनाएँ तो ऐसी हैं, जिनके लिये केवल मात्र मरघट का वातावरण ही उपयुक्त होता है ।

भूमिगत प्रभाव से गायत्री साधकों को लाभ उठाना चाहिये । जहाँ सत्पुरुष रहते हैं, जहाँ स्वाध्याय, सद्विचार, सत्कार्य होते हैं, वे स्थान प्रत्यक्ष तीर्थ हैं, उन स्थानों का वातावरण साधना की सफलता में बड़ा लाभदायक होता है । जिन स्थानों में किसी समय में कोई अवतार या दिव्य पुरुष रहे हैं, उन स्थानों की प्रभाव शक्ति का सूक्ष्म निरीक्षण करके तीर्थ बनाये गये हैं । जहाँ कोई सिद्ध पुरुष या तपस्वी बहुत काल तक रहे हैं, वह स्थान सिद्धपीठ बन जाते हैं और वहाँ रहने वालों पर अनायास ही अपना प्रभाव डालते हैं ।

सूक्ष्मदर्शी महात्माओं ने देखा है कि भगवान् कृष्ण की प्रत्यक्ष लीला तरंगें अभी तक ब्रजभूमि में बड़ी प्रभावपूर्ण स्थिति में मौजूद हैं । तीर्थ- वासियों के दूषित चित्तों के बावजूद इस भूमि की प्रभाव शक्ति अब भी बनी हुई है और साधक को उसका स्पर्श होतें ही शान्ति मिलती है । कितने ही मुमुक्षु अपनी आत्मिक शान्ति के लिये इस पुण्यभूमि में निवास करने का स्थाई या अल्पकालीन अवसर निकालते हैं । कारण यह है कि क्लेशयुक्त वातावरण के स्थान में जितने श्रम और समय में जितनी सफलता मिलती है, उसकी अपेक्षा पुण्य भूमि के वातावरण में कहीं जल्दी और कहीं अधिक लाभ होता है । तीर्थ-स्थानों में नंगे पैर भ्रमण करने का भी माहात्म्य इसलिये है कि उन स्थानों की पुण्य तरंगें अपने शरीर से स्पर्श करके आत्म-शान्ति का हेतु बनें ।

(५) आकाश तत्त्व- आकाश तत्त्व पिछले चार तत्त्वों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होने से अधिक शक्तिशाली है । विश्वव्यापी पोल में, शून्याकाश में एक शक्ति-तत्त्व भरा हुआ है, जिसे अंग्रेजी में 'ईथर' कहते हैं । पोले स्थान को खाली नहीं समझना चाहिये । वह वायु से सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष रूप से अनुभव नहीं होता, तो भी उसका अस्तित्व पूर्णतया प्रमाणित है ।

रेडियो द्वारा जो गायन, समाचार, भाषण आदि हम सुनते हैं, वे ईथर में, प्रकाश तत्त्व में, तरंगों के रूप में आते हैं । जैसे पानी में ढेला फेंक देने पर उसकी लहर बनती है, इसी प्रकार ईथर (आकाश) में शब्दों की तरंगें पैदा होती हैं और पलक मारते विश्व भर में फैल जाती हैं । इसी विज्ञान के आधार पर रेडियो यन्त्र का अविष्कार हुआ है ।

एक स्थान पर शब्द तरंगों के साथ बिजली की शक्ति मिलाकर उन्हें अधिक बलवती करके प्रवाहित कर दिया जाता है । अन्य स्थानों पर जहाँ रेडियो यन्त्र लगे हैं, उन आकाश में बहने वाली तरंगों को पकड़ लिया जाता है और प्रेषित सन्देश सुनाई देने लगते हैं ।

वाणी चार प्रकार की होती है- १. वैखरी- जो मुँह से बोली और कानों से सुनी जाती है, जिसे शब्द कहते हैं । २. मध्यमा- जो संकेतों से, मुखाकृति से, भावभंगी से, नेत्रों से कही जाती है, इसे भाव कहते हैं । ३. पश्यन्ती- जो मन से निकलती है और मन ही उसे सुन सकता है, इसे विचार कहते हैं । ४. परा- यह आकांक्षा, इच्छा, निश्चय, प्रेरणा, शाप, वरदान आदि के रूप में अन्तःकरण से निकलती है, इसे संकल्प कहते हैं ।

यह चारों ही वाणियाँ आकाश में तरंग रूप से प्रवाहित होती हैं । जो व्यक्ति जितना ही प्रभावशाली है, उसके शब्द, भाव, विचार और संकल्प आकाश में उतने ही प्रबल होकर प्रवाहित होते हैं ।

आकाश में असंख्य प्रकृति के असंख्य व्यक्तियों द्वारा असंख्य प्रकार की स्थूल एवं सूक्ष्म शब्दावली प्रेषित होती रहती है । हमारा अपना मन जिस केन्द्र पर स्थिर होता है, उसी जाति के असंख्य प्रकार के विचार हमारे मस्तिष्क में धँस जाते हैं और अदृश्य रूप से उन अपने पूर्व निर्धारित विचारों की पुष्टि करना आरम्भ कर देते हैं । यदि हमारा अपना विचार व्यभिचार करने का हो, तो असंख्य व्यभिचारियों द्वारा आकाश में प्रेषित किये गये वैसे ही शब्द, भाव, विचार और संकल्प हमारे ऊपर बरस पड़ते हैं और वैसे उपाय-सुझाव मार्ग बताकर उसी ओर प्रोत्साहित कर देते हैं ।

हमारे अपने स्वनिर्मित विचारों में एक मौलिक चुम्बकत्व होता है । उसी के अनुरूप आकाशगामी विचार हमारी ओर खिंचते हैं । रेडियो में जिस स्टेशन के मीटर पर सुई कर दी जाये, उसी के सन्देश सुनाई पड़ते हैं और

उसी समय में जो अन्य स्टेशन बोल रहे हैं, उनकी वाणी हमारे रेडियो से टकराकर लौट जाती है, वह सुनाई नहीं देती । उसी प्रकार हमारे अपने स्वनिर्मित मौलिक विचार ही अपने सजातियों को आमन्त्रित करते हैं ।

मरी लाश को देखकर कौआ चिल्लाता है, तो सैकड़ों कौए उसकी आवाज सुनकर जमा हो जाते हैं । ऐसे ही अपने विचार भी सजातियों को बुलाकर एक अच्छी खासी, सेना जमा कर लेते हैं । फिर उस विचार-सैन्य की प्रबलता के आधार पर उसी दिशा में कार्य भी आरंभ हो जाता है ।

आकाश तत्त्व की इस विलक्षणता को ध्यान में रखते हुए हमें कुविचारों से विषधर सर्प की भाँति सावधान रहना चाहिये, अन्यथा वे अनेक स्वजातियों को बुलाकर हमारे लिये संकट उत्पन्न कर देंगे । जब कोई कुविचार मन में आये, तो तत्क्षण उसे मार भगाना चाहिये; अन्यथा यह सारे मानस क्षेत्र को वैसे ही खराब कर देगा, जैसे विष की थोड़ी-सी बूँद सारे भोजन को बिगाड़ देती है ।

मन में सदा उत्तम, उच्च, उदार, सात्त्विक विचारों को ही स्थान देना चाहिये । जिससे उसी जाति के विचार अखिल आकाश में से खिंचकर हमारी ओर चले आयें और सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें । उत्तम बात सोचते रहने, स्वाध्याय, मनन, आत्म-चिन्तन, परमार्थ और उपासनामयी मनोभूमि हमारा बहुत कुछ कल्याण कर सकती है । यदि प्रतिकूल कार्य नहीं हो रहे हों, तो उच्च विचारधारा से भी सद्‌गति प्राप्त हो सकती है भले ही उन विचारों के अनुरूप कार्य न हो रहे हों ।

संकल्प कभी नष्ट नहीं होते । पूर्वकाल में ऋषि-मुनियों के, महापुरुषों के जो विचार, प्रवचन एवं संकल्प थे, वे अब भी आकाश में गूँज रहे हैं, यदि हमारी मनोभूमि अनुकूल हो, तो उन दिव्य आत्माओं का पथ-प्रदर्शन एवं सहारा भी हमें अवश्य प्राप्त होता रहेगा ।

परब्रह्म की ब्राह्मी प्रेरणायें, शक्तियाँ, किरणें एवं तरंगें भी आकाश द्वारा ही मानव अन्तःकरण को प्राप्त होती हैं । दैवी शक्तियाँ ईश्वर की विविध गुणों वाली किरणें ही तो हैं, आकाश द्वारा मन के माध्यम से उनका अवतरण होता है ।

शिवजी ने आकाश-वाहिनी गंगा को अपने सिर पर उतारा था, तब वह पृथ्वी पर बही थी । ब्रह्म की सर्वप्रधान दिव्य शक्ति आकाश-वाहिनी गायत्री- गंगा को साधक सबसे पहले अपने मनःक्षेत्र में उतारता है । यह अवतरण होने पर ही जीवन के अन्य अंगों में वह पतितपावनी पुण्यधारा प्रवाहित होती है ।

शरीर में मन या मस्तिष्क आकाश का प्रतिनिधि है । उसी में आकाशगामी , परम कल्याणकारक तत्त्वों का अवतरण होता है । इसलिए साधक को अपना मनःक्षेत्र ऐसा शुद्ध, परिमार्जित, स्वस्थ एवं सचेत रखना चाहिये, जिससे गायत्री का अवतरण बिना किसी कठिनाई के हो सके ।

तपश्चर्या

तप का अर्थ है- उष्णता, गति, क्रियाशीलता, घर्षण, संघर्ष, तितिक्षा, कष्ट सहना । किसी वस्तु को निर्दोष, पवित्र एवं लाभदायक बनाना होता है, तो उसे तपाया जाता है । सोना तपने से खरा हो जाता है । डॉक्टर पहले अपने औजारों को गरम कर लेते हैं, तब उनसे ऑपरेशन करते हैं । चाकू को शान पर न घिसा जाये, तो काटने की शक्ति खो बैठेगा । हीरा खराद पर न चढ़ाया जाये, तो उसमें चमक और सुन्दरता पैदा न होगी ।

व्यायाम का कष्टसाध्य श्रम किये बिना कोई मनुष्य पहलवान नहीं हो सकता । अध्ययन का कठोर श्रम किये बिना विद्वान् बनना सम्भव नहीं । माता बच्चे को गर्भ में रखने एवं पालन- पोषण का कष्ट सहे बिना मातृत्व का सुख लाभ नहीं प्राप्त कर सकती । कपड़ों को धूप में न सुखाया जाए, तो उनमें बदबू आने लगेगी । कोठी में बन्द रखा हुआ अन्न धूप में न डाला जाए तो घुन लग जायेगा । ईंट यदि भट्ठे में न पकें, तो उनमें मजबूती नहीं आ सकती । बिना पके भोजन प्राण रक्षा नहीं कर सकता ।

प्राचीनकाल में पार्वती ने तप करके मनचाहा फल पाया था । भगीरथ ने तप करके गंगा को भूलोक में बुलाया था । ध्रुव के तप ने भगवान् को द्रवित कर दिया था, तपस्वी लोग कठोर तपश्चर्या करके सिद्धियाँ प्राप्त करते थे ।

रावण, कुम्भकरण, मेघनाद, हिरण्यकशिपु, भस्मासुर आदि ने भी तप के प्रभाव से विलक्षण वरदान पाये थे। आज भी जिस किसी को जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह तप के ही प्रभाव से प्राप्त हुआ है।

ईश्वर तपस्वी पर प्रसन्न होता है और उसे ही अभीष्ट आशीर्वाद देता है। जो धनी, सम्पन्न, सुन्दर, स्वस्थ, विद्वान्, प्रतिभाशाली, नेता, अधिकारी आदि के रूप में चमक रहे हैं, उनकी चमक वर्तमान के या पिछले तप के ऊपर ही अवलम्बित है। यदि वे नया तप नहीं करते और पुरानी तपश्चर्या की पूँजी को खा रहे हैं, तो उनकी चमक पूर्व पूँजी चुकते ही धुँधली हो जायेगी।

जो लोग आज गिरे हुए हैं, उनके उठने का एकमात्र मार्ग है- तप। बिना तप के कोई भी सिद्धि, कोई भी सफलता नहीं मिल सकती, न सांसारिक न आत्मिक। कल्याण की ताली तप की तिजोरी में रखी हुई है। जो उसे खोलेगा, वही अभीष्ट वस्तु पाएगा।

दोनों हथेलियों को रगड़ा जाए, तो वे गरम हो जाती हैं। दो लकड़ियों को घिसा जाए, तो अग्नि पैदा हो जायेगी। गति, उष्णता, क्रिया, यह रगड़ का परिणाम है। मशीन को चलाने के लिए उसके किसी भी भाग में धक्का या दचका लगाना पड़ेगा, अन्यथा कीमती से कीमती मशीन भी बन्द ही पड़ी रहेगी।

शरीर को झटका लगाने के लिये व्यायाम या परिश्रम करना आवश्यक है। आत्मा में तेजस्विता, सामर्थ्य एवं चैतन्यता उत्पन्न करने के लिये तप करना होता है। बर्तन माँजे बिना, मकान झाड़े बिना अशुद्धि और मलिनता पैदा हो जाती है। तपश्चर्या छोड़ देने पर आत्मा भी अशक्त, निस्तेज एवं विकारग्रस्त हो जाती है। आलसी और आराम-तलब शरीर में अन्नमय कोश की स्वस्थता स्थिर नहीं रह सकती। इसलिये उपवास, आसन, तत्त्व शुद्धि के साथ ही तपश्चर्या को प्रथम कोश की सुव्यवस्था का आवश्यक अंग बताया गया है।

प्राचीनकाल में तपश्चर्या को बड़ा महत्त्व दिया जाता था। जो व्यक्ति जितना परिश्रमी, कष्टसहिष्णु, साहसी, पुरुषार्थी एवं क्रियाशील होता था, उसकी उतनी ही प्रतिष्ठा होती थी। धनी, अमीर, राजा-महाराजा सभी के बालक गुरुकुलों में भेजे जाते थे; ताकि वे कठोर जीवन की शिक्षा प्राप्त करके अपने को इतना सुदृढ़ बना लें कि आपत्तियों से लड़ना और सम्पत्ति को प्राप्त करना सुगम हो सके।

आज तप के, कष्ट सहिष्णुता के महत्त्व को लोग भूल गये हैं और आरामतलबी, आलस्य, नजाकत को अमीरी का चिह्न मानने लगे हैं। फलस्वरूप पुरुषार्थ घटता जाता है, योग्यता द्वारा उपार्जन करने की अपेक्षा लोग छल, धूर्तता एवं अन्याय द्वारा बड़े बनने का प्रयत्न कर रहे हैं।

गायत्री साधकों को तपस्वी होना चाहिये। अस्वाद व्रत, उपवास, ऋतु-प्रभावों का सहना, तितिक्षा, घर्षण, आत्मकल्प, प्रदातव्य, निष्कासन, साधन ब्रह्मचर्य, चान्द्रायण, मौन, अर्जन आदि तपश्चर्या की विधि गायत्री महाविज्ञान के प्रथम खण्ड में विस्तार से लिख चुके हैं। उनकी पुनरुक्ति करने की आवश्यकता नहीं, यहाँ तो इतना कहना पर्याप्त होगा कि अन्नमय कोश को स्वस्थ रखना है तो शरीर और मन का कार्य व्यस्त रखना चाहिये। श्रम, कर्तव्यपरायणता, जागरूकता और पुरुषार्थ को सदा साथ रखना चाहिये। समय को बहुमूल्य सम्पत्ति समझकर एक क्षण को भी निरर्थक न जाने देना चाहिये।

परोपकार, लोक सेवा, सत्कार्य के लिये दान, यज्ञ भावना से किये जाने वाला परमार्थी जीवन प्रत्यक्ष तप है। दूसरों के लाभ के लिये अपने स्वार्थों का बलिदान करना तपस्वी जीवन का प्रधान चिह्न है। आज की स्थिति में प्राचीनकाल की भाँति तो तप नहीं किये जा सकते, अब शारीरिक स्थिति भी ऐसी नहीं रह गयी है कि भगीरथ, पार्वती या रावण के जैसे उग्र तप किये जा सकें। दीर्घकाल तक निराहार रहना या बिना विश्राम किये लम्बे समय तक साधनारत रहना आज सम्भव नहीं है। वैसा करने से शरीर तुरन्त पीड़ा ग्रस्त हो जायेगा।

सतयुग में लम्बे समय तक दान, तप होते थे। क्योंकि उस समय शरीर में वायु तत्त्व प्रधान था। त्रेता में शरीरों में अग्नि-तत्त्व की प्रधानता थी। द्वापर में जल-तत्त्व अधिक था। उन युगों में जो साधनायें हो सकती थीं, आज नहीं हो सकतीं; क्योंकि आज कलियुग में मानव देहों में पृथ्वी-तत्त्व प्रधान है। पृथ्वी-तत्त्व अन्य सभी तत्त्वों

से स्थूल है, इसलिये आधुनिक काल के शरीर उन तपस्याओं को नहीं कर सकते जो सतयुग, त्रेता आदि में आसानी से होती थीं।

दूसरी बात यह है कि वर्तमान समय में सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन हो जाने से मनुष्य के रहन-सहन में बड़ा अन्तर पड़ गया है। बड़े नगरों में निवासियों को यांत्रिक सभ्यता के बीच रहने के फलस्वरूप शारीरिक-श्रम बहुत कम करना पड़ता है और अधिकांश में कृत्रिम वातावरण के कारण शुद्ध जलवायु से भी वञ्चित रहना पड़ता है।ऐसी अवस्था में शरीर को पूर्वकालीन तप योग्य रहना कहाँ सम्भव हो सकता है?

कुछ समय पूर्व तक नेति, धोति, वस्ति, न्योली, वज्रोली, कपाल, भाति आदि क्रियायें आसानी से हो जाती थीं। उनके करने वाले अनेक योगी देखे जाते थे, पर अब युग प्रभाव से उनकी साधना कठिन हो गयी है। कोई बिरले ही हठयोग में सफल हो पाते हैं। जो किसी प्रकार इन क्रियाओं को करने भी लगते हैं; वे उनसे वह लाभ नहीं उठा पाते, जो इन क्रियाओं से होना चाहिये।

अधिकांश हठयोगी तो इन कठिन साधनाओं के कारण किन्हीं कष्टसाध्य रोगों से ग्रसित हो जाते हैं। रक्त, पित्त, अन्त्रदाह, मूलाधार, कफ, अनिद्रा जैसे रोगों से ग्रसित होते हुए हमने अनेक हठयोगी देखे हैं। इसलिये वर्तमान काल की शारीरिक स्थितियों का ध्यान रखते हुए तपश्चर्या में बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता है, आज तो समाज सेवा, ज्ञान-प्रचार, स्वाध्याय, दान, इन्द्रिय संयम आदि के आधार पर ही हमारी तप साधना होनी चाहिये।

प्राणमय-कोश की साधना

'प्राण' शक्ति एवं सामर्थ्य का प्रतीक है। मानव शरीर के बीच जो अन्तर पाया जाता है, वह बहुत साधारण है। एक मनुष्य जितना लम्बा-मोटा एवं भारी है, दूसरा भी उससे थोड़ा-बहुत ही न्यूनाधिक होगा; परन्तु मनुष्य की सामाजिक शक्ति के बीच जो जमीन आसमान का अन्तर पाया जाता है, उसका कारण उसकी आन्तरिक शक्ति है।

विद्या, चतुराई, अनुभव, दूरदर्शिता, साहस, लगन, शौर्य, जीवनीशक्ति, ओज, पुष्टि, पराक्रम, पुरुषार्थ, महानता आदि नामों से इस आन्तरिक शक्ति का परिचय मिलता है। आध्यात्मिक भाषा में इसे प्राणशक्ति कहते हैं।

प्राण नेत्रों में होकर चमकता है, चेहरे पर बिखरता फिरता है, हाव-भाव में उसकी तरंगें बहती हैं। प्राण की गन्ध में एक ऐसी विलक्षण मोहकता होती है, जो दूसरों को विभोर कर देती है। प्राणवान् स्त्री-पुरुष मन को ऐसे भाते हैं कि उन्हें छोड़ने को जी नहीं चाहता।

प्राण, वाणी में घुला रहता है उसे सुनकर सुनने वालों की मानसिक दीवारें हिल जाती हैं। मौत के दाँत उखाड़ने के लिये जान हथेली पर रखकर जब मनुष्य चलता है, तो उसकी प्राण शक्ति ही ढाल-तलवार होती है। चारों ओर निराशाजनक घनघोर अन्धकार छाया होने पर भी प्राणशक्ति आशा की प्रकाश रेखा बनकर चमकती है। बालू में तेल निकालने की, मरुभूमि में उपवन लगाने की, असम्भव को सम्भव बनाने की, राई को पर्वत करने की सामर्थ्य केवल प्राणवान् में ही होती है। जिसमें स्वल्प प्राण हैं, उसे जीवित मृतक कहा जाता है। शरीर से हाथी के समान स्थूल होने पर भी उसे पराधीन परमुखापेक्षी ही रहना पड़ता है। यह अपनी कठिनाइयों का दोष दूसरों पर थोपकर किसी प्रकार मन को सन्तोष देता है। उज्ज्वल भविष्य की आशा के लिये वह अपनी सामर्थ्य पर विश्वास नहीं करता। किसी सबल व्यक्ति की, नेता की, अफसर की, धनी की, सिद्ध पुरुष की, देवी-देवताओं की सहायता ही उसकी आशाओं का केन्द्र होती है। ऐसे लोग सदा ही अपने दुर्भाग्य का रोना रोते हैं।

प्राण द्वारा ही यह श्रद्धा, निष्ठा, दृढ़ता, एकाग्रता और भावना प्राप्त होती है, जो भव-बन्धनों को काटकर आत्मा को परमात्मा में मिलाती है, 'मुक्ति' को परम पुरुषार्थ माना गया है। संसार के अन्य सुख-साधनों को प्राप्त करने के लिये जितने विवेक, प्रयत्न एवं पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है, मुक्ति के लिये उससे कम नहीं वरन् अधिक की ही आवश्यकता है।

मुक्ति विजय का उपहार है, जिसे साहसी शूरवीर ही प्राप्त करते हैं। भगवान् अपनी ओर से न किसी को बन्धन देते हैं न मुक्ति। दूसरा न कोई स्वर्ग में ले जा सकता है न नरक में, हम स्वयं अपनी आन्तरिक स्थिति के आधार पर जिस दिशा में चलें, उसी लक्ष्य पर पहुँचते हैं।

उपनिषद् का वचन है कि **"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"** वह आत्मा बलहीनों को प्राप्त नहीं होती। निस्तेज व्यक्ति अपने घरवालों, पड़ोसियों, रिश्तेदारों, मित्रों को प्रभावित नहीं कर सकते, तो भला परम-आत्मा (परमात्मा) पर उनका क्या प्रभाव पड़ेगा, तेजस्वी व्यक्ति ही आत्म-लाभ कर सकते हैं, इसलिये प्राण-संचय के लिये योग-शास्त्र में अत्यधिक बल दिया गया है। प्राणायाम की महिमा से सारा अध्यात्म-शास्त्र भरा पड़ा है।

जैसे सर्वत्र ईश्वर की महामहिमामयी गायत्री शक्ति व्याप्त है, वैसे ही निखिल विश्व में प्राण का चैतन्य समुद्र भी भरा पड़ा है। जैसे श्रद्धा और साधना से गायत्री शक्ति को खींचकर अपने में धारण किया जाता है, वैसे ही अपने प्राणामय कोश को सतेज और चेतन करके विश्वव्यापी प्राण से यथेष्ट मात्रा में प्राण-तत्त्व खींचा जा सकता है। यह भण्डार जितना अधिक होगा, उतने ही हम प्राणवान् बनेंगे और उसी अनुपात से सांसारिक एवं आध्यात्मिक सम्पत्तियाँ प्राप्त करने के अधिकारी हो जायेंगे।

दीर्घजीवन, उत्तम स्वास्थ्य, चैतन्यता, स्फूर्ति, उत्साह, क्रियाशीलता, कष्ट सहिष्णुता, बुद्धि की सूक्ष्मता, सुन्दरता, मनमोहकता आदि विशेषतायें प्राणशक्ति रूपी फुलझड़ी की छोटी-छोटी चिनगारियाँ हैं।

प्राणायाम- श्वास को खींचने, उसे अन्दर रोके रखने और बाहर निकालने की एक विशेष क्रिया पद्धति है, इस विधान के अनुसार प्राण को उसी प्रकार अन्दर भरा जाता है जैसे साइकिल के पम्प से ट्यूब में हवा भरी जाती है। यह पम्प इस प्रकार का बना होता है कि हवा को भरता है, पर वापस नहीं खींचता। प्राणायाम की व्यवस्था भी इसी प्रकार की है। साधारण श्वास-प्रश्वास क्रिया में वायु के साथ वह प्राण भी इसी प्रकार आता-जाता रहता है जैसे सड़क पर मुसाफिर चलते रहते हैं। किन्तु प्राणायाम विधि के अनुसार जब श्वास-प्रश्वास क्रिया होती है, तो वायु में से प्राण खींचकर खासतौर से उसे शरीर में स्थापित किया जाता है जैसे कि धर्मशाला में यात्री को व्यवस्थापूर्वक टिकाया जाता है।

भारतीय योगशास्त्र षट्चक्रों में सूर्यचक्र को बहुत अधिक महत्त्व देता है। अब पाश्चात्य विज्ञान ने भी सूर्य-ग्रन्थि को सूक्ष्म तन्तुओं का केन्द्र स्वीकार किया है और माना है कि मानव शरीर में प्रतिक्षण होती रहने वाली क्रिया प्रणाली का संचालन इसी के द्वारा होता है।

कुछ विद्वानों ने इसे 'पेट का मस्तिष्क' नाम दिया है। यह सूर्यचक्र या सोलर प्लेक्समा आमाशय के ऊपर हृदय की धुक-धुकी के पीछे मेरुदण्ड के दोनों ओर स्थित है। यह एक प्रकार की सफेद और भूरी गद्दी से बना हुआ है। पाश्चात्य वैज्ञानिक शरीर की आन्तरिक क्रिया विधि पर इसका अधिकार मानते हैं और कहते हैं कि भीतरी अंगों की उन्नति अवनति का आधार यही केन्द्र है। किन्तु सच बात यह है कि खोज अभी अपूर्ण है। सूर्य चक्र का कार्य और महत्त्व उससे अनेक गुना अधिक है, जितना कि वे लोग मानते हैं। ऐसा देखा गया है कि इस केन्द्र पर यदि जरा कड़ी चोट लगे, तो मनुष्य की तत्काल मृत्यु हो जाती है।

योगशास्त्र इस केन्द्र को प्राणकोश मानता है और कहता है कि वहीं से निकलकर एक प्रकार का मानवी विद्युत् प्रवाह सम्पूर्ण नाड़ियों में प्रवाहित होता है। ओजस् शक्ति इस संस्थान में रहती है।

प्राणायाम द्वारा सूर्य-चक्र की एक प्रकार की हलकी-हलकी मालिश होती है जिससे उसमें गर्मी, तेजी और उत्तेजना का संचालन होता है और उसकी क्रियाशीलता बढ़ती है। प्राणायाम से फुफ्फुसों में वायु भरती है और वे फूलते हैं और यह फूलकर सूर्यचक्र की परिधि में स्पर्श करता है।

बार-बार स्पर्श करने से जिस प्रकार काम-सेवन वाले अंगों में उत्तेजना उत्पन्न होती है, उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा फुस-फुस से सूर्य चक्र का स्पर्श होना वहाँ एक सनसनी उत्तेजना और हलचल पैदा करता है। यह उत्तेजना व्यर्थ नहीं जाती वरन् सम्बन्धित सारे अंग-प्रत्यंगों को जीवन और बल प्रदान करती है, जिससे शारीरिक और मानसिक उन्नतियों का द्वार खुल जाता है।

मेरुदण्ड के दाहिने, बाँये दोनों ओर नाड़ी-गुच्छकों की दो शृंखलायें चलती हैं। ये गुच्छक आपस में सम्बन्धित हैं और इन्हीं में सिर, गले, छाती, पेट आदि के गुच्छक भी आकर शामिल हो गये हैं। अन्य अनेक नाड़ी तन्तुओं का भी वहाँ जमघट है। इनका प्रथम विभाग जिसे मस्तिष्क मेरु विभाग कहते हैं शरीर के ज्ञान-तंतुओं से घनीभूत हो रहा है। इसी संस्थान से असंख्य 'बहुत ही बारीक' भूरे तन्तु निकलकर रुधिर नाड़ियों में फैल गये हैं और अपने अन्दर रहने वाली विद्युत् शक्ति से भीतरी शारीरिक अवयवों को संचालित किये रहते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि मेरुदण्ड के दाँये-बाँये नाड़ी गुच्छकों की दो पृथक् शृंखलायें चलती हैं, इन्हीं को योग में इड़ा और पिंगला कहा गया है। रुधिर संचार, श्वास क्रिया, पाचन आदि प्रमुख कार्यों को सुसंचालित रखने की जिम्मेदारी उपरोक्त नाड़ी गुच्छकों के ऊपर प्रधान रूप से है। प्राणायाम साधना में इन इड़ा-पिंगला नाड़ियों को नियत विधि के अनुसार बलवान् बनाया जाता है, जिससे उनसे सम्बन्धित शरीर की सहानुभावी क्रिया के विकार दूर होकर आनन्दमयी स्वस्थता प्राप्त हो सके।

अत्यन्त प्राचीनकाल से अध्यात्मवेत्ता पुरुष प्राणायाम के महत्त्व और उनके लाभों को अनुभव करते रहे हैं। तदनुसार समस्त भू-मण्डल में योगी लोग अपनी विधि से इन क्रियाओं को करते रहते हैं। महापुरुष ईसामसीह अपने शिष्यों सहित एक पर्वत पर चढ़कर ईश्वर प्रार्थना किया करते थे। कहा जाता है कि इस ऊँची चढ़ाई में आध्यात्मिक श्वास-क्रियाओं का रहस्य छिपा हुआ था।

बौद्ध धर्म में 'जजन' नामक प्राणायाम बहुत काल से चलता आया है। प्रसिद्ध जापानी पुरोहित हकुइन जेशी ने प्राणायाम का खूब विस्तार किया था। यूनान में प्लेटो से भी बहुत पहले इस विज्ञान की जानकारी का पता चलता है। अन्यान्य देशों में भी किसी न किसी रूप में इस विद्या के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।

योगदर्शन 'साधना पाद' के सूत्र ५२, ५४ में बताया गया है कि प्राणायाम से अविद्या का अन्धकार दूर होकर ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है और मन एकाग्र होने लगता है। ऐसी गाथायें भी सुनी जाती हैं कि प्राण को वश में करके योगी लोग मृत्यु को जीत लेते हैं और जब तक चाहें वे जीवित रह सकते हैं। प्राण शक्ति से अपने और दूसरे के रोगों को नष्ट करने का एक अलग विज्ञान है, अनेक प्रकार के प्राणायामों से होने वाले लाभ सुने और देखे जाते हैं। यह लाभ कभी-कभी इतने विचित्र होते हैं कि उन पर आश्चर्य करना पड़ता है।

इन पंक्तियों में उन अद्भुत और आश्चर्यजनक घटनाओं की चर्चा न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्राणायाम से शरीर की सूक्ष्म क्रिया पद्धति के ऊपर अदृश्य रूप से ऐसे विज्ञान-सम्मत प्रभाव पड़ते हैं, जिनके कारण रक्त संचार, नाड़ी-संचालन, पाचन-क्रिया, स्नायविक दृढ़ता, प्रगाढ़-निद्रा, स्फूर्ति एवं मानसिक विकास के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं एवं स्वस्थता, बलशीलता, प्रसन्नता, उत्साह तथा परिश्रम की योग्यता बढ़ती है।

आत्मोन्नति, चित्त की एकाग्रता, स्थिर दृढ़ता आदि मानसिक गुणों की मात्रा में प्राण साधना के साथ-साथ ही वृद्धि तो हो जाती है। इन लाभों पर विचार किया जाये तो प्रतीत होता है कि प्राणायाम आत्मोन्नति की महत्त्वपूर्ण साधना है।

प्राण तत्त्व का वायु से विशेष सम्बन्ध है। पाश्चात्य वैज्ञानिक तो प्राण को वायु का ही एक सूक्ष्म भेद मानते हैं। साँस को ठीक तरह लेने न लेने पर प्राण की मात्रा का घटना-बढ़ना निर्भर रहता है। इसलिये कम से कम साँस लेने के सही तरीके से प्रत्येक बाल-वृद्ध को परिचित होना चाहिये।

हमें गहरी और पूरी साँस लेना चाहिये, जिससे वायु फेफड़े के हर भाग में जाकर सम्पूर्ण वायु-मन्दिरों में रक्त की सफाई कर सके। अधूरी और उथली साँस लेने से कुछ थोड़े से वायु-मन्दिरों की सफाई हो पाती है; क्योंकि उथली साँस का दबाव इतना नहीं होता कि वह हर एक कोष्ठ पर पहुँच सके। जब हवा वहाँ तक पहुँचेगी ही नहीं, तो सफाई किस प्रकार होगी ? साँस का सम्पर्क होने पर रक्त की अशुद्धता-कार्बोनिक एसिड गैस-बाहर निकल जाती है और साँस का प्राण-आक्सीजन में घुल जाता है।

यह प्राण शक्ति उस शुद्ध रक्त के दूसरे दौरे के साथ शरीर के अंग-प्रत्यंगों में पहुँचकर उन्हें ताजगी और

स्फूर्ति प्रदान करती है । शुद्ध रुधिर में एक चौथाई भाग ऑक्सीजन का होता है । यदि इसमें न्यूनता हो जाय तो उसका प्रभाव पाचन-क्रिया पर अनिवार्य रूप से पड़ता है । ऐसे व्यक्तियों की जठराग्नि मन्द होने लगती है ।

इन सब क्रियाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि हमें पूरी गहरी साँस लेने की आवश्यकता है । जिससे रक्त में पर्याप्त आक्सीजन मिल जाय, अंग-प्रत्यंगों में ताजगी एवं स्फूर्ति पहुँचती रहे और पाचन-शक्ति में निर्बलता न आने पाये ।

जठराग्नि मन्द होने से अन्य अंगों में शिथिलता आने लगती है और वे अपने को अधूरा एवं दोषपूर्ण बनाते हैं । यही क्रम यदि कुछ समय जारी रहे, तो जीवन यात्रा में नाना प्रकार की विघ्न-बाधायें उपस्थित हो सकती हैं और विविध भाँति के रोगों का सामना करना पड़ता है ।

अधूरी साँस लेने वाले के फेफड़े का बहुत-सा भाग निकम्मा पड़ा रहता है । जिन मकानों की सफाई नहीं होती, उनमें गन्दगी, मकड़ी, मच्छर, छिपकली, कीड़े-मकोड़े आदि का जमघट होने लगता है । इसी तरह फेफड़े के जिन वायु-कोष्ठों में साँस की वायु नहीं पहुँचती, उनमें क्षय, खाँसी, जुकाम, उरक्षत, कफ, दमा आदि के रोग कीट जड़ जमा लेते हैं । धीरे-धीरे वहाँ वे निर्बाध रीति से पलते रहते हैं और भीतर ही भीतर अपना इतना आधिपत्य जमा लेते हैं कि फिर उनका निकाल बाहर करना कठिन या असम्भव हो जाता है ।

प्राणायाम विज्ञान का सबसे पहला और आरम्भिक पाठ यह है कि हमें पूरी तरह गहरी साँस लेनी चाहिये । ऐसी आदत डालने का प्रयत्न करना चाहिये कि सदैव इस प्रकार साँस ली जाय कि वायु से पूरे फेफड़े भर जायें । यह कार्य झटके से या उतावली में नहीं होना चाहिये । धीरे-धीरे इस प्रकार पूरी साँस खींचनी चाहिये कि छाती भरपूर चौड़ी हो जाए और फिर उसी क्रम से धीरे-धीरे वायु को बाहर निकाल देना चाहिये ।

यही रीति फेफड़ों को स्वस्थ रखने वाली, रक्त को शुद्ध करने वाली, शरीर के अंग-प्रत्यंग में चैतन्यता देने वाली, पाचन शक्ति ठीक बनाये रखने वाली है, इसलिये आरोग्य और दीर्घ-जीवन देने वाली भी है ।

पूरी साँस लेने का अभ्यास डालने से छाती की चौड़ाई बढ़ती है, फेफड़ों की मजबूती और वजन में वृद्धि होती है, हृदय की कमजोरी में सुधार होकर रक्तसंचार की क्रिया में चैतन्यता दिखाई देने लगती है । पाठकों का श्वास-विज्ञान के इस तथ्य को गम्भीरतापूर्वक विचारना चाहिये और अविलम्ब पूरी एवं गहरी साँस लेने की आदत डालने का प्रयत्न आरम्भ कर देना चाहिये । कुछ दिन श्वास क्रिया पर ध्यान रखने से भूल सुधारती रहने से यह आदत भली प्रकार पड़ जाती है ।

प्राणायाम विज्ञान की दूसरी शिक्षा 'नाक से साँस लेना' है । यद्यपि मुँह से भी साँस ली जा सकती है, पर वह इतनी उपयोगी कदापि नहीं हो सकती, जितनी कि नाक से लेने पर होती है । एक बार एक जंगी जहाज के यात्रियों में चेचक बड़े उग्र रूप से फैली । डाक्टरों ने इनकी विशेष सावधानी से जाँच करते रहने का प्रयत्न किया । मृतकों के बारे में उनकी रिपोर्ट थी कि ये सभी मुँह से साँस लेते थे । उस जहाज में एक भी ऐसा आदमी न मरा जिसे नाक से साँस लेने की आदत थी । जुकाम और सर्दी के रोगों के बारे में भी डाक्टरी जाँच का यही निष्कर्ष है कि मुँह खोलकर साँस लेने से इसका प्रकोप विशेष रूप से होता है और भी अनेक छोटे बड़े रोग इसी बुरी आदत के कारण होते देखे गये हैं ।

नाक से फेफड़ों तक जो हवा पहुँचाने वाली नली गयी है, उसकी रचना इस प्रकार हुई है कि वह वायु को उचित रूप से संशोधन-परिमार्जन करके भीतर पहुँचाए । नासिका के छिद्रों में छोटे-छोटे बाल होते हैं । यह एक प्रकार की चलनी है, जिसमें धूल व गन्दगी के अणु अटके रह जाते हैं और छनी हुई वायु भीतर जाती है । जब आप नासिका के छिद्रों में अंगुली डालकर उनकी सफाई करते हैं, तो उनमें से कुछ मैल निकलता है । यह मैल कचरा है, जो वायु के छनने से बचा रहता है ।

नासिका में एक प्रकार का तरल पदार्थ स्रवित होता रहता है, बालों में अटकने के सिवाय जो कचरा बचा रहता है, वह इस स्राव में चिपक जाता है । वायु का इतना संशोधन नासिका के छिद्रों में हो जाने के उपरांत वह आगे चलती है । श्वास नली जो फेफड़ों तक मस्तिष्क में होती हुई गयी है, काफी लम्बी है । इतनी लम्बाई में यात्रा

करती हुई वायु का तापमान सह्य हो जाता है। यदि ठण्डी हुई तो गरम हो जाती है। इस प्रकार फेफड़ों तक पहुँचते-पहुँचते वह सब प्रकार सह्य संशोधित हो जाती है। किन्तु यदि मुँह से साँस लें, तो परिणाम बिलकुल दूसरी ही प्रकार का हो जाता है।

मुँह में नासिका की तरह बाल नहीं होते जो वायु को छानें, दूसरे मुँह का छिद्र इतना बड़ा है कि उसमें वायु गर्द-गुबार बिना रुकावट के चल सकता है। तीसरे मुँह से फेफड़ों की दूरी बहुत कम है, इसलिये वायु की सर्दी-गर्मी में भी विशेष परिवर्तन नहीं होने पाता। इस प्रकार बिना छनी गर्द गुबार युक्त सर्द-गर्म हवा मुँह के द्वारा जब फेफड़ों में पहुँचती है, तो उन्हें हानि पहुँचाती है और बीमारियों की उत्पत्ति करती है। देखा गया है कि जो लोग रात को मुँह से साँस लेते हैं सबेरे उनका मुँह सूखा, कडुवा और बदबूदार होता है। रोगियों को यह लत हो, तो उनको स्वस्थ होने में अनावश्यक देरी लग जाती है।

प्राणायाम के अभ्यासियों को योगियों की यह कड़ी ताकीद होती है कि वे सदा नाक से साँस लिया करें। यदि नासिका भाग में कुछ रुकावट हो जिसके कारण मुँह से साँस लेने के लिये बाध्य होना पड़ता है, तो नासिका रन्ध्रों की सफाई कर लेनी चाहिये।

संगीत से फेफड़े बहुत मजबूत होते हैं। गायन में जिन्हें रुचि होती है, उन्हें छाती सम्बन्धी रोग कम होते देखे गये हैं। अत्यधिक गाने से या अनुचित अवस्था में अविधिपूर्वक गाने से बीमारियाँ हो सकती हैं, परन्तु साधारणतः संगीत की गणना फेफड़ों को मजबूत बनाने वाले अभ्यासों में है।

कण्ठ, हृदय, पसली, आमाशय, आँत, यकृत आदि सभी का, धड़ के अन्तर्गत रहने वाले अंगों का संगीत से अच्छा व्यायाम होता है। यदि अच्छे बाजे के साथ ध्वनिपूर्वक गाया बजाया जाए, तो एक प्रकार की विद्युत् तरंगें उत्पन्न होकर स्नायु-तंतुओं को तरंगित करती रहती हैं, जिससे श्वास-संचालन क्रिया में विशेष रूप से सहायता मिलती है और मन्द एवं शिथिल गति से काम करने वाले अंगों में गतिशीलता का आविर्भाव होता है। जिन्हें गाना-बजाना आता है, उन्हें भोजन के पश्चात् कम से कम दो-तीन घंटे बचाकर सुविधानुसार अभ्यास करना चाहिये। जो बजा न सकते हों, उन्हें केवल गाना ही चाहिये। सुविधानुसार यदि वाद्य-गान सुनने का अवसर मिले, तो उससे लाभ उठाना चाहिये, क्योंकि संगीत से उत्पन्न होने वाली लहरें सुनने वालों को भी प्रभावित करती हैं।

प्रातः-सायं गायन-वाद्य तथा नृत्य के साथ संकीर्तन करने की धार्मिक प्रथा का स्वास्थ्य से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। संकीर्तन में सम्मिलित होने वालों के गले एवं फेफड़े का व्यायाम हो जाता है। जोर-जोर से धार्मिक भजन गाने या शंख बजाने से भी फेफड़ों का व्यायाम होता है और बहुत अंशों में प्राणायाम का लाभ मिलता है।

प्राणाकर्षण की सुगम क्रियायें

प्रातःकाल नित्य-कर्म से निवृत्त होकर साधना के लिये किसी शान्तिदायक स्थान पर आसन बिछाकर बैठिये, दोनों हाथों को घुटनों पर रखिये, मेरुदण्ड सीधा रहे, नेत्र बन्द कर लीजिये।

फेफड़ों में भरी हुई सारी हवा बाहर निकाल दीजिये, अब धीरे-धीरे नासिका द्वारा साँस लेना आरम्भ कीजिये। जितनी अधिक मात्रा में भर सकें फेफड़ों में हवा भर लीजिये। अब कुछ देर उसे भीतर ही रोके रहिये। इसके पश्चात् साँस को धीरे-धीरे नासिका द्वारा बाहर निकालना आरंभ कीजिये। हवा को जितना अधिक खाली कर सकें, कीजिये। अब कुछ देर साँस को बाहर ही रोक दीजिये अर्थात् बिना साँस के रहिये। इसके बाद पूर्ववत् वायु को खींचना आरंभ कीजिये। यह एक प्राणायाम हुआ।

साँस निकालने को रेचक, खींचने को पूरक और रोके रहने को कुम्भक कहते हैं। कुम्भक के दो भेद हैं। साँस को भीतर भरकर रोके रखना 'अन्तः-कुम्भक' और खाली करके बिना साँस रहना 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है। रेचक और पूरक में समय बराबर लगना चाहिये, पर कुम्भक में उसका आधा समय ही पर्याप्त है।

पूरक करते समय भावना करनी चाहिये कि मैं जन शून्य लोक में अकेला बैठा हूँ और मेरे चारों ओर विद्युत् जैसी चैतन्य जीवनी शक्ति का समुद्र लहरें ले रहा है । साँस द्वारा वायु के साथ-साथ प्राण शक्ति को मैं अपने अन्दर खींच रहा हूँ ।

अन्तः कुम्भक करते समय भावना करनी चाहिये कि उस चैतन्य प्राण-शक्ति को मैं अपने भीतर भरे हूँ । समस्त नस-नाड़ियों में, अंग-प्रत्यंगों में वह शक्ति स्थिर हो रही है । उसे सोखकर देह का रोम-रोम चैतन्य, प्रफुल्लित, सतेज एवं परिपुष्ट हो रहा है ।

रेचक करते समय भावना करनी चाहिये कि शरीर में सञ्चित मल, रक्त में मिले हुए विष, मन में धँसे हुए विकार साँस छोड़ने पर वायु के साथ-साथ बाहर निकाले जा रहे हैं ।

बाह्य कुम्भक करते समय भावना करनी चाहिये कि अन्दर के दोष साँस के द्वारा बाहर निकलकर भीतर का दरवाजा बन्द कर दिया गया है; ताकि वे विकार वापस न लौटने पाएँ ।

इन भावनाओं के साथ प्राणाकर्षण प्राणायाम करना चाहिये । आरम्भ में पाँच प्राणायाम करें; फिर क्रमशः सुविधानुसार बढ़ाते जाएँ ।

कहीं एकान्त में जाओ । समतल भूमि पर नरम बिछौना बिछाकर पीठ के बल लेट जाओ, मुँह ऊपर की ओर रहे । पैर, कमर, छाती, सिर सब एक सीध में रहें । दोनों हाथ सूर्य चक्र पर (आमाशय का वह स्थान जहाँ पसलियाँ और पेट मिलता है) रहें । मुँह बन्द रखो । शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दो, मानों वह कोई निर्जीव वस्तु है और उससे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है । कुछ देर शिथिलता की भावना करने पर शरीर बिलकुल ढीला पड़ जायेगा । अब धीरे-धीरे नाक द्वारा साँस खींचना आरम्भ करो और दृढ़ शक्ति के साथ भावना करो कि विश्व-व्यापी महान् प्राण-भण्डार में से मैं स्वच्छ प्राण, साँस के साथ खींच रहा हूँ और वह प्राण मेरे रक्त-प्रवाह तथा समस्त नाड़ी तन्तुओं में प्रवाहित होता हुआ सूर्य चक्र में इकट्ठा हो रहा है । इस भावना को कल्पना लोक में इतनी दृढ़ता के साथ उतारो कि प्राण शक्ति की बिजली जैसी किरणें नासिका द्वारा देह में घूमती हुई चित्रवत् दीखने लगें तथा उसमें प्राण- प्रवाह बहता हुआ आये । भावना की जितनी अधिकता होगी उतनी ही अधिक मात्रा में तुम प्राण खींच सकोगे ।

फेफड़ों को वायु से अच्छी तरह भर लो और पाँच से दस सेकेण्ड तक उसे रोके रहो । आरम्भ में पाँच सेकेण्ड काफी हैं, पश्चात् अभ्यास बढ़ने पर दस सेकेण्ड तक रोक सकते हैं । साँस के रोकने के समय अपने अन्दर प्रचुर परिमाण में प्राण भरा हुआ है, यह अनुभव करना चाहिये । अब वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालो । निकालते समय ऐसा अनुभव करो कि शरीर के सारे दोष, रोग और विष इनके द्वारा निकाल बाहर किये जा रहे हैं । दस सेकेण्ड तक बिना हवा के रहो और पूर्ववत् प्राणाकर्षण प्राणायाम करना प्रारम्भ कर दो । स्मरण रखो कि प्राणाकर्षण का मूलतत्त्व साँस खींचने-छोड़ने में नहीं वरन् आकर्षण की उस भावना में है, जिसके अनुसार अपने शरीर में प्राण का प्रवेश होता हुआ चित्रवत् दिखाई देने लगता है ।

इस प्रकार श्वास-प्रश्वास की क्रियायें दस मिनट से लेकर धीरे-धीरे आधे घण्टे तक बढ़ा लेनी चाहिये । श्वास द्वारा खींचा हुआ प्राण सूर्य चक्र में जमा होता जा रहा है, इसकी विशेष रूप से भावना करो । मुँह द्वारा साँस छोड़ते समय आकर्षित प्राण को छोड़ने की भी कल्पना करने लगें, तो यह सारी क्रिया व्यर्थ हो जायेगी और कुछ लाभ न मिलेगा ।

ठीक तरह से प्राणाकर्षण करने पर सूर्य-चक्र जाग्रत् होने लगता है । ऐसा प्रतीत होता है कि पसलियों के जोड़ और आमाशय के स्थान पर जो गड्ढा है, वह सूर्य के समान एक छोटा-सा प्रकाश बिन्दु मानव नेत्रों से दीख रहा है । यह गोला आरंभ में छोटा, थोड़े प्रकाश का और धुँधला मालूम देता है; किन्तु जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ने लगता है, वैसे-वैसे साफ, स्वच्छ, बड़ा और प्रकाशवान् होता है । जिनका अभ्यास बढ़ा-चढ़ा है उन्हें आँख बन्द करते ही अपना सूर्य चक्र साक्षात् सूर्य की तरह तेजपूर्ण दिखाई देने लगता है । वह प्रकाशित तत्त्व सचमुच प्राण शक्ति है । इसकी शक्ति से कठिन कार्यों में अद्भुत सफलता प्राप्त होगी ।

अभ्यास पूरा करके उठ बैठो । तुम्हें मालूम पड़ेगा कि रक्त का दौरा तेजी से हो रहा है और सारे शरीर में एक बिजली-सी दौड़ रही है । अभ्यास के उपरान्त कुछ देर शान्तिमय स्थान में बैठना चाहिये । अभ्यास से उठकर एक दम किसी काम में जुट जाना, स्नान, भोजन, मैथुन करना निषिद्ध है ।

ऊपर सर्वसाधारण के उपयोग की श्वास-प्रश्वास क्रियाओं का वर्णन हो चुका है । इसके उपयोग से गायत्री साधकों की आन्तरिक दुर्बलता दूर होती है और प्राणवान् होने के लक्षण प्रकट होने लगते हैं, प्राणमय कोश की भूमिका को पार करते हुए दस प्राणों को संशोधित करना पड़ता है ।

मनुष्य शरीर में दस जाति के प्राणों का निवास है । इनमें से पाँच को महाप्राण और पाँच को लघुप्राण कहते हैं । १- प्राण, २- अपान, ३-समान, ४-उदान, ५- व्यान, यह पाँच महाप्राण हैं और १-नाग, २-कूर्म, ३- कृकल, ४-देवदत्त, ५- धनञ्जय, यह पाँच लघुप्राण हैं । शरीर में कुछ ऐसे भ्रमर हैं, जिनमें जाने से प्राण-तत्त्व की क्रिया एवं स्थिति उन भ्रमरों के अनुकूल ही हो जाती है । बिजली की धारा बल्व के स्पर्श से प्रकाश करती है, पंखे के साथ मिलकर हवा करती है, मोटर में आकर ताकत पैदा करती है, रेडियो में उसका कार्य ध्वनि को पकड़ना होता है । प्राण तत्त्व एक प्रकार की विद्युत् शक्ति के समान है । बहते हुए पानी में जैसे भ्रमरों के गड्ढे पड़ते हैं, वैसे ही सूक्ष्म शरीर में कुछ ऐसे भ्रमर हैं, जिनके साथ प्राण का सम्मिश्रण होने से एक विशेष प्रक्रिया की जाती है ।

पाँच महाप्राणों को 'ओजस्' और पाँच लघुप्राणों को 'रेतस्' कहते हैं । दोनों प्राण एक दूसरे के सहायक एवं पूरक हैं । दोनों नेत्र, दोनों नथुने, दोनों कान, दोनों हाथ, दोनों पैर एक-दूसरे के सहायक एवं साथी हैं । इसी प्रकार महाप्राण और लघुप्राण भी आपस में सम्बद्ध तथा सहायक हैं । इनको एक ही प्राण के दो भाग कहा जा सकता है । एक होते हुए भी कुछ भेदों के कारण मस्तिष्क को अगला(बड़ा मस्तिष्क) और पिछला (छोटा मस्तिष्क) दो भागों में बाँटा गया है, वैसे ही प्राण-तत्त्व भी दो भागों में विभाजित हुआ है ।

'प्राण वायु' का निवास स्थान हृदय है । 'नाग' भी उसके समीप रहता है । 'अपान' गुदा और मूत्रेन्द्रिय के बीच में मूलाधार के निकट रहता है, उसी के पास 'कूर्म' लघुप्राण का निवास है । 'समान और कृकल' नाभि में रहते हैं । 'उदान' और 'देवदत्त' का स्थान कण्ठ है ।'व्यान' और 'धनञ्जय' में आकाश-तत्त्व का अधिक मिश्रण रहने से ये सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहते हैं, पर उसका प्रधान केन्द्र मस्तिष्क का मध्य भाग है ।

साधारणत: ऐसा माना जाता है कि प्राण के द्वारा शब्द एवं मस्तिष्क का पोषण होता है । अपान से मल-मूत्र, स्वेद आदि का विसर्जन होता है । समान से पाचन, परिपाक और उष्णता का संचार होता है । उदान विविध वस्तुयें बाहर से शरीर के भीतर ग्रहण करता है । व्यान का काम रक्त-संचार है । लघु प्राणों में नाग से डकार आती है । कूर्म से पलक मारने और बन्द होने की क्रिया होती है । कृकल से छींकें और देवदत्त से जँभाई आती है । धनञ्जय जीवित अवस्था में शरीर का पोषण करता है और मरने पर देह को सड़ा-गला कर शीघ्र नष्ट करने का प्रबन्ध करता है ।

ये मान्यतायें सर्वांगपूर्ण नहीं हैं । जिस स्थान पर जिस प्राण का निवास बताया गया है, वहाँ एक प्रकार के वायु भ्रमर होते हैं, जिनमें प्राणों का विशेष संचार रहता है । गर्मी के दिनों में जलवायु अधिक गरम हो जाती है तो एक प्रकार के वायु 'भ्रमर' उत्पन्न होते हैं, जो घूमते और नाचते हुए अन्धड़ की तरह आगे चलते हैं, उसी प्रकार के कुछ भ्रमर शरीर में पाये जाते हैं ।

सूक्ष्म निरीक्षण करने पर पता चलता है कि इन स्थानों पर शरीरगत वायु और प्राण की उष्णता के कारण एक प्रकार के भ्रमर चक्र उत्पन्न हो जाते हैं । भ्रमर सदा ऊपर चौड़े होते हैं और नीचे की तरफ ढलवाँ होते जाते हैं तथा अन्त में बहुत ही छोटे नोंक मात्र हो जाते हैं । ऊपर के सबसे चौड़े भाग को 'स्तर' और नीचे से सबसे नुकीले भाग को 'बिन्दु' कहते हैं । इसी प्रकार प्राण वायु के भ्रमर का ऊर्ध्व भाग महाप्राण और अधो भाग लघुप्राण कहा जाता है । एक स्तर है तो दूसरा बिन्दु । वस्तुत: दोनों एक ही महातत्त्व के दो विभाग मात्र हैं ।

वस्तुत: प्राण का कार्य जीवन चलाना है । हृदय की धड़कन जीवन की प्रतीक है । घड़ी में फिनर की ऐंठ ही सब कल-पुर्जों को चलाती है । फिनर की चाबी नष्ट हो जाए, तो पुर्जों का चलना बन्द हो जायेगा । प्राण के द्वारा

हृदय की धड़कन होती है; फिर उससे रक्त सञ्चार होता है, साँस आ जाती है, इसके बाद शरीर की अन्य क्रियायें होती हैं।

प्राण में शिथिलता आने पर जीवनी शक्ति घट जाती है और उसके अत्यन्त न्यून हो जाने पर हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है। समाधि लगाने वाले महात्माओं का प्राण पर अधिकार होता है। ये दीर्घ काल तक निस्तब्ध रहने पर जब चाहते हैं, तब शरीर में प्राण का स्पन्दन बढ़ाकर हृदय का धड़कना आरंभ कर देते हैं और साधारण जीवन जीने लगते हैं। जब तक उनका प्राण खिंचकर ब्रह्माण्ड में संचित किया रहता है तब तक हृदय की धड़कन बन्द रहती है और शरीर मृततुल्य हो जाता है, इसलिये उनको दीर्घकालीन समाधि सुख मिलता रहता है।

प्राण पर अधिकार प्राप्त किये बिना लम्बे समय तक स्थिर समाधि नहीं लग सकती। प्राण पर अधिकार करके दीर्घकाल तक जीवन स्थिर रखना, मृत्यु को इच्छानुवर्ती बना लेना सम्भव है, एक मनुष्य दूसरे को प्राण-दान दे सकता है, जैसे एक मनुष्य का रक्त दूसरे के शरीर में पहुँचाया जा सकता है, वैसे ही एक का प्राण दूसरे के शरीर में प्रवेश करके उसे जीवन एवं मनोबल दे सकता है।

'अपान' का स्थूल कार्य मलों का ठीक प्रकार विसर्जन करना है। देह के भीतर सदा पैदा होने वाले मल, मूत्र, पसीना, कफ, कीचड़, विष, विजातीय पदार्थ आदि त्याज्य पदार्थों को अपान अनेक छिद्रों द्वारा शरीर से बाहर निकालता रहता है। यदि अपान अपनी यह क्रिया न करे, तो शरीर में मल निकालने की शक्ति घट जायेगी और अपच, जुकाम आदि अनेक रोग पैदा हो जायेंगे।

इसके अतिरिक्त अपान की सूक्ष्म क्रिया जननेन्द्रिय में होती है। काम-वासना का आधार इसी पर निर्भर है। मन को मथ डालने वाली, चित्त को अधीर, व्यग्र एवं आतुर कर डालने वाली वासना, अपान के उत्तेजित हो जाने से होती है। यह यदि शिथिल हो जाए, तो तरुण पुरुष भी नपुंसक हो जायेगा। सन्तान का सौन्दर्य, स्वास्थ्य, बुद्धि, पराक्रम एवं स्वभाव अपान से बहुत कुछ सम्बन्धित है। अपान का सहवर्ती 'कूर्म' लघुप्राण यदि सुषुप्त अवस्था में होगा तो, शारीरिक-दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ होने पर भी गर्भ की स्थापना कदापि न हो सकेगी।

जिन स्त्री-पुरुषों में अपान साम्य होता है, उन्हें काम-सेवन में असाधारण आनन्द आता है। रूप-सौन्दर्य पर नहीं, कामतुष्टि अपान की समानता पर निर्भर करती है। पुरुष में अपान और स्त्री में कूर्म प्रधान होता है दोनों के परस्पर मिलन से एक ऐसा प्राण परिवर्तन होता है, जो अनेक शारीरिक और मानसिक अभावों की पूर्ति करता है। अपान पर अधिकार की पद्धति न जानते हुए भी जिन्हें हठपूर्वक ब्रह्मचर्य रखना पड़ता है वे प्राय: किन्हीं रोगों से ग्रसित रहते हैं।

आज विधुर और विधवाओं में से अधिकांश का स्वास्थ्य खराब देखा जाता है और जन-गणना की रिपोर्ट से पता चलता है कि गृहस्थों की अपेक्षा विधुरों की मृत्यु संख्या का अनुपात कहीं अधिक है, जिनमें अपान की समानता है, वे अकारण ही आपस में घनिष्ट मित्र बन जाते हैं। उन्हें एक-दूसरे के साथ रहने में बड़ी शान्ति मिलती है। ऐसे मित्रों को ही 'प्राणसखा' कहते हैं। उन्हें आपसी वियोग मर्मान्तक दु:ख देता है।

समान प्राण उदर में नाभि के नीचे रहता है। पाचन इसका मुख्य कार्य है। गर्मी, उष्णता एवं पित्त को समान का प्रतीक कहते हैं। शरीर में चञ्चलता, स्फूर्ति, उत्साह, छरहरापन एवं चमक इसी के कारण होती है। त्वचा की चिकनाई, कोमलता, चमक में कृकल-प्राण का अस्तित्व परिलक्षित होता है। खूब भूख लगना, अधिक आहार करना, जल्दी पचा लेना, सर्दी के प्रभाव से व्यथित न होना समान की विशेषता है। जिनमें यह प्राण कम होगा; वे सर्दी बर्दाश्त न कर सकेंगे, जाड़ों में उनकी देह लुञ्ज-पुञ्ज सी हो जायेगी। कानों को, उँगलियों को, पैरों को बड़ी ठण्ड लगेगी, ठण्डे जल में जाड़े के दिनों में स्नान करना उन्हें बड़ा कष्टकर होगा। अधिक कपड़े लादे रहने पर भी ठण्ड न छूटेगी।

ऐसे लोगों का जरा से भोजन से पेट भर जाता है। गरम पदार्थ खाने की, धूप या अग्नि के निकट बैठने की इच्छा रहती है। ऐसे मनुष्य अपनी दुर्बलता के कारण सर्दी को बर्दाश्त नहीं कर पाते, पर गर्मी का मौसम उनकी

प्रकृति के अनुकूल पड़ता है । 'समान' की न्यूनता के कारण शरीर में उष्णता कम रहती है, उसकी पूर्ति गरम मौसम से हो जाती है । ऐसे लोगों की नाड़ी पतली चलती है ।

समान-प्राण का स्वास्थ्य से बड़ा सम्बन्ध है । इन्द्रियों की रसानुभूति समान के आधार पर घटती-बढ़ती रहती है । स्वादिष्ट पदार्थ, मनोरम दृष्टि, मधुर ध्वनि, सुखद स्पर्श, सुरभित गंध को भली प्रकार ग्रहण करने और इससे आनन्दित होने की क्षमता 'समान' प्राण वालों में होती है । जिसका 'समान' घट जायेगा वह सब प्रकार की सुखद परिस्थिति होते हुए भी खिन्न, असंतुष्ट एवं झुँझलाया हुआ रहेगा, देह का कोई न कोई अंग बीमारी का कष्ट पाता रहेगा ।

ऐसे लोगों को सन्निपात, मोतीझरा आदि तीव्र रोग तो नहीं होते, पर जुकाम, खाँसी, पेट का भारीपन, सिरदर्द, दाँतों का हिलना, आँखों की कमजोरी, देह का टूटना, थकान जैसे मन्द रोग घेरे रहेंगे । एक से पीछा छूटने से पहले ही दूसरा नया उत्पन्न हो जायेगा ।

'समान' पित्त का प्रतीक है । 'कृकल' कफ का प्रतिनिधि है । दोनों के मिलने से 'बाद' बनता है । इन तीनों के उलझने-सुलझने और घटने-बढ़ने से बीमारी और तन्दुरुस्ती का चक्र घूमता है । कहा जाता है कि बीमारी की जड़ पेट में है, इसका अर्थ यही है कि नाभि चक्र के निवासी 'समान' और 'कृकल' ही हमारे स्वास्थ्य के अधिपति हैं । इन पर अधिकार होने से चिरस्थायी स्वास्थ्य का स्वामित्व प्राप्त होता है ।

'उदान' प्राण का निवास कण्ठ है । यह श्री और समृद्धि का स्थान है । लक्ष्मी जी का केन्द्रं कण्ठकूप की 'स्फुटा' ग्रन्थि को माना गया है । लक्ष्मी जी की पूजा एवं 'स्फुटा' के उत्तेजन से निर्मित कण्ठ में स्वर्णाभूषण धारण किये जाते हैं । 'स्फुटों' पर धातुओं और रत्नों का जो प्रभाव पड़ता है, उसे जानने वाले गले में रत्न, कवच, आभूषण एवं मालायें बनाकर कण्ठ में धारण करते हैं और उनके सूक्ष्म परिणामों से लाभान्वित होते हैं ।

उदान के परिपूर्ण होने से मनुष्य को वे योग्यतायें , सामर्थ्य, शक्तियाँ, विशेषतायें एवं चतुरतायें प्राप्त होती हैं, जिनके कारण सांसारिक आवश्यकता की वस्तुयें प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती रहती हैं । तृष्णाओं का तो अन्त नहीं, उन्हें तो कुबेर भी पूरी नहीं कर सकता, पर जीवनोपयोगी कोई वस्तु ऐसी नहीं, जिसे उदान प्राण की सामर्थ्य से प्राप्त न किया जा सकता हो । जिनकी 'स्फुटा' ग्रन्थि जाग्रत् है, वे कभी भी अभावग्रस्त नहीं रह सकते, उनकी हर उचित आवश्यकता समय पर पूरी हो जाती है ।

'देवदत्त' सूक्ष्म प्राण आध्यात्मिकता और सम्पदाओं का स्वामी है । अष्ट सिद्धियाँ, नव निधियाँ देवदत्त से सम्बन्धित हैं । शाप-वरदान, दूर-श्रवण, अणिमा, महिमा, लघिमा आदि चमत्कारों का केन्द्र यही है ।

अमीर, सम्पन्न, बड़े आदमी, व्यापारी, धनी, लक्ष्मीपति बनना, वैसे घर में जन्म पाना वैसी आकस्मिक सहायतायें प्राप्त होना, वैसे अवसर, सुझाव या मित्र मिल जाना उदान-प्राण के शक्तिशाली होने पर निर्भर है । जब यह प्राण निर्बल हो जाता है, तो लक्ष्मी विदा होते देर नहीं लगती । ऐसे गलत कदम उठ जाते हैं, ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके कारण घाटे पर घाटा होने लगता है, चोट पर चोट लगती है और मनुष्य कुछ ही दिनों में निर्धन एवं दीन-हीन बन जाता है ।

जब तक स्फुटा जाग्रत् रहती है, तब तक बड़ी-बड़ी हानि होने पर भी स्थायी रूप से दरिद्रता नहीं आ सकती । कारण यह है कि स्फुटा में उदान प्राण के सम्पर्क से एक ऐसी चैतन्य स्फुरणा उत्पन्न होती है, जो अदृश्य लोक में छिपे हुए भविष्य का परिचय पाती रहती है । उसे अज्ञात रूप से अनायास ही ऐसा आभास होता रहता है कि यह करना ठीक है और यह करना अनिष्टकारक होगा । एक अज्ञात शक्ति उसका पथ प्रदर्शन करती सी मालूम होती है । वह खतरों से बचाती है, आगे बढ़ने का मार्ग बताती है और कठिन परिस्थितियों में सहारा देती है, जिससे कि डूबता हुआ बेड़ा पार हो जाता है । उदान द्वारा चैतन्य 'स्फुटा' को शरीर-वासिनी लक्ष्मी कहा जाता है ।

जिसका कण्ठ-कूप का 'देवदत्त' प्रबुद्ध होता है, ऐसा पुरुष महा चमत्कारी, परम सिद्ध पुरुष बन जाता है । वह चाहे तो प्राण बल से अद्भुत उथल-पुथल उत्पन्न कर सकता है ।

'व्यान' का स्थान मस्तिष्क का मध्य भाग है । यह चार अन्य प्राणों का नियन्त्रण करता है । दोनों कानों के

बीच एक रेखा खींची जाए और दूसरी रेखा भ्रूमध्य भाग से लेकर सिर के पीछे तक खींची जाए, तो दोनों जहाँ मिलेंगी, वह स्थान त्रिकुटी कहा जायेगा । यही 'ध्यान' का स्थान माना जाता है । इसका सहायक 'धनञ्जय' है । व्यान को कृष्ण, धनञ्जय को अर्जुन कहते हैं । इसी त्रिकुटी में, युद्धस्थली के मध्य भाग में कृष्णार्जुन सम्वाद रूपी गीता का आविर्भाव होता है । मध्य मस्तक में शतदल कमल में अवस्थित जिस अमृतकलश का योगशास्त्रों में वर्णन है, उसे व्यान और धनञ्जय का प्रसाद ही समझना चाहिये ।

'व्यान' के प्रबुद्ध होने से ऋतम्भरा प्रज्ञा मिलती है । ऋतम्भरा प्रज्ञा उस उच्च विचारधारा को कहते हैं, जो जीव को आत्मकल्याण की ओर ले जाती है । सत्कर्म, शुभ-संकल्प, सद्‍वृत्ति आदि दैवी गुण, कर्म, स्वभावों का प्रकाश व्यान द्वारा ही होता है । आत्म-साक्षात्कार, ईश्वर-दर्शन, ब्रह्म-प्राप्ति, दिव्य-दृष्टि एवं समाधि का केन्द्र व्यान है । व्यान को गरुड़ कहा गया है । भगवान् का वाहन गरुड़ है । जिसका व्यान जाग्रत् हो गया उसके मानस में परमात्मा का प्रत्यक्ष विकास परिलक्षित होने लगता है ।

मस्तिष्क में अनेक शक्तियाँ हैं, जिनके कारण मनुष्य अपनी सर्वोपरि प्रधानता सिद्ध करता है । संसार में ऐसे कितने ही महापुरुष हुए हैं, जिनकी अद्‍भुत मानसिक योग्यता एवं प्रतिभा ने लोगों को हैरत में डाल दिया है । यह धनञ्जय प्राण के विकास का चमत्कार है । मस्तिष्क में अनेक शक्तियों का निवास है । व्यवस्था-शक्ति, ग्रहण-शक्ति, निर्णय-शक्ति, रचना-शक्ति, आमोद-शक्ति, उपक्रान्ति-शक्ति, अनुवर्तन-शक्ति आदि अगणित शक्तियाँ मस्तिष्क में भरी पड़ी हैं ।

सभी प्रकार की भली-बुरी, तुच्छ- महान् शक्तियों का भण्डार, मस्तिष्क है । इस आधार पर सुव्यवस्था एवं अव्यवस्था का आधार धनञ्जय प्राण है । यदि उसमें कुछ गड़बड़ी हो, तो मनुष्य में अनेक मानसिक त्रुटियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । ऐसे लोग मूर्ख, मन्दबुद्धि, चिंतित, दु:खी एवं उलझनों में उलझे रहते हैं । किसी व्यक्ति का पूर्ण मस्तिष्कीय विकास तभी हो सकता है, जब उसका 'व्यान' ठीक हो और उसका मन्त्री 'धनञ्जय' जाग्रत् होकर काम करे ।

दस प्राणों को सुषुप्त दशा से उठाकर जाग्रत् करने, उसमें उत्पन्न हुई कुप्रवृत्तियों का निवारण करने, प्राण शक्ति पर परिपूर्ण अधिकार करने एवं इस महाशक्ति द्वारा सांसारिक एवं आत्मिक जीवन को सुसम्पन्न बनाने के लिये 'प्राणविद्या' का जानना आवश्यक है । जो इस विद्या को जानता है, उसको प्राण सम्बन्धी न्यूनता एवं विकृति के कारण उत्पन्न होने वाली, कठिनाइयाँ दु:ख नहीं देतीं ।

प्राण विद्या को ही हठयोग भी कहते हैं । हठयोग के अन्तर्गत प्राण परिपाक के लिये (१) बन्ध (२) मुद्रा और (३) प्राणायाम के साधन बताये गये हैं । तीन बन्ध और नौ प्राणायामों का वर्णन नीचे दिया जाता है ।

तीन बन्ध

मूलबन्ध- प्राणायाम करते समय गुदा के छिद्रों को सिकोड़कर ऊपर की ओर खींचे रखना मूल-बन्ध कहलाता है । गुदा को संकुचित करने से 'अपान' स्थिर रहता है । वीर्य का अध: प्रभाव रुककर स्थिरता आती है । प्राण की अधोगति रुककर ऊर्ध्वगति होती है । मूलाधार स्थित कुण्डलिनी में मूल-बन्ध से चैतन्यता उत्पन्न होती है । आँतें बलवान् होती हैं, मलावरोध नहीं होता, रक्त संचार की गति ठीक रहती है । अपान और कूर्म दोनों पर ही मूलबन्ध का प्रभाव पड़ता है । वे जिन तन्तुओं में बिखरे हुए फैले रहते हैं, उनका संकुचन होने से यह बिखरापन एक केन्द्र में एकत्रित होने लगता है ।

जालन्धर बन्ध- मस्तक को झुकाकर ठोड़ी को कण्ठ-कूप (कण्ठ में पसलियों के जोड़ पर जो गड्ढा है, उसे कण्ठ-कूप कहते हैं) में लगाने को जालन्धर बन्ध कहते हैं । जालन्धर बन्ध से श्वास-प्रश्वास क्रिया पर अधिकार होता है । ज्ञान-तन्तु बलवान् होते हैं । हठयोग में बताया गया है कि इस बन्ध का सोलह स्थान की नाड़ियों पर प्रभाव पड़ता है ।१-पादांगुष्ठ, २- गुल्फ, ३- घुटने, ४- जंघा, ५- सीवनी, ६- लिंग, ७- नाभि, ८- हृदय, ९- ग्रीवा,

१०- कण्ठ, ११- लम्बिका, १२- नासिका, १३- भ्रू, १४- कपाल, १५- मूर्धा और १६- ब्रह्मरंध्र, यह सोलह स्थान जालन्धर बन्ध के प्रभाव क्षेत्र हैं, विशुद्धि चक्र के जागरण में जालन्धर बन्ध से बड़ी सहायता मिलती है ।

उड्डियान बन्ध- पेट में स्थित आँतों को पीठ की ओर खींचने की क्रिया को उड्डियान बन्ध कहते हैं । पेट को ऊपर की ओर जितना खींचा जा सके उतना खींचकर उसे पीछे की ओर पीठ में चिपका देने का प्रयत्न इस बन्ध में किया जाता है । इसे मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाला कहा गया है ।

जीवनी शक्ति को बढ़ाकर दीर्घायु तक जीवन स्थिर रखने का लाभ उड्डियान से मिलता है । आँतों की निष्क्रियता दूर होती है । अन्त्र पुच्छ, जलोदर, पाण्डु, यकृत वृद्धि, बहु मूत्र सरीखे उदर तथा मूत्राशय के रोगों में इस बन्ध में बड़ा लाभ होता है । नाभि स्थित 'समान' और 'कृकल' प्राणों में स्थिरता तथा वात, पित्त, कफ की शुद्धि होती है । सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुलता है और स्वाधिष्ठान चक्र में चेतना आने से वह स्वल्प श्रम से ही जाग्रत् होने योग्य हो जाता है ।

सात मुद्रायें

महामुद्रा- बायें पैर की एड़ी को गुदा तक मूत्रेन्द्रिय के बीच सीवन भाग में लगाएँ और दाहिना पैर लम्बा कर दीजिये । लम्बे किये हुए पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़े रहिये । शिर को घुटने से लगाने का प्रयत्न कीजिये । नासिका के बायें छिद्र से साँस पूरक खींचकर कुछ देर कुम्भक करते हुए दाहिने छिद्र से रेचक प्राणायाम कीजिये । आरम्भ में पाँच प्राणायाम बायीं मुद्रा से करने चाहिये, फिर दायें पैर को सिकोड़कर गुदा भाग से लगाये और बायें पैर को फैलाकर दोनों हाथों से उसका अँगूठा पकड़ने की क्रिया करनी चाहिये । इस दशा में दायें नथुने से पूरक और बायें से रेचक करना चाहिये । जितनी देर बायें भाग से यह मुद्रा की थी, उतनी ही देर दायें भाग से करनी चाहिये ।

इस महा-मुद्रा से कपिल मुनि ने सिद्धि प्राप्त की थी । इससे अहंकार, अविद्या, भय, द्वेष, मोह आदि के पंच क्लेशदायक विकारों का शमन होता है । भगन्दर, बवासीर, संग्रहिणी, प्रमेह आदि रोग दूर होते हैं । शरीर का तेज बढ़ता है और वृद्धावस्था दूर हटती जाती है ।

खेचरी मुद्रा- जीभ को उलटी करके उसे उलटना और तालू के गड्ढे में जिह्वा का अग्र भाग लगा देने को खेचरी-मुद्रा कहते हैं । तालू के गड्ढे वाले भाग में एक पोला स्थान है, जिसमें आगे चलकर मांस की एक सूँड़ सी लटकती है, उसे कपिल कुहर भी कहते हैं । यही स्थान जिह्वा के अग्रभाग को लगाने का होता है ।

प्राचीनकाल में जिह्वा को लम्बी करने के लिये कुछ ऐसे उपाय काम में लाये जाते थे, जो वर्तमान परिस्थिति में आवश्यक नहीं हैं । १- जिह्वा को इस तरह दुहना जैसे पशु के थन को दुहते हैं, २- जिह्वा को शहद, कालीमिर्च आदि से सहलाते हुए आगे की ओर सूँतना या खींचना । ३- जीभ के नीचे नाड़ी तन्तुओं को काट देना, ४- लोहे की शलाका में दबा-दबा कर जीभ बढ़ाना । यह क्रिया देश, काल, ज्ञान की वर्तमान स्थिति के अनुरूप नहीं है । जैसे अब प्राचीनकाल की भाँति हजारों वर्ष तक निराहार तप कोई नहीं कर सकता, वैसे ही खेचरी मुद्रा के लिये जिह्वा बढ़ाने के कष्टसाध्य उपाय भी अब असामयिक हैं ।

काली मिर्च और शहद की जिह्वा पर हल्की मालिश कर देने से वहाँ के तन्तुओं में उत्तेजना आ जाती है और उसे पीछे की ओर लौटने में सहायता मिलती है । इस रीति से जिह्वा के अग्रभाग को तालू गह्वर में लगाने का प्रयत्न करना चाहिये । जिह्वा धीरे-धीरे चलती रहे, जिसमें तालू गह्वर की हलकी मालिश होती रहे । दृष्टि भ्रूमध्य भाग में रखनी चाहिये ।

खेचरी मुद्रा से कपाल गह्वर में होकर प्राण-शक्ति का संचार होने लगता है और सहस्रदल कमल में अवस्थित अमृत निर्झर झरने लगता है, जिसके आस्वादन से एक बड़ा ही दिव्य आनन्द आता है । प्राण की ऊर्ध्वगति हो जाने से मृत्यु काल में जीव ब्रह्मरन्ध्र में होकर ही प्रयाण करता है, इसलिये उसे मुक्ति या सद्गति प्राप्त होती है । गुदा आदि अधोमार्गों से जिनका प्राण निकलता है, वह नरकगामी तथा मुख, नाक, कान से प्राण छोड़ने वाला

मृत्युलोक में भ्रमण करता है; किन्तु जिसका जीव ब्रह्मरन्ध्र में होकर जायेगा वह अवश्य ही सद्गति को प्राप्त करेगा। खेचरी मुद्रा द्वारा ब्रह्माण्ड स्थित शेषशायी सहस्त्रदल निवासी परमात्मा से साक्षात्कार होता है। यह मुद्रा बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है।

विपरीतकरणी मुद्रा- मस्तक को जमीन पर रखकर दोनों हाथों को उसके समीप रखना और पैरों को सीधे ऊपर की ओर उल्टे करना, इसे विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। शीर्षासन भी इसी का नाम है। शिर का नीचा और पैर का ऊपर होना इसका प्रधान लक्षण है।

तालू के मूल से चन्द्र नाड़ी और नाभि के मूल से सूर्य नाड़ी निकलती है। इन दोनों के उद्गम स्थान विपरीत-करणी मुद्रा द्वारा सम्बन्धित हो जाते हैं। ऋण-प्राण और धन-प्राण का इस मुद्रा द्वारा एकीकरण होता है। जिससे मस्तिष्क को बल मिलता है।

योनिमुद्रा- इसे षड्मुखी भी कहते हैं। पद्मासन पर बैठकर दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों कान, दोनों हाथ की तर्जनियों से दोनों आँखें, दोनों मध्यमाओं से दोनों कानों के छिद्र और दोनों अनामिकाओं से मुँह बन्द कर देना चाहिये। होठों को कौए की चोंच की तरह बाहर निकाल कर धीरे-धीरे साँसें खींचते हुए उसे गुदा तक ले जाना चाहिये। फिर उल्टे क्रम से धीरे-धीरे बाहर निकाल देना चाहिये। योनिमुद्रा की यह साधना योग सिद्धि में बड़ी सहायक सिद्ध होती है।

शाम्भवी मुद्रा- आसन लगाकर दोनों भौहों के बीच में दृष्टि को जमाकर भ्रकुटी में ध्यान करने को शाम्भवी मुद्रा कहते हैं। कहीं-कहीं अधखुले नेत्र और ऊपर चढ़ी हुई पुतलियों से जो शान्त चित्त ध्यान किया जाता है, उसे भी शाम्भवी मुद्रा कहा है। भगवान् शम्भू के द्वारा साधित होने के कारण इन साधनाओं का नाम शाम्भवी मुद्रा पड़ा है।

अगोचरी मुद्रा- मन को रोककर नासिका के अग्रभाग पर मन को रोकना।

भूचरी मुद्रा- नासिका से चार अँगुल आगे के शून्य स्थान पर दोनों की दृष्टि नेत्रों को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना।

इसके अतिरिक्त नभोमुद्रा, महा-बन्ध शक्तिचालिनी मुद्रा, ताड़गी, माण्डवी अधोधारण, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी, नभोधारणा, अश्वनी, पाशनी, काकी, मातंगी, भुंजगिनी आदि २५ मुद्राओं का घेरण्ड-संहिता में सविस्तार वर्णन है। यह सभी अनेक प्रयोजनों के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। प्राणमय कोश के अनावरण में जिन मुद्राओं का प्रमुख कार्य है, उन सात का वर्णन ऊपर कर दिया है। अब ९६ प्राणायामों में से प्रधान ९ प्राणायामों का उल्लेख नीचे करते हैं।

नौ प्राणायाम

(१) लोम-विलोम प्राणायाम- सिद्धासन, पद्मासन या स्वस्तिकासन पर मूल-बन्ध लगाकर बैठें। मेरुदण्ड को सीधा रखें। भीतर भरी हुई साँस बाहर निकाल दें। अब नासिका से साँस खींचिये और जालन्धर-बन्ध लगाकर उड्डियान बन्ध लगाकर दाहिने नथुने से धीरे-धीरे वायु निकाल दीजिये। फिर एक सेकेण्ड बिना वायु के रहिये, तत्पश्चात् दाहिने नथुने से साँस खींचिये, फिर कुछ देर तक भीतर साँस रोक कर बायें नथुने से उसे बाहर निकाल दीजिये। इस प्रकार दो प्राणायाम हो जाते हैं।

पुन: एक सेकेण्ड बाह्य-कुम्भक करके पहले की भाँति दुहराना चाहिये। इस प्रकार आरम्भ में १० प्राणायाम करने चाहिये और प्रति दिन एक-एक बढ़ाते हुए अन्त में उन्हें ४० तक पहुँचा देना चाहिए। दाहिने नथुने से रेचक या पूरक करना हो, साँस छोड़ना या खींचना हो तो हाथ की अनामिका और कनिष्ठा उँगलियों से बायें नथुने को बन्द कर लें। इसी प्रकार जब बायें नथुने से वायु ग्रहण करनी या छोड़नी हो, तो दाहिने हाथ के अँगूठे से दाहिने नथुने को बन्द करें।

(२) **सूर्य-भेदन प्राणायाम-** दाहिने नथुने से वायु खींचिए, यथाशक्ति कुम्भक कीजिये और बायें नथुने से बाहर निकाल दीजिये। इस प्रकार इस क्रिया को बार-बार करें। यही सूर्य- भेदन प्राणायाम है। अनुलोम, विलोम, प्राणायाम में नथुनों से पूरक और रेचक होता है, परन्तु इसमें एक ही नथुने से (दाहिने में पूरक और बायें से रेचक) होता है।

इस प्राणायाम से शरीर में उष्णता बढ़ती है, इसलिये यह शीत प्रकृति वालों के लिये अथवा शीत ऋतु में विशेष उपयोगी सिद्ध होता है।

(३) **उज्जायी प्राणायाम-** सिर को कुछ झुका लें। कण्ठ से वायु खींचने का घर्षण शब्द करते हुए बायें से पूरक करें। चार-पाँच सेकेण्ड कुम्भक करें। इसके पश्चात् बायें नथुने से वायु बाहर निकाल दें। इस प्राणायाम में रेचक, पूरक और कुम्भक तीनों ही थोड़ी मात्रा में होते हैं। इसमें बन्धों का प्रयोग करना आवश्यक नहीं है। चलते-फिरते, उठते-बैठते या सोते हुए यह उज्जायी प्राणायाम आसानी से किया जा सकता है। रोगी लोग शय्या पर पड़े-पड़े इसे कर सकते हैं। पेट के रोगों के लिए यह उपयोगी है। इससे भी उष्णता बढ़ती है।

(४) **शीतकारी प्राणायाम-** दोनों नथुने बन्द करके जिह्वा और होंठों द्वारा वायु खींचें। यथाशक्ति रोके रहें और फिर धीरे-धीरे दोनों नथुनों से वायु को बाहर निकाल दें।

दाँतों के बीच जिह्वा को बाहर ओंठों तक निकालकर ओंठों को फुलाकर मुख के बीच सीत्कार करते हुए श्वास खींचने की क्रिया प्रधान होने के कारण इसे शीतकारी प्राणायाम कहते हैं। इस प्राणायाम में जिह्वा के सहारे वायु भीतर प्रवेश करती है। यह प्राणायाम शीतल है इसलिये उष्ण प्रकृति वालों के लिये अथवा ग्रीष्म ऋतु में यह विशेष उपयोगी है। यह शरीर को निर्विष बनाता है। कहते हैं काकभुशुण्डि जी ने इसी विधि से प्राणायाम में सिद्धि प्राप्त की थी।

(५) **शीतली प्राणायाम-** दोनों नथुने बन्द कर दीजिये। ओंठों को कौए की चोंच की तरह बनाकर जिह्वा को उनमें से थोड़ा बाहर निकाल दीजिये। फिर मुख द्वारा धीरे-धीरे वायु भीतर खींचिये। यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नथुनों से धीरे-धीरे वायु बाहर निकाल दीजिये, यह शीतली प्राणायाम कहलाता है। यह भी शीतल प्रकृति का है। रूप लावण्य में वृद्धि करता है।

(६) **भस्त्रिका प्राणायाम-** पद्मासन लगाकर बाँयीं नासिका से वेगपूर्वक जल्दी-जल्दी दस बार लगातार पूरक रेचक कीजिये। कुम्भक करने की आवश्यकता नहीं है। फिर ग्यारहवीं बार उसी नासिका से लम्बा पूरक कीजिये, यथाशक्ति कुम्भक करने के उपरान्त दाहिने नथुने से धीरे-धीरे वायु को बाहर निकाल दीजिये। फिर इसी क्रिया को दाहिने-नथुने से दुहराइये। यह भस्त्रिका प्राणायाम है। आरम्भ में इसे पाँच-पाँच बार से अधिक नहीं करना चाहिये।

यह सम-शीतोष्ण है। ब्रह्मग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रुद्र ग्रन्थि तीनों का यह भेदन करता है। इसके द्वारा सुषुम्ना में से प्राण-तत्त्व की विहंगम गति ऊर्ध्व-प्रदेश की ओर बढ़ती है। इसी से अग्नितत्त्व प्रदीप्त होता है। इसे आरम्भ में अधिक संख्या में या अधिक वेग से नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करने से फुफ्फुस कोश पर आघात पहुँचने का भय रहता है।

(७) **भ्रामरी प्राणायाम-** पद्मासन लगाकर नेत्र बन्द करके बैठिये। भ्रकुटि के मध्य भाग में ध्यान कीजिये। जालन्धर-बन्ध लगाइये। फिर नाक द्वारा भ्रमर नाद के समान गुञ्जन स्वर करते हुए पूरक कीजिये। पश्चात् तीन सेकेण्ड कुम्भक करके धीरे-धीरे भ्रमर गुञ्जन ध्वनि के साथ रेचक कीजिये। यही भ्रामरी प्राणायाम है।

कोई योगी दोनों नासापुटों से वायु खींचने और छोड़ने के पक्ष में हैं और कोई लोम, विलोम प्राणायाम की भाँति दाहिने-बायें नथुनों से इसे करने को अच्छा बताते हैं।

कुम्भक की अवस्था में रुकी हुई वायु को मस्तिष्क में बायीं ओर से दाहिनी ओर लगातार कई बार घुमाकर तब रेचक करते हैं। इस वायु को भ्रमण कराने की क्रिया के कारण तथा भ्रमण-नाद जैसी ध्वनि होने के कारण इस प्राणायाम का नाम भ्रामरी रखा गया है। यह मन की एकाग्रता एवं प्राण की स्थिरता के लिये लाभदायक है।

(८) **मूर्छा प्राणायाम-** दोनों हाथों के अँगूठे दोनों कानों में, दोनों तर्जनी दोनों आँखों पर, दोनों मध्यमा नासिका पुटों पर और अनामिकायें तथा कनिष्ठायें मुख पर रखकर मूलबन्ध तथा जालन्धर बन्ध का आरंभ से अन्त तक स्थिर रख करके बाँयें नथुने से पूरक करें। यथाशक्ति कुम्भक करके दाहिने नथुने से रेचक करें। यह मूर्छा प्राणायाम हुआ।

इस प्राणायाम में रेचक करते समय बन्द नेत्रों से भ्रूमध्य भागों में ध्यान करने पर पञ्च तत्त्वों के रंग दिखाई पड़ते हैं। शरीर में जो तत्त्व अधिक होगा, उसी का रंग अधिक दृष्टिगोचर होगा। पृथ्वी का रंग पीला, जल का सफेद, अग्नि का लाल, वायु का हरा और आकाश का नीला होता है। इन तत्त्वों का शोधन करने से नादानुसंधान तथा समाधि में सुविधा रहती है।

(९) **प्लाविनि प्राणायाम-** पद्मासन से बैठिए, दोनों भुजाओं को ऊपर की ओर लम्बी तथा सीधी रखिए, अब दोनों नथुनों से पूरक कीजिये और सीधा लेट जाइए। लेटते समय दोनों हाथों को समेट कर तकिए की तरह सिर के नीचे लगा लीजिए, कुम्भक कीजिये और जब तक कुम्भक रहे, तब तक भावना कीजिए कि मेरी देह रुई के समान हल्की है। फिर बैठकर पूर्व स्थिति में आ जाइए और धीरे-धीरे दोनों नथुनों से वायु को बाहर निकाल दीजिए, यह प्लाविनि प्राणायाम है। इनसे ऋद्धियों और सिद्धियों का मार्ग प्रशस्त होता है।

किस प्राणायाम को किस मात्रा, किस प्रयोजन के लिए, किस प्रकार जाग्रत् किया जाय ? इसका निर्णय करना इतना सुगम नहीं है कि उसे एक साँस में बताया जा सके। कारण यह है कि साधक की आन्तरिक स्थिति, सांसारिक परिस्थिति, शरीर का गठन, आयु, मनोभूमि, संस्कार आदि के आधार पर ही विचार किया जा सकता है कि उनके लिए वर्तमान स्थिति में किस प्रकार की साधना उपयोगी एवं आवश्यक है।

प्राणायाम कोश की सुव्यवस्था करने के लिए साधारणत: बन्ध-मुद्रा तथा प्राणायाम की क्रियायें ही प्रयुक्त होती हैं। इन्हीं में हेर-फेर करके दस प्राणों का उन्नायक विधान बनाया जाता है। फिर भी कई बार ऐसे अवसर प्राप्त होते हैं, जिनमें इन साधनों में से किसी की भी आवश्यकता नहीं पड़ती और प्राण-विद्या की सांगोपांग सफलता मिल जाती है।

गायत्री का द्वितीय मुख प्राणमय कोश है। इसको अनुकूल बना लेना ही वेदमाता को प्रसन्न करके उनके दूसरे मुख से आशीर्वाद प्राप्त कर लेना है। प्राणमय को शुद्ध एवं प्रशुद्ध करना यानी एक प्रकार से गायत्री माता की प्राणमयी उपासना है। इसे ही आत्मोन्नति की द्वितीय भूमिका कहा जाता है।

मनोमय कोश

पंचकोशों में तीसरा 'मनोमय कोश' है। इसे गायत्री का तृतीय मुख भी कहा गया है। मन बड़ा चंचल और वासनामय है। यह सुख प्राप्ति की अनेक कल्पनाएँ किया करता है। कल्पनाओं के ऐसे रंग-बिरंगे चित्र तैयार करता है कि उन्हें देखकर बुद्धि भ्रमित हो जाती है और मनुष्य ऐसे कार्यों को अपना लेता है, जो उसके लिए अनावश्यक एवं हानिकारक होते हैं तथा जिनके लिए उसको पीछे पश्चात्ताप करना पड़ता है। अच्छे और प्रशंसनीय कार्य भी मन की कल्पना पर अवलम्बित हैं। मनुष्य को नारकीय एवं घृणित पतितावस्था तक पहुँचा देना अथवा उसे मानव-भूसुर बना देना मन का ही खेल है।

'मन' में प्रचण्ड प्रेरक शक्ति है। इस प्रेरक शक्ति से अपने कल्पना चित्रों को वह ऐसा सजीव कर देता है कि मनुष्य बालक की तरह उसे प्राप्त करने के लिए दौड़ने लगता है। रंग-बिरंगी तितलियों के पीछे जैसे बच्चे दौड़ते-फिरते हैं, तितलियाँ जिधर जाती हैं, उधर ही उन्हें भी जाना पड़ता है, इस प्रकार मन में जैसी कल्पनाएँ, इच्छाएँ, वासनाएँ, तृष्णाएँ उठती हैं उसी ओर शरीर चल पड़ता है।

चूँकि सुख की आकांक्षा ही मन के अन्तराल में प्रधान रूप से काम करती है, इसलिए वह जिस बात में, जिस-जिस दिशा में सुख प्राप्ति की कल्पना कर सकता है, उसी के अनुसार एक सुन्दर मनमोहक रंग-बिरंगी

योजना तैयार कर देता है, मस्तिष्क उसी ओर लपकता है । शरीर उसी दिशा में काम करता है; परन्तु साथ ही मन की चंचलता भी प्रसिद्ध है, इसलिए वह नई कल्पनाएँ करने में पीछे नहीं रहता । कल की योजना पूरी नहीं हो पाई थी कि उसमें भी एक नई और तैयार हो गई । पहली छोड़कर नई में प्रवृत्ति हुई । फिर वही क्रम आगे भी चला । उसे छोड़कर और नया आयोजन किया ।

इस प्रकार अनेक अधूरी योजनाएँ पीछे छूटती जाती हैं और नई बनती जाती हैं । 'अनियन्त्रित' मन का यह कार्यक्रम है । वह मृग तृष्णाओं में मनुष्य को भटकाता है और असफलताओं की, अधूरे कार्यक्रमों की अगणित ढेरियाँ लगाकर जीवन को मरघट जैसा कर्कश बना देता है ।

वर्तमान युग में यह दोष और अधिक बढ़ गया है । इस समय मनुष्य भौतिकता के पीछे पागल हो रहा है । आत्म-कल्याण की बात को सर्वथा भूलकर वह कृत्रिम सुख-सुविधाओं के लिए लालायित हो रहा है और जिनके पास ऐसे साधन जितने अधिक होते हैं, उसे उतना ही भाग्यवान् समझने लगता है । जो संयोगवश अथवा शक्ति के अभाव के कारण उन 'सुख-साधनों' से वंचित रह जाता है, वे अपने को परम अभागा, दीन-हीन अनुभव करते हैं । उनका मन सदैव घोर उद्विग्न रहता है और अतृप्त लालसाओं के कारण भी शान्ति का अनुभव करने में असमर्थ रहते हैं ।

गीता में कहा गया है कि 'मन ही मनुष्य का शत्रु और मन ही मित्र है, बन्धन और मोक्ष का कारण भी यही है ।' वश में किया हुआ मन अमृत के समान और अनियंत्रित मन को हलाहल विष जैसा अहितकर बताया गया है । कारण यह है कि मन के ऊपर जब कोई नियंत्रण या अनुशासन नहीं होता, तो वह सबसे पहले इन्द्रिय भोगों में सुख खोजने के लिए दौड़ता है ।

जीभ से तरह-तरह के स्वाद चाटने की ललक उसे सताती है । रूप यौवन के क्षेत्र में काम-किलोल करने के लिए इन्द्र के परिस्तान को कल्पना जगत् में ला खड़ा करता है, नृत्य, गीत, वाद्य, मनोरंजन, सैर-सपाटा, मनोहर दृश्य, सुवासित पदार्थ उसे लुभाते हैं और उनके निकट अधिक से अधिक समय बिताना चाहता है । सरकस, थियेटर, सिनेमा, क्लब, खेल आदि के मनोरंजन, क्रीड़ास्थल उसे रुचिकर लगते हैं । शरीर को सजाने या आराम देने के लिए बहुमूल्य वस्त्राभूषण, उपचार, मोटर-विमान आदि सवारियाँ, कोमल पलंग, पंखे आदि की व्यवस्था आवश्यक प्रतीत होती है । इन सब भोगों को भोगने एवं वाहवाही लूटने, अहंकार की पूर्ति करने, बड़े बनने का शौक पूरा करने के लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता होती है । उसके लिए अर्थ संग्रह की योजना बनाना मन का प्रधान काम हो जाता है ।

असंस्कृत, छुट्टल मन प्राय: इन्द्रिय भोग, अहंकार की तृप्ति और धन संचय के तीन क्षेत्र में ही सुख ढूँढ़ पाता है । उसके ऊपर कोई अंकुश न होने से वह उचित-अनुचित का विचार नहीं करता और 'जैसे बने वैसे करने' की नीति अपनाकर जीवन की गतिविधि को कुमार्गगामी बना देता है । मन की दौड़ स्वच्छन्द होने पर बुद्धि का अंकुश भी नहीं रहता । फलस्वरूप एक योजना छोड़ने, दूसरी अपनाने में योजना के गुण-दोष ढूँढ़ने की बाधा नहीं रहती ।

पाशविक इच्छाओं की पूर्ति के लिए अव्यवस्थित कार्यक्रम बनाते-बिगाड़ते रहना और इस अव्यवस्था के कारण जो उलझनें उत्पन्न होती हैं, उनमें भटकते हुए ठोकर खाते रहना साधारणत: यही एक कार्यप्रणाली सभी स्वच्छन्द मन वालों की होती है । इसकी प्रतिक्रिया जीवनभर क्लेश, असफलता, पाप, अनीति, निन्दा और दुर्गति होना ही हो सकता है ।

मन का वश में होने में अर्थ है उसका बुद्धि के, विवेक के नियंत्रण में होना । बुद्धि जिस बात में औचित्य अनुभव करे, कल्याण देखे, आत्मा का हित, लाभ-स्वार्थ समझे, उसके अनुरूप कल्पना करने, योजना बनाने, प्रेरणा देने का काम करने को मन तैयार हो जाय तो समझना चाहिए कि मन वश में हो गया है । क्षण-क्षण में अनावश्यक दौड़ लगाना, निरर्थक स्मृतियों और कल्पनाओं में भ्रमण करना अनियन्त्रित मन का काम है । जब वह वश में हो जाता है तो जिस एक काम पर लगा दिया जाए, उसमें लग जाता है ।

मन की एकाग्रता एवं तन्मयता में इतनी प्रचण्ड शक्ति है कि उस शक्ति की तुलना संसार की और किसी

शक्ति से नहीं हो सकती, जितने भी विद्वान्, लेखक, कवि, वैज्ञानिक, अन्वेषक, नेता, महापुरुष अब तक हुए हैं, उन्होंने मन की एकाग्रता से ही काम किया है ।

सूर्य की किरणें चारों ओर बिखरी पड़ी रहती हैं, तो उनका कोई विशेष उपयोग नहीं होता, पर जब आतिसी शीशे द्वारा उन किरणों को एकत्रित कर दिया जाता है, तो जरा से स्थान की धूप से अग्नि जल उठती है और उस जलती हुई अग्नि से भयंकर दावानल लग सकता है । जैसे दो इन्च क्षेत्र में फैली हुई धूप का केन्द्रीकरण भयंकर दावानल के रूप में प्रकट हो सकता है, वैसे ही मन की बिखरी हुई कल्पना, आकांक्षा और प्रेरणा शक्ति भी जब एक केन्द्र- बिन्दु पर एकाग्र होती हैं, तो उसके फलितार्थों की कल्पना मात्र से आश्चर्य होता है ।

पतञ्जलि ऋषि ने 'योग' की परिभाषा करते हुए कहा कि **'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'** अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना, रोककर एकाग्र करना ही योग है । योग साधना का विशाल कर्मकाण्ड इसलिए है कि चित्त वृत्तियाँ एक बिन्दु पर केन्द्रित होने लगें तथा आत्मा के आदेशानुसार उनकी गतिविधि हो । इस कार्य में सफलता मिलते ही आत्मा अपने पिता परमात्मा में सन्निहित समस्त ऋद्धि-सिद्धियों का स्वामी बन जाता है । वश में किया हुआ मन ऐसा शक्तिशाली अस्त्र है कि उसे जिस ओर भी प्रयुक्त किया जायेगा, उसी ओर आश्चर्यजनक चमत्कार उपस्थित हो जायेंगे । संसार के किसी कार्य में प्रतिभा, यश, विद्या, स्वास्थ्य, भोग, अन्वेषण आदि जो भी वस्तु अभीष्ट होगी, वह वशवर्ती मन के प्रयोग से निश्चित ही प्राप्त होकर रहेगी । उसकी प्राप्ति में संसार की कोई शक्ति बाधक नहीं हो सकती ।

सांसारिक उद्देश्य ही नहीं, वरन् उससे पारमार्थिक आकांक्षाएँ भी पूरी होती हैं । समाधि सुख भी 'मनोबल' का एक चमत्कार है । एकाग्र मन से की हुई उपासना से इष्टदेव का सिंहासन हिल जाता है और उसे गज के लिए गरुड़ को छोड़कर नंगे पैर भागने वाले भगवान् की तरह भागना पड़ता है । अधूरे मन की साधना, अधूरी और स्वल्प होने से न्यून फलदायक होती है, परन्तु एकाग्र वशवर्ती मन तो वह लाभ क्षणभर में प्राप्त कर लेता है, जो योगी लोगों को जन्म- जन्मांतरों की तपस्या से मिलता है । सदनकसाई, गणिका, गीध, अजामिल आदि असंख्य पापी जो जीवन भर दुष्कर्म करते रहे, क्षणभर के आर्त्तनाद से तर गये ।

मेस्मरेजम, हिप्नोटिज्म, परसनल मैग्नेटिज्म, मेण्टलथैरपी, आकल्ट साइन्स, मेण्टल हीलिंग, स्प्रिचुअलिज्म आदि के चमत्कारों की पाश्चात्य देशों में धूम है । तन्त्र क्रिया, मन्त्र क्रिया, प्राण विनिमय, सवारी विद्या, छाया-पुरुष, पिशाच सिद्धि, शव साधन, दृष्टि बन्ध, अभिचार, घात, चौकी, सर्प कीलन, जादू आदि चमत्कारी शक्तियों से भारतवासी भी चिर परिचित हैं । यह सब खेल- खिलौने एकाग्र मन की प्रचण्ड संकल्प शक्ति के छोटे-छोटे मनोविनोद मात्र हैं ।

संकल्प की अपूर्व शक्ति से हमारे पूजनीय पूर्वज परिचित थे, जिन्होंने अपने महान् आध्यात्मिक गुणों के कारण समस्त भूमण्डल में एक चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित किया था और जिन्हें जगद्गुरु कहकर सर्वत्र पूजा जाता था । उसकी संकल्प शक्ति ने भूलोक, स्वर्गलोक, पाताल लोक को पड़ौसी-मुहल्लों की तरह सम्बद्ध कर लिया था । उस शक्ति के थोड़े-थोड़े भौतिक चमत्कारों को लेकर अनेकों व्यक्तियों ने रावण जैसी उछल-कूद मचायी थी, परन्तु अधिकांश योगियों ने मन की एकाग्रता से उत्पन्न होने वाली प्रचण्ड शक्ति को परकल्याण में लगाया था ।

अर्जुन को पता था कि मन को वश में करने से कैसी अद्भुत सिद्धियाँ मिल सकती हैं । इसलिये उसने गीता में भगवान् कृष्ण से पूछा- "हे अच्युत ! मन को वश में करने की विधि मुझे बताइए, क्योंकि वह वायु को वश में करने के समान कठिन है । वश में किया हुआ मन भूलोक का कल्प-वृक्ष है । ऐसे महान् पदार्थ को प्राप्त करना कठिन होना भी चाहिए ।"

अर्जुन ने ठीक कहा है कि मन को वश में करना वायु को वश में करने के समान कठिन है । वायु को तो यंत्रों द्वारा किसी डिब्बे में बन्द भी किया जा सकता है, पर मन को वश में करने का तो कोई यन्त्र भी नहीं है ।

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को दो उपाय मन को वश में करने के बताये । (१) अभ्यास और (२) वैराग्य । अभ्यास का अर्थ है- वे योग साधनायें जो मन को रोकती हैं । वैराग्य का अर्थ है- व्यावहारिक जीवन को संयमशील

और व्यवस्थित बनाना । विषय-विकार, आलस्य-प्रमाद, दुर्व्यसन-दुराचार, लोलुपता, समय का दुरुपयोग, कार्यक्रम की अव्यवस्था आदि कारणों से सांसारिक अधोगति होती है और लोभ, क्रोध, तृष्णा आदि से मानसिक अधःपतन होता है ।

शारीरिक, मानसिक और सामाजिक बुराइयों से बचते हुए सादा, सरल, आदर्शवादी, शान्तिमय जीवन बिताने की कला वैराग्य कहलाती है । कई आदमी घर छोड़कर भीख-टूक माँगते फिरना, विचित्र वेश बनाना, अव्यवस्थित कार्यक्रम से जहाँ-तहाँ मारे-मारे फिरना ही वैराग्य समझते हैं और ऐसा ही ऊटपटांग जीवन बनाकर पीछे परेशान होते हैं । वैराग्य का वास्तविक तात्पर्य है- राग से निवृत्त होना ।

बुरी भावनाओं और आदतों से बचने का अभ्यास करने के लिए ऐसे वातावरण में रहना पड़ता है, जहाँ उनसे बचने का अवसर हो । तैरने के लिए पानी का होना आवश्यक है । तैरने का प्रयोजन ही यह है कि पानी में डूबने के खतरे से बचने की योग्यता मिल जाए । पानी से दूर रहकर तैरना नहीं आ सकता । इसी प्रकार राग-द्वेष जहाँ उत्पन्न होता है, उस क्षेत्र में रहकर उन बुराइयों पर विजय प्राप्त करना ही वैराग्य की सफलता है ।

कोई व्यक्ति जंगल में एकान्तवासी रहे, तो नहीं कहा जा सकता कि वैराग्य हो गया; क्योंकि जंगल में वैराग्य की अपेक्षा ही नहीं होती । जब तक परीक्षा द्वारा यह नहीं जान लिया गया कि हमने राग उत्पन्न करने वाले अवसर होते हुए भी उस पर विजय प्राप्त कर ली, तब तक यह नहीं समझना चाहिए कि कोई एकान्तवासी वस्तुतः वैरागी ही है । प्रलोभनों को जीतना ही वैराग्य है और यह विजय वहीं हो सकती है, जहाँ वे बुराइयाँ मौजूद हों । इसलिए गृहस्थ में, सांसारिक जीवन में सुव्यवस्थित रहकर रागों पर विजय प्राप्त करने को वैराग्य कहना चाहिए ।

अभ्यास के लिए योगशास्त्रों में ऐसी कितनी ही साधनाओं का वर्णन है, जिनके द्वारा मन की चञ्चलता, घुड़दौड़, विषय लोलुपता और एषणा प्रवृत्ति को रोककर उसे ऋतम्भरा बुद्धि के, अन्तरात्मा के अधीन किया जा सकता है । इन साधनाओं को मनोलय योग कहते हैं । मनोलय के अन्तर्गत १- ध्यान, २- त्राटक, ३- जप, ४- तन्मात्रा साधन । यह चार साधन प्रधान रूप से आते हैं । इन चारों का मनोमय कोश की साधना में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

ध्यान

ध्यान वह मानसिक प्रक्रिया है जिसके अनुसार किसी वस्तु की स्थापना अपने मनःक्षेत्र में की जाती है । मानसिक क्षेत्र में स्थापित की हुई वस्तु हमारे आकर्षण का प्रधान केन्द्र बनती है । उस आकर्षण की ओर मस्तिष्क की अधिकांश शक्तियाँ खिंच जाती हैं । फलस्वरूप एक स्थान पर उनका केन्द्रीकरण होने लगता है । चुम्बक पत्थर अपने चारों ओर बिखरे हुए लौहकणों को सब दिशाओं से खींचकर अपने पास जमा कर लेता है । इसी प्रकार ध्यान द्वारा मन सब ओर से खिंचकर एक केन्द्र बिन्दु पर एकाग्र होता है, बिखरी हुई चित्त-प्रवृत्तियाँ एक जगह सिमट जाती हैं ।

कोई आदर्श, लक्ष्य, इष्ट निर्धारित करके उसमें तन्मय होने को ध्यान कहते हैं । जैसा ध्यान किया जाता है मनुष्य वैसा ही बनने लगता है । साँचे में गीली मिट्टी को दबाने से वैसी आकृति बन जाती है, जैसी उस साँचे में होती है । कीट-भृंग का उदाहरण प्रसिद्ध है । झींगुर को भृंग पकड़ ले जाती है और उसके चारों ओर लगातार गुञ्जन करती है । झींगुर इस गुञ्जन को तन्मय होकर सुनता है और भृंग के रूप को, उसकी चेष्टाओं को एकाग्र भाव से निहारता रहता है । झींगुर का मन भृंगमय हो जाने से उसका शरीर भी उसी ढाँचे में ढलना आरम्भ हो जाता है । उसके रक्त, मांस, नस, नाड़ी, त्वचा आदि में मन के साथ ही परिवर्तन आरंभ हो जाता है और थोड़े समय में वह झींगुर मन से और शरीर से भी असली भृंग के समान बन जाता है । इसी प्रकार ध्यान शक्ति द्वारा साधक का सर्वांगपूर्ण कायाकल्प होता है ।

साधारण ध्यान से मनुष्य का शरीर परिवर्तन नहीं होता । इसके लिए विशेष रूप से गहन साधनाएँ करनी पड़ती हैं; परन्तु मानसिक कायाकल्प करने में हर मनुष्य ध्यान-साधना से भरपूर लाभ उठा सकता है । ऋषियों ने

इस बात पर जोर दिया है कि हर साधक को इष्टदेव चुन लेना चाहिए। इष्टदेव चुनने का अर्थ है- जीवन का प्रधान लक्ष्य निर्धारित करना। इष्टदेव उपासना का अर्थ है- उस लक्ष्य में अपनी मानसिक चेतना को तन्मय कर देना। इस प्रकार की तन्मयता का परिणाम यह होता है कि मन की बिखरी हुई शक्तियाँ एक बिन्दु पर एकत्रित हो जाती हैं। एक स्थानीय एकाग्रता के कारण उसी दिशा में सभी मानसिक शक्तियाँ लग जाती हैं, फलस्वरूप साधक के गुण, स्वभाव, विचार, उपाय एवं काम अद्भुत गति से बढ़ते हैं, जो उसे अभीष्ट लक्ष्य तक सरलतापूर्वक स्वल्प काल में ही पहुँचा देते हैं। इसी को इष्ट सिद्धि कहते हैं।

ध्यान साधना के लिए ही आदर्शों को, इष्टों को, दिव्य रूपधारी देवताओं के रूप में मानकर उनमें मानसिक तन्मयता स्थापित करने का यौगिक विधान है। प्रीति सजातियों में होती है। इसलिए लक्ष्य रूप इष्ट को दिव्य देहधारी देव मानकर उसमें तन्मय होने का गूढ़ एवं रहस्यमय मनोवैज्ञानिक आधार स्थापित करना पड़ा है। एक-एक अभिलाषा एवं आदर्श का एक-एक इष्टदेव है। जैसे बल की प्रतीक दुर्गा, धन की प्रतीक लक्ष्मी, बुद्धि की प्रतीक सरस्वती, धार्मिक सम्पदा की गायत्री एवं भौतिक विज्ञान की प्रतीक सावित्री मानी गई है। गौरी, पद्मा, शची, मेधा, सावित्री, विजया, जया, देवसेना, स्वधा, स्वाहा, मातर, लोकमातर, धृति, तुष्टि, पुष्टि, आत्मदेवी यह षोडश मातृकाएँ प्रसिद्ध हैं। शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी, सिद्धिदात्री यह नव दुर्गाएँ अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण हैं।

ऐसा भी हो सकता है कि एक ही इष्टदेव को आवश्यकतानुसार विभिन्न गुणों वाला मान लिया जाए। एक महाशक्ति की, विविध प्रयोजनों के लिए काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी-छिन्नमस्ता, त्रिपुर भैरवी, बगला, मातंगी, कमला, इन्द्राणी, वैष्णवी, ब्रह्माणी, कौमारी, नरसिंही, वाराही, माहेश्वरी, भैरवी आदि विविध रूपों में उपासना की जाती है। एक ही महागायत्री की ह्रीं, श्रीं, क्लीं (सरस्वती, लक्ष्मी, काली) के तीनों रूपों में आराधना होती है। फिर इन तीनों में अनेक भेद हो जाते हैं। जो साधक मातृशक्ति की अपेक्षा पितृशक्ति में अधिक रुचि रखते हैं, जिन्हें नारी-परक शक्ति तत्त्व की अपेक्षा पुरुषतत्त्व प्रधान (पुल्लिंग) दिव्य तत्त्व में विशेष मन लगता है, वे गणेश, नृसिंह, भैरव, शिव, विष्णु आदि इष्टों की उपासना करते हैं।

यहाँ किसी को भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं। अनेक देवताओं का कोई स्वतन्त्र आधार नहीं है। ईश्वर एक है। उसकी अनेक शक्तियाँ ही अनेक देवों के नाम से पुकारी जाती हैं। मनुष्य अपनी इच्छा, रुचि और आवश्यकतानुसार उन ईश्वरीय शक्तियों को प्राप्त करने के लिए, अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अपना इष्ट लक्ष्य चुनता है और उनमें तन्मय होते ही मनोवैज्ञानिक उपासना पद्धति द्वारा उन शक्तियों को अपने अन्दर प्रचुर परिमाण में धारण कर लेता है।

ध्यान-योग साधना में मन की एकाग्रता के साथ-साथ लक्ष्य को, इष्ट को भी प्राप्त करके योगस्थिति उत्पन्न करने का दुहरा लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इसलिए इष्टदेव का मन:क्षेत्र में उसी प्रकार ध्यान करने का विधान किया गया है। ध्यान में पाँच अंग हैं। १-स्थिति, २- संस्थिति, ३- विगति, ४- प्रगति, ५- संस्मिति। इन पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

स्थिति का तात्पर्य है- साधक की उपासना करते समय की स्थिति। मन्दिर में, नदी तट पर, एकान्त में, श्मशान में, स्नान करके, बिना स्नान किए, पद्मासन से, सिद्धासन से, किस ओर मुँह करके, किस मुद्रा में, किस समय, किस प्रकार ध्यान किया जाए ? इस सम्बन्ध की व्यवस्था को स्थिति कहते हैं।

संस्थिति का अर्थ- इष्टदेव की छवि का निर्धारण। उपास्य देव का मुख आकृति, आकार, मुद्रा, वस्त्र, आभूषण, वाहन, स्थान, भाव को निश्चित करना संस्थिति कहलाती है।

विगति कहते हैं- गुणावली को। इष्टदेव में क्या विशेषताएँ, शक्तियाँ, सामर्थ्य, परम्पराएँ एवं गुणावलियाँ हैं ? उनको जानना विगति कहा जाता है।

'प्रगति' कहते हैं - उपासना काल में साधक के मन में रहने वाली भावना को। दास्य, सखा, गुरु, बन्धु, मित्र, माता-पिता, पति, पुत्र, सेवक, शत्रु आदि जिस रिश्ते से उपास्य देव को मानना हो उस रिश्ते की स्थिरता तथा उस

रिश्ते को प्रगाढ़ बनाने के लिए इष्टदेव को प्रमुख ध्यानावस्था में, अपनी आंतरिक भावनाओं को विविध शब्दों तथा चेष्टाओं द्वारा उपस्थित करना 'प्रगति' कहलाती है ।

'संस्मिति' वह व्यवस्था है जिसमें साधक और साध्य, उपासक और उपास्य, एक हो जाते हैं । दोनों में कोई भेद नहीं रहता है । भृंग कीट की सी तन्मयता, द्वैत के स्थान पर अद्वैत की झाँकी उपास्य और उपासक का अभेद, मैं स्वयं इष्टदेव हो गया हूँ या इष्टदेव में पूर्णतया लीन हो गया हूँ, ऐसी अनुभूति का होना अग्नि में पड़कर जैसे लकड़ी भी अग्निमय लाल वर्ण हो जाती है, वैसी ही अपनी स्थिति जिन क्षणों में अनुभव होती है उसे 'संस्मिति' कहते हैं ।

एक ही इष्टदेव के अनेक प्रयोजनों के लिए अनेक प्रकार से ध्यान किए जाते हैं । साधक की आयु, स्थिति, मनोभूमि, वर्ण, संस्कार आदि के विचार से भी ध्यान की विधियों में स्थिति, संस्थिति, विगति, प्रगति एवं संस्मिति की जो कई महत्त्वपूर्ण पद्धतियाँ हैं, उनका सविस्तार वर्णन इन पृष्ठों में नहीं हो सकता । यहाँ तो हमारा प्रयोजन मनोमय कोश को व्यवस्थित बनाने के लिए ध्यान द्वारा मन को एकाग्र करने की, वश में करने की विधि बताना मात्र है । इसके लिए कुछ ध्यान नीचे दिये जाते हैं-

१- चिकने पत्थर या धातु की सुन्दर-सी गायत्री प्रतिमा लीजिए । उसे एक सुसज्जित आसन पर स्थापित कीजिए । प्रतिदिन उसका जल, धूप, दीप, गन्ध, नैवेद्य, अक्षत, पुष्प आदि मांगलिक द्रव्यों से पूजन कीजिए । इस प्रकार नित्य-प्रति पूजन आरम्भिक साधकों के लिए श्रद्धा बढ़ाने वाला, मन की प्रवृत्तियों को इस ओर झुकाने वाला होता है । साधक में अरुचि को हटाकर रुचि उत्पन्न करने का प्रथम सोपान, यह पार्थिव पूजन ही है । मन्दिरों में मूर्ति पूजा का आधार यह प्राथमिक शिक्षा के रूप में साधना का आरम्भ करना ही है ।

२- शुद्ध होकर पूरब की ओर मुँह करके, कुश के आसन पर पद्मासन लगाकर बैठिये । सामने गायत्री का चित्र रख लीजिए । विशेष मनोयोगपूर्वक उसकी मुखाकृति या अंग-प्रत्यंगों को देखिये । फिर नेत्र बन्द कर लीजिए । ध्यान द्वारा उस चित्र की बारीकियाँ भी ध्यानावस्था में भलीभाँति परिलक्षित होने लगेंगी । इस प्रतिमा को मानसिक साष्टांग प्रणाम कीजिए और अनुभव कीजिए कि उत्तर में आपको आशीर्वाद प्राप्त हो रहा है ।

३- एकान्त स्थान में सुस्थिर होकर बैठिए । ध्यान कीजिए कि निखिल नील-आकाश में और कोई वस्तु नहीं है, केवल एक स्वर्णिम वर्ण का सूर्य पूर्व दिशा में चमक रहा है । उस सूर्य को ध्यानावस्था में विशेष मनोयोगपूर्वक देखिये । उसके बीच में हंसारूढ़ माता गायत्री की धुँधली-सी छबि दृष्टिगोचर होगी, अभ्यास से धीरे-धीरे यह छबि स्पष्ट दीखने लगेगी ।

४- भावना कीजिए कि इस गायत्री-सूर्य की स्वर्णिम किरणें मेरे नग्न शरीर पर पड़ रही हैं और वे रोमकूपों में होकर प्रवेश हुई आभा से देह के समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म अंगों को अपने प्रकाश में पूरित कर रही हैं ।

५- दिव्य तेजयुक्त, अत्यन्त सुन्दर, इतनी सुन्दर जितनी कि आप अधिक से अधिक कल्पना कर सकते हों, आकाश में दिव्य वस्त्रों, आभूषणों से सुसज्जित माता का ध्यान कीजिए । किसी सुन्दर चित्र के आधार पर ऐसा ध्यान करने की सुविधा होती है । माता के एक-एक अंग को विशेष मनोयोगपूर्वक देखिए । उसकी मुखाकृति, चितवन, मुस्कान, भाव-भंगिमा पर विशेष ध्यान दीजिए । माता अपनी अस्पष्ट वाणी, चेष्टा तथा संकेतों द्वारा आपके मन:क्षेत्र में नवीन भावों का संचार करेंगी ।

६- शरीर को बिल्कुल ढीला कर दीजिए । आराम कुर्सी, मसनद या दीवार का सहारा लेकर, शरीर की नस-नाड़ियों को निर्जीव की भाँति शिथिल कर दीजिए । भावना कीजिए कि सुन्दर आकाश में अत्यधिक ऊँचाई पर अवस्थित ध्रुव तारे से निकल कर एक नीलवर्ण की शुभ्र किरण सुधा धारा की तरह अपनी ओर चली आ रही है और अपने मस्तिष्क या हृदय में ऋतम्भरा बुद्धि के रूप में तरणतारिणी प्रज्ञा के रूप में प्रवेश कर रही है । उस परम दिव्य, परम प्रेरक शक्ति को पाकर अपने हृदय में सद्‌भाव और मस्तिष्क में सद्‌विचार उमड़ रहे हैं जैसे समुद्र

में ज्वार-भाटा उमड़ते हैं। वह ध्रुव तारा, जो इस दिव्य धारा में प्रेरक है, सत् लोकवासिनी गायत्री माता ही है। भावना कीजिए कि जैसे बालक अपनी माता की गोद में खेलता और क्रीड़ा करता है, वैसे ही आप भी गायत्री माता की गोद में खेल और क्रीड़ा कर रहे हैं।

७- मेरुदण्ड को सीधा करके पद्मासन से बैठिए। नेत्र बन्द कर लीजिए। भ्रू-मध्य भाग (भृकुटि) में शुभ्र वर्ण दीपक की लौ के समान दिव्य ज्योति का ध्यान कीजिए। यह ज्योति विद्युत् की भाँति क्रियाशील होकर अपनी शक्ति से मस्तिष्क क्षेत्र में बिखरी हुई अनेक शक्तियों का पोषण एवं जागरण कर रही है, ऐसा विश्वास कीजिए।

८- भावना कीजिए कि आपका शरीर एक सुन्दर रथ है, उसमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूपी घोड़े जुते हैं। इस रथ में दिव्य तेजोमयी माता विराजमान हैं और घोड़ों की लगाम उसने अपने हाथ में थाम रखी है। जो घोड़ा बिचकता है, वह चाबुक से उसका अनुशासन करती है और लगाम झटककर उसको सीधे मार्ग पर ठीक रीति से चलने में सफल पथ-प्रदर्शन करती हैं। घोड़े भी माता से आतंकित होकर उनके अंकुश को स्वीकार करते हैं।

९- हृदय स्थान के निकट, सूर्य चक्र में सूर्य जैसे छोटे प्रकाश का ध्यान कीजिए। यह आत्मा का प्रकाश है। इसमें माता की शक्ति मिलती है और प्रकाश बढ़ता है। इस बढ़े हुए प्रकाश में आत्मा के वस्तु स्वरूप की झाँकी होती है। आत्म साक्षात्कार का केन्द्र यह सूर्य चक्र ही है।

१०- ध्यान कीजिए कि चारों ओर अन्धकार है। उसमें होली की तरह पृथ्वी से लेकर आकाश तक प्रचण्ड तेज जाज्वल्यमान हो रहा है। उसमें प्रवेश करने से अपने शरीर का प्रत्येक अंग, मनःक्षेत्र से उस परम तेज के समान अग्निमय हो गया है। अपने समस्त पाप-ताप, विकार-संस्कार जल गये हैं और शुद्ध सच्चिदानन्द शेष रह गया है।

ऊपर कुछ सुगम एवं सर्वोपयोगी ध्यान बताये गए हैं। यह सरल हैं और प्रतिबन्ध रहित हैं। इनके लिए किन्हीं विशेष नियमों के पालन की आवश्यकता नहीं होती। शुद्ध होकर साधना के समय उनका करना उत्तम है। वैसे अवकाश के अन्य समयों में भी जब चित्त शान्त हो तो, इन ध्यानों में से, अपनी रुचि के अनुकूल ध्यान किया जा सकता है। इन ध्यानों में मन को संयत, एकाग्र करने की बड़ी शक्ति है। साथ ही उपासना का आध्यात्मिक लाभ भी मिलने से यह ध्यान दुहरा हित साधन करते हैं।

त्राटक

त्राटक भी ध्यान का एक अंग है अथवा यों कहिए कि त्राटक का ही एक अंग ध्यान है। अन्तः-त्राटक और बाह्य-त्राटक दोनों का उद्देश्य मन को एकाग्र करना है। नेत्र बन्द करके किसी एक वस्तु पर भावना को जमाने और उसे आन्तरिक नेत्रों से देखते रहने की क्रिया अन्तः-त्राटक कहलाती है। पीछे जो दस ध्यान लिखे गये हैं, वे सभी अन्तः-त्राटक हैं। मैस्मरेजम के ढंग से जो लोग अन्तः-त्राटक करते हैं, वे केवल प्रकाश बिन्दु पर ध्यान करते हैं। इससे एकांगी लाभ होता है। प्रकाश बिन्दु पर ध्यान करने से मन तो एकाग्र होता है, पर उपासना का आत्म-लाभ नहीं मिल पाता। इसलिए भारतीय योगी सदा ही अन्तः-त्राटक का इष्ट ध्यान के रूप में प्रयोग करते रहे हैं।

बाह्य त्राटक का उद्देश्य बाह्य-साधनों के आधार पर मन को वश में करना एवं चित्त प्रवृत्तियों का एकीकरण करना है। मन की शक्ति प्रधानतया नेत्रों द्वारा बाहर आती है। दृष्टि को किसी विशेष वस्तु पर जमाकर उसमें मन को तन्मयतापूर्वक प्रवेश कराने से नेत्रों द्वारा विकीर्ण होने वाला मनःतेज एवं विद्युत् प्रवाह एक स्थान पर केन्द्रीभूत होने लगता है। इससे एक तो एकाग्रता बढ़ती है, दूसरे नेत्रों का प्रवाह-चुम्बकत्व बढ़ जाता है। ऐसी बढ़ी हुई आकर्षण शक्ति वाली दृष्टि को 'बेधक दृष्टि' कहते हैं।

बेधक दृष्टि से देखकर किसी व्यक्ति को प्रभावित किया जा सकता है। मैस्मरेजम करने वाले अपने नेत्रों में त्राटक द्वारा ही इतना विद्युत् प्रवाह उत्पन्न कर लेते हैं कि उसे जिस किसी शरीर में प्रवेश कर दिया जाए, वह तुरन्त

बेहोश एवं वशवर्ती हो जाता है । उस बेहोश या अर्द्धनिद्रित व्यक्ति के मस्तिष्क पर बेधक दृष्टि वाले व्यक्ति का कब्जा हो जाता है और उससे जो चाहे वह काम ले सकता है । मैस्मरेजम करने वाले किसी व्यक्ति को अपनी त्राटक शक्ति से पूर्णनिद्रित या अर्द्धनिद्रित करके उसे नाना प्रकार के नाच नचाते हैं ।

मैस्मरेजम द्वारा सत्संकल्प, दान, रोग निवारण, मानसिक त्रुटियों का परिमार्जन आदि लाभ हो सकते हैं और उससे ऊँची अवस्था में जाकर अज्ञात वस्तुओं का पता लगाना, अप्रकट बातों को मालूम करना आदि कार्य भी हो सकते हैं । दुष्ट प्रकृति के बेधक दृष्टि वाले अपने दृष्टि तेज से किन्हीं स्त्री-पुरुषों के मस्तिष्क पर अपना अधिकार करके उन्हें भ्रम ग्रस्त कर देते हैं और उनका सतीत्व तथा धन लूटते हैं । कई बेधक दृष्टि से खेल-तमाशे करके पैसा कमाते हैं । यह इस महत्त्वपूर्ण शक्ति का दुरुपयोग है ।

बेधक दृष्टि द्वारा किसी के अन्तःकरण में भीतर तक प्रवेश करके उसकी सारी मनःस्थिति को, मनोगत भावनाओं को जाना जा सकता है । बेधक दृष्टि फेंककर दूसरों को प्रभावित किया जा सकता है । नेत्रों में ऐसा चुम्बकत्व त्राटक द्वारा पैदा हो सकता है । मन की एकाग्रता, चूँकि त्राटक के अभ्यास में अनिवार्य रूप से करनी पड़ती है, इसलिए उसका साधन साथ-साथ होते चलने से मन पर बहुत कुछ काबू हो सकता है ।

१- एक हाथ लम्बा एक हाथ चौड़ा, चौकोर कागज का पुट्ठा लेकर उसके बीच में रुपये के बराबर एक काला गोल निशान बना लो । स्याही एक सी हो, कहीं कम ज्यादा न हो । इसके बीच में सरसों के बराबर निशान छोड़ दो और उसमें पीला रंग भर दो और तुम उससे चार फीट की दूरी पर इस प्रकार बैठो कि वह काला गोला तुम्हारी आँखों के सामने, सीध में रहे ।

साधना का एक कमरा ऐसा होना चाहिए कि जिसमें न अधिक प्रकाश रहे न अँधेरा । न अधिक सर्दी हो, न गर्मी । पालथी मारकर, मेरुदण्ड सीधा रखते हुए बैठो और काले गोले के बीच में जो पीला निशान हो , उस पर दृष्टि जमाओ । चित्त की सारी भावनायें एकत्रित करके, उस बिन्दु को इस प्रकार देखो, मानो तुम अपनी सारी शक्ति नेत्रों द्वारा उसमें प्रवेश कर देना चाहते हो । ऐसा सोचते रहो कि मेरी तीक्ष्ण दृष्टि से इस बिन्दु में छेद हुआ जा रहा है, कुछ देर इस प्रकार देखने से आँखों में दर्द होने लगेगा और पानी बहने लगेगा, तब अभ्यास बन्द कर दो ।

अभ्यास के लिए प्रातःकाल का समय ठीक है । पहले दिन देखो कि कितनी देर में आँखें थक जाती हैं और पानी आ जाता है । पहले दिन जितनी देर अभ्यास किया है, प्रतिदिन उससे एक या आधा मिनट बढ़ाते जाओ ।

दृष्टि को स्थिर करने पर तुम देखोगे कि उस काले गोले में तरह-तरह की आकृतियाँ पैदा होती हैं । कभी वह सफेद रंग का हो जायेगा, तो कभी सुनहरा । कभी छोटा मालूम पड़ेगा, कभी चिन्गारियाँ-सी उड़ती दीखेंगी, कभी बादल से छाये हुए प्रतीत होंगे । इस प्रकार यह गोला अपनी आकृति बदलता रहेगा, किन्तु जैसे-जैसे दृष्टि स्थिर होना शुरू हो जायेगी, उसमें दीखने वाली विभिन्न आकृतियाँ बन्द हो जायेंगी और बहुत देर तक देखते रहने पर भी गोला ज्यों का त्यों बना रहेगा ।

२- एक फुट लम्बे-चौड़े दर्पण के बीच चाँदी की चवन्नी के बराबर काले रंग के कागज का एक गोल टुकड़ा काटकर, चिपका दिया जाता है । उस कागज के मध्य में सरसों के बराबर पीला बिन्दु बनाते हैं । इस बिन्दु पर दृष्टि स्थिर करते हैं । इस अभ्यास को एक-एक मिनट बढ़ाते जाते हैं । जब इस तरह की दृष्टि स्थिर हो जाती है, तब और भी आगे का अभ्यास शुरू हो जाता है । दर्पण पर चिपके हुए कागज को छुड़ा देते हैं और उसमें अपना मुँह देखते हुए अपनी बाँई आँख की पुतली पर दृष्टि जमा कर लेते हैं और उस पुतली में ध्यानपूर्वक अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं ।

३- गो घृत का दीपक जलाकर नेत्रों की सीध में चार फुट की दूरी पर रखिए । दीपक की लौ आधा इन्च से कम उठी हुई न हो, इसलिए मोटी बत्ती डालना और पिघला हुआ घृत भरना आवश्यक है । बिना पलक झपकाये इस अग्नि-शिखा पर दृष्टिपात कीजिए और भावना कीजिए कि आपके नेत्रों की ज्योति दीपक की लौ से टकराकर उसी में घुली जा रही है ।

४- प्रातःकाल के सुनहरे सूर्य पर या रात्रि को चन्द्रमा पर भी त्राटक किया जाता है । सूर्य या चन्द्रमा जब

मध्य आकाश में होंगे, तब त्राटक नहीं हो सकता । कारण कि उस समय तो शिर ऊपर को करना पड़ेगा या लेटकर ऊपर को आँखें करनी पड़ेंगी, यह दोनों ही स्थितियाँ हानिकारक हैं । इसलिए उदय होता सूर्य या चन्द्रमा ही त्राटक के लिए उपयुक्त माना जाता है ।

५- त्राटक के अभ्यास के लिए स्वस्थ नेत्रों का होना आवश्यक है । जिनके नेत्र कमजोर हों या कोई रोग हो, उन्हें बाह्य-त्राटक की अपेक्षा अन्तः-त्राटक उपयुक्त है, जो कि ध्यान प्रकरण में लिखा जा चुका है । अन्तः-त्राटक को पाश्चात्य योगी इस प्रकार करते हैं कि दीपक की अग्नि-शिखा, सूर्य-चन्द्रमा आदि कोई चमकता प्रकाश पन्द्रह सेकेण्ड खुले नेत्रों से देखा, फिर आँखें बंद कर लीं और ध्यान किया कि वह प्रकाश मेरे सामने मौजूद है । एकटक दृष्टि से मैं उसे घूर रहा हूँ तथा अपनी सारी इच्छा शक्ति को तेज नोंकदार कील की तरह उसमें घुसाकर आर-पार कर रहा हूँ ।

अपनी सुविधा, स्थिति या रुचि के अनुरूप इन त्राटकों में से किसी को चुन लेना चाहिए और उसे नियत समय पर नियमपूर्वक करते रहना चाहिए । इससे मन एकाग्र होता है और दृष्टि में बेधकता, पारदर्शिता एवं प्रभावोत्पादकता की अभिवृद्धि होती है ।

त्राटक पर से उठने के पश्चात् गुलाब जल से आँखों को धो डालना चाहिए । गुलाब जल न मिले तो स्वच्छ छना हुआ ताजा पानी भी काम में लाया जा सकता है । आँख धोने के लिए छोटी काँच की प्यालियाँ अंग्रेजी दवा बेचने वालों की दुकान पर मिलती हैं, वह सुविधाजनक होती हैं । न मिलने पर कटोरी में पानी भरकर उसमें आँख खोलकर डुबाने और पलक हिलाने में आँख धुल जाती है । इस प्रकार के नेत्र स्नान से त्राटक के कारण उत्पन्न हुई आँखों की उष्णता शान्त हो जाती है । त्राटक का अभ्यास समाप्त करने के उपरान्त साधना के कारण बढ़ी हुई मानसिक गर्मी के समाधान के लिए दूध, दही, लस्सी, मक्खन, मिश्री, फल, शर्बत, ठण्डाई आदि कोई ठण्डी पौष्टिक चीजें, ऋतु का ध्यान रखते हुए सेवन करनी चाहिए । जाड़े के दिनों में बादाम का हलुवा, च्यवनप्राश अवलेह आदि वस्तुएँ भी उपयोगी होती हैं ।

जप साधना

मनोमय कोश की स्थिति एवं एकाग्रता के लिए जप का साधन बड़ा ही उपयोगी है । इसकी उपयोगिता इससे निर्विवाद है कि सभी धर्म, मजहब, सम्प्रदाय इसकी आवश्यकता को स्वीकार करते हैं । जप करने से मन की प्रवृत्तियों को एक ही दिशा में लगा देना सरल हो जाता है ।

कहते हैं कि एक बार एक मनुष्य ने किसी भूत को सिद्ध कर लिया । भूत बड़ा बलवान् था उसने कहा- मैं तुम्हारे वश में आ गया, ठीक है, जो आज्ञा होगी सो करूँगा, मुझसे बेकार नहीं बैठा जाता । यदि बेकार रहा तो, आपको ही खा जाऊँगा । यह मेरी शर्त अच्छी तरह समझ लीजिए । उस आदमी ने भूत को बहुत काम बताये, उसने थोड़ी-थोड़ी देर में सब काम कर दिये । भूत की बेकारी से उत्पन्न होने वाला संकट उस सिद्ध को बेतरह परेशान कर रहा था । तब वह दुःखी होकर अपने गुरु के पास गया । गुरु ने सिद्ध को बताया कि आँगन में एक बाँस गाढ़ दिया जाए और भूत से कह दो कि जब तक दूसरा काम न बताया जाया करे, तब तक उस बाँस पर बार-बार चढ़े और बार-बार उतरे । यह काम मिल जाने पर भूत से काम लेते रहने की भी सुविधा हो गई और सिद्ध के आगे उपस्थित रहने वाला संकट हट गया ।

मन ऐसा ही भूत है, जो जब भी निरर्थक बैठता है, तभी कुछ न कुछ खुराफात करता है । इसलिए यह जब भी काम से छुट्टी पाये, तभी इसे जप पर लगा देना चाहिए । जप केवल समय काटने के लिए ही नहीं है, वरन् वह एक बड़ा ही उत्पादक एवं निर्माणात्मक, मनोवैज्ञानिक श्रम है । निरन्तर पुनरावृत्ति करते रहने से मन में उस प्रकार का अभ्यास एवं संस्कार बन जाता है, जिससे वह स्वभावतः उसी ओर चलने लगता है ।

पत्थर को बार-बार रस्सी की रगड़ लगने से उसमें गड्ढा पड़ जाता है । पिंजड़े में रहने वाला कबूतर बाहर

निकाल देने पर भी लौटकर उसी में वापस आ जाता है । गाय को जंगल में छोड़ दिया जाए, तो भी वह रात को स्वयमेव लौट आती है । निरन्तर अभ्यास से मन भी ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि अपने दीर्घकाल तक सेवन किए गये कार्यक्रम में अनायास ही प्रवृत्त हो जाता है ।

अनेक निरर्थक कल्पना-प्रपञ्चों में उछलते कूदते फिरने की अपेक्षा आध्यात्मिक भावना की एक सीमित परिधि में भ्रमण के लिए जप का अभ्यास करने से मन एक ही दिशा में प्रवृत्त होने लगता है । आत्मिक क्षेत्र में मन लगा रहना, उस दिशा में एक दिन पूर्ण सफलता प्राप्त होने का सुनिश्चित लक्षण है । मन रूपी भूत बड़ा बलवान् है । यह सांसारिक कार्यों को भी बड़ी सफलतापूर्वक करता है और जब आत्मिक क्षेत्र में जुट जाता है, तो भगवान् के सिंहासन को हिला देने में भी नहीं चूकता । मन की उत्पादक, रचनात्मक एवं प्रेरक शक्ति इतनी विलक्षण है कि उसके लिए संसार की कोई वस्तु असम्भव नहीं । भगवान् को प्राप्त करना भी उसके लिए बिलकुल असम्भव नहीं । भगवान् को प्राप्त करना भी उसके लिए बिलकुल सरल है । कठिनाई केवल एक नियत क्षेत्र में जमने की है, सो जप के व्यवस्थित विधान से वह भी दूर हो जाती है ।

हमारा मन कैसा ही उच्छृंखल क्यों न हो, पर जब उसको बार-बार किसी भावना पर केन्द्रित किया जाता रहेगा, तो कोई कारण नहीं कि कालान्तर में उसी प्रकार का न बनने लगे । लगातार प्रयत्न करने से सरकस में खेल दिखाने वाले बन्दर, सिंह, बाघ, रीछ जैसे उद्दण्ड जानवर मालिक की मर्जी पर काम करने लगते हैं, उसके इशारे पर नाचते हैं, तो कोई कारण नहीं कि चञ्चल और कुमार्गगामी मन को वश में करके इच्छानुवर्ती न बनाया जा सके । पहलवान लोग नित्यप्रति अपनी नियत मर्यादा में दण्ड-बैठक आदि करते हैं, उनकी इस क्रिया पद्धति से उनका शरीर दिन-दिन हृष्ट-पुष्ट होता जाता है और एक दिन वे अच्छे पहलवान बन जाते हैं । नित्य का जप एक आध्यात्मिक व्यायाम है, जिससे आध्यात्मिक स्वास्थ्य को सुदृढ़ और सूक्ष्म शरीर को बलवान् बनाने में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है ।

एक-एक बूँद जमा करने से घड़ा भर जाता है । चींटी एक-एक दाना ले जाकर अपने बिलों में मनों अनाज जमा कर लेती है । एक-एक अक्षर पढ़ने से थोड़े दिनों में विद्वान् बना जा सकता है । एक-एक कदम चलने से लम्बी मंजिल पार हो जाती है, एक-एक पैसा जोड़ने से खजाने जमा हो जाते हैं, एक-एक तिनका मिलने से मजबूत रस्सी बन जाती है । जप में भी वही होता है । माला का एक-एक दाना फेरने से बहुत जमा हो जाता है । इसलिए योग ग्रन्थों में जप को, यज्ञ बताया गया है । उसकी बड़ी महिमा गाई है और आत्म-मार्ग पर चलने की इच्छा करने वाले पथिक के लिए जप करने का कर्तव्य आवश्यक रूप से निर्धारित किया गया है ।

गीता के अध्याय १० श्लोक २५ में कहा गया है कि 'यज्ञों में जप-यज्ञ श्रेष्ठ है ।' मनुस्मृति में, अध्याय २ श्लोक ८६ में बताया गया कि होम, बलिकर्म, श्राद्ध, अतिथि-सेवा, पाकयज्ञ, विधियज्ञ, दर्शपौर्ण-मासादि यज्ञ, सब मिलकर भी जप-यज्ञ के सोलहवें भाग के बराबर नहीं होते । महर्षि भारद्वाज ने गायत्री व्याख्या में कहा है कि "समस्त यज्ञों में जप-यज्ञ अधिक श्रेष्ठ है । अन्य यज्ञों में हिंसा होती है, पर जप-यज्ञ में नहीं होती, जितने कर्म, यज्ञ दान, तप हैं, सब जप-यज्ञ की सोलहवीं कला के समान भी नहीं होते । समस्त पुण्य साधना में जप-यज्ञ सर्वश्रेष्ठ हैं ।" इस प्रकार के अगणित प्रमाण शास्त्रों में उपलब्ध हैं । उन शास्त्र वचनों में, जप-यज्ञ की उपयोगिता एवं महत्ता को बहुत जोर देकर प्रतिपादन किया गया है । कारण यह है कि जप, मन को वश में करने का रामवाण अस्त्र है और यह सर्वविदित तथ्य है कि मन को वश में करना इतनी बड़ी सफलता है कि उसकी प्राप्ति होने पर जीवन को धन्य माना जा सकता है । समस्त आत्मिक और भौतिक सम्पदायें, संयत मन से ही तो उपलब्ध की जाती हैं ।

जप-यज्ञ के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक जानकारियाँ नीचे दी जाती हैं -

१- जप के लिए प्रातःकाल एवं ब्राह्म-मुहूर्त सर्वोत्तम काल है । दो घण्टे रात में रहने से सूर्योदय तक

ब्राह्म-मुहूर्त कहलाता है। सूर्योदय से दो घण्टे दिन चढ़े तक प्रातःकाल होता है। प्रातःकाल से भी ब्राह्म मुहूर्त अधिक श्रेष्ठ है।

२- जप के लिए पवित्र, एकान्त स्थान चुनना चाहिए। मन्दिर, तीर्थ, बगीचा, जलाशय आदि एकान्त के शुद्ध स्थान जप के लिए अधिक उपयुक्त हैं। घर में करना हो, तो भी ऐसी जगह चुननी चाहिए, जहाँ अधिक खटपट न हो।

३- सन्ध्या को जप करना हो, तो सूर्य अस्त से एक घण्टा उपरान्त तक जप कर लेना चाहिए। प्रातःकाल के दो घण्टे और सायंकाल का एक घण्टा इन तीनों घण्टों को छोड़कर रात्रि के अन्य भागों में गायत्री मन्त्र नहीं जपा जाता।

४- जप के लिए शुद्ध शरीर और शुद्ध वस्त्रों से बैठना चाहिये। साधारणतः स्नान द्वारा ही शरीर की शुद्धि होती है; पर किसी विवशता, ऋतु प्रतिकूलता या अस्वस्थता की दशा में मुँह धोकर या गीले कपड़े से शरीर पोंछकर भी काम चलाया जा सकता है, नित्य धुले वस्त्रों की व्यवस्था न हो सके, तो रेशमी या ऊनी वस्त्रों से काम लेना चाहिए।

५- जप के लिये बिना बिछाये न बैठना चाहिये। कुश का आसन, चटाई आदि घास के बने आसन अधिक उपयुक्त हैं। पशुओं के चमड़े, मृगछाला आदि आजकल उनकी हिंसा से प्राप्त होते हैं, इसलिये वे निषिद्ध हैं।

६- पद्मासन में पालथी मारकर मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए जप के लिये बैठना चाहिये। मुँह प्रातः पूरब की ओर, सायंकाल पश्चिम की ओर रहे।

७- माला तुलसी की या चन्दन की होनी चाहिये। कम से कम एक माला नित्य जपनी चाहिये। माला पर जहाँ बहुत आदमियों की दृष्टि पड़ती हो, वहाँ हाथ को कपड़े से या गौ मुखी से ढक लेना चाहिए।

८- माला जपते समय सुमेरु (माला के प्रारम्भ का सबसे बड़ा केन्द्रीय दाना) का उल्लंघन न करना चाहिए। एक माला पूरी करके उसे मस्तिष्क तथा नेत्रों से लगाकर पीछे की तरह उलटा ही वापस कर लेना चाहिये, इस प्रकार माला पूरी होने पर हर बार उलट कर ही नया आरम्भ करना चाहिये।

९- लम्बे सफर में, स्वयं रोगी हो जाने पर, किसी रोगी की सेवा में संलग्न होने पर, जन्म-मृत्यु का सूतक लग जाने पर स्नान आदि पवित्रताओं की सुविधा नहीं रहती। ऐसी दशा में मानसिक जप चालू रखना चाहिये। मानसिक जप बिस्तर पर पड़े-पड़े, रास्ता या किसी भी पवित्र, अपवित्र दशा में किया जा सकता है।

१०- जप नियत समय पर, नियत संख्या में, नियत स्थान पर, शान्त चित्त एवं एकाग्र मन से करना चाहिये। पास में जलाशय या जल से भरा पात्र होना चाहिये। आचमन के पश्चात् जप आरम्भ करना चाहिये। किसी दिन अनिवार्य कारण से जप स्थगित करना पड़े, तो दूसरे दिन प्रायश्चित्त स्वरूप एक माला अधिक जपनी चाहिए।

११- जप इस प्रकार करना चाहिये कि कण्ठ से ध्वनि होती रहे, होंठ हिलते रहें, परन्तु समीप बैठा हुआ मनुष्य भी स्पष्ट रूप से मन्त्र को सुन न सके। मल-मूत्र त्याग या किसी अनिवार्य कार्य के लिये साधना के बीच में ही उठना पड़े, तो शुद्ध जल से साफ होकर तब दुबारा बैठना चाहिये। जपकाल में यथासम्भव मौन रहना उचित है। कोई बात कहना आवश्यक हो, तो इशारे से कह देनी चाहिये।

१२- जप के समय मस्तिष्क के मध्य भाग में इष्टदेव का, प्रकाश ज्योति का ध्यान करते रहना चाहिये। साधक का आहार तथा व्यवहार सात्त्विक होना चाहिये। शारीरिक एवं मानसिक दोषों से बचने का यथासम्भव पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

१३- जप के लिये गायत्री मन्त्र सर्वश्रेष्ठ है। गुरु द्वारा ग्रहण किया हुआ मन्त्र ही सफल होता है। स्वेच्छापूर्वक मनचाही विधि से मनचाहा मन्त्र जपने से विशेष लाभ नहीं होता, इसलिये अपनी स्थिति के अनुकूल आवश्यक विधान, किसी अनुभवी पथ प्रदर्शक से मालूम कर लेना चाहिये।

उपर्युक्त नियमों के आधार पर किया हुआ गायत्री जप मन को वश में करने एवं मनोमय कोश को सुविकसित करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है।

तन्मात्रा साधना

यह बात प्रकट है कि हमारा शरीर एवं समस्त संचारतन्त्र पंचतत्त्वों का बना हुआ है । पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पाँच तत्त्वों की मात्रा में अन्तर होने के कारण विविध आकार- प्रकार और गुणधर्म की वस्तुयें बन जाती हैं ।

इन पाँच तत्त्वों की जो सूक्ष्म शक्तियाँ हैं, इनकी इन्द्रियजन्य अनुभूति को 'तन्मात्रा' कहते हैं । शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । यह पाँच तत्त्वों से बने हुए पदार्थों के संसर्ग में आने पर जैसा अनुभव करती हैं, उस अनुभव को 'तन्मात्रा' नाम से पुकारते हैं । शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पाँच तन्मात्रायें हैं ।

आकाश की तन्मात्रा 'शब्द' है । वह कान द्वारा हमें अनुभव होता है । कान ही आकाश तत्त्व की प्रधानता वाली इन्द्रिय है । अग्नि तत्त्व की तन्मात्रा 'रूप' है । यह अग्नि-प्रधान इन्द्रिय नेत्र द्वारा अनुभव किया जाता है । रूप को आँखें ही देखती हैं । जल तत्त्व की तन्मात्रा 'रस' है । रस का जल-प्रधान इन्द्रिय जिह्वा द्वारा अनुभव होता है, षड्रसों का खट्टे, मीठे, खारी, तीखे, कड़ुवे, कसैले का स्वाद जीभ पहचानती है । पृथ्वी तत्त्व की तन्मात्रा 'गन्ध' को पृथ्वी गुण प्रधान नासिका इन्द्रिय मालूम करती है । इसी प्रकार वायु की तन्मात्रा 'स्पर्श' का ज्ञान, त्वचा को होता है । त्वचा में फैले हुए ज्ञान तन्तु दूसरी वस्तुओं का ताप, भार, घनत्व एवं उनके स्पर्श की प्रतिक्रिया का अनुभव कराते हैं ।

इन्द्रियों में तन्मात्राओं का अनुभव कराने की शक्ति न हो, तो संसार का और शरीर का सम्बन्ध ही टूट जाए । जीव को संसार में जीवन-यापन की सुविधा भले ही हो, पर किसी प्रकार का आनन्द शेष न रहेगा । संसार के विविध पदार्थों में जो हमें मनमोहक आकर्षण प्रतीत होते हैं, उनका एकमात्र कारण 'तन्मात्रा' शक्ति है । कल्पना कीजिये कि हम संसार के किसी पदार्थ के रूप को न देख सकें, तो सर्वत्र मौन एवं नीरवता ही रहेगी । स्वाद न चख सकें तो खाने में कोई अन्तर न रहेगा । गंध का अनुभव न हो, तो हानिकारक सड़ाँध और उपयोगी उपवन में क्या फर्क किया जा सकेगा । त्वचा की शक्ति न हो, तो सर्दी, गर्मी, स्नान, वायु-सेवन, कोमल शय्या के सेवन आदि से कोई प्रयोजन न रह जायेगा ।

परमात्मा ने पंच तत्त्वों में तन्मात्रायें उत्पन्न कर और उनके अनुभव के लिये शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ बनाकर, शरीर और संसार को आपस में घनिष्ठ आकर्षण के साथ सम्बद्ध कर दिया है । यदि पंचतत्त्व केवल स्थूल ही होते, उनमें तन्मात्रायें न होतीं, तो इन्द्रियों को संसार के किसी पदार्थ में कुछ आनन्द न आता । सब कुछ नीरस, निरर्थक और बेकार-सा दीख पड़ता । यदि तत्त्वों में तन्मात्रायें होतीं, पर शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ न होतीं, तो जैसे वायु में फिरते रहने वाले कीटाणु केवल जीवन धारण ही करते हैं, उन्हें संसार में किसी प्रकार की रसानुभूति नहीं होती, इसी प्रकार मानव-जीवन भी नीरस हो जाता । इन्द्रियों की संवेदना-शक्ति और तत्त्वों की तन्मात्रायें मिलकर प्राणी को ऐसे अनेक शारीरिक और मानसिक रस अनुभव कराती हैं, जिनके लोभ से वह जीवन धारण किये रहता है । इस संसार को छोड़ना नहीं चाहता । उसकी यह चाहना ही जन्म-मरण के चक्र में भव-बन्धन में बँधे रहने के लिये बाध्य करती है ।

आत्मा की ओर न मुड़कर, आत्म-कल्याण में प्रवृत्त न होकर सांसारिक वस्तुओं को संग्रह करने की, उनका स्वामी बनने की, उनके सम्पर्क की रसानुभूति को चखते रहने की लालसा में मनुष्य डूबा रहता है । रंग-बिरंगे खिलौने से खेलने में जैसे बच्चे बेतरह तन्मय हो जाते हैं और खाना पानी सभी भूलकर खेल में लगे रहते हैं, उसी प्रकार तन्मात्राओं के खिलौने मन में ऐसे बस जाते हैं, इतने सुहावने लगते हैं कि उनसे खेलना छोड़ने की इच्छा नहीं होती, कई दृष्टियों से कष्टकर जीवन व्यतीत करते हुए भी लोग मरने को तैयार नहीं होते, मृत्यु का नाम सुनते ही काँपते हैं, इसका एकमात्र कारण यही है कि सांसारिक पदार्थों की तन्मात्राओं में जो मोहक आकर्षण है, वह कष्ट और अभाव की तुलना में मोहक और सरस है । कष्ट सहते हुए भी प्राणी उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं होता ।

पाँच इन्द्रियों के खूँटे से, पाँच तन्मात्राओं के रस्सों से जीव बँधा हुआ है । यह रस्से बड़े ही आकर्षक हैं, इन रस्सों में चमकीला, रंगीन, रेशम और सुनहरी कलावत्तू लगा हुआ है । खूँटे चाँदी सोने के बने हुए हैं, उनमें

हीरे जवाहरात जगमगा रहे हैं । जीवनरूपी घोड़ा इन रस्सों में बँधा है । वह बन्धन के दु:ख को भूल जाता है और रस्सों तथा खूँटों की सुन्दरता को देखकर छुटकारे की इच्छा तक करना छोड़ देता है । उसे वह बन्धन भी अच्छा लगता है । दिन भर गाड़ी में जुतने और चाबुक खाने के कष्टों को भी इन चमकीले रस्सों और खूँटों की तुलना में कुछ नहीं समझता । इसी बाल बुद्धि को, अदूरदर्शिता को, वास्तविकता न समझने को शास्त्रों में अविद्या, माया, भ्रांति आदि नियमों से पुकारा गया है और इस भूल से बचने के लिए अनेक प्रकार की धार्मिक कथा, गाथाओं, उपासनाओं एवं साधनाओं का विधान किया गया है ।

इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं के मिश्रण से ख़ुजली उत्पन्न होती है, उसे ही खुजाने के लिए मनुष्य के विविध विचार और कार्य होते हैं, वह दिन-रात इसी खाज को खुजाने के लिए गोरखधन्धे में लगा रहता है । मन को वश में करने एवं एकाग्र करने में बड़ी बाधा यह खुजली है, जो दूसरी ओर चित्त को जाने ही नहीं देती । खुजाने में जो मजा आता है, उसकी तुलना में और सब बातें हलकी मालूम होती हैं । इसलिए एकाग्रता की साधना पर से मन अक्सर उचट जाता है ।

तन्मात्राओं की रसानुभूति घोड़े की रस्सी अथवा खुजली के समान है । यह बहुत ही हल्की, छोटी और महत्त्वहीन वस्तु है । यह भावना अन्त:भूमि में जमाने के लिए, मनोमय कोश की सुव्यवस्था के लिए तन्मात्राओं की साधना के अभ्यास बताये गये हैं । इन साधनाओं से अन्त:करण यह अनुभव कर लेता है कि 'तन्मात्रायें' अनात्म वस्तु हैं । यह जड़ पंच-तत्त्वों की सूक्ष्म प्रक्रिया मात्र है । यह मनोमय कोश में खुजली की तरह चिपट जाती है और एक निरर्थक से झमेले गोरखधन्धे में हमें फँसा कर लक्ष्य प्राप्ति से वंचित कर देती है । इसलिए इनकी वास्तविकता, व्यर्थता एवं तुच्छता को भली प्रकार समझ लेना चाहिये ।

आगे चलकर पाँचों तन्मात्राओं की छोटी-छोटी सरल साधनायें बताई जायेंगी, जिनकी साधना करने से बुद्धि यह अनुभव कर लेती है कि शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श का जीवन को चलाने में केवल उतना ही उपयोग है, जितना मशीन के पुर्जों में तेल का । इनमें आसक्त होने की आवश्यकता नहीं है ।

दूसरी बात यह भी है कि मन स्वयं एक इन्द्रिय है । उसका लगाव सदा तन्मात्राओं की ओर रहता है । मन का विषय ही रसानुभूति है । साधनात्मक रसानुभूति में उसे लगा दिया जाए, तो वह अपने विषय में भी लगता है और जो सूक्ष्म परिश्रम करना पड़ता है, उसके कारण अति सूक्ष्म मन:शक्तियों का जागरण होने से अनेक प्रकार के मानसिक लाभ भी होते हैं । पंच तन्मात्राओं की साधनायें इस प्रकार हैं -

शब्द साधना

एकान्त स्थान में जाइये, जहाँ किसी प्रकार शब्द या कोलाहल न होता हो । बाहर के शब्द भी न सुनाई पड़ते हों । रात्रि को जब चारों ओर शांति हो जाती हो, तब इस साधना के लिए बड़ा अच्छा अवसर मिलता है । दिन में करना हो तो कमरे के किवाड़ बन्द कर लेना चाहिए, ताकि बाहर से शब्द भीतर न आएँ ।

१- शान्त चित्त से पद्मासन लगाकर बैठिये । नेत्र बन्द कर लीजिए । एक छोटी घड़ी कान के पास ले जाइये और उसकी टिक-टिक को ध्यानपूर्वक सुनिये । अब धीरे-धीरे घड़ी को कान से दूर हटाते जाइये और ध्यान देकर उसकी टिक-टिक को सुनने का प्रयत्न कीजिए । घड़ी और कान की दूरी को बढ़ाते जाइये । धीरे-धीरे अभ्यास से घड़ी बहुत दूर रखी होने पर भी टिक-टिक कान में आती रहेगी । बीच में जब ध्वनि प्रभाव शिथिल हो जाय, तो घड़ी को कान के पास लगाकर कुछ देर तक उस ध्वनि को अच्छी तरह सुन लेना चाहिए और फिर दूर हटा कर सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय से उस शब्द प्रवाह को सुनने का प्रयत्न करना चाहिए ।

२- घड़ियाल में एक चोट मारकर, उसकी आवाज को बहुत देर तक सुनते रहना और फिर बहुत देर तक उसे सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय से सुनने का प्रयत्न करना । जब पूर्व ध्यान शिथिल हो जाय तो फिर घड़ियाल में हथौड़ी मारकर, फिर उस ध्यान को ताजा कर लेना, इसी साधना का 'मुष्टि योग' नाम से योग ग्रन्थों में वर्णन है ।

किसी झरने के निकट या नहर की झील के निकट जाइए जहाँ प्रपात का शब्द हो रहा हो । शान्त चित्त से

इस शब्द-प्रवाह को कुछ देर सुनते रहिए। फिर कानों को उँगली डालकर बन्द कर लीजिए और सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय द्वारा उस ध्वनि को सुनिये। बीच में जब शब्द शिथिल हो जाए तो उँगली ढीली करके उसे सुनिये और कान बन्द करके फिर उसी प्रकार ध्यान द्वारा ध्वनि ग्रहण कीजिए।

इन शब्द साधनाओं में लगे रहने से मन एकाग्र होता है। साथ ही सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय जाग्रत् होती है, जिनके कारण दूर बैठकर बात करने वाले लोगों के शब्द सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय में आ जाते हैं। सुदूर हो रही गुप्त वार्ताओं का अभ्यास हो जाता है। देश-विदेश में हो रहे नृत्य, गीत—वाद्य आदि की ध्वनि तरंगें कानों में आकर चित्त को उल्लास-आनन्द से भर देती हैं। आगे चलकर यही साधना 'कर्ण पिशाचिनी' सिद्धि के रूप में प्रकट होती है। कहाँ क्या हो रहा है, किसके मन में क्या विचार उठ रहा है, किसकी वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा वाणियाँ क्या-क्या कर रही हैं, भविष्य में क्या होने वाला है ? आदि बातों को कोई शक्ति सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय में आकर इस प्रकार कह जाती है, मानो कोई अदृश्य प्राणी कान पर मुँह रखकर सारी बात कह रहा है। इस सफलता को 'कर्ण पिशाचिनी सिद्धि' कहते हैं।

रूप साधना

१- वेदमाता गायत्री का या सरस्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, राम, कृष्ण आदि इष्टदेव का जो सबसे सुन्दर चित्र या प्रतिमा मिले, उसे लीजिये। एकान्त स्थान में ऐसी जगह बैठिये जहाँ पर्याप्त प्रकाश हो, इस चित्र या प्रतिमा के अंग-प्रत्यंगों को मनोयोग पूर्वक देखिये, इसके सौन्दर्य एवं विशेषताओं को खूब बारीकी के साथ देखिये, एक मिनट इस प्रकार देखने के बाद नेत्रों को बन्द कर लीजिये, अब उस चित्र के रूप का ध्यान कीजिए और जो बारीकियाँ, विशेषताएँ अथवा सुन्दरताएँ चित्र में देखीं थीं, उन सबको कल्पनाशक्ति द्वारा ध्यान के चित्र में आरोपित कीजिए। फिर नेत्र खोल लीजिए और उस छबि को देखिए, ध्यान के साथ-साथ ॐ मन्त्र जपते रहिए। इस प्रकार बार-बार करने से वह रूप मन में बस जायेगा। उसका दिव्य नेत्रों से दर्शन करते हुए बड़ा आनन्द आयेगा। धीरे-धीरे इस चित्र की मुखाकृति बदलती मालूम देगी, हँसती मुस्कुराती, नाराज होती, उपेक्षा करती हुई भावभंगी दिखाई देगी। यह प्रतिमा स्वप्न में अथवा जाग्रत् अवस्था में, नेत्रों के सामने आयेगी और कभी ऐसा अवसर आ सकता है, जिसे प्रत्यक्ष साक्षात्कार कहा जा सके। आरम्भ में यह साक्षात्कार धुँधला होता है। फिर धीरे-धीरे ध्यान सिद्ध होने से वह छबि अधिक स्पष्ट होने लगती है। पहले दिव्य दर्शन ध्यान क्षेत्र में ही रहता है, फिर प्रत्यक्ष परिलक्षित होने लगता है।

२- किसी मनुष्य के रूप का ध्यान, जिन भावनाओं के साथ, प्रबल मनोयोगपूर्वक किया जायेगा, उन भावनाओं के अनुरूप उस व्यक्ति पर प्रभाव पड़ेगा। किसी के विचारों को बदलने, द्वेष मिटाने, मधुर सम्बन्ध उत्पन्न करने, बुरी आदतें छुड़ाने, आशीर्वाद या शाप से लाभ हानि पहुँचाने आदि के प्रयोग इस साधना के आधार पर होते हैं। तान्त्रिक लोग विशेष कर्मकाण्डों एवं मन्त्रों द्वारा किसी मनुष्य का रूप आकर्षण करके उसे रोगी, पागल एवं वशवर्ती करते देखे गये हैं।

३-छाया पुरुष की सिद्धि भी रूप-साधना का एक अंग है। शुद्ध शरीर और शुद्ध वस्त्रों से, बिना भोजन किये मनुष्य की लम्बाई के दर्पण के सामने खड़े होकर अपनी आकृति ध्यानपूर्वक देखिये। थोड़ी देर बाद नेत्र बन्द कर लीजिए और उस दर्पण की आकृति का ध्यान कीजिए। अपनी छबि आपको दृष्टिगोचर होने लगेगी, कई व्यक्ति दर्पण की अपेक्षा स्वच्छ पानी में, तिल के तेल या पिघले हुए घृत में अपनी छबि देखकर उसका ध्यान करते हैं। दर्पण की साधना-शांतिदायक, तेल की संहारक और घृत की उत्पादक होती है। सूर्य और चन्द्रमा जब मध्य आकाश में ऐसे स्थान पर हों कि उनके प्रकाश में खड़े होने पर अपनी छाया ३ ॥ हाथ रहे, उस समय अपनी छाया पर भी उस प्रकार साधन कल्याणकारक माना गया है।

दर्पण, जल, तेल, घृत आदि में मुखाकृति स्पष्ट दीखती है और नेत्र बन्द करके वैसा ही ध्यान हो जाता है। सूर्य, चन्द्र की ओर पीठ करके खड़े होने से अपनी छाया सामने आती है। उसे खुले नेत्रों से भली प्रकार देखने

के उपरान्त आँखें बन्द करके उसकी छाया का ध्यान करते हैं। कुछ दिनों के नियमित अभ्यास से उस छाया में अपनी आकृति भी दिखाई देने लगती है।

कुछ काल निरन्तर इस छाया-साधना को करते रहा जाए, तो अपनी आकृति की एक अलग सत्ता बन जाती है और उसमें अपने संकल्प एवं प्राण का सम्मिश्रण होते जाने से वह एक स्वतंत्र चेतना का प्राणी बन जाता है। उसके अस्तित्व को 'अपना जीवित भूत' कह सकते हैं। आरम्भिक अवस्था में यह आकाश में उड़ता या अपने आस-पास फिरता दिखाई देता है। फिर उस पर जब अपना नियंत्रण हो जाता है तो आज्ञानुसार प्रकट होता तथा आचरण करता है। जिनका प्राण निर्बल है उनका यह मानस-पुत्र (छाया पुरुष) भी निर्बल होगा और अपना रूप दिखाने के अतिरिक्त और कुछ विशेष कार्य न कर सकेगा। पर जिनका प्राण प्रबल होता है उनका छाया-पुरुष, दूसरे अदृश्य शरीर की भाँति कार्य करता है। एक स्थूल और दूसरी सूक्ष्म देह, दो प्रकट देहें पाकर साधक बहुत से महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त कर लेता है। साथ ही रूप-साधना द्वारा मन का वश में होना तथा एकाग्र होना तो प्रत्यक्ष लाभ है ही।

रस साधना

जो फल आपको सबसे स्वादिष्ट लगता हो, उसे इस साधना के लिए लीजिए। जैसे आपको कलमी आम अधिक रुचिकर है, तो उसके छोटे-छोटे पाँच टुकड़े कीजिए। एक टुकड़ा जिह्वा के अग्र भाग पर एक मिनट तक रखा रहने दें और उसके स्वाद का स्मरण इस प्रकार करें कि बिना आम के भी आम का स्वाद जिह्वा को होता रहे। दो मिनट में वह अनुभव शिथिल होने लगेगा, फिर दूसरा टुकड़ा जीभ पर रखिये और पूर्ववत् उसे फेंककर आम के स्वाद का अनुभव कीजिए। इस प्रकार पाँच बार करने में पन्द्रह मिनट लगते हैं।

धीरे-धीरे जिह्वा पर कोई वस्तु रखने का समय कम करना चाहिए और बिना किसी वस्तु के रस के अनुभव करने का समय बढ़ाना चाहिए। कुछ समय पश्चात् बिना किसी वस्तु को जीभ पर रखे भी केवल भावना मात्र से इच्छित वस्तु का पर्याप्त समय तक रसास्वादन किया जा सकता है।

शरीर के लिए जिन रसों की आवश्यकता है, वे पर्याप्त मात्रा में आकाश में भ्रमण करते रहते हैं। संसार में जितने पदार्थ हैं उनका कुछ अंश वायु में, कुछ तरल रूप में और कुछ ठोस आकृति में रहता है। अन्न को हम ठोस आकृति में ही देखते हैं। भूमि में, जल में वह परमाणु रूप से रहता है और आकाश में अन्न का वायु अंश उड़ता रहता है। साधना की सिद्धि हो जाने पर आकाश में उड़ते फिरने वाले अन्नों को मनोबल द्वारा, संकल्प शक्ति के आकर्षण द्वारा खींचकर उदरस्थ किया जा सकता है। प्राचीन काल में ऋषि लोग दीर्घकाल तक बिना अन्न, जल के तपस्यायें करते थे। वे इस सिद्धि द्वारा आकाश में से ही अभीष्ट आहार प्राप्त कर लेते थे, इसलिए बिना अन्न, जल के भी उनका काम चलता था। इस साधना का साधक बहुमूल्य पौष्टिक पदार्थों, औषधियों एवं स्वादिष्ट रसों का उपभोग अपने साधना बल द्वारा ही कर सकता है तथा दूसरों के लिए वह वस्तुयें आकाश में उत्पन्न करके इस तरह दे सकता है, मानों किसी के द्वारा कहीं से मँगाकर दी हों।

गन्ध साधना

नासिका के अग्र भाग पर त्राटक करना इस साधना में आवश्यक है। दोनों नेत्रों से एक साथ नासिका के अग्र भाग पर त्राटक नहीं हो सकता। इसलिए एक मिनट दाहिनी ओर तथा एक मिनट बायीं ओर करना उचित है। दाहिने नेत्र को प्रधानता देकर उससे नाक के दाहिने हिस्से को और फिर बायें नेत्र को प्रधानता देकर बायें हिस्से को गम्भीर दृष्टि से देखना चाहिए। आरम्भ एक-एक मिनट से करके अन्त में पाँच-पाँच मिनट तक बढ़ाया जा सकता है। इस त्राटक में नासिका की सूक्ष्म शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं।

इस त्राटक के बाद कोई सुगन्धित तथा सुन्दर पुष्प लीजिए। उसे नासिका के समीप ले जाकर एक मिनट

तक धीरे-धीरे सूँघिये और उसी गन्ध का भली प्रकार स्मरण कीजिए। इसके बाद फूल को फेंक दीजिए और बिना फूल के ही उस गन्ध को दो मिनट तक स्मरण कीजिए। इसके बाद दूसरा फूल लेकर फिर इसी क्रम की पुनरावृत्ति कीजिए। पाँच फूलों पर पन्द्रह मिनट प्रयोग करना चाहिए। स्मरण रहे कम-से-कम एक सप्ताह तक एक ही फूल का प्रयोग होना चाहिए। इसी प्रकार रस साधना में एक फल का एक सप्ताह तक प्रयोग होना चाहिए।

कोई भी सुन्दर पुष्प गन्ध-साधना के लिए लिया जा सकता है। भिन्न पुष्पों के भिन्न गुण हैं। गुलाब-प्रेमोत्पादक, चमेली-बुद्धिवर्धक, गेंदा- उत्साह बढ़ाने वाला, चम्पा- सौन्दर्यदायक, कन्नेर- उष्ण, सूर्यमुखी- ओजवर्धक है। प्रत्येक पुष्प में कुछ सूक्ष्म गुण होते हैं। जिस पुष्प को सामने रखकर उसका ध्यान किया जायेगा, उसी के सूक्ष्म गुण अपने में बढ़ेंगे।

हवन, गन्ध-योग से सम्बन्धित है। किन्हीं पदार्थों की सूक्ष्म प्राण—शक्ति को प्राप्त करने के लिए उनसे विधि पूर्वक हवन किया जाता है। जिससे उनका स्थूल रूप तो जल जाता है, पर सूक्ष्म रूप से वायु के साथ चारों ओर फैलकर निकटस्थ लोगों की प्राण-शक्ति में अभिवृद्धि करता है। सुगन्धित वातावरण में अनुकूल प्राण की मात्रा अधिक होती है, इससे उसे नासिका द्वारा प्राप्त करते हुए अन्तःकरण प्रसन्न होता है।

गन्ध- साधना से मन की एकाग्रता के अतिरिक्त भविष्य का आभास करने की शक्ति बढ़ती है। सूर्य स्वर (दायाँ) और चन्द्र स्वर (बायाँ) सिद्ध हो जाने पर साधक अच्छा भविष्य- ज्ञाता हो सकता है। नासिका द्वारा साधा जाने वाला स्वर-योग भी गन्ध-साधना की एक शाखा है।

स्पर्श - साधना

१- बर्फ या कोई अन्य शीतल वस्तु शरीर पर एक मिनट लगा कर फिर उसे उठाये और दो मिनट तक अनुभव करें कि वह ठण्डक मिल रही है। सह्य उष्णता का गरम किया हुआ पत्थर का टुकड़ा शरीर से स्पर्श कराकर उसकी अनुभूति कायम रहने की भावना कीजिए। पंखा झलकर हवा करना, चिकना काँच का गोला या रुई की गेंद त्वचा पर स्पर्श करके फिर उस स्पर्श का ध्यान रखना भी इस प्रकार का अभ्यास है। ब्रुश से रगड़ना, लोहे का गोला उठाना, जैसे अभ्यासों से इसी प्रकार की ध्यान भावना की जा सकती है।

२- किसी समतल भूमि पर एक बहुत ही मुलायम गद्दा बिछाकर उस पर चित्त लेटे रहिये, कुछ देर तक उसकी कोमलता का स्पर्श सुख अनुभव करते रहिये, इसके बाद बिना गद्दा के कठोर जमीन या तख्त पर लेट जाइये। कठोर भूमि पर पड़े रहकर कोमल गद्दे के स्पर्श की भावना कीजिए, फिर पलटकर गद्दे पर आ जाइये और कठोर भूमि की कल्पना कीजिए। इस प्रकार भिन्न परिस्थिति में भिन्न वातावरण की भावना से तितिक्षा की सिद्धि मिलती है। स्पर्श- साधना की सफलता से शारीरिक कष्टों को हँसते-हँसते सहने की शक्ति पैदा होती है।

स्पर्श- साधना से तितिक्षा की सिद्धि मिलती है। सर्दी, गर्मी, वर्षा, चोट, फोड़ा, दर्द आदि से जो शरीर को कष्ट होते हैं, उनका कारण त्वचा में जल की तरह फैले हुए ज्ञान-तन्तु ही हैं। यह ज्ञान तन्तु छोटे से आघात, कष्ट या अनुभव को मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं, तदनुसार मस्तिष्क को पीड़ा का भान होने लगता है। कोकीन का इन्जेक्शन लगाकर इन ज्ञान तन्तुओं को शिथिल कर दिया जाय, तो आपरेशन करने में भी उस स्थान पर पीड़ा नहीं होती है। कोकीन इन्जेक्शन तो शरीर को पीछे से हानि भी पहुँचाता है पर स्पर्श साधना द्वारा प्राप्त हुई 'ज्ञान-तन्तु नियन्त्रण शक्ति' किसी प्रकार की हानि पहुँचाना तो दूर उल्टी नाड़ी संस्थान के अनेक विकारों को दूर करने में सफल होती है, साथ ही शारीरिक पीड़ाओं का भान भी नहीं होने देती।

भीष्म पितामह उत्तरायण सूर्य आने की प्रतीक्षा में कई महीने बाणों से छिदे हुए पड़े रहे थे। तिल-तिल शरीर में बाण लगे थे; फिर भी कष्ट से चिल्लाना तो दूर वे उपस्थित लोगों को बड़े ही गूढ़ विषयों का उपदेश देते रहे। ऐसा करना उनके लिए तभी सम्भव हो सका; जब उन्हें तितिक्षा की सिद्धि थी, अन्यथा हजारों बाणों में छिदा होना तो दूर एक सुई या काँटा लग जाने पर लोग होश- हवास भूल जाते हैं।

स्पर्श-साधना से चित्त की वृत्तियाँ एकाग्र होती हैं। मन को वश में करने से जो लाभ मिलते हैं, उनके अतिरिक्त

तितिक्षा की सिद्धि भी साथ में हो जाती है; जिससे कर्मयोग एवं प्रकृति प्रवाह से शरीर को होने वाले कष्टों को भोगने से साधक बच जाता है।

मन को आज्ञानुवर्ती, नियन्त्रित, अनुशासित बनाना जीवन को सफल बनाने की अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्या है। अपना दृष्टिकोण चाहे आध्यात्मिक हो, चाहे भौतिक, चाहे अपनी प्रवृत्तियाँ परमार्थ की ओर हों या स्वार्थ की ओर, मन का नियन्त्रण हर स्थिति में आवश्यक है। उच्छृंखल, चञ्चल या अव्यवस्थित मन से न लोक न परलोक, कुछ भी नहीं मिल सकता। मनोनिग्रह प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

मानसिक अव्यवस्था दूर करके मनोबल प्राप्त करने के लिए इस प्रकार जो साधनायें बताई गई हैं, वे बड़ी उपयोगी, सरल एवं सर्व सुलभ हैं। ध्यान, त्राटक, जप एवं तन्मात्रा साधना से मन की चञ्चलता दूर होती है, साथ ही चमत्कारी सिद्धियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार पाश्चात्य योगियों की मैस्मरेजम के तरीके से की गई मन: साधनाओं की अपेक्षा भारतीय विधि की योग पद्धति से की गई साधना, द्विगुणित लाभदायक होती है।

वश में किया हुआ मन सबसे बड़ा मित्र है, वह सांसारिक और आत्मिक दोनों ही प्रकार के अनेक ऐसे अद्‌भुत उपहार निरन्तर प्रदान करता रहता है, जिन्हें पाकर मानव- जीवन धन्य हो जाता है। सुरलोक में ऐसा कल्पवृक्ष बताया गया है, जिसके नीचे बैठकर मनचाही कामनायें पूरी हो जाती हैं। मृत्युलोक में, वश में किया हुआ मन ही कल्पवृक्ष है। यह परम सौभाग्य जिसे प्राप्त हो गया, उसे अनन्त ऐश्वर्य का आधिपत्य ही प्राप्त हो गया समझिये।

अनियन्त्रित मन अनेक विपत्तियों की जड़ है। अग्नि जहाँ रखी जायेगी, उसी स्थान को जलायेगी। जिस देह में असंयत मन रहेगा, उसमें नित नई विपत्तियाँ, कठिनाइयाँ, आपदायें, बुराइयाँ बरसती रहेंगी। इसलिए अध्यात्म विद्या के विद्वानों ने मन को वश में करने की साधना को बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना है। गायत्री का तृतीय मुख मनोमय कोश है। इस कोश को सुव्यवस्थित कर लेना, मानो तीसरे बन्धन को खोल लेना है, आत्मोन्नति की तीसरी कक्षा पार कर लेना है।

विज्ञानमय कोश

अन्नमय, प्राणमय और मनोमय इन तीनों कोशों के उपरान्त आत्मा का चौथा आवरण, गायत्री का चौथा मुख विज्ञानमय कोश है। आत्मोन्नति की चतुर्थ भूमिका में विज्ञानमय कोश की साधना की जाती है।

विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान। साधारण ज्ञान के द्वारा हम लोक-व्यवहार को, अपनी शारीरिक, व्यापारिक, सामाजिक, कलात्मक, धार्मिक समस्याओं को समझते हैं। स्थूल में इसी साधारण ज्ञान की शिक्षा मिलती है। राजनीति, अर्थशास्त्र, शिल्प, रसायन, चिकित्सा, संगीत, वक्तृत्व, लेखन, व्यवसाय, कृषि, निर्माण, उत्पादन आदि विविध बातों की जानकारी विविध प्रकार से की जाती है। इन जानकारियों के आधार पर शरीर से सम्बन्ध रखने वाला सांसारिक जीवन चलता है। जिसके पास यह जानकारियाँ जितनी अधिक होंगी, जो लोक व्यवहार में जितना अधिक प्रवीण होगा, उतना ही उसका सांसारिक जीवन उन्नत, यशस्वी, प्रतिष्ठित, सम्पन्न एवं ऐश्वर्यवान् होगा।

किन्तु इस साधारण ज्ञान का परिणाम स्थूल शरीर तक ही सीमित है। आत्मा का उससे कुछ हित सम्पादन नहीं हो सकता। देखा जाता है कि कई व्यक्ति धनवान्, प्रतिष्ठित, नेता और गुणवान् होते हुए भी आत्मिक दृष्टि से पिछड़े हुए होते हैं। कई-कई मनुष्य आत्मा- परमात्मा के बारे में बहुत बातें करते हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति, वेदान्त योग आदि के बारे में बहुत-सी बातें पढ़-सुनकर अपनी जानकारी बढ़ा लेते हैं और बड़ी-बड़ी बातें बढ़-चढ़कर करते हैं तथा साथियों पर अपनी विशेषता की छाप जमाते हैं। इतना करते हुए भी वस्तुत: उनकी आत्मिक धारणायें बड़ी निर्बल होती हैं। श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से उनकी स्थिति साधारण लोगों से कुछ अच्छी नहीं होती।

गीता, उपनिषद्, रामायण, वेदशास्त्र आदि सद्‌ग्रन्थों के पढ़ने एवं सत्पुरुषों के प्रवचन सुनने से आत्मिक विषयों की जानकारी बढ़ती है। जो उस क्षेत्र में प्रवेश करने वाले जिज्ञासुओं के लिए आवश्यक भी है। परन्तु इन विषयों की विस्तृत जानकारी प्राप्त होने पर भी यह आवश्यक नहीं कि उस व्यक्ति को आत्मज्ञान हो ही जाए।

इसमें तो सन्देह नहीं कि शिक्षा प्राप्त करना, भाषा ज्ञान, शास्त्राध्ययन आदि जीवन के विकास के लिए आवश्यक है और इनके द्वारा आध्यात्मिक प्रगति में भी सहायता मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति कबीर, रैदास और तुकाराम की तरह सामान्य प्रेरणा पाकर ही आत्मज्ञानी नहीं बन सकता, पर वर्तमान समय में लोगों ने भौतिक जीवन को इतना अधिक महत्त्व दे दिया है, धनोपार्जन को वे इतना सर्वोपरि गुण मानते हैं कि अध्यात्म की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती, उल्टा वे उसे अनावश्यक समझने लग जाते हैं।

इस पुस्तक के आरम्भ में वरुण और भृगु की कथा दी गई है, भृगु पूर्ण विद्वान् थे, वेद-वेदान्तों के पूरे ज्ञाता थे। फिर भी जानते थे कि मुझे आत्मज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान, विज्ञान प्राप्त नहीं है, इसलिए वरुण के पास जाकर उन्होंने प्रार्थना की कि 'हे भगवन्! मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश दीजिए।' वरुण ने भृगु को कोई पुस्तक नहीं पढ़ाई और न कोई लम्बा-चौड़ा प्रवचन ही सुनाया। वरन् उन्होंने आदेश दिया कि - 'तप करो।' तप करने से एक-एक कोश को पार करते हुए क्रमशः उन्होंने ब्रह्म को प्राप्त किया। ऐसी ही अनेक कथायें हैं। उद्दालक ने श्वेतकेतु को, ब्रह्मा ने इन्द्र को, अंगिरा ने विवस्वान् को इसी प्रकार तप करके ब्रह्म को जानने का आदेश किया था।

ज्ञान का अभिप्राय है जानकारी। विज्ञान का अभिप्राय है श्रद्धा, धारणा, मान्यता, अनुभूति। आत्मविद्या के सभी जिज्ञासु यह जानते हैं कि "आत्मा अमर है, शरीर से भिन्न है, ईश्वर का अंश है, सच्चिदानन्द स्वरूप है" परन्तु इस जानकारी का एक कण भी अनुभूति भूमिका में नहीं होता। स्वयं को तथा दूसरों को मरते देखकर हृदय विचलित हो जाता है। शरीर के लाभ के लिए आत्मा के लाभों की उपेक्षा प्रतिक्षण होती रहती है। दीनता, अभाव, तृष्णा, लालसा हर घड़ी सताती रहती है। तब कैसे कहा जाय कि आत्मा की अमरता, शरीर की भिन्नता तथा ईश्वर के अंश होने की मान्यता पर हमें श्रद्धा है, आस्था, विश्वास है।

अपने सम्बन्ध में तात्त्विक मान्यता स्थिर करना और उसका पूर्णतया अनुभव करना यही विज्ञान का उद्देश्य है। आमतौर से लोग अपने को शरीर मानते हैं, स्थूल शरीर से जैसे कुछ हम हैं, वही उनकी आत्म मान्यता है। जाति, वंश, प्रदेश, सम्प्रदाय, व्यवसाय, पद, विद्या, धन, आयु, स्थिति, लिंग आदि के आधार पर वह मान्यता बनाई जाती है कि मैं कौन हूँ? यह प्रश्न पूछने पर कि 'आप कौन हैं' लोग इन्हीं बातों के आधार पर अपना परिचय देते हैं। अपने को समझते भी वे यही हैं। इस मान्यता के आधार पर ही अपने स्वार्थों का निर्धारण होता है। जिस स्थिति में स्वयं हैं उसी स्थिति का अहंकार अपने में जाग्रत् होता और स्थिति तथा अहंकार की पूर्ति, तुष्टि तथा सन्तुष्टि जिस प्रकार होनी सम्भव दिखाई पड़ती है, वही जीवन की अन्तरंग नीति बन जाती है।

बाहर से लोग धर्म और सदाचार की, सिद्धान्तों और आदर्शों की बातें करते रहते हैं, पर उनका अन्तःकरण उसी दिशा में काम करता है, जिस ओर उनकी अन्तरंग जीवन नीति प्रेरणा देती है। जब अपने को शरीर मान लिया गया है, तो शरीर का सुख ही अभीष्ट होना चाहिए। इन्द्रिय भोगों की, मौज मजे की, मान बड़ाई की, ऐश आराम की प्राप्ति ही शरीर का सुख है, इन सुखों के लिए धन की आवश्यकता है। अस्तु, धन को अधिक से अधिक जुटाना और भोग-ऐश्वर्य में निमग्न रहना यही प्रधान कार्यक्रम हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो किया जाता है, वह तो एक प्रकार की तफरीह के लिए, विनोद के लिए होता है। ऐसे लोग कभी-कभी धर्म-चर्चा या पूजा-पाठ भी करते देखे जाते हैं। यह उनका मन बहलाव मात्र है। स्थिर लक्ष्य तो उनका वही रहेगा, जो आत्म मान्यता के आधार पर निर्धारित किया गया है। आमतौर से आज यही भौतिक दृष्टि सर्वत्र दृष्टिगोचर है। धन और भोग की छीना-झपटी में लोग एक दूसरे से बाजी मारने में इसी दृष्टिकोण के कारण जी-जान से जुटे हुए हैं। परिणामस्वरूप जिन कलह, क्लेशों का सामना करना पड़ रहा है, वह सामने है।

विज्ञान इस अज्ञान रूपी अन्धकार से हमें बचाता है। जिस मनोभूमि में पहुँचकर जीव यह अनुभव करता है कि मैं शरीर नहीं वस्तुतः "आत्मा ही हूँ" उस मनोभूमि को विज्ञानमय कोश कहते हैं। अन्नमय कोश में जब तक जीव की स्थिति रहती है, तब तक वह अपने को स्त्री-पुरुष, मनुष्य, पशु, मोटा-पतला, पहलवान, काला, गोरा आदि शरीर सम्बन्धी भेदों से पहचानता है। जब प्राणमय कोश में जीव की स्थिति होती है, तो गुणों के आधार पर अपनत्व का बोध होता है। शिल्पी, संगीतज्ञ, वैज्ञानिक, मूर्ख, कायर, शूरवीर, लेखक, वक्ता, धनी, गरीब आदि

की मान्यताएँ प्राण भूमिका में होती हैं। मनोमय कोश की स्थिति में पहुँचने पर अपने मन की मान्यता स्वभाव के आधार पर होती है। लोभी, दम्भी, चोर, उदार, विषयी, संयमी, नास्तिक, आस्तिक, स्वार्थी, परमार्थी, दयालु, निष्ठुर आदि कर्तव्य और धर्म की औचित्य-अनौचित्य सम्बन्धी मान्यतायें जब अपने सम्बन्ध में बनती हों, उन्हीं पर विशेष ध्यान रहता हो, तो समझना चाहिए कि जीव मनोमय भूमिका की तीसरी कक्षा में पहुँचा हुआ है। इससे चौथी कक्षा विज्ञान भूमिका है, जिसमें पहुँचकर जीव अपने को यह अनुभव करने लगता है कि मैं शरीर से, गुणों से, स्वभाव से ऊपर हूँ, मैं ईश्वर का राजकुमार, अविनाशी आत्मा हूँ।

जीभ से अपने को आत्मा कहने वाले असंख्य लोग हैं, उन्हें आत्मज्ञानी नहीं कह सकते। आत्मज्ञानी वह है, जो दृढ़ विश्वास और पूर्ण श्रद्धा के साथ अपने भीतर यह अनुभव करता है कि "मैं विशुद्ध हूँ, आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं।" शरीर मेरा वाहन है। प्राण मेरा अस्त्र है। मन मेरा सेवक है। मैं इन सबसे ऊपर, इन सबसे अलग इन सबका स्वामी आत्मा हूँ। मेरे स्वार्थ इनसे अलग हैं, मेरे लाभ और स्थूल शरीर के लाभों में, स्वार्थों में भारी अन्तर है। इस अन्तर को समझकर जीव अपने लाभ, स्वार्थ, हित और कल्याण के लिए कटिबद्ध होता है, आत्मोन्नति के लिए अग्रसर होता है, तो उसे अपना स्वरूप और भी स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

विज्ञानमय कोश की चतुर्थ भूमिका में पहुँचे हुए जीव का दृष्टिकोण सांसारिक जीवों से भिन्न होता है। गीता में योगी का लक्षण बताया गया है कि जब सब जीव सोते हैं, तब योगी जागता है और सब जीव जब जागते हैं, तब योगी सो जाता है। इन आलंकारिक शब्दों में रात को जागने और दिन में सोने का विधान नहीं है। वरन् यह बताया गया है कि जिन चीजों के लिए साधारण लोग बेतरह इच्छुक, प्यासे, लालायित, सतृष्ण और आकांक्षी रहते हैं, योगी का मन इधर से फिर जाता है; क्योंकि वह देखता है कि कामिनी और कञ्चन की माया शरीर को गुदगुदाती हे, पर आत्मा को ले बैठती है। इससे क्षणिक सुख के लिए स्थिर आनन्द का नाश करना उचित नहीं है। जिन धन-सन्तान, कुटुम्ब-कबीला, शत्रु-मित्र, हानि- लाभ, आगा-पीछा, निन्दा-स्तुति आदि की समस्याओं में साधारण लोग बेतरह फँसे रहते हैं, ये बातें योगी के लिए अबोध बच्चों की 'बालक्रीड़ा' से अधिक कुछ भी महत्त्व की दिखाई नहीं देती। इसलिये वे उनकी ओर से उदास हो जाते हैं। वे इस झमेले को बहुत कम महत्त्व देते हैं। फलस्वरूप यह समस्याएँ उनके लिए अपने आप सुलझ जाती हैं या समाप्त हो जाती हैं।

जिन कार्यों में, विचारों में, कामी लोग, मायाग्रस्त व्यक्ति अत्यन्त मोहग्रस्त होकर चिपके रहते हैं, उनकी ओर से योगी मुँह फेर लेते हैं। इस प्रकार वह वहाँ सोया हुआ माना जाता है, जहाँ कि अन्य जीव जागते हैं। इसी प्रकार जिन कार्यों की ओर संयम, त्याग, परमार्थ, आत्मलाभ की ओर सांसारिक जीवों का बिलकुल ध्यान नहीं होता, उनमें योगी दत्तचित्त होकर संलग्न रहता है। इस स्थिति के बारे में ही गीता में कहा गया है कि जब जीव सोते हैं, तब योगी जागता है।

शरीर यात्रा के लिए प्रायः सभी मनुष्यों को मिलता-जुलता कार्यक्रम रखना पड़ता है, पर योगी और भोगी के जीवन तथा रीति में भारी अन्तर होता है। प्रायः सभी लोग तड़के, नित्य कर्म से निवृत्त होते और भोजन करके काम में लगते हैं। शाम तक जो श्रम करना पड़ता है, उसमें से अधिकांश समय, अन्न, वस्त्र, जीवन आश्रितों की व्यवस्था में लग जाता है। शाम को फिर नित्य कर्म भोजन और रात को सो जाना। इस धुरी पर सब का जीवन घूमता है, परन्तु अन्तःस्थिति में जमीन आसमान का भेद है। एक मनुष्य अपने शरीर सुख के लिए धन और भोग इकट्ठे करने की योजना सामने रखकर अपने हर विचार और कार्य को करता है, जबकि दूसरा अपने को आत्मा समझकर आत्म-कल्याण की नीति पर चलता है, तो ये विभिन्न दृष्टिकोण ही एक के कामों को पुण्य एवं यज्ञ बना देते हैं और दूसरे के काम पाप एवं बन्धन बन जाते हैं।

आत्म-ज्ञान, आत्म-साक्षात्कार, आत्म-लाभ, आत्म-प्राप्ति, आत्म-दर्शन, आत्म-कल्याण को जीवन-लक्ष्य माना गया है। यह लक्ष्य तभी पूरा होता है, जब हमारी अन्तःचेतना अपने बारे में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास-भावना के साथ यह अनुभव करे कि मैं वस्तुतः परब्रह्म परमात्मा का अविच्छिन्न अंश, अविनाशी-आत्मा हूँ। इस भावना की पूर्णता, परिपक्वता एवं सफलता का नाम ही आत्म साक्षात्कार है।

आत्म-साक्षात्कार की चार साधनायें नीचे दी जाती हैं, १- सोऽहं साधना, २- आत्मानुभूति, ३- स्वर संयम, ४- ग्रन्थि-भेद । यह चारों ही विज्ञानमय कोश को प्रबुद्ध करने वाली हैं ।

सोऽहं साधना (अजपा–जाप)

आत्मा के सूक्ष्म अन्तराल में अपने आप के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान मौजूद है । वह अपनी स्थिति की घोषणा प्रत्येक क्षण करती रहती है, ताकि बुद्धि भ्रमित न हो और अपने स्वरूप को न भूले । थोड़ा-सा ध्यान देने पर आत्मा की इस घोषणा को हम स्पष्ट रूप से सुन सकते हैं । उस ध्वनि पर निरन्तर ध्यान दिया जाए, तो उस घोषणा के करने वाले अमृत भण्डार आत्मा तक भी पहुँचा जा सकता है ।

जब एक साँस लेते हैं तो वायु प्रवेश के साथ-साथ एक सूक्ष्म ध्वनि होती है जिसका शब्द "सो ो ो ो ो.... .... " जैसा होता है । जितनी देर साँस भीतर ठहरती है अर्थात् स्वाभाविक कुम्भक होता है, उतनी देर आधे "अ ऽ ऽ ऽ" की सी विराम ध्वनि होती है और जब साँस बाहर निकलती है तो "हं...... " जैसी ध्वनि निकलती है । इन तीनों ध्वनियों पर ध्यान केन्द्रित करने से, अजपा-जाप की "सोऽहं" साधना होने लगती है ।

प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व नित्यकर्म से निपट कर पूरब को मुख करके किसी शान्त स्थान पर बैठिये । मेरुदण्ड सीधा रहे । दोनों हाथों को समेट कर गोदी में रख लीजिए, नेत्र बन्द रखिये । जब नासिका द्वारा वायु भीतर प्रवेश करने लगे, तो सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय को सजग करके ध्यानपूर्वक अवलोकन कीजिए कि वायु के साथ-साथ 'सो' की सूक्ष्म ध्वनि हो रही है । इसी प्रकार जितनी देर साँस रुके 'अ' और वायु निकलते समय 'हं' की ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित कीजिये । साथ ही हृदय स्थित सूर्य-चक्र के प्रकाश बिन्दु में आत्मा के तेजोमय स्फुल्लिंग की धारणा कीजिए । जब साँस भीतर जा रही हो और 'सो' की ध्वनि हो रही हो, तब अनुभव कीजिए कि यह तेज बिन्दु परमात्मा का प्रकाश है 'स' अर्थात् परमात्मा 'ऽहम्' अर्थात्- मैं । जब वायु बाहर निकले और 'हं' की ध्वनि हो, तब उसी प्रकाश बिन्दु में भावना कीजिए कि 'यह मैं हूँ ।'

'अ' की विराम भावना परिवर्तन के अवकाश का प्रतीक है । आरम्भ में उस हृदय-चक्र स्थित बिन्दु को 'सो' ध्वनि के समय ब्रह्म माना जाता है और पीछे उसी की 'हं' धारणा में जीव भावना हो जाती है । इस भाव परिवर्तन के लिए 'अ' का अवकाश काल रखा गया है । इसी प्रकार जब 'हं' समाप्त हो जाए, वायु बाहर निकल जाए और नयी वायु प्रवेश करे, उस समय भी जीव- भाव हटाकर उस तेज बिन्दु में ब्रह्म भाव बदलने का अवकाश मिल जाता है । यह दोनों ही अवकाश 'अ ऽ ऽ ऽ' के समान हैं, पर इनकी ध्वनि सुनाई नहीं देती । शब्द तो 'सो' 'ऽहं' का ही होता है ।

'सो' ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है । 'ऽ' प्रकृति का प्रतिनिधि है । 'हं' जीव का प्रतीक है । ब्रह्म, प्रकृति और जीव का सम्मिलन इस अजपा-जाप में होता है । सोऽहं-साधना में तीनों महाकारण एकत्रित हो जाते हैं, जिनके कारण आत्म-जागरण का स्वर्ण सुयोग एक साथ ही उपलब्ध होने लगता है ।

'सोऽहं' साधना की उन्नति जैसे-जैसे होती जाती है, वैसे ही वैसे विज्ञानमय कोश का परिष्कार होता जाता है । आत्म-ज्ञान बढ़ता है और धीरे-धीरे आत्म साक्षात्कार की स्थिति निकट आती चलती है । आगे चलकर साँस पर ध्यान जमाना छूट जाता है और केवल मात्र हृदय स्थित सूर्य-चक्र में विशुद्ध ब्रह्म तेज के ही दर्शन होते हैं । उस समय समाधि की सी अवस्था हो जाती है । हंस योग की परिपक्वता से साधक ब्राह्मी स्थिति का अधिकारी हो जाता है ।

स्वामी विवेकानन्द जी ने विज्ञानमय कोश की साधना के लिए "आत्मानुभूति" की विधि बताई है । उनके अमेरिकन शिष्य रामाचरक ने इस विधि को 'मेन्टल डेवलपमेण्ट' नामक पुस्तक में विस्तारपूर्वक लिखा है ।

आत्मानुभूति - योग

१- किसी शान्त या एकान्त स्थान में जाइये । निर्जन, कोलाहल रहित स्थान इस साधना के लिए चुनना चाहिए । इस प्रकार का एक स्थान घर का स्वच्छ हवादार कमरा भी हो सकता है और नदी तट अथवा उपवन

भी । हाथ मुँह धोकर साधना के लिए बैठना चाहिए । आराम कुर्सी पर अथवा दीवार, वृक्ष या मसनद के सहारे बैठकर भी यह साधना भली प्रकार होती है ।

सुविधापूर्वक बैठ जाइये, तीन लम्बे-लम्बे श्वास लीजिए । पेट में भरी हुई वायु को पूर्ण रूप से बाहर निकालना और फेफड़ों में पूरी हवा भरना एक पूरा श्वास कहलाता है । तीन पूरे श्वास लेने से हृदय और फुफ्फुस की भी उसी प्रकार एक धार्मिक शुद्धि होती है जैसे स्नान करने, हाथ-पाँव धोकर बैठने से शरीर की शुद्धि होती है ।

तीन पूरे साँस लेने के बाद शरीर को शिथिल कीजिए और हर अंग में से खिंचकर प्राणशक्ति हृदय में एकत्रित हो रही है, ऐसा ध्यान कीजिए । हाथ, पाँव आदि सभी अंग—प्रत्यंग शिथिल, ढीले, निर्जीव, निष्प्राण हो गये हैं, ऐसी भावना करनी चाहिए । "मस्तिष्क से सब विचारधाराएँ और कल्पनाएँ शान्त हो गयीं हैं और समस्त शरीर के अन्दर एक शान्त नीला आकाश व्याप्त हो रहा है ।" ऐसी शान्त, शिथिल अवस्था को प्राप्त करने के लिए कुछ दिन लगातार प्रयत्न करना पड़ता है । अभ्यास से कुछ दिन में अधिक शिथिलता एवं शांति अनुभव होती जाती है ।

शरीर भली प्रकार शिथिल हो जान पर हृदय स्थान में एकत्रित अँगूठे के बराबर, शुभ्र, श्वेत ज्योति-स्वरूप, प्राण शक्ति का ध्यान करना चाहिए । "अजर, अमर, शुद्ध, बुद्ध, चेतन, पवित्र ईश्वरीय अंश आत्मा मैं हूँ । मेरा वास्तविक स्वरूप यही है, मैं सत्, चित्त, आनन्द-स्वरूप आत्मा हूँ ।" उस ज्योति के कल्पना नेत्रों से दर्शन करते हुए उपर्युक्त भावनाएँ मन में रखनी चाहिए ।

२- उपर्युक्त शिथिलासन के साथ आत्मदर्शन करने की साधना इस योग में प्रथम साधना है । जब यह साधना भली प्रकार अभ्यास में आ जाए, तो आगे की सीढ़ी पर पैर रखना चाहिए । दूसरी भूमिका में साधना का अभ्यास नीचे दिया जाता है ।

३- ऊपर लिखी हुई शिथिलावस्था में अखिल आकाश में नील वर्ण आकाश का ध्यान कीजिए । उस आकाश में बहुत ऊपर सूर्य के समान ज्योति-स्वरूप आत्मा को अवस्थित देखिये । "मैं ही यह प्रकाशवान् आत्मा हूँ" - ऐसा निश्चत संकल्प कीजिए । अपने शरीर को नीचे भूतल पर निस्पन्द अवस्था में पड़ा हुआ देखिये, उसके अंग-प्रत्यंगों का निरीक्षण एवं परीक्षण कीजिए । यह हर एक कल—पुर्जा मेरा औजार है, मेरा वस्त्र है । यह यन्त्र मेरी इच्छानुसार क्रिया करने के लिए प्राप्त हुआ है । इस बात को बार-बार मन में दुहराइये । इस निस्पन्द शरीर में खोपड़ी का ढक्कन उठाकर ध्यानावस्था से मन और बुद्धि को दो सेवक शक्तियों के रूप में देखिये । वे दोनों हाथ बाँधे आपकी इच्छानुसार कार्य करने के लिए नतमस्तक खड़े हैं । इस शरीर और मन बुद्धि को देखकर प्रसन्न होइए कि इच्छानुसार कार्य करने के लिए यह मुझे प्राप्त हुए हैं । मैं उनका उपयोग सच्चे आत्म-स्वार्थ के लिए ही करूँगा, यह भावनायें बराबर उस ध्यानावस्था में आपके मन में गूँजती रहनी चाहिए ।

४- जब दूसरी भूमिका का ध्यान भली प्रकार होने लगे, तो तीसरी भूमिका का ध्यान कीजिए ।

अपने को सूर्य की स्थिति में ऊपर आकाश में अवस्थित देखिये । "मैं समस्त भूमण्डल पर अपनी प्रकाश किरणें फेंक रहा हूँ । संसार मेरा कर्म-क्षेत्र और लीलाभूमि है, भूतल की वस्तुओं और शक्तियों को मैं इच्छित प्रयोजनों के लिये काम में लाता हूँ, पर वे मेरे ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकतीं । पञ्चभूतों की गतिविधि के कारण जो हलचलें संसार में हर घड़ी होती हैं, वे मेरे लिए एक विनोद और मनोरंजक दृश्य मात्र हैं, मैं किसी भी सांसारिक हानि-लाभ से प्रभावित नहीं होता । मैं शुद्ध, चैतन्य, सत्यस्वरूप, पवित्र, निर्लेप, अविनाशी आत्मा हूँ । मैं आत्मा हूँ, महान् आत्मा हूँ । महान् परमात्मा का विशुद्ध स्फुलिंग हूँ ।" यह मन्त्र मन ही मन जपिये ।

तीसरी भूमिका का ध्यान जब अभ्यास के कारण पूर्ण रूप से पुष्ट हो जाए और हर घड़ी वह भावना रोम-रोम में प्रतिभासित होने लगे, तो समझना चाहिए कि इस साधना की सिद्धावस्था प्राप्त हो गई, यह जाग्रत् समाधि या जीवन-मुक्त अवस्था कहलाती है ।

आत्मचिन्तन की साधना

रात को सब कार्यों से निवृत्त होकर जब सोने का समय हो, तो सीधे चित्त लेट जाइये । पैर सीधे फैला दीजिए, हाथों को मोड़कर पेट पर रख लीजिए । सिर सीधा रहे । पास में दीपक जल रहा हो, तो बुझा दीजिए या मन्द कर दीजिए । नेत्रों को अधखुला रखिए ।

अनुभव कीजिए कि आपका आज का एक दिन, एक जीवन था । अब जबकि एक दिन समाप्त हो रहा है, तो एक जीवन की इतिश्री हो रही है । निद्रा एक मृत्यु है । अब इस घड़ी में एक दैनिक जीवन को समाप्त करके मृत्यु की गोद में जा रहा हूँ ।

आज के जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि से समालोचना कीजिए । प्रातःकाल से लेकर सोते समय तक के कार्यों पर दृष्टिपात कीजिए । मुझ आत्मा के लिए वह कार्य उचित था या अनुचित ? यह उचित था, तो जितनी सावधानी एवं शक्ति के साथ उसे करना चाहिए था उसके अनुसार किया या नहीं ? बहुमूल्य समय का कितना भाग उचित रीति से, कितना अनुचित रीति से, कितना निरर्थक रीति से व्यतीत किया ? वह दैनिक जीवन सफल रहा या असफल ? आत्मिक पूँजी में लाभ हुआ या घाटा ? सद्वृत्तियाँ प्रधान रहीं या असद्वृत्तियाँ ? इस प्रकार के प्रश्नों के साथ दिनभर के कार्यों का भी निरीक्षण कीजिए ।

जितना अनुचित हुआ हो, उसके लिए आत्म-देव के सम्मुख पश्चात्ताप करें । जो उचित हुआ हो उसके लिए परमात्मा को धन्यवाद दीजिए और प्रार्थना कीजिए कि आगामी जीवन में, कल के जीवन में, उस दिशा में विशेष रूप से अग्रसर करें । इसके पश्चात् शुभ्र वर्ण आत्म-ज्योति का ध्यान करते हुए निद्रा देवी की गोद में सुखपूर्वक चले जाइये ।

दूसरी साधना

प्रातःकाल जब नींद पूरी तरह खुल जाए, तो अँगड़ाई लीजिए । तीन पूरे लम्बे साँस खींचकर सचेत हो जाइये ।

भावना कीजिए कि आज नया जीवन ग्रहण कर रहा हूँ । नया जन्म धारण करता हूँ । इस जन्म को इस प्रकार खर्च करूँगा कि आत्मिक पूँजी में अभिवृद्धि हो । कल के दिन-पिछले दिन जो भूलें हुई थीं, आत्म-देव के सामने जो पश्चात्ताप किया था, उसका ध्यान रखता हुआ आज के दिन का अधिक उत्तमता के साथ उपयोग करूँगा ।

दिनभर के कार्यक्रम की योजना बनाइये । इन कार्यों में जो खतरा सामने आने को है उसे विचारिये और उससे बचने के लिए सावधान होइए । उन कार्यों से जो आत्म-लाभ होने वाला है, वह अधिक हो, इसके लिए और तैयारी कीजिए । यह जन्म, यह दिन, पिछले की अपेक्षा अधिक सफल हो, यह चुनौती अपने आपको दीजिए और उसे साहसपूर्वक स्वीकार कर लीजिए ।

परमात्मा का ध्यान कीजिए और प्रसन्न मुद्रा में एक चैतन्य ताजगी, उत्साह, आशा एवं आत्म विश्वास की भावनाओं के साथ उठकर शय्या का परित्याग कीजिए । शय्या से नीचे पैर रखना मानो आज के नवजीवन में प्रवेश करना है ।

इस आत्म-चिन्तन की साधना से दिन-दिन शरीराभ्यास घटने लगता है । शरीर को लक्ष्य करके किए जाने वाले विचार और कार्य शिथिल होने लगते हैं तथा ऐसी विचारधारा एवं कार्य प्रणाली समुन्नत होती है, जिसके द्वारा आत्म-लाभ के लिए अनेक प्रकार के पुण्य आयोजन होते हैं ।

स्वर योग

विज्ञानमय कोश, वायु प्रधान कोश होने के कारण उसकी स्थिति में वायु संस्थान विशेष रूप से सजग रहता हैं । इस वायु तत्त्व पर यदि अधिकार प्राप्त कर लिया जाए, तो अनेक प्रकार से अपना हित सम्पादन किया जा सकता है ।

स्वर शास्त्र के अनुसार श्वास-प्रश्वास के मार्गों को नाड़ी कहते हैं । शरीर में ऐसी नाड़ियों की संख्या ७२००० है । इनको नसें न समझना चाहिए, स्पष्टत: यह प्राण-वायु आवागमन के मार्ग हैं । नाभि में इसी प्रकार की एक नाड़ी कुण्डली के आकार में है । जिसमें से १- इड़ा, २- पिंगला, ३- सुषुम्ना, ४- गंधारी, ५- हस्त- जिह्वा, ६- पूषा, ७- यशश्विनी, ८- अलंबुषा, ९- कुहू तथा १०- शंखिनी नामक दस नाड़ियाँ निकली हैं और यह शरीर के विभिन्न भागों की ओर चली जाती हैं । इनमें से पहली तीन प्रधान हैं । इड़ा को 'चन्द्र' कहते हैं जो बाँयें नथुने में है । पिंगला को 'सूर्य' कहते हैं, यह दाहिने नथुने में है । सुषुम्ना को वायु कहते हैं जो दोनों नथुनों के मध्य में है । जिस प्रकार संसार में सूर्य और चन्द्र नियमित रूप से अपना-अपना काम करते हैं, उसी प्रकार इड़ा, पिंगला भी इस जीवन में अपना-अपना कार्य नियमित रूप से करती हैं । इन तीनों के अतिरिक्त अन्य सात प्रमुख नाड़ियों के स्थान इस प्रकार हैं - गांधारी बायें नेत्र में, हस्त-जिह्वा दाहिनी आँख में, पूषा दाहिने कान में, यशश्विनी बाँयें कान में, अलम्बुषा मुख में, कुहू लिंग देश में और शंखिनी गुदा (मूलाधार) में । इस प्रकार शरीर के दस द्वारों में दस नाड़ियाँ हैं ।

हठयोग में नाभिकन्द अर्थात् कुण्डलिनी स्थान गुदा द्वार से लिंग देश की ओर दो अँगुल हटकर मूलाधार चक्र माना गया है । स्वर योग में वह स्थिति माननीय न होगी । स्वर योग शरीर शास्त्र से सम्बन्ध रखता है और शरीर की नाभि या मध्य केन्द्र गुदा-मूल में नहीं, वरन् उदर की टुण्डी में ही हो सकता है । इसलिए यहाँ नाभि देश का तात्पर्य उदर की टुण्डी मानना ही ठीक है । श्वास क्रिया का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उदर से ही है । इसलिए प्राणायाम द्वारा उदर संस्थान तक प्राण वायु को ले जाकर नाभि केन्द्र से इस प्रकार घर्षण किया जाता है कि वहाँ की सुप्त शक्तियों का जागरण हो सके ।

चन्द्र और सूर्य की अदृश्य रश्मियों का प्रभाव स्वरों पर पड़ता है । सब जानते हैं कि चन्द्रमा का गुण शीतल और सूर्य का उष्ण है । शीतलता से स्थिरता, गम्भीरता, विवेक प्रभृति गुण उत्पन्न होते हैं और उष्णता से तेज, शौर्य, चञ्चलता, उत्साह, क्रियाशीलता, बल आदि गुणों का आविर्भाव होता है । मनुष्य को सांसारिक जीवन में शान्तिपूर्ण और अशांतिपूर्ण दोनों ही तरह के काम करने पड़ते हैं । किसी भी काम का अन्तिम परिणाम उसके आरम्भ पर निर्भर है । इसलिए विवेकी पुरुष अपने कर्मों को आरंभ करते समय यह देख लेते हैं कि हमारे शरीर और मन की स्वाभाविक स्थिति इस प्रकार काम करने के अनुकूल है कि नहीं ? एक विद्यार्थी को रात में उस समय पाठ याद करने के लिए दिया जाए, जबकि उसकी स्वाभाविक स्थिति निद्रा चाहती है, तो वह पाठ को अच्छी तरह याद न कर सकेगा । यदि यही पाठ उसे प्रातःकाल की अनुकूल स्थिति में दिया जाए, तो आसानी से सफलता मिल जायेगी । ध्यान, भजन-पूजा, मनन, चिन्तन के लिए एकान्त की आवश्यकता है, किन्तु उत्साह भरने और युद्ध के लिए कोलाहलपूर्ण वातावरण की, बाजों की घोर ध्वनि की आवश्यकता होती है । ऐसी उचित स्थितियों में किए कार्य अवश्य ही फलीभूत होते हैं । इसी दृष्टिकोण के आधार पर स्वर-योगियों ने आदेश किया है कि विवेकपूर्ण और स्थायी कार्य चन्द्र स्वर में किए जाने चाहिए, जैसे- विवाह, दान, मन्दिर, कुआँ, तालाब बनाना, नवीन वस्त्र धारण करना, घर बनाना, आभूषण बनवाना, शान्ति के काम, पुष्टि के काम, शफाखाना, औषधि देना, रसायन बनाना, मैत्री, व्यापार, बीज बोना, दूर की यात्रा, विद्याभ्यास, योग क्रिया आदि । यह सब कार्य ऐसे हैं जिनमें अधिक गम्भीरता और बुद्धिपूर्वक कार्य करने की आवश्यकता है, इसलिए इनका आरम्भ भी ऐसे ही समय में होना चाहिए, जब शरीर के सूक्ष्म कोश चन्द्रमा की शीतलता को ग्रहण कर रहे हों ।

उत्तेजना, आवेश एवं जोश के साथ करने पर जो कार्य ठीक होते हैं, उनके लिए सूर्य-स्वर उत्तम कहा गया है । जैसे क्रूर कार्य, स्त्री-भोग, भ्रष्ट कार्य, युद्ध करना, देश का ध्वंस करना, विष खिलाना, मद्य पीना, हत्या करना, खेलना, काठ, पत्थर, पृथ्वी, रत्न को तोड़ना, तंत्रविद्या, जुआ, चोरी, व्यायाम, नदी पार करना आदि । यहाँ उपर्युक्त कठोर कर्मों का समर्थन या निषेध नहीं है । शास्त्रकार ने तो एक वैज्ञानिक की तरह विश्लेषण कर दिया है कि ऐसे कार्य उस वक्त अच्छे होंगे, जब सूर्य की उष्णता के प्रभाव से जीवन तत्त्व उत्तेजित हो रहा हो । शान्तिपूर्ण

मस्तिष्क से भली प्रकार ऐसे कार्यों को कोई व्यक्ति कैसे कर सकता ? इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि सूर्य स्वर में अच्छे कार्य नहीं होते । संघर्ष और युद्ध आदि कार्य देश, समाज अथवा आश्रित की रक्षार्थ भी हो सकते हैं और उनको सब कोई प्रशंसनीय बतलाता है । इसी प्रकार विशेष परिश्रम के कार्यों का सम्पादन भी समाज और परिवार के लिए अनिवार्य होता है । वे भी सूर्य-स्वर में उत्तमतायुक्त होते हैं ।

कुछ क्षण के लिए जब दोनों नाड़ी इड़ा, पिंगला रुककर, सुषुम्ना चलती है तब प्राय: शरीर संधि अवस्था में होता है । वह संध्याकाल है । दिन के उदय और अस्त को भी संध्याकाल कहते हैं । इस समय जन्म या मरण काल के समान पारलौकिक भावनायें मनुष्य में जाग्रत् होती हैं और संसार की ओर से विरक्ति, उदासीनता एवं अरुचि होने लगती है । स्वर की सन्ध्या से भी मनुष्य का चित्त सांसारिक कार्यों से कुछ उदासीन हो जाता है और अपने वर्तमान अनुचित कार्यों पर पश्चात्ताप स्वरूप खिन्नता प्रकट करता हुआ, कुछ आत्म- चिन्तन की ओर झुकता है । वह क्रिया बहुत ही सूक्ष्म होती है, अल्पकाल के लिए आती है, इसलिए हम अच्छी तरह पहचान भी नहीं पाते । यदि इस समय परमार्थ चिन्तन और ईश्वराराधना का अभ्यास किया जाए, तो नि:सन्देह उसमें बहुत उन्नति हो सकती है, किन्तु सांसारिक कार्यों के लिए यह स्थिति उपयुक्त नहीं है । इसलिए सुषुम्ना स्वर में आरम्भ होने वाले कार्यों का परिणाम अच्छा नहीं होता, वे अक्सर अधूरे या असफल रह जाते हैं । सुषुम्ना की दशा में मानसिक विकार दब जाते हैं और गहरे आत्मिक भाव का थोड़ा—बहुत उदय होता है, इसलिए इस समय में दिये हुए शाप या वरदान अधिकांश फलीभूत होते हैं; क्योंकि इन भावनाओं के साथ आत्म-तत्त्व का बहुत कुछ सम्मिश्रण होता है । इड़ा शीत ऋतु है, तो पिंगला ग्रीष्म ऋतु । जिस प्रकार शीत ऋतु के महीनों में शीत की प्रधानता रहती है, उसी प्रकार चन्द्र नाड़ी शीतल होती है और ग्रीष्म ऋतु के महीनों में जिस प्रकार गर्मी की प्रधानता रहती है, उसी प्रकार सूर्य नाड़ी में उष्णता एवं उत्तेजना का प्राधान्य होता है ।

स्वर बदलना

कुछ विशेष कार्यों के सम्बन्ध में स्वर शास्त्रज्ञों के जो अनुभव हैं, उनकी जानकारी सर्वसाधारण के लिए बहुत ही सुविधाजनक होगी । बताया गया है कि प्रस्थान करते समय चलित स्वर के शरीर भाग को हाथ से स्पर्श करके उस चलित स्वर वाले कदम को आगे बढ़ाकर (यदि चन्द्र नाड़ी चलती हो तो ४ बार और सूर्य- स्वर है तो ५ बार उसी पैर को जमीन पर पटक कर) प्रस्थान करना चाहिए । यदि किसी क्रोधी पुरुष के पास जाना है तो अचलित स्वर (जो स्वर न/चल रहा हो) के पैर को पहले आगे बढ़ाकर प्रस्थान करना चाहिए और अचलित स्वर की ओर उस पुरुष को करके बातचीत करनी चाहिए । इसी रीति से उसकी बढ़ी हुई उष्णता को अपना अचलित स्वर की ओर का शान्त भाग अपनी आकर्षण विद्युत् को खींचकर शान्त बना देगा और मनोरथ में सिद्धि प्राप्त होगी । गुरु, मित्र, अफसर, राजदरबार से जबकि वाम स्वर चलित हो तब वार्त्तालाप या कार्यारम्भ करना ठीक है ।

कई बार ऐसे अवसर आते हैं जब कार्य अत्यन्त ही आवश्यक हो सकता है; किन्तु उस समय स्वर विपरीत चलता है । तब क्या उस कार्य के किए बिना ही बैठा रहना चाहिए ? नहीं ऐसा करने की जरूरत नहीं है । जिस प्रकार जब रात को निद्रा आती है; किन्तु उस समय कुछ कार्य करना आवश्यक होता है, तब चाय आदि किसी उत्तेजक पदार्थ की सहायता से शरीर को चैतन्य करते हैं, उसी प्रकार हम कुछ उपायों द्वारा स्वर को बदल भी सकते हैं । नीचे कुछ ऐसे नियम लिखे जाते हैं ।

१- जो स्वर नहीं चल रहा उसे अँगूठे से दबायें और जिस नथुने से साँस चलती है उससे हवा खींचे, फिर जिससे श्वास खींची है उसे दबाकर पहले नथुने से यानि जिस स्वर को चलाना है, उससे श्वास छोड़ें । इस प्रकार कुछ देर तक बार-बार करें । श्वास की चाल बदल जाएगी ।

२- जिस नथुने से श्वास चल रहा हो, उसी करवट से लेट जाएँ, तो स्वर बदल जायेगा । इस प्रयोग के साथ पहला प्रयोग करने से स्वर और भी शीघ्र बदलता है ।

३- जिस तरफ का स्वर चल रहा हो, उस ओर की काँख (बगल) में कोई सख्त चीज कुछ देर दबाकर रखो, तो स्वर बदल जाता है । पहले और दूसरे प्रयोग के साथ यह प्रयोग भी करने से शीघ्रता होती है ।

४- घी खाने से वाम स्वर और शहद खाने से दक्षिण स्वर चलना कहा जाता है।

५- चलित स्वर में पुरानी स्वच्छ रुई का फाहा रखने से स्वर बदलता है।

बहुधा जिस प्रकार बीमारी की दशा में शरीर को रोग-मुक्त करने के लिए चिकित्सा की जाती है, उसी प्रकार स्वर को ठीक अवस्था में लाने के लिए उन उपायों को काम में लाना चाहिए।

स्वर-संयम से दीर्घ जीवन- प्रत्येक प्राणी का पूर्ण आयु प्राप्त करना, दीर्घ जीवी होना उसकी श्वास क्रिया पर अवलम्बित है। पूर्व कर्मों के अनुसार जीवित रहने के लिए परमात्मा एक नियत संख्या में श्वास प्रदान करता है, वह श्वास समाप्त होने पर प्राणान्त हो जाता है। इस खजाने को जो प्राणी जितनी होशियारी से खर्च करेगा, वह उतने ही अधिक काल तक जीवित रह सकेगा और जो जितना व्यर्थ गँवा देगा, उतनी ही शीघ्र उसकी मृत्यु हो जायेगी। सामान्यत: हर एक मनुष्य दिन रात में २१६०० श्वास लेता है। इससे कम श्वास लेने वाला दीर्घजीवी होता है; क्योंकि अपने धन का जितना कम व्यय होगा, उतने ही अधिक काल तक वह सञ्चित रहेगा। हमारे श्वास की पूँजी की भी यही दशा है, विश्व के समस्त प्राणियों में जो जीव जितनी कम श्वास लेता है, वह उतने ही अधिक काल तक जीवित रहता है। नीचे की तालिका से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है।

नाम प्राणी	श्वास की गति प्रति मिनट	पूर्ण आयु
खरगोश	३८ बार	८ वर्ष
बन्दर	३२ बार	१० वर्ष
कुत्ता	२९ बार	११ वर्ष
घोड़ा	१९ बार	३५ वर्ष
मनुष्य	१३ बार	१२० वर्ष
साँप	८ बार	१००० वर्ष
कछुआ	५ बार	२००० वर्ष

साधारण काम-काज में १२ बार, दौड़-धूप करने में १८ बार और मैथुन करते समय ३६ बार प्रति मिनट के हिसाब से श्वास चलती है, इसलिए विषयी और लम्पट मनुष्य की आयु घट जाती है और प्राणायाम करने वाले योगाभ्यासी दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं। यहाँ यह न सोचना चाहिए कि चुपचाप बैठे रहने से कम साँस चलती है इसलिए निष्क्रिय बैठे रहने से आयु बढ़ जायेगी, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि निष्क्रिय बैठे रहने से शरीर के अन्य अंग निर्बल, अशक्त और बीमार हो जायेंगे, तदनुसार उनकी साँस का वेग बहुत ही बढ़ जायेगा। इसलिए शारीरिक अंगों को स्वस्थ रखने के लिए परिश्रम करना आवश्यक है; किन्तु शक्ति के बाहर परिश्रम भी नहीं करना चाहिए।

साँस सदा पूरी और गहरी लेनी चाहिए तथा झुककर कभी न बैठना चाहिए। नाभि तक पूरी साँस लेने पर एक प्रकार से कुम्भक हो जाता है और श्वासों की संख्या कम हो जाती है। मेरुदण्ड के भीतर एक प्रकार का तरल जीवन तत्त्व प्रवाहित होता रहता है, जो सुषुम्ना को बलवान् बनाये रखता है, तदनुसार मस्तिष्क की पुष्टि होती रहती है। यदि मेरुदण्ड को झुका हुआ रखा जाए, तो उस तरल तत्त्व का प्रवाह रुक जाता है और निर्बल सुषुम्ना मस्तिष्क का पोषण करने से वञ्चित रह जाती है।

सोते समय चित्त होकर नहीं लेटना चाहिए, इससे सुषुम्ना स्वर चलकर विघ्न पैदा होने की सम्भावना रहती है। ऐसी दशा में अशुभ तथा भयानक स्वप्न दिखाई पड़ते हैं। इसलिए भोजनोपरान्त प्रथम बायें फिर दाहिने करवट लेटना चाहिए। भोजन के बाद कम से कम १५ मिनट आराम किये बिना यात्रा करना भी उचित नहीं है।

शीतलता से अग्नि मन्द पड़ जाती है और उष्णता से तीव्र होती है। यह प्रभाव हमारी जठराग्नि पर भी पड़ता है। सूर्य- स्वर में पाचन शक्ति की वृद्धि रहती है, अतएव इसी स्वर में भोजन करना उत्तम है। इस नियम

को सब लोग जानते हैं कि भोजन के उपरान्त बायें करवट से लेटे रहना चाहिए। उद्देश्य यही है कि बायें करवट लेटने से दक्षिण स्वर चलता है जिससे पाचन-शक्ति प्रदीप्त होती है।

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की गति-विधि पर ध्यान रखने से वायु-तत्त्व पर अपना अधिकार होता है। वायु के माध्यम से कितनी ही ऐसी बातें जानी जा सकती हैं, जिन्हें साधारण लोग नहीं जानते। मकड़ी को वर्षा से बहुत पहले पता लग जाता है कि मेघ बरसने वाला है, तदनुसार वह अपनी रक्षा का प्रबन्ध पहले से ही कर लेती है। कारण यह है कि वायु के साथ वर्षा का सूक्ष्म संयोग मिला रहता है, उसे मनुष्य समझ नहीं पाता, पर मकड़ी अपनी चेतना से यह अनुभव कर लेती है कि इतने समय बाद इतने वेग से पानी बरसने वाला है। मकड़ी में जैसी सूक्ष्म वायु परीक्षण चेतना होती है, उससे भी अधिक प्रबुद्ध चेतना स्वर-योगी को मिल जाती है। वह वर्षा, गर्मी को ही नहीं वरन् उससे भी सूक्ष्म बातें, भविष्य की सम्भावनायें, दुर्घटनायें, परिवर्तनशीलतायें, विलक्षणतायें अपनी दिव्य दृष्टि से जान लेता है।

कई स्वर-ज्ञाता ज्योतिषियों की भाँति इस विद्या द्वारा भविष्य वक्ताओं जैसा व्यवसाय करते हैं। स्वर के आधार पर ही मूक प्रश्न, तेजी-मन्दी, खोई वस्तु का पता, शुभ-अशुभ मुहूर्त आदि बातें बताते हैं। असफल होने की आशंका वाले, दुस्साहसपूर्ण कार्य करने वाले लोग भी स्वर का आश्रय लेकर अपना काम करते हैं। चोर, डाकू आदि इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखते हैं, व्यापार, राजद्वार, चिकित्सा आदि जोखिम और जिम्मेदारी के कामों में भी स्वर विद्या के नियमों का ध्यान रखा जाता है। इस सम्बन्ध में अखण्ड-ज्योति पत्रिका में समय-समय पर तद्विषयक जानकारी प्रकाशित होती रहती है। उस सुविस्तृत ज्ञान का विवेचन यहाँ नहीं हो सकता। इस समय तो हमें केवल यह विचार करना है कि स्वर साधना से विज्ञानमय कोश की सुव्यवस्था में हमें किस प्रकार सहायता मिल सकती है।

विज्ञानमय-कोश की वायु-साधना

१- शान्त वातावरण में मेरुदण्ड सीधा करके बैठ जाइये और नाभि-चक्र में शुभ ज्योति-मण्डल का ध्यान कीजिए। उस ज्योति केन्द्र में समुद्र के ज्वार-भाटे की तरह हिलोरें उठती हुई परिलक्षित होंगी।

२- यदि बायाँ स्वर चल रहा होगा, तो उस ज्योति- केन्द्र का वर्ण चन्द्रमा के समान पीला होगा और उसके बायें भाग से निकलने वाली इड़ा नाड़ी में होकर श्वास-प्रवाह का आवागमन होगा। नाभि से नीचे की ओर मूलाधार चक्र (गुदा और लिंग का मध्यवर्ती भाग) में होती हुई मेरुदण्ड में होकर मस्तिष्क के ऊपरी भाग की परिक्रमा करती हुई नासिका के बायें नथुने तक इड़ा नाड़ी जाती है। नाभि- केन्द्र के वाम भाग की क्रियाशीलता के कारण यह नाड़ी का काम करती है और बायाँ स्वर चलता है। इस तथ्य को भावना के दिव्य नेत्रों द्वारा भली-भाँति, चित्रवत् पर्यवेक्षण कीजिए।

३- यदि दाहिना स्वर चल रहा होगा तो नाभि केन्द्र का ज्योति मण्डल सूर्य के समान तनिक लालिमा लिये हुए श्वेत वर्ण का होगा और उसके दाहिने भाग में से निकलने वाली पिंगला नाड़ी में होकर श्वास-की प्रश्वास क्रिया होगी। नाभि के नीचे मूलाधार में होकर मेरुदण्ड तथा मस्तिष्क में होती हुई दाहिने नथुने तक पिंगला नाड़ी गई है और नाभि चक्र के दाहिने भाग में चैतन्यता होती है और दाहिना स्वर चलता है। इस सूक्ष्म क्रिया को ध्यान-शक्ति द्वारा ऐसे मनोयोगपूर्वक निरीक्षण करना चाहिए कि वस्तु-स्थिति ध्यान क्षेत्र में चित्र के समान स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगे।

४- जब स्वर सन्धि होती है, तो नाभि चक्र स्थिर हो जाता है, उसमें कोई हलचल नहीं होती और न उतनी देर तक वायु का आवागमन होता है। इस सन्धिकाल में तीसरी नाड़ी मेरुदण्ड में अत्यन्त द्रुत वेग से बिजली के समान कौंधती है, साधारणत: एक क्षण के सौवें भाग में यह कौंध जाती है, इसे ही सुषुम्ना कहते हैं।

५- सुषुम्ना का जो विद्युत् प्रवाह है, वही आत्मा की चञ्चल झाँकी है। आरम्भ में यह झाँकी एक हल्के झपट्टे के समान किंचित् प्रकाश की मन्द किरण जैसी होती है। साधना से यह चमक अधिक प्रकाशवान् और अधिक

देर ठहरने वाली होती है। कुछ दिनों के पश्चात् वर्षा काल में बादलों के मध्य चमकने वाली बिजली के समान उसका प्रकाश और विस्तार होने लगता है। सुषुम्ना ज्योति में किन्हीं रंगों की आभा होना, उसका सीधा, टेढ़ा, तिरछा या बर्तुलाकार होना आत्मिक स्थिति का परिचायक है। तीन गुण, पाँच तत्त्व, संस्कार एवं अन्त:करण की जैसी स्थिति होती है, उसी के अनुरूप सुषम्ना का रूप ध्यानावस्था में दृष्टिगोचर होता है।

६- इड़ा पिंगला की क्रियायें जब स्पष्ट दीखने लगें, तब उनका साक्षी रूप से अवलोकन किया कीजिए। नाभि चक्र के जिस भाग में ज्वार- भाटा आ रहा होगा, वही स्वर चल रहा होगा और केन्द्र में इसी आधार पर सूर्य या चन्द्रमा का रंग होगा। यह क्रिया जैसे- जैसे हो रही है उसको स्वाभाविक रीति से होते हुए देखते रहना चाहिए। एक साँस के भीतर पूरा प्रवेश होने पर जब वह लौटती है, तो उसे "आभ्यन्तर सन्धि" और जब साँस पूरी तरह बाहर निकलकर नई साँस भीतर जाना आरंभ करती है, तब उसे 'बाह्य सन्धि' कहते हैं। इन कुम्भक कालों में सुषुम्ना की द्रुत गतिगामिनी विद्युत् आभा का अत्यन्त चपल प्रकाश विशेष सजगतापूर्वक दिव्य नेत्रों से देखना चाहिए।

७- जब इड़ा बदलकर पिंगला में या पिंगला बदलकर इड़ा में जाती है अर्थात् एक स्वर जब दूसरे में परिवर्तित होता है, तो सुषुम्ना की सन्धि वेला आती है। अपने आप स्वर बदलने के अवसर पर स्वाभाविक सुषुम्ना का प्राप्त होना प्राय: कठिन होता है। इसलिए स्वर विद्या के साधक पिछले पृष्ठों में बताए गये स्वर बदलने के उपायों से वह परिवर्तन करते हैं और तब सुषुम्ना की सन्धि आने पर आत्म-ज्योति का दर्शन करते हैं। यह ज्योति आरम्भ में चञ्चल और विविध आकृतियों की होती है और अन्त में स्थिर एवं मण्डलाकार हो जाती है। यह स्थिरता ही विज्ञानमय कोश की सफलता है। उसी स्थिति में आत्म-साक्षात्कार होता है।

सुषुम्ना में अवस्थित होना वायु पर अपना अधिकार कर लेना है। इस सफलता के द्वारा लोक-लोकान्तरों तक अपनी पहुँच हो जाती है और विश्व ब्रह्माण्ड पर अपना प्रभुत्व अनुभव होता है। प्राचीन समय में स्वर-शक्ति द्वारा अणिमा, महिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती थीं। आज के युग-प्रवाह में वैसा तो नहीं होता, पर ऐसे अनुभव हैं जिनसे मनुष्य शरीर रहते हुए भी मानसिक आवरण में देव-तत्त्वों की प्रचुरता हो जाती है। विज्ञानमय कोश के विजयी को भूसुर, भूदेव या नर-तनुधारी दिव्य आत्मा कहते हैं।

ग्रन्थि - भेद

विज्ञानमय कोश की चतुर्थ भूमिका में पहुँचने पर जीव को प्रतीत होता है कि तीन सूक्ष्म बन्धन ही मुझे बाँधे हुए हैं। पंच- तत्त्वों से शरीर बना है, उस शरीर में पाँच कोश हैं। गायत्री के यह पाँच कोश ही पाँच मुख हैं, इन पाँच बन्धनों को खोलने के लिए कोशों की अलग-अलग साधनायें बताई गई हैं, विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत तीन बन्धन हैं, जो पञ्च भौतिक शरीर न रहने पर भी देव, गन्धर्व, यक्ष, भूत, पिशाच आदि योनियों में भी वैसे ही बन्धन बाँधे रहते हैं जैसा कि शरीरधारी का होता है।

यह तीन बन्धन-ग्रन्थियाँ, रुद्र ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि, ब्रह्म-ग्रन्थि के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हें तीन गुण भी कह सकते हैं। रुद्र ग्रन्थि अर्थात् तम, विष्णु ग्रन्थि अर्थात् सत्, ब्रह्म ग्रन्थि अर्थात् रज। इन तीनों गुणों से अतीत हो जाने पर, ऊँचा उठ जाने पर ही आत्मा शान्ति और आनन्द का अधिकारी होता है।

इन तीन ग्रन्थियों को खोलने के महत्त्वपूर्ण कार्य को ध्यान में रखने के लिए कन्धे पर तीन तार का यज्ञोपवीत धारण किया जाता है, इसका तात्पर्य यह है कि तम, रज, सत् के तीन गुणों द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर बने हुए हैं। यज्ञोपवीत के अन्तिम भाग में तीन ग्रन्थियाँ लगाई जाती हैं इसका तात्पर्य यह है कि रुद्र ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि तथा ब्रह्म ग्रन्थि से जीव बँधा पड़ा है। इन तीनों को खोलने की जिम्मेदारी का नाम ही पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण, देव-ऋण है। तम को प्रकृति, रज को जीव, सत् को आत्मा कहते हैं।

व्यावहारिक जगत् में तम को सांसारिक जीवन, रज को व्यक्तिगत जीवन, सत् को आध्यात्मिक जीवन कह सकते हैं। जैसे हमारे पूर्ववर्ती लोगों ने, पूर्वजों ने- अनेक प्रकार के उपकारों, सहयोगों द्वारा निर्बल दशा से ऊँचा उठाकर हमें बल, विद्या, बुद्धि सम्पन्न किया है, वैसे ही हमारा भी कर्तव्य है कि संसार में अपनी अपेक्षा किसी भी

दृष्टि से जो लोग पिछड़े हुए हैं उन्हें सहयोग देकर ऊँचा उठाएँ। सामाजिक जीवन को मधुर बनाएँ। देश, जाति और समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करें, यही पितृ- ऋण से, पूर्ववर्ती लोगों के उपकारों से उऋण होने का मार्ग है। व्यक्तिगत जीवन को शारीरिक, बौद्धिक और आर्थिक शक्तियों से सुसम्पन्न बनाना अपने को मनुष्य जाति का सदस्य बनाना ऋषि ऋण से छूटना है। स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन आदि आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि अपवित्रताओं को हटाकर आत्मा को परम निर्मल-देवतुल्य बनाना, यह देव- ऋण से उऋण होना है।

दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर तम का अर्थ होता है - शक्ति, रज का अर्थ होता है - साधन, सत् का अर्थ होता है - ज्ञान। इन तीनों की न्यूनता एवं विकृत अवस्था- बन्धन कारक, अनेक उलझनों, कठिनाइयों और बुराइयों को उत्पन्न करने वाली होती है। इसलिए जब तीनों की स्थिति सन्तोषजनक होती है, तब त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है। हमको भली प्रकार यह समझ लेना चाहिए कि परमात्मा की सृष्टि में कोई भी शक्ति या पदार्थ दूषित अथवा भ्रष्ट नहीं है। यदि उसका सदुपयोग किया जाय, तो वह कल्याणकारी सिद्ध होगा।

आत्मिक क्षेत्र में सूक्ष्म अन्वेषण करने वाले ऋषियों ने यह पाया है कि तीन गुण, तीन शरीरों, तीन क्षेत्रों का व्यवस्थित या अव्यवस्थित होना अदृश्य केन्द्रों पर निर्भर रहता है, सभी दिशाओं को उत्तम बनाने से ये केन्द्र उन्नत अवस्था में पहुँच सकते हैं। दूसरा उपाय यह भी है कि अदृश्य केन्द्रों को आत्मिक साधना विधि से उन्नत अवस्था में ले जाएँ, तो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर को ऐसी स्थिति पर पहुँचाया जा सकता है कि जहाँ उनके लिए कोई बन्धन या उलझन शेष न रहे।

साधक जब विज्ञानमय कोश की स्थिति में होता है, तो उसे ऐसा अनुभव होता है मानो उसके भीतर तीन कठोर, गठीली, चमकदार हलचल करती हुई हलकी गाँठें हैं। इनमें से एक गाँठ मूत्राशय के समीप, दूसरी आमाशय के ऊर्ध्व भाग में और तीसरी मस्तिष्क के मध्य केन्द्र में विदित होती है। इन गाँठों में से मूत्राशय वाली ग्रन्थि को रुद्र ग्रन्थि, आमाशय वाली को विष्णु ग्रन्थि और शिर वाली को ब्रह्म ग्रन्थि कहते हैं। इन्हीं तीनों को दूसरे शब्दों में महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती भी कहते हैं।

इन तीन महाग्रन्थियों की दो सहायक ग्रन्थियाँ भी होती हैं, जो मेरुदण्ड स्थित सुषुम्ना नाड़ी के मध्य में रहने वाली ब्रह्मनाड़ी के भीतर रहती हैं। इन्हें ही चक्र भी कहते हैं। रुद्रग्रन्थि की शाखा ग्रन्थियाँ मूलाधार चक्र और स्वाधिष्ठान कहलाती हैं। विष्णु ग्रन्थि की दो शाखायें मणिपूरक चक्र और अनाहत चक्र हैं। मस्तिष्क में निवास करने वाली ब्रह्म ग्रन्थि के सहायक ग्रन्थि चक्रों को विशुद्धि चक्र और आज्ञा चक्र कहा जाता है। हठयोग की विधि से षट्- चक्रों का वेधन किया जाता है। इन षट्- चक्र वेधन की विधि के सम्बन्ध में गायत्री महाविज्ञान के प्रथम भाग में हम काफी प्रकाश डाल चुके हैं। उसकी पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं। जिन्हें हठयोग की अपेक्षा गायत्री की पंचमुखी साधना के अन्तर्गत विज्ञानमय कोश में ग्रन्थिभेद करना है, उन्हीं के लिए आवश्यक जानकारी देने का यहाँ प्रयत्न किया जायेगा।

रुद्र-ग्रन्थि का आकार बेर के समान ऊपर को नुकीला, नीचे को भारी, पैंदे में गड्ढा लिए होता है, इसका वर्ण कालापन मिला हुआ लाल होता है। इस ग्रन्थि के दो भाग हैं। दक्षिण भाग को रुद्र और वाम भाग को काली कहते हैं। दक्षिण भाग के अन्तरंग गह्वर में प्रवेश करके जब उसकी झाँकी की जाती है, तो ऊर्ध्व भाग में श्वेत रंग की छोटी-सी नाड़ी हल्का-सा श्वेत रस प्रवाहित करती है, एक तन्तु तिरछा पीत वर्ण की ज्योति-सा चमकता है। मध्य भाग में एक काले वर्ण की नाड़ी साँप की तरह मूलाधार से लिपटी हुई है। प्राण वायु का जब उस भाग से सम्पर्क होता है, तो डिम- डिम जैसी ध्वनि उसमें से निकलती है। रुद्रग्रन्थि की आन्तरिक स्थिति की झाँकी करके ऋषियों के रुद्र का सुन्दर चित्र अंकित किया है। मस्तक पर गंगा की धारा, जटा में चन्द्रमा, गले में सर्प, डमरू की डिम-डिम ध्वनि, ऊर्ध्व भाग में त्रिशूल के रूप में अंकित करके भगवान् शंकर का ध्यान करने लायक एक सुंदर

चित्र बना दिया। उस चित्र में आलंकारिक रूप से रुद्रग्रन्थि की वास्तविकतायें ही भरी गई हैं। उस ग्रन्थि का वाम भाग जिस स्थिति में है, उसी के अनुरूप काली का सुंदर चित्र सूक्ष्मदर्शी आध्यात्मिक चित्रकारों ने अंकित कर दिया है।

विष्णु ग्रन्थि किस वर्ण की, किस गुण की, किस आकार की, किस आन्तरिक स्थिति की, किस ध्वनि की, किस आकृति की है ? यह सब हमें विष्णु के चित्र से सहज ही प्रतीत हो जाता है। नील वर्ण, गोल आकार, शंख ध्वनि, कौस्तुभ मणि, वनमाला यह चित्र उस मध्य-ग्रन्थि का सहज प्रतिबिम्ब है।

जैसे मनुष्य को मुख की ओर से देखा जाए, तो उसकी झाँकी दूसरे प्रकार की होती है और पीठ की ओर से देखा जाए, तब यह आकृति दूसरे ही प्रकार की होती है। एक ही मनुष्य के दो पहलू दो प्रकार के होते हैं। उसी प्रकार एक ही ग्रन्थि दक्षिण भाग से देखने में पुरुषत्व प्रधान आकार की और बाँई ओर से देखने पर स्त्रीत्व प्रधान आकार की होती है। एक ही ग्रन्थि को रुद्र या शक्ति ग्रन्थि कहा जा सकता है। विष्णु, लक्ष्मी, ब्रह्मा और सरस्वती का संयोग भी इसी प्रकार है।

ब्रह्म ग्रन्थि मध्य मस्तिष्क में है। इससे ऊपर सहस्रार शतदल कमल है, यह ग्रन्थि ऊपर से चतुष्कोण और नीचे से फैली हुई है, इसका नीचे का एक तन्तु ब्रह्म-रन्ध्र से जुड़ा हुआ है। इसी को सहस्रमुख वाले शेष नाग की शय्या पर लेटे हुए भगवान् की नाभि कमल से उत्पन्न चार मुख वाला ब्रह्मा चित्रित किया गया है। वाम भाग में यही ग्रन्थि चतुर्भुजी सरस्वती है। वीणा की झंकार से ओंकार ध्वनि का यहाँ निरन्तर गुञ्जार होता है।

यह तीनों ग्रन्थियाँ जब तक सुप्त अवस्था में रहती हैं, बँधी हुई रहती हैं, तब तक जीव साधारण दीन-हीन दशा में पड़ा रहता है, अशक्ति, अभाव और अज्ञान उसे नाना प्रकार से दुःख देते रहते हैं। पर जब इनका खुलना आरम्भ होता है, तो उनका वैभव बिखर पड़ता है। मुँह बन्द कली में न रूप है, न सौन्दर्य और न ही आकर्षण। पर जब वह कली खिल पड़ती है और पुष्प के रूप में प्रकट होती है, तो एक सुन्दर दृश्य उपस्थित हो जाता है। जब तक खजाने का ताला लगा हुआ है, थैली का मुँह बन्द है, तब तक दरिद्रता दूर नहीं हो सकती, पर जैसे ही रत्न राशि का भण्डार खुल जाता है, वैसे ही अतुलित वैभव का स्वामित्व प्राप्त हो जाता है।

रात को कमल का फूल बन्द हो जाता है, तो भौंरा भी उसमें बन्द हो जाता है, पर प्रातःकाल वह फूल फिर खिलता है तो भौरा बंधन-मुक्त हो जाता है। यह तीन कलियाँ, तीन-तीन ग्रन्थियाँ, जीव को बाँधे हुए हैं। जब यह खुल जाती हैं, तो मुक्ति का अधिकार स्वयमेव ही प्राप्त हो जाता है। इन रत्न-राशियों का ताला खुलते ही शक्ति सम्पन्नता और प्रज्ञा का अटूट भण्डार हस्तगत हो जाता है।

चिड़िया अपनी छाती की गर्मी से अण्डों को पकाती हैं, चूल्हे की गर्मी से भोजन पकता है, सूर्य की गर्मी से वृक्षों वनस्पतियों और फलों का परिपाक होता है। माता नौ महीने तक बालक को पेट में पकाकर उसको इस स्थिति में लाती है कि वह जीवन धारण कर सके। विज्ञानमय कोश की यह तीन- ग्रन्थियाँ भी तप की गर्मी से पकती हैं। तप द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सरस्वती, लक्ष्मी, काली सभी का परिपाक हो जाता है। यह शक्तियाँ समदर्शी हैं, न उन्हें किसी से प्रेम है न द्वेष। रावण जैसे असुरों ने भी शंकरजी से वरदान पाये थे और अनेक सुर भी कोई सफलता नहीं प्राप्त कर पाये। इसमें साधक का पुरुषार्थ ही प्रधान है। श्रम और प्रयत्न ही परिपक्व होकर सफलता बन जाते हैं।

रुद्र, विष्णु और ब्रह्म ग्रन्थियों को खोलने के लिए ग्रन्थि के मूल भाग में निवास करने वाली बीज शक्तियों का संचार करना पड़ता है। रुद्र ग्रन्थि के अधोभाग में बेर के डण्ठल की तरह एक सूक्ष्म प्राण अभिप्रेत होता है उसे 'क्लीं' बीज कहते हैं। विष्णु ग्रन्थि के मूल में 'श्रीं' का निवास है और ब्रह्म ग्रन्थि के नीचे 'ह्रीं' तत्त्व का अवस्थान है। मूलबन्ध बाँधते हुए एक ओर से अपान और दूसरी ओर से कूर्मप्राण को चिमटे की तरह बनाकर रुद्र ग्रन्थि को पकड़कर रेचक प्राणायाम द्वारा दबाते हैं। इस दबाव की गर्मी से क्लीं बीज जाग्रत् हो जाता है। वह नोकदार डण्ठल आकृति का बीज अपनी ध्वनि और रक्त वर्ण प्रकाश- ज्योति के साथ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगता है।

इस जाग्रत् क्लीं बीज की अग्रिम नोंक से कुंचुकि- क्रिया की जाती है। जैसे किसी वस्तु में छेद करने के लिए नोंकदार कील कोंची जाती है, इस प्रकार की वेधन-साधना को कुंचुकी क्रिया कहते हैं। रुद्र ग्रन्थि के मूल केन्द्र में क्लीं बीज की अग्र शिखा से जब निरंतर कुंचुकी होती है, तो प्रस्तुत कलिका में भीतर ही भीतर एक विशेष प्रकार के लहलहाते हुए तड़ित प्रवाह उठाने पड़ते हैं, इनकी आकृति एवं गति सर्प जैसी होती है। इन तड़ित प्रवाहों को ही शंभु के गले में फुफकारने वाले सर्प बताया है, जिस प्रकार ज्वालामुखी पर्वत के उच्च शिखर पर धूम्र मिश्रित अग्नि निकलती है उसी प्रकार रुद्र ग्रन्थि के ऊपरी भाग में पहले क्लीं बीज की अग्नि जिह्वा प्रकट होती है। इसी को काली की बाहर निकली हुई जीभ माना गया है। इसको शंभु का तीसरा नेत्र भी कहते हैं।

मूल- बन्ध, अपान और कूर्म प्राण के आघात से जाग्रत् हुई क्लीं बीज की कुंचुकी- क्रिया से धीरे-धीरे रुद्र ग्रन्थि शिथिल होकर वैसे ही खुलने लगती है, जैसे क्लीं धीरे-धीरे खिलकर फूल बन जाती है। इस कमल पुष्प के खिलने को पद्मासन कहा गया है। त्रिदेव के कमलासन पर विराजमान होने के चित्रों का तात्पर्य यही है कि वे विकसित रूप से परिलक्षित हो रहे हैं।

साधक के प्रयत्न के अनुरूप खुली हुई रुद्र ग्रन्थि का तीसरा भाग जब प्रकटित होता है, तब साक्षात् रुद्र का, काली का अथवा रक्त वर्ण सर्प के समान लहलहाती हुई, क्लीं- घोष करती हुई अग्नि शिखा का साक्षात्कार होता है। यह रुद्र जागरण साधक में अनेक प्रकार की गुप्त प्रकट शक्तियाँ भर देता है। संसार की सब शक्तियों का मूल केन्द्र रुद्र ही है। उसे रुद्र लोक या कैलाश भी कहते हैं। प्रलय काल में संसार संचालिनी शक्ति व्यय होते-होते पूर्ण शिथिल होकर जब सुषुप्त अवस्था में चली जाती है, तब रुद्र का ताण्डव नृत्य होता है। उस महामंथन से इतनी शक्ति फिर उत्पन्न हो जाती है, जिससे आगामी प्रलय तक काम चलता रहे। घड़ी में चाबी भरने के समान रुद्र का प्रलय ताण्डव होता है। रुद्र शक्ति की शिथिलता से जीवों की तथा पदार्थों की मृत्यु हो जाती है। इसलिए रुद्र को मृत्यु का देवता माना गया है।

विष्णु ग्रन्थि को जाग्रत् करने के लिए जालन्धर बन्ध बाँधकर 'समान' और 'उदान' प्राणों द्वारा दबाया जाता है, तो उसके मूल भाग का 'श्रीं' बीज जाग्रत् होता है। यह गोल गैंद की तरह है और इसकी अपनी धुरी पर द्रुत गति से घूमने की क्रिया होती है। इस घूर्णन क्रिया के साथ-साथ एक ऐसी सनसनाती हुई सूक्ष्म ध्वनि होती है जिसको दिव्य श्रोत्रों से 'श्रीं' जैसे सुना जाता है।

श्रीं बीज को विष्णु ग्रन्थि की बाह्य परिधि में भ्रामरी क्रिया के अनुसार घुमाया जाता है। जैसे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है, उसी प्रकार परिभ्रमण करने को भ्रामरी कहते हैं। विवाह में वर-वधू की भाँवर या फेरे पड़ना, देव-मन्दिरों तथा यज्ञ की परिक्रमा या प्रदक्षिणा होना, भ्रामरी क्रिया का ही रूप है। विष्णु की उँगली पर घूमता हुआ चक्र सुदर्शन चित्रित करके योगियों ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अनुभव किये गये इसी रहस्य को प्रकट किया है, 'श्रीं' बीज विष्णु ग्रन्थि की भ्रामरी गति से परिक्रमा करने लगता है तब उस महा-तत्त्व का जागरण होता है।

पूरक प्राणायाम की प्रेरणा देकर समान और उदान द्वारा जाग्रत् किये गये श्रीं बीज से जब विष्णु ग्रन्थि के बाह्य आवरण की मध्य परिधि में भ्रामरी क्रिया की जाती है, तो उसके गुञ्जन से उसका भीतरी भाग चैतन्य होने लगता है। इस चेतना की विद्युत् तरंगें इस प्रकार उठती हैं, जैसे पक्षी के पंख दोनों बाजुओं में हिलते हैं। उसी गति के आधार पर विष्णु का वाहन गरुड़ निर्धारित किया गया है।

इस साधना से विष्णु ग्रन्थि खुलती है और साधक की मानसिक स्थिति के अनुरूप विष्णु, लक्ष्मी या पीत वर्ण की अग्नि-शिखा की लपटों के समान ज्योति पुञ्ज का साक्षात्कार होता है। विष्णु का पीताम्बर इस पीत ज्योति पुंज का प्रतीक है। इस ग्रन्थि का खुलना ही बैकुण्ठ, स्वर्ग एवं विष्णु लोक को प्राप्त करना है। बैकुण्ठ या स्वर्ग को अनन्त ऐश्वर्य का केन्द्र माना जाता है। वहाँ सर्वोत्कृष्ट सुख साधन जो सम्भव हो सकते हैं, वे प्रस्तुत हैं। विष्णु ग्रन्थि वैभव का केन्द्र है, जो उसे खोल लेता है, उसे विश्व के ऐश्वर्य पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्म-ग्रन्थि मस्तिष्क के मध्य भाग में सहस्रदल कमल की छाया में अवस्थित है। उसे अमृत कलश कहते

हैं। बताया गया है कि सुरलोक में अमृत कलश की रक्षा सहस्र फनों वाले शेषनाग करते हैं। इसका अभिप्राय इसी ब्रह्म- ग्रन्थि से है।

उड्डियान बन्ध लगाकर ध्यान और धनञ्जय प्राणों द्वारा ब्रह्म-ग्रन्थि को पकाया जाता है। पकाने से उसके मूलाधार में वास करने वाली ह्रीं शक्ति जाग्रत् होती है। इसकी गति को प्लाविनी कहते हैं जैसे जल में लहरें उत्पन्न होती हैं और निरन्तर आगे को ही लहराती हुई चलती हैं, उसी प्रकार ह्रीं बीज की प्लाविनी गति से ब्रह्म-ग्रन्थि को दक्षिणायन से उत्तरायण की ओर प्रेरित करते हैं। चतुष्कोण ग्रन्थि के ऊर्ध्व भाग में यही ह्रीं तत्त्व रुक-रुककर गाँठें-सी बनाता हुआ आगे की ओर चलता है और अन्त में परिक्रमा करके अपने मूल संस्थान को लौट आता है।

गाँठ बाँधते चलने की नीची- ऊँची गति के आधार पर माला के दाने बनाये गये हैं। १०८ दचके लगाकर तब एक परिधि पूरी होती है, इसलिए माला के १०८ दाने होते हैं। इस ह्रीं तत्त्व की तरंगें मन्थर गति से इस प्रकार चलती हैं जैसे हंस चलता है। ब्रह्मा या सरस्वती का वाहन हंस इसीलिए माना गया है। वीणा के तारों की झंकार से मिलती-जुलती 'ह्रीं' ध्वनि सरस्वती की वीणा का परिचय देती है।

कुम्भक-प्राणायाम की प्रेरणा से ह्रीं बीज की प्लाविनी क्रिया आरम्भ होती है। यह क्रिया निरन्तर होते रहने पर ब्रह्म-ग्रन्थि खुल जाती है। तब उसका ब्रह्म के रूप में, सरस्वती के रूप में अथवा श्वेत वर्ण प्रकम्पित शुभ्र ज्योति शिखा के समान साक्षात्कार होता है। यह स्थिति आत्म-ज्ञान, ब्रह्म प्राप्ति, ब्राह्मी स्थिति की है। ब्रह्मलोक एवं गोलोक भी इसको कहते हैं। इस स्थिति को उपलब्ध करने वाला साधक ज्ञान बल से परिपूर्ण हो जाता है। इसकी आत्मिक शक्तियाँ जाग्रत् होकर परमेश्वर के समीप पहुँचा देती हैं, अपने पिता का उत्तराधिकार उसे मिलता है और जीवनमुक्त होकर ब्राह्मी- स्थिति का आनन्द ब्रह्मानन्द उपलब्ध करता है।

षट्- चक्र का हठयोग-सम्मत विधान अथवा महायोग का यह ग्रन्थि भेद, दोनों ही समान स्थिति के हैं। साधक अपनी स्थिति के अनुसार उन्हें अपनाते हैं, दोनों से ही विज्ञानमय कोश का परिष्कार होता है।

आनन्दमय कोश

गायत्री का पाँचवाँ मुख आनन्दमय कोश है। जिस आवरण में पहुँचने पर आत्मा को आनन्द मिलता है, जहाँ उसे शान्ति, सुविधा, स्थिरता, निश्चिन्तता एवं अनुकूलता की स्थिति प्राप्त होती है, वही आनन्दमय कोश है। गीता के दूसरे अध्याय में 'स्थित प्रज्ञ' की जों परिभाषा की गई है और 'समाधिस्थ' के जो लक्षण बताये गये हैं, वे ही गुण, कर्म, स्वभाव आनन्दमयी स्थिति में हो जाते हैं। आत्मिक परमार्थों की साधना में मनोयोग पूर्वक संलग्न होने के कारण सांसारिक आवश्यकतायें बहुत सीमित रह जाती हैं। उनकी पूर्ति में इसलिए बाधा नहीं आती, कि साधक अपनी शारीरिक और मानसिक स्वस्थता के द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुओं को उचित मात्रा में आसानी से कमा सकता है।

प्रकृति के परिवर्तन, विश्वव्यापी उतार-चढ़ाव, कर्मों की गहन गति, प्रारब्ध भोग, वस्तुओं की नश्वरता, वैभव की चञ्चल चपलता आदि कारणों से जो उलझन भरी परिस्थितियाँ सामने आकर परेशान किया करती हैं, उन्हें देखकर वह हँस देता है। सोचता है प्रभु ने इस संसार में कैसी धूप-छाँह का, आँख- मिचौनी का खेल खड़ा कर दिया है। अभी खुशी तो अभी रञ्ज, अभी वैभव तो अभी निर्धनता, अभी जवानी तो अभी बुढ़ापा, अभी जन्म तो अभी मृत्यु, अभी नमकीन तों अभी मिठाई, यह दुरंगी दुनिया कैसी विलक्षण है। दिन निकलते देर नहीं हुई कि रात की तैयारी होने लगी। रात को आये जरा- 'सी देर हुई कि नवप्रभात का आयोजन होने लगा। वह तो यहाँ का आदि खेल है, बादल की छाया की तरह पल-पल में धूप-छाँह आती है। मैं इन तितलियों के पीछे कहाँ दौडूँ। मैं इन क्षण-क्षण पर उठने वाली लहरों को कहाँ तक गिनूँ, पल में रोने पल में हँसने की बाल क्रीड़ा मैं क्यों करूँ ?

आनन्दमय कोश में पहुँचा हुआ जीव अपने पिछले चार शरीरों अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश को भली प्रकार समझ लेता है, उनकी अपूर्णता और संसार की परिवर्तनशीलता दोनों के मिलने से ही एक विषैली गैस बन जाती है, जो जीवों को पाप-तापों के काले धुएँ से कलुषित कर देती है। यदि इन दोनों पक्षों के

गुण दोषों को समझकर उन्हें अलग-अलग रखा जाए, बारूद और अग्नि को इकट्ठा न होने दिया जाए, तो विस्फोट की कोई सम्भावना नहीं है। यह समझकर वह अपने दृष्टिकोण में दार्शनिकता, तात्त्विकता, वास्तविकता, सूक्ष्मदर्शिता को प्रधानता देता है। तदनुसार उसे सांसारिक समस्यायें बहुत हल्की और महत्त्वहीन मालूम पड़ती हैं। जिन बातों को लेकर साधारण मनुष्य बेतरह दुःखी रहते हैं, उन स्थितियों को वह हलके विनोद की तरह समझकर उपेक्षा में उड़ा देता है और आत्मिक भूमिका में अपना दृढ़ स्थान बनाकर सन्तोष और शान्ति का अनुभव करता है।

गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने बताया है कि स्थितप्रज्ञ मनुष्य अपने भीतर की आत्म-स्थिति में रमण करता है। सुख-दुख में समान रहता है, न प्रिय से राग करता है, न अप्रिय से द्वेष करता है। इन्द्रियों को इन्द्रियों तक ही सीमित रहने देता है, उसका प्रभाव आत्मा पर नहीं होने देता, कछुआ जैसे अपने अंगों को समेटकर अपने भीतर कर लेता है, वैसे ही वह अपनी कामनाओं और लालसाओं को संसार में न फैलाकर अपनी अन्तः भूमिका में ही समेट लेता है, जिसकी मानसिक स्थिति ऐसी होती है उसे योगी, ब्रह्मभूत, जीवन-मुक्त या समाधिस्थ कहते हैं।

आनन्दमय कोश की स्थिति पञ्चम भूमिका है। इसे समाधि अवस्था भी कहते हैं। समाधि अनेक प्रकार की है। काष्ठ-समाधि, भाव-समाधि, ध्यान-समाधि, प्राण-समाधि, सहज-समाधि आदि २७ समाधियाँ बताई गई हैं। मूर्छा, नशा एवं क्लोरोफार्म आदि सूँघने से आई हुई समाधि को काष्ठ समाधि कहते हैं। किसी भावना का इतना अतिरेक हो कि मनुष्य की शारीरिक चेष्टायें संज्ञाशून्य हो जाए, उसे भाव समाधि कहते हैं। ध्यान में इतनी तन्मयता आ जाए कि उसे अदृश्य एवं निराकार सत्ता साकार दिखाई पड़ने लगे, उसे ध्यान-समाधि कहते हैं, इष्टदेव के दर्शन जिन्हें होते हैं उन्हें ध्यान-समाधि की अवस्था में ऐसी चेतना आ जाती है कि यह अन्तर उन्हें नहीं विदित होने पाता कि हम दिव्य नेत्रों से ध्यान कर रहे हैं या आँखों से स्पष्ट रूप से अमुक प्रतिमा को देख रहे हैं। प्राण-समाधि ब्रह्मरन्ध्र में प्राणों को एकत्रित करके की जाती है। हठयोगी इसी समाधि द्वारा शरीर को बहुत समय तक मृत बनाकर भी जीवित रहते हैं। अपने आपको ब्रह्म में लीन होने का जिस अवस्था में बोध होता है उसे ब्रह्म समाधि कहते हैं।

इस प्रकार की २७ समाधियों में से वर्तमान देशकाल, पात्र की स्थिति में सहज समाधि सुलभ और सुख साध्य है। महात्मा कबीर ने सहज समाधि पर बड़ा बल दिया है। अपने अनुभव से उन्हें सहज समाधि को सर्व सुलभ देखकर अपने अनुयायियों को इसी साधना के लिए प्रेरित किया है।

महात्मा कबीर का वचन है -

साधो ! सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप भयो जा दिन ते सुरति न अनत चली॥
आँख न मूँदूँ कान न रूँदूँ काया कष्ट न धारूँ।
खुले नयन से हँस-हँस देखूँ सुन्दर रूप निहारूँ॥
कहूँ सोई नाम, सुनूँ सोई सुमिरन, खाऊँ सोई पूजा।
गृह उद्यान एक सम लेखूँ भाव मिटाऊँ दूजा॥
जहाँ-जहाँ जाऊँ सोई परिक्रमा जो कुछ करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत पूजूँ और न देवा॥
शब्द निरन्तर मनुआ राता, मलिन वासना त्यागी।
बैठत उठत कबहूँ ना विसरें, ऐसी ताड़ी लागी॥
कहै 'कबीर' वह उन्मनि रहती सोई प्रकट कर गाई।
दुख सुख के एक परे परम सुख, तेहि सुख रहा समाई॥

उपर्युक्त पद में सद्‌गुरु कबीर ने सहज समाधि की स्थिति का स्पष्टीकरण किया है । यह समाधि सहज है - सर्व सुलभ है - सर्व साधारण की साधना शक्ति के भीतर है, इसलिए उसे सहज समाधि का नाम दिया गया है । हठ - साधनायें कठिन हैं । उनका अभ्यास करते हुए समाधि की स्थिति तक पहुँचना असाधारण कष्ट-साध्य है । चिरकालीन तपश्चर्या, षट्कर्मों के श्रमसाध्य साधन सब किसी के लिए सुलभ नहीं है । अनुभवी गुरु के सम्मुख रहकर विशेष सावधानी के साथ वे क्रियायें साधनी पड़ती हैं, फिर यदि उनकी साधना खण्डित हो जाती हैं तो संकट भी सामने आ सकते हैं, जो योग-भ्रष्ट लोगों के समान कभी भयंकर रूप से आ खड़े होते हैं । कबीर जी सहज योग को प्रधानता देते हैं, सहज योग का तात्पर्य है - सिद्धान्तमय जीवन, कर्त्तव्यपूर्ण कार्यक्रम । क्योंकि इन्द्रिय भोगों, पाशविक वृत्तियों एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह की तुच्छ इच्छाओं से प्रेरित होकर आमतौर से लोग अपना कार्यक्रम निर्धारित करते हैं और इसी कारण भाँति-भाँति के कष्टों का अनुभव करते हैं ।

सहज समाधि असंख्य प्रकार की योग साधनाओं में से एक है । इसकी विशेषता यह है कि साधारण रीति के सांसारिक कार्य करते हुए भी साधना-क्रम चलता है । इसी बात को ही यों कहना चाहिए कि ऐसा व्यक्ति, जीवन के सामान्य सांसारिक कार्य, कर्त्तव्य, यज्ञ, धर्म, ईश्वरीय आज्ञा पालन की दृष्टि से करता है । भोजन करने में उसकी भावना रहती है कि प्रभु की एक पवित्र धरोहर शरीर को यथावत् रखने के लिए भोजन किया जा रहा है । खाद्य पदार्थों का चुनाव करते समय शरीर की स्वस्थता उसका ध्येय रहती है । स्वादों के चटोरेपन के बारे में वह सोचता तक नहीं, कुटुम्ब का पालन-पोषण करते समय वह परमात्मा की एक सुरम्य वाटिका के माली की भाँति सिंचन, सम्वर्धन का ध्यान रखता है, कुटुम्बियों को अपनी सम्पत्ति नहीं मानता । जीविकोपार्जन को ईश्वरप्रदत्त आवश्यकताओं की पूर्ति का एक पुनीत साधनमात्र समझता है । अमीर बनने के लिए जैसे भी बने वैसे धन- संग्रह करने की तृष्णा उसे नहीं होती है । बातचीत करना, चलना-फिरना, खाना-पीना, सोना-जागना, जीविकोपार्जन, प्रेम, द्वेष आदि सभी कार्यों को करने से पूर्व परमार्थ को, कर्तव्य को, प्रधानता देते हुए करने से वे समस्त साधारण काम-काज भी यज्ञ-रूप हो जाते हैं ।

जब हर काम के मूल में कर्त्तव्य भावना की प्रधानता रहेगी, तो उन कार्यों में पुण्य प्रमुख रहेगा । सद्बुद्धि से, सद्भाव से किये हुए कार्यों द्वारा अपने आपको और दूसरों को सुख-शान्ति ही प्राप्त होती है । ऐसे सत्कार्य मुक्तिप्रद होते हैं, बन्धन नहीं करते, सात्त्विकता, सद्भावना और लोक-सेवा की पवित्र आकांक्षा के साथ जीवन संचालन करने पर कुछ दिन में वह नीति एवं कार्य-प्रणाली पूर्णतया अभ्यस्त हो जाती है और जो चीज अभ्यास में आती है वह प्रिय लगने लगती है, उसमें रस आने लगता है । बुरे स्वाद की, खर्चीली, प्रत्यक्ष हानिकारक, दुष्पाच्य, नशीली चीजें, मदिरा, अफीम, तम्बाकू आदि जब कुछ दिन के बाद प्रिय लगने लगते हैं और उन्हें बहुत कष्ट उठाते हुए भी छोड़ते नहीं बनता; जब तामसी तत्त्व कालान्तर के अभ्यास से इतने प्राण-प्रिय हो जाते हैं, तो कोई कारण नहीं कि सात्त्विक तत्त्व उससे अधिक प्रिय न हो सकें ।

सात्त्विक सिद्धान्त को जीवन-आधार बना लेने से उन्हीं के अनुरूप विचार और कार्य करने से आत्मा को सत्-तत्त्व में रमण करने का अभ्यास पड़ जाता है । यह अभ्यास जैसे-जैसे परिपक्व होता है, वैसे-वैसे सहज योग का रसास्वादन होने लगता है, उसमें आनन्द आने लगता है । जब अधिक दृढ़ता, श्रद्धा, विश्वास, उत्साह एवं साहस के साथ सत्परायणता में , सिद्धान्त संचालित जीवन में संलग्न रहता है, तो वह उसकी स्थायी वृत्ति बन जाती है, उसे उसी में तन्मयता रहती है, एक दिव्य आवेश- सा छाया रहता है, उसकी मस्ती, प्रसन्नता, सन्तुष्टता असाधारण होती है । इस स्थिति को सहज-योग की समाधि या "सहज समाधि" कहा जाता है ।

कबीर ने उसी समाधि का उपर्युक्त पद में उल्लेख किया है । वे कहते हैं - हे साधुओ ! सहज समाधि श्रेष्ठ है जिस दिन से गुरु की कृपा हुई और वह स्थिति प्राप्त हुई है, उस दिन से सुरत दूसरी जगह नहीं गई, चित्त डावाँडोल नहीं हुआ । मैं आँख मूँदकर, कान मूँदकर कोई हठयोगी की तरह काया की कष्टदायिनी साधना नहीं करता । मैं तो आँखें खोले रहता हूँ और हँस-हँसकर परमात्मा की पुनीत कृति का सुन्दर रूप देखता हूँ । जो कहता हूँ सो नाम जप है, जो सुनता हूँ सो सुमिरन है, जो खाता-पीता हूँ सो पूजा है । घर और जंगल एक- सा देखता हूँ

और अद्वैत का अभाव मिटाता हूँ, जहाँ-जहाँ जाता हूँ सोई परिक्रमा है, जो कुछ करता हूँ सोई-सोई सेवा है। जब सोता हूँ तो वह मेरी दण्डवत् है। मैं एक को छोड़कर अन्य देव को नहीं पूजता। मन की मलिन वासना छोड़कर निरन्तर शब्द में, अन्तःकरण की ईश्वरीय वाणी सुनने में रत रहता हूँ। ऐसी तारी लगी है, निष्ठा जमी है कि उठते-बैठते वह कभी नहीं बिसरती। कबीर कहते हैं कि "मेरी यह उनमनि- हर्ष- शोक से रहित स्थिति है जिसे प्रकट करके गाया है। दुख-सुख से परे जो एक परम सुख है, मैं उसी में समाया रहता हूँ।"

यह सहज समाधि उन्हें प्राप्त होती है 'जो शब्द में रत' रहते हैं। भोग एवं तृष्णा की क्षुद्र वृत्तियों का परित्याग करके जो अन्तःकरण में प्रतिक्षण ध्वनित होने वाले ईश्वरीय शब्दों को सुनते हैं- सत् की दिशा में चलने की ओर दैवी संकेतों को देखते हैं और उन्हीं को जीवन नीति बनाते हैं वे 'शब्द रत' सहज योगी उस परम आनन्द की सहज समाधि में सुख को प्राप्त होते हैं। चूँकि उनका उद्देश्य ऊँचा रहता है, दैवी प्रेरणा पर निर्भर रहता है, इसलिए उनके समस्त कार्य पुण्य रूप बन जाते हैं। जैसे खाँड़ से बने खिलौने आकृति में कैसे ही क्यों न हों, होंगे मीठे ही, इसी प्रकार सद्भावना और उद्देश्य परायणता के साथ किए हुए काम बाह्य आकृति में कैसे ही क्यों न दिखाई देते हों, होंगे वे यज्ञ रूप ही, पुण्यमय ही। सत्य परायण व्यक्तियों के सम्पूर्ण कार्य, छोटे से छोटे कार्य, जहाँ तक कि चलना, सोना, खाना देखना तक ईश्वर- आराधना बन जाते हैं।

स्वल्प प्रयास में समाधि का शाश्वत सुख उपलब्ध करने की इच्छा रखने वाले अध्यात्म मार्ग के पथिकों को चाहिए कि वे जीवन का दृष्टिकोण उच्च उद्देश्यों पर अवलम्बित करें, दैनिक कार्यक्रम का सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्णय करें। भोग से ऊँचे उठकर योग में आस्था का आरोपण करें। इस दिशा में जो जितनी प्रगति करेगा, उसे उतने ही अंशों में समाधि के लोकोत्तर सुख का रसास्वादन होता रहेगा।

आनन्दमय कोश की साधना में आनन्द का रसास्वादन होता है। इस प्रकार की आनन्दमयी साधनाओं में से तीन प्रमुख साधनाएँ नीचे दी जाती हैं। सहज समाधि की भाँति यह तीन महासाधनाएँ भी बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं, साथ ही उनकी सुगमता भी असंदिग्ध है।

नाद साधना

'शब्द' को ब्रह्म कहा है क्योंकि ईश्वर और जीव को एक शृंखला में बाँधने का काम शब्द के द्वारा ही होता है। सृष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ भी शब्द से हुआ है। पंचतत्त्वों में सबसे पहले आकाश बना, आकाश की तन्मात्रा शब्द है। अन्य समस्त पदार्थों की भाँति शब्द भी दो प्रकार का है - सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म शब्द को विचार कहते हैं और स्थूल शब्द को नाद।

ब्रह्म लोक से हमारे लिए ईश्वरीय शब्द प्रवाह सदैव प्रवाहित होता है। ईश्वर हमारे साथ वार्तालाप करना चाहता है, पर हममें से बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो उसे सुनना चाहते हैं या सुनने की इच्छा करते हैं। ईश्वरीय शब्द निरन्तर एक ऐसी विचारधारा प्रेरित करते हैं, जो हमारे लिए अतीव कल्याणकारी होती है, उसको यदि सुना और समझा जा सके तथा उसके अनुसार मार्ग निर्धारित किया जा सके, तो निस्संदेह जीवनोद्देश्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर हुआ जा सकता है। यह विचारधारा हमारी आत्मा से टकराती है।

हमारा अन्तःकरण एक रेडियो है जिसकी ओर यदि अभिमुख हुआ जाए, अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुख बनाकर आत्मा में प्रस्फुटित होने वाली दिव्य विचार लहरियों को सुना जाए, तो ईश्वरीय वाणी हमें प्रत्यक्ष में सुनाई पड़ सकती है, इसी को आकाशवाणी कहते हैं। हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं ? हमारे लिए क्या उचित है, क्या अनुचित ? इसका प्रत्यक्ष सन्देश ईश्वर की ओर से प्राप्त होता है। अन्तःकरण की पुकार, आत्मा का आदेश, ईश्वरीय सन्देश, आकाशवाणी, तत्त्व ज्ञान आदि नामों से इसी विचारधारा को पुकारते हैं। अपनी आत्मा के यन्त्र को स्वच्छ करके जो इस दिव्य सन्देश को सुनने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मदर्शी एवं ईश्वर-परायण कहलाते हैं।

ईश्वर उनके लिए बिलकुल समीप होता है, जो ईश्वर की बातें सुनते हैं और अपनी उससे कहते हैं। इस दिव्य मिलन के लिए हाड़-माँस के स्थूल नेत्र या कानों का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। आत्मा की समीपता में बैठा हुआ अन्तःकरण अपनी दिव्य इन्द्रियों की सहायता से इस कार्य को आसानी से पूरा कर लेता

है । यह अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म शब्द, दिव्य विचार तब तक धुँधले रूप में दिखाई पड़ता है जब तक कषायकल्मष आत्मा में बने रहते हैं । जितनी आन्तरिक पवित्रता बढ़ती जाती है, उतने ही दिव्य सन्देश बिलकुल स्पष्ट रूप से सामने आते हैं । आरम्भ में अपने लिए कर्तव्य का बोध होता है, पाप-पुण्य का संकेत होता है, बुरा कर्म करते समय अन्तर में भय, घृणा, लज्जा, संकोच आदि का होना तथा उत्तम कार्य करते समय आत्मसन्तोष, प्रसन्नता, उत्साह होना इसी स्थिति का बोधक है ।

यह दिव्य सन्देश आगे चलकर भूत, भविष्य, वर्तमान की सभी घटनाओं को प्रकट करता है । किसके लिए क्या भवितव्य बन रहा है और भविष्य में किसके लिए क्या घटना घटित होने वाली है ? यह सब कुछ उसे प्रकट हो जाता है और भी ऊँची स्थिति पर पहुँचने पर उसके लिए सृष्टि के सब रहस्य खुल जाते हैं, कोई ऐसी बात नहीं है जो उससे छिपी हो, परन्तु जैसे ही इतना बड़ा ज्ञान उसे मिलता है, वैसे ही वह उसका उपयोग करने में अत्यन्त सावधान हो जाता है । बाल-बुद्धि के लोगों के हाथों में यह दिव्य ज्ञान पड़ जाए, तो वे उसे बाजीगरी के खिलवाड़ करने में ही नष्ट कर दें, पर अधिकारी पुरुष अपनी इस शक्ति का किसी को परिचय तक नहीं होने देते और उसे भौतिक बखेड़ों से पूर्णतया बचाकर अपनी तथा दूसरों की आत्मोन्नति में लगाते हैं ।

शब्द ब्रह्म का दूसरा रूप जो विचार सन्देश की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म है वह नाद है । प्रकृति के अन्तराल में एक ध्वनि प्रतिक्षण उठती रहती है जिसकी प्रेरणा से आघातों द्वारा परमाणुओं में गति उत्पन्न होती है, उससे सृष्टि का समस्त क्रिया-कलाप चलता है । यह प्रारम्भिक शब्द 'ॐ' है, यह 'ॐ' ध्वनि जैसे-जैसे अन्य तत्त्वों के क्षेत्र में होकर गुजरती है, वैसे ही वैसे उसकी ध्वनि में अन्तर आता है । बंशी के छिद्रों में हवा फेंकते हैं, तो उसमें एक ध्वनि उत्पन्न होती है । पर आगे के छिद्रों में से जिस छिद्र से जितनी हवा निकाली जाती है, उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरों की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं । इसी प्रकार ॐ ध्वनि भी विभिन्न तत्त्वों के सम्पर्क में आकर विविध प्रकार की स्वर लहरियों में परिणत हो जाती है । इन स्वर लहरियों का सुनना ही नाद योग है ।

पञ्च-तत्त्वों की प्रतिध्वनित हुई ॐकार की स्वर लहरियों को सुनने की नाद-योग साधना कई दृष्टियों से बड़ी महत्त्वपूर्ण है । प्रथम तो इस दिव्य संगीत के सुनने में इतना आनन्द आता है, जितना किसी मधुर से मधुर वाद्य या गायन सुनने में नहीं आता । दूसरे इस नाद श्रवण से मानसिक तन्तुओं का प्रस्फुटन होता है । सर्प जब संगीत सुनता है, तो उसकी नाड़ी में एक विद्युत् लहर प्रवाहित हो उठती है, मृग का मस्तिष्क मधुर संगीत सुनकर इतना उत्साहित हो जाता है कि उसे तन बदन का होश नहीं रहता । योरोप में गायें दुहते समय मधुर बाजे बजाये जाते हैं, जिससे उनका स्नायु समूह उत्तेजित होकर अधिक मात्रा में दूध उत्पन्न करता है । नाद का दिव्य संगीत सुनकर मानव- मस्तिष्क में भी ऐसी स्फुरणा होती है, जिसके कारण अनेक गुप्त मानसिक शक्तियाँ विकसित होती हैं, इस प्रकार भौतिक और आत्मिक दोनों ही दिशाओं में गति होती है ।

तीसरा लाभ एकाग्रता है । एक वस्तु पर- नाद पर ध्यान एकाग्र होने से मन की बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्रित होती हैं और इस प्रकार मन को वश में करने तथा निश्चित कार्य पर उसे पूरी तरह लगा देने की साधना सफल हो जाती है । यह सफलता कितनी शानदार है, इसे प्रत्येक अध्यात्म मार्ग का जिज्ञासु भली प्रकार जानता है । आतिशी काँच द्वारा एक दो इन्च जगह की सूर्य किरणें एक बिन्दु पर एकत्रित कर देने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है । मानव प्राणी अपने सुविस्तृत शरीर में बिखरी हुई अनन्त दिव्य शक्तियों का एकीकरण कर ऐसी महान् शक्ति उत्पन्न कर सकता है, जिसके द्वारा इस संसार को हिलाया जा सकता है और अपने लिए आकाश में मार्ग बनाया जा सकता है ।

नाद की स्वर लहरियों को पकड़ते-पकड़ते साधक ऊँची रस्सी को पकड़ता हुआ उस उद्गम ब्रह्म तक पहुँच जाता है, जो आत्मा का अभीष्ट स्थान है । ब्रह्मलोक की प्राप्ति, दूसरे शब्दों में मुक्ति, निर्वाण, परमपद आदि नामों से पुकारी जाती है । नाद के आधार पर मनोलय करता हुआ साधक योग की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचता है और अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है । नाद का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिए अब इस पर कुछ प्रकाश डालते हैं -

अभ्यास के लिए ऐसा स्थान प्राप्त कीजिए जो एकान्त हो और जहाँ बाहर की अधिक आवाज न आती हो। तीक्ष्ण प्रकाश इस अभ्यास में बाधक है। इसलिए कोई अँधेरी कोठरी ढूँढ़नी चाहिए। एक पहर रात हो जाने के बाद से लेकर सूर्योदय से पूर्व तक का समय इसके लिए बहुत ही अच्छा है। यदि इस समय की व्यवस्था न हो सके तो प्रात: ७ बजे तक और शाम को दिन छिपे बाद का कोई समय नियत किया जा सकता है। नित्य नियमित समय पर अभ्यास करना चाहिए, अपने नियत कमरे में आसन या आराम कुर्सी बिछाकर बैठो, आसन पर बैठो तो पीठ पीछे कोई मसनद या कपड़े की गठरी आदि रख लो, यह भी न हो तो अपना आसन एक कोने में लगाओ। जिस प्रकार शरीर को आराम मिले, उस तरह बैठ जाओ और अपने शरीर को ढीला छोड़ने का प्रयत्न करो।

भावना करो कि मेरा शरीर रुई का ढेर मात्र है और मैं इस समय इसे पूरी तरह स्वतन्त्र छोड़ रहा हूँ। थोड़ी देर में शरीर बिलकुल ढीला हो जायेगा और अपना भार अपने आप न सहकर इधर-उधर को ढुलने लगेगा। आराम कुर्सी, मसनद या दीवार का सहारा ले लेने से शरीर ठीक प्रकार अपने स्थान पर बना रहेगा। साफ रुई की मुलायम सी दो डाटें बनाकर उन्हें कानों में लगाओ कि बाहर की कोई आवाज भीतर प्रवेश न कर सके। उँगलियों से कान के छेद बन्द करके भी काम चल सकता है। अब बाहर की कोई आवाज तुम्हें सुनाई न पड़ेगी, यदि पड़े भी तो उस ओर से ध्यान हटाकर अपने मूर्धा-स्थान पर ले जाओ और वहाँ जो शब्द हो रहे हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक सुनने का प्रयत्न करो।

आरम्भ में शायद कुछ भी सुनाई न पड़े पर दो-चार दिन के प्रयत्न के बाद जैसे-जैसे सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय निर्मल होती जायेगी, वैसे ही वैसे शब्दों की स्पष्टता बढ़ती जायेगी। पहले-पहल कई शब्द सुनाई देते हैं, शरीर में जो रक्त प्रवाह हो रहा है, उसकी आवाज रेल की तरह धक्-धक्, धक्-धक् सुनाई पड़ती है। वायु के आने जाने की आवाज बादल गरजने जैसी होती है, रसों के पकने और उनके आगे की ओर गति करने की आवाज चटकने की सी होती है। यह तीन प्रकार के शब्द शरीर की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार दो प्रकार के शब्द मानसिक क्रियाओं के हैं। मन में चञ्चलता की लहरें उठती हैं वे मानस-तन्तुओं पर टकराकर ऐसे शब्द करती है, मानों टीन के ऊपर मेह बरस रहा हो और जब मस्तिष्क बाह्य ज्ञान को ग्रहण करके अपने में धारण करता है, तो ऐसा मालूम होता है, मानो कोई प्राणी साँस ले रहा हो। ये पाँचों शब्द शरीर और मन के हैं। कुछ ही दिन के अभ्यास से साधारणत: दो तीन सप्ताह के प्रयत्न से यह शब्द स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ते हैं। इन शब्दों के सुनने से सूक्ष्म इन्द्रियाँ निर्मल होती जाती हैं और गुप्त शक्तियों को ग्रहण करने की उनकी योग्यता बढ़ती जाती है।

जब नाद श्रवण करने की योग्यता बढ़ती जाती है, तो वंशी या सीटी से मिलती-जुलती अनेक प्रकार की शब्दावलियाँ सुनाई पड़ती हैं, यह सूक्ष्म लोक में होने वाली क्रियाओं का परिचायक है। बहुत दिनों से बिछुड़े हुए बच्चे को यदि उसकी माता की गोद में पहुँचाया जाता है, तो वह आनन्द विभोर हो जाता है, ऐसा ही आनन्द सुनने वाले को आता है।

जिन सूक्ष्म शब्द ध्वनियों को आज वह सुन रहा है, वास्तव में यह उसी तत्त्व के निकट से आ रही हैं, जहाँ से कि आत्मा और परमात्मा का विलगाव हुआ है और जहाँ पहुँच कर दोनों फिर एक हो सकते हैं। धीरे-धीरे यह शब्द स्पष्ट होने लगते हैं और अभ्यासी को उनके सुनने में अद्भुत आनन्द आने लगता है। कभी-कभी तो वह उन शब्दों में मस्त होकर आनन्द से विह्वल हो जाता है और अपने तन-मन की सुध भूल जाता है। अन्तिम शब्द ॐ है, यह बहुत ही सूक्ष्म है। इसकी ध्वनि घण्टा ध्वनि के समान रहती है। घड़ियाल में हथौड़ी मार देने पर जैसे वह कुछ देर तक झनझनाती रहती है, उसी प्रकार ॐ का घण्टा शब्द सुनाई पड़ता है।

ॐकार ध्वनि जब सुनाई पड़ने लगती है, तो निद्रा-तन्द्रा या बेहोशी जैसी दशा उत्पन्न होने लगती है। साधक तन-मन की सुध भूल जाता है और समाधि सुख का-तुरीय अवस्था का आनन्द लेने लगता है। उस स्थिति से ऊपर बढ़ने वाली आत्मा-परमात्मा में प्रवेश करती जाती है और अन्तत: पूर्णतया परमात्म अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

अनहद नाद का शुरू रूप है अनाहत नाद। 'आहत' नाद वे होते हैं, जो किसी प्रेरणा या आघात से उत्पन्न

होते हैं। वाणी के आकाश तत्त्व से टकराने अथवा किन्हीं दो वस्तुओं के टकराने वाले शब्द 'आहत' कहे जाते हैं। बिना किसी आघात के दिव्य प्रकृति के अन्तराल से जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें "अनाहत या अनहद" कहते हैं। वे अनाहत या अनहद शब्द प्रमुखतः दस होते हैं जिनके नाम १- संहारक, २- पालक, ३- सृजक, ४- सहस्रदल, ५- आनन्द मण्डल, ६- चिदानन्द, ७- सच्चिदानन्द, ८- अखण्ड, ९- अगम, १०- अलख हैं। इनकी ध्वनियाँ क्रमशः पायजेब की झंकार की सी, सागर की लहर की, मृदंग की, शंख की, तुरही की, मुरही की, बीन सी, सिंह गर्जन की, नफीरी की, बुलबुल की-सी होती है।

जैसे अनेक रेडियो से एक ही समय में अनेक प्रोग्राम ब्राडकास्ट होते रहते हैं, वैसे ही अनेक प्रकार के अनाहत शब्द भी प्रस्फुटित होते रहते हैं, उनके कारण, उपयोग और रहस्य अनेक प्रकार के हैं। चौंसठ अनाहत अब तक गिने गये हैं, पर उन्हें सुनना हर किसी के लिए सम्भव नहीं। जिसकी आत्मिक शक्ति जितनी ऊँची होगी, वे उतने ही सूक्ष्म शब्दों को सुनेंगे, पर उपर्युक्त दस शब्द सामान्य आत्मबल वाले भी आसानी से सुन सकते हैं।

यह अनहद सूक्ष्म लोकों की दिव्य भावना है। सूक्ष्म जगत् में किसी स्थान पर क्या हो रहा है, किसी प्रयोजन के लिए कहाँ क्या आयोजन हो रहा है, इस प्रकार के गुप्त रहस्य इन शब्दों द्वारा जाने जा सकते हैं। कौन साधक, किस ध्वनि को अधिक स्पष्ट और किस ध्वनि को मन्द सुनेगा यह उसकी अपनी मनोभूमि की विशेषता पर निर्भर है।

अनहद नाद एक बिना तार की दैवी सन्देश प्रणाली है। साधक इसे जानकर सब कुछ जान सकता है (इन शब्दों में, ॐ ध्वनि आत्म कल्याणकारक और शेष ध्वनियाँ विभिन्न प्रकार की सिद्धियों की जननी हैं, इस पुस्तक में उनका विस्तृत वर्णन नहीं हो सकता। गायत्री योग द्वारा आनन्दमय कोश के जागरण के लिए जितनी जानकारी की आवश्यकता है, वह इन पृष्ठों पर दे दी गई है)।

बिन्दु साधना

बिन्दु साधना का एक अर्थ ब्रह्मचर्य भी है। इस बिन्दु का अर्थ 'वीर्य' अन्नमय कोश के प्रकरण में किया गया है। आनन्दमय कोश की साधना में बिन्दु का अर्थ होगा- परमाणु। सूक्ष्म से सूक्ष्म जो अणु है, वहाँ तक अपनी गति हो जाने पर भी ब्रह्म की समीपता तक पहुँचा जा सकता है और सामीप्य सुख का अनुभव किया जा सकता है।

किसी वस्तु को कूटकर यदि चूर्ण बना लें और चूर्ण को खुर्दबीन से देखें, तो छोटे-छोटे टुकड़ों का एक ढेर दिखाई पड़ेगा। यह टुकड़े कई और टुकड़ों से मिलकर बने होते हैं। इन्हें भी वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से कूटा जाए, तो अन्त में जो न टूटने वाले, न कुटने वाले टुकड़े रह जायेंगे, उन्हें परमाणु कहेंगे। इन परमाणुओं की लगभग १०० जातियाँ अब तक पहचानीं जा चुकी हैं, जिन्हें अणुतत्त्व कहा जाता है।

अणुओं के दो भाग हैं, एक सजीव दूसरे निर्जीव। दोनों ही एक पिण्ड या ग्रह के रूप में मालूम पड़ते हैं, पर वस्तुतः उनके भीतर भी और टुकड़े हैं। प्रत्येक अणु अपनी- अपनी धुरी पर बड़े वेग से परिभ्रमण करता है। पृथ्वी भी सूर्य की परिक्रमा के लिए प्रति सेकेण्ड १८ ॥ मील की चाल से चलती है, पर इन १०० परमाणुओं की गति चार हजार मील प्रति सेकेण्ड मानी जाती है।

यह परमाणु भी अनेक विद्युत् कणों से मिलकर बने हैं जिनकी दो जातियाँ हैं, १- ऋण कण, २- धन कण। धन कणों के चारों ओर ऋण-कण प्रति सेकेण्ड एक लाख अस्सी हजार मील की गति से परिभ्रमण करते हैं। उधर धन कण, ऋण कण की परिक्रमा के केन्द्र होते हुए भी शान्त नहीं बैठते। जैसे पृथ्वी, सूर्य की परिक्रमा लगाती है और सूर्य अपने सौर-मण्डल को लेकर 'कृतिका' नक्षत्र की परिक्रमा करता है, वैसे ही धन कण भी परमाणु की अन्तरगति का कारण होते हैं। ऋण-कण जो कि द्रुतगति से निरन्तर परिक्रमा में संलग्न हैं, अपनी शक्ति सूर्य से अथवा विश्व-व्यापी अग्नि तत्त्व से प्राप्त करते हैं।

वैज्ञानिकों का कथन है कि यदि एक परमाणु के अन्दर का शक्ति-पुञ्ज फूट पड़े, तो क्षण भर में लन्दन जैसे

तीन नगरों को भस्म कर सकता है । इस परमाणु के विस्फोट की विधि मालूम करके ही 'एटमबम' का आविष्कार हुआ है । एक परमाणु के फोड़ देने से जो भयंकर विस्फोट होता है उसका परिचय गत महायुद्ध से मिल चुका है । इसकी और भी भयंकरता का पूर्ण प्रकाश होना अभी बाकी है जिसके लिए वैज्ञानिक लगे हुए हैं ।

यह तो परमाणु शक्ति की बात रही, अभी उनके अंग ऋण-कण और धन-कणों के सूक्ष्म भागों का भी पता चला है । वे भी अपने से अनेक गुने सूक्ष्म परमाणुओं से बने हुए हैं, जो ऋण-कणों के भीतर एक लाख, छियासी हजार, तीन सौ तीस मील प्रति सेकेण्ड की गति से परिभ्रमण करते हैं । अभी उनके भी अन्तर्गत कर्षाणुओं की खोज हो रही है और विश्वास किया जाता है कि उन कर्षाणुओं के भीतर भी सर्गाणु हैं । परमाणुओं की अपेक्षा ऋण कण तथा धन कणों की गति तथा शक्ति अनेकों गुनी है । उसी अनुपात से इन सूक्ष्म, सूक्ष्मान्तर और सूक्ष्मतम अणुओं की गति तथा शक्ति होगी । जब परमाणुओं के विस्फोट की शक्ति लन्दन जैसे तीन शहरों को जला देने की है, तो सर्गाणु की शक्ति एवं गति की कल्पना करना भी हमारे लिए कठिन होगा । उसके अन्तिम सूक्ष्म केन्द्र को अप्रितम, अप्रमेय, अचिन्त्य ही कह सकते हैं ।

देखने में पृथ्वी चपटी मालूम पड़ती है, पर वस्तुत: वह लट्टू की तरह अपनी धुरी पर घूमती रहती है । चौबीस घण्टे में उसका एक चक्कर पूरा हो जाता है । पृथ्वी की दूसरी चाल भी है, वह सूर्य की परिक्रमा करती है । इस चक्कर में उसे एक वर्ष लग जाता है ।तीसरी चाल पृथ्वी की यह है कि सूर्य अपने ग्रह-उपग्रहों को साथ लेकर बड़े वेग से अभिजित् नक्षत्र की ओर जा रहा है । अनुमान है, वह कृतिका नक्षत्र की परिक्रमा करता है । इसमें पृथ्वी भी साथ है । लट्टू जब अपनी कीली पर घूमता है, तो वह इधर-उधर उठता भी रहता है इसे मँडलाने की चाल कहते हैं, जिसका एक चक्कर करीब २६ हजार वर्ष में पूरा होता है । कृतिका नक्षत्र भी सौरमण्डल आदि अपने उपग्रहों को लेकर ध्रुव की परिक्रमा करता है, उस दशा में पृथ्वी की गति पाँचवीं हो जाती है ।

सूक्ष्म परमाणु के सूक्ष्मतम भाग सर्गाणु तक भी मानव बुद्धि पहुँच गयी है और बड़े से बड़े महा-अणुओं के रूप में पाँच गति तो पृथ्वी की विदित हुयीं । आकाश के असंख्य ग्रह-नक्षत्रों का पारस्परिक सम्बन्ध न जाने कितने बड़े महा अणु के रूप में पूरा होता होगा, उस महानता की कल्पना भी बुद्धि को थका देती है । उसे भी अप्रतिम, अप्रमेय और अचिन्त्य ही कहा जायेगा ।

सूक्ष्म से सूक्ष्म और महत् से महत् केन्द्रों पर जाकर बुद्धि थक जाती है और उससे छोटे या बड़े की कल्पना नहीं हो सकती, उस केन्द्र को 'बिन्दु' कहते हैं ।

अणु को योग की भाषा में अण्ड भी कहते हैं । वीर्य का एक कण 'अण्ड' है । वह इतना छोटा होता है कि बारीक खुर्दबीन से भी मुश्किल से ही दिखाई देता है, पर जब वह विकसित होकर स्थूल रूप में आता है, तो वही बड़ा अण्डा हो जाता है । उस अण्डे के भीतर जो पक्षी रहता है उसके अनेक अंग-प्रत्यंग विभाग होते हैं, उन विभागों में असंख्य सूक्ष्म विभाग और उनमें भी अगणित कोषांड रहते हैं । इस प्रकार शरीर भी एक अणु है, इसी को अण्ड या पिण्ड कहते हैं । अखिल विश्व ब्रह्माण्ड में अगणित सौरमण्डल, आकाश-गंगा और ध्रुव-चक्र हैं ।

इन ग्रहों की दूरी और विस्तार का कुछ ठिकाना नहीं । पृथ्वी बहुत बड़ा पिण्ड है, पर सूर्य तो पृथ्वी से भी तेरह लाख गुना बड़ा है । सूर्य से भी करोड़ों गुने ग्रह आकाश में मौजूद हैं । इनकी दूरी का अनुमान इससे लगाया जाता है कि प्रकाश की गति प्रति सैकेण्ड पौने दो लाख मील है और उन ग्रहों का प्रकाश पृथ्वी तक आने में ३० लाख वर्ष लगते हैं । यदि कोई ग्रह आज नष्ट हो जाए, तो उसका अस्तित्व न रहने पर भी उसकी प्रकाश किरणें आगामी तीस लाख वर्ष तक यहाँ आती रहेंगी । जिस नक्षत्र का प्रकाश पृथ्वी पर आता है, उनके अतिरिक्त ऐसे ग्रह बहुत अधिक हैं, जो अत्यधिक दूरी के कारण पृथ्वी पर दुर्बीनों से भी दिखाई नहीं देते । इतने बड़े और दूरस्थ ग्रह जब अपनी परिक्रमा करते होंगे, अपने ग्रहमण्डल को साथ लेकर परिभ्रमण को निकलते होंगे, उस शून्य के विस्तार की कल्पना कर लेना मानव-मस्तिष्क के लिए बहुत कठिन है ।

इतना बड़ा ब्रह्माण्ड भी एक अणु या अंण्ड है । इसलिए उसे ब्रह्म + अण्ड = ब्रह्माण्ड कहते हैं । पुराणों में वर्णन है कि जो ब्रह्माण्ड हमारी जानकारी में है, उसके अतिरिक्त भी ऐसे ही और अगणित ब्रह्माण्ड हैं और उन

सबका समूह एक महा अण्ड है, उस महाअण्ड की तुलना में पृथ्वी उससे छोटी बैठती है जितना कि परमाणु की तुलना में सर्गाणु छोटा होता है ।

इस लघु से लघु और महान् से महान् अण्ड में जो शक्ति व्यापक है, जो इन सबको गतिशील, विकसित, परिवर्तित एवं चैतन्य रखती है, उस सत्ता को 'बिन्दु' कहा गया है । यह बिन्दु ही परमात्मा है । उसी को छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा कहा जाता है । 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहकर उपनिषदों ने उस परब्रह्म का परिचय दिया है ।

इस बिन्दु का चिन्तन करने से आनन्दमय कोश स्थित जीव की उस परब्रह्म के रूप की कुछ झाँकी होती है और उसे प्रतीत होता है कि परब्रह्म की, महा-अण्ड की तुलना में मेरा अस्तित्व, मेरा पिण्ड कितना तुच्छ है । इस तुच्छता का भान होने से अहंकार और गर्व बिगलित हो जाते हैं । दूसरी ओर जब सर्गाणु से अपने पिण्ड की, शरीर की तुलना करते हैं, तो प्रतीत होता है कि अटूट शक्ति के अक्षय भण्डार सर्गाणु की इतनी अटूट संख्या और शक्ति जब हमारे भीतर है, तो हमें अपने को अशक्त समझने का कोई कारण नहीं है । उस शक्ति का उपयोग जान लिया जाए, तो संसार में होने वाली कोई भी बात हमारे लिये असम्भव नहीं हो सकती ।

जैसे महा अण्ड की तुलना में हमारा शरीर अत्यन्त क्षुद्र है और हमारी तुलना में उसका विस्तार अनुपमेय है, इसी प्रकार सर्गाणुओं की दृष्टि में हमारा पिण्ड (शरीर) एक महाब्रह्माण्ड जैसा विशाल होगा, इसमें जो स्थिति समझ में आती है वह प्रकृति के अण्ड से भिन्न एक दिव्य शक्ति के रूप में विदित होती है । लगता है कि मैं मध्य बिन्दु हूँ, केन्द्र हूँ, सूक्ष्म से सूक्ष्म में और स्थूल से स्थूल में मेरी व्यापकता है ।

लघुता-महत्ता का एकान्त चिन्तन ही बिन्दु साधना कहलाता है । इस साधना के साधक को सांसारिक जीवन की अवास्तविकता और तुच्छता का भली प्रकार बोध हो जाता है, साथ ही यह भी प्रतीत हो जाता है कि मैं अनन्त शक्ति का उद्‌गम होने के कारण इस सृष्टि का महत्त्वपूर्ण केन्द्र हूँ । जैसे जापान पर फटा हुआ परमाणु ही ऐतिहासिक 'एटमबम' के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा, वैसे ही जब अपने शक्ति-पुञ्ज का सदुपयोग किया जाता है, तो उसके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से संसार का भारी परिवर्तन करना सम्भव हो जाता है ।

विश्वामित्र ने राजा हरिश्चन्द्र के पिण्ड को एटमबम बनाकर 'असत्य' के साम्राज्य पर इस प्रकार विस्फोट किया था कि लाखों वर्ष बीत जाने पर भी उसकी 'ऐक्टिव' किरणें अभी समाप्त नहीं हुई हैं और अपने प्रभाव से असंख्यों को बराबर प्रभावित करती चली आ रही हैं । महात्मा गाँधी ने बचपन में राजा हरिश्चन्द्र का लेख पढ़ा था । उन्होंने अपने आत्म-चरित्र में लिखा है कि मैं उसे पढ़कर इतना प्रभावित हुआ कि स्वयं भी हरिश्चन्द्र बनने की ठान ली, अपने संकल्प के द्वारा वे सचमुच हरिश्चन्द्र बन भी गये । राजा हरिश्चन्द्र आज नहीं हैं पर उनकी आत्मा अब भी उसी प्रकार अपना महान् कार्य कर रही है । न जाने कितने अप्रकट गाँधी उसके द्वारा निर्मित होते रहते होंगे, गीताकार आज नहीं है, पर आज उनकी गीता कितनों को अमृत पिला रही है ? यह पिण्ड का सूक्ष्म प्रभाव ही है, जो प्रकट या अप्रकट रूप से स्व, पर कल्याण का महान् आयोजन प्रस्तुत करता है ।

कार्लमार्क्स के सूक्ष्म शक्ति केन्द्र से प्रस्फुटित हुई चेतना आज आधी दुनिया को कम्युनिस्ट बना चुकी है । पूर्वकाल में महात्मा ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, कृष्ण आदि अनेक महापुरुष ऐसे हुए हैं, जिन्होंने संसार पर बड़े महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाले हैं । इन प्रकट महापुरुषों के अतिरिक्त ऐसी अनेक अप्रकट आत्मायें भी हैं जिन्होंने संसार की सेवा में, जीवों के कल्याण में गुप्त रूप से बड़ा भारी काम किया है । हमारे देश में योगी अरविन्द, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहंस, समर्थ गुरु रामदास आदि द्वारा जो कार्य हुआ तथा आज भी अनेक महापुरुष जो कार्य कर रहे हैं, उसको स्थूल दृष्टि से नहीं समझा जा सकता है । युग परिवर्तन निकट है, उसके लिए रचनात्मक और ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों का सूक्ष्म जगत् में जो महान् आयोजन हो रहा है । उस महाकार्य को हमारे चर्म- चक्षु देख पावें, तो जानें कि कैसा अनुपम एवं अभूतपूर्व परिवर्तन चक्र प्रस्तुत हो रहा है और वह चक्र निकट भविष्य में कैसे-कैसे विलक्षण परिवर्तन करके मानव जाति को एक नये प्रकाश की ओर ले जा रहा है ।

विषयान्तर चर्चा करना हमारा प्रयोजन नहीं है, यहाँ तो हमें यह बताना है कि लघुता और महत्ता के चिन्तन

की बिन्दु साधना से आत्मा का भौतिक अभिमान और लोभ विगलित होता है, साथ ही उस आन्तरिक शक्ति का विस्तार होता है, जो 'स्व' पर कल्याण के लिए अत्यंत ही आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है।

बिन्दु-साधक की आत्म-स्थिति उज्ज्वल होती जाती है, उसके विकार मिट जाते हैं। फलस्वरूप उसे उस अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है, जिसे प्राप्त करना जीवन धारण का प्रधान उद्देश्य है।

कला साधना

'कला का अर्थ है-किरण।' प्रकाश यों तो अत्यन्त सूक्ष्म है, उस पर सूक्ष्मता का ऐसा समूह जो हमें एक निश्चित प्रकार का अनुभव करावे 'कला' कहलाता है। सूर्य से निकलकर अत्यन्त सूक्ष्म प्रकाश तरंगें भूतल पर आती हैं, उनका एक समूह ही इस योग्य बन पाता है कि नेत्रों से या यन्त्रों से उसका अनुभव किया जा सके। सूर्य किरणों के सात रंग प्रसिद्ध हैं, परमाणुओं के अन्तर्गत जो 'परमाणु' होते हैं, उनकी विद्युत् तरंगें जब हमारे नेत्रों से टकराती हैं, तभी किसी रंग रूप का ज्ञान हमें होता है। रूप को प्रकाशवान् बनाकर प्रकट करने का काम कला द्वारा ही होता है।

कलायें दो प्रकार की होती हैं - १-आप्ति, २- व्याप्ति। आप्ति किरणें वे हैं, जो प्रकृति के अणुओं से प्रस्फुटित होती हैं। व्याप्ति वे हैं जो पुरुष के अन्तराल से आविर्भूत होती हैं, इन्हें 'तेजस्' भी कहते हैं। वस्तुयें पञ्चतत्त्वों से बनी होती हैं, इसलिए परमाणु से निकलने वाली किरणें अपने प्रधान तत्त्व की विशेषता भी साथ लिए होती हैं, वह विशेषता रंग द्वारा पहचानी जाती है। किसी वस्तु का प्राकृतिक रंग देखकर यह बताया जा सकता है कि इन पञ्च-तत्त्वों में कौन-सा तत्त्व किस मात्रा में विद्यमान है ?

सव्याप्ति कला, किसी मनुष्य के 'तेजस्' में परिलक्षित होती है। यह तेजस् मुख के आस-पास प्रकाश मण्डल की तरह विशेष रूप से फैला होता है, यों तो यह सारे शरीर के आस-पास प्रकाशित रहता है। इसे अंग्रेजी में 'ऑरा' और संस्कृत में 'तेजोवलय' कहते हैं। देवताओं के चित्र में उनके मुख के आस-पास एक प्रकाश का गोला सा चित्रित होता है, यह उनकी कला का ही चिह्न है। अवतारों के संबंध में उनकी शक्ति का माप उनकी कथित कलाओं से किया जाता है। परशुराम जी में तीन, रामचन्द्रजी में बारह, कृष्ण जी में सोलह कलायें बतायी गयी हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उनमें साधारण मात्रा में इतनी गुनी आत्मिक शक्ति थी।

सूक्ष्मदर्शी लोग किसी व्यक्ति या वस्तु की आन्तरिक स्थिति का पता उनके तेजोवलय और रंग, रूप, चमक और चैतन्यता को देखकर मालूम कर लेते हैं। 'कला' विद्या की जिसे जानकारी है वह भूमि के अंतर्गत छिपे हुए पदार्थों को, वस्तुओं के अन्तर्गत छिपे हुए गुण, प्रभाव एवं महत्त्वों को आसानी से जान लेता है। किस मनुष्य में कितनी कलायें हैं, उसमें क्या-क्या शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विशेषतायें हैं तथा किन-किन गुण, दोष, योग्यताओं, सामर्थ्यों की उनमें कितनी न्यूनाधिकता है ? यह सहज ही पता चल सकता है। इस जानकारी के होने से किसी व्यक्ति से समुचित सम्बन्ध रखना सरल हो जाता है।

कला-विज्ञान का ज्ञाता अपने शरीर की तात्त्विक न्यूनाधिकता का पता लगाकर इसे आत्म-बल से ही सुधार सकता है और अपनी कलाओं में समुचित संशोधन, परिमार्जन एवं विकास कर सकता है। कला ही सामर्थ्य है। अपनी आत्मिक सामर्थ्य का, आत्मिक उन्नति का माप कलाओं की परीक्षा करके प्रकट हो जाता है और साधक यह निश्चित कर सकता है कि उन्नति हो रही है या नहीं ? उसे संतोषजनक सफलता मिल रही है या नहीं।

सब ओर से चित्त हटाकर नेत्र बन्द करके भृकुटी के मध्य भाग में ध्यान एकत्रित करने से मस्तिष्क में तथा उसके आस-पास रंग-बिरंगी धज्जियाँ, चिन्दियाँ तथा तितलियाँ-सी उड़ती दिखाई पड़ती हैं। इनके रंगों का आधार तत्त्वों पर निर्भर होता है। पृथ्वी तत्त्व का रंग पीला, जल का श्वेत, अग्नि का लाल, वायु का हरा, आकाश का नीला होता है। जिस रंग की झिलमिल होती है, उसी के आधार पर यह जाना जा सकता है कि इस समय हममें किन तत्त्वों की अधिकता और किनकी न्यूनता है।

प्रत्येक रंग में अपनी-अपनी विशेषता होती है। पीले रंग में-क्षमा, गम्भीरता, उत्पादन, स्थिरता, वैभव, मजबूती,

संजीदगी, भारीपन । श्वेत रंग में- शान्ति, रसिकता, कोमलता, शीघ्र प्रभावित होना, तृप्ति, शीतलता, सुन्दरता, वृद्धि, प्रेम । लाल रंग में- गर्मी, उष्णता, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, अनिष्ट, शूरता, सामर्थ्य, उत्तेजना, कठोरता, कामुकता, तेज, प्रभावशीलता, चमक, स्फूर्ति । हरे रंग में - चञ्चलता, कल्पना, स्वप्न-शीलता, जकड़न, दर्द, अपहरण, धूर्तता, गतिशीलता, विनोद, प्रगतिशीलता, प्राण पोषण, परिवर्तन । नीले रंग में- विचारशीलता, बुद्धि सूक्ष्मता, विस्तार, सात्त्विकता, प्रेरणा, व्यापकता, संशोधन, सम्वर्धन, सिंचन, आकर्षण आदि गुण होते हैं ।

जड़ या चेतन किसी भी पदार्थ के प्रकट रंग एवं उससे निकलने वाली सूक्ष्म प्रकाश ज्योति से यह जाना जा सकता है कि इस वस्तु या प्राणी का गुण, कर्म, स्वभाव एवं प्रभाव कैसा हो सकता है ? साधारणत: यह पाँच तत्त्वों की कला है, जिनके द्वारा यह कार्य हो सकता है - १- व्यक्तियों तथा पदार्थों की आन्तरिक स्थिति को समझना, २- अपने शारीरिक तथा मानसिक क्षेत्र में असन्तुलित किसी गुण दोष को सन्तुलित करना, ३- दूसरों के शारीरिक तथा मन की विकृतियों का संशोधन करके सुव्यवस्था स्थापित करना, ४- तत्त्वों के मूल आधार पर पहुँचकर तत्त्वों की गतिविधि तथा क्रिया पद्धति को जानना, ५- तत्त्वों पर अधिकार करके सांसारिक पदार्थों का निर्माण, पोषण तथा विनाश करना ।

यह उपरोक्त पाँच लाभ ऐसे हैं जिनकी व्याख्या की जाए, तो वे ऋद्धि-सिद्धियों के समान आश्चर्यजनक प्रतीत होंगे । यह पाँच भौतिक कलायें हैं, जिनका उपयोग राजयोगी, हठयोगी, मन्त्रयोगी तथा तांत्रिक अपने-अपने ढंग से करते हैं और इस तात्त्विक शक्ति का अपने-अपने ढंग से सदुपयोग-दुरुपयोग करके भले-बुरे परिणाम उपस्थित करते हैं । कला द्वारा सांसारिक भोग, वैभव भी मिल सकता है, आत्म-कल्याण भी हो सकता है और किसी को शापित, अभिचारित एवं दुख शोक सन्तप्त भी बनाया जा सकता है । पञ्च तत्त्वों की कलायें ऐसी ही प्रभावपूर्ण होती हैं ।

आत्मिक कलायें तीन होती हैं- सत्, रज , तम । तमोगुणी कलाओं का मध्य केन्द्र शिव है । रावण, हिरण्यकशिपु, भस्मासुर, कुम्भकरण, मेघनाद आदि असुर इन्हीं तामसिक कलाओं के सिद्ध पुरुष थे । रजोगुणी कलायें ब्रह्मा से आती हैं । इन्द्र, कुबेर, वरुण, बृहस्पति, ध्रुव, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, कर्ण आदि में इन राजसिक कलाओं की विशेषता थी । सतोगुणी सिद्धियाँ विष्णु से आविर्भूत होती हैं । व्यास, वसिष्ठ, अत्रि, बुद्ध, महावीर, ईसा, गाँधी आदि ने सात्त्विकता के केन्द्र से ही शक्ति प्राप्त की थी ।

आत्मिक कलाओं की साधना गायत्री योग के अन्तर्गत ग्रन्थि भेदन द्वारा होती है । रुद्र ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और ब्रह्म ग्रन्थि के खुलने से इन तीनों ही कलाओं का साक्षात्कार साधक को होता है । पूर्वकाल में लोगों के शरीर में आकाश तत्त्व अधिक था । इसलिए उन्हें उन्हीं साधनाओं से अत्यधिक आश्चर्यमयी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती थी, पर आज के युग में जन समुदाय के शरीर में पृथ्वी तत्त्व प्रधान है । इसलिए अणिमा, महिमा आदि तो नहीं, पर सत्, रज, तम की शक्तियों की अधिकता से अब भी आश्चर्यजनक हित साधना हो सकती है ।

पाँच कलाओं द्वारा तात्त्विक साधना

पृथ्वी तत्त्व- इस तत्त्व का स्थान मूलाधार चक्र अर्थात् गुदा से दो अंगुल अंडकोश की ओर हटकर सीवन में स्थित है । सुषुम्ना का आरम्भ इसी स्थान से होता है । प्रत्येक चक्र का आकार कमल के पुष्प जैसा है । यह 'भूलोक' का प्रतिनिधि है । पृथ्वी तत्त्व का ध्यान इसी मूलाधार चक्र में किया जाता है ।

पृथ्वी तत्त्व की आकृति चतुष्कोण, रंग पीला, गुण गन्ध है । इसलिए इसको जानने की इन्द्रिय नासिका तथा कर्मेन्द्रिय गुदा है । शरीर में पीलिया, कमलबाई(पीलिया) आदि रोग इसी तत्त्व की विकृति से पैदा होते हैं । भय आदि मानसिक विकारों में इसकी प्रधानता होती है । इस तत्त्व के विकार मूलाधार चक्र में ध्यान स्थित करने से अपने आप शान्त हो जाते हैं ।

साधन विधि- सबेरे जब एक पहर अँधेरा रहे, तब किसी शान्त स्थान और पवित्र आसन पर दोनों पैरों को पीछे की ओर मोड़कर उन पर बैठें । दोनों हाथ उलटे करके घुटनों पर इस प्रकार रखो, जिससे उँगलियों के छोर

पेट की ओर रहें। फिर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखते हुए मूलाधार चक्र में 'लं' बीज वाली चौकोर पीले रंग की पृथ्वी का ध्यान करें। इस प्रकार करने से नासिका सुगन्धि से भर जाती है और शरीर उज्ज्वल कान्ति वाला हो जाता है। ध्यान करते समय ऊपर कहे पृथ्वी तत्त्व के समस्त गुणों को अच्छी तरह ध्यान में लाने का प्रयत्न करना चाहिए और 'लं' इस बीज मन्त्र का मन ही मन (शब्द रूप से नहीं, वरन् ध्वनि रूप से) जप करते जाना चाहिए।

जल तत्त्व- पेडू के नीचे, जननेन्द्रिय के ऊपर मूल भाग में स्वाधिष्ठान चक्र में, जल तत्त्व का स्थान है। यह चक्र 'भुवः' लोक का प्रतिनिधि है, रंग श्वेत, आकृति अर्धचन्द्राकार और गुण रस है। कटु, अम्ल, तिक्त, मधुर आदि सब रसों का स्वाद इसी तत्त्व के कारण आता है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय जिह्वा और कर्मेन्द्रिय लिंग है। मोहादि विकार इसी तत्त्व की विकृति से होते हैं।

साधन विधि- पृथ्वी तत्त्व का ध्यान करने के लिए बताई हुई विधि से आसन पर बैठकर 'बं' बीज वाले अर्धचन्द्राकार चन्द्रमा की तरह कान्ति वाले जल तत्त्व का स्वाधिष्ठान चक्र में ध्यान करना चाहिए। इनसे भूख प्यास मिटती है और सहन शक्ति उत्पन्न होती है।

अग्नि तत्त्व- नाभि स्थान में स्थित मणिपूरक चक्र में अग्नि तत्त्व का निवास है। यह 'स्वः' लोक का प्रतिनिधि है। इस तत्त्व की आकृति त्रिकोण, रंग लाल, गुण रूप है। ज्ञानेन्द्रिय नेत्र और कर्मेन्द्रिय पाँव हैं। क्रोधादि मानसिक विकार तथा सूजन आदि शारीरिक विकार इस तत्त्व की गड़बड़ी से होते हैं। इसके सिद्ध हो जाने पर मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि पेट के विकार दूर हो जाते हैं और कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत् होने में सहायता मिलती है।

साधन विधि- नियत समय पर बैठकर 'रं' बीज मन्त्र वाले त्रिकोण आकृति के और अग्नि के समान लाल प्रभा वाले अग्नि-तत्त्व का मणिपूरक चक्र में ध्यान करें। इस तत्त्व के सिद्ध हो जाने पर सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है।

वायु तत्त्व- यह तत्त्व हृदय देश में स्थित अनाहत चक्र में है एवं 'महर्लोक' का प्रतिनिधि है। रंग हरा, आकृति षट्कोण तथा गोल दोनों तरह की है, गुण- स्पर्श, ज्ञानेन्द्रिय-त्वचा और कर्मेन्द्रिय-हाथ है। वात-व्याधि, दमा आदि रोग इसी की विकृति से होते हैं।

साधन विधि- नियत विधि से स्थित होकर 'यं' बीज वाले गोलाकर, हरी आभा वाले वायु-तत्त्व का अनाहत चक्र में ध्यान करें। इससे शरीर और मन में हलकापन आता है।

आकाश तत्त्व- शरीर में इसका निवास विशुद्ध चक्र में है। यह चक्र कण्ठ स्थान 'जनलोक' का प्रतिनिधि है। इसका रंग नीला, आकृति अण्डे की तरह लम्बी, गोल, गुण शब्द, ज्ञानेन्द्रिय- कान तथा कर्मेन्द्रिय वाणी है।

साधन विधि- पूर्वोक्त आसन पर 'हं' बीज मन्त्र का जाप करते हुए चित्र-विचित्र रंग वाले आकाश-तत्त्व का विशुद्ध चक्र में ध्यान करना चाहिए। इससे तीनों कालों का ज्ञान, ऐश्वर्य तथा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

नित्य प्रति पाँच तत्त्वों का छः मास तक अभ्यास करते रहने से तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं, फिर तत्त्व को पहचानना और उसे घटाना-बढ़ाना सरल हो जाता है। तत्त्व की सामर्थ्य तथा कलायें बढ़ने से साधक कलाधारी बन जाता है। उसकी कलायें अपना चमत्कार प्रकट करती रहती हैं।

तुरीय अवस्था

मन को पूर्णतया संकल्प रहित कर देने से रिक्त मानस की निर्विषय स्थिति होती है उसे तुरीयावस्था कहते हैं। जब मन में किसी भी प्रकार का एक भी संकल्प न रहे। ध्यान, भाव, विचार, संकल्प, इच्छा, कामना को पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया जाए और भाव रहित होकर केवल आत्मा के एक केन्द्र में अपने अन्तःकरण को पूर्णतया समाविष्ट कर दिया जाए, तो साधक तुरीयावस्था में पहुँच जाता है। इस स्थिति में इतना आनन्द आता है कि उस आनन्द के अतिरेक में अपनेपन की सारी सुध-बुध छूट जाती है और पूर्ण मनोयोग होने से बिखरा हुआ आनन्द एकीभूत होकर साधक को आनन्द से परितृप्त कर देता है, इसी स्थिति को समाधि कहते हैं।

समाधि काल में अपना संकल्प ही एक सजीव एवं अनन्त शक्तिशाली देव बन जाता है और उसकी झाँकी दृश्य जगत् से भी अधिक स्पष्ट होती है । नेत्रों के दोष और चंचलता से कई वस्तुयें हमें धुँधली दिखाई पड़ती हैं और उनकी बारीकियाँ नहीं सूझ पड़तीं । परन्तु समाधि अवस्था में परिपूर्ण दिव्य इन्द्रियों और चित्त वृत्तियों का एकीकरण जिस संकल्प पर होता है, वह संकल्प सब प्रकार मूर्तिमान् एवं सक्रिय परिलक्षित होता है । जिस किसी को जब कभी ईश्वर का मूर्तिमान् साक्षात्कार होता है, तब समाधि अवस्था में उसका संकल्प ही मूर्तिमान् हुआ होता है ।

भावावेश में भी क्षणिक समाधि हो जाती है । भूत, प्रेत आवेश, देवोन्माद, हर्ष, शोक की मूर्छा, नृत्य वाद्य में लहरा जाना, आवेश में अपनी या दूसरे की हत्या आदि भयंकर कृत्य कर डालना, क्रोध का व्यतिरेक, बिछुड़ों से मिलन का प्रेमावेश, कीर्तन आदि के समय भाव विह्वलता, अश्रुपात, चीत्कार, आर्तनाद, करुण-क्रन्दन, हूक आदि में आंशिक समाधि होती है । संकल्प में, भावना में आवेश की जितनी अधिक मात्रा होगी, उतनी ही गहरी समाधि होगी और उसका फल भी सुख या दुख के रूप में उतना ही अधिक होगा । भय का व्यतिरेक या आवेश होने पर डर के मारे भावना मात्र से लोगों की मृत्यु तक होती देखी गई है । कई व्यक्ति फाँसी पर चढ़ने से पूर्व ही डर के मारे प्राण त्याग देते हैं ।

आवेश की दशा में अन्तरंग शक्तियों और वृत्तियों का एकीकरण हो जाने से एक प्रचण्ड भावोद्वेग होता है । यह उद्वेग भिन्न-भिन्न दशाओं में मूर्छा, उन्माद, आवेश आदि नामों से पुकारा जाता है । पर जब वह दिव्य भूमिका में आत्म तन्मयता के साथ होता है, तो उसे समाधि कहते हैं । पूर्ण समाधि में पूर्ण तन्मयता के कारण पूर्णानन्द का अनुभव होता है । आरम्भ स्वप्न मात्रा की आंशिक समाधि के साथ होता है । दैवी भावनाओं में एकाग्रता एवं तन्मयतापूर्ण भावावेश जब होता है, तो आँखें-झपक जाती हैं, सुस्ती, तन्द्रा या मूर्छा भी आने लगती है, माला हाथ से छूट जाती है, जप करते-करते जिह्वा रुक जाती है । अपने इष्ट की हल्की-सी झाँकी होती है और एक ऐसे आनन्द की क्षणिक अनुभूति होती है जैसा कि संसार के किसी पदार्थ में नहीं मिलती । यह स्थिति आरंभ में स्वल्प मात्रा में ही होती है पर धीरे-धीरे उसका विकास होकर परिपूर्ण तुरीयावस्था की ओर चलने लगती है और अन्त में सिद्धि मिल जाती है ।

आनन्दमय कोश के चार अंग प्रधान हैं- १-नाद, २- बिन्दु , ३- कला और ४- तुरीया । इन साधनों द्वारा साधक अपनी पंचम भूमिका को उत्तीर्ण कर लेता है । गायत्री के इस पाँचवें मुख को खोल देने वाला साधक जब एक एक करके पाँच मुखों से माता का आशीर्वाद प्राप्त कर लेता है, तो उसे और प्राप्त करना कुछ शेष नहीं रह जाता ।

पञ्चकोशी साधना का ज्ञातव्य

पिछले पृष्ठों पर पञ्चकोशी साधना के अन्तर्गत योग विद्या की वे साधनायें बताई गई हैं , जो सर्व साधारण के लिए सरल एवं उपयोगी हैं । यह प्रकट है कि आध्यात्मिक महातत्त्व गायत्री ही है । जितना भी ज्ञान, विज्ञान और योग है वह सब गायत्री से आविर्भूत होता है । इसलिए ऐसी कोई साधना हो नहीं सकती, जो गायत्री की महापरिधि से बाहर हो । सम्पूर्ण योग शास्त्र निश्चित रूप से गायत्री के अन्तर्गत है ।

योग साधनायें अनेक हैं । ये सब एक ही महातत्त्व की प्राप्ति के लिये हैं गायत्री का नाम ही 'मुक्ति' है और उसी को सिद्धि कहते हैं । जैसे किसी नगर में पहुँचने के लिए अनेक दिशाओं के अनेक रास्ते होते हैं, उसी प्रकार प्रभु प्राप्ति के लिये अनेक योग हैं । प्रत्येक मार्ग में अलग-अलग प्रकार के दृश्य, पदार्थ और मनुष्य मिलते हैं । इनको ध्यान में रखते हुए लोग निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने का मार्ग निर्धारित करते हैं । इसी प्रकार प्रत्येक योग साधना की यह विशेषता है कि उसके मार्ग में अपने-अपने ढंग के अनोखे-अनोखे अनुभव होते हैं, भिन्न-भिन्न सिद्धियाँ एवं अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं । अन्त में पहुँचते सब एक ही स्थान पर हैं ।

योग साधनायें अनेक प्रकार की इसलिये हैं कि मनोभूमि, स्थिति, शक्ति, सुविधा, रुचि, देश, काल, पात्र के

भेद से भिन्न-भिन्न परिस्थिति के लोग उन्हें अपना सकें । युग परिवर्तन के अनुसार तत्त्वों की स्थिति में अन्तर आता रहता है । पूर्वकाल में जलवायु में जो गुण था, वह अब नहीं है । जो अब है वह आगे न रहेगा । सृष्टि धीरे-धीरे बूढ़ी होती जाती है । बालक में जितनी स्फूर्ति, कोमलता, चञ्चलता, उमंग और सुन्दरता होती है वह बूढ़े में नहीं रहती । जवान आदमी जितना बोझ उठा सकता है, उतना वृद्ध पुरुष के लिए सम्भव नहीं ।

सतयुग सृष्टि का बालकपन है, त्रेता जवानी, द्वापर अधेड़ अवस्था है, तो कलयुग बुढ़ापा । पंचतत्त्वों की यही स्थिति होती है । जब बुढ़ापा अधिक आ जाता है तो सृष्टि मर जाती है, प्रलय हो जाती है । फिर उसका नया जन्म होता है । सतयुग के बालक पञ्चतत्त्वों में प्राणियों के शरीर भी वैसे ही थे, खाद्य पदार्थ तथा जलवायु में भी वैसी ही विशेषता थी । मानसिक चेतना, इन्द्रिय लालसा, आहर-विहार, आयु एवं शरीर के ढाँचा की गर्मी तथा वायु के भी युग प्रभाव से बहुत कुछ सम्बन्धित रहता है ।

भूगर्भ विज्ञान के अन्वेषकों ने कुछ हजार वर्ष पुराने ऐसे जीव-जन्तुओं के प्रमाण पाये हैं, जो वर्तमान जीवों की अपेक्षा कहीं भिन्न आकृति के और कहीं अधिक बड़े थे । ऐसे मनुष्यों के अस्थि-पंजर मिले हैं, जो दस फीट लम्बे थे । महागज, महामकर और महाशूकर अपने वर्तमान वंशजों की अपेक्षा पाँच गुने से लेकर सैंतीस गुने तक बड़े थे, ऐसे प्रमाण मिल चुके हैं । जिस प्रकार सूर्यकाल में अग्नि-तत्त्व प्रधान शरीर वाले प्राणी रहते हैं, उसी प्रकार सतयुग में आकाश तत्त्व की प्रधानता इस पृथ्वी पर होने से उस समय उसी तत्त्व की प्रधानता वाले प्राणी इस पृथ्वी पर थे । उनके लिए आकाश में बिना पंखों के भी उड़ना सरल था । हनुमान् ने बिना पंखों के छलांग मारकर समुद्र को पार किया था । त्रेता में ऐसा करना कुछ लोगों के लिए ही सम्भव रह गया था, इसलिए हनुमान् जी को विशेष महत्त्व मिला, सतयुग में यह बिलकुल साधारण बात थीं ।

पूर्व युगों की स्थिति का कुछ परिचय यहाँ हमें इसलिए देना पड़ा है कि पाठक यह जान जायें कि जो योग साधनायें सतयुग के मनुष्यों के लिए अत्यंत सरल और स्वाभाविक थीं, वे अब नहीं हो सकतीं । जो सिद्धियाँ पूर्वकाल में थोड़ी-सी साधना से मिल जाती थीं, वे अब असम्भव हैं । पार्वती ने शिव को प्राप्त करने के लिए कितने लम्बे समय तक कितना कष्टसाध्य तप किया था, वैसा आज की स्थिति में किसी के लिए सम्भव नहीं है । सम्भव इसलिए नहीं है कि मनुष्य की आयु सौ वर्ष रह गई है और पृथ्वी तत्त्व प्रधान हो जाने से शरीर में जड़ता का अंश अधिक आ गया है । किसी समय में शरीर में पाप के होने न होने की परीक्षा अग्नि में तपाकर वैसे ही कर ली जाती थी , जैसे कि आजकल सोने को तपाकर कर ली जाती है । सीता जी ने हँसते-हँसते उस प्रकार की अग्नि परीक्षा दी थी और उनके शरीर को जरा भी कष्ट न हुआ था, पर आज तो परम साध्वी का शरीर भी अग्नि से जले बिना नहीं रह सकता । कलयुग में सती प्रथा का इसलिए निषेध है कि पति की चिता पर जलने से आज कोई स्त्री कष्ट पीड़ित हुए बिना नहीं रह सकती । इसलिए पूर्वकाल की सतियों की भाँति वह पति को शान्ति देना तो दूर उलटे अपने आर्तनाद से पति की आत्मा को अत्यन्त दुख और नारकीय व्यथा में डुबो देती है ।

कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि युग की स्थिति के अनुसार योग साधना का मार्ग और परिणाम बदल जाता है । इसलिए साधना क्रमों की व्यवस्था और विधि-विधान में अन्तर पड़ता जाता है । इस युग के तत्त्ववेता अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अन्वेषण करके यह निश्चय करते हैं कि आज की स्थिति में कौन- सा साधन आवश्यक है और किस प्रकृति का, किस मनोभूमि का साधक, किस साधना को ठीक प्रकार कर सकेगा ? यह निर्णय ठीक न हो, तो योग साधना से कई बार लाभ के बदले उलटी हानि होती देखी जाती है ।

ऐसी अनेक दुर्घटनायें हमने अपनी आँखों से देखी हैं । प्राण को ब्रह्माण्ड में चढ़ाकर वापस लौटाने की क्रिया से अपरिचित होने के कारण एक साधक की आधे घण्टे में मृत्यु हो गई थी । एक सज्जन कुण्डलिनी-जागरण के सिलसिले में पक्षाघात के चंगुल में फँस गये, कुण्डलिनी का कूर्म मेरु जरा-सा विचलित हुआ था कि वे 'पिंगला' में 'कृकल' प्राण को प्रवेश करने लगे फलस्वरूप वायु कुपित हो गई और लकवा से उनके हाथ पाँव जकड़े गये । गायत्री मन्त्र की साधना करते हुए प्राण कोश की 'हिंस्रा' को एक सज्जन जगा रहे थे । किसी दूसरे पर घात चलाने का उनका इरादा था, पर 'हिंस्रा' जाग्रत् न हो सकी और भूल से उनके वाम पार्श्व में रहने वाला तिर्यक् अणु फट

गया, वे मुँह और नाक से खून डालने लगे। तीन सेर (कि.ग्रा.) खून निकल जाने से उनकी मृत्यु ४० मिनट के भीतर हो गई।

हठयोग की हम अधिक चर्चा सुनते हैं, क्योंकि वह निकट भूत में कलियुग के प्रारम्भ में काफी क्रियाशील था। नागार्जुन हठयोग को पूर्ण सिद्ध कर चुके थे। नाथ सम्प्रदाय के आचार्य गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ पूर्ण हठयोगी थे। बौद्धकाल में महायान, वज्रयान आदि का प्रचलन था, पर अब हठयोग का समय भी बीत चुका है। स्वस्थ हठयोगी जहाँ-तहाँ ही एकाध दीख पड़ता है। षट्-कर्म, नेति, धोति, वस्ति, न्योली, बज्रोली, कपालभाति करते हुए कितने ही साधक हमने उदर रोगों से ग्रस्त देखे हैं। नासिका से होकर सूत की डोरी चढ़ाते हुए एक सज्जन अपने नेत्र खो बैठे। मुँह में कपड़े की पट्टी पेट में पहुँचाने की क्रिया आरम्भ करते हुए एक सज्जन संग्रहणी में ग्रस्त हुए और फिर उस रोग से उन्हें छुटकरा न मिला। बज्रोली क्रिया करने वाले अक्सर बहुमूत्र और गुर्दे की सूजन से ग्रसित हो जाते हैं।

कारण यह है कि साधक की स्थिति का भली प्रकार निरीक्षण किये बिना यदि उसकी प्रकृति से विपरीत साधन बता दिया जाए, तो इससे उसका अहित ही हो सकता है। कई साधक ऐसे दुस्साहसी, अहंकारी और जल्दबाज होते हैं कि बिना उपयुक्त पथ-प्रदर्शक की सलाह लिये अपनी मर्जी से, कहीं पढ़- सुनकर मनमानी साधना करने लगते हैं, मनमाने लाभों की कल्पना कर लेते हैं, मनमानी विधि व्यवस्था रख लेते हैं। इससे उन्हें लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होती है। इन्हीं कारणों से योग-मार्ग में गुरु का होना आवश्यक माना गया।

इस पुस्तक में पंच-कोशों की साधना की चर्चा करते हुए गायत्री योग का उल्लेख किया है। उनमें किन्हीं योग क्रियाओं की बिलकुल चर्चा नहीं की गई है। यद्यपि वे भी इन्हीं पाँचों के अन्तर्गत है, कारण यह है कि जो साधनायें द्वापर, त्रेता, सतयुग आदि पूर्व युगों के उपयुक्त थीं, जिन्हें आकाश, अग्नि, वायु एवं जल प्रधान शरीरों वाले साधक ही आसानी से कर सकते थे, उनकी चर्चा इस सर्वसाधारण के लिए लिखी गई पुस्तक में अनावश्यक ही नहीं अनुचित भी होती, क्योंकि सम्भव है कोई व्यक्ति उस आधार पर साधना करने लगते तो उससे उन्हें लाभ तो कुछ नहीं होता, उलटे समय का अपव्यय, निराशा, अश्रद्धा, अरुचि एवं कोई हानि हो जाने का भय और बना रहता। इसलिए उन्हीं साधनाओं की चर्चा की गई है जो आज की स्थिति में भी उपयुक्त हो सकती हैं।

जिन साधनाओं का वर्णन किया गया है उनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ये संक्षिप्त रूप से लिखी गई हैं और उनका पूरा विधि-विधान, समस्त नियमोपनियम नहीं बताये गये हैं। इसका कारण यह है कि एक प्रकार के योग की ही सबके लिए एक विधि-व्यवस्था नहीं हो सकती। नाद योग को सब लोग एक विधि से नहीं साध सकते। उष्ण प्रकृति वालों को अस्थिर, चञ्चल, अनेक ध्वनियों का मिला हुआ नाद सुनाई देता है, ऐसे साधक को वे उपाय बताये जाते हैं, जिससे उनकी उष्णता शान्त हो और दिव्य ध्वनियाँ ठीक सुनाई देने लगें। इसके विपरीत जिनकी प्रकृति शीत प्रधान है, उनको अनाहत नाद बहुत मन्द रुक-रुककर देर में सुनाई पड़ते हैं, उसकी दिव्य कर्णेन्द्रियों को उष्णता प्रधान साधनों से उत्तेजित करके इस योग्य बनाना पड़ता है, जिससे नाद भली प्रकार खुल जाए। जैसे शीत और उष्ण प्रकृति के दो भेद ऊपर बताये हैं, वैसे और भी अनेक भेद उपभेद हैं, जिनके कारण एक ही साधना के लिए अनेक प्रकार के नियम-उपनियम बनाने पड़ते हैं। ऐसी दशा में यह सम्भव नहीं कि समस्त प्रकार की प्रकृति वाले मनुष्यों की परिस्थिति भेद के कारण किये जाने वाले समस्त विधानों का एक पुस्तक में उल्लेख हो सके।

चिकित्सा-शास्त्र में निदान, निघण्टु तथा औषधि निर्माण का विस्तृत उल्लेख मिलता है। परन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ अब तक नहीं छपा जिसमें समस्त रोगों के रोगियों का समस्त परिस्थितियों के अनुसार समस्त चिकित्सा विधियों का वर्णन मिलता हो। यही बात योग साधना के सम्बन्ध में भी लागू होती है। यदि किसी एक छोटी साधना के सम्बन्ध में भी साधक भेद से उसके अन्तरों को लिखा जाए, तो एक भारी ग्रन्थ बन सकता है फिर भी

वह ग्रन्थ अपूर्ण रहेगा । ऐसी स्थिति में गायत्री की पञ्चमुखी साधना के अन्तर्गत जो साधनायें इस पुस्तक में लिखी गई हैं, वे मोटे तौर पर भली प्रकार समझाकर ही लिखी गई हैं; फिर भी उनमें अपूर्णता का दोष तो रहेगा ही ।

यह आवश्यक नहीं कि पञ्च कोशों के अन्तर्गत आने वाली सभी साधनायें करने पर जीवनोद्देश्य प्राप्त हो । जिस साधक की जिस कोश में वर्तमान स्थिति है, वह उसी कोश की सीमा में बताई गई साधना करके अपने बन्धन खोल सकता है । इस पुस्तक में चौबीस से अधिक साधनायें बताई गई हैं । इसके अतिरिक्त अनेक और साधनाएँ हैं, छोटे से जीवन में उन सबका साधन मनुष्य नहीं कर सकता, करना आवश्यक भी नहीं है ।

आयुर्वेद में हजारों औषधियों का वर्णन है । वे सभी रोगों को दूर करके स्वस्थ होने के एक ही उद्देश्य के लिए बताई गई हैं, फिर भी कोई ऐसा नहीं करता कि जितनी भी औषधियों का वर्णन है, उन सबका सेवन करे । बुद्धिमान् लोग देखते हैं कि रोगी को क्या बीमारी है, उसकी आयु, स्थिति एवं प्रकृति क्या है ? तब यह निर्णय किया जाता है कि कौन औषधि किस अनुपान में दी जाए ? कई बार थोड़ी-थोड़ी करके कई औषधियों का मिश्रण करके देना होता है । साधना के सम्बन्धं में भी यही बात है । अपनी मनोभूमि के अनुसार साधना का चुनाव आवश्यक है । जो लोग सबको एक ही लकड़ी से हाँकते हैं, सब धान बाईस पसेरी तोलते हैं, वे भारी भूल करते हैं ।

रोगी अपने आप अपने लिए औषधि का निर्णय नहीं कर सकता । कोई वैद्य या डाक्टर बीमार पड़ता है, तो वह भी किसी कुशल चिकित्सक से ही अपना इलाज कराता है । कारण यह है कि अपने आप को समझना सबके लिए बड़ा कठिन है । अक्सर लोग दूसरों की बुराई किया करते हैं, पर अपनी गलतियाँ उनको नहीं सूझतीं । दूसरों की आँख हमें दिखाई पड़ती है, पर अपनी आँख को आप नहीं देख सकते । अपनी आँख की बात जाननी हो, तो किसी दूसरे से पूछना पड़ेगा या दर्पण की मदद लेनी पड़ेगी । यही बात अपनी मनोभूमि को परखने और उसके उपयुक्त उपचार ढूँढ़ने के बारे में भी है । इसमें किसी दूसरे अनुभवी मनुष्य की सहायता आवश्यक है । इस आवश्यक सहायता का सुव्यवस्था का नाम 'गुरु का वरण' है । अच्छा पथ-प्रदर्शक मिल जाना आधी सफलता मिल जाने के बराबर है ।

इन साधनाओं का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है । स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध की स्थिति भेद से साधना विधियों में अन्तर होता है; परन्तु ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि गायत्री साधना से अमुक वर्ग को वञ्चित रखा जाए । माता के सभी पुत्र हैं । उसे अपने सभी बालकों पर समान ममता है, सभी को वह भरपूर दुलार करती है और सभी को अपना पय-पान कराना चाहती है । कोई माता ऐसा नहीं करती कि अपने पुत्र को तो पय-पान कराये और कन्या जन्मे तो उसे दुत्कार दें । ऐसा दुर्व्यवहार न मनुष्यों में होता है और न पक्षियों में, फिर परम दिव्य सत्ता ऐसा पक्षपात भेदभाव करेगी, इसकी कल्पना भी नहीं की जानी चाहिए । पूर्वकाल में अनेक ब्रह्मवादिनी, परमयोगिनी महिलायें हुई हैं । वेदान्त कार्य में सदैव पुरुषों की वामांग बनकर समान रूप से भाग लेती रही हैं । माता के सभी पुत्र बिना किसी भेदभाव के उसकी उपासना कर सकते हैं और प्रसन्नतापूर्वक उसका स्नेह एवं आशीर्वाद प्राप्त कर सकते हैं ।

आधुनिक परिस्थितियों में से जो साधनायें सध सकें, उन्हें ही अपनाना उचित है । अब पूर्वकाल के सतयुग आदि युगों की सी स्थिति नहीं है, इसलिए वैसे योग साधन भी नहीं हो सकते और उन साधनाओं के फलस्वरूप वैसी सिद्धियाँ भी नहीं मिल सकतीं, जैसी कि उन युगों में प्राप्त थीं । अणिमा, लघिमा, महिमा आदि जिन सिद्धियों का योग ग्रन्थों में वर्णन है वे पूर्व युगों की ही हैं । शरीर को अत्यंत छोटा कर लेना, अत्यंत बड़ा बना लेना, अदृश्य हो जाना, शरीर बदल लेना, आकाश में उड़ना, पानी पर चलना जैसी शरीर सम्बन्धी सिद्धियाँ आकाश तत्त्व प्रधान शरीर और युग अर्थात् दूसरे युगों में ही होती थीं ।

त्रेता में बिना यन्त्रों के आत्मिक शक्ति से वे सब काम होते थे, जो आज वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा होते हैं । विमान, रेडियो, विद्युत्, दूरदर्शन, दूर-श्रवण, अत्यन्त भारी चीजों का उठाना जैसे कामों के लिए आज तो वैज्ञानिक यन्त्रों

की आवश्यकता होती है , पर त्रेता में यह सब कार्य मन्त्रबल से, प्राणशक्ति से हो जाते थे । रावण, कुम्भकरण, मेघनाद, हनुमान्, नल, नील आदि के चरित्र पढ़ने से पता चलता है कि वे प्रकृति की उन विज्ञानभूत सूक्ष्म शक्तियों से मनमाना काम लेते थे, जितना आज बहुमूल्य यन्त्रों द्वारा बहुत थोड़ा उपयोग सम्भव हो सकता है ।

महाभारत में दिव्य अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन मिलता है । शब्द भेदी वाण, अग्नि-अस्त्र, वरुण-अस्त्र, वायु-अस्त्र, सम्मोहन- अस्त्र, चक्र-सुदर्शन आदि का प्रयोग उस युद्ध में हुआ था । उस काल में मनुष्यों और पशु-पक्षियों में विचारों का आदान-प्रदान सम्भव रहा । पशु-पक्षी और मनुष्यों की वाणी में उच्चारण का अन्तर था, पर दोनों के शरीर में अग्नि तत्त्व तथा जल तत्त्व की सूक्ष्मता पर्याप्त मात्रा में रहने से एक दूसरे से अपने विचारों का भली-भाँति आदान-प्रदान कर लेते थे । त्रेता तथा द्वापर की ऐसी अनेक कथायें उपलब्ध हैं, जिनमें मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों के सम्भाषण के विस्तृत उल्लेख हैं ।

इस युग में प्रकृति का अन्तराल पहले की भाँति सूक्ष्म नहीं रहा है, सृष्टि का बालकपन समाप्त हो गया और वृद्धावस्था आ रही है । इन दिनों जल तत्त्व और पृथ्वी तत्त्व की मिश्रित सन्धि चल रही है । जल- तत्त्व घटता जा रहा है और पृथ्वी- तत्त्व बढ़ता जा रहा है । जल- तत्त्व का गुण मन है । ऊँचे उठे हुए आध्यात्मिक महापुरुषों में आज मनोबल विकसित पाया जाता है । उनमें विचार-शक्ति, इच्छा-शक्ति और प्रेरणा-शक्ति अब भी पर्याप्त है । इस मनोबल द्वारा वे अपना तथा दूसरों का बहुत कुछ हित साधन कर सकते हैं । इस युग में बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, गाँधी, कार्लमार्क्स आदि महापुरुषों ने अपनी प्रचण्ड प्रेरणा-शक्ति से संसार को बहुत हद तक प्रभावित किया है ।

मेस्मरेजम मनोबल का ही एक खेल है । दूसरों को अपने विचार देना, उसके विचार जानना या किसी के विचार परिवर्तन करना यह मनोबल की सिद्धियाँ हैं और भी कितनी ही छोटी-मोटी सिद्धियाँ इन दिनों हो सकती हैं, जिनका इस पुस्तक में यत्र-तत्र वर्णन किया गया है । कई सिद्ध पुरुष कभी-कभी ऐसे भी मिल जाते हैं, जिन्हें पूर्व युगों की भाँति सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, पर अब उनकी संख्या नहीं के बराबर है । जल- तत्त्व घट रहा है इसलिए आध्यात्मिक पुरुष प्रयत्न करके मनोबल ही सम्पादित कर पाते हैं । धीरे-धीरे यह भी कम होता जायेगा और जब पृथ्वी- तत्त्व की जड़ता व्यापक हो जायेगी, तो केवल शरीर बल ही लोगों की विशेषता रह जायेगी । आगे चलकर जो शारीरिक दृष्टि से शक्तिशाली होगा, उसे ही तत्कालीन सिद्ध पुरुष माना जायेगा ।

कई व्यक्ति योग साधना द्वारा ऐसे चमत्कार प्राप्त करने की फिराक में रहते हैं कि लोगों को आश्चर्य में डालकर उन पर अपनी महत्ता की छाप जमा सके । इसी उधेड़ बुन में वे इधर-उधर फिरते हैं और धूर्तों के चंगुल में पड़कर अपना बहुत-सा समय और धन बर्बाद करते हैं । हमने स्वयं चमत्कारी सिद्धि की खोज में अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग लगाया है । एक दो अज्ञात रहने वाले महापुरुषों के अतिरिक्त हमें सभी चमत्कारी लोगों में धूर्तता ही मिली ।

अपने पाठकों को हमारी सलाह है कि वे चमत्कारी बनने की बालक्रीड़ा में न उलझें, क्योंकि पहले तो वर्तमान युग ही ऐसी सिद्धियों के अनुकूल नहीं है, फिर कदाचित् बहुत परिश्रम से कुछ मिले भी, तो बहुमूल्य परिश्रम की तुलना में वह अत्यन्त तुच्छ होगा । बाजीगर कैसे-कैसे खेल दिखाते हैं, सरकस वाले लोगों को हैरत में डाल देते हैं, पर इससे वे क्षणिक कौतूहल और मनोरंजन के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाते हैं ? यह सब बच्चों की सी बातें हैं । इस ओर किसी बुद्धिमान् की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

गायत्री की पंचमुखी योग साधना का वर्णन इस पुस्तक में किया गया है । इन साधनाओं से साधक की अन्त: चेतनाओं का आविष्कार होता है । मन और शरीर के विकार दूर होते हैं । इच्छा, रुचि, भावना, आकांक्षा, बुद्धि, विवेक, गुण, स्वभाव, विचारधारा, कार्यप्रणाली आदि में ऐसा भी अद्‌भुत सतोगुणी परिवर्तन होता है जिसके कारण जीवन की सभी दिशायें आनन्द से परिपूर्ण हो जाती हैं । उसे स्वास्थ्य, धन, विद्या, चतुराई एवं सहयोग की कमी नहीं रहती । इन वस्तुओं को पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध करके वे सम्मान, कीर्ति, प्रेम एवं शान्ति के साथ जीवन यापन करते हैं । इसके अतिरिक्त आन्तरिक जीवन की, आत्मकल्याण की अमूल्य सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । इनकी तुलना में सारे चमत्कार, कौतूहल आश्चर्यजनक कृत्य मिलकर तराजू के पासंग के बराबर भी महत्ता नहीं रखते ।

गायत्री के उपासक पञ्चमुखी माँ की उपासना श्रद्धापूर्वक करें, तो उन्हें आशाजनक लाभ होते हैं। चमत्कारी बाबा वे भले ही न कहलावें, पर गृहस्थ रहकर भी वे अपने आप में ऐसा परिवर्तन पा सकते हैं, जो अनेक चमत्कारों की तुलना में उनके लिए अधिक मंगलमय होगा।

"सद्बुद्धि" मानव जीवन की सबसे बड़ी सम्पदा है। जिसके पास यह सम्पदा होगी, उसे कभी किसी वस्तु की कमी न रहेगी। वस्तुओं का अभाव और परिस्थितियों की कठिनाई उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगी जिसके पास कि सद्बुद्धि है। गायत्री सद्बुद्धि का महामन्त्र है। इस मन्त्र द्वारा साधक को उस दिव्य शक्ति की प्राप्ति होती है, जो संसार के समस्त सौभाग्यों की जननी है।

पञ्चमुखी साधना का उद्देश्य

मोटी दृष्टि से देखने पर एक शरीर के अन्दर एक जीव मालूम पड़ता है; परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि एक ही आवरण में पाँच चैतन्य सत्तायें मौजूद हैं। देखा जाता है कि मनुष्य में अनेक परस्पर विरोधी तत्त्व विद्यमान रहते हैं। जब जो तत्त्व प्रबल होता है, तो उसके आधार पर वह अपनी दृष्टि के अनुसार पूर्ण तत्परता से काम करता है।

देखा गया है कि एक मनुष्य बड़ा लोभी है, खाने और पहनने में बड़ी कंजूसी करता है, पैसे को दाँतों से दबाकर पकड़ता है, परन्तु वही व्यक्ति अपने लड़के-लड़कियों की विवाह शादी का अवसर आने पर इतनी फिजूल-खर्ची करता है कि धन को होली की तरह फूँक देता है। यह परस्पर विरोधी बातें एक ही व्यक्ति में समय-समय पर प्रकट होती हैं।

एक समय में एक व्यक्ति बड़ा श्रद्धालु होता है, दूसरे के साथ बड़ी उदारता एवं सज्जनता का व्यवहार करता है, परन्तु दूसरे समय में किसी के प्रति ऐसा अनुदार एवं दुर्जन बन जाता है कि इन दो प्रकार की भिन्नताओं में संगति बिठाना कठिन हो जाता है। एक ही व्यक्ति बहुत संयमी एवं सदाचारी होता है, पर कभी-कभी उसी का वह व्यक्तित्व प्रबल हो जाता है जिसके कारण वह दुराचार में लिप्त हो जाता है। इसी प्रकार आस्तिकता-नास्तिकता, सुधारकता-रूढ़िवादिता, दयालुता—निष्ठुरता, सदाचार-दुराचार, सत्य-असत्य, लोभ-त्याग, मूर्खता-बुद्धिमत्ता, निष्कपटता-वञ्चकता के परस्पर विरोधी रूप समय-समय पर मनुष्यों में प्रकट होते रहते हैं।

इन विसंगतियों को देखकर अक्सर ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि अमुक व्यक्ति वास्तव में एक प्रकार का है, दूसरा रूप तो उसने धोखा देने के लिए बनाया है। प्रायः बुराई के आधार पर मनुष्य का वास्तविक रूप माना जाता है और उसमें जो अच्छाई थी, उसे ढोंग कह दिया जाता है। कोई व्यक्ति दानी भी है तो भी आमतौर पर उसे सब लोग चोर मानेंगे और ख्याल करेंगे कि दान का ढोंग करके उसने दूसरों को भ्रम में डालने के लिए रचा है, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं। कोई व्यक्ति केवल मात्र आडम्बर के लिए अपना समय, श्रम, धन आदि अधिक मात्रा में खर्च नहीं कर सकता। जब किसी दिशा में विशेष तत्परता एवं श्रद्धा होती है, तभी उसके लिए अधिक त्याग एवं श्रम किया जाना सम्भव है।

बात यह है कि एक ही शरीर में कई शक्तियों का निवास होता है। एक घोंसले में कई बच्चे साथ रहते हैं, परन्तु बाहर से घोंसला एक ही दिखाई पड़ता है। गूलर के फल के भीतर भुनगे उड़ते रहते हैं, पर बाहर से उनकी प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार इस देह के अन्दर कई प्रकृतियों, स्वभावों और रुचियों के अलग-अलग व्यक्तित्व रहते हैं। एक ही घर में रहने वाले कई व्यक्तियों की प्रकृति, रुचि और कार्य प्रणालियाँ अलग-अलग होती हैं, इसी तरह मनुष्य की अन्तरंग प्रवृत्तियाँ भी अनेक दिशाओं में चलती हैं।

सिर एक है, पर उसमें नाक, कान, आँख, मुख, त्वचा की पाँच इन्द्रियाँ अपना काम करती हैं। हाथ एक है पर उसमें पाँच उँगलियाँ लगी रहती हैं, पाँचों का काम अलग-अलग है। वीणा एक है पर उसमें कई तार होते हैं। इन तारों की सन्तुलित झंकार से ही कई स्वर लहरी बजती हैं। हाथ की पाँचों उँगलियों के सम्मिलित प्रयत्न से ही कोई काम पूरा हो सकता है। सिर में यदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जुड़ी न हों, तो मस्तक का कोई मूल्य न रह जाए,

तब खोपड़ी भी कूल्हों की तरह एक साधारण अंगमात्र रह जायेगी । विसंगतियों का एकीकरण ही जीवन है, इन भिन्नताओं के कारण ही जीवन में चेतना, क्रियाशीलता, विचारशीलता, मन्थन और प्रगति का संचार होता है ।

सूक्ष्मदर्शी ऋषियों ने अपने योग बल से जाना कि मनुष्य के शरीर में पाँच प्रकार के व्यक्तित्व, पाँच चेतना, पाँच तत्त्व विद्यमान हैं । इन्हें पाँच कोश कहते हैं । शरीर पाँच तत्त्वों का बना है । इन तत्त्वों की सूक्ष्म चेतना ही पञ्चकोश कहलाती है । यह पाँचों पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक ही मूल केन्द्र में जुड़े हुए हैं । गायत्री के पाँचों मुखों का अलंकार इसी आधार पर है । मानव प्राणी की पाँच प्रकृतियाँ हैं, यही गायत्री के पाँच मुख हैं । यह पाँचों मुख एक ही गर्दन पर जुड़े हुए हैं । इसका तात्पर्य यह है कि पाँचों कोश एक ही आत्मा से सम्बन्धित हैं ।

महाभारत के आध्यात्मिक गूढ़ रहस्य के अनुसार पाँच पाण्डव शरीरस्थ पाँच कोश ही हैं । पाँचों की एक ही स्त्री द्रोपदी है । पाँच कोशों की केन्द्र शक्ति एक आत्मा है । पाँचों पाण्डवों की अलग-अलग प्रकृति है, पाँचों कोशों की प्रवृत्ति अलग-अलग है । इस पृथकता को जब एकरूपता में सन्तुलित समस्वरता में ढाल दिया जाता है तो उनकी शक्ति अजेय हो जाती है । पाँचों पाण्डवों की एक पत्नी, एक निष्ठा, एक श्रद्धा, एक आकांक्षा हो जाती है तो उनका रथ हाँकने के लिए स्वयं भगवान् को आना पड़ता है और अन्त में उन्हें ही विजयश्री मिलती है ।

पाँच कोशों को मनुष्य की पञ्चधा प्रकृति कहते हैं ।१- शरीराभ्यास, २- गुण, ३- विचार, ४- अनुभव, ५- सत् । इन पाँच चेतनाओं को ही अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश कहा जाता है । यही गायत्री के पाँच मुख हैं ।

साधारणतया इन पाँचों में एकस्वरता नहीं होती । कोई किधर को चलता है, कोई किधर को । स्वास्थ्य, योग्यता, बुद्धि, रुचि और लक्ष्य में एकता न होने के कारण मनुष्य ऐसे विलक्षण कार्य करता रहता है, जो किसी एक दिशा में उसे नहीं चलने देते । किसी रथ में पाँच घोड़े जुते हों, वे पाँच अपनी इच्छानुसार अपनी इच्छित दिशा में रथ को खींचे, तो उस रथ की बड़ी दुर्दशा होगी । कभी वह एक फर्लांग पूर्व को चलेगा, तो कभी एक मील उत्तर को खींचेगा । कोई घोड़ा पश्चिम को घसीटेगा तो कोई दक्षिण को खींचेगा । इस प्रकार रथ किसी निश्चित लक्ष्य पर न पहुँच सकेगा, घोड़ों की शक्तियाँ आपस में एक दूसरे के प्रयत्न को रोकने में खर्च होती रहेंगी और इस खींचातानी में रथ बेतरह टूटता रहेगा ।

यदि घोड़े एक निर्धारित दिशा में चलते, सबकी शक्ति मिलकर एक शक्ति बनती तो बड़ी तेजी से, बड़ी आसानी से वह रथ निर्दिष्ट स्थान तक पहुँच जाता । वीणा के तार बिखरे हुए हों, तो उनको बजाने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, पर यदि वे एक स्वर-केन्द्र पर मिला लिये जाएँ और निर्धारित लहरी में उन्हें बजाया जाए तो हृदय को प्रफुल्लित करने वाला मधुर संगीत निकलेगा । जीवन में परस्पर विरोधी इच्छायें, आकांक्षायें, मान्यतायें इस प्रकार क्रियाशील रहती हैं, जिससे प्रतीत होता है कि एक ही देह में पाँच आदमी बैठे हैं और पाँचों अपनी-अपनी मर्जी चला रहे हैं । जब जिसकी बन आती है तब वह अपनी ढपली पर अपना राग बजाता है ।

अध्यात्म विद्या के ज्ञाताओं ने इस पृथकता को, विसंगति को एक स्थान पर केन्द्रित करने, एक सूत्र से संबंधित करने के लिए पञ्चकोशों का, पञ्चमुखी गायत्री साधना का संविधान प्रस्तुत किया है । गायत्री के चित्र में पाँच मुख दिये गये हैं । इन पाँचों की दिशाएँ, आकृतियाँ, चेष्टाएँ देखने में अलग मालूम पड़ती हैं; परन्तु वह एक ही मूल केन्द्र से सम्बद्ध होने के कारण एकस्वरता धारण किये हुए है । यही आदर्श गायत्री-साधक का होना चाहिए । उसकी दिनचर्या, श्रमशीलता, योग्यता, विचारधारा, अभिरुचि एवं आकांक्षा एक ही निर्धारित लक्ष्य से संलग्न रहनी चाहिए । पाण्डव पाँच होते हुए भी एक थे । एक ही "पाण्डव" शब्द कह देने से युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव पाँचों का बोध हो जाता है । ऐसी ही एकता हमारे भीतरी भाग में रहनी चाहिए ।

डाक्टर जानते हैं कि रक्त में विजातीय पदार्थों का प्रवेश हो जाए तो अनेक रोग घेर लेते हैं । ओझा लोग जानते हैं कि देह में भूत घुस जाए, एक शरीर में दो सत्तायें प्रवेश कर जाएँ तो मनुष्य रोगी या उन्मादग्रस्त हो जाता है । घर में विरोधी स्वभाव की बहुएँ आ जाएँ, तो परिवार में भारी क्लेश और कलह उत्पन्न हो जाता है । जब तक परस्पर विरोधी तत्त्व मनोभूमि में काम करते रहेंगे, उनकी दिशायें पृथक्-पृथक् रहेंगी, तब तक कोई व्यक्ति

चैन से नहीं बैठ सकतो, उसके अन्तःस्थल में घोर अशान्ति घुसी रहेगी । आमतौर से लोग इसी अशांति में ग्रसित रहते हैं और पर्याप्त साधन सम्पन्न होते हुए भी मनुष्य जन्म जैसे अमूल्य सौभाग्य से कुछ लाभ नहीं उठा पाते । आन्तरिक विरोधों से उत्पन्न हुई गुत्थियाँ भी उनके लिए एक समस्या बन जाती हैं और मृत्यु समय तक सुलझ नहीं पातीं ।

गायत्री की पञ्चमुखी साधना का उद्देश्य आन्तरिक विरोधों को मिटाकर उनमें समस्वरता की स्थापना करना है । अन्तः में सत्-असत् की रस्साकशी होती है, देवासुर संग्राम, राम-रावण युद्ध, महाभारत होता रहता है । यह कलह तभी शान्त हो सकता है जब एक पक्ष अशक्त हो जाय । असुर का, असत् का पक्ष ग्रहण करके यदि सत् को पूर्णतया कुचलने का प्रयत्न किया जाय तो वह सम्भव भी नहीं; क्योंकि असुरता स्वयं एक विपत्ति होने के कारण अपने आप अनेक संकट उत्पन्न कर लेती है । दूसरे सत् की स्थिति आत्मा में इतनी सुदृढ़ है कि उसे पूर्णतया कुचलना सम्भव नहीं है । इसलिए आन्तरिक संघर्षों की समाप्ति का एक ही उपाय है- सत् का समर्थन एवं पोषण करके उसे इतना प्रबल कर लिया जाय कि असत् को उससे संघर्ष का साहस ही न हो । लड़ाकू बकरा जब अपने सामने सिंह को खड़ा देखेगा, तो उसे लड़ने की हिम्मत न होगी । आसुरी तत्त्व तभी तक प्रबल रहते हैं, जब तक कि दैवी तत्त्व कमजोर होते हैं । जब साधना द्वारा सतोगुण को पर्याप्त मात्रा में बढ़ा लिया जाता है, तो फिर असुरता अपने हथियार डाल देती है और शान्ति का शासन स्थापित हो जाता है ।

पञ्चकोशों की जो साधनायें पीछे बताई गई हैं । वे मनुष्य की पाँच महाशक्तियों को विनाशकारी मार्ग पर जाने से रोकती हैं, उन्हें नियन्त्रण में लाकर उपयोगी दिशा में लगाती हैं । सरकस वाले खूँखार शेर-चीतों को जंगल में से पकड़ लाते हैं और उन्हें इस प्रकार साधते हैं कि वे जानवर किसी प्रकार का नुकसान पहुँचाना तो दूर, उलटे उन साधने वालों को प्रचुर धन तथा यश मिलने के माध्यम बन जाते हैं । पाँच- कोश पाँच शेर हैं । इन्हें साधने के लिए सरकस वालों की तरह गायत्री साधकों को भी अटूट साहस, अविचल धैर्य एवं सतत प्रयत्नशीलता को अपनाना होता है । इस साधना का आरंभ काफी कठिनाइयों और निराशाओं से भरा हुआ होता है, परन्तु धीरे-धीरे सफलता मिलने लगती है और गायत्री साधक जब इन पाँच महा सिंहों को, पञ्चकोशों को वश में कर लेता है, तो उसे अनन्त ऐश्वर्य एवं अक्षय कीर्ति का लाभ होता है । सरकस के शेरों की अपेक्षा इन आत्मिक सिंहों की महत्ता अनेक गुनी है, इसलिए उनके सध जाने पर सरकस वालों की अपेक्षा लाभ भी असंख्य गुने हैं । कायर इस साधना की कल्पना मात्र से डर जाते हैं, पर वीरों के लिए आपत्तियों से भरा हुआ परम पुरुषार्थ ही आनन्ददायक होता है ।

कोशों के असंतुलित, अविकसित, अनियंत्रित रहने से मानव-अन्तःकरण की विषम स्थिति रहती है । उसमें परस्पर विरोधी विचारधारायें, भावनायें और रुचियाँ उभरती और दबती रहती हैं । गायत्री साधना से इनमें एकता उत्पन्न होती है और अन्तर् के समस्त संकल्प-विकल्पों की उधेड़बुन समाप्त होकर एक सुव्यवस्थित गतिशीलता का आविर्भाव होता है । यह व्यवस्थित गतिशीलता जिस दिशा में भी चलेगी उसी दिशा में आशाजनक सफलता मिलेगी ।

योग साधना का सबसे बड़ा लाभ मानसिक स्थिति का परिमार्जित हो जाना है । परिमार्जित मनोभूमि एक प्रकार का कल्पवृक्ष है जिसके कारण वह सभी वस्तुयें प्राप्त हो जाती हैं, जो मानव जीवन के लिए उपयोगी, आवश्यक, लाभदायक एवं आनन्दवर्धक हैं । पाँच व्यक्तित्वों को एक ही व्यक्तित्व से सुसंयुक्त कर देना एक ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसके द्वारा अपनी शक्ति पाँच गुनी हो जाती है । चूँकि यह केन्द्रीकरण सतोगुण के आधार पर किया जाता है, इसलिए सात्त्विक आत्मबल की प्रचण्ड अभिवृद्धि से पञ्चमुखी गायत्री साधना का साधक महामानव, महापुरुष, महा-आत्मा बन जाता है ।

कीट-पतंगों की तरह सभी जीते हैं । आहार, निद्रा, भय, मैथुन की तुच्छ क्रियाओं में संलग्न रहकर साँसें पूरी कर लेना कोई बड़ी बात नहीं है । इस रीति से तो पशु-पक्षी भी जी लेते हैं । इस दृष्टि से तो अन्य जीव, मनुष्य से कहीं अच्छे जीते हैं । उन्हें ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, छल, दम्भ, काम, क्रोध, कुढ़न, असन्तोष, शोक, वियोग, चिन्ता आदि की आन्तरिक ग्रन्थियों में तो हर घड़ी झुलसते रहना नहीं पड़ता । वे अनेक प्रकार के पापों की गठरी तो अपने

ऊपर जमा नहीं करते। मनुष्य इन सब बातों में अन्य जीव-जन्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक घाटे में रहता है। मरते-मरते अन्य जीव-जन्तु अपने मृत शरीर से दूसरों का कुछ भला कर जाते हैं, पर मनुष्य वह भी नहीं कर पाता।

मानव-जीवन की जो प्रशंसा और महत्ता है, उसकी आत्मिक विशेषताओं के कारण है। यदि यह विशेषतायें अपने स्वस्थ रूप में विकसित हों, तो मनुष्य सच्चे अर्थों में मानव-जीवन का लाभ प्राप्त कर सकता है। योग-साधना का उद्देश्य व्यक्ति का पूर्ण विकास करना है। उसके भीतर जो अद्भुत शक्तियाँ छिपी हैं, उनको योग द्वारा इतनी उन्नत दशा तक पहुँचाया जाता है कि मनुष्य में देवत्व की झाँकी होने लगे।

भारतीय जीवन की आदिकाल से यह विशेषता रही है कि उसमें उद्देश्यमय, आदर्शयुक्त, परिमार्जित जीवन को ही प्रधानता दी गई है। इस देश में उस व्यक्ति को मनुष्य माना जाता रहा है, जो उद्देश्यमय आदर्श जीवन जीता रहा है। अज्ञान, अशक्ति और अभाव से संघर्ष करने का व्रत लेने वाले ही द्विज कहे जाते हैं। जो द्विज नहीं है अर्थात् जिसने पारमार्थिक जीवन का व्रत नहीं लिया है उस स्वार्थी, लोभी, विषयी मनुष्य को शूद्र बताकर निन्दा की है और इस प्रकार से उसका अर्ध सामाजिक बहिष्कार किया गया है। आज तो व्यापक रूप से शूद्रता फैली हुई है। गुण, कर्म, स्वभाव से आज चाण्डालत्व और शूद्रता का विस्तृत प्रसार हो रहा है।

भारतीय संस्कृति की यह अद्भुत महानता है कि वह अपने हर अनुयायी को यह प्रेरणा देती है कि पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों जैसा शिश्नोदर परायण तुच्छ जीवन न जियें वरन् अपना प्रत्येक क्षण महान् आदर्शों की पूर्ति में लगाए। अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को, शरीर निर्वाह की जरूरतों को कम से कम रखें, जिससे उनको कमाने में कम से कम समय और श्रम देकर बचे हुए अवकाश, बुद्धिबल एवं उत्साह को महानता के सम्पादन में लगाया जा सके।

इस सांस्कृतिक प्रेरणा को ऋतम्भरा, प्रज्ञा एवं सद्बुद्धि नाम से पुकारा गया है। इसी को गायत्री कहते हैं। गायत्री मन्त्र में परमात्मा से सद्बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। यह सद्बुद्धि प्राचीनकाल में अधिकांश भारतवासियों को प्राप्त थी, इसी से इस भूमि को पुण्यभूमि, तपोभूमि, स्वर्गादपि गरीयसी आदि नामों से संबोधित किया जाता था और यहाँ जन्म लेने के लिए देवता भी इच्छा करते थे। जीवन मुक्त आत्मायें ललचा-ललचाकर इस देश में अवतार लेने के लिए मुक्त-धाम से वापस लौट आती थीं। ऋतम्भरा बुद्धि ने इस देश को महान् मानवों से पाट रखा था। विद्या में, बुद्धि-बल में, पराक्रम में, धन में, स्वास्थ्य में, सौन्दर्य में यह देश भरा-पूरा था। कारण कि सद्बुद्धि ने भारतवासियों की अन्त:भूमिका ऐसी परिमार्जित कर दी थी कि उससे भौतिक एवं आत्मिक शक्तियों का अक्षय भण्डार उद्भव होना स्वाभाविक ही था।

सद्बुद्धि उन सब कठिनाइयों को नष्ट करती है, जो हमारी उन्नति एवं सुख—शान्ति में रोड़ा बनती हैं, सद्बुद्धि उन सुविधाओं को बढ़ाती है, जो सुसम्पन्न बनाने के लिए आवश्यक हैं। सद्बुद्धि का एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक आधार गायत्री है। इस महामन्त्र के एक-एक अक्षर में गूढ़ ज्ञान भरा हुआ है, वह इतना उज्ज्वल है कि उसके प्रकाश में अज्ञान का अन्धकार नष्ट हो जाता है। इन २४ अक्षरों में ऐसा अद्भुत ज्ञान-भण्डार भरा हुआ है, जिसमें दर्शन, धर्म, नीति, विज्ञान, शिक्षा, शिल्प आदि सभी पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। इस ज्ञान का अवगाहन करने पर तुच्छ मानव महामानव बनता है।

गायत्री के अक्षरों में ज्ञान-भण्डार तो भरा ही हुआ है, इसके अतिरिक्त इस महामन्त्र की रचना भी ऐसे विलक्षण ढंग से हुई है कि उसका उच्चारण एवं साधना करने से शरीर और मन के सूक्ष्म केन्द्रों में छिपी हुई अत्यंत महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं, जिनके कारण दैवी वरदानों की तरह सद्बुद्धि प्राप्त होती है। सद्बुद्धि द्वारा अनेक लाभ उठाना तो सरल है, पर असद्बुद्धि वाले के लिए यही बड़ा कठिन है कि वह अपने आप अपने कुसंस्कारों को हटाकर सुसंस्कारित सद्बुद्धि का स्वामी बन जाए। इस कठिनाई का हल गायत्री महामन्त्र की उपासना द्वारा होता है। जो इस साधना को करते हैं, वे अनुभव करते हैं कि कोई अज्ञात शक्ति रहस्यमय ढंग से उनके मन:क्षेत्र में नवीन ज्ञान, नवीन प्रकाश, उत्साह आश्चर्यजनक रीति से बढ़ा रही है।

यह छोटा सा मन्त्र 'अमर फल' के नाम से प्रसिद्ध है। अमृत का फल खाने में भी मधुर होता है और उसमें

अमरता का लाभ भी होता है। गायत्री के अक्षरों में संसार का समस्त ज्ञान-विज्ञान बीज रूप में मौजूद है। इसके अतिरिक्त सद्बुद्धि को दिव्य मार्ग से अन्तःकरण में प्रतिष्ठित करने की शक्ति भी उसमें मौजूद है। सोना और सुगन्ध की लोकोक्ति गायत्री के सम्बन्ध में भली प्रकार चरितार्थ होती है। गायत्री को कामधेनु कहा गया है। कामधेनु अत्यन्त स्वादिष्ट, पौष्टिक दूध प्रचुर परिमाण में निरन्तर देती रहती है। इसके अतिरिक्त उसके आशीर्वाद से अनेक आपत्तियों से रक्षा और अनेक सम्पत्तियों की प्राप्ति भी होती है। इस दूसरे लाभ के कारण ही साधारण गौ की अपेक्षा कामधेनु की अधिक महत्ता है। गायत्री की दोनों महत्तायें भी कामधेनु की भाँति ही हैं। इसी से उसे भूलोक की कामधेनु कहते हैं।

भारतवर्ष में शिल्प, कृषि, व्यापार, विज्ञान, रसायन, शास्त्र-विद्या आदि भौतिक उन्नतियों के सम्बन्ध में सदैव महत्त्वपूर्ण प्रयत्न होते रहे हैं, आज भी उनकी आवश्यकता है। पूँजी, कुशलता, श्रम एवं सहयोग के आधार पर उनको बढ़ाया जाना चाहिए और यथा सम्भव उन्हें बढ़ाया जा रहा है, क्योंकि जीवन को सुविधापूर्वक जीने के लिए भौतिक साधन-सामग्रियों की अनिवार्य आवश्यकता है। भूखा आदमी न ईमानदार रह सकता है और न स्वस्थ चित्त। इसलिए जीवन-यात्रा की सुविधायें बढ़ाने के लिए भौतिक सम्पत्तियों का उपार्जन आवश्यक है, पर यह ध्यान रखने की बात है कि यदि भौतिक उन्नति पर ही एक मात्र ध्यान रखा गया और सम्पत्ति के ऊपर से आध्यात्मिक नियन्त्रण उठा दिया गया, तो जो कुछ सांसारिक उन्नति होगी, वह केवल मनुष्य की आपत्तियाँ बढ़ाने का कारण बनेगी।

इन दिनों विज्ञान का बड़ा जोर है, सुविधाओं के साधन नित नये निकलते जा रहे हैं। फलस्वरूप मनुष्य विलासी, आलसी, दुर्बल, रोगी, कायर और अल्पजीवी होता चला जा रहा है। जिन देशों ने अपनी शक्ति बढ़ाई है, वे छोटे देशों को गुलाम बनाने एवं उनका शोषण करने में लगे हुए हैं। वैज्ञानिक अन्वेषणों का परिणाम यह है कि एटमबम, हाइड्रोजन बम संसार में प्रलय उपस्थित करने के लिए तैयार हैं। साधारण लोगों पर दृष्टि डालिए तो उनका भी यही हाल है। भौतिक शक्ति पाकर लोग अपना और दूसरों का विनाश ही करते हैं। वकीलों की विद्या से किसका क्या हित है ? ज्यादा कमाने वाले मजदूर शराब और ताड़ी में अपनी कमाई फूँक देते हैं। साहसी स्वभाव और बलवान् शरीर वाले गुण्डा, डाकू, अत्याचारी बनने में अपना गौरव देखते हैं। देहातों में आजकल अन्न की मँहगाई से किसानों की आर्थिक दशा थोड़ी सुधरी है, तो फौजदारी, मुकद्दमेबाजी, विवाह-शादियों आदि बातों में फिजूलखर्ची की बेतरह बाढ़ आ गयी है। यह निश्चित है कि यदि भौतिक उन्नति के ऊपर आध्यात्मिक अंकुश न होगा, तो वह भस्मासुर के वरदान की तरह अपना ही सर्वनाश करने वाली सिद्ध होगी।

इसलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि भौतिक उपार्जन के साथ-साथ आत्मिक उन्नति का भी ध्यान रखा जाये। सुन्दर बहुमूल्य वस्त्राभूषण तभी शोभा पाते हैं, जब पहनने वाले का स्वास्थ्य अच्छा हो। मरणासन्न अस्थिपिंजर रोगी को यदि रेशमी कपड़ों से और जेवर से लाद दिया जाय, तो उसकी शोभा तो कुछ न बढ़ेगी, उल्टे उसकी असुविधा बढ़ जायेगी। आत्मिक उन्नति के बिना भौतिक सम्पदाओं की बढ़ोत्तरी से मनुष्य की अहंकारिता, ईर्ष्या, विलासिता, कुरुचि, चिन्ता, कुढ़न, शत्रुता आदि कष्टकारक बुराइयाँ भी बढ़ जाती हैं।

गायत्री आत्मोन्नति का, आत्मबल बढ़ाने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। सांसारिक सम्पत्तियाँ उपार्जन करना, जिस प्रकार आवश्यक समझा जाता है, उसी प्रकार गायत्री-साधना द्वारा आत्मिक पूँजी बढ़ाने का प्रयत्न भी निरन्तर जारी रहना चाहिए। दोनों दिशाओं में साथ-साथ संतुलित विकास होगा, तो स्वस्थ उन्नति होगी, किन्तु यदि केवल मात्र धन या भोग के संचय में ही लगा रहा गया तो निश्चित है कि वह कमाई मनोविनोद के लिए अपने पास इकट्ठी भले ही दीखे पर उससे वास्तविक सुख की उपलब्धि तनिक भी न हो सकेगी। जो सांसारिक वस्तुओं का समुचित लाभ उठाना चाहता हो, उसे चाहिए कि आत्मोन्नति के लिए भी उतना ही प्रयत्न करे।

आँखों के बिना सुन्दर दृश्य देखने का लाभ नहीं मिल सकता, कान बहरे हों तो मधुर संगीत का रसास्वादन सम्भव नहीं। आत्मिक शक्ति न हो, तो सांसारिक वस्तुओं से कोई वास्तविक लाभ नहीं उठाया जा सकता है।

सुन्दर दृश्य और तीव्र नेत्र ज्योति के संयोग से ही चित्त प्रसन्न होता है । भौतिक और आत्मिक उन्नति का समन्वय ही जीवन में सुस्थिर शान्ति की स्थापना कर सकता है । हम धन कमायें, विद्या पढ़ें और उन्नति करें पर यह न भूलें कि इसका वास्तविक लाभ तभी मिल सकेगा, जब आत्मोन्नति के लिए भी समुचित साधना की जा रही हो ।

१- स्वास्थ्य, २- धन, ३- विद्या, ४- चतुरता, ५- सहयोग, यह पाँच सम्पत्तियाँ इस संसार में होती हैं । इन्हीं पाँच के अन्तर्गत समस्त प्रकार के वैभव आ जाते हैं । इसी प्रकार पाँच कोशों की परिमार्जित स्थिति ही पाँच आध्यात्मिक सम्पदायें हैं । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय यह पाँच कोश आध्यात्मिक शक्तियों के पाँच भण्डार हैं । इन कोशों पर जो अधिकार कर लेता है उसकी अन्त:चेतना का पञ्चीकरण हो जाता है और १- आत्म-ज्ञान, २- आत्म-दर्शन, ३- आत्म-अनुभव ४- आत्म-लाभ, ५- आत्म-कल्याण, यह पाँच आध्यात्मिक सम्पदायें प्राप्त हो जाती हैं ।

गायत्री के चित्र में दस भुजायें दिखाई गई हैं । पाँच बायीं और पाँच दाहिनी ओर । बायीं ओर की पाँच भुजायें सांसारिक सम्पत्तियाँ हैं और दाहिनी ओर की भुजायें पाँच आत्मिक शक्तियाँ । गायत्री उपासक इन दस लाभों को प्राप्त करके रहता है ।

१- 'आत्म-ज्ञान' का अर्थ है - अपने को जान लेना, शरीर और आत्मा की भिन्नता को भली प्रकार समझ लेना और शारीरिक लाभों को आत्म-लाभ की तुलना में उतना ही महत्त्व देना, जितना कि दिया जाना उचित है । आत्म-ज्ञान होने से मनुष्य का असंयम दूर हो जाता है, इन्द्रिय भोगों की लोलुपता के कारण लोगों की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का अनुचित, अनावश्यक व्यय होता है जिससे शरीर असमय में ही दुर्बल, रोगी, कुरूप एवं जीर्ण होता है । आत्म-ज्ञानी इन्द्रिय भोगों की उपयोगिता-अनुपयोगिता का निर्णय आत्म-लाभ की दृष्टि से करता है इसलिए यह स्वभावत: संयमी रहता है और शरीर से सम्बन्ध रखने वाले दु:खों से बचा रहता है । दुर्बलता, रोग एवं कुरूपता का कष्ट उसे नहीं भोगना पड़ता । जो कष्ट उसे प्रारब्ध कर्मों के अनुसार भोगने होते हैं, वह भी आसानी से भुगत जाते हैं ।

२- 'आत्म-दर्शन' का तात्पर्य है अपने स्वरूप का साक्षात्कार करना । साधना द्वारा आत्मा के प्रकाश का जब साक्षात्कार होता है तब प्रीति-प्रतीति, श्रद्धा-निष्ठा और विश्वास की भावनायें बढ़ती हैं । कभी भौतिकवादी कभी अध्यात्मवादी होने की डावाँडोल मनोदशा स्थिर हो जाती है और ऐसे गुण, कर्म, स्वभाव प्रकट होने लगते हैं जो एक आत्म-दृष्टि वाले व्यक्ति के लिए उचित हैं, उस आत्म-दर्शन की द्वितीय भूमिका में पहुँचने पर दूसरों को जानने, समझने और उन्हें प्रभावित करने की सिद्धि मिल जाती है ।

जिसे आत्म-दर्शन हुआ है उसकी आत्मिक सूक्ष्मता अधिक व्यापक हो जाती है, वह संसार के सब शरीरों में अपने को समाया हुआ देखता है । जैसे अपने मनोभाव, आचरण, गुण, स्वभाव, विचार और उद्देश्य अपने को मालूम होते हैं, वैसे ही दूसरों के भीतर की सब बातें भी अपने को मालूम हो जाती हैं । साधारण मनुष्य जिस प्रकार अपने शरीर और मन से काम लेने में समर्थ होते हैं, वैसे ही आत्म-दर्शन करने वाला मनुष्य दूसरों के मन और शरीरों पर अधिकार करके उन्हें प्रभावित कर सकता है ।

३-'आत्म-अनुभव' कहते हैं, अपने वास्तविक स्वरूप का क्रियाशील होना, अपने अध्यात्म-ज्ञान के आधार पर ही अपनी वाणी, क्रिया, योजना, इच्छा, आकांक्षा, रुचि एवं भावना का होना । आमतौर से लोग विचार तो बहुत ऊँचे रखते हैं, पर बाह्य जीवन में अनेक कारणों से उन्हें चरितार्थ नहीं कर पाते । उनका व्यावहारिक जीवन गिरी हुई श्रेणी का होता है; किन्तु जिन्हें आत्मानुभव होता है, वे भीतर बाहर से एक होते हैं, उनके विचार और कार्यों में तनिक भी अन्तर नहीं होता । जो विघ्न-बाधायें सामान्य लोगों को पर्वत के समान दुर्गम मालूम पड़ती हैं, उन्हें वे एक ठोकर से तोड़ देते हैं । उनका जीवन ऋषि-जीवन बन जाता है ।

आत्म-अनुभव से सूक्ष्म प्रकृति की गतिविधि मालूम करने की सिद्धि मिलती है । किसका क्या भविष्य बन रहा है ? भूतकाल में कौन क्या कर रहा था ? किस कार्य में दैवी प्रेरणा क्या है ? क्या उपद्रव और भय उत्पन्न होने वाले हैं ? लोक-लोकान्तरों में क्या हो रहा है ? कब, कहाँ, क्या वस्तु उत्पन्न और नष्ट होने वाली है ? आदि

ऐसी अदृश्य एवं अज्ञात बातें जिन्हें साधारण लोग नहीं जानते, उन्हें आत्मानुभव की भूमिका में पहुँचा हुआ व्यक्ति भली प्रकार जानता है। आरंभ में उसे अनुभव कुछ धुँधले होते हैं, पर जैसे-जैसे उनकी दिव्य दृष्टि निर्मल होती जाती है, सब कुछ चित्रवत् दिखाई देने लगता है।

४- 'आत्म-लाभ' का अभिप्राय है - अपने में पूर्ण आत्म-तत्त्व की प्रतिष्ठा। जैसे भट्ठी में पड़ा लोहा तपकर अग्निवर्ण का लाल हो जाता है, वैसे ही इस भूमिका में पहुँचा हुआ सिद्ध पुरुष दैवी तेजपुञ्ज से परिपूर्ण हो जाता है। वह सत् की प्रत्यक्ष मूर्ति होती है। जैसे अँगीठी के पास बैठने से गर्मी अनुभव होती है, वैसे ही महापुरुषों के आस-पास ऐसा सतोगुणी वातावरण छाया रहता है जिसमें प्रवेश करने वाले साधारण मनुष्य भी शान्ति अनुभव करते हैं। जैसे वृक्ष की सघन शीतल छाया में ग्रीष्म की धूप से तपे हुए लोगों को विश्राम मिलता है, उसी प्रकार आत्म- लाभ से लाभान्वित महापुरुष अनेक दुखियों को शांति प्रदान करते हैं।

आत्म-लाभ के साथ-साथ आत्मा की, परमात्मा की अनेक दिव्य शक्तियों से सम्बन्ध हो जाता है। परमात्मा की एक-एक शक्ति का प्रतीक एक-एक देवता है। यह देवता अनेक ऋद्धि-सिद्धियों का अधिपति है। ये देवता जैसे विश्व ब्रह्माण्ड में व्यापक हैं, वैसे ही मानव शरीर में भी हैं। विश्व ब्रह्माण्ड का ही एक छोटा-सा रूप यह पिण्ड देह है। इस पिण्ड देह में जो दैवी शक्तियों के गुह्य संस्थान हैं, वे आत्म-लाभ करने वाले साधक के लिए प्रकट एवं प्रत्यक्ष हो जाते हैं और वह उन दैवी शक्तियों से इच्छानुसार कार्य ले सकता है।

५- 'आत्म-कल्याण' का अर्थ है- जीवन-मुक्ति, सहज समाधि, कैवल्य, अक्षय- आनन्द, ब्रह्म-निर्वाण, स्थित-प्रज्ञावस्था, परमहंस- गति, ईश्वर—प्राप्ति। इस पञ्चम भूमिका में पहुँचा हुआ साधक ब्राह्मीभूत होता है। इसी पञ्चम भूमिका में पहुँची हुई आत्मायें ईश्वर की मानव प्रतिमूर्ति होती हैं। उन्हें देवदूत, अवतार, पैगम्बर, युग निर्माता, प्रकाश-स्तम्भ आदि नामों से पुकारते हैं। उन्हें क्या सिद्धि मिलती है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि कोई चीज ऐसी नहीं, जो उन्हें अप्राप्य हो। अक्षय आनन्द के स्वामी होते हैं। ब्रह्मानन्द, परमानन्द एवं आत्मानन्द से बड़ा और कोई सुख इस त्रिगुणात्मक प्रकृति में सम्भव नहीं, यही सर्वोच्च लाभ आत्म कल्याण की भूमिका में पहुँचे हुए को प्राप्त हो जाता है।

दशभुजी गायत्री की पाँच भुजा सांसारिक हैं, पाँच आत्मिक। आत्मिक भुजायें आत्म-ज्ञान, आत्मदर्शन, आत्म-अनुभव, आत्म-लाभ और आत्म-कल्याण हैं। यह दैवी सम्पदायें जिनके पास हैं, उनके वैभव की तुलना कुबेर से भी नहीं हो सकती। गायत्री का उपासक आत्मिक दृष्टि से इतना सुसम्पन्न और परिपूर्ण हो जाता है कि उसकी तुलना किन्हीं भी सांसारिक सम्पदाओं से नहीं की जा सकती। यह पाँचों भूमिकायें, सिद्धियाँ, पञ्चकोशों से संबंधित हैं। एक-एक कोश की साधना एक-एक भूमिका में प्रवेश कराती जाती है। अन्नमय कोश का साधक आत्म- ज्ञान प्राप्त करता है। प्राणमय कोश की साधना से आत्म-दर्शन होता है, मनोमय कोश के साथ आत्मानुभव होता है, विज्ञानमय कोश से आत्म-लाभ का सम्बन्ध है और आनन्दमय कोश में आत्म-कल्याण सन्निहित है।

दशभुजी गायत्री की पाँच भुजायें सूक्ष्म और पाँच स्थूल हैं। निष्काम उपासना करने वाले माता के सूक्ष्म हाथों से आशीर्वाद पाते हैं और सकाम उपासकों को स्थूल हाथों से प्रसाद मिलता है। असंख्य व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्होंने माता की कृपा से सांसारिक सम्पत्तियाँ प्राप्त की हैं और अपनी दुर्गम कठिनाइयों से त्राण पाया है। स्वास्थ्य, धन, विद्या, चतुरता और सहयोग यह पाँच सांसारिक सम्पत्तियाँ पञ्चमुखी माता की स्थूल भुजाओं से मिलती हैं।

ऐसे कितने ही अनुभव हमारे सामने हैं, जिनमें लोगों ने साधारण गायत्री साधना द्वारा आशाजनक सांसारिक सफलतायें प्राप्त की हैं। जिनके घर में रोग घुस रहा था, बीमारी की पीड़ा सहते-सहते और डाक्टरों का घर भरते-भरते जो कातर हो रहे थे, उन्होंने रोग मुक्ति के वरदान पाये। क्षय सरीखे प्राण घातक रोगों की मृत्यु शय्या पर से उठकर खड़े हो गये। कइयों को जन्म-जात पैतृक रोगों तक से छुटकारा मिला। कितने ही बेकार, दरिद्र और अयोग्य व्यक्ति अच्छी जीविका के अधिकारी बन गये। साधनहीन और अविकसित लोग चतुर, बुद्धिमान्, कलाकार, शिल्पी, गुणवान्, प्रतिभावान्, सर्वप्रिय नेता और यशस्वी बन गये। जिनको सब ओर से तिरस्कार,

अपमान, द्वेष, संघर्ष और असहयोग ही मिलता था, उनको घर-बाहर सर्वत्र प्रेम, सहयोग, सद्भाव तथा मधुर व्यवहार प्राप्त होने लगा।

ऐसे अगणित चमत्कारी लाभ उठाने वाले लोगों से हम स्वयं परिचित हैं। मुकदमा, आक्रमण, बन्धन, भय, आशंका, विरोध, परीक्षा, बीमारी, दरिद्रता, भूतबाधा, सन्तति-कष्ट, व्यसन, दुर्गुण आदि कुचक्रों के त्रासदायक चंगुल से छूटकर अनेक व्यक्तियों ने संतोष की साँस ली है। कष्टकर वर्तमान और भयंकर भविष्य को देखकर जो लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे, उन्होंने जब गायत्री का आश्रय लिया तो तत्क्षण उन्हें धैर्य, साहस और प्रकाश प्राप्त हुआ। यह ठीक है कि कोई देवता आकर उनका काम स्वयं नहीं कर गया पर यह भी सत्य है कि उन्हें अनायास ही ऐसा मार्ग सूझ पड़ा, ऐसी युक्ति समझ में आई जिससे झट बिगड़ा काम बन गया और पर्वत सी भारी कठिनाई राई की तरह छोटी होकर हल हो गई। जिस आपत्ति में यह लगता था कि न जाने इसके कारण हम पर क्या बीतेगी, वह सब आशंकायें काई की तरह फट गई और कठिनता सरल हो गई। माता की कृपा से अनेक बार ऐसे चमत्कार होते हुए देखे गये हैं।

स्वास्थ्य और धन की ही भाँति दशभुजी गायत्री की तीसरी स्थूल भुजा का प्रसाद 'विद्या' के रूप में मिलता है। मन्दबुद्धि, मूढ़मगज, भुलक्कड़, मूर्ख, अदूरदर्शी, सिड़ी, सनकी एवं अर्द्धविक्षिप्त मनुष्यों को बुद्धिमान्, दूरदर्शी, तीव्र बुद्धि, विवेकवान् बनते देखा गया है। जिनकी मस्तिष्क दशा को देखकर हर कोई यह भविष्यवाणी करता था कि अपना पेट भी न भर सकेंगे, उन लोगों का मस्तिष्क और भाग्य ऐसा पलटा कि वे कुछ से कुछ हो गये, लोग उनकी सलाह लेकर काम करने में अपनी भलाई समझने लगे।

जिनकी पढ़ाई में रुचि न थी, वे पुस्तकों के कीड़े हो गये। हर साल फेल होने वाले विद्यार्थी गायत्री की थोड़ी- बहुत उपासना करने से ऐसे तीव्र बुद्धि के हुए कि सदैव अच्छे नम्बरों से उन्हें सफलता मिलती गई। अनेक उलझनें, कार्यव्यस्तता एवं अवकाश का अभाव रहने पर भी कितने ही साधनहीन व्यक्ति विद्वान् बने हैं। मस्तिष्क से काम लेने वाले कितने ही बुद्धिजीवी मनुष्य ऐसे हैं जिनकी गायत्री साधना ने उनके मस्तिष्क को अत्यन्त प्रखर बनाया है और फलस्वरूप वे उज्ज्वल नक्षत्र की तरह प्रकाशित हुए हैं। अपने बुद्धिबल से उन्होंने आशाजनक सफलता, प्रतिष्ठा, कीर्ति और सम्पदा उपार्जित की है।

विकृत मस्तिष्क वाले, विक्षिप्त, डरपोक, आलसी, झगड़ालू, चिड़चिड़े मनुष्य तीसरी भुजा के प्रसाद से स्वस्थ मनोभूमि प्राप्त करते हैं। भूतोन्माद, प्रेतबाधा, स्त्रियों और बालकों पर होने वाले दुष्ट आत्माओं के आक्रमणों को दूर करने की अद्भुत शक्ति गायत्री उपासना में है। हजार ओझा, सयाने और तान्त्रिक तराजू के एक पलड़े में रखे जाएँ और एक गायत्री उपासक एक ओर रखा जाए, तो निश्चित रूप से इस दिव्य शक्ति की ही उपयोगिता सिद्ध होगी।

चातुर्यपूर्ण कामों का आरम्भ करते समय शारदा का, सरस्वती का आह्वान , वन्दन और पूजन करने की प्रथा है। कारण यही है कि बुद्धि तत्त्व में माता की कृपा से एक ऐसी सूक्ष्म विशेषता बढ़ जाती है, जिससे वे विशिष्ट बातें आसानी से हृदयंगम हो जाती हैं। चित्रकला, संगीत, कविता, सम्भाषण, लेखन, शिल्प, रसायन, चिकित्सा, शिक्षण, नेतृत्व, अन्वेषण, परीक्षण, निर्णय, दलाली, प्रचार, व्यवसाय, खेल, प्रतिद्वन्द्विता, कूटनीति आदि कितनी ही बातें ऐसी हैं , जिनमें विशेष सफलता वही पा सकता है जिसकी बुद्धि में सूक्ष्मता हो। मोटी अक्ल से इस प्रकार के कर्मों में लाभ नहीं होता। कुशाग्र, सूक्ष्मवेधी बुद्धि चातुर्य गायत्री माता के पुण्य प्रसाद के रूप में प्राप्त होता है, ऐसी श्रद्धा रखने के कारण ही लोग अपने कार्यों को आरंभ करते हुए शारदा-वन्दना करते हैं।

गायत्री की स्थूल पाँच भुजाओं में पाँचवीं भुजा का प्रसाद सहयोग है। यह जिसे मिलता है वह स्वयं विनम्र, मधुरभाषी, प्रसन्नचित्त, हँसमुख, उदार, दयालु, उपकारी, सहृदय, सेवाभावी, निरहंकारी बन जाता है। यह विशेषतायें उनमें बड़ी तेजी से बढ़ती हैं फलस्वरूप उनके सम्पर्क में जो भी कोई आता है, वह उनका बेपैसे का गुलाम बन जाता है। ऐसे स्वभाव वाले मनुष्य के स्त्री, पुरुष, पुत्र, भाई, भतीजे, चाचा, ताऊ सभी अनुकूल, सहायक और प्रशंसक रहते हैं। घर में उसका मान सत्कार होता है और सब कोई उसकी सुविधा का ध्यान रखते हैं। घर में हो,

या बाहर बाजार में, मित्रों में, परिचितों में सर्वत्र उसे प्रेम, सत्कार और सहयोग प्राप्त होता है। ऐसे स्वभाव के व्यक्ति कहीं भी मित्र विहीन नहीं रहते। वे जहाँ भी रहते हैं, वहीं उन्हें प्रेमी, प्रशंसक, मित्र, सहायक और सहयोगी प्राप्त हो जाते हैं।

दाहिनी और बायीं, सूक्ष्म और स्थूल गायत्री की दस भुजायें साधक को प्राप्त होने वाली पाँच आत्मिक और पाँच भौतिक सिद्धियाँ हैं। यह दस सिद्धियाँ ऐसी हैं जिनके द्वारा यही जीवन, यही लोक स्वर्गीय सुख से ओत-प्रोत हो जाता है। यह जीवन अगले जीवन की पूर्व भूमिका है। यदि मनुष्य आज सन्तुष्ट है, तो कल भी उसे सन्तोष ही उपलब्ध होगा। यदि आज उसे कल्याण का अनुभव होता है, तो कल भी कल्याण ही होगा। सत्पुरुष अक्सर दुस्साहस पूर्ण और वर्तमान वातावरण से भिन्न कार्यक्रम अपनाते हैं, इसलिए बाह्य दृष्टि से उन्हें कुछ असुविधायें दिखाई देती हैं ; परन्तु उनकी आन्तरिक स्थिति पूर्ण प्रसन्न और सन्तुष्ट होती है। ऐसी दशा में यह भी निश्चित है कि उनका अगला जीवन भी पूर्णतया प्रसन्नता एवं संतोष की भूमिका में और भी अधिक विकसित होगा और आज की बाह्य कठिनाइयाँ भी कल तक स्थिर न रहेंगी।

क्या योग साधना के लिए घर गृहस्थ छोड़कर साधु बनना, कपड़े रंगना, यत्र-तत्र भ्रमण करते रहना आवश्यक है ? इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें पूर्वकाल के योगियों की वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है। प्राचीनकाल में ऋषि लोग अविवाहित ही रहते थे यह मान्यता ठीक नहीं। यह ठीक है कि ऋषि-मुनियों में से कुछ ऐसे भी थे, जो कुछ समय तक अथवा आजीवन ब्रह्मचारी रहते थे, पर उनमें से अधिकांश गृहस्थ थे, यह बात भी बिलकुल ठीक है। स्त्री- बच्चों के साथ होने से उन्हें तपश्चर्या एवं आत्मोन्नति में सहायता मिलती थी।

इतिहास पुराणों में पग-पग पर इस बात की साक्षी मिलती है कि भारतीय महर्षिगण योगी, यती, साधु, तपस्वी, अन्वेषक, चिकित्सक, वक्ता, रचयिता, उपदेष्टा, दार्शनिक, अध्यापक, नेता आदि विविध रूपों में अपना जीवन-यापन करते थे और इन महान् कार्यों में स्त्री- बच्चों को भी अपना भागीदार बनाते थे। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों ही विवाहित थे। ब्रह्मा की गायत्री और सावित्री दो स्त्रियाँ थीं। विष्णु की तुलसी और लक्ष्मी दो पत्नी हैं। सती के मरने के बाद महादेवजी का दूसरा विवाह पार्वती से हुआ था। व्यास, अत्रि, गौतम, वशिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज, च्यवन आदि सभी ऋषि गृहस्थ ही थे। अश्वत्थामा, शृंगी ऋषि, नचिकेता, आरुणि, उद्दालक, शुकदेव, परशुराम आदि ऋषिकुमार थे, उनके माता-पिता ऋषि ही थे। याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ गार्गी और मैत्रेयी थीं। अत्रि की पत्नी अनसूया अपने समय की प्रमुख ब्रह्मवादिनी थी। ऐसे प्रमाणों से इतिहास पुराणों का पन्ना-पन्ना भरा पड़ा है, जिससे प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में योगी लोग गृहस्थ धर्म का पालन करते थे।

उस समय की परिस्थितियाँ, प्रथायें, सुविधायें तथा सादगी की पद्धति के अनुसार ऋषि लोग सात्त्विक जीवन बिताते थे। वेश बनाने या घर छोड़ने की उनकी कोई योजना न थी। लकड़ी की खड़ाऊँ, तुम्बी का जल-पात्र उनकी सादगी तथा सुविधा के आधार पर थे। उस समय आबादी कम और वन अधिक थे। आसानी से बन सकने वाली झोंपड़ी, छोटे-छोटे ग्राम उस समय की साधारण परिपाटी थी। पर आज की बदली हुई परिस्थितियों में उन बातों की नकल करना कहाँ तक उचित है, यह पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

उस समय दूध पीकर फल खाकर रहने वाले लोग त्यागी नहीं समझे जाते थे ; क्योंकि विस्तृत वनों में चरने की सुविधा होने से कोई मनुष्य कितनी ही गौएँ पाल सकता था, जंगलों में अपने आप उगे फलों को लाने में कोई बाधा न थी। पर आज तो एक गाय पालने में एक परिवार के बराबर खर्च आता है। पेट को खराब कर डालने वाले फलों को न लेकर यदि सुखाद्य फलों को लिया जाय, तो भी काफी खर्च होता है। जो बात उस समय अत्यन्त सादगी की थी, वह आज अमीरों के लिए दुर्लभ है।

रास्ते रोके पड़ी रहने वाली, टूटे हुए वृक्षों की सूखी लकड़ी को साफ करने तथा हिंसक जानवरों का आक्रमण रोकने के लिए दिन रात 'धूनी' जलाई जाती थी। पर आज तो लकड़ी का भाव इतना अधिक है जिसे किसी भी स्थिति में वहन नहीं किया जा सकता। उस समय स्वाभाविक मृत्यु से मरते रहने वाले मृग आदि जीवों का चमड़ा

चाहे जितना मिलता था । पर आज तो बिना हत्या का चमड़ा प्राप्त करना असम्भव-सा लगता है । फिर एक मृगचर्म का मूल्य भी कल्पनातीत है । इतने रुपये से तो कुश के ढेरों आसन खरीदे जा सकते हैं । सर्दी-गर्मी से बचने के लिए देह पर भस्म मलने से, भभूत रमाने से काम चल जाता था, वस्त्र वहाँ जंगलों में थे नहीं । पर आज जब वस्त्रों का मिलना सुगम है, तो भभूत लगाने की क्या आवश्यंकता है ?

उस जमाने में पेड़ काटने, अग्नि सम्भालने, जंगली पशुओं से मुकाबला करने के लिए बड़ा-सा चिमटा रखना आवश्यक था, पर आज जब कि वह तीनों ही कारण नहीं रहे, तो चिमटा का क्या प्रयोजन रह गया ? पूर्वकाल में जिन बातों को सादगी एवं परिस्थितियों के अनुसार स्वाभाविक आवश्यकता समझा जाता था, आज की परिस्थितियों में उनमें से कितनी ही बातें अनावश्यक हैं । हमने भारतवर्ष की एक छोर से दूसरे छोर तक कई बार आध्यात्मिक यात्रायें की हैं । अपने अनुभव के बल पर हम कह सकते हैं कि अब कोई वन ऐसा नहीं रहा है, जहाँ फल खाकर या अपने आप चरकर आने वाली गौओं का दूध पीकर कोई व्यक्ति गुजारा कर सके, न आज के मनुष्यों के शरीर ही ऐसे हैं कि शीत प्रधान देशों में मकान या वस्त्रों के बिना रह सकें । जो योगी-यती गंगोत्री आदि में रहते हैं उनको भी वस्त्र, मकान आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है ।

भिक्षा-जीवी होकर, दूसरों से ऋण लेकर आज की अभावग्रस्त जनता पर , अश्रद्धालु जनता पर भार बनकर'साधु' वेश बना लेना, बदली हुई परिस्थितियों का विचार न करके पूर्वजों की वेश-भूषा का अन्धानुकरण करना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है । साधु हो जाने वालों को भी अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए उतना ही प्रयत्न करना पड़ता है, जितना कि गृहस्थी को । ऐसी दशा में यही उचित है कि अपनी जीविका की आप व्यवस्था रखते हुए पारिवारिक कार्यक्रमों के साथ-साथ सादे वेश में साधु-जीवन व्यतीत किया जाये ।

साधना मन से होती है न कि वेश से । मन तो भारी भीड़ में भी शान्त रह सकता है और एकान्त वन में भी विकारग्रस्त हो सकता है, फिर एकान्तसेवी लोगों की इन्द्रिय-विजय भी कच्ची होती है । जिसे चोरी करने का अवसर ही नहीं मिलता, वह ईमानदार है, इस बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता ; क्योंकि प्रलोभन के वक्त वह फिसल सकता है । जिसको चोरी के सदा अवसर हैं, फिर भी अपने पर काबू रखता है, उसी को विश्वस्त-प्रामाणिक, ईमानदार कहा जायेगा । एकान्त जंगल में बैठकर, लोगों से संबंध तोड़कर कोई व्यक्ति बुराइयों से बच जाए, तो उसके संस्कार उतने सुदृढ़ नहीं हो सकते, जितने कि निरन्तर बुराइयों से संघर्ष करके अपनी अच्छाई को विकसित करने वाले के होते हैं । शूर की परीक्षा युद्ध-भूमि में होती है । घर में बैठा हुआ तो मरीज भी तीसमारखाँ कहला सकता है ।

गायत्री-साधना द्वारा योग साधना करके आत्मिक उन्नति करने एवं कल्याण पथ पर चलने के लिए यह कतई आवश्यक नहीं कि कोई विचित्र वेश बनाया जाय, घर-द्वार छोड़कर भीख के टुकड़ों पर गुजारा किया जाय । कुछ विशिष्ट आत्मायें संन्यास की अधिकारी होती हैं । वह अधिकार तब मिलता है जब साधना पूर्ण परिपक्व होकर मनोभूमि इस योग्य हो जाती है कि वह संसार का पथ-प्रदर्शन करने के लिए परिव्राजक बने, साधारण साधकों के लिए यह मार्ग ग्रहण करना अनधिकार चेष्टा करना है ।

गायत्री की पंचमुखी साधना करने के लिए किसी को घर छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि निश्चित समय, निश्चित व्यवस्था, निश्चित आहार-विहार की सुविधा घर छोड़ने वाले को नहीं हो सकती । पात्र- कुपात्रों का अन्न, पेट में जाकर बुद्धि पर तरह-तरह के संस्कार डालता है । इसलिए अपने परिश्रम की कमाई हुई रोटी पर गुजारा करते हुए गृहस्थ जीवन में ही साधना क्रम का आयोजन करना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य उचित और आवश्यक है जिससे जितना संयम हो सके उतना अच्छा है । पुरश्चरण की निश्चित अवधि में जब तक निश्चित संकल्प का जप पूरा न हो, ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है; परन्तु नियतकालीन निर्धारण संख्या या अवधि के विशेष पुरश्चरणों को छोड़कर, सामान्य साधना क्रम में ब्रह्मचर्य अनिवार्य शर्त नहीं है । गृहस्थ लोग अपने साधारण एवं स्वाभाविक दाम्पत्य कर्त्तव्यों का पालन करते हुए प्रसन्नतापूर्वक अपनी साधना जारी रख सकते हैं । इससे उनके साधन में कोई बाधा न आयेगी ।

मन पर नियन्त्रण करने की, सात्त्विकता के नियम पालन करने की सुविधा घर पर ठीक प्रकार से होती है। जहाँ पानी होगा, वहीं तो तैरना सीखा जायेगा। पानी से सैकड़ों कोस दूर रहने वाला मनुष्य भला अच्छा तैराक किस प्रकार बन सकेगा ? तैरने की अनेक पुस्तकें पढ़ने एवं अनेक शिक्षायें ग्रहण करने पर भी उसकी शिक्षा तब तक अधूरी रहेगी, जब तक कि वह पानी में रहकर भी न डूबने की अपनी योग्यता प्रमाणित न कर दे। गृहस्थ जीवन में अनेक अनुकूल-प्रतिकूल, भले-बुरे, हर्ष-विषाद के अवसर आते हैं, उन परीक्षा के अवसरों पर अपने मन को साधने से, स्वभाव और संस्कारों में प्रौढ़ता एवं परिपक्वता आती है।

अपने बुरे संस्कारों एवं स्वभावों से नित्य संघर्ष करना चाहिए। प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के लिए घोर प्रयत्न करना चाहिए। इस घोर प्रयत्न एवं संघर्ष को मन्थन कहते हैं। इसे ही गीता में 'धर्मयुद्ध' या 'कर्मयोग' कहा है। अर्जुन चाहता है- हमारा अज्ञानग्रस्त मन कहता है कि इस झंझट से दूर रहकर, एकान्तवासी बनकर सफलता का कोई दूसरा मार्ग मिल जाए। वह लड़ना नहीं चाहता; क्योंकि संघर्ष सदा ही कष्टसाध्य होता है, मनुष्य की कायर प्रकृति सदा उससे बचना चाहती है। कायर सिपाही सदा ही लड़ाई के मोर्चे से भाग खड़े होने की योजना बनाते हैं। इसी प्रकार अपने स्वभाव की, परिवार की, समाज की, देश-काल की परिस्थितियों से खीजकर कई आदमी निराश होकर बुराइयों को आत्म-समर्पण ही कर देते हैं।

इस स्थिति के प्रतिनिधि अर्जुन को भगवान् ने बुरी तरह लताड़ा था और उसके तर्कों में झाँकती हुई कायरता का पर्दाफाश कर दिया था। भगवान् ने कहा कि "बिना लड़े कल्याण नहीं, सफलता-असफलता की बात को मन से हटाकर लड़ने को अपना कर्त्तव्य मानकर तू लड़।" साधकों के लिए भी यही मार्ग है। विपरीत परिस्थितियों से उन्हें निरन्तर अति उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिए। इतना प्रयत्न करने पर भी कम सफलता मिली, यह सोचना धर्मयुद्ध के, विज्ञान के विपरीत है। संघर्ष एक साधना है। उससे प्रकाश एवं तेज की वृद्धि होना अवश्यम्भावी है। मन्थन से क्रिया, गति और शक्ति का उत्पन्न होना सुनिश्चित है। साधन-समर के सैनिक का प्रत्येक कदम लक्ष्य की ओर बढ़ता है। मञ्जिल चाहे कितनी दूर क्यों न हो, प्रगति चाहे कितनी मन्द क्यों न हो ? पर यह ध्रुव निश्चय है कि यदि साधक की यात्रा उसी दशा में जारी है, तो वह आज नहीं तो कल पूर्ण सफलता की प्राप्ति करके रहेगा।

गायत्री-साधना निष्फल नहीं जाती

अपनी आन्तरिक स्थिति के अनुकूल पञ्चमुखी गायत्री की पाँच साधनाओं में से एक उपयुक्त साधना चुन लेनी चाहिए। जो विद्यार्थी जिस कक्षा का होता है, उसे उसी कक्षा की पुस्तकें पढ़ने को दी जाती हैं। बी.ए. के विद्यार्थी को छठवें दर्जे की पुस्तकें पढ़ाई जाएँ, तो इससे उनकी उन्नति में कोई सहायता न मिलेगी। इस प्रकार पाँचवें दर्जे वाले को बारहवें दर्जे का पाठ्यक्रम पढ़ाया जाए, तो घोर परिश्रम करने पर भी उसमें सफलता न मिलेगी। साधना के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है। जो साधक अपनी मनोभूमि के अनुरूप साधना चुन लेते हैं, वे प्राय: असफल नहीं होते।

गायत्री-साधना का प्रभाव तत्काल होता है। उसका परिणाम देखने के लिए देर तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। साधना आरम्भ करते ही चित्त में सात्त्विकता, शांति, प्रफुल्लता, उत्साह एवं आशा का जागरण होता है। कोई व्यक्ति कितनी ही कठिनाई, परेशानी, असुविधा एवं संकट में पड़ा हुआ क्यों न हो, उसकी मानसिक चिन्ता, बेचैनी, घबराहट में तत्काल कमी होती है।

जैसे दर्द करते हुए घाव के ऊपर शीतल मरहम लगा देने से तत्काल चैन पड़ जाता है और दर्द बन्द हो जाता है, वैसे ही अनेक कठिनाइयों की पीड़ा के कारण दु:खी हृदय पर गायत्री साधना की मरहम ऐसी शीतल एवं शान्तिदायक प्रतीत होती है कि बहुत से मानसिक बोझ तो तत्काल हल्के हो जाते हैं।

साधक को ऐसा लगता है कि वह चिरकाल से बिछुड़ा हुआ फिरते रहने के बाद अपनी सगी माता से मिला हो। माता से बिछुड़ा हुआ बालक बहुत समय इधर-उधर भटकने के बाद जब माता को ढूँढ़ पाता है, तो उसकी छाती भर जाती है और माता से लिपटकर उसकी गोद में चढ़कर ऐसा अनुभव करता है, मानो उसकी जन्म-जन्मांतरों

की विपत्ति टल गई हो। हिरन का बच्चा अपनी माता के साथ घनें वनों में हिंसक जानवरों के बीच फिरते हुए भी निर्भय रहता है। वह निश्चिंत हो जाता है कि जब माता मेरे साथ है, तो मुझे क्या फिक्र है। हिरनी भी अपने शिशु शावक की सुरक्षा के लिए कोई बात उठा नहीं रखती, वह उसे अपने प्राणों के समान प्यार करती है, माता का प्यार उससे कदापि कम नहीं होता।

भली और बुरी परिस्थितियाँ तो प्रत्येक मनुष्य के सामने आती ही रहती हैं। सुख-दुःख का चक्र संसार का साधारण नियम है। सामान्य श्रेणी का मनुष्य इससे निरन्तर प्रभावित होता रहता है और कभी तो अपने को सौभाग्य के सरोवर में तैरता अनुभव करता हैं और कभी आपत्तियों के दलदल में फँसा हुआ। पर जिस व्यक्ति ने गायत्री उपासना करके मन को संयत रखना सीख लिया है और यह विश्वास दृढ़ कर लिया है कि सन्मार्ग पर चलने वालों की वह महाशक्ति अवश्य सहायता और रक्षा करती है, वह कभी विपरीत परिस्थितियों में व्याकुल नहीं हो सकता। वह प्रत्येक दशा में शान्तचित्त रहता हुआ गायत्री माता की अनुकम्पा पर भरोसा रखकर प्रयत्नशील रहता है और शीघ्र ही विपत्तियों से छुटकारा पा जाता है।

विपत्तियाँ स्वयं इतना कष्ट नहीं पहुँचातीं। जितना कि उसकी आशंका, कल्पना, भावना दुःख देती है। किसी का व्यापार बिगड़ जाए, घाटा आ जाए, तो उसे घाटे के कारण शरीर यात्रा में कोई प्रत्यक्ष बाधा नहीं पड़ती। रोटी, कपड़ा, मकान आदि को वह घाटा नहीं छीन लेता और न घाटे के कारण शरीर में दर्द, ज्वर आदि होता है, फिर भी लोग मानसिक कारणों से बेतरह दुःखी रहते हैं। इस मानसिक कष्ट में गायत्री-साधना से तत्काल शांति मिलती है। उसे एक ऐसा आत्म-बल मिलता है, ऐसी आन्तरिक दृढ़ता एवं आत्मनिर्भरता प्राप्त होती है, जिसके कारण अपनी कठिनाई उसे तुच्छ दिखाई पड़ने लगती है और विश्वास हो जाता है कि वर्तमान का जो बुरे से बुरा परिणाम हो सकता है, उसके कारण भी मेरा कुछ नहीं बिगड़ सकता। असंख्य मनुष्यों की अपेक्षा फिर भी मेरी स्थिति अच्छी रहेगी।

गायत्री साधना की यही विशेषता है कि उससे तत्काल आत्म-बल प्राप्त होता है, जिसके कारण मानसिक पीड़ाओं में तत्क्षण कमी होती है। हमें ऐसे अनेक अवसर याद हैं जब दुःखों के कारण आत्महत्या करने के लिए तत्पर होने वाले मनुष्यों के आँसू रुके हैं और उनने संतोष की साँस छोड़ते हुए आशा भरे नेत्रों को चमकाया है। घाटा, बीमारी, मुकदमा, विरोध, गृह-क्लेश, शत्रुता आदि के कारण उत्पन्न होने वाले परिणामों की कल्पना से जिनके होंठ सूखे रहते थे, चेहरा विषादग्रस्त रहता था, उन्होंने माता की कृपा पाकर हँसना सीखा और मुस्कराहट की रेखा उनके कपोलों पर दौड़ने लगी।

"जो होना है होकर रहेगा। प्रारब्ध भोग हमें स्वयं भोगने पड़ेंगे। जो टल नहीं सकता उसके लिए दुःखी होना व्यर्थ है। अपने कर्मों का परिणाम भोगने के लिए वीरोचित बहादुरी को अपनाया जाए।" इन भावनाओं के साथ वह अपनी उन कठिनाइयों को तृणवत् तुच्छ समझने लगता है, जिन्हें कल तक पर्वत के समान भयंकर और दुस्तर समझता था।

"जिन लोगों को यह भय था कि उन्हें सताया जायेगा, दुःख दिया जायेगा, न जाने क्या-क्या आपत्तियाँ उठानी पड़ेंगी, भविष्य घोर अन्धकार में रहेगा" उनके मन में साहस का उदय होते ही यह विश्वास जम गया कि मुझ अविनाशी आत्मा का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आना निश्चित है। इसी प्रकार सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आना भी निश्चित है। यह हो नहीं सकता कि आज की कठिनाई सदा बनी रहे और उससे छुटकारा पाने का कोई उपाय न निकले। यदि संभावित कठिनाई आई भी, तो यह निश्चित है कि उसकी भयंकरता कम करने के लिए कोई न कोई नया उपाय भी भगवान् अवश्य सुझावेगा।

इस प्रकार ऐसे अनेक साहसपूर्ण विचार मन में उठना आरंभ हो जाते हैं और उस आत्मबल के कारण साधक की आधी कठिनाई तो तत्क्षण दूर हो जाती है, उसका सोता हुआ मानस अपने विषाद से छुटकारा पा जाता है, आशा और उत्साह की किरणें उसे अपने चारों ओर फैली दीखती हैं।

"जो प्रभु राई को पर्वत कर सकता है और पर्वत को राई बना सकता है, वह हमारे भाग्याकाश का अन्धकार

मिटाकर प्रकाश भी चमका सकता है"- इस विश्वास के साथ गायत्री- साधक में आशा एवं उत्साह की तरंगें हिलोरें लेने लगती हैं ।

अनेक बार तो गायत्री के उपासक की कठिनाइयाँ ऐसे अचरज भरे ढंग से हल होती हैं कि उसे दैवी चमत्कार ही कहना पड़ता है । ऐसी घटनायें हमने स्वयं अपनी आँखों से देखी हैं कि "जहाँ सब लोग पूर्ण निराश हो चुके थे, कार्य सिद्ध होना असंभव मालूम होता था, भय एवं आशंका की घड़ी बिलकुल नजदीक आ गयी थी और मालूम पड़ता था कि विपत्ति का पर्वत अब टूटना ही चाहता है । लोगों के कलेजे धक्-धक् कर रहे थे कि अब विपत्ति निश्चित है, रक्षा का कोई उपाय कारगर नहीं हो सकता" ऐसी विपन्न परिस्थितियों में यकायक जादू की तरह परिवर्तन हुआ है, परिस्थितियों ने ऐसा पलटा खाया कि कुछ से कुछ हो गया । अन्धकार की काली घटायें उड़ गईं और प्रकाश का सुनहरा सूरज चमकने लगा, ऐसी घटनाओं को देखकर सहसा यह शब्द मुँह से निकले कि "प्रभु की कृपा से कुछ भी असंभव नहीं है ।" तुलसीदास जी की "मूक होहिं वाचाल पंगु चढ़हिं गिरवर गहन" वाली मान्यता अनेक बार चरितार्थ होती देखी गयी है ।

कई बार अत्यन्त प्रबल प्रारब्ध इतना अटल होता है कि वह टल नहीं पाता । हरिश्चन्द्र, पाण्डव, राजा नल, दशरथ सरीखे महापुरुषों को प्रारब्ध के कुचक्र की यातनायें सहनी पड़ीं, यद्यपि उनके सहायक, सम्बन्धी और गुरुजन अत्यन्त उच्चकोटि के आत्म-शक्ति सम्पन्न थे, फिर भी दुर्भाग्य टल न सके । जहाँ ऐसे अनिवार्य अवसर होते हैं, वहाँ भी गायत्री महाशक्ति के कारण प्राप्त हुए, आत्म-बल के कारण मानसिक त्रास तत्क्षण कम हो जाता है और साधक विषाद, दीनता, कायरता, बेचैनी, घबराहट, निराशा, व्याकुलता का परित्याग करके साहस और धैर्यपूर्वक परिस्थितियों का मुकाबला करता है और हँस-खेलकर सन्तोष और शान्ति के साथ बुरी घड़ियों को गुजार लेता है ।

वेदमाता की आराधना करना एक प्रकार का आध्यात्मिक कायाकल्प करना है । जिन्हें कायाकल्प की विद्या मालूम है, वे जानते हैं कि इस महा अभियान को करते समय कितने धैर्य और संयम का पालन करना होता है, तब कहीं शरीर की जीर्णता दूर होकर नवीनता प्राप्त होती है । गायत्री-आराधना का आध्यात्मिक कायाकल्प और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । उसके लाभ केवल शरीर तक ही सीमित नहीं, वरन् शरीर, मस्तिष्क, चित्त, स्वभाव, दृष्टिकोण सभी का नव-निर्माण होता है और स्वास्थ्य, मनोबल एवं सांसारिक सुख-सौभाग्यों की वृद्धि होती है ।

ऐसे असाधारण महत्त्व के अभियान में समुचित श्रद्धा, सावधानी, रुचि एवं तत्परता रखनी पड़े, तो इसे कोई बड़ी बात न समझना चाहिए । केवल शरीर को पहलवानी के योग्य बनाने में काफी समय तक धैर्यपूर्वक व्यायाम करते रहना पड़ता है । दण्ड बैठक, कुश्ती आदि के कष्टसाध्य कर्मकाण्ड करने होते हैं । दूध, घी, मेवा, बादाम आदि में काफी खर्च होता रहता है, तब कहीं जाकर पहलवान बना जा सकता है । क्या आध्यात्मिक कायाकल्प करना पहलवान बनने से भी कम महत्त्व का है ? बी.ए. की उपाधि लेने वाले जानते हैं कि उनने कितना धन, समय, श्रम और अध्यवसाय लगाकर उस उपाधि पत्र को प्राप्त कर पाया है । गायत्री की सिद्धि प्राप्त करने में यदि पहलवान या ग्रेजुएट के समान प्रयत्न करना पड़ा, तो कोई घाटे की बात नहीं है । प्राचीन काल में हमारे पूर्वजों ने जो आश्चर्यजनक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं, उनका उन्होंने समुचित मूल्य चुकाया था । हर एक लाभ की उचित कीमत देनी होती है । गायत्री साधना का आध्यात्मिक कायाकल्प यदि अपना मूल्य चाहता है, तो उसे देने में किसी भी ईमानदार साधक को आनाकानी नहीं करनी चाहिए ।

यह सत्य है कि कई बार जादू की तरह गायत्री उपासना का लाभ होता है । आई हुई विपत्ति अति शीघ्र दूर होती है और अभीष्ट मनोरथ आश्चर्यजनक रीति से पूरे हो जाते हैं, पर कई बार ऐसा नहीं होता है कि अकाट्य प्रारब्ध भोग न टल सके और अभीष्ट मनोरथ पूरा न हो । राजा हरिश्चन्द्र, नल, पाण्डव, राम, मोरध्वज जैसे महापुरुषों को होनहार भवितव्यता का शिकार होना पड़ा था । इसलिए सकाम उपासना की अपेक्षा निष्काम उपासना ही श्रेष्ठ है । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्मयोग का ही उपदेश दिया है । यह साधना कभी निष्फल नहीं जाती । उसका तो परिणाम मिलेगा ही, पर हम अल्पज्ञ होने के कारण अपना प्रारब्ध और वास्तविक हित नहीं

समझते। माता सर्वज्ञ होने से सब समझती है और वह वही फल देती है, जिनमें हमारा वास्तविक लाभ होता है। साधन-काल में एक ही कार्य हो सकता है या तो मन भक्ति में तन्मय रहे या कामनाओं के मनमोदक खाता रहे। मनमोदकों में उलझे रहने से भक्ति नहीं रह पाती, फलस्वरूप अभीष्ट लाभ नहीं हो पाता। यदि कामनाओं को हटा दिया जाए, तो उससे निश्चिन्त होकर समय और मन भक्तिपूर्वक साधना में लग जाता है। तदनुसार सफलता का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

कोई युवक किसी दूसरे युवक को कुश्ती में पछाड़ने के लिए व्यायाम और पौष्टिक भोजन द्वारा शरीर को सुदृढ़ बनाने की उत्साहपूर्वक तैयारी करता है। पूरी तैयारी के बाद भी कदाचित् वह कुश्ती पछाड़ने में असफल रहता है, तो ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उसकी तैयारी निरर्थक चली गयी। वह तो अपना लाभ दिखायेगी ही। शरीर में सुदृढ़ता, चेहरे की कान्ति, अंगों की सुडौलता, फेफड़ों की मजबूती, बलवीर्य की अधिकता, नीरोगिता, दीर्घजीवन, कार्य क्षमता, बलवान् सन्तान आदि अनेक लाभ उस बढ़ी हुई तन्दुरुस्ती से होकर रहेंगे। कुश्ती की सफलता से वञ्चित रहना पड़ा यह ठीक है, पर शरीर को बल-वृद्धि द्वारा प्राप्त होने वाले अन्य लाभों से उसे कोई वञ्चित नहीं कर सकता। गायत्री साधक अपने काम्य प्रयोजन में सफल नहीं हो सके, तो भी उसे अन्य अनेक मार्गों से ऐसे लाभ मिलेंगे, जिनकी आशा बिना साधना किये नहीं की जा सकती।

बालक चीजें माँगता है, पर माता उसे वह चीजें नहीं देती। रोगी की सब माँगे बुद्धिमान् वैद्य या परिचर्या करने वाले पूरी नहीं करते। ईश्वर की सर्वज्ञता की तुलना में मनुष्य, बालक या रोगी के समान ही है। जिन अनेकों कामनाओं को हम नित्य करते हैं, उनमें से कौन हमारे लिए वास्तविक लाभ और कौन हानि करने वाली है ? इसे सर्वज्ञ माता ही अच्छी तरह समझती है, जिसे उसकी भक्त वत्सलता पर सच्चा विश्वास है। उसे कामनाओं को पूरा करने की बात उसी पर छोड़ देनी चाहिए और अपना सारा मनोयोग साधना पर लगा देना चाहिए। ऐसा करने से हम घाटे में नहीं रहेंगे वरन् सकाम साधना की अपेक्षा अधिक लाभ में ही रहेंगे।

जयपुर के महाराज रामसिंह एक बार शिकार खेलते हुए रास्ता भूलकर एक निर्जन वन में भटक गये थे। वहाँ एक अपरिचित वनवासी ने उनका उदार आतिथ्य किया। उसकी रूखी सूखी रोटी का महाराज ने कुछ दिन बाद विपुल धन-राशि के रूप में बदला दिया। यदि उस वनवासी ने अपनी रोटी की कीमत उसी वक्त माँग ली होती, तो वह राजा का प्रीति-भाजन नहीं बन सकता था। सकाम साधना करने वाले मतलबी भक्तों की अपेक्षा माता को निष्काम भक्तों की श्रद्धा अधिक प्रिय लगती है। वह उसका प्रतिफल देने में अधिक उदारता दिखाती है।

हमारा दीर्घकालीन अनुभव है कि कभी किसी की गायत्री साधना निष्फल नहीं जाती, न उलटा परिणाम ही होता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम धैर्य, स्थिरता, विवेक और मनोयोगपूर्वक कदम बढ़ायें। उस मार्ग में छछोरपन से नहीं, सुदृढ़ आयोजन से ही लाभ होता है। इस दिशा में किया हुआ सच्चा पुरुषार्थ अन्य किसी भी पुरुषार्थ से अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। गायत्री साधना में जितना समय, श्रम, धन और मनोयोग लगता है सांसारिक दृष्टि से उस सबका जो मूल्य है, वह कई गुना होकर साधक के पास निश्चित रूप से लौट आता है।

गायत्री का तन्त्रोक्त वाम-मार्ग

वाम-मार्ग, तन्त्र-विद्या का आधार प्राणमय कोश है। जितनी शक्ति प्राण में या प्राणमय कोश के अन्तर्गत है केवल उतनी तन्त्रोक्त प्रयोगों द्वारा चरितार्थ हो सकती है। ईश्वर प्राप्ति, आत्म-साक्षात्कार, जीवन मुक्ति, अन्तःकरण का परिमार्जन आदि कार्य तन्त्र की पहुँच से बाहर हैं। वाम-मार्ग से तो वह भौतिक प्रयोजन सध सकते हैं ,जो वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा सिद्ध हो सकते हैं।

बन्दूक की गोली मारकर या विष का इन्जेक्शन देकर किसी मनुष्य का प्राण घात किया जा सकता है। तन्त्र द्वारा अभिचार क्रिया करके किसी दूसरे का प्राण लिया जा सकता है। निर्बल प्राण वाले मनुष्य पर तो प्रयोग और

भी आसानी से हो जाते हैं, जैसे छोटी चिड़िया को मारने के लिए स्टेनगन की जरूरत नहीं पड़ती । गुलेल में रखकर फेंकी गई मामूली कंकड़ी के आघात से ही चिड़िया गिर पड़ती है और पंख फड़फड़ाकर प्राण त्याग कर देती है । इसी प्रकार निर्बल प्राण वाले, कमजोर, बीमार, बालक, वृद्ध या डरपोक मनुष्य पर मामूली शक्ति का तान्त्रिक भी प्रयोग कर लेता है और उन्हें घातक बीमारी और मृत्यु के मुँह में धकेल देता है ।

शराब, चरस, गाँजा आदि नशीली चीजों की मात्रा शरीर में अधिक पहुँच जाए, तो मस्तिष्क की क्रिया-पद्धति विकृत हो जाती है । नशे में मदहोश हुआ मनुष्य ठीक प्रकार सोचने, विचारने, निर्णय करने एवं अपने ऊपर काबू रखने में असमर्थ होता है । उसकी विचारधारा, वाणी एवं क्रिया में अस्तव्यस्तता होती है । उन्माद या पागलपन के सब लक्षण उस नशीली चीज की अधिक मात्रा से उत्पन्न हो जाते हैं । इसी प्रकार तांत्रिक प्रयोगों द्वारा एक ऐसा सूक्ष्म नशीला प्रभाव किसी के मस्तिष्क में प्रवेश कराया जा सकता है कि उसकी बुद्धि पदच्युत हो जाए और तीव्र प्रयोगों की दशा से कपड़े फाड़ने वाला पागल बन जाए अथवा मन्द प्रयोगों की दशा में अपनी बुद्धि की तीव्रता खो बैठे और चतुरता से वंचित होकर वज्रमूर्ख हो जाए ।

कुछ त्रिषैली औषधियाँ ऐसी हैं जिन्हें भूल से सेवन कर लिया जाए, तो शरीर में भयंकर उपद्रव खड़े हो जाते हैं । कै, दस्त, हिचकी, छींक, बेहोशी, मूर्छा, दर्द, अनिद्रा, भ्रम आदि रोग हो जाते हैं । इसी प्रकार तान्त्रिक विधान में ऐसी विधियाँ भी हैं, जिनके द्वारा एक प्रकार का विषैला पदार्थ किसी के शरीर में प्रवेश कराया जा सकता है ।

विज्ञान ने रेडियो किरणों की शक्ति से अपने आप उड़ने वाला 'रेडारबम' नामक ऐसा यन्त्र बनाया है, जो किसी निर्धारित स्थान पर जाकर गिरता है । कृत्या, घात, मारण आदि के अभिचारों में ऐसी ही सूक्ष्म क्रिया प्राण शक्ति के आधार पर की जाती है । दूरस्थ व्यक्ति पर वह तांत्रिक 'रेडार' ऐसा गिरता है कि लक्ष्य को क्षत-विक्षत कर देता है ।

युद्धकाल में बमबारी करके खेत, मकान, कारखाने, उद्योग, उत्पादन, रेल, मोटर, सड़क, पुल आदि नष्ट कर दिये जाते हैं, जिससे उस स्थान के मनुष्य साधनहीन हो जाते हैं, उनकी सम्पन्नता और अमीरी उस बमवारी द्वारा नष्ट हो जाती है और वे थोड़े ही समय में असहाय बन जाते हैं । तन्त्र द्वारा किसी के सौभाग्य, वैभव और सम्पन्नता पर बमबारी करने से उसे इस प्रकार नष्ट किया जा सकता है कि सब हैरत में रह जायें कि उसका सब कुछ इतनी जल्दी, इतने आकस्मिक रूप से कैसे नष्ट हो गया या होता जा रहा है ?

कूटनीतिक जासूस और व्यवसायी ठग ऐसा छद्‌म वेश बनाते और ऐसा जाल रचते हैं, जिसके आकर्षण, प्रलोभन और कुचक्र में फँसकर समझदार आदमी भी बेवकूफ बन जाता है । मेस्मरेजम एवं हिप्नोटिज्म द्वारा किसी के मस्तिष्क को अर्द्धसम्मोहित करके वशवर्ती बना लिया जाता है; फिर उस व्यक्ति को जैसे आदेश दिये जायें, तदनुसार ही आचरण करता है । मेस्मरेजम या तन्त्र से वशीभूत मनुष्य उसी प्रकार सोचता, विचारता, अनुभव करता है, जैसा कि प्रयोक्ता का संकेत होता है । उसकी इच्छा, मनोवृत्ति भी उस समय वैसी ही हो जाती है, जैसी कि कार्य करने की प्रेरणा दी जा रही हो । तन्त्र विद्या में मेस्मरेजम से अनेक गुनी प्रचण्ड शक्ति है, उसके द्वारा जिस मनुष्य पर गुप्त रूप से बौद्धिक वशीकरण का जाल फेंका जाता है, वह एक प्रकार की सूक्ष्म तन्द्रा में जाकर दूसरे का वशवर्ती हो जाता है । उसकी बुद्धि वही सोचती, वैसी ही इच्छा करती है, वैसा ही कार्य करती है जैसा कि उससे गुप्त षड़यन्त्र द्वारा कराया जा रहा है । अपनी निज की विचारशीलता से वह प्राय: वंचित हो जाता है ।

व्यभिचारी पुरुष किन्हीं सरल स्वभाव वाली स्त्रियों पर इस प्रकार का जादू चलाते हैं कि उन्हें पथ भ्रष्ट करने में सफल हो जाते हैं । सीधी-सादी, कुलशील का पूरा संकोच और सम्मान करने वाली देवियाँ दूसरों के वशीभूत होकर अपनी प्रतिष्ठा, लोक-लज्जा आदि को तिलांजलि देकर ऐसा आचरण करती हैं, जिसे देखकर हैरत होती है कि इनकी बुद्धि ऐसे आकस्मिक तरीके से विपरीत क्यों हो गयी ? परन्तु वस्तुत: वे बेचारी निर्दोष होती हैं । वे बाज़ के चंगुल में फँसे हुए पक्षी या भेड़िये के मुँह में लगी हुई बकरी की तरह जिधर घसीटी जाती हैं उधर ही घिसट जाती हैं ।

इसी प्रकार दुराचारिणी स्त्रियाँ किन्हीं पुरुषों पर अपना तान्त्रिक प्रभाव डालकर उनकी नाक में नकेल डाल देती हैं और मनचाहे नाच नचाती हैं। कई वेश्याओं को इस प्रकार का जादू मालूम होता है। वे ऐसे पंछी फँसा लेती हैं, जो अपना सब कुछ खो बैठने पर भी उस चंगुल से छूट नहीं पाते। उन फँसे हुए पक्षियों का स्वास्थ्य, सौन्दर्य और धन अपहरण करके वे अपने स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा धन को बढ़ाती रहती हैं।

तन्त्र द्वारा स्त्री पुरुष आपस में एक दूसरे की शक्ति को चूसते हैं। ऐसे साधन तन्त्र प्रक्रिया में मौजूद हैं, जिनके द्वारा एक पुरुष अपनी सहगामिनी स्त्री की जीवन-शक्ति को, प्राणशक्ति को चूसकर उसे छूँछ कर सकता है और स्वयं उससे परिपुष्ट हो सकता है। अण्डों की प्राणशक्ति चूसकर तगड़े बनने एवं दूसरों के रक्त का इन्जेक्शन लेकर अपने शरीर को पुष्ट करने के उदाहरण अनेक होते हैं, पर ऐसे भी उदाहरण होते हैं कि समागम द्वारा साथी की सूक्ष्म प्राणशक्ति को चूस लिया जाये। तान्त्रिक प्रधानता के मध्यकालीन युग में बड़े आदमी इस आधार पर बहुविवाह की ओर अग्रसर हो रहे थे और रनिवासों में सैकड़ों रानियाँ रखी जाने लगी थीं।

इस प्रक्रिया को स्त्रियाँ भी अपना लेती हैं। जादूगरनी स्त्रियाँ सुन्दर युवकों को मेढ़ा, बकरा, तोता आदि बना लेती थीं, ऐसी कथायें सुनी जाती हैं। तोता, बकरा आदि बनाना आज कठिन है, पर अब भी ऐसी घटनायें देखी गई हैं कि वृद्धा तन्त्रसाधिनी युवकों को चूसती हैं और वे अनिच्छुक होते हुए भी अपनी प्राणशक्ति खोते रहने के लिए विवश होते हैं। इससे एक पक्ष पुष्ट होता है और दूसरा अपनी स्वाभाविक शक्ति से वंचित होकर दिन-दिन दुर्बल होता जाता है।

वाम-मार्ग के पंच मकारों में पञ्चम मकार 'मैथुन' है। अन्नमय कोश और प्राणमय कोश के सम्मिलित मैथुन से यह महत्त्वपूर्ण क्रिया होती है। इसमें अगणित गुप्त, अन्तरंग शक्तियों के अनुलोम-विलोम क्रम से आकर्षण-विकर्षण, घूर्णन-चूर्णन, आकुञ्चन-विकुञ्चन, प्रत्यारोहण, अभिवर्द्धन, वशीकरण, प्रत्यावर्तन आदि सूक्ष्म मंथन होते हैं, जिनके कारण जोड़े में, स्त्री-पुरुष के शरीरों में आपसी महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान होता है। रति-क्रिया साधारणतः एक अत्यन्त साधारण शारीरिक क्रिया दिखाई देती है, पर उसका सूक्ष्म महत्त्व अत्यधिक है। उस महत्त्व को समझते हुए ही भारतीय धर्म में सर्व साधारण की सुरक्षा का, हितों का ध्यान रखते हुए इस संबंध में अनेक मर्यादायें बाँधी गई हैं।

मस्तिष्क, हृदय और जननेन्द्रिय शरीर में यह तीन शक्ति पुञ्ज हैं। इन्हीं स्थानों में ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि, रुद्र-ग्रन्थि है। वाम-मार्ग काली तत्त्व से संबंधित होने के कारण रुद्र-ग्रन्थि से जब शक्ति संचय करने के लिए कूर्म प्राण को आधार बनाना होता है, तो मैथुन द्वारा सामर्थ्य-भण्डार जमा किया जाता है। जननेन्द्रिय के सूक्ष्म प्रभाव क्षेत्र में मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, बज्र मेरु, तड़ित कच्छप, कुण्डल सर्पिणी, रुद्र-ग्रन्थि, समान, कृकल, अपान, कूर्म प्राण, अलम्बुषा, डाकिनी, सुषुम्ना आदि के अवस्थान हैं। इनका आकुञ्चन-प्रकुञ्चन जब तन्त्रविद्या के आधार पर होता है, तो यह शक्ति उत्पन्न होती है और वह शक्ति दोनों ही दिशा में उल्टी-सीधी चल सकती है। इस विद्या के ज्ञाता जननेन्द्रिय का उचित रीति से प्रयोग करके आशातीत लाभ उठाते हैं, परन्तु जो लोग इस विषय में अनभिज्ञ हैं, वे स्वास्थ्य और जीवनी शक्ति को खो बैठते हैं। साधारणतः रति-क्रिया में क्षय ही अधिक होता है, अधिकांश नर-नारी उसमें अपने बल को खोते ही हैं, पर तन्त्र के गुप्त विधानों द्वारा अन्नमय और प्राणमय कोशों की सुप्त शक्तियाँ इससे जगाई भी जा सकती हैं।

वाम-मार्ग में मैथुन को इन्द्रिय भोग की क्षुद्र सरसता के रूप में नहीं लिया जाता वरन् शक्ति-केन्द्रों के जागरण एवं मन्थन द्वारा अभीष्ट सिद्धि के लिए उसका उपयोग होता है। सुप्त प्राणों का जागरण एवं एक की सामर्थ्यों का दूसरे के शरीर में परिवर्तन, हस्तान्तरण करने के लिए इसका 'रति साधना' के रूप में प्रयोग होता है। मानव प्राणी के लिए परमात्मा द्वारा दिए हुए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपहार इस 'रति' और 'प्राण' के पुञ्ज को ईश्वरीय भाव से परम श्रद्धा के साथ पूजा जाता है। शिव-लिंग के साथ शक्ति-योनि के तादात्म्य की मूर्तियाँ आमतौर से पूजी जाती हैं। उनमें जननेन्द्रिय में स्थित दिव्य शक्ति के प्रति उच्चकोटि की श्रद्धा का संकेत है। क्षुद्र सरसता के लिए उसका प्रयोग तो हेय ही माना गया है।

चूँकि इस विद्या के सार्वजनिक उद्‌घाटन से इसका दुरुपयोग होने और अनैतिकता फैलने का पूरा खतरा है । इसलिए इसे अत्यंत गोपनीय रखा गया है । उपर्युक्त पंक्तियों में तन्त्र में सन्निहित शक्तियों के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालना ही यहाँ अभीष्ट है ।

किसी अस्त्र को आगे की ओर भी चलाया जा सकता है और पीछे की ओर भी । ईख से स्वादिष्ट मिष्टान्न भी बन सकता है और मदिरा भी । गायत्री महाशक्ति को जहाँ आत्म-कल्याण एवं सात्त्विक प्रयोजनों के लिए लगाया जाता है, वहाँ उसे तामसिक प्रयोजनों में भी प्रयुक्त किया जा सकता है । गायत्री का दक्षिण-मार्ग भी है और वाम-मार्ग भी । दक्षिण-मार्ग वेदोक्त, सतोगुणी, सरल, धर्मपूर्ण एवं कल्याण का साधन है । वाम-मार्ग तन्त्रोक्त, तमोगुणी, दुस्साहसपूर्ण, अनैतिक एवं सांसारिक चमत्कारों को सिद्ध करने वाला है ।

गायत्री के दक्षिण-मार्ग की शक्ति का स्रोत ब्रह्म का परम सतोगुणी 'ह्रीं' तत्त्व है और वाम-मार्ग का महातत्त्व 'क्लीं' केन्द्र से अपनी शक्ति प्राप्त करता है । अपने या दूसरे के प्राण का मन्थन करके तन्त्र की तड़ित शक्ति उत्पन्न की जाती है । रति और प्राण के मन्थन एवं रतिकर्म के संबंध में पिछले पृष्ठ पर कुछ प्रकाश डाला जा चुका है । दूसरा मन्थन किसी प्राणी के वध द्वारा होता है ।प्राणान्त समय में भी प्राणी का प्राण मैथुन की भाँति उत्तेजित, उद्विग्न एवं व्याकुल होता है, उस स्थिति में भी तान्त्रिक लोग उस प्राण-शक्ति का बहुत बड़ा भाग खींचकर अपना शक्ति-भण्डार भर लेते हैं । नीति-अनीति का ध्यान न रखने वाले तान्त्रिक पशु-पक्षियों का बलिदान इसी प्रयोजन के लिए करते हैं ।

मृत मनुष्यों के शरीरों में कुछ समय तक उपप्राणोंका अस्तित्व सूक्ष्म अंश में बना रहता है । तान्त्रिक लोग श्मशान-भूमि में मरघट जगाने की साधना करते हैं । अघोरी लोग शव-साधना करके मृतक की बची खुची शक्ति चूसते हैं । देखा जाता है कि कई अघोरी मृतक की लाश को जमीन में से खोदकर ले जाते हैं, मृतकों की खोपड़ियाँ संग्रह करते हैं, चिताओं पर भोजन पकाते हैं । यह सब इसलिए किया जाता है कि मरे हुए शरीर के अति सूक्ष्म भागों के भीतर, विशेषतः खोपड़ी में जहाँ-तहाँ उपप्राणों की प्रसुप्त चेतना मिल जाती है । दाना-दाना बीनकर अनाज की बोरी भर लेने वाले कंजूसों की तरह अघोरी लोग हड्डियों का फास्फोरस मिश्रित 'द्यु' तत्त्व एक बड़ी मात्रा में इकट्ठा कर लेते हैं ।

दक्षिण-मार्ग किसान के विधिपूर्वक खेती करके न्यायानुमोदित अन्न उपार्जन करने के समान है । किसान अपने अन्न को बड़ी सावधानी और मितव्ययिता से खर्च करता है; क्योंकि उसमें उसका दीर्घकालीन कठोर श्रम लगा है, पर डाकू की स्थिति ऐसी नहीं होती । वह दुस्साहसपूर्ण आक्रमण करता है और यदि सफल हुआ, तो उस कमाई को होली की तरह फूँकता है । योगी लोग चमत्कार प्रदर्शन में अपनी शक्ति खर्च करते हुए किसान की भाँति झिझकते हैं, पर तान्त्रिक लोग अपने गौरव और बड़प्पन का आतंक जमाने के लिए छुद्र स्वार्थों के कारण दूसरों को अनुचित हानि-लाभ पहुँचाते हैं । अघोरी, कापालिक, रक्त बीज, वैतालिक, ब्रह्म-राक्षस आदि कई सम्प्रदाय तान्त्रिकों के होते हैं, उनकी साधना-पद्धति एवं कार्य-प्रणाली भिन्न-भिन्न होती है । स्त्रियों में डाकिनी, शाकिनी, कपालकुण्डला, सर्पसूत्रा पद्धतियों का प्रचार अधिक पाया जाता है ।

बंदूक से गोली छूटते समय वह पीछे की ओर झटका मारती है । यदि सावधानी के साथ छाती से सटाकर बन्दूक को ठीक प्रकार से न रखा गया, तो वह ऐसे जोर का झटका देगी कि चलाने वाला औंधे मुँह पीछे को गिर पड़ेगा । कभी-कभी इससे अनाड़ियों के गले की हँसली हड्डी तक टूट जाती है । तन्त्र द्वारा भी बन्दूक जैसी तेजी के साथ विस्फोट होता है । उसका झटका सहन करने योग्य स्थिति यदि साधक की न हो, तो उसे भयंकर खतरे में पड़ जाना होता है ।

तन्त्र का शक्ति-स्रोत दैवी, ईश्वरीय शक्ति नहीं वरन् भौतिक शक्ति है । प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु अपनी धुरी पर द्रुत गति से भ्रमण करते हैं तब उसके घर्षण से जो ऊष्मा पैदा होती है, उसका नाम काली या दुर्गा है । इस ऊष्मा को प्राप्त करने के लिए अस्वाभाविक, उलटा, प्रतिगामी मार्ग ग्रहण करना पड़ता है । जल का बहाव रोका जाय, तो उस प्रतिरोध से एक शक्ति का उद्‌भव होता है । तांत्रिक वाम-मार्ग पर चलते हैं फलस्वरूप काली शक्ति

का प्रतिरोध करके अपने को एक तामसिक, पञ्चभौतिक बल से सम्पन्न कर लेते हैं । उलटा आहार, उलटा विहार, उलटी दिनचर्या, उलटी गतिविधि सभी कुछ उनका उलटा होता है । अघोरी, रक्तबीजी, कापालिक, डाकिनी आदि के सम्पर्क में जो लोग रहे हैं, वे जानते हैं कि उनके आचरण कितने उलटे और वीभत्स होते हैं ।

द्रुतगति से एक नियत दिशा में दौड़ती हुई रेल, मोटर, नदी, वायु आदि के आगे आकर उसकी गति को रोकना और उस प्रतिरोध से शक्ति प्राप्त करना यह खतरनाक खेल है । हर कोई इसे कर भी नहीं सकता, क्योंकि प्रतिरोध के समय झटका लगता है । प्रतिरोध जितना कड़ा होगा, झटका उतना ही जबरदस्त लगेगा । तन्त्र साधक जानते हैं कि जब कोलाहल से दूर एकान्त खण्डहरों, श्मशानों में अर्धरात्रि के समय जब उनकी साधना का मध्यकाल आता है तब कितने रोमांचकारी भय आ उपस्थित होते हैं । गगनचुम्बी राक्षस, विशालकाय सर्प, लाल नेत्रों वाले शूकर और महिष, छुरी से दाँतों वाले सिंह साधक के आस-पास जिस रोमांचकारी भयंकरता से गर्जन-तर्जन करते हुए कुहराम मचाते और आक्रमण करते हैं , उनसे न तो डरना और न विचलित होना यह साधारण काम नहीं है । साहस के अभाव में यदि इस प्रतिरोधी प्रतिक्रिया से साधक भयभीत हो जाए, तो उसके प्राण संकट में पड़ सकते हैं । ऐसे अवसरों पर कोई व्यक्ति पागल, बीमार, गूँगे, बहरे, अन्धे हो जाते हैं । कइयों को तो प्राणों तक से हाथ धोना पड़ता है । इस मार्ग में साहसी और निर्भीक प्रकृति के मनुष्य ही सफलता पाते हैं ।

ऐसी कितनी ही घटनायें हमें मालूम हैं, जिनमें तन्त्र साधकों को खतरे से होकर गुजरना पड़ा है । विशेषत: जब किसी सूक्ष्म प्राण सत्ता को वशीभूत करना होता है, तो उसकी विपरीत प्रतिक्रिया बड़ी विकट होती है । सूक्ष्म जगत्‌रूपी समुद्र में मछलियों की भाँति कुछ चैतन्य प्राणधारी स्वतंत्र सत्ताओं का अस्तित्व पाया जाता है । जैसे समुद्र में मछलियाँ अनेक जाति की होती हैं, उसी प्रकार यह सत्तायें भी अनेक स्वभावों , गुणों, शक्तियों से सम्पन्न होती हैं । इन्हें पितर, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, राक्षस, देव-दानव, ब्रह्म-राक्षस, बेताल, कूष्माण्ड, भैरव, रक्तबीज आदि कहते हैं । उनमें से किसी को सिद्ध करके उसकी शक्ति से अपने प्रयोजनों को साधा जाता है । इनको सिद्ध करते समय वे उलटकर कुचले हुए सर्प की तरह ऐसा आक्रमण करते हैं कि निर्बल साधक के लिए उस चोट का झेलना कठिन होता है । ऐसे खतरे में पड़कर कई व्यक्ति इतने भयभीत एवं आतंकित होते हमने देखे हैं कि जिनकी छाती की रक्तवाहिनी नाड़ियाँ फट गईं और मुख, नाक तथा मल मार्ग से खून बहने लगा । ऐसे आहत लोगों में से अधिकांश को मृत्यु के मुख में प्रवेश करना पड़ा, जो बचे उनका शरीर और मस्तिष्क विकारग्रस्त हो गया ।

भूतोन्माद, मानसिक भ्रम, आवेश, अज्ञात आत्माओं द्वारा कष्ट दिया जाना, दु:स्वप्न, तान्त्रिकों के अभिचारी आक्रमण आदि किसी सूक्ष्म प्रक्रिया द्वारा जो व्यक्ति आक्रान्त हो रहा हो, उसे तान्त्रिक प्रयोगों द्वारा रोका जा सकता है और उस प्रयोक्ता पर उसी के प्रयोग को उलटाकर उस अत्याचार का मजा चखाया जा सकता है; परंतु इस प्रकार के कार्य दक्षिणमार्गी गायत्री उपासना से भी हो सकते हैं । अभिचारियों या दुष्टों पर तात्कालिक उलटा आक्रमण करना तो तन्त्र द्वारा ही सम्भव है ; पर हाँ, प्रयत्नों को वेदोक्त साधना से भी निष्फल किया जा सकता है और उनकी शक्ति को छीनकर भविष्य के लिए उन्हें विष रहित सर्प जैसा हतवीर्य बनाया जा सकता है । तन्त्र द्वारा किन्हीं स्त्री-पुरुषों की काम-शक्ति अपहरण करके उन्हें नपुंसक बना दिया जाता है, पर अति असंयम को दक्षिण मार्ग द्वारा भी संयमित किया जा सकता है । तन्त्र की शक्ति प्रधानत: मारक एवं आक्रमणकारी होती है; पर योग द्वारा शोधन, परिमार्जन, संचय एवं रचनात्मक निर्माण कार्य किया जाता है ।

तन्त्र के चमत्कारी प्रलोभन असाधारण हैं । दूसरों पर आक्रमण करना तो उनके द्वारा बहुत ही सरल है । किसी को बीमारी, पागलपन, बुद्धिभ्रम, उच्चाटन उत्पन्न कर देना, प्राण-घातक संकट में डाल देना आसान है । सूक्ष्म जगत् में भ्रमण करती हुई किसी 'चेतनाग्रन्थि' को प्राणवान् बनाकर उससे प्रेत, पिशाच, बेताल, भैरव, कर्ण पिशाचिनी, छाया पुरुष आदि के रूप में सेवक की तरह काम लेना, सुदूर देशों से अजनबी चीजें मँगा देना, गुप्त रखी हुई चीजें या अज्ञात व्यक्तियों के नाम, पते बता देना तान्त्रिक के लिए सम्भव है । आगे चलकर वेश बदल लेना या किसी वस्तु का रूप बदल देना भी उनके लिए संभव है । इसी प्रकार की अनेकों विलक्षणतायें उनमें देखी जाती हैं, जिससे लोग बहुत प्रभावित होते हैं और उनकी भेंट-पूजा भी खूब होती है; परन्तु स्मरण रखना चाहिए

कि इन शक्तियों का स्रोत परमाणुगत ऊष्मा (काली) ही है, जो परिवर्तनशील है । यदि थोड़े दिनों साधना बन्द रखी जाए या प्रयोग छोड़ दिया जाए, तो उस शक्ति का घट जाना या समाप्त हो जाना अवश्यम्भावी है ।

तन्त्र द्वारा कुछ छोटे-मोटे लाभ भी हो सकते हैं । किसी के तान्त्रिक आक्रमण को निष्फल करके किसी निर्दोष की हानि को बचा देना ऐसा ही सदुपयोग है । तान्त्रिक विधि से 'शक्ति-पात' करके अपनी उत्तम शक्तियों का कुछ भाग किसी निर्बल मन वाले को देकर उसे ऊँचा उठा देना भी सदुपयोग ही है और भी कुछ ऐसे ही प्रयोग हैं, जिन्हें विशेष परिस्थिति में काम में लाया जाए, तो वह भी सदुपयोग ही कहा जायेगा । परंतु असंस्कृत मनुष्य इस तमोगुण प्रधान शक्ति का सदा सदुपयोग ही करेंगे, इसका कुछ भरोसा नहीं । स्वार्थ साधन का अवसर हाथ में आने पर उसका लाभ छोड़ना किन्हीं बिरलों का ही काम होता है ।

तन्त्र अपने आप में कोई बुरी चीज नहीं है । वह एक विशुद्ध विज्ञान है । वैज्ञानिक लोग यन्त्रों और रासायनिक पदार्थों की सहायता से प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों का उपयोग करते हैं । तान्त्रिक अपने को ऐसी रासायनिक एवं यान्त्रिक स्थिति में ढाल लेता है कि अपने शरीर और मन को एक विशेष प्रकार से संचालित करके प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों का मनमाना उपयोग करे । इस विज्ञान का विद्यार्थी कोमल परमाणुओं वाला होना चाहिए, साथ ही साहसी प्रकृति का भी । कठोर और कमजोर मन वाले इस दिशा में अधिक प्रगति नहीं कर पाते । यही कारण है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक आसानी से सफल तान्त्रिक बनती देखी गई हैं । छोटी-छोटी प्रारम्भिक सिद्धियाँ तो उन्हें स्वल्प प्रयत्न से ही प्राप्त हो जाती हैं ।

तन्त्र एक स्वतन्त्र विज्ञान है । विज्ञान का दुरुपयोग भी हो सकता है और सदुपयोग भी । परन्तु इसका आधार अनुचित और खतरनाक है और शक्ति प्राप्त करने के उद्गम स्रोत अनैतिक, अवांछनीय हैं, साथ ही प्राप्त सिद्धियाँ भी अस्थायी हैं । आमतौर से तान्त्रिक घाटे में रहता है । उससे संसार का जितना उपकार हो सकता है, उससे अधिक अपकार होता है, इसलिए चमत्कारी होते हुए भी इस मार्ग को निषिद्ध एवं गोपनीय ठहराया गया है । अन्य समस्त तन्त्र साधना की अपेक्षा गायत्री का वाम-मार्ग अधिक शक्तिशाली है । अन्य सभी विधियों की अपेक्षा इस विधि से मार्ग-सुगम पड़ता है, फिर भी निषिद्ध वस्तु त्याज्य है । सर्व-साधारण के लिए तो उससे दूर रहना ही उचित है ।

यों तन्त्र की कुछ सरल विधियाँ भी हैं । अनुभवी पथ-प्रदर्शक इन कठिनाइयों का मार्ग सरल बना सकते हैं । हिंसा, अनीति एवं अकर्म से बचकर ऐसे लाभों के लिए साधन कर सकते हैं, जो व्यावहारिक जीवन में उपयोगी हों और अनर्थ से बचकर स्वार्थ साधन होता रहे; पर यह लाभ तो दक्षिणमार्गी साधन से भी हो सकते हैं । जल्दबाजी का प्रलोभन छोड़कर यदि धैर्य और सात्त्विक साधन किये जाएँ, तो उनके भी कम लाभ नहीं हैं । हमने दोनों मार्गों का लम्बे समय तक साधन करके यही पाया है कि दक्षिण मार्ग का राज पथ ही सर्वसुलभ है ।

गायत्री द्वारा साधित तन्त्र विद्या का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है । सर्प-विद्या, प्रेत-विद्या, भविष्य-ज्ञान, अदृश्य वस्तुओं का देखना, परकाया प्रवेश, घात-प्रतिघात, दृष्टि-बन्ध, मारण, उन्मादीकरण, वशीकरण, विचार-संदोह, मोहनमन्त्र, रूपान्तरण, विस्मृति, सन्तान सुयोग, छाया-पुरुष, भैरवी, अपहरण, आकर्षण-अभिकर्षण आदि अनेक ऐसे-ऐसे कार्य हो सकते हैं, जिनको अन्य किसी भी तान्त्रिक प्रक्रिया द्वारा किया जा सकता है; परन्तु यह स्पष्ट है कि तन्त्र की प्रणाली सर्वोपयोगी नहीं है । उसके अधिकारी कोई बिरले ही होते हैं ।

दक्षिणमार्गी, वेदोक्त, योग सम्मत, गायत्री-साधना किसान द्वारा अन्न उपजाने के समान, धर्म संगत, स्थिर लाभ देने वाली और लोक–परलोक में सुख शान्ति देने वाली है । पाठकों का वास्तविक हित इसी राजपथ के अवलम्बन में है । दक्षिण मार्ग से, वेदोक्त साधन से जो लाभ मिलते हैं, वे ही आत्मा को शान्ति देने वाले, स्थायी रूप से उन्नति करने वाले एवं कठिनाइयों को हल करने वाले हैं । तन्त्र में चमत्कार बहुत हैं, वाम मार्ग से आसुरी

शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, उसकी संहारक एवं आतंकवादी क्षमता बहुत है, परन्तु इससे किसी का भला नहीं हो सकता। तात्कालिक लाभ को ध्यान में रखकर जो लोग तन्त्र के फेर में पड़ते हैं, वे अन्तत: घाटे में रहते हैं। तन्त्र विद्या के अधिकारी वही हो सकते हैं जो तुच्छ स्वार्थों से ऊँचे उठे हुए हैं। परमाणु बम के रहस्य और प्रयोग हर किसी को नहीं बताये जा सकते, इसी प्रकार तन्त्र की खतरनाक जिम्मेदारी केवल सत्पात्रों को ही सौंपी जा सकती है।

गायत्री की गुरु दीक्षा

मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा जहाँ कितनी ही विशेषतायें हैं, वहाँ कितनी ही कमियाँ भी हैं। एक सबसे बड़ी कमी यह है कि पशु-पक्षियों के बच्चे बिना किसी के सिखाये अपनी जीवनचर्या की साधारण बातें अपने आप सीख जाते हैं; पर मनुष्य का बालक ऐसा नहीं करता है। यदि उसका शिक्षण दूसरे के द्वारा न हो, तो वह उन विशेषताओं को प्राप्त नहीं कर सकता जो मनुष्य में होती हैं।

अभी कुछ दिन पूर्व की बात है दक्षिण अफ्रीका के जंगलों में एक मादा भेड़िया मनुष्य के दो छोटे बच्चों को उठा ले गई। कुछ ऐसी विचित्र बात हुई कि उसने उन्हें खाने के बजाय अपना दूध पिलाकर पाल लिया, वे बड़े हो गये। एक दिन शिकारियों का दल भेड़िये की तलाश में इधर से निकला तो हिंसक पशु की माँद में मनुष्य के बालक देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, वे उन्हें पकड़ लाये। ये बालक भेड़ियों की तरह चलते थे, वैसे ही गुर्राते थे, वही सब खाते थे और उनकी सारी मानसिक स्थिति भेड़िये जैसी थी। कारण यही था कि उन्होंने जैसा देखा, वैसा सीखा और वैसे ही बन गये।

जो बालक जन्म से बहरे होते हैं, वे जीवनभर गूंगे भी रहते हैं; क्योंकि बालक दूसरे के मुँह से निकलने वाले शब्दों को सुनकर उसकी नकल करना सीखता है। यदि कान बहरे होने की वजह से वह दूसरों के शब्द सुन नहीं सकता, तो फिर यह असम्भव है कि शब्दोच्चारण कर सके। धर्म, संस्कृति, रीति- रिवाज, भाषा, वेश-भूषा, शिष्टाचार, आहार-विहार आदि बातें बालक अपने निकटवर्ती लोगों से सीखता है। यदि कोई बालक जन्म से ही अकेला रखा जाए, तो वह उन सब बातों से वञ्चित रह जायेगा, जो मनुष्य में होती हैं।

पशु-पक्षियों के बच्चों में यह बात नहीं है। बया पक्षी का छोटा बच्चा पकड़ लिया जाय और वह माँ-बाप से कुछ न सीखे तो भी बड़ा होकर अपने लिए वैसा ही सुन्दर घोंसला बना लेगा जैसा कि अन्य बया पक्षी बनाते हैं, पर अकेला रहने वाला मनुष्य का बालक भाषा, कृषि, शिल्प, संस्कृति, धर्म-शिष्टाचार, लोक-व्यवहार, श्रम-उत्पादन आदि सभी बातों से वञ्चित रह जायेगा। पशुओं के बालक जन्म से ही चलने फिरने लगते हैं और माता का पय पान करने लगते हैं, पर मनुष्य का बालक बहुत दिन में कुछ समझ पाता है। आरम्भ में तो वह करवट बदलना, दूध का स्थान तलाश करना तक नहीं जानता, अपनी माता तक को नहीं पहचानता, इन बातों में पशुओं के बच्चे अधिक चतुर होते हैं।

मनुष्य कोरे कागज के समान है, कागज पर जैसी स्याही से जैसे अक्षर बनाये जाते हैं, वैसे ही बन जाते हैं। कैमरे की प्लेट पर जो छाया पड़ती है, वैसा ही चित्र अंकित हो जाता है। मानव मस्तिष्क की रचना भी कोरे कागज एवं फोटो-प्लेट की भाँति है। वह निकटवर्ती वातावरण में से अनेक बातें सीखता है। उसके ऊपर जिन बातों का विशेष प्रभाव पड़ता है, उन्हें वह अपने मानस क्षेत्र में जमा कर लेता है। मनुष्य गीली मिट्टी के समान है जैसे साँचे में ढाल दिया जाए, वैसा ही खिलौना बन जाता है। उच्च परिवारों में पलने वाले बालकों में वैसी ही विशेषतायें होती हैं और निकृष्ट श्रेणी के बीच रहकर जो बालक पलते हैं, उनमें वैसी ही क्षुद्रतायें बहुधा पाई जाती हैं।

हमारे पारदर्शी पूर्वज मनुष्य की इस कमजोरी को भली प्रकार समझते थे। उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि यदि बालकों पर अनियन्त्रित प्रभाव पड़ता रहा, उनके सुधार और परिवर्तन का प्रारंभ से ही ध्यान न रखा गया, तो यह बहुत मुश्किल है कि वे अपनी मनोभूमि को वैसी बना सकें जैसी कि मानव प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है। आमतौर से सब माता-पिता उतने सुसंस्कृत नहीं होते कि अपने बच्चों पर केवल अच्छा प्रभाव ही पड़ने दें और

बुरे प्रभाव से उन्हें बचाते रहें । दूसरे यह भी है कि माँ-बाप में बालक के प्रति लाड़-प्यार का भाव स्वभावत: अधिक होता है, वे उनके प्रति अधिक उदार एवं मोहग्रस्त होते हैं, ऐसी दशा में अपने बालकों की बुराइयाँ उन्हें सूझ भी नहीं पड़तीं । फिर इतने सूक्ष्म-दर्शी माँ-बाप कहाँ होते हैं, जो अपनी सन्तान की मानसिक स्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण एवं विश्लेषण करके कुसंस्कारों का परिमार्जन तत्काल करने को उद्यत रहें ।

सत् शिक्षण की आवश्यकता

मनुष्य की यह कमजोरी है कि वह दूसरों से ही सब कुछ सीखता है, जो कि उसके उच्च विकास में बाधक होती है । कारण कि साधारण वातावरण में भले तत्त्वों की अपेक्षा बुरे तत्त्व अधिक होते हैं । उन बुरे तत्त्वों में ऐसा आकर्षण होता है कि कच्चे दिमाग उनकी ओर बड़ी आसानी से खिंच जाते हैं । फलस्वरूप वे बुराइयाँ अधिक सीख लेने के कारण आगे चलकर बुरे मनुष्य साबित होते हैं । छोटी आयु में यह पता नहीं चलता कि बालक किन संस्कारों को अपनी मनोभूमि में जमा रहा है । बड़ा होने पर जब वे संस्कार एवं स्वभाव प्रकट होते हैं, तब उन्हें हटाना कठिन हो जाता है; क्योंकि दीर्घकाल तक वे संस्कार बालक के मन में जमे रहने एवं पकते रहने के कारण ऐसे सुदृढ़ हो जाते हैं कि उनका हटाना कठिन होता है ।

ऋषियों ने इस भारी कठिनाई को देखकर एक अत्यंत ही सुन्दर और महत्त्वपूर्ण उपाय यह निश्चित किया कि प्रत्येक बालक पर माँ-बाप के अतिरिक्त किसी ऐसे व्यक्ति का भी नियन्त्रण रहना चाहिए जो मनोविज्ञान की सूक्ष्मताओं को समझता हो । दूरदर्शी तत्त्वज्ञानी और पारदर्शी होने के कारण बालक के मन में रहने वाले संस्कार बीजों को अपनी पैनी दृष्टि से तत्काल देख लेने और उनमें आवश्यक सुधार करने की योग्यता रखता हो । ऐसे मानसिक नियन्त्रणकर्ता की उनने प्रत्येक बालक को अनिवार्य आवश्यकता घोषित की ।

शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य के तीन प्रत्यक्ष देव हैं- (१) माता, (२) पिता, (३) गुरु । इन्हें ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उपाधि दी है । माता जन्म देती है इसलिए ब्रह्मा है, पिता पालन करता है इसलिए विष्णु है और गुरु कुसंस्कारों का संहार करता है इसलिए शंकर है । गुरु का स्थान माता-पिता के समकक्ष है । कोई यह कहे कि मैं बिना माता के पैदा हुआ, तो उसे "झूँठा" कहा जायेगा, क्योंकि माता के गर्भ में रहे बिना कोई किस प्रकार जन्म ले सकता है ? इसी कारण कोई यह कहे कि मैं बिना बाप का हूँ, तो वह 'वर्णसंकर' कहा जायेगा, क्योंकि जिसके बाप का पता न हो, ऐसे बच्चे तो वेश्याओं के यहाँ पैदा होते हैं । उसी प्रकार कोई कहे कि मेरा कोई गुरु नहीं है, तो समझा जायेगा कि यह असभ्य एवं असंस्कारित है, क्योंकि जिसके मस्तिष्क पर विचार, स्वभाव, ज्ञान, गुण, कर्म पर किसी दूरदर्शी का नियन्त्रण नहीं रहा, उसके मानसिक स्वास्थ्य का क्या भरोसा किया जा सकता है ? ऐसे असंस्कृत व्यक्तियों को 'निगुरा' कहा जाता है । 'निगुरा' का अर्थ है बिना गुरु का । किसी समय में 'निगुरा' कहना भी वर्णसंकर या मिथ्याचारी कहलाने के समान गाली समझी जाती थी ।

बिना माता का, बिना पिता का, बिना गुरु का भी कोई मनुष्य हो सकता है, यह बात प्राचीनकाल में अविश्वस्त समझी जाती थी । कारण कि भारतीय समाज के सुसम्बद्ध विकास के लिए ऋषियों की यह अनिवार्य व्यवस्था थी कि प्रत्येक कार्य का गुरु होना चाहिए, जिससे वह महान् पुरुष बन सके । उस समय प्रत्येक माता-पिता को अपने बालकों को महापुरुष बनाने की अभिलाषा रहती थी । इसके लिए यह आवश्यकता रहती थी कि उनके बालक किसी सुविज्ञ आचार्य के शिष्य हों ।

गुरुकुल प्रणाली का उस समय आम रिवाज था । पढ़ने की आयु के होते ही बालक ऋषियों के आश्रम में भेज दिये जाते थे । राजा महाराजाओं तक के बालक गुरुकुलों का कठोर जीवन बिताने जाते थे, ताकि वे कुशल-नियन्त्रण में रहकर सुसंस्कृत बन सकें और आगे चलकर मनुष्यों के महान् गौरव की रक्षा करने वाले महापुरुष सिद्ध हो सकें । मैं अमुक आचार्य का शिष्य हूँ, यह बात बड़े गौरव के साथ कही जाती थी, प्राचीन परिपाटी के अनुसार जब कोई मनुष्य किसी दूसरे को परिचय देता था तो कहता था, "मैं अमुक आचार्य का शिष्य, अमुक पिता का पुत्र, अमुक गोत्र का, अमुक नाम का व्यक्ति हूँ" संकल्पों में, प्रतिज्ञाओं में, साक्षी में, राजदरबार में अपना परिचय इसी आधार पर दिया जाता था ।

मनोभूमि का परिष्कार

बगीची को यदि सुन्दर बनाना है, तो इसके लिए किसी कुशल माली की नियुक्ति आवश्यक है। जब आवश्यकता हो तब सींचना, जब अधिक पानी भर गया हो, तो उसे बाहर निकाल देना, समय पर गोड़ना, निराई करना, अनावश्यक टहनियों को छाँटना, खाद देना, पशुओं को चरने न देने की रखवाली करना आदि बातों के सम्बन्ध में माली सदा सजग रहता है, फलस्वरूप यह बगीचा हरा-भरा, फला-फूला, सुन्दर और समुन्नत रहता है।

मनुष्य का मस्तिष्क एक बगीचा है, इसमें नाना प्रकार के मनोभाव, विचार, संकल्प, इच्छा, वासना, योजना रूपी वृक्ष उगते हैं, उनमें से कितने ही अनावश्यक और कितने ही आवश्यक होते हैं। बगीचे में कितने ही पौधे झाड़-झंखाड़ जैसे अपने आप उग आते हैं, वे बढ़ें तो बगीचे को नष्ट कर सकते हैं । इसलिए माली उन्हें उखाड़ देता है और दूर-दूर से लाकर अच्छे-अच्छे बीज उसमें बोता है। गुरु अपने शिष्य के मस्तिष्क रूपी बगीचे का माली होता है, वह अपने क्षेत्र में से जंगली झाड़-झंखाड़ जैसे अनावश्यक संकल्पों, संस्कारों, आकर्षण और प्रभावों को उखाड़ता रहता है और अपनी बुद्धिमता, दूरदर्शिता एवं चतुरता के साथ ऐसे संस्कार बीज जमाता रहता है, जो उस मस्तिष्क रूपी बगीचे को बहुमूल्य बनाएँ।

कोई व्यक्ति यह सोचे कि "मैं स्वयं ही अपना आत्म-निर्माण करूँगा, अपने आप, अपने को सुसंस्कृत बनाऊँगा, मुझे किसी गुरु की आवश्यकता नहीं" तो ऐसा किया जा सकता है। आत्मा में अनन्त शक्ति है। अपना कल्याण करने की शक्ति उसमें मौजूद है; परन्तु ऐसे प्रयत्नों में कोई मनस्वी व्यक्ति ही सफल होते हैं। सर्व साधारण के लिए यह बात बहुत कष्टसाध्य है, क्योंकि बहुधा अपने दोष अपने को नहीं दीखते, जैसे अपनी आँखें अपने आपको स्वयं दिखाई नहीं देतीं। किसी दूसरे मनुष्य या दर्पण की सहायता से ही अपनी आँखों को देखा जा सकता है । जब कोई वैद्य, डॉक्टर बीमार होते हैं तो स्वयं अपना इलाज आप नहीं करते, क्योंकि अपनी नाड़ी स्वयं देखना, अपना निदान आप कर लेना साधारणतया बहुत कठिन होता है, इसलिए वे किसी दूसरे वैद्य या डॉक्टर से अपनी चिकित्सा कराते हैं।

कोई सुयोग्य व्यक्ति भी आत्म-निरीक्षण में सफल नहीं होते हैं। हम दूसरों की जैसी अच्छी आलोचना कर सकते हैं, दूसरों को जैसी नेक सलाह दे सकते हैं वैसी अपने लिए नहीं कर पाते, कारण यह है कि अपने सम्बन्ध में आप निर्णय करना कठिन होता है। कोई अपराधी ऐसा नहीं जिसे यदि मजिस्ट्रेट बना दिया जाए, तो अपने अपराध के सम्बन्ध में उचित फैसला लिखे। निष्पक्ष फैसला करना हो तो किसी दूसरे जज का ही आश्रय लेना पड़ेगा। आत्म-निर्माण का कार्य भी ऐसा ही है जिसके लिए दूसरे सुयोग्य सहायक की, गुरु की आवश्यकता होती है।

समुचित बौद्धिक विकास की सुव्यवस्था के लिए 'गुरु' की नियुक्ति को भारतीय धर्म में आवश्यक माना गया है। इससे मनुष्य की विचारधारा, स्वभाव, संस्कार, गुण, प्रकृति, आदतें, इच्छायें, महत्त्वाकांक्षायें, कार्य-पद्धति आदि का प्रवाह उत्तम दिशा में हो सके । जिससे मनुष्य अपने आप में सन्तुष्ट, प्रसन्न, पवित्र और परिश्रमी रहे एवं दूसरों को अपनी उदारता तथा सद्व्यवहार से सुख पहुँचाये। इस प्रकार के सुसंस्कारित मनुष्य जिस देश में अधिक होंगे वहाँ निश्चयपूर्वक सुख-शान्ति की, सुव्यवस्था की, पारस्परिक सहयोग की, प्रेम की, साथ ही सहयोग की बहुलता रहेगी। हमारा पूर्व इतिहास साक्षी है कि सुसंस्कारित मस्तिष्क के भारतीय महापुरुषों ने कैसे महान्-कार्य किये थे और इस भूमि पर किस प्रकार स्वर्ग को अवतरित कर दिया था।

हमारे पूर्वकालीन महान् गौरव की नींव में ऋषियों की दूरदर्शिता छिपी हुई है, जिसके अनुसार प्रत्येक भारतीय को अपना मानसिक परिष्कार कराने के लिए किसी उच्च चरित्र, आदर्शवादी, सूक्ष्मदर्शी विद्वान् के नियन्त्रण में रहना आवश्यक होता था। जो व्यक्ति मानसिक परिष्कार करने की आवश्यकता से जी चुराते थे, उन्हें 'निगुरा' की गाली दी जाती थी। 'निगुरा' शब्द का अपमान करीब-क़रीब 'बिना बाप का' या 'वर्णसंकर' कहे जाने के बराबर

समझा जाता था । धन का कमाना, विद्या पढ़ना, अस्त्र चलाना सभी बातें आवश्यक थीं, पर मानसिक परिष्कार तो सबसे अधिक आवश्यक था, क्योंकि असंस्कृत मनुष्य तो समाज का अभिशाप बनकर ही रहता है, भले ही उसके पास कितनी ही अधिक भौतिक सम्पदा क्यों न हो । गुरु को प्रत्यक्ष तीन देवों में तीन परम पूज्यों में स्थान देने का यही कारण था ।

दूषित वातावरण का प्रभाव

आज यह प्रथा टूट चली है । गुरु कहलाने के अधिकारी व्यक्तियों का मिलना मुश्किल है । जिनमें गुरु बनने की योग्यता है, वे अपने व्यक्तिगत, आत्मिक या भौतिक लाभों के सम्पादन में लगे हुए हैं । लोक सेवा, राष्ट्र-निर्माण की रचनात्मक प्रवृत्ति की ओर, सुसंस्कृत बनाने का उत्तरदायित्व सिर पर लेने की ओर उनका ध्यान नहीं है । वे इसमें स्वल्प लाभ, अधिक झंझट और भारी बोझ अनुभव करते हैं । इसकी अपेक्षा वे दूसरे सरल तरीकों से अधिक धन और यश कमा लेने के अनेक मार्ग जब सामने देखते हैं, तो 'गुरु' का गहन उत्तरदायित्व ओढ़ने से कन्नी काट जाते हैं ।

दूसरी ओर ऐसे अयोग्य व्यक्ति जिनका चरित्र, ज्ञान, अनुभव, विवेक आदि कुछ भी नहीं, जिनमें दूसरों को सुसंस्कृत करने की क्षमता होना तो दूर जो अपने को सुसंस्कृत नहीं बना सके, ऐसे लोग पैर पुजाने और दक्षिणा लेने के लोभ में कान फूँकने लगे, खुशामद, दीनता और भिक्षावृत्ति का आश्रय लेकर शिष्य तलाश करने लगे, तो गुरुत्व की प्रतिष्ठा नष्ट हो गई । जिस काम को कुपात्र लोग हाथों में लेते हैं वह अच्छा काम भी बदनाम हो जाता है और जिस साधारण काम को यदि भले व्यक्ति करने लगें, तो वह अच्छा हो जाता है । दीन-दुखियों के हाथ में रहने से चरखा 'दुर्भाग्य' का चिह्न समझा जाता था, पर गाँधीजी जैसे महापुरुष के हाथ का वही चरखा दीन-दुखियों के हाथ में पहुँचकर यज्ञ बन जाता है । ऋषियों के हाथ में जब तक 'गुरुत्व' था, तब तक उस पद की प्रतिष्ठा रही, पर आज जबकि कुपात्र, भिखारी और क्षुद्र लोग गुरु बनने का दुस्साहस करने लगे तो वह महान् पद ही बदनाम हो गया । आज 'गुरु' या 'गुरुघण्टाल' शब्द किसी पुराने पापी या धूर्तराज के लिए प्रयुक्त किया जाता है ।

लोगों ने देखा कि एक आदमी दक्षिणा भी लेता है, पैर भी पुजवाता है; पर वह किसी प्रकार का कोई लाभ नहीं पहुँचाता, तो उनने भी इस व्यर्थ के झंझट को तोड़ देना उचित समझा । गुरु शिष्य की परम्परा शिथिल होने लगी और धीरे-धीरे उसका लोप होने लगा है । निष्प्रयोजन, निष्प्राण, निरुपायी होने पर भी जो परम्परायें खर्चीली हैं, वे देर तक जीवित नहीं रह सकतीं । अब बहुत कम मनुष्य रह गये हैं जो गुरु की नियुक्ति आवश्यक समझते हों या 'निगुरा' कहलाने में अपना अपमान समझते हों ।

आज के दूषित वातावरण ने सभी दिशाओं में गड़बड़ी पैदा कर दी है । असली सोना कम है पर नकली सोना बेहिसाब तैयार हो रहा है । असली घी मिलना मुश्किल है पर वेजीटेबिल घी से दुकानें पटी पड़ी हैं । असली मोती, असली जवाहरात कम हैं पर नकली मोती और इमीटेशन रत्न ढेरों बिकते हैं । इतना होते हुए भी असली चीजों का महत्त्व कम नहीं हुआ है । लोग घासलेट घी को खूब खरीदते-बेचते हैं, पर इससे असली घी की उपयोगिता घट नहीं जाती । असंख्यों गड़बड़ियाँ होते रहने पर भी असली घी के गुण वही रहेंगे और उसके लाभों में कोई कमी न होगी । असली सोना, असली रत्न आदि भी इसलिए निरुपयोगी नहीं हो जाते कि नकली चीजों ने उस क्षेत्र को बदनाम कर दिया है । मिलावट, नकलीपन, धोखेभड़ी के हजार पर्वत मिलकर भी वास्तविकता का, वस्तुस्थिति का महत्त्व राई भर भी नहीं घटा सकते ।

व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का निर्माण एक सच्चाई है, जो आज की विषम स्थिति में तो क्या, किसी भी बुरी से बुरी स्थिति में भी गलत सिद्ध नहीं हो सकती । रोटी बनानी होगी तो आटे की, पानी की, आग की जरूरत पड़ेगी । चाहे कैसा भी भला या बुरा समय हो इस अनिवार्य आवश्यकता में कोई अन्तर नहीं आ सकता । अच्छे मनुष्य, सच्चे मनुष्य, प्रतिष्ठित मनुष्य, सुखी मनुष्य की रचना के लिए यह आवश्यक है कि अच्छे, सुयोग्य और दूरदर्शी मनुष्यों द्वारा हमारे मस्तिष्क का नियंत्रण, संशोधन, निर्माण और विकास किया जाए । मनुष्य कोरे कागज के समान

है । वह जैसा ग्रहण करेगा, जैसा सीखेगा वैसा करेगा । साथ ही यह भी सुनिश्चित है कि यदि आरंभिक अवस्था में प्रयत्नपूर्वक सद्‌गुण नहीं सिखाये जायेंगे, तो वह सामान्यत: बुराई की ओर ही झुकेगा, यदि बुराई से बचना है तो अच्छाई से सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक है । मनुष्य का मन खाली नहीं रह सकता, उसे अच्छाई का प्रकाश न मिलेगा, तो निश्चय ही बुराई के अन्धकार में रहना होगा ।

शिक्षा और विद्या का महत्त्व

मनुष्य को सुयोग्य बनाने के लिए उसके मस्तिष्क को दो प्रकार से उन्नत किया जाता है- (१) शिक्षा द्वारा, (२) विद्या द्वारा । शिक्षा के अन्तर्गत वे सब बातें आती हैं, जो स्कूलों में, कालेजों में, ट्रेनिंग कैम्पों में , हाट - बाजारों में, घर में, दुकान में, समाज में सिखाई जाती हैं । गणित, भूगोल, इतिहास, भाषा, शिल्प, व्यायाम, रसायन, चिकित्सा, निर्माण, व्यापार, कृषि, संगीत, कला आदि बातें सीखकर मनुष्य व्यवहार कुशल, चतुर, कमाऊ, लोकप्रिय एवं शक्ति सम्पन्न बनता है । विद्या द्वारा मनोभूमि का निर्माण होता है । मनुष्य की इच्छा, भावना, श्रद्धा, मान्यता, रुचि एवं आदतों को अच्छे ढाँचे में ढालना विद्या का काम है । चौरासी लाख योनियों में घूमते हुए आने के कारण पिछले पाशविक संस्कारों से मन भरा रहता है, उनका संशोधन करना विद्या का काम है । यदि मनुष्य इससे वञ्चित रह जाये तो फिर उसका जीवन अविकसित, अनुपयोगी और अपने तथा समाज के लिए भार स्वरूप बन जाता है ।

शिक्षक शिक्षा देता है । शिक्षा का अर्थ है- सांसारिक ज्ञान । विद्या का अर्थ है- मनोभूमि की सुव्यवस्था । शिक्षा आवश्यक है, पर विद्या उससे भी अधिक आवश्यक है । शिक्षा बढ़नी चाहिए, पर विद्या का विस्तार उससे भी अधिक होना चाहिए, अन्यथा दूषित मनोभूमि रहते हुए यदि सांसारिक सामर्थ्य बढ़ी, तो उसका परिणाम भयंकर होगा । धन की, चतुरता की, विज्ञान की इन दिनों बहुत उन्नति हुई है; पर यह स्पष्ट है कि उन्नति के साथ-साथ हम सर्वनाश की ओर ही बढ़ रहे हैं । कम साधन होते हुए भी, विद्वान् मनुष्य सुखी रह सकता है, परन्तु केवल बौद्धिक या सांसारिक शक्तियाँ होने पर दूषित मनोभूमि का मनुष्य अपने लिये तथा दूसरों के लिए केवल विपत्ति, चिन्ता, कठिनाई, क्लेश एवं बुराई ही उत्पन्न कर सकता है । इसलिए विद्या पर उतना ही नहीं , बल्कि उससे भी अधिक जोर दिया जाना चाहिए, जितना कि शिक्षा पर दिया जाता है ।

आज हम अपने बालकों को ग्रेजुएट बना देने के लिए ढेरों पैसा खर्च करते हैं, पर उनकी आन्तरिक भूमिका को सुव्यवस्थित करने की शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं करते । फलस्वरूप शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भी वे बालक अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति कोई आदर्श व्यवहार नहीं कर पाते । किसी भी ओर उनकी प्रगति ऐसी नहीं होती, जो प्रसन्नतादायक हो । शिक्षा के साथ उनमें जो अनेक दुर्गुण आ जाते हैं, उन दुर्गुणों में ही उनकी योग्यता द्वारा होने वाली कमाई बर्बाद होती रहती है ।

इस तथ्य को हमारे पूर्वज जानते थे कि शिक्षा से भी, विद्या का महत्त्व अधिक है । इसलिए वे छोटी सी आयु में अपने बच्चों को गुरु का नियन्त्रण स्थापित करा देते थे । गुरु लोग अपने गम्भीर ज्ञान, विशाल अनुभव, सूक्ष्मदर्शी विवेक और उज्ज्वल चरित्र द्वारा शिष्य को प्रभावित करके उनकी मनोभूमि का निर्माण करते थे । अपनी प्रचण्ड शक्ति-किरणों द्वारा उसके अन्त:करण में ऐसे बीज अंकुरित कर देते थे, जो फलने-फूलने पर उस व्यक्ति को महापुरुष सिद्ध करें ।

गायत्री द्वारा द्विजत्व की प्राप्ति

भारतीय धर्म के अनुसार, गुरु की आवश्यकता प्रत्येक भारतीय के लिए है । जैसे ईश्वर के प्रति, शास्त्रों के प्रति भारतीय आचार के प्रति, ऋषियों और देवताओं के प्रति, आस्था एवं आदर बुद्धि का होना भारतीय धर्म के अनुयायियों के लिए आवश्यक है वैसे ही यह आवश्यक है कि वह 'निगुरा' न हो । उसे किसी सुयोग्य सत्पुरुष का ऐसा पथ-प्रदर्शन प्राप्त होना चाहिए, जो उनके सर्वांगीण विकास में सहायता दे सके । किसी भी मनुष्य के

सुसंस्कृत, सभ्य होने का मार्ग यही है कि योग्य शिक्षक या गुरु से सद्‌गुणों और सत्कर्मों का प्रशिक्षण प्राप्त करे। इसके बिना मानव-पद की सार्थकता कठिन ही रहती है।

संभ्रान्त भारतीय धर्मानुयायी को द्विज कहते हैं। द्विज वह है जिसका दो बार जन्म हुआ है। एक बार माता-पिता के रज-वीर्य से सभी का जन्म होता है। इस तरह मनुष्य जन्म पा लेने से कोई मनुष्य प्रतिष्ठित आर्य नहीं बन सकता। केवल जन्म-मात्र से मनुष्य का गौरव नहीं। कितने ही मनुष्य ऐसे हैं जो पशुओं से भी गये बीते हैं। स्वभावत: जन्मजात पशुता तो प्राय: सभी में होती है। इस पशुता का मनोविज्ञान द्वारा परिष्कार किया जाता है, इस परिष्कार की पद्धति को द्विजत्व या दूसरा जन्म कहते हैं।

शास्त्रों द्वारा बताया गया है कि -**"जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।"** अर्थात् जन्म से सभी शूद्र उत्पन्न होते हैं, संस्कारों द्वारा, प्रभावों द्वारा मनुष्य का दूसरा जन्म होता है। यह दूसरा जन्म माता गायत्री और पिता आचार्य द्वारा होता है। गायत्री के २४ अक्षरों में ऐसे सिद्धान्त और आदर्श सन्निहित हैं, जो मानव अन्त:करण को उच्च स्तर पर विकसित करने के प्रधान आधार हैं।समस्त वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण, सूत्र आदि ग्रन्थों में जो कुछ भी शिक्षा है, वह गायत्री के अक्षरों में सन्निहित शिक्षाओं की व्याख्या मात्र है। समस्त भारतीय धर्म, समस्त भारतीय आदर्श, समस्त भारतीय संस्कृति का सर्वस्व गायत्री के २४ अक्षरों में बीज रूप में मौजूद है। इसलिए द्विज के लिए, दूसरे जन्म के लिए गायत्री को माता माना गया है।

पर ये शिक्षायें केवल मन्त्र याद कर लेने या पुस्तकों में लिखी हुई बातें पढ़ लेने मात्र से हृदयंगम नहीं हो सकतीं। पढ़ने से किसी बात की जानकारी तो हो जाती है, पर हृदय में उनका प्रवेश करा देना किसी सुयोग्य व्यक्ति द्वारा ही हो सकता है। दीपक को दीपक से जलाया जाता है, अग्नि से अग्नि उत्पन्न होती है, साँचे में वस्तुएँ ढाली जाती हैं, व्यक्तियों से व्यक्तियों का निर्माण होता है। इसलिए गायत्री की शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप से जीवन में घुला देने का कार्य न तो अपने आप किया जा सकता है और न उसके पढ़ने मात्र से होता है, उसके लिए किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्ति को गुरु कहते हैं। दूसरे जन्म का, द्विजत्व का, आदर्श जीवन का पिता गुरु को माना गया है।

गुरु द्वारा गायत्री के आधार पर जो शिक्षायें दी जाती हैं, उनको भली प्रकार हृदयंगम करने, सदा छाती से चिपकाये रहने, उसका पूरी तरह प्रयोग करने का उत्तरदायित्व कन्धे पर रखा हुआ अनुभव करने की बात हर समय आँखों के आगे रहे, इसके लिए द्विजत्व का प्रतीक यज्ञोपवीत पहना दिया जाता है। यज्ञोपवीत गायत्री की मूर्तिमान् प्रतिमा है। गायत्री में नौ पद हैं- १- तत्, २- सवितुर्, ३- वरेण्यं, ४- भर्गो, ५- देवस्य, ६- धीमहि, ७- धियो, ८- योन:, ९- प्रचोदयात्। यज्ञोपवीत में ९ धागे हैं, प्रत्येक धागा गायत्री के एक-एक पद का प्रतीक है। यज्ञोपवीत में तीन ग्रन्थियाँ और एक अन्तिम ब्रह्म ग्रन्थि होती है। बड़ी ग्रन्थि 'ॐ' की और शेष तीन 'भू:', 'भुव:', 'स्व:' की प्रतीक हैं, जैसे पत्थर या धातु की मूर्ति में देवता की प्रतिष्ठा करके उसकी पूजा की जाती है, वैसे ही गायत्री की मूर्ति सूत की बनाकर हृदय-मन्दिर पर प्रतिष्ठित की जाती है। मन्दिर में मूर्ति के सम्मुख हर घड़ी नहीं रहा जा सकता, पर गायत्री की प्रतिमा, यज्ञोपवीत का तो हर घड़ी पास रहना आवश्यक है, उसे तो क्षण भर के लिए भी अलग नहीं किया जा सकता। वह तो हर घड़ी हृदय के ऊपर झूलता रहता है। उसका बोझ तो हर घड़ी कन्धे पर रखा रहता है। इस प्रकार गायत्री पूजा को, गायत्री की प्रतिमा को, गायत्री की शिक्षा को जीवन-संगिनी बनाया गया है। कोई प्रतिष्ठित भारतीय धर्मानुयायी यज्ञोपवीत को छोड़ नहीं सकता, उसकी महत्ता की आवश्यकता से इन्कार नहीं कर सकता।

कहा जाता है गायत्री का अधिकार केवल द्विजों को है। द्विजत्व का तात्पर्य-गुरु द्वारा गायत्री को ग्रहण करना। जो लोग अश्रद्धालु हैं, आत्म निर्माण से जी चुराते हैं, आदर्श-जीवन बिताने से उदासीन हैं, जिनकी सन्मार्ग में प्रवृत्ति नहीं, ऐसे लोग 'शूद्र' कहे जाते हैं। जो दूसरे जन्म का, आदर्श-जीवन का, मनुष्य की महानता का, सन्मार्ग का अवलम्बन नहीं करना चाहते, ऐसे लोगों का जन्म पाशविक ही कहा जायेगा, ऐसे लोग गायत्री में क्या रुचि लेंगे ? जिनकी जिस मार्ग में श्रद्धा न होगी, वह उसमें क्या सफलता प्राप्त करेगा ? इसलिए ठीक ही कहा गया

है कि शूद्रों को गायत्री का अधिकार नहीं । इस महाविद्या का अधिकारी वही है, जो आत्मिक कायाकल्प का लक्ष्य रखता है, जिसे पाशविक जीवन की अपेक्षा उच्च जीवन पर आस्था है, जो द्विज बनकर सैद्धान्तिक जन्म लेकर सत्पुरुष बनना चाहता है । वर्तमान समय में इस सिद्धान्त को भूलकर लोगों ने जाति परम्परा के आधार पर द्विजत्व मानना आरंभ कर दिया है, इसी से अनेक दोष उत्पन्न हो रहे हैं ।

उत्कीलन और शाप विमोचन

शास्त्रों में बताया गया है कि गायत्री मन्त्र कीलित है, उसका जब तक उत्कीलन न हो जाए, तब तक वह फलदायक नहीं होती । यह कहा गया है कि गायत्री को शाप लगा हुआ है । उस शाप का जब तक 'अभिमोचन' न कर लिया जाए, तब तक उससे कुछ लाभ नहीं होता । कीलित होने और शाप लगने के प्रतिबन्ध क्या हैं और उत्कीलन एवं अभिमोचन क्या हैं ? यह विचारणीय बात है ।

जैसे यह कहा जा सकता है कि 'औषधि विद्या कीलित है ।' क्योंकि अगर कोई ऐसा व्यक्ति जो शरीर शास्त्र, निदान, निघण्टु, चिकित्सा विज्ञान की बारीकियों को नहीं समझता, अपनी अधूरी जानकारी के आधार पर अपनी चिकित्सा आरम्भ कर दें तो उससे कुछ भी लाभ न होगा । उल्टी हानि हो सकती है । यदि औषधि से कोई लाभ लेना हो तो किसी अनुभवी वैद्य की सलाह लेना आवश्यक है । आयुर्वेद ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा हुआ है, उन्हें पढ़कर बहुत-सी बातें जानी जा सकती हैं, फिर भी वैद्य की आवश्यकता तो है ही । वैद्य के बिना हजारों रुपये के चिकित्सा ग्रन्थ और लाखों रुपये का औषधालय भी रोगी को कुछ लाभ नहीं पहुँचा सकता । इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि "औषधि विद्या कीलित है ।" गायत्री महाविद्या के बारे में भी यही बात है । साधक की मनोभूमि के आधार पर साधना विधान में, नियमोपनियमों में, आदर्शों में अनेक हेर-फेर करने होते हैं, सबकी साधना एक-सी नहीं हो सकती, ऐसी दशा में उस व्यक्ति का पथ-प्रदर्शन आवश्यक है, जो इस विद्या का ज्ञाता एवं अनुभवी हो । जब तक ऐसा निर्देशक न मिले तब तक औषधि विद्या की तरह गायत्री विद्या भी साधक के लिए कीलित ही रहेगी । उपयुक्त निर्देशक का मिल जाना ही उत्कीलन है । ग्रन्थों में बताया है कि गुरु द्वारा ग्रहण कराई गई गायत्री ही उत्कीलित होती है, वही सफल होती है ।

स्कन्द पुराण में वर्णन है कि एक बार वसिष्ठ, विश्वामित्र और ब्रह्मा ने क्रुद्ध होकर गायत्री को शाप दिया कि "उसकी साधना निष्फल होगी ।" इतनी बड़ी शक्ति के निष्फल होने से हाहाकार मच गया । तब देवताओं ने प्रार्थना की कि इन शापों का विमोचन होना चाहिए । अन्त में ऐसा मार्ग निकाला गया कि जो शाप विमोचन विधि को पूरा करके गायत्री की साधना करेगा, उसका प्रयत्न तो सफल होगा और शेष लोगों का श्रम निरर्थक जायेगा । इस कथन में एक भारी रहस्य छिपा हुआ है जिसे न जानने वाले केवल **"शापमुक्तो भव"** वाले मन्त्र को पढ़ लेने मात्र से यह मान लेते हैं कि हमारी साधना शापमुक्त हो गई ।

विश्वामित्र का अर्थ है- संसार का मित्र, लोकसेवी, परोपकारी । वसिष्ठ का अर्थ है- विशेष रूप से श्रेष्ठ, ब्रह्मा का अर्थ है- ब्रह्मपरायण । इन तीन गुणों वाले पथ-प्रदर्शक के आदेशानुसार होने वाले आध्यात्मिक प्रयत्न ही सफल एवं कल्याणकारी होते हैं ।

स्वार्थी, दूसरे का बुरा करने को उद्यत, वाममार्गी मनोवृत्ति का मनुष्य यदि साधक को वैसी ही साधना सिखायेगा, तो वह अपना और शिष्य दोनों का नाश करेगा । जिसका चरित्र उच्च नहीं, जो उदार नहीं, जिसमें महानता और प्रतिभा नहीं, वह दूसरों का नया निर्माण क्या करेगा ? इसी प्रकार जो ब्रह्मपरायण नहीं ,जिसकी साधना एवं तपस्या नहीं, ऐसा गुरु किसी की आत्मा में क्या प्रकाश दे सकेगा ? तात्पर्य यह है कि विश्वामित्र-उदार, वशिष्ठ—महानता युक्त, ब्रह्मा - ब्रह्म परायण, इन तीनों गुणों से युक्त निर्देशक जब किसी व्यक्ति का निर्माण करेगा, तो उसका प्रयत्न निष्फल नहीं जा सकता । इसके विपरीत कुपात्र, अयोग्य और अनुभवहीन व्यक्तियों की शिक्षानुसार की गई साधना, तो इसी प्रकार व्यर्थ रहेगी, मानो किसी ने शाप देकर उसे निष्फल कर दिया हो । शाप लगने और उसके विमोचन करने का गुप्त रहस्य उपयुक्त मार्गदर्शक की अध्यक्षता में अपनी कार्य पद्धति का निर्माण करना ही है ।

गायत्री उच्च मानव जीवन की जन्मदात्री, आधारशिला एवं बीज शक्ति है । भारतीय संस्कृति रूपी ज्ञान-गंगा की उद्‌गम भूमि गंगोत्री यह गायत्री ही है, इसलिए इसे द्विजों की माता कहा गया है । माता के पेट में रहकर मनुष्य देह का जन्म होता है, गायत्री माता के पेट में रहकर मनुष्य का आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक, दिव्य विशेषताओं वाला दूसरा जन्म होता है । परन्तु यह माता सर्वसम्पन्न होते हुए भी पिता के अभाव में अपूर्ण हैं । द्विजत्व का दूसरा शरीर माता और पिता दोनों के ही तत्त्व बिन्दुओं से निर्मित होता है । गायत्री माता की अदृश्य सत्ता को गुरु द्वारा ही ठीक प्रकार से शिष्य की मनोभूमि में आरोपित किया जाता है । इसीलिए जब द्विजत्व का संस्कार होता है, तो इस दूसरे आध्यात्मिक जन्म में गायत्री को माता और आचार्य को पिता घोषित किया जाता है ।

उच्च आदर्शों की शिक्षा न तो अपने आप ही प्राप्त होती है, न केवल आधार ग्रन्थों से । हीन चरित्र के अयोग्य व्यक्ति उच्च आदर्शों की ओर दूसरों को आकर्षित नहीं कर सकते । बढ़िया धनुष बाण पास होते हुए भी कोई व्यक्ति स्वयं शब्दवेधी बाण चलाने वाला नहीं बन सकता और न अनाड़ी शिक्षक द्वारा बाण-विद्या में पारंगत बना जा सकता है । अच्छा शिक्षक और अच्छा धनुष-बाण दोनों मिलकर ही सफल परिणाम उपस्थित करते हैं । गायत्री के कीलित एवं शापित होने का और उसके उत्कीलन एवं शाप विमोचन करने का यही रहस्य है ।

आत्म-कल्याण की तीन कक्षायें-

आध्यात्मिक साधना का क्षेत्र तीन भागों में बँटा हुआ है । तीन व्याहृतियों में उनका स्पष्टीकरण कर दिया गया है । १- भूः, २- भुवः, ३- स्वः- यह तीन आत्मिक भूमिकायें मानी गई हैं । 'भूः' का अर्थ है- स्थूल जीवन, शारीरिक एवं सांसारिक जीवन । 'भुवः' का अर्थ है- अन्तःकरण चतुष्टय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का कार्यक्षेत्र । 'स्वः' का अर्थ है- विशुद्ध आत्मिक सत्ता । मनुष्य की आन्तरिक स्थिति इन तीन क्षेत्रों में ही होती है ।

"भूः" का सम्बन्ध अन्नमय कोश से है । "भुवः" प्राणमय और मनोमय कोश से आच्छादित है । "स्वः" का प्रभाव क्षेत्र विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश है । शरीर से सम्बन्ध रखने वाली, जीविका उपार्जन, लोक-व्यवहार, नीति, शिल्प, कला, स्कूली-शिक्षा, व्यापार, सामाजिक, राजनैतिक ज्ञान, नागरिक कर्त्तव्य आदि बातें भूः क्षेत्र में आती हैं । ज्ञान, विवेक, दूरदर्शिता, धर्म, दर्शन, मनोबल, प्राण शक्ति, तान्त्रिक प्रयोग, योग-साधना आदि बातें भुवः क्षेत्र की हैं । आत्म-साक्षात्कार, ईश्वर-परायणता, ब्राह्मी स्थिति, परमहंस गति, समाधि, तुरीयावस्था, परमानन्द, मुक्ति का क्षेत्र 'स्वः' के अन्तर्गत हैं । आध्यात्मिक क्षेत्र के ये तीन लोक हैं । पृथ्वी, पाताल, स्वर्ग की भाँति ही हमारे भीतर भूः, भुवः, स्वः तीन लोक हैं ।

इन तीन स्थितियों के आधार पर ही गायत्री के तीन विभाग किये गये हैं । उसे त्रिपदा कहा गया है, उसके तीन चरण हैं । पहली भूमिका, प्रथम चरण, भूः क्षेत्र के लिए है । उसके अनुसार वे शिक्षाएँ दी जाती हैं, जो मनुष्य के व्यक्तिगत और सांसारिक जीवन को सुव्यवस्थित बनाने में सहायक सिद्ध होती हैं ।

"गायत्री गीता" एवं "गायत्री स्मृति" में गायत्री के चौबीस अक्षरों की व्याख्या की गई है । एक-एक अक्षर एवं शब्द से जिन सिद्धान्तों, आदर्शों एवं उपदेशों की शिक्षा मिलती है, वे इतने अमूल्य हैं कि उनके आधार पर जीवन-नीति बनाने का प्रयत्न करने वाला मनुष्य दिन-दिन सुख, शान्ति, समृद्धि, उन्नति एवं प्रतिष्ठा की ओर बढ़ता चला जाता है । "गायत्री-महाविज्ञान" के प्रथम भाग में गायत्री कल्प-वृक्ष का चित्र बनाकर यह समझाने का प्रयत्न किया है कि तत्, सवितुर्, वरेण्यं आदि शब्दों का मनुष्य के लिए कैसा आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण शिक्षण है ? वे शिक्षायें अत्यन्त सरल, तत्काल अपना परिणाम दिखाने वाली एवं घर बाहर सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य स्थापित करने वाली हैं ।

गायत्री की दस भुजाओं के सम्बन्ध में "गायत्री-मञ्जरी" में यह बताया गया है कि इन दस भुजाओं से माता दस शूलों को नष्ट करती हैं । १- दूषित दृष्टि, २- परावलम्बन, ३- भय, ४- क्षुद्रता, ५- असावधानी, ६- स्वार्थपरता, ७- अविवेक, ८- आवेश, ९- तृष्णा, १०- आलस्य । यह दस शूल माने गये हैं । इन दस दोषों, मानसिक शत्रुओं को नष्ट करने के लिए १ प्रणव व्याहृति तथा ९ पदों द्वारा दस ऐसी अमूल्य शिक्षायें दी गई हैं, जो मानव जीवन में स्वर्गीय आनन्द की सृष्टि कर सकती हैं । नीति, धर्म, सदाचार, सम्पन्नता, व्यवहार, आदर्श, स्वार्थ और परमार्थ

का जैसा सुन्दर समन्वय इन शिक्षाओं में है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता । वेदशास्त्रों की सम्पूर्ण शिक्षाओं का निचोड़ इन अक्षरों में रख दिया गया है । इनका जो जितना अनुसरण करता है, वह तत्काल उतने ही अंशों में लाभान्वित हो जाता है ।

प्रथम भूमिका - 'मन्त्र दीक्षा'

जीवन का प्रथम चरण 'भू:' है । व्यक्तिगत तथा सामाजिक व्यवहार में जो अनेक गुत्थियाँ, उलझनें, कठिनाइयाँ आती हैं, उन सबका सुलझाव इन अक्षरों में दी हुई शिक्षा से होता है । सांसारिक जीवन का कोई भी कठिन प्रश्न ऐसा नहीं है, जिनका उत्तर और उपाय उन अक्षरों में न हो । इस रहस्यमय व्यावहारिक ज्ञान की अपने उपयुक्त व्याख्या कराने के लिए जिस गुरु की आवश्यकता होती है, उसे 'आचार्य' कहते हैं । आचार्य 'मन्त्र-दीक्षा' देते हैं । मन्त्र का अर्थ है- विचार, तर्क, प्रमाण, अवसर, स्थिति पर विचार करते हुए आचार्य अपने शिष्य को समय-समय पर ऐसे सुझाव, सलाह, उपदेश, गायत्री मन्त्र की शिक्षाओं के आधार पर देते हैं, जिनसे उसकी विभिन्न समस्याओं का पथ-प्रशस्त होता चले । यह प्रथम भूमिका है । इसे भू: क्षेत्र कहते हैं । इस क्षेत्र के शिष्य को आचार्य द्वारा मन्त्र दीक्षा दी जाती है ।

मन्त्र दीक्षा लेते समय शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि "मैं गुरु का आदेश, अनुशासन पूर्ण श्रद्धा के साथ मानूँगा । समय-समय पर उनकी सलाह से अपनी जीवन नीति निर्धारित करूँगा, अपनी सभी भूलें निष्कपट रूप से उन पर प्रकट कर दिया करूँगा ।" आचार्य शिष्य को मन्त्र का अर्थ समझाता है और माता गायत्री को यज्ञोपवीत रूप से देता है । शिष्य देवभाव से आचार्य का पूजन करता है और गुरु-पूजा के लिए उन्हें वस्त्र, आभूषण, पात्र, भोजन, दक्षिणा आदि सामर्थ्यानुसार भेंट करता है । रोली, अक्षत, तिलक, कलावा वरण आदि के द्वारा दोनों परस्पर एक दूसरे को बाँधते हैं । मन्त्र-दीक्षा एक प्रकार से दो व्यक्तियों में आध्यात्मिक रिश्तेदारी की स्थापना है । इस दीक्षा के पश्चात् पाप-पुण्य में से वे एक प्रतिशत के भागीदार हो जाते हैं । शिष्य के सौ पापों में से एक का फल गुरु को भोगना पड़ता है । इसी प्रकार पुण्य में भी एक दूसरे के साझीदार होते हैं, यह सामान्य दीक्षा है । यह मन्त्र दीक्षा साधारण श्रेणी के सुशिक्षित सत्पुरुष आचार्य प्रारम्भिक श्रेणी के साधक को दे सकते हैं ।

द्वितीय भूमिका - 'अग्नि दीक्षा'

दूसरी भुव: भूमिका में पहुँचने पर दूसरी दीक्षा लेनी पड़ती है । इसे प्राण-दीक्षा या अग्नि-दीक्षा कहते हैं । प्राणमय कोश एवं मनोमय कोश के अन्तर्गत छिपी हुई शक्तियों को जाग्रत् करने की साधना का शिक्षण क्षेत्र यही है । साधना संग्राम के अस्त्र-शस्त्रों को धारण करना, सँभालना और चलाना इसी भूमिका में सीखा जाता है । प्राणशक्ति की न्यूनता का उपचार इसी क्षेत्र में होता है । साहस, उत्साह, परिश्रम, दृढ़ता, स्फूर्ति, आशा, धैर्य, लगन आदि वीरोचित गुणों की अभिवृद्धि इसी दूसरी भूमिका में होती है । मनुष्य शरीर के अन्तर्गत ऐसे अनेक चक्र, उपचक्र, भ्रमर, उपत्यिका, सूत्र प्रत्यावर्तन, बीज, मेरु आदि गुप्त संस्थान होते हैं, जो प्राणमय भूमिका की साधना से जाग्रत् होते हैं । इस जागरण के फलस्वरूप साधक में ऐसी अनेक विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं जैसी कि साधारण मनुष्यों में नहीं देखी जातीं ।

भुव: भूमिका में ही मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के चतुष्टय का संशोधन, परिमार्जन एवं विकास होता है । यह सब कार्य मध्यमा और पश्यन्ती वाणी द्वारा किया जाता है, वैखरी वाणी द्वारा वचनों के माध्यम से प्रारम्भिक साधक को 'भू:' क्षेत्र के मन्त्र दीक्षित को सलाह शिक्षा आदि दी जाती है । जब प्राण दीक्षा होती है, तो गुरु अपना प्राण शिष्य के प्राण में घोल देता है, बीज रूप से अपना आत्मबल साधक के अन्त:करण में स्थापित कर देता है । जैसे आग से आग जलायी जाती है, बिजली की धारा से बल्व जलते या पंखे चलते हैं, उसी प्रकार अपना शक्ति-भाग बीज रूप से दूसरे की मनोभूमि में जमाकर वहाँ उसे सींचा और बढ़ाया जाता है । इस क्रिया पद्धति को अग्नि

दीक्षा कहते हैं । अशक्त को सशक्त बनाना, निष्क्रिय को सक्रिय बनाना, निराश को आशान्वित करना प्राण दीक्षा का काम है । मन से विचार उत्पन्न होता है, अग्नि से क्रिया उत्पन्न होती है । अन्तःभूमि में हलचल, क्रिया, प्रगति, चेष्टा, क्रान्ति, बेचैनी, आकांक्षा का तीव्र गति से उदय होता है ।

साधारणतः लोग आत्मोन्नति की ओर कोई ध्यान नहीं देते, थोड़ा-सा देते हैं तो उसे बड़ा भारी बोझ समझते हैं, कुछ जप तप करते हैं तो उन्हें अनुभव होता है मानो बहुत बड़ा मोर्चा जीत रहे हों । परन्तु जब आन्तरिक स्थिति भुवः क्षेत्र में पहुँचती है तो साधक को बड़ी बेचैनी और असन्तुष्टि होती है, उसे अपना साधन बहुत साधारण दिखाई पड़ता है और अपनी उन्नति उसे, बहुत मामूली दीखती है । उसे छटपटाहट एवं जल्दी होती है कि मैं किस प्रकार शीघ्र लक्ष्य तक पहुँच जाऊँ । अपनी उन्नति चाहे कितनी ही सुव्यवस्थित ढंग से हो रही हो पर उसे सन्तोष नहीं होता । यह व्याकुलता उसकी कोई भूल नहीं होती वरन् भीतर ही भीतर जो तीव्र क्रिया शक्ति काम कर रही है उसकी प्रतिक्रिया है । भीतरी क्रिया, प्रवृत्ति और प्रेरणा का बाह्य लक्षण असन्तोष है । यदि असन्तोष न हो, तो समझना चाहिए कि साधक की क्रिया शक्ति शिथिल हो गई । जो साधक दूसरी भूमिका में है, उसका असन्तोष जितना ही तीव्र होगा उतनी ही क्रिया शक्ति तेजी से काम करती रहेगी । बुद्धिमान् पथ-प्रदर्शक, दूसरी कक्षा के साधक में सदा असन्तोष भड़काने का प्रयत्न करते हैं; ताकि आन्तरिक क्रिया और भी सतेज हो । साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि वह असन्तोष कहीं निराशा में परिणत न हो जाय ।

अग्नि-दीक्षा लेकर साधक का आन्तरिक प्रकाश स्वच्छ हो जाता है और उसे अपने छोटे से छोटे दोष दिखाई पड़ने लगते हैं । अँधेरे में, धुँधले प्रकाश में बड़ी वस्तुयें भी ठीक प्रकार दीखती हैं और कई बार तो प्रकाश की तेजी के कारण वे वस्तुयें और भी अधिक महत्त्वपूर्ण दीखती हैं । आत्मा में ज्ञानाग्नि का प्रकाश होते ही साधक को अपनी छोटी-छोटी भूल, बुराई, कमियाँ भली प्रकार दीख पड़ती हैं । उसे मालूम पड़ता है कि मैं असंख्य बुराइयों का भण्डार हूँ, नीची श्रेणी के मनुष्यों से भी मेरी बुराइयाँ अधिक हैं । अब भी पाप मेरा पीछा नहीं छोड़ते । इस प्रकार वह अपने अन्दर घृणास्पद तत्त्वों को बड़ी मात्रा में देखता है । जिन गलतियों को साधारण श्रेणी के लोग कतई गलती नहीं मानते, उनका नीर-क्षीर विवेक वह करता है । मानस पापों तक से दुःखी होता है ।

महात्मा सूरदास जब परम भागवत हो रहे थे, तब उन्हें अपनी बुराइयाँ सूझीं । जब तक वे वस्तुतः पापी और व्यभिचारी रहे तब तक उन्हें अपने काम में कोई बुराई न दीखी, पर जब वे भगवान् की शरण में आये तो भूतकाल की बुराइयों का स्मरण करने मात्र से उनकी आत्मा काँप गई और उसकी तीव्र संवेदना को शान्त करने के लिए अपने नेत्र फोड़ डाले । फिर भी आत्म निरीक्षण करने पर उन्हें अपने भीतर दोष ही दोष दीखे, जिनकी घोषणा उन्होंने अपने प्रसिद्ध पद में की- 'मो सम कौन कुटिल खल, कामी ।'

भुवः की भूमिका में पहुँचे हुए साधक के तीन लक्षण प्रधान रूप में होते हैं - (१) आत्म कल्याण के लिए तपश्चर्या में तीव्र प्रवृत्ति, (२) अपनी प्रगति को मन्द अनुभव करना, अपनी उन्नति के प्रति असन्तोष (३) अपने विचार, कार्य एवं स्वभाव में अनेक बुराइयों का दिखाई देना । यह भूमिका धीरे-धीरे पकती रहती है । यदि हाँड़ी के भीतर शान्ति हो तो उसके दो कारण समझे जा सकते हैं- (१) या तो अभी पकना आरंभ नहीं हुआ, हाँडी गरम नहीं हुई, (२) या पककर दाल बिलकुल तैयार हो गई । या तो अज्ञानान्धकार में डूबे हुए मूर्ख प्रकृति के लोग मुदित रहते हैं और अपनी बुराइयों में ही मौज करते हैं या फिर अन्तिम कक्षा में पहुँचा योगी आत्म साक्षात्कार करके ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त कर शान्त हो जाता है । मध्यम कक्षा में तप, प्रयत्न, असन्तोष एवं वेदना की प्रधानता रहती है । चूँकि यह स्थिति आवश्यक है, इसे ही आत्मा का अग्नि-संस्कार कहते हैं । इसमें अन्तःकरण का परिपाक होता है । शरीर को तपश्चर्याओं की अग्नि में और अन्तःकरण को असन्तोष की अग्नि में तपाकर पकाया जाता है । पूरी मात्रा में अग्नि-संस्कार हो जाने पर न तो शरीर को तपाने की आवश्यकता रहती है और न ही मन को तपाना पड़ता है । तब वह तीसरी कक्षा 'स्वः' की शान्ति भूमिका प्राप्त करता है ।

मन्त्र दीक्षा के लिये कोई भी विचारवान् , दूरदर्शी, उच्च चरित्र, प्रतिभाशाली सत्पुरुष उपयुक्त हो सकता है, वह अपनी तर्क शक्ति और बुद्धिमता से शिष्य के विचारों का परिमार्जन कर सकता है । उसके कुविचारों को ,

भ्रमों को सुलझाकर अच्छाई के मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक सलाह, शिक्षण एवं उपदेश दे सकता है, अपने प्रभाव से उसे प्रभावित भी कर सकता है । अग्नि-दीक्षा के लिए ऐसा गुरु चाहिए जिसके भीतर अग्नि पर्याप्त मात्रा में हो, तप की पूँजी का जो धनी हो । दान वही कर सकता है जिसके पास धन हो, विद्या वही दे सकता है जिसके पास विद्या हो । जिसके पास जो वस्तु नहीं वह दूसरों को क्या देगा ? जिसने स्वयं तप करके प्राण शक्ति संचित की है, अग्नि अपने अन्दर प्रज्वलित कर रखी है, वही दूसरों को प्राण या अग्नि देकर भुवः भूमिका की दीक्षा दे सकता है ।

तीसरी भूमिका - 'ब्रह्म-दीक्षा'

तीसरी भूमिका "स्वः" है । इसे ब्रह्म-दीक्षा कहते हैं । जब दूध अग्नि पर औटाकर नीचे उतार लिया जाता है और ठण्डा हो जाता है तब उसमें दही का जामन देकर जमा दिया जाता है, फलस्वरूप वह सारा दही ही बन जाता है । मन्त्र द्वारा दृष्टिकोण का परिमार्जन करके साधक अपने सांसारिक जीवन को प्रसन्नता और सम्पन्नता से ओत-प्रोत करता है, अग्नि द्वारा अपने कुसंस्कारों, पापों, भूलों, कषायों, दुर्बलताओं को जलाता है, उनसे अपना पिण्ड छुड़ाकर बन्धन मुक्त होता है एवं तप की ऊष्मा द्वारा अन्तःकरण को पकाकर ब्राह्मीभूत करता है । दूध पकते-पकते जब रबड़ी, मलाई आदि की शक्ल में पहुँच जाता है तब उसका मूल्य और स्वाद बहुत बढ़ जाता है ।

पहली ज्ञान-भूमि, दूसरी शक्ति-भूमि और तीसरी ब्रह्म-भूमि होती है । क्रमशः एक के बाद एक को पार करना पड़ता है । पिछली दो कक्षाओं को पारकर साधक जब तीसरी कक्षा में पहुँचता है, तो उसे सद्गुरु द्वारा ब्रह्म-दीक्षा लेने की आवश्यकता होती है ।यह "परा" वाणी द्वारा होती है । वैखरी वाणी द्वारा मुँह से शब्द उच्चारण करके ज्ञान दिया जाता है । मध्यमा और पश्यन्ती वाणियों द्वारा शिष्य के प्राणमय और मनोमय कोश में अग्नि संस्कार किया जाता है । परा वाणी द्वारा आत्मा बोलती है और उसका सन्देश दूसरी आत्मा सुनती है । जीभ की वाणी कान सुनते हैं, मन की वाणी नेत्र सुनते हैं, हृदय की वाणी हृदय सुनता है और आत्मा की वाणी आत्मा सुनती है । जीभ 'वैखरी' वाणी बोलती है । मन 'मध्यमा' बोलता है । हृदय की वाणी 'पश्यन्ती' कहलाती है और आत्मा 'परा' वाणी बोलती है । ब्रह्म-दीक्षा में जीभ, मन, हृदय किसी को नहीं बोलना पड़ता । आत्मा के अन्तरंग क्षेत्र में जो अनहद ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे दूसरी आत्मा ग्रहण करती है । उसे ग्रहण करने के पश्चात् वह भी ऐसी ही ब्राह्मीभूत हो जाती है जैसा थोड़ा-सा दही पड़ने से औटाया हुआ दूध सबका सब दही बन जाता है ।

काला कोयला या सड़ी-गली लकड़ी का टुकड़ा जब अग्नि में पड़ता है, तो उसका पुराना स्वरूप बदल जाता है और वह अग्निमय होकर अग्नि के ही गुणों से सुसज्जित हो जाता है । यह कोयला या लकड़ी का टुकड़ा भी अग्नि के गुणों से परिपूर्ण होता है और गर्मी, प्रकाश तथा जलाने की शक्ति भी उसमें अग्नि के समान होती है । ब्राह्मी दीक्षा से ब्रह्मभूत हुए साधक का शरीर तुच्छ होते हुए भी उसकी अन्तरंग सत्ता ब्राह्मीभूत हो जाती है । उसे अपने भीतर-बाहर चारों ओर सत् ही सत् दृष्टिगोचर होता है । विश्व में सर्वत्र उसे ब्रह्म ही ब्रह्म परिलक्षित होता है ।

गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर अपना विराट् रूप दिखाया था, अर्थात् उसे वह ज्ञान दिया था जिससे विश्व के अन्तरंग में छिपी हुई अदृश्य ब्रह्म सत्ता का दर्शन कर सके । भगवान् सब में व्यापक है पर उसे कोई बिरले ही देखते, समझते हैं । भगवान् ने अर्जुन को यह दिव्य दृष्टि दी जिससे उसकी ईक्षण शक्ति इतनी सूक्ष्म और पारदर्शी हो गयी कि वह उन दिव्य तत्त्वों का अनुभव करने लगा, जिसे साधारण लोग नहीं कर पाते । इस दिव्य दृष्टि को ही पाकर योगी लोग आत्मा का, ब्रह्म का साक्षात्कार अपने भीतर और बाहर करते हैं तथा ब्राह्मी गुणों से, विचारों से, स्वभावों से, कार्यों से ओतप्रोत हो जाते हैं । यशोदा ने, कौशल्या ने, काकभुशुण्डि ने ऐसी दिव्य दृष्टि पाई थी और ब्रह्म का साक्षात्कार किया था । ईश्वर का दर्शन इसे ही कहते हैं । ब्रह्म दीक्षा पाने वाला शिष्य ईश्वर में अपनी समीपता और स्थिति का वैसे ही अनुभव करता है जैसे कोयला अग्नि में पड़कर अपने को अग्निमय अनुभव करता है ।

द्विजत्व की तीन कक्षाएँ हैं - (१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य । पहली कक्षा है- वैश्य । वैश्य का उद्देश्य है, सुख सामग्री का उपार्जन । उसको मन्त्र (विचार) द्वारा यह लोक व्यवहार सिखाया जाता है, वह दृष्टिकोण दिया जाता है जिसके द्वारा सांसारिक जीवन सुखमय, शान्तिमय, सफल एवं सुसम्पन्न बन सके । बुरे गुण, कर्म एवं स्वभावों के कारण लोग अपने आपको चिन्ता, भय, दु:ख, रोग, क्लेश एवं दरिद्रता के चंगुल में फँसा लेते हैं । यदि उनका दृष्टिकोण सही हो, दस शूलों से बचे रहें, तो निश्चय ही मानव जीवन स्वर्गीय आनन्द से ओत-प्रोत होना चाहिए ।

क्षत्रिय तत्त्व का आधार है शक्ति । शक्ति तप से उत्पन्न होती है । दो वस्तुओं को घिसने से गर्मी पैदा होती है । पत्थर पर घिसने से चाकू तेज होता है । बिजली की उत्पत्ति घर्षण से होती है । बुराइयों के, त्रुटियों के, कुसंस्कारों के, विकारों के विरुद्ध संघर्ष, कार्य को तप कहते हैं । तप से आत्मिक शक्ति उत्पन्न होती है और उसे जिस दिशा में भी प्रयुक्त किया जाए उसी में चमत्कार उत्पन्न हो जाते हैं । शक्ति स्वयं ही चमत्कार है, शक्ति का नाम ही सिद्धि है ।अग्नि-दीक्षा से तप आरम्भ होता है, आत्म-दान के लिए युद्ध छेड़ा जाता है । गीता में भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया था कि 'तू निरन्तर युद्ध कर ।' निरन्तर युद्ध किससे करता ? महाभारत तो थोड़े ही दिन में समाप्त हो गया था, फिर अर्जुन निरन्तर किससे लड़ता ? भगवान् का संकेत आन्तरिक शत्रुओं से संघर्ष जारी रखने का था । यही अग्नि दीक्षा का उपदेश था । अग्नि-दीक्षा से दीक्षित व्यक्ति में क्षत्रियत्व का, साहस का, शौर्य का, पुरुषार्थ का, पराक्रम का विकास होता है । इससे वह यश का भागी बनता है ।

मन्त्र-दीक्षा से साधक व्यवहार कुशल बनता है और अपने जीवन को सुख-शान्ति, सहयोग एवं सम्पन्नता से भरा-पूरा कर लेता है । अग्नि-दीक्षा से उसकी प्रतिभा, प्रतिष्ठा, ख्याति, प्रशंसा एवं महानता का प्रकाश होता है । दूसरों का सिर उसके चरणों में स्वत: झुक जाता है । लोग उसे नेता मानते हैं, उसका अनुसरण और अनुगमन करते हैं । इस प्रकार उपर्युक्त दो दीक्षाओं द्वारा वैश्य और क्षत्रिय बनने के उपरान्त साधक ब्राह्मण बनने के लिए अग्रसर होता है । ब्रह्म-दीक्षा से उसे 'दिव्य दृष्टि' मिलती है, इसे नेत्रोन्मीलन कहते हैं ।

शंकरजी ने तीसरा नेत्र खोलकर कामदेव को जला दिया था । अर्जुन को भगवान् ने "दिव्यं ददामि ते चक्षु:" दिव्य नेत्र देकर अपने विराट् स्वरूप का दर्शन सम्भव करा दिया था । वह तृतीय नेत्र हर योगी का खुलता है, उसे वे बातें दिखाई पड़ती हैं जो साधारण व्यक्तियों को नहीं दीखतीं । उनको कण-कण में परमात्मा का पुण्य प्रकाश बहुमूल्य रत्नों की तरह जगमगाता हुआ दिखाई पड़ता है ।भक्त माइकेल को प्रत्येक शिला में स्वर्गीय फरिश्ता दिखाई पड़ता था । सामान्य व्यक्तियों की दृष्टि बड़ी संकुचित होती है, वे आज के हानि-लाभों में ही रोते-हँसते हैं, पर ब्रह्मज्ञानी दूर तक देखता है । वह वस्तु और परिस्थिति पर पारदर्शी विचार करता है और प्रत्येक परिस्थिति में प्रभु की लीला एवं दया का अनुभव करता हुआ प्रसन्न रहता है । विश्व मानव की सेवा में ही वह अपना जीवन लगाता है । इस प्रकार ब्रह्म दीक्षा में दीक्षित हुआ साधक परम भागवत होकर, परम शान्ति को अन्त:करण में धारण करता हुआ दिव्य तत्त्वों से परिपूर्ण होता जाता है । इस श्रेणी के साधकों को ही भूसुर कहते हैं ।

कल्याण मन्दिर का प्रवेश द्वार

तीन दीक्षाओं से तीन वर्णों में प्रवेश मिलता है ।दीक्षा का अर्थ है-विधिवत्, व्यवस्थित कार्यक्रम और निश्चित श्रद्धा ।यों कोई विद्यार्थी नियत कोर्स न पढ़कर, नियत कक्षा में न बैठकर कभी कोई, कभी कोई पुस्तक पढ़ता रहे, तो भी धीरे-धीरे उसका ज्ञान बढ़ता ही रहेगा और क्रमश: उसके ज्ञान में उन्नति होती ही जायेगी । सम्भव है वह अव्यवस्थित क्रम से ग्रेजुएट बन जाय, पर यह मार्ग है कष्ट साध्य और लम्बा । क्रमश: एक-एक कक्षा पार करते हुए एक-एक कोर्स पूरा करते हुए निर्धारित क्रम से यदि पढ़ाई जारी रखी जाए, तो अध्यापक को भी सुविधा रहती है और विद्यार्थी को भी । यदि कोई विद्यार्थी आज कक्षा ५ की, कल कक्षा १० की, आज संगीत की, कल डॉक्टरी की पुस्तकों को पढ़े, तो उसे याद करने में और शिक्षक को पढ़ाने में असुविधा होगी । इसलिए ऋषियों ने आत्मोन्नति की तीन भूमिकायें निर्धारित कर दीं हैं, द्विजत्व को तीन भागों में बाँट दिया है । क्रमश: एक-एक कक्षा में प्रवेश करना और नियम, प्रतिबंध, आदेश एवं अनुशासन को श्रद्धापूर्वक मानना इसी का नाम दीक्षा है ।

तीन कक्षाओं को उत्तीर्ण करने के लिए तीन बार भर्ती होना पड़ता है। कई जगह एक ही अध्यापक तीन कक्षाओं को पढ़ाते हैं, कई जगह हर कक्षा के लिए अलग अध्यापक होते हैं। कई बार तो स्कूल ही बदलने पड़ते हैं। प्राइमरी स्कूल उत्तीर्ण करके हाईस्कूल में भर्ती होना पड़ता है और हाईस्कूल, इन्टर पास करके कॉलेज में नाम लिखाना पड़ता है। तीन विद्यालयों की पढ़ाई पूरी करने पर एम.ए. की पूर्णता प्राप्त होती है।

इन तीन कक्षाओं के अध्यापकों की योग्यता भिन्न-भिन्न होती है। प्रथम कक्षा में सद्विचार और सत् आचार सिखाया जाता है। इसके लिए कथा, प्रवचन, सत्संग, भाषण, पुस्तक, प्रचार, शिक्षण, सलाह, तर्क आदि साधन काम में लाये जाते हैं। इनके द्वारा मनुष्य की विचार भूमिका का सुधार होता है, कुविचारों के स्थान पर सद्विचार स्थापित होते हैं, जिनके कारण साधक अनेक शूलों और क्लेशों से बचता हुआ सुख शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर लेता है। इस प्रथम कक्षा के विद्यार्थी को गुरु के प्रति श्रद्धा रखना आवश्यक है। श्रद्धा न होगी तो उनके वचनों का, उपदेशों का न तो महत्त्व समझ में आयेगा और न उन पर विश्वास होगा। प्रयत्क्ष है कि उसी बात को कोई महापुरुष कहे, तो लोग उसे बहुत महत्त्वपूर्ण समझते हैं और उसी बात को यदि तुच्छ मनुष्य कहे, तो कोई कान नहीं देता। दोनों ने एक ही बात कही पर एक के कहने पर उपेक्षा की गई, दूसरे के कहने पर ध्यान दिया गया। इसमें कहने वाले के ऊपर सुनने वालों की श्रद्धा या अश्रद्धा का होना ही प्रधान कारण है। किसी व्यक्ति पर विशेष श्रद्धा हो, तो उसकी साधारण बातें भी असाधारण प्रतीत होती हैं। श्रद्धा में अपरिमित शक्ति होती है और जिस किसी में यह पर्याप्त मात्रा में होगी, उसे जीवन में सफलता प्राप्त होना निश्चित है।

रोज सैकड़ों कथा, प्रवचन, व्याख्यान होते हैं। अखबारों में, पर्चों, पोस्टरों में तरह-तरह की बातें सुनाई जाती हैं, रेडियो से नित्य ही उपदेश सुनाये जाते हैं, पर उन पर कोई कान नहीं देता। कारण यही है कि सुनने वालों को सुनाने वालों के प्रति व्यक्तिगत श्रद्धा नहीं होती, इसलिए ये महत्त्वपूर्ण बातें भी निरर्थक एवं उपेक्षणीय मालूम देती हैं। कोई उपदेश तभी प्रभावशाली हो सकता है जब उसका देने वाला, सुनने वालों का श्रद्धास्पद हो। वह श्रद्धा जितनी ही तीव्र होगी, उतना ही अधिक उपदेश का प्रभाव पड़ेगा। प्रथम कक्षा के मन्त्र दीक्षित गायत्री का समुचित लाभ उठा सकें, इस दृष्टि से साधक को, दीक्षित को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा रखेगा। उसे वह देवतुल्य या परमात्मा का प्रतीक मानेगा। इसमें कुछ विचित्रता भी नहीं है। श्रद्धा के कारण जब मिट्टी, पत्थर और धातु की मूर्तियाँ हमारे लिए देव बन जाती हैं, तो कोई कारण नहीं कि एक जीवित मनुष्य में देवत्व का आरोपण करके अपनी श्रद्धानुसार उसे अपने लिए देव न बना लिया जाए।

श्रद्धा का प्रकटीकरण करने की आवश्यकता-

एकलव्य भील ने मिट्टी के द्रोणाचार्य बनाकर उससे बाण विद्या सीखी थी और उस मूर्ति ने उस भील को बाण-विद्या में इतना पारंगत कर दिया था कि उसके द्वारा बाणों से कुत्ते का मुँह सी दिये जाने पर द्रोणाचार्य से प्रत्यक्ष पढ़ने वाले पाण्डवों को ईर्ष्या हुई थी। स्वामी रामानन्द के मना करते रहने पर भी कबीर उनके शिष्य बन बैठे और अपनी तीव्र श्रद्धा के कारण वह लाभ प्राप्त किया, जो उनके विधिवत् दीक्षित शिष्यों में से एक भी प्राप्त न कर सका था। रजोधर्म होने पर गर्भाशय में एक बूँद वीर्य का पहुँच जाना गर्भ धारण कर देता है, पर जिसे रजोदर्शन न होता हो उस बन्ध्या स्त्री के लिए पूर्ण पुंसत्व शक्ति वाला पति भी गर्भ स्थापित नहीं कर सकता। श्रद्धा एक प्रकार का रजोधर्म है जिससे साधक के अन्तःकरण में सदुपदेश जमते और फलते-फूलते हैं। अश्रद्धालु के मन पर ब्रह्मा का उपदेश भी कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता। श्रद्धा के अभाव में किसी महापुरुष के दिन-रात साथ रहने पर भी कोई व्यक्ति कुछ लाभ नहीं उठा सकता है, और श्रद्धा होने पर दूरस्थ व्यक्ति भी लाभ उठा सकता है। इसलिए आरम्भिक कक्षा के मंत्र दीक्षित को गुरु के प्रति तीव्र श्रद्धा की धारणा करनी पड़ती है।

विचारों को मूर्त रूप देने के लिए उनको प्रकट रूप से व्यवहार में लाना पड़ता है। जितने भी धार्मिक कर्मकाण्ड, दान, पुण्य, व्रत, उपवास, हवन, पूजन, कथा, कीर्तन आदि हैं। वे सब इसी प्रयोजन के लिए हैं कि आन्तरिक श्रद्धा व्यवहार में प्रकट होकर साधक के मन में परिपुष्ट हो जाए। गुरु के प्रति मंत्र-दीक्षा में "श्रद्धा" की शर्त होती है। श्रद्धा न हो या शिथिल हो तो वह दीक्षा केवल चिह्न पूजा मात्र है। अश्रद्धालु की गुरु दीक्षा से कुछ

विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । दीक्षा के समय स्थापित हुई श्रद्धा, कर्मकाण्ड के द्वारा सजग रहे, इसी प्रयोजन के लिए समय-समय पर गुरु पूजन किया जाता है । दीक्षा के समय वस्त्र, पात्र, पुष्प, भोजन, दक्षिणा द्वारा गुरु का पूजन करते हैं । गुरुपूर्णिमा (आषाढ़ सुदी १५) को यथा-शक्ति गुरु के चरणों में श्रद्धांजलि के रूप में कुछ भेंट-पूजा अर्पित करते हैं । यह प्रथा अपनी आन्तरिक श्रद्धा को मूर्त-रूप देने, बढ़ाने एवं परिपुष्ट करने के लिए है । केवल विचार मात्र से कोई भावना परिपक्व नहीं होती, क्रिया और विचार दोनों के सम्मिश्रण से एक संस्कार बनता है, जो मनोभूमि में स्थिर होकर आशाजनक परिणाम उपस्थित करता है ।

प्राचीन काल में यह नियम था कि गुरु के पास जाने पर शिष्य कुछ वस्तु भेंट के लिए ले जाता था, चाहे वह कितने ही स्वल्प मूल्य की क्यों न हो ? समिधा की लकड़ी को हाथ में लेकर शिष्य गुरु के सम्मुख जाते थे, इसे 'समित्पाणि' कहते थे । वे समिधायें उनकी श्रद्धा की प्रतीक होती हैं चाहे उनका मूल्य कितना ही कम क्यों न हो । शुकदेवजी जब राजा जनक के पास ब्रह्म-विद्या की शिक्षा लेने गये, तो राजा जनक मौन रहे, उनने एक शब्द भी उपदेश न दिया । शुकदेवजी वापस लौट आये । पीछे उन्हें ध्यान आया कि भले ही मैं संन्यासी हूँ और राजा जनक गृहस्थ हैं पर जबकि मैं उनसे कुछ सीखने गया, तो अपनी श्रद्धा का प्रतीक साथ लेकर जाना चाहिए था । दूसरी बार शुकदेवजी हाथ में समिधायें लेकर नम्र भाव से उपस्थित हुए, तो उनको विस्तारपूर्वक ब्रह्म का रहस्य समझाया ।

श्रद्धा न हो तो सुनने वाले का और कहने वाले का श्रम तथा समय निरर्थक जाता है । इसलिए शिक्षण के समान ही श्रद्धा बढ़ाने का भी प्रयत्न जारी रखना चाहिए । निर्धन व्यक्ति भले ही न्यूनतम मूल्य की वस्तुयें ही क्यों न भेंट करें, उन्हें सदैव गुरु को बार-बार अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने का प्रयत्न करना चाहिए । यह भेंट पूजन एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यायाम है, जिससे श्रद्धा रूपी "ग्रहण शक्ति" का तीव्र विकास होता है, श्रद्धा ही वह अस्त्र है, जिससे परमात्मा को पकड़ा जा सकता है । भगवान् और किसी वस्तु से वश में नहीं आते, वे केवल मात्र श्रद्धा के ब्रह्मपाश में ही फँसकर भक्त के गुलाम बनते हैं । ईश्वर को परास्त करने का एटम बम श्रद्धा ही है । इस महानतम दैवी सम्मोहनास्त्र को बनाने और चलाने का प्रारम्भिक अभ्यास गुरु से ही किया जाता है । जब यह शस्त्र भली प्रकार हाथ में आ जाता है, तो उससे भगवान् को वश में कर लेना साधक के बायें हाथ का खेल हो जाता है ।

प्रारम्भिक कक्षा का रसास्वादन करने पर साधक की मनोभूमि काफी सुदृढ़ और परिपक्व हो जाती है । वह भौतिकवाद की तुच्छता और आत्मिकवाद की महानता व्यावहारिक दृष्टि से, वैज्ञानिक दृष्टि से, दार्शनिक दृष्टि से समझ लेता है, तब उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है कि मेरा लाभ आत्म-कल्याण के मार्ग पर चलने में ही है । श्रद्धा परिपक्व होकर जब निष्ठा के रूप में परिणत हो जाती है, तो वह भीतर से काफी मजबूत हो जाता है । अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसमें इतनी दृढ़ता होती है कि वह कष्ट सह सके, तप कर सके, त्याग की परीक्षा का अवसर आये तो विचलित न हो । जब ऐसी पक्की मनोभूमि होती है, तो "गुरु" द्वारा उसे अग्नि-दीक्षा देकर कुछ और गरम किया जाता है । जिससे उसके मैल जल जायें, कीर्ति का प्रकाश हो तथा तप की अग्नि में पककर वह पूर्णता को प्राप्त हो ।

तपस्वी की गुरुदक्षिणा

गीली लकड़ी को केवल धूप में सुखाया जा सकता है । उसे थोड़ी सी गर्मी पहुँचाई जाती है । धीरे-धीरे उसकी नमी सुखाई जाती है । जब वह भली प्रकार सूख जाती है, तो अग्नि में देकर मामूली लकड़ी को महाशक्तिशालिनी प्रचण्ड अग्नि के रूप में परिणत कर दिया जाता है । गीली लकड़ी को चूल्हे में दिया जाए, तो उसका परिणाम अच्छा न होगा । प्रथम कक्षा के साधक पर केवल गुरु की श्रद्धा की जिम्मेदारी है और दृष्टिकोण को सुधार कर अपना प्रत्यक्ष जीवन सुधारना होता है । यह सब प्रारम्भिक छात्र के उपयुक्त है । यदि आरंभ में तीव्र साधना में नये साधक को फँसा दिया जाय, तो वह बुझ जायेगा । तप की कठिनाई देखकर वह डर जायेगा और

प्रयत्न छोड़ बैठेगा । दूसरी कक्षा का छात्र चूँकि धूप में सूख चुका है इसलिए उसे कोई विशेष कठिनाई मालूम नहीं देती, वह हँसते-हँसते साधना के श्रम का बोझ उठा लेता है ।

अग्नि-दीक्षा के साधक को तपाने के लिए कई प्रकार के संयम, व्रत, नियम, त्याग आदि करने कराने होते हैं । प्राचीन काल में उद्दालक, धौम्य, आरुणि, उपमन्यु, कच, श्लीमुख, जरुत्कार, हरिश्चन्द्र, दशरथ, नचिकेता, शेष, विरोचन, जाबालि, सुमनस, अम्बरीष, दिलीप आदि अनेक शिष्यों ने अपने गुरुओं के आदेशानुसार अनेक कष्ट सहे और उनके बताये हुए कार्यों को पूरा किया । स्थूल दृष्टि से इन महापुरुषों के साथ गुरुओं का जो व्यवहार था, वह 'हृदय-हीनता' का कहा जा सकता है । पर सच्ची बात यह है कि उन्होंने स्वयं निन्दा और बुराई को अपने ऊपर ओढ़कर शिष्यों को अनन्त काल के लिए प्रकाशवान् एवं अमर कर दिया । यदि कठिनाइयों में होकर राजा हरिश्चन्द्र को न गुजरना पड़ा होता, तो वे भी असंख्यों राजा, रईसों की भाँति विस्मृति के गर्त में चले गये होते ।

अग्नि-दीक्षा पाकर शिष्य गुरु से पूछता है कि -"आदेश कीजिए, कि मैं आपके लिए क्या गुरु-दीक्षा उपस्थित करूँ ?" गुरु देखता है कि शिष्य की मनोभूमि, सामर्थ्य, योग्यता, श्रद्धा, त्यागवृत्ति कितनी है, उसी आधार पर वह उससे गुरु-दक्षिणा माँगता है । यह याचना अपने लिए रुपया, पैसा, धन, दौलत देने के रूप में कदापि नहीं हो सकती । सद्गुरु सदा परम त्यागी, अपरिग्रही, कष्ट सहिष्णु एवं स्वल्प सन्तोषी होते हैं । उन्हें अपने शिष्य से या किसी से कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं होती । जो गुरु अपने लिए कुछ माँगता है वह गुरु नहीं, ऐसे लोग गुरु जैसे परम पवित्र पद के अधिकारी कदापि नहीं हो सकते । अग्नि-दीक्षा देकर गुरु जो कुछ माँगता है, वह शिष्य को अधिक उज्ज्वल, अधिक सुदृढ़, अधिक उदार, अधिक तपस्वी बनाने के लिए होता है । यह याचना उसके यश का विस्तार करने के लिए, पुण्य को बढ़ाने के लिए एवं उसे त्याग का आत्म-सन्तोष देने के लिए होती है ।

"गुरु दक्षिणा माँगिये' शब्दों में शिष्य कहता है कि "मैं सुदृढ़ हूँ, मेरी आत्मिक स्थिति की परीक्षा लीजिए ।" स्कूल कालेजों में परीक्षा ली जाती है । उत्तीर्ण छात्र की योग्यता एवं प्रतिष्ठा को वह उत्तीर्णता का प्रमाणपत्र अनेक गुना बढ़ा देता है । परीक्षा न ली जाए तो योग्यता का क्या पता चले ? किसी व्यक्ति की महानता का पुण्य प्रसार करने के लिए उसके गौरव को सर्वसाधारण पर प्रकट करने के लिए, साधक को अपनी महानता पर आत्म विश्वास कराने के लिए गुरु अपने शिष्य से गुरु-दक्षिणा माँगता है । शिष्य उसे देकर धन्य हो जाता है ।

प्रारम्भिक कक्षा में मन्त्र-दीक्षा का शिष्य सामर्थ्यानुसार गुरु पूजन करता है । श्रद्धा रखना और उनकी सलाहों से अपने दृष्टिकोण को सुधारना, बस इतना ही उसका कार्यक्षेत्र है । न वह शिष्य दक्षिणा माँगने के लिए गुरु से कहता है और न गुरु उससे माँगता ही है । दूसरी कक्षा का शिष्य अग्नि दीक्षा लेकर 'गुरु दक्षिणा माँगने ' के लिए, उसकी परीक्षा लेने के लिए प्रार्थना करता है ।

गुरु इस कृपा को करना स्वीकार करके शिष्य की प्रतिष्ठा, महानता, कीर्ति एवं प्रामाणिकता में चार चाँद लगा देता है । गुरु की याचना सदैव ऐसी होती है जो सबके लिए, सब दृष्टियों से परम कल्याणकारी हो, उस व्यक्ति का तथा समाज का उससे भला होता है । कई बार निर्बल मनोभूमि के लोग भी आगे बढ़ाये जाते हैं, उनसे गुरुदक्षिणा में ऐसी छोटी चीज माँगी जाती है जिसे सुनकर हँसी आती है । अमुक फल, अमुक शाक, अमुक मिठाई आदि का त्याग कर देने जैसी याचना कुछ अधिक महत्त्व नहीं रखती । पर शिष्य का मन हल्का हो जाता है, वह अनुभव करता है कि मैंने त्याग किया, गुरु के आदेश का पालन किया, गुरु दक्षिणा चुका दी, ऋण से उऋण हो गया और परीक्षा उत्तीर्ण कर ली । बुद्धिमान् गुरु साधक की मनोभूमि और आन्तरिक स्थिति देखकर ही उसे तपाते हैं ।

ब्रह्मदीक्षा की दक्षिणा आत्मदान

क्रमशः दीक्षा का महत्त्व बढ़ता है, साथ ही उसका मूल्य भी बढ़ता है । जो वस्तु जितनी बढ़िया होती है उसका मूल्य भी उसी अनुपात में होता है । लोहा सस्ता बिकता है । कम पैसे देकर मामूली दुकानदार से लोहे की वस्तु खरीदी जा सकती है । पर यदि सोना या जवाहरात खरीदने हों , तो ऊँची दुकान पर जाना पड़ेगा और अधिक दाम खर्च करना पड़ेगा । ब्रह्म-दीक्षा में न विचार-शक्ति से काम चलता है और न प्राण शक्ति से । एक

आत्मा से दूसरी आत्मा 'परा' वाणी द्वारा वार्तालाप करती है। आत्मा की भाषा को परा कहते हैं। वैखरी भाषा को कान सुनते हैं 'मध्यमा' को मन सुनता है, पश्यन्ती हृदय को सुनाई पड़ती है और 'परा' वाणी द्वारा दो आत्माओं में सम्भाषण होता है, अन्य वाणियों की बात आत्मा नहीं समझ सकती। जैसे चींटी की समझ में मनुष्य की वाणी नहीं आती और मनुष्य चींटी की वाणी नहीं सुन पाता, उसी प्रकार आत्मा तक व्याख्यान आदि नहीं पहुँचते। उपनिषद् का वचन है कि "बहुत पढ़ने से व बहुत सुनने से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। बलहीनों को भी वह प्राप्त नहीं होती।" कारण स्पष्ट है यह बातें आत्मा तक पहुँचती ही नहीं, तो वह सुनी कैसे जायेंगी ?

कीचड़ में फँसे हुए हाथी को दूसरा हाथी ही निकालता है। पानी में बहते जाने वाले को कोई तैरने वाला ही पार निकालता है। राजा की सहायता करना किसी राजा को ही सम्भव है। एक आत्मा में ब्रह्म ज्ञान जाग्रत् करना, उसे ब्राह्मीभूत, ब्रह्म परायण बनाना केवल उसी के लिए सम्भव है जो स्वयं ब्रह्म-तत्त्व में ओत-प्रोत हो रहा हो। जिसमें स्वयं अग्नि होगी, वही दूसरों को प्रकाश और गर्मी दे सकेगा। अन्यथा अग्नि का चित्र कितना ही आकर्षक क्यों न हो, उससे कुछ प्रयोजन सिद्ध न होगा।

कई व्यक्ति साधु महात्माओं का वेश बना लेते हैं, पर उनमें ब्रह्म तेज की अग्नि नहीं होती। जिसमें साधुता हो वही महात्मा है, जिसको ब्रह्म का ज्ञान हो वही ब्राह्मण है, जिसने रागों से मन को बचा लिया है वही वैरागी है, जो स्वाध्याय में, मनन में लीन रहता हो वही मुनि है, जिसने अहंकार को, मोह-ममता को त्याग दिया है वही संन्यासी है, जो तप में प्रवृत्त हो वह तपस्वी है। कौन क्या है ? इसका निर्णय गुण-कर्म से होता है, वेश से नहीं। इसलिए ब्रह्म-परायण होने के लिए कोई वेश बनाने की आवश्यकता नहीं। दूसरों को बिना प्रदर्शन किए, सीधे-सादे तरीके से रहकर जब आत्म-कल्याण किया जा सकता है, तो व्यर्थ में लोक दिखावा क्यों किया जाय ? सादा वस्त्र, सादा वेश और सादा जीवन में जब महानतम आत्मिक साधना हो सकती है, तो असाधारण वेश तथा अस्थिर कार्यक्रम क्यों अपनाया जाय ? पुराने समय अब नहीं रहे, पुरानी परिस्थितियाँ भी अब नहीं हैं, आज की स्थिति में सादा जीवन में ही आत्मिक विकास की सम्भावना अधिक है।

ब्राह्मी दृष्टि का प्राप्त होना ब्रह्म समाधि है। सर्वत्र सब में ईश्वर का दिखाई देना, अपने अन्दर तेज पुञ्ज की उज्ज्वल झाँकी होना, अपनी इच्छा और आकाक्षाओं का दिव्य, दैवी हो जाना यही ब्राह्मी-स्थिति है। पूर्व युगों में आकाश-तत्त्व की प्रधानता थी, दीर्घ काल तक प्राणों को रोककर ब्रह्माण्ड में एकत्रित कर लेना और शरीर को निःचेष्ट कर देना समाधि कहलाता था। ध्यान काल में पूर्ण तन्मयता होना और शरीर की सुधि-बुधि भूल जाना उन युगों में 'समाधि' कहलाता था, उन युगों में वायु और अग्नि तत्त्वों की प्रधानता थी। आज के युग में जल और पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता होने से ब्राह्मी स्थिति को ही समाधि कहते हैं। इस युग के सर्वश्रेष्ठ शास्त्र भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में इसी ब्रह्म समाधि की विस्तारपूर्वक शिक्षा दी गयी है। उस स्थिति को प्राप्त करने वाला ब्रह्म समाधिस्थ ही कहा जायेगा।

अभी भी कई व्यक्ति जमीन में गड्ढा खोदकर उसमें बन्द हो जाने का प्रदर्शन करके अपने को समाधिस्थ सिद्ध करते हैं। यह बाल-क्रीड़ा अत्यन्त उपहासास्पद है। वह मन की घबराहट पर काबू पाने की मानसिक साधना का चमत्कार मात्र है। अन्यथा लम्बे-चौड़े गड्ढे में क्या कोई भी आदमी काफी लम्बी अवधि तक सुखपूर्वक रह सकता है। रात भर लोग रुई की रजाई में मुँह बन्द करके सोते रहते हैं, रजाई के भीतर की जरा-सी हवा से रात भर का गुजारा हो जाता है, तो लम्बे चौड़े गड्ढे की हवा आसानी से दस पन्द्रह दिन काम दे सकती है। फिर भूमि में स्वयं भी हवा रहती है। गुफाओं में रहने का अभ्यासी मनुष्य आसानी से जमीन में गड़ने की समाधि का प्रदर्शन कर सकता है। ऐसे क्रीड़ा कौतुकों की ओर ध्यान देने की सच्चे ब्रह्मज्ञानी को कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

परावाणी द्वारा अन्तरंग प्रेरणा

आत्मा में ब्रह्म तत्त्व का प्रवेश करने में दूसरी आत्मा द्वारा आया हुआ ब्रह्म-संस्कार बड़ा काम करता है। साँप जब किसी को काटता है तो तिल भर जगह में दाँत गाड़ता है और विष भी कुछ रत्ती भर ही डालता है। पर विष धीरे-धीरे सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है, सारी देह विषैली हो जाती है और अन्त में परिणाम मृत्यु होता है।

ब्रह्म-दीक्षा भी आध्यात्मिक 'सर्प-दंशन' है । एक का विष दूसरे को चढ़ जाता है । अग्नि की एक चिनगारी सारे ढेर को अग्नि रूप कर देती है, भली प्रकार स्थित किया हुआ दीक्षा संस्कार तेजी से फैलता है, थोड़े ही समय में पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है । ब्रह्मज्ञान की पुस्तक पढ़ते रहने और आध्यात्मिक प्रवचन करते रहने से मनोभूमि तो तैयार होती है, पर बीज बोये बिना अंकुर नहीं उगता और अंकुर को सींचे बिना शीतल छाया और मधुर फल देने वाला वृक्ष नहीं होता । स्वाध्याय और सत्संग के अतिरिक्त आत्म-कल्याण के लिए साधना की भी आवश्यकता होती है । साधना की जड़ में सजीव प्राण और सजीव प्रेरणा हो, तो वह अधिक सुगमता और सुविधापूर्वक विकसित होती है ।

ब्राह्मी स्थिति का साधक अपने भीतर और बाहर ब्रह्म का पुण्य-प्रकाश प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता है । उसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह ब्रह्म की गोदी में किलोल कर रहा है, ब्रह्म के अमृत सिन्धु में आनन्द मग्न हो रहा है । इस दशा में पहुँचकर वह जीवन मुक्त हो जाता है । जो प्रारब्ध बन चुके हैं, उन कर्मों का लेखा जोखा पूरा करने के लिए वह जीवित रहता है । जब वह हिसाब बराबर हो जाता है तो पूर्ण शान्ति और पूर्ण ब्राह्मी स्थिति में जीवन लीला समाप्त हो जाती है, फिर उसे भव बन्धन में लौटना नहीं होता । प्रारब्धों को पूरा करने के लिए वह शरीर धारण किये रहता है । सामान्य श्रेणी के मनुष्यों की भाँति सीधा-सादा जीवन बिताता है, तो भी उसकी आत्मिक स्थिति बहुत ऊँची रहती है । हमारी जानकारी में ऐसे अनेक ऋषि, राजर्षि और महर्षि हैं ,जो बाह्यत: बहुत ही साधारण रीति से जीवन बिता रहे हैं पर उनकी आन्तरिक स्थिति सतयुग आदि के श्रेष्ठ ऋषियों के समान ही महान् है । युग प्रभाव से आज चमत्कारों का युग नहीं रहा, तो भी आत्मा की उन्नति में कभी कोई युग बाधा नहीं डाल सकता । पूर्वकाल में जैसी महान् आत्मायें होती थीं, आज भी वह सब क्रम यथावत् जारी है । उस समय वे योगी आसानी से पहचान लिये जाते थे, आज उनका पहचानना कठिन है । इस कठिनाई के होते हुए भी आत्म-विकास का मार्ग सदा की भाँति अब भी खुला हुआ है ।

ब्रह्म दीक्षा के अधिकारी गुरु—शिष्य ही इस महान सम्बन्ध को स्थापित कर सकते हैं । शिष्य, गुरु को आत्म समर्पण करता है, गुरु उसके कार्यों का उत्तरदायित्व एवं परिणाम अपने ऊपर लेता है । ईश्वर को आत्म समर्पण करने की प्रथम भूमिका गुरु को आत्म समर्पण करना है । शिष्य अपना सब कुछ गुरु को समर्पण करता है । गुरु उस सबको अमानत के तौर पर शिष्य को लौटा देता है और आदेश कर देता है कि इन सब वस्तुओं को गुरु की समझ कर उपयोग करो । इस समर्पण से प्रत्यक्षत: कोई विशेष हेरफेर नहीं होता; क्योंकि ब्रह्म ज्ञानी गुरु अपरिग्रही होने के कारण उस सब 'समर्पण' का करेगा भी क्या ? दूसरे व्यवस्था एवं व्यावहारिकता की दृष्टि से भी उसका सौंपा हुआ सब कुछ उसी के संरक्षण में ठीक प्रकार रह सकता है । इसलिए बाह्यत: इस समर्पण में कुछ विशेष बात प्रतीत नहीं होती, पर आत्मिक दृष्टि से इस 'आत्म दान' का मूल्य इतना भारी है कि उसकी तुलना और किसी त्याग या पुण्य से नहीं हो सकती ।

जब दो चार रुपया दान करने पर मनुष्य को इतना आत्म संतोष और पुण्य प्राप्त होता है, तब शरीर भी दान कर देने से पुण्य और आत्म संतोष की अन्तिम मर्यादा समाप्त हो जाती है । आत्म दान से बड़ा और कोई दान इस संसार में किसी प्राणी से सम्भव नहीं हो सकता । इसलिए इसकी तुलना में इस विश्व ब्रह्माण्ड में और कोई पुण्य फल भी नहीं है । नित्य सवा मन सोने का दान करने वाला कर्ण 'दान वीर' के नाम से प्रसिद्ध था, पर उसके पास भी दान के बाद कुछ न कुछ अपना रह जाता था । जिस दानी ने अपना कुछ छोड़ा ही नहीं, उसकी तुलना किसी दानी से नहीं हो सकती ।

'आत्म दान' मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक महान् कार्य है । अपनी सब वस्तुएँ जब वह गुरु की, अन्त में परमात्मा की, समझ कर उनके आदेशानुसार नौकर की भाँति प्रयोग करता है, तो उसका स्वार्थ, मोह, अहंकार, मान, मद, मत्सर, क्रोध आदि सभी समाप्त हो जाते हैं । जब अपना कुछ रहा ही नहीं तो 'मेरा' क्या ? अहंकार किस बात का ? जब उपार्जित की हुई वस्तुओं का स्वामी गुरु या परमात्मा ही है तो स्वार्थ कैसा ? जब हम नौकर मात्र रह गये तो हानि—लाभ में शोक संताप कैसा ? इस प्रकार 'आत्म दान' में वस्तुत: 'अहंकार' का दान होता है । वस्तुओं

के प्रति 'मेरी' भावना न रहकर 'गुरु की' या परमात्मा की भावना हो जाती है। यह 'भावना परिवर्तन' आत्म परिवर्तन-एक असाधारण एवं रहस्यमय प्रक्रिया है। इसके द्वारा साधक सहज ही बन्धनों से खुल जाता है। अहंकार के कारण जो अनेक संस्कार उसके ऊपर लदते थे, वे एक भी ऊपर नहीं लदते। जैसे छोटा बालक अपने ऊपर कोई बोझ नहीं लेता, उसका सब कुछ बोझ माता—पिता पर रहता है। इसी प्रकार आत्मदानी का बोझ भी किसी दूसरी उच्च सत्ता पर चला जाता है।

ब्रह्म दीक्षा का शिष्य गुरु को 'आत्म दान' करता है। मंत्र दीक्षित को 'गुरु पूजा' करनी पड़ती है। अग्नि दीक्षित को 'गुरु दीक्षा' देनी पड़ती है। ब्रह्म दीक्षित को आत्म समर्पण करना पड़ता है। राम को राज्य का अधिकारी मानकर उनकी खड़ाऊँ सिंहासन पर रख कर जैसे भरत राज काज चलाते रहे, वैसे ही आत्म दानी अपनी वस्तुओं का समर्पण करके उनके व्यवस्थापक के रूप में स्वयं काम करता रहता है।

वर्तमानकालीन कठिनाइयाँ

आज व्यापक रूप से अनैतिकता फैली हुई है। स्वार्थी और धूर्तों का बाहुल्य है। सच्चे और सत्पात्रों का भारी अभाव हो रहा है और आज न तो तीव्र उत्कंठा वाले शिष्य हैं और न सच्चा पथ प्रदर्शन की योग्यता रखने वाले चरित्रवान् तपस्वी, दूरदर्शी एवं अनुभवी गुरु ही रहे हैं। ऐसी दशा में गुरु शिष्य सम्बन्ध की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता का पूरा होना कठिन हो रहा है। शिष्य चाहते हैं कि उन्हें कुछ न करना पड़े, कोई ऐसा गुरु मिले जो उनकी नम्रता मात्र से प्रसन्न होकर सब कुछ उनके लिए करके रख दे। गुरुओं की मनोवृत्ति यह है कि शिष्यों को उल्लू बनाकर उनसे आर्थिक लाभ उठाया जाए, उनकी श्रद्धा को दुहा जाए। ऐसे जोड़े- 'लोभी गुरु लालची चेला। दुहूँ नरक में ठेलम ठेला॥' का उदाहरण बनते हैं। ऐसे ही लोगों की अधिकता के कारण यह महान् सम्बन्ध शिथिल हो गया है। अब किसी को गुरु बनाना एक आडम्बर में फँसना और किसी को शिष्य बनाना एक झंझट मोल लेना समझा जाता है। जहाँ सच्चाई है वहाँ दोनों ही पक्ष सम्बन्ध जोड़ते हुए कतराते हैं। फिर भी आज की विषम स्थिति कितनी ही बुरी और कितनी ही निराशाजनक क्यों न हो; पर एक भारतीय धर्म की मूलभूत आधारशिला का महत्त्व कम नहीं हो सकता।

गायत्री द्वारा आत्म विकास की तीनों कक्षाएँ पार की जाती हैं। सर्वसाधारण की जानकारी के लिए 'गायत्री महाविज्ञान' के तीन खंडों में यथासम्भव उपयोगी जानकारी देने का हमने प्रयत्न किया है। उन पुस्तकों में यह शिक्षा मौजूद है, जिसे दृष्टिकोण का परिमार्जन एवं मन्त्र दीक्षा कहते हैं। यज्ञोपवीत का रहस्य, गायत्री ही कल्पवृक्ष है, गायत्री गीता, गायत्री स्मृति, गायत्री रामायण, गायत्री उपनिषद् , गायत्री की दस भुजा आदि प्रकरणों में यह बताया गया है कि हम अपने विचारों, भावनाओं और इच्छाओं में संशोधन करके किस प्रकार सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इन्हीं तीनों खंडों में अग्नि दीक्षा की द्वितीय भूमिका की शिक्षा भी विस्तार पूर्वक दी गई है। ब्रह्म संध्या, अनुष्ठान, ध्यान, पापनाशक तपश्चर्याएँ, उद्यापन, विशेष साधनाएँ, उपवास, प्राण विद्या, मनोमय कोश की साधना, तन्त्र, पुरुश्चरण आदि प्रकरणों में शक्ति उत्पन्न करने की शिक्षा दी गई है। ब्रह्म दीक्षा की शिक्षा गायत्री पंजर, गायत्री हृदय, कुण्डलिनी जागरण, ग्रन्थि भेद, विज्ञानमय कोश एवं आनन्दमय कोश की साधना के अन्तर्गत भली प्रकार दी गई है। शिक्षाएँ इस प्रकार मौजूद ही हैं उपयुक्त व्यक्ति की तलाश करने से कई बार दुष्प्राप्य वस्तुएँ भी मिल जाती हैं।

यदि उपयुक्त व्यक्ति न मिले तो किसी स्वर्गीय, पूर्व कालीन या दूरस्थ व्यक्ति की प्रतिमा को गुरु मानकर यात्रा आरम्भ की जा सकती है। एक आवश्यक परम्परा का लोप न हो जाए, इसलिए किसी साधारण श्रेणी के सत्पात्र से भी काम चलाया जा सकता है। गुरु का निर्लोभ, निरहंकारी एवं शुद्ध चरित्र होना आवश्यक है। यह योग्यताएँ जिस व्यक्ति में हों, वह काम चलाऊ गुरु के रूप में काम दे सकता है। यदि उसमें शक्ति दान एवं पथ प्रदर्शक की योग्यता न होगी, तो भी वह अपनी श्रद्धा को बढ़ाने में साथी की तरह सहयोग अवश्य देगा। 'निगुरा' रहने की अपेक्षा मध्यम श्रेणी के पथ प्रदर्शक से काम चल सकता है। यज्ञोपवीत धारण करने एवं गुरु दीक्षा लेने

की प्रत्येक द्विज को अनिवार्य आवश्यकता है। चिह्न पूजा के रूप में यह प्रथा चलती रहे तो समयानुसार उसमें सुधार भी हो सकता है; पर यदि उस शृंखला को ही तोड़ दिया तो उसकी नवीन रचना कठिन होगी।

गायत्री द्वारा आत्मोन्नति होती है यह निश्चित है। मनुष्य के अन्तः क्षेत्र के संशोधन, परिमार्जन, संतुलन एवं विकास के लिए गायत्री से बढ़कर और कोई ऐसा साधन भारतीय धर्म शास्त्रों में नहीं है, जो अतीत काल से असंख्यों व्यक्तियों के अनुभवों में सदा खरा उतरता आया हो। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अन्तःकरण चतुष्टय गायत्री द्वारा शुद्ध कर लेने वाले व्यक्ति के लिए सांसारिक जीवन में सब ओर से, सब प्रकार की सफलताओं का द्वार खुल जाता है। उत्तम स्वभाव, अच्छी आदतें, स्वस्थ मस्तिष्क, दूरदृष्टि, प्रफुल्ल मन, उच्च चरित्र, कर्तव्यनिष्ठा आदि प्रवृत्तियों को प्राप्त कर लेने के पश्चात् गायत्री के साधक के लिए संसार में कोई दुःख, कष्टकर नहीं रह जाता, उसके लिए सामान्य परिस्थितियों में भी सुख ही सुख उपस्थित रहता है।

परन्तु गायत्री का यह लाभ केवल २४ अक्षर के मन्त्र मात्र से उपलब्ध नहीं हो सकता। एक हाथ से ताली नहीं बजती, एक पहिए की गाड़ी नहीं चलती, एक पंख का पक्षी नहीं उड़ता, इसी प्रकार अकेली गायत्री साधना अपूर्ण है, उसका दूसरा भाग गुरु का पथ प्रदर्शन है। गायत्री गुरु मन्त्र है। इस महाशक्ति की कीलित कुंजी अनुभवी एवं सुयोग्य गुरु के पथप्रदर्शन में सन्निहित है। जब साधक को उभय पक्षीय साधन, गायत्री माता और पिता गुरु की छत्रछाया प्राप्त हो जाती है, तो आशाजनक सफलता प्राप्त होने में देर नहीं लगती।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा